

दीवान-ए-सराय 02

शहरनामा

दीवान-ए-सराय 02 शहरनामा

दीवान-ए-सराय 02

शहरनामा

सराय
विकासशील समाज अध्ययन पीठ का कार्यक्रम
29, राजपुर रोड, दिल्ली - 110054, भारत

वाणी प्रकाशन
दिल्ली-2
2005

दीवान-ए-सराय 02: शहरनामा

डिज़ाइन और प्रस्तुतिः सराय मीडिया लैब, सराय, दिल्ली

संपादन:
शृंखला संपादकः रविकान्त
इस दीवान के संपादकः रविकान्त + संजय शर्मा

पुस्तक सज्जा:
डिज़ाइनः मृत्युंजय चैटर्जी
कवर डिज़ाइनः मृत्युंजय चैटर्जी
डिज़ाइन संयोजकः मॉनिका नरुला

उत्पादन:
अनुवादः योगेन्द्र दत्त, मनीषा सिंह, दीपक किशोर, नवलकिशोर राम, संजय शर्मा, रविकान्त
संपादन सहयोगः योगेन्द्र दत्त, सोहन पाल, शशिकांत, सदन झा, राकेश कुमार सिंह, नरेश गोस्वामी
उत्पादन सहयोगः श्वेता सारदा, आशीष महाजन, मोस्लेम कुरैशी, भगवती, कालूरामजी, सचिन, विकास

प्रकाशक:
सराय
विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) का कार्यक्रम
29, राजपुर रोड, दिल्ली—110054, भारत
फ़ोनः (+91) 11-2396 0040, फ़ैक्सः (+91) 11-2392 8391
ई-मेलः dak@sarai.net
वेबसाइटः http://hindi.sarai.net & www.sarai.net

वाणी प्रकाशन
21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली - 110 002

दिल्ली, 2005

मुद्रकः एस एन प्रिंटर्स, दिल्ली - 110032

सजिल्दः ISBN-81-8143-392-0
अजिल्दः ISBN-81-8143-393-9

इस दीवान का पताः http://hindi.sarai.net/deewan/deewan02.html

अनुक्रम

शहर-ए-याद

तारीख़ी शहर



VI

भूमिका

छोटे-छोटे शहरों से, ख़ाली बोर दुपहरों से
हम तो झोला उठाकर चले,
बारिश कम-कम लगती है
नदिया मद्धम लगती है,
हम समंदर के अंदर चले
हम चले, हम चले, ओए रामचंद रे...
— गुलज़ार, *बंटी और बबली*, 2005

अपने पहले *दीवान* को हमने 'खिचड़ी ज़माने का खिचड़ी दीवान' कहा था। हमें कहाँ पता था कि इस पुस्तक शृंखला की हांडी जब दोबारा चढ़ेगी तो बीरबल की खिचड़ी बनकर ही उतरेगी। अतः सबसे पहले माफ़ी तो अपने उन अज़ीज़ पाठकों से माँग लें, जिन्हें इसका वाक़ई इंतज़ार था। दूसरी माफ़ी उन रचनाकारों से जिन्हें हमने इंतज़ार में लटकाए रखा। अगर कोई दलील है तो इसका कलेवर। गुणवत्ता का फ़ैसला आप सब पर छोड़ते हैं।

सराय के एक अहम सरोकार, शहर, को संबोधित है यह *दीवान*। पर शहर अहम क्यों है? इसलिए कि शहर हमारे जन-जीवन और मन-मानस पर एकदम हावी है और बड़ी तेज़ी से बदलाव की ऐसी चुनौतियाँ उछाल रहा है जिनका अध्ययन ज़रूरी लगता है। इसलिए कि गाँवों के प्रति एक अतिरिक्त और कुछ हद तक रूमानी आग्रह के चलते शहर को एक हेय दर्जा दिया जाता रहा है। इसलिए कि खेती से अब सकल घरेलू उत्पाद का महज़ 25 फ़ीसद आता है, हालाँकि 60 फ़ीसद लोग उस पर निर्भर बताये जाते हैं। इसका निहितार्थ यह भी है कि उनकी आधी या पूरी बेरोज़गारी रोज़ी के लिए शहरों का मुँह तकती है, जहाँ छँटनी भी होती है, दीगर मुश्किलात हैं, पर कुछ न कुछ मिलता तो रहता है। तभी तो देहाती मज़दूरों के टोल के टोल साल-दर-साल या साल में ज़्यादातर महीनों के लिए देश-विदेश के शहरों में समाते चले जा रहे हैं। शहर की चौहद्दियाँ दीर्घ-दीर्घायित होती जा रही हैं, आबादियाँ सघनतर, और इमारतें नित नई और पहले से बड़ी इमारतों में गुम हुई जाती हैं। जबकि गाँव या तो विरल होने लगे हैं या अपने आचार बदलकर शहर जैसे हो चले हैं। लोग शहर आते हैं पढ़ने-लिखने और हुनर सीखने की हसरत लिए कि वापस अपने गाँव, अपने क़स्बे में लौट जाएँगे, पर जाना कहाँ हो पाता है, रह जाती है तो बस एक कसक, एक याद। इस दरम्यान यादों में रचा वह गाँव भी वही तो नहीं रह जाता है नः

खेत तक भी आ गये बिजली के तार
गाँव बिल्कुल शहर जैसे हो गये
(शकील जमाली)

अब खेतों में रेल की पटरी के घुस आने को धामन की जोड़ी का रूपक देना (राही मासूम रज़ा) औपनिवेशिक कालावधि के लिए दुरुस्त है, पर याद रहे कि हमारे यहाँ नगरीय पतन का गीत यानी शहरे-आशोब लिखते हुए भी शायर-कहो-नज़ीर-कहो-आगरे-का-है वाले अंदाज़ में अपने शहर पर फ़ख़्र करने का उससे भी पुराना रिवाज है। शहर तो उर्दू के घर ही ठहरे — उसे अपने दिल-जिगर-नाम व कलाम से लगाए चलने की भी पुरानी परंपरा है, जिसकी तर्ज़ पर आधुनिक हिंदी के चंद लेखकों ने भी 'भारतमाता ग्रामवासिनी' वाले ज़माने में मिसाल के तौर पर बेनीपुर जैसे गाँव को अभूतपूर्व प्रसिद्धि दिलायी। हिन्दी के व्यापक रचना-संसार में भले ही

शहर को लेकर एक अस्वीकार या असंतोष-सा रहा हो पर शहर हैं तो ज़रूर। ख़ास तौर पर पिछले दो-ढाई दशक के हिन्दी रचनाकारों के संस्मरण देखें तो लगता है कि शहर को अपनाने का हौसला बढ़ा है — *अभी दिल्ली दूर है* से *लखनऊ मेरा लखनऊ* तक की पूरी यात्रा मानीख़ेज़ है। हाल में प्रकाशित *हिन्दी का मौखिक इतिहास* पलटें तो हिन्दी के तमाम अड्डों, केन्द्रों के रूप में शहर ही शहर दिखेंगे। लब्बोलुआब ये कि हमारे ज़माने के आते-आते शहर को वह सम्मान मिलने लगा है, जिसका वह हक़दार है। छोड़ आई उन गलियों का मोह, वह कसक और वह अपराधबोध कम हुआ है। खुले दिल से और शहर के नज़रिए से समाज को देखने का एक और फ़ायदा यह होगा कि आलोचनात्मक विमर्श पर राष्ट्र की गिरफ़्त ढीली होगी। वैसे भी केबल, बेतार के तारों, ब्रॉडबैंड और इंटरनेट से जुड़कर कौन सी भौगोलिक इकाई दुनिया के किसी और नेटवर्क से जा जुड़ेगी, कौन जानता है। तो वह फ़ासले भी नहीं रहे हैं, न ही वह चिर-परिचित निशानियाँ रही हैं, जिनके आधार पर हम गाँव-क़स्बा-शहर को एक-दूसरे से अलगा सकें:

नक़्शा उठा के कोई नया शहर ढूंढिए
इस शहर में तो सबसे मुलाक़ात हो गई

(निदा फ़ाज़ली)

तो *दीवान* की इस जिल्द में इतिहास भी है तो पुराण भी, स्थापत्य है तो स्मृति भी, त्रासदी है तो उन्मुक्त परिहास भी, उपनिवेश है तो राष्ट्र भी, बेचैन संघर्ष है तो सुकून की अड्डेबाज़ियाँ भी, अतीत-मोह है तो नई चुनौतियों से उलझता-जूझता विमर्श भी, पर्यावरणीय गंदगी को लेकर चली बहस की चीरफाड़ है तो भाषायी शुचिता को ललकारता गालियों का जनपद भी, वैसे तो हिंदुस्तान ही हिंदुस्तान है पर बतौर ग्लोबल छौंक के, चीन है, तो नाइजीरिया भी, दिल्ली-कलकत्ते का बोलबाला है पर शाहजहाँपुर और पटना भी हैं, महानगरीय सेक्स है और ज़ेहन के ही सही, पर गुप्त रोग भी हैं, छठ जैसे वैदिक और ठेठ पुरबिया, कमोबेश देहाती पर ग़ैर-ब्राह्मणी त्योहार के शहरी प्रवास की छटाएँ भी, साप्ताहिक हाट-बाज़ार हैं तो ऐतिहासिक सरायें भी, फ़िल्मी हिंसा की जीवनी व मुंबइया फ़िल्मी पोस्टर का सफ़रनामा है तो ऑटो के चलते-फिरते नारे भी, अगर बड़े शहरों की तन्हाई है तो छोटे शहरों की गु डागर्दी भी, उजड़े शहरों का अफ़सोस है तो बसते नगरों की आशाएँ भी, उर्दू अदब के शहरे-आशोब हैं तो निर्माण का उत्सव भी, श्लोक हैं तो ग़ज़लें भी, शहर की सड़कों पर चहलक़दमी है तो अभिलेखागारों की सर्द फ़ाइलें भी।

तो चलें। अगर आपने पिछली दफ़ा की तरह ही हौसला बढ़ाया — हौसला बढ़ाने से हमारी मुराद शुद्ध प्रशंसा से नहीं, आलोचनात्मक संवाद से है — तो फ़िल्म, भाषा, टेक्नॉलजी, बौद्धिक/जैविक संपदा क़ानून, पर्यावरण, श्रम, मुक्त सॉफ़्टवेयर व देसी कंप्यूटरी जैसे सराय के अन्य सरोकारों के इर्द-गिर्द शोधपरक व विचार-प्रवण भाष्य पेश करते रहेंगे, बेशक साहित्यिक चाशनी में डुबोकर।

रविकान्त + संजय शर्मा

VIII


UTI
BOND FUND
Pure debit fund that suits every need
UNIT TRUST OF INDIA
India's Largest Mutual Fund
New Delhi Branch: 3319786, 3351893

कोलकाता

अ पोर्ट्रेट इन ब्लैक ऐण्ड ब्लड

शमीम हनफ़ी

किताबों में लिखा है : जिस दिन भगवान शिव की पत्नी सती ने प्राण त्यागे, शिव की आत्मा दुःख से निढाल भी हुई और जलती-झुलसती ज्वाला समान क्रोध और उत्तेजना से लाल भी। कांधे पर सती की बेजान काया संभाले दुनिया में चारों ओर शिव नाचते फिरे। समय जैसे-जैसे बीतता जाता था नाच की गति तेज़ होती जाती थी। और विनाश के उस नृत्य की गति के साथ-साथ क्रोध की ज्वाला निरन्तर ऊँची और ऊँची होती गयी। तब देवताओं को ध्यान आया — भगवान शिव के कांधों पर सती की काया अगर इसी तरह रखी रही तो संसार उनके क्रोध की अग्नि में भस्म हो जाएगा। किताबों में लिखा है कि तब विष्णु भगवान ने कटार उठाई और पूरी शक्ति के साथ उसे सती की काया की ओर उछाल दिया। फिर वह काया बावन टुकड़ों में बँटी और ये टुकड़े सारी धरती पर जहाँ तहाँ बिखर गए। बँगला भूमि की एक महान नदी के किनारों पर सती के दाएँ पैर की एड़ी गिरी। श्रद्धालु भक्तों ने उस स्थान को पवित्र जाना और वहाँ काली के मन्दिर की स्थापना की। सो धरती का वह टुकड़ा काली कत्ता कहलाया और उसने सारे जगत में अपनी महिमा का शंख बजाया...

काला चमकीला बदन, ग़ुस्सैल आँखें, लहू में डूबी फुनकारती जीभ, गले में इन्सानी खोपड़ियों की माला और हार की तरह लिपटे हुए साँप, चार हाथों में से एक में नंगी तलवार, एक में कटा हुआ इंसानी सर, लहू की बूँदें टपकाता, भगवान शिव के शरीर पर एक पैर से खड़े वह नाचती रहती है। काली... सबसे महान, असीम, ख़ौफ़नाक और हर काम करने में सक्षम, रात जिसकी अंधी गुफ़ा में सब कुछ डूब जाता है।

कलकत्ता : ख़ौफ़, दहशत, अँधेरे और उत्तेजना का शहर। फ़ज़ा की बुलन्दियों से नीचे देखो तो दूर-दूर तक हरियाली दिखाई देती है, कहीं गहरी सियाही, कहीं पीलाहट लिए हुए। लेकिन ये सारा रंग प्रदर्शन अभिव्यक्ति के लिए बेचैन एक अनदेखी ऊर्जा का रूपक है। फिर इन्हीं हरियालियों में यहाँ-वहाँ चमकता, चौंकता, कौंधता हुआ पानी। झीलें, नहरें और नदियाँ और एक तरफ़ हद्दे-नज़र तक फैली हुई चाँदनी की चादर। एक नन्हा सा बिंदु इस लैंडस्केप में धीरे-धीरे फैलता जाता है और एक शहर की तस्वीर उभरती है। कुत्ते के पैर जैसी आकृति रखने वाली चौड़ी भूरी नदी के गिर्द बसा हुआ यह शहर, साहिलों पर लंगर डाले कश्तियाँ और जहाज़, बड़ी बड़ी क्रेनें, मिलों की चिमनियाँ और कारख़ानों की ज़ंग-आलूद लोहे की छतें। फिर ज़रा और नीचे आने पर ताड़ के झुण्ड दिखाई देते हैं। एक तरफ़ से झुण्ड से उभरता हुआ ब्रिटिश राज की यादों में बसे हुए पुराने गिरजे की सफ़ेद ख़ामोश मीनार, दूसरी तरफ़ बैलगाड़ी पर भारी बोझ लादे, बैलों को ठोंगे लगाता काली — कत्थई जिल्द वाला मज़दूर। यह शहर द्वन्द्व का है और अनोखे टकराव भरे तजुर्बों का। रौशन-रौशन सड़कें और अंधी गलियाँ। कहीं दौलत की रेल-पेल और ऐश का नंगापन, कहीं ग़रीबी, बदहाली, बीमारी और भूख। श्रद्धा और अंधविश्वासों के तिलिस्मी महल और भाले की नोक की तरह सीने में उतरती हुई झुग्गियाँ। एक तरफ़ दूर तक फैला हुआ लम्बा-चौड़ा मैदान है जो तक़रीर और तफ़रीह के शौक़ीन चेहरों की छलकती हुई भीड़ से भर जाने के बाद और भी फैला हुआ नज़र आता है, दूसरी तरफ़ दरबों जैसी खोलियों में सूखे ईंधन जैसे बेरौनक़ जिस्मों के अम्बार, जहाँ उजाला है न हवा। ख़्वाहिशों ने किसी और के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी है।

हुगली नदी के किनारे तीस मील की लम्बाई में बसा हुआ महानगर, अस्सी लाख से ऊपर आबादी जिसके जवाब में सिर्फ़ टोकियो, लन्दन और न्यूयॉर्क के नाम लिए जा सकते हैं, लेकिन कलकत्ता के दिल में उनसे कहीं ज़्यादा भेद छिपे हुए हैं और आँखों में उनसे कहीं ज़्यादा वहशतें आबाद हैं। यहाँ लाखों खुले आसमान के नीचे अपनी पूरी उम्र गुज़ार देते हैं, फुटपाथ पर पैदा होते हैं, जवान होते हैं, बच्चे पैदा करते हैं और मर जाते हैं। यहाँ ग़रीबी ऐसे रंग-रूप साथ लेकर आती है कि बहुतेरे इस नज़ारे की ताब नहीं ला सकते। यहाँ हिंसा है, वहशत है और टकराव है। दूसरी तरफ़ तन्ज़ीम है, धीमापन है और घर की चौखट पर उस पुरानी मिट्टी की महक है जिससे दूसरे बड़े शहर, यहाँ तक कि सदियों के तजुरबात से गुज़री हुई दिल्ली भी ख़ाली होती जा रही है। कलकत्ता व्यापार और उद्योग के एतबार से हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा शहर है और चेतना की जागृति का सबसे बड़ा केन्द्र।

ऐसा न होता तो कलकत्ता के इतिहासकार इससे इतने ख़ौफ़ज़दा न होते। महानगर के अपने वासियों को छोड़कर बेशतर ने कलकत्ता का ज़िक्र या तो डर में डूबे लफ़्ज़ों में किया है या हिक़ारत, नफ़रत और बेयक़ीनी की ज़ुबान में। ब्रिटिश राज के एक सरकारी संवाददाता, सर जॉर्ज ट्रेवेलियन ने 1863 में लिखा कि कलकत्ते से ज़्यादा उदासीन बस्ती दुनिया की चारों दिशाओं में और कोई नहीं। इसे फ़ितरत ने जितना बुरा और ग़ैर-सेहतमन्द बना दिया है उस पर कोई इज़ाफ़ा इन्सान के बस की बात नहीं। किपलिंग ने इसे ख़ौफ़नाक और डरावनी रातों का शहर कहा था। नवाब क्लाइव के ख़याल में ये कायनात की सबसे बुरी बस्ती थी, लेकिन इसी नस्ल के एक नुमाइंदे विलियम हंटर ने एक रात अपनी मँगेतर को जो मुहब्बतनामा भेजा उसमें ये लफ़्ज़ भी शामिल थे :

> तसव्वुर करो उन तमाम चीज़ों का जो फ़ितरत में सबसे शानदार हैं और उसके साथ-साथ उन तमाम अनासिर का जो तामीर के फ़न में सबसे ज़्यादा हसीन होते हैं, फिर तुम अपने आप कलकत्ता की एक धुंधली सी तस्वीर देख लोगी।

उन्नीसवीं सदी के दूसरे सिरे पर चर्चिल ने अपनी माँ से कहा था — कलकत्ते को देखकर मुझे हमेशा ख़ुशी होगी क्योंकि इसे एक बार देखने के बाद दोबारा देखने की ज़रूरत नहीं रह जाती। ये एक अज़ीम शहर है और रात की ठण्डी हवा और सुरमई धुन्ध में ये लन्दन जैसा दिखाई देता है।

कलकत्ता और लन्दन की मुमासिलत का कुछ ऐसा ही नक़्शा मुग़ल अशराफ़ियत के सबसे मुहज़्ज़ब नुमाइन्दे ग़ालिब के ज़ेहन में भी उभरा था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में, जब ब्रिटिश राज की स्थापना की तैयारियाँ कम्पनी के फ़रज़न्दों ने तक़रीबन मुकम्मल कर दी थीं और मुग़ल हुक्मराँ की सत्ता और मध्यकालीन संस्कृति की बिसात सिमटती जा रही थी, ग़ालिब 1826 के माह नवम्बर या दिसम्बर में दिल्ली से रवाना हुए और 21 फ़रवरी 1827 को कलकत्ता पहुँचे। गवर्नर जनरल बइजलासे-कौन्सिल के सामने उन्हें अपना पेन्शन का मुक़द्दमा पेश करना था।

> कलकत्ते में लोगों ने उनकी बहुत ख़ातिर मदारत की और उनको कामयाबी की उम्मीद दिलाई। स्टर्लिंग साहब सेक्रेटरी गवर्मेण्ट हिन्द ने जिनकी तारीफ़ में मिर्ज़ा का फ़ारसी क़सीदा उनके कुलियात में मौजूद है, वादा किया था कि तुम्हारा हक़ ज़रूर तुमको मिलेगा। कोलबर्क साहब जो उस वक़्त दिल्ली में रेज़िडेन्ट थे, उन्होंने दिल्ली में मिर्ज़ा से उम्दा रिपोर्ट करने का इक़रार कर लिया था। उन उम्मीदों के धोखे में वह पूरे दो बरस कलकत्ते में रहे, मगर आख़िरकार नतीजा नाकामी के सिवा कुछ न हुआ।
>
> — *यादगार-ए-ग़ालिब*

इस नाकामी को नज़रअंदाज़ कर दें तो भी सफ़र में भी ग़ालिब ने बहुत रंज खींचे थे, दरियाई सफ़र का शौक़ था मगर उस पर ख़र्च बहुत उठता, सो घोड़े पर बहुत सारा रास्ता तय किया। कलकत्ता पहुँचे तो शिमला बाज़ार में दस रुपये महीना पर मकान एक सुथरा, कुशादा और आरामदेह मिल गया। आब-ओ-हवा तबियत को मुवाफ़िक़ थी। शहर आबाद, बाज़ार बारौनक़। मुल्क-मुल्क के सामान से दुकानें भरी हुईं। अंग्रेज़ों के हुनर और ख़ूबियों से इस हद तक मुतास्सिर हुए कि इस क़ौम के तौर-तरीक़ों, आविष्कारों, नई खोजों, तर्ज़े-ज़िन्दगी और उनकी औरतों के रंग-रूप सब के आशिक़ हो गए।

कलकत्ते का जो ज़िक्र किया तूने हमनशीं
इक तीर मेरे सीने में मारा कि हाय हाय
वह सब्ज़ाज़ार[1] हाए मुतर्रा[2] कि है ग़ज़ब
वह नाज़नीं बुताने-ख़ुद आरा कि हाय हाय

सब्र आज़मा वह उनकी निगाहें कि हफ़-नज़र[3]
ताक़त रुबा[4] वह उनका इशारा कि हाय हाय
वह मेवा-हाए ताज़ा-ओ-शीरीं कि वाह! वा!
वह बादा[5]-हाए नाबे-गवारा[6] कि हाय हाय

1. हरा भरा मैदान 2. बारिश
3. नज़र न लगे 4. खीचने वाला 5. शराब
6. शुद्ध और मन पसन्द

फिर इसी दयार में ग़ालिब ने सबसे पहले भाप से चलने वाला इन्जन, बग़ैर तेल के रौशन होने वाले बर्क़ी चराग़ (बिजली का बल्ब), परिन्दों की सूरत उड़ कर एक जगह से दूसरी जगह पहुँच जाने वाले हर्फ़ों का तिलिस्म और मिज़राब का सहारा लिए बग़ैर बजने वाला मशीनी बाजा, ग़रज़ कि तरह-तरह की अनोखी चीज़ें देखीं और उनको सराहा। इसीलिए जब नई अक़लियत के सबसे मशहूर मुस्लिम नुमाइन्दा सर सैय्यद ने *आईन-ए-अकबरी* (अकबर का संविधान) का तर्जुमा किया और ग़ालिब से उस पर प्रस्तावना लिखने की फ़रमाइश की तो मुग़ल रईसज़ादे ने तामील तो कर दी लेकिन ये मशविरा भी दिया कि मियाँ हर ज़माना अपना आईन अपने साथ लाता है और पुराने को बीते हुए कल की चीज़ ठहराता है। ज़रा लन्दन की तरफ़ नज़र करो तो पता चलेगा कि दुनिया कहाँ से कहाँ पहुँच गयी।

फिर कलकत्ते में उन दिनों शे'र-ओ-शायरी की चर्चा भी बहुत थी। मदरसा-ए-आलिया और फ़ोर्ट विलियम कॉलेज जैसी संस्थाएँ थीं जहाँ मशरिक़ी उलूम (पूर्वी ज्ञान) और ज़ुबानों की तरक़्क़ी और सरपरस्ती के सामान मुहय्या थे। दिल्ली वाले मीर अम्मन भी उर्दू ज़ुबान के अंग्रेज़ सरपरस्तों की नवाज़िशों की शोहरत सुन कर ग़ालिब से बरसों पहले कलकत्ता गए थे।

> जो शख़्स सब आफ़तें सह कर दिल्ली का रोड़ा हो कर, जिसकी दस-पाँच पुश्तें उस शहर में गुज़रीं, और उसने दरबार उमराओं के और मेले-ठेले, उर्स छड़ियाँ, सैर-तमाशे और कूचा गर्दी उस शहर की मुद्दत तलक की होगी, और वहाँ से निकलने के बाद अपनी ज़ुबान को लिहाज़ में रखा होगा, उसका बोलना अलबत्ता ठीक है। ये आजिज़ भी हर एक शहर की सैर करता और तमाशा देखता यहाँ तक पहुँचा है।
>
> — *बाग़-ओ-बहार*

लेकिन सौ बात की एक बात ये है कि आदमी चाहे जितना आगे जाए बीते दिनों और तजुर्बों की परछाईं उसके साथ-साथ चलती है। सो मीर अम्मन ने लफ़्ज़ों का जो बाग़ लगाया उसकी जड़ों में महक शहरे-दिल्ली के कूचा-ओ-बाज़ार की थी और ग़ालिब ने कलकत्ते में जो दो बरस गुज़ारे उन पर छूट उसी तहज़ीब की पड़ी रही थी, जिसे वह आईन-ए-गुज़िश्ता (गुज़रे हुए कल का संविधान) समझ रहे थे। शे'र-ओ-सुख़न की महफ़िलें जमतीं। ज़ुबान दानी के जौहर दिखाए जाते। ग़ालिब का "है जो साहब के कफ़े-दस्त (हथेली) पे ये चिकनी डली" वाला क़त्आ कलकत्ता-प्रवास की यादगार है।

> तक़रीब ये कि मौलवी करम हुसैन साहब एक मेरे दोस्त थे; उन्होंने एक मजलिस में चिकनी डली, बहुत पाकीज़ा और बेरेशा, अपने कफ़े-दस्त पर रख कर मुझसे कहा कि इसकी कुछ तश्बीहात (उपमा अलंकार) नज़्म कीजिए। मैं ने वहाँ बैठे-बैठे नौ-दस शे'र का क़त्आ कह कर उनको दिया और सिले में वह डली उनसे ली।
>
> — *मक्तूबे-ग़ालिब बनाम मिर्ज़ा हातिम अली महर*

ऐसा लगता है कि क्या पेन्शन का मुक़द्दमा और क्या साइन्सी करिश्मे और आधुनिकताएँ, सब कुछ भूल-भाल कर ग़ालिब मिज़ाज से मुनासिबत रखने वाले मशग़लों में डूब गए। कम्पनी के मदरसे में एक बज़्मे-सुख़न क़ायम

हुई थी जहाँ हर महीने के पहले इतवार को मुशायरा होता। ग़ालिब भी उनमें शरीक होते और अपने शे'र सुनाते। जलने वालों ने सोचा कि एक दिल्ली से आया हुआ परदेसी सारी दाद लूटे ले रहा है सो उन्होंने ग़ालिब के कलाम में ज़ुबान-ओ-बयान की ग़लतियाँ निकालीं। ग़ालिब मुसाफ़िर थे और मोहताज मगर मामला ज़ुबानदानी का आ पड़ा था और उलझ गए। ख़ूब मारका छिड़ा। तंग आकर फ़ारसी मसनवी 'बादे-मुख़ालिफ़' (विरोधी हवा) लिखी और अहले-कलकत्ता की नामेहरबानी और बेमुरव्वती का शिकवा किया।

ऐ कलकत्ता के सुख़न परवरो और ज़ुबान आवरो
रस्मे-दुनिया है कि दोस्तों के काम बनाते हैं
मेहमान को नवाज़ते हैं
परदेसियों पर सितम कब रवा है
अगर रहम नहीं करते, न करो,
लेकिन ये सितम, क्या मानी?

अनोखा इत्तेफ़ाक़ है कि उर्दू के सबसे बड़े शायर के सफ़रे-कलकत्ता के ठीक पन्द्रह बरस बाद फ्रांस का एक आवारा मिज़ाज शायर भी लम्बे, जानलेवा फ़ासलों को पार करता हुआ पहुँचा। ग़ालिब का सफ़र भौतिक ज़रूरतों का नतीजा था। बॉदेलेयर के सफ़र की ग़रज़ मनोवैज्ञानिक थी। छह बरस की उम्र में उसके बाप की मौत और माँ की दूसरी शादी उसके लिए एक जज़्बाती मसला बन गई। उसकी आवारागर्दी और नौजवानी की बेराह रवी, फिर पेरिस के थियेटरों, कॉफ़ी हाउसों और तवायफ़ के कोठों की विध्वंसक ज़िन्दगी से तंग आकर उसके घर वालों ने सोचा कि उसे दूर पूरब की रहस्यमय बस्तियों में भेज दिया जाए। ग़ालिब के लिए कलकत्ते के कैनवस पर भौतिक कमाल के प्रदर्शन से वाक़िफ़ियत एक नया तजुर्बा थी। और वह इसके जादू में डूबे भी और उसके रोब में भी आए। बॉदेलेयर भौतिक कमाल में छिपी हुई पस्ती को पहचानता भी था और उसका शिकार भी था। और पूरब की एक रहस्यमय सरज़मीन के एक शहर में उसका आना उसके लिए एक दूसरी क़िस्म का तजुर्बा बन गया।

यहाँ उसका ठहरना एक साल से कुछ कम अरसे के लिए ही रहा। एक तो वैसे ही कच्ची उम्र में ऐसे दूर-दराज़ के सफ़र से ऐन मुमकिन था कि उसकी तबीयत में एक तब्दीली होती। दूसरे उसके कलाम से और उसकी अमली ज़िन्दगी से साफ़ ज़ाहिर है कि उसके कच्चे और नाबालिग़ ज़ेहन पर साँवले/सलोने बंगाल के जादू ने एक ख़ास असर किया। काली के मन्दिर को भी उसने देखा होगा। और देवमाला के उस अफ़साने में प्रताड़ना का जो फ़लसफ़ा छुपा है उसके रहस्यमय और जादुई ख़ौफ़ ने उसके दिल में सदियों की दबी हुई वहशी इन्सान की फ़ितरी तहरीकों को नए तरीक़े से अछूते अन्दाज़ में बेदार कर दिया होगा...

> बॉदेलेयर के लिए जिन्सी ऐश कोई नई चीज़ न थी। लेकिन नए माहौल में औरत की दिलकशी उसे एक अछूते रंग में दिखाई दी। काली देवी और उसके अफ़सानों से उसे कौन सी दिलचस्पी महसूस हुई? साँवले-सलोने हुस्न में उसे क्या दिलकशी दिखाई दी? इसका स्पष्ट जवाब तो नहीं दिया जा सकता, अलबत्ता अन्दाज़े और इशारे ही किए जा सकते हैं।
>
> — *मशरिक़ व मग़रिब के नग़्मे*

और अब बॉदेलेयर की एक नज़्म के चन्द मिसरे जो मीरा जी की मीरा सेन की एक लरज़ती तस्वीर भी है:

उसकी हर बात काले रंग की है। वह तो रूहे-शबाना[7] दिखाई देती है,
रूहे-तीरगी[8]। उसकी आँखें गुफ़ाएँ हैं जिनकी गहराई में असरार-दरख़्शाँ[9]
हैं लेकिन उन आँखों की निगाहें बिजली की तरह हैं, एक चमकारा जो
रात के परदे को चीर दे वह एक महरे-आबनूसी है, एक नज़्मे-सियाह[10]!
और इसके बावजूद नौ-रू ख़ुशी की किरनें उसमें से फूट रही हैं, बल्कि वह
एक ऐसे चाँद की तरह है जिसने उसे अपना लिया है। उसके नन्हें से सर में
एक आहनी क़ूव्वते-इरादी पिन्हाँ[11] है और एक तश्नगी[12] शिकार की। फिर भी

7. रात की आत्मा
8. अंधेरेपन की आत्मा
9. रहस्य दिखते हैं
10. काला सितारा
11. फ़ौलादी इच्छा शक्ति छिपी है

उसके वहशी चेहरे में, जहाँ गुफ़ाओं जैसे नथुने तिलिस्मी साँसें ले रहे हैं, सुर्ख़-ओ-सफ़ेद और प्यारा शीरीं दहन[13] रंग से दमक रहा है, यूँ — जैसे ज्वालामुखी के किनारे पर किसी फूल की शोभा!

12.प्यास 13.मीठे होंट

— *तर्जुमा*ः मीरा जी

II

कलकत्ता अभी बहुत दूर था।

सरल ने थक कर आँखें बन्द कर लीं और कलकत्ते का तसव्वुर करना चाहा जहाँ वह बिल आख़िर पहुँचने वाला था। महलों का शहर। सोने और चाँदी की बस्ती, मशरिक़ का लन्दन। अब रात हो रही थी। बंगाले का जादुई चाँद पानी की सतह पर कश्ती के साथ-साथ तैरता जाता था। मांझी अपनी ज़ुबान में गा रहे थे। उनकी आवाज़ सरल को ग़ैरमामूली तौर पर सुरीली मालूम हुई।

— क़ुर्रतुल ऐन हैदरः *आग का दरिया*

जॉब चारनॉक ने जिस रोज़ हुगली के मशरिक़ी किनारों पर अपने ख़ेमे लगाए थे और कलकत्ते का ख़्वाब नामा तरतीब दिया (और कुछ अरसे बाद उस ख़्वाब की तकमील के लिए एक हिन्दुस्तानी औरत ब्याह ली) उससे इक्यासी बरस पहले हेनरी हडसन के हाथों न्यूयॉर्क की तारीख़ का हर्फ़े-आग़ाज़ लिखा जा चुका था। मॉन्ट्रियल आधी सदी पहले बसाया जा चुका था। इस तरह कलकत्ता दुनिया के सबसे कमसिन शहरों में से एक है, साथ ही इन्सान की सबसे पुरानी तहज़ीबों में से एक का आईनाख़ाना भी है, क़दीम-ओ-जदीद, पुरातन और आधुनिक का संगम। और इस संगम में पानी की वह अनदेखी धारा, जो सरस्वती की तरह अपना वजूद रखती है मगर निगाह से ओझल है, गुज़रे हुए कल और आज के साथ आने वाले कल का इशारिया है, बज़ाहिर गुम है लेकिन दिल की तरह धड़कती हुई। त्रिमुखी कलकत्ता का तीसरा किनारा। एक सच्ची कहानी का तीसरा अध्याय जो हर्फ़-हर्फ़ हवा की तख़्ती पर लिखा हुआ है। कहानी का ये सफ़ा आने वाली नस्लें पढ़ेंगी।

जॉब चारनॉक की आमद 1655 में हुई। 1663 में जब वह पटने में एक कारख़ाने का निगराँ था, एक रोज़ घूमता-फिरता उस जगह जा पहुँचा जहाँ एक चिता रौशन थी। और एक ख़ूबसूरत औरत मीरया जिसे रिश्तेदारों ने शौहर की लाश के साथ सती हो जाने का हुक्म दिया था, अचानक आँखों के रास्ते चारनॉक के दिल में उतर गई। इससे पहले कि वह दहकती हुई आग में जस्त लगाती चारनॉक ने झपट कर उसे सँभाल लिया। फिर वह उसे हुगली ले गया और साथ-साथ दोनों ज़िन्दगी का सफ़र तय करने लगे। कहते हैं कि मीरया की वफ़ात के बाद हर साल चारनॉक उसकी क़ब्र पर एक मुर्ग़ की क़ुरबानी देता था।

कप्तान एलेक्ज़ैण्डर हैमिल्टन से रवायत है कि सती के शोलों से एक ख़ूबसूरत जवान औरत की जान बचाने वाला रहमदिल जॉब चारनॉक किसी रियासती हुक्मराँ से ज़्यादा ख़ुदसर, अक्खड़ था। जब वह खाने की मेज़ पर बैठता तो उसके हुक्म से ड्रॉइंग रूम के बाहर मक़ामी बाशिन्दों को तफ़रीहन कोड़े लगाए जाते ताकि वह उनकी दहशतज़दा चीख़ें सुनता रहे और लुत्फ़ अन्दोज़ होता रहे।

कुछ मायनों में कलकत्ता की कहानी हिन्दुस्तान की कहानी है, बल्कि तीसरी दुनिया की एक मुख़्तसर तस्वीर। ये तस्वीर बताती है कि साम्राज्य क्यों और कैसे वजूद में आते हैं और जब हवा के एक सरकश झोंके के साथ ये भूतकाल के धुन्ध में खो जाते हैं तो क्या होता है? कलकत्ता की कहानी औद्योगिक क्रान्ति की कहानी है। तीसरी दुनिया के उन बाशिन्दों की कहानी जो निजात के पुराने नुस्ख़ों को आज़माने के बाद एक नए यक़ीन की जोत जगा रहे हैं।

कहते हैं कि कलकत्ता उस पर चोटें लगाने वाला शहर है। पहले इसके एक सिरे पर अंधविश्वासों का तिलिस्म आबाद था, दूसरे सिरे पर सच्चाइयाँ और कितनों ही के लिए उन दो रेखाओं के बीच का इलाक़ा टोबा टेक सिंह के उस No Man’s Land की मानिन्द था जिस पर किसी का एख़्तेयार न था, जिसका न कोई ख़ुदा था न हाकिम। यह अतिवादियों का शहर है। सबसे पहले इसी शहर ने औद्योगिक तरक़्क़ी और एक नई फ़िक्र

के तत्त्व अपने लहू में ज़ज्ब किए। और सबसे पहले इसी शहर में इन्क़लाब और बग़ावत की चिन्गारियाँ रौशन हुईं। उन दिनों जब ब्रिटिश राज की अज़मत का सूरज सरों पर पूरी आब-ओ-ताब के साथ चमक रहा था, उसकी धूप में छुपे अंधेरे के निशान सबसे पहले कलकत्ता ने दरयाफ़्त किए। *इंग्लिशमैन*, *बंगाल हरकारू*, *कलकत्ता रिव्यू*, *हिन्दू पेट्रियट*, *फ्रेंड ऑफ़ इण्डिया* नए इन्क़लाबी शऊर के पहले ढिंढोरची थे। प्रतिरोध और इन्कार की हर लहर बंगाल की सुनहरी धरती से उठी और देखते-देखते सारे मुल्क को अपनी लपेट में ले लिया। काली को देवताओं ने इसलिए जन्म दिया था कि वह तबाही की तमाम ताक़तों का सर कुचल दे। ब्रिटिश राज उस ताक़त का सबसे स्याह स्रोत था। 18 मई 1857 को लॉर्ड कैनिंग ने ऐलान किया कि बंगाली अख़बारात राज के ख़िलाफ़ नफ़रत और ग़ुस्से का फ़साद फैला रहे हैं, सो उन्हें इस दुस्साहस की सज़ा दी जाए। *समाचार दर्शन* को कुचल दिया गया। *बंगाल हरकारू* पर मुक़द्दमा चलाया गया। बंगाली अदीबों ने गुमनाम तरीक़ों से ये शम्मा रौशन रखी कि जब मामला उसूलों की जंग तक पहुँच जाए तो आदमी आदमी नहीं रह जाता, अक़ीदा (श्रद्धा) और ख़्वाब बन जाता है। दीन बन्धु मित्र ने अपने ड्रामे *नील दर्पण* को इस तरह प्रकाशित किया कि इसके लफ़्ज़ों में उनके अपने चेहरे की जगह बंगाल की सारी धरती का चेहरा झाँक रहा था। कलकत्ते में राम नारायन ताराकान्ता के ड्रामे *क्लीन सरोसो* का मंचन होना था कि बैरकपुर की फ़ौजों में बग़ावत का ज़हर फैल गया।

कहानी का ये सफ़ा भी इसी शहर को समर्पित है जिसने फ़ोर्ट विलियम कॉलेज, बंगाल एशियाटिक सोसायटी, हिन्दू कॉलेज, मदरसा-ए-आलिया जैसे इदारों को एक नई रोशनी का अलमबरदार समझ कर सीने से लगाया था। जहाँ सर विलियम जोन्स, ड्यूड हेयर और राजा राम मोहन राय कंधे से कंधा मिलाकर तामीर के एक नए मंसूबे, एक पिछड़े मुल्क की क़यादत के कारनामे अंजाम दे चुके थे। उन्नीसवीं सदी के शुरू में (1813) जब बरतानवी पार्लियामान के वसीले से कम्पनी बहादुर ने हिन्दुस्तानी इल्म-ओ-अदब की तरक़्क़ी के लिए एक लाख का क़ीमती दान दिया उस वक़्त सबसे पहले राजा राम मोहन राय ने ही ये शिकायत की थी कि :

> हमें पूरी उम्मीद थी कि ये रुपया हिन्दुस्तानियों को मुख़्तलिफ़ जदीद उलूम से रूशनास (ज्ञान से परिचित) कराने के लिए ज़हीन और क़ाबिल यूरोपियन उस्तादों पर ख़र्च किया जाएगा... लेकिन अब हमें मालूम हुआ कि हिन्दू पंडितों की निगरानी में एक संस्कृत मदरसे की स्थापना के सिलसिले में कम्पनी ये रुपया ख़र्च कर रही है... सभी जानते हैं कि इसी ज़ुबान ने सदियों तक हिन्दुस्तानियों के लिए सही इल्म हासिल करने की राह में रुकावटें पैदा कीं।
>
> — पर्सिवल ग्रिफ़िथ्स : *मॉडर्न इण्डिया*

इस वाक़ये के कोई छप्पन बरस बाद मुसलमानों में जदीद तहज़ीबी नवजागरण के सबसे बड़े नुमाइन्दे सर सैय्यद अहमद ख़ान ने अलीगढ़ साइंटिफ़िक सोसायटी के नाम लन्दन से भेजे गए एक ख़त (15 अक्तूबर 1869) में लिखा था कि:

> हम जो हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों को बदएख़लाक़ी का मुल्ज़िम ठहराकर (अगरचे अब भी मैं इस इल्ज़ाम से उनको बरी नहीं करता) ये कहते थे कि अंग्रेज़ हिन्दुस्तानियों को बिल्कुल जानवर समझते हैं और निहायत हक़ीर जानते हैं, ये हमारी ग़लती थी। वह हमको समझते ही न थे बल्कि दर हक़ीक़त हम ऐसे ही हैं। मैं बिला मुबालग़ा निहायत सच्चे दिल से कहता हूँ कि तमाम हिन्दुस्तानियों को आला से लेकर अदना तक, अमीर से लेकर ग़रीब तक, आलिम फ़ाज़िल से लेकर जाहिल तक, अंग्रेज़ों की तालीम-ओ-तरबीयत और शाइस्तगी के मुक़ाबले में दर हक़ीक़त ऐसी ही निस्बत है जैसी निहायत लायक़ और ख़ूबसूरत आदमी के सामने निहायत मैले-कुचैले जानवर को...

दूसरी तरफ़ अंग्रेज़ क़ौम के एक फ़रज़न्द (पर्सिवल स्पीयर : *ट्वाइलाइट ऑफ़ द मुग़ल्स*) को दुःख था कि क़ौमी हुकूमत के ख़ात्मे के बाद हिन्दुस्तानी समाज में तालीम का मतलब बस अँग्रेज़ी ज़ुबान में ज़रा सी शुद-बुद पैदा कर लेना और मग़रिबी तर्ज़े-ज़िन्दगी की अंधी तक़लीद (नक़्ल) रह गया है।

और अवध के आख़िरी ताजदार जाने-आलम पिया वाजिद अली शाह कलकत्ते में बैठे अख़्तर का मर्सिया

लिख रहे थे।

> दिले-ज़ार[14] हरगिज़ सँभलता नहीं
> वो कोहे-गिराँ[15] है कि टलता नहीं
> हर इक सिम्त पहरा हर इक सिम्त यास[16]
> रफ़ीक़-ओ-मुलाज़िम में ख़ौफ़-ओ-हरास
> कभी सर पे रखता था मैं कज कलाह[17]
> अवध का कभी मैं भी था बादशाह
> मुलाज़िम कभी थे मेरे सौ हज़ार
> मेरे हुक्म में थे प्यादा सवार
> हुए क़ैद इस तरह हम बेगुनाह
> असीरों[18] में हूँ नाम है बादशाह

14. रोता हुआ दिल 15. बड़ा पहाड़
16. ना उम्मीदी 17. तिरछी टोपी
18. क़ैदियों

रवायत है (ज्यॉफ़री मोडहाउसः *Calcuttaa*) कि नया बंगाल आंदोलन का हीरो हेनरी डिरॉज़ियो जो एक अंग्रेज़ी फ़र्म के किसी अफ़सर का बेटा था और जिसने कलकत्ते के प्राइवेट इंगलिश स्कूलों में तालीम पाई थी, रॉबर्ट बर्न्स, फ्रांसीसी इन्क़लाब और अंग्रेज़ी रैडिकलिज़म से सख़्त मुतास्सिर था। वह शे'र कहता था और एक नज़्म में नवेरेनू के मक़ाम पर यूनानियों की आज़ादी की जंग में कामयाबी का उसने पुरजोश अन्दाज़ में ख़ैर मक़दम किया था। उसके संपादन में बंगाली अख़बार प्रकाशित होते थे और उस वक़्त जब वह बहुत कम उम्र था हिन्दू कॉलेज में आला दर्जों को पढ़ाता था। उसके हामियों में ज़्यादातर उच्च जाति के हिन्दू थे, अंग्रेज़ी रंग में रंगे हुए। उसने उन सबको नास्तिक बना दिया। और ये अफ़वाह उन दिनों कलकत्ते के उच्च समाज में बहुत गर्म थी कि हिन्दू कॉलेज के छात्र प्रार्थना के वक़्त पवित्र ग्रंथों के बजाए इलियड की पंक्तियाँ पढ़ते थे और एक रोज़ एक लड़के से जब काली की मूर्ति के सामने सर झुकाने को कहा गया तो उसकी ज़ुबान से बस ये लफ़्ज़ निकले... गुडमॉर्निंग मादाम!

> ...उन्नीसवीं सदी के आख़िर का कलकत्ता बेहद मॉडर्न शहर था जिसमें अनगिनत कॉलेज थे और सियासी तहज़ीबें, तहरीकें और प्रेस व अख़बार। नए बंगाली नॉवलों में हिन्दू तहज़ीब की तहरीक का प्रचार किया जा रहा था। राजा सुरेन्द्र नाथ टैगोर ने हिन्दुस्तानी संगीत के पुनरावलोकन का सिलसिला शुरू कर रखा था। स्वामी विवेकानन्द यहाँ से बाहर जा कर युरोप और अमरीका में वेदान्त फ़लसफ़े का प्रचार कर रहे थे। मुल्क में हर तरफ़ सियासी और तहज़ीबी तहरीकों की चर्चा हो रही थी, काँग्रेस बदरूद्दीन तैय्यबजी और दूसरे लीडरों की क़यादत में बड़े-बड़े इजलास कर रही थी।
>
> क़ुर्तुल ऐन हैदरः *आग का दरिया*

III

अक्टूबर 1905 में ब्रिटिश राज ने फ़ैसला किया कि बंगाल को दो हिस्सों में तक़सीम कर दिया जाए। एक जाना-बूझा डर इस फ़ैसले की बुनियाद था। सो बँटवारा हुआ। मशरिक़ी बंगाल में असम को मिला दिया गया। मग़रिबी हिस्से में बिहार, छोटानागपुर और उड़ीसा के बाशिन्दे ज्यों के त्यों जुड़े रहे। अब मशरिक़ी बंगाल में मुसलमानों की अक्सरियत हो गयी। मग़रिबी बंगाल में (कलकत्ते की आबादी) हिन्दू बंगालियों का बहुमत था, लेकिन वह बिहारियों, ओड़ियाओं और दूसरे मुहाजिरों से घिरे हुए थे। उनमें अगर कोई समानता थी तो बस मज़हब की। जबकि मशरिक़ी बंगाल के वासी मज़हबी एतबार के अलावा अपने रवैयों, मिज़ाज-ओ-तबीयत और अन्दाज़े-ज़िन्दगी के एतबार से कमो-बेश एक जैसे थे। बँटवारे का नतीजा ये हुआ कि ऊँची जाति के हिन्दुओं के भद्र लोग अपने एक बहुत बड़े हिस्से से कट कर रह गये। कलकत्ते के भद्र लोगों से ज़्यादा ब्रिटिश राज को डराने वाली सच्चाई और कुछ न थी। इस तक़सीम का मक़सद था एक ख़ौफ़नाक और शक्तिशाली सच्चाई को दो टुकड़ों में बाँट कर कमज़ोर कर देना।

लेकिन नतीजा ब्रिटिश राज की उम्मीदों के ख़िलाफ़ निकला। बँटवारे ने इंक़लाब की जिस चिंगारी को हवा दी थी वह धीरे-धीरे शोला बन गयी।

बँटवारे की शाम को कलकत्ता के टाउन हाल में एक आम सभा हुई। यह ऐलान किया गया कि अँग्रेज़ी सामानों का मुकम्मल बायकॉट होगा। स्वदेशी तहरीक ज़ोर पकड़ती गयी। नए स्कूल खोले गए जिनमें एक नई क़ौमी चेतना के प्रसार को बुनियादी मक़सद की हैसियत हासिल थी। अब तालीम के पाठ्यक्रम में जिस्मानी प्रशिक्षण के सबक़ भी शामिल कर लिए गए। बांग्ला अख़बार खुलकर ब्रिटिश राज की आलोचना करने लगे। अख़बारों की प्रकाशन संख्या में हैरतअंगेज़ इज़ाफ़ा होने लगा।

फिर तशद्दुद (हिंसा) की लहर जागी। कलकत्ते से दूर-दूर तक जगह-जगह बम बनाने के ख़ुफ़िया केन्द्र क़ायम हो गए। छोटे-छोटे सुव्यवस्थित जत्थों में नौजवान लड़के-लड़कियाँ छुप-छुपाकर निकलते और आज़ादी का यह नया हरबा इस्तेमाल करते। मग़रिबी दुनिया के अख़बारात में उनके हौसले को सराहा जाने लगा। यह गिरफ़्तार होते और सर झुकाए बग़ैर सज़ा क़ुबूल कर लेते। उन पर और उनसे तआवुन करने वाले आम इन्सानों पर ब्रिटिश राज की सख़्तियाँ बढ़ गईं। अख़बारों पर रोक लगा दी गयी। उनके संपादकों और प्रकाशकों को जेलख़ानों में डाल दिया गया। आए दिन सिक्योरिटी अफ़सर कलकत्ता यूनीवर्सिटी या छात्रों के ख़ुफ़िया अड्डों पर छापे मारते।

ब्रिटिश राज को अपनी भयानक भूल का कुछ अन्दाज़ा प्रिन्स ऑफ़ वेल्स के दौरे (1905-06) के वक़्त हुआ। इससे पहले बरतानवी सत्ता के मुहाफ़िज़ों ने ख़्वाब में भी नहीं सोचा था कि मामला उस वक़्त तक बिगड़ चुका था। उन्हें उम्मीद थी कि प्रिन्स ख़ुद जब अपनी रिआया के सामने जाएँगे तो सारा ग़ुस्सा और बेक़रारी ख़त्म हो जाएगी।

> ...कलकत्ते के सदर बाज़ार मे फ़ुटपाथ पर वह एक घण्टे से खड़े थे। बाज़ार में मुकम्मल हड़ताल थी लेकिन तमाशाइयों का हुजूम बन्द दुकानों के आगे घूम रहा था। बाज़ार के बीचोबीच रास्ता साफ़ था और दो ग़ैर मुल्की और मक़ामी पुलिस के आदमी खड़े थे। सड़क पर अंग्रेज़ फ़ौजी और पुलिस अफ़सर मोटर साइकिलों पर घूम रहे थे। प्रिन्स ऑफ़ वेल्स का जुलूस गवर्नमेण्ट हाउस से रवाना हो चुका था...
>
> ...अचानक शहज़ादे ने नज़रें ऊपर उठाईं और देखता रहा। फिर ज़रा सा गवर्नर की तरफ़ झुका। गवर्नर ने भी उसी सिम्त में देखा और उसके चेहरे पर सख़्त नागवारी के आसार पैदा हुए। उसने मुड़कर पीछे की तरफ़ निगाह दौड़ाई, फिर सामने देखा। सरों के मसनूई (कृत्रिम) दरख़्तों से बने हुए तक़रीबी (अस्थायी) गेट पर बर्क़ी रोशनी से लिखे हुए ये अल्फ़ाज़ बार-बार ज़ाहिर और ग़ायब हो रहे थे :
>
> "Tell your Mother, we are unhappy."
>
> ...अचानक प्रिंस के बराबर वाली गली से चन्द लोगों का एक गिरोह सामने आया। उनके जिस्म नंगे और स्याह थे और सर मुंड़े हुए थे। उन्होंने अपने पेटों पर बड़े-बड़े बोर्ड बाँध रखे थे जिन पर लिखा हुआ था :
>
> "Tell your Mother, we are unhappy."
>
> ...नईम अज़रा को थाम कर वापस चलने लगा। अज़रा का सर अभी तक उसके कन्धे पर टिका हुआ था। उल्टे लटके हुए बोर्डों के नीचे, एक दूसरे को थामे हुए वह चलते गए।
>
> — अब्दुल्ला हुसैन : *उदास नस्लें*

प्रिन्स के दिल को बहुत तक़लीफ़ पहुँची। इम्पीरियल कौन्सिल में वाइसराय के होम मेम्बर जॉन जंक्सन ने मशविरा दिया : तख़्ते-शाही को दिल्ली मुन्तक़िल (स्थानान्तरित) कर दिया जाए। कलकत्ता नाक़ाबिले-बरदाश्त होता जा रहा है। लोगों के हौसले इसी तरह पस्त होंगे। दिल्ली बहुत महफ़ूज़ है। पुराने वक़्तों में वहीं पाँडवों और कौरवों में एक लम्बी जंग छिड़ी थी। मुग़लों ने इसी दयार में बैठे-बैठे सारे हिन्दुस्तान पर हुकूमत की थी। कलकत्ता की फ़िज़ां में तशद्दुद है।

इस तरह तैयारियाँ शुरू हो गयीं। दिल्ली दरबार के इन्तज़ामात किये जाने लगे। सब कुछ बहुत ख़ामोशी से,

बहुत ख़ुफ़िया तरीक़े से तय किया गया। बस मुट्ठी-भर लोगों को मालूम था कि सत्ता का केन्द्र बदलने वाला है।

दिसम्बर 1911 की उस सुबह को मलिका ने चार हज़ार एक सौ उन्चास हीरों से सजा हुआ ताज पहन रखा था। सामने चमकते हुए लिबासों में बीस हज़ार अँग्रेज़ी और हिन्दुस्तानी फ़ौजियों के दस्ते थे। और पचास हज़ार राजे-महाराजे। ये दिल्ली दरबार का जश्न था। और जब बादशाह जॉर्ज ने ऐलान किया कि "हम अपनी रिआया को ये इत्तला देते हुए ख़ुशी का एहसास करते हैं कि हमने हुकूमते-हिन्दुस्तान का केन्द्र, कलकत्ते से हिन्दुस्तान की पुरानी राजधानी में मुन्तक़िल करने का फ़ैसला किया है" तो चन्द लम्हों के लिए मजमे पर पथरीली ख़ामोशी तारी रही। फिर देर तक तालियों की गूँज सुनाई देती रही।

उस रोज़ कलकत्ता मैदान में पाँच हज़ार फ़ौजियों ने एक शानदार परेड का मुज़ाहिरा किया था।

तशद्दुद-पसन्द नौजवानों ने, जो ग़ैर संवैधानिक तरीक़ों में पक्का यक़ीन रखते थे, एक मुख़्तसर वक़्त के लिए अपनी सरगर्मियाँ बन्द कर दीं। उनके चेहरों पर तशद्दुद की चमक थी।

लेकिन व्यापारियों और कारख़ानादारों की पंक्तियों में बेइत्मिनानी की एक लहर दौड़ गई। अब कलकत्ता वीरान हो जाएगा। दिल्ली सामान के वितरण का बहुत बड़ा केन्द्र है। अब सारा माल बम्बई और कराची की मण्डियों में पहुँचने लगेगा। हमने जो इतना बहुत सा कारोबार फैला लिया था और इतनी इमारतें खड़ी कर ली थीं, अब उनका क्या होगा? बड़े व्यापारियों और कारख़ानादारों में अक्सरियत अँग्रेज़ों की थी।

मक़ामी अख़बारात में हफ़्तों इस वाक़ये पर बहस जारी रही। कई अख़बारात अँग्रेज़ पूँजीवादियों के फ़ायदे की नुमाइन्दगी करते थे और हालात की इस अचानक करवट पर उनके होश गुम हो गए। *स्टेट्समैन* लिखता है, "वाइसरॉय और उनकी कौन्सिल ने ये फ़ैसला सूबे के एक भी मुमताज़ शख़्स की सलाह के बग़ैर चुपचाप कर लिया। और अब वह तवक़्क़ो करती है कि इस फ़ैसले से जिन लोगों की तौहीन हुई है वही उसे खुले दिल से क़ुबूल करें!"

बहरहाल, ये वाक़या ग़ुलाम पिछड़े इन्सानों के सामने अज़ीमुश्शान ब्रिटिश राज की हार का पहला इशारा था, एक ख़ात्मे का आग़ाज़, सिर्फ़ कलकत्ते की अँग्रेज़ बिरादरी के लिए नहीं बल्कि सारी अजनबी हुक्मराँ क़ौम के लिए। लन्दन की महफ़िलों में लोग सरगोशी के अन्दाज़ में एक दूसरे से इस वाक़ये का ज़िक्र करते और उन्हें ख़याल आया कि जिस रोज़ पाया-ए-तख़्त कलकत्ते से हटाया जाने वाला है वह दिन तो April Fool's Day होगा तो बहुतों के चेहरे पर एक ख़ुश्क, बेजान मुस्कराहट फैल गई।

माहौल बारूद की बू से बोझिल है।

महायुद्ध का नशा टूट रहा है। 1943, सर पर सूखा, बग़ैर बादल का आसमान, क़दमों के नीचे चटखती, टूटती, झुलसती बेआब ज़मीन। या सैलाब, तूफ़ान और मुकम्मल तबाही। कलकत्ता सामूहिक मौत को कई नाम देता है। सैलाब, साइक्लोन, सूखा।

> अकाल आया, ख़ौफ़नाक, हौलनाक, लड़खड़ाता हुआ, लफ़्ज़ बयान से आजिज़ हैं। मालाबार में, बीजापुर में, उड़ीसा में, और उन सबसे ज़्यादा बंगाल के ज़रख़ेज़ और मालदार राज्य में, ख़ुराक की क़िल्लत के सबब मर्द और औरतें और नन्हे बच्चे हर रोज़ हज़ारों की तादाद में मरते हुए। कलकत्ता के महलों के सामने वह अचानक गिरते और मर जाते, बंगाल के अनगिनत गाँवों में, कच्ची मिट्टी के झोंपड़ों में, देहाती इलाक़ों की सड़कें और खेत उनकी लाशों से पटे पड़े थे। सारी दुनिया में लोग मर रहे थे या जंगलों में एक दूसरे की जान ले रहे थे; आम तौर पर एक फ़ौरी मौत, अकसर एक बहादुराना मौत, मौत किसी मक़सद की ख़ातिर, एक बामानी मौत, मौत जो हमारी दीवानी दुनिया में वाक़यात की एक बेरहम दलील दिखाई देती थी, ज़िन्दगी का अचानक ख़ात्मा जिसे हम न तो मोड़ सकते थे, न इस पर हमारा क़ाबू था। मौत हर तरफ़ ख़ासी आम थी।
>
> लेकिन यहाँ मौत का कोई अर्थ न था, कोई दलील न थी, न कोई ज़रूरत, ये इन्सान की नाक़ाबिलियत और संगदिली का नतीजा थी, इन्सानी हाथों का कारनामा, एक सुस्त चाल से

> रेंगती हुई दहशतनाक चीज़ जिससे निजात का कोई रास्ता न था, ज़िन्दगी मौत में गुम होती हुई, मिलती हुई, वीरान आँखों और उदास जिस्मों से मौत झाँकती हुई, जबकि अभी पल भर के लिए ज़िन्दगी उनमें ठहरी हुई होती...
>
> — जवाहर लाल नेहरू : *डिस्कवरी ऑफ़ इण्डिया*

कलकत्ता और उसके इर्द गिर्द के इलाक़ों में उन दिनों भी अकाल पड़ा था जब इंगलिस्तान के कारख़ाने सोना उगल रहे थे। उन्हें ईंधन चाहिए था। लोग कहते हैं कि पिछले अकाल भी इन्सानी हाथों का कारनामा थे। 1760 और 1770 में अकाल के बाद महामारी भी फैली थी।

कलकत्ता युनिवर्सिटी के जीवविज्ञान विभाग के एक अन्दाज़े के मुताबिक़ 1943 के अकाल ने बंगाल में कम से कम चौंतीस लाख जानें लीं। और जब कलकत्ता के *स्टेट्समैन* ने कलकत्ता की सड़कों पर मरने वाली फ़ाक़ाकश औरतों और बच्चों की डरावनी तस्वीरें पेश कीं तो एक सरकारी नुमाइन्दे ने यूँ बयान दिया कि हालात से डराया जा रहा है।

कलकत्ता की सड़कें और गलियाँ तो लाशों से ढँक गयी थीं और दूसरी तरफ़ ऊँचे तबक़े के दस हज़ार इन्सान अपनी तफ़रीहात में मगन थे। रक़्स, दावतें, शोर-शराबा और क़हक़हे। ग़ल्ला एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के लिए गाड़ियाँ बहुत कम उपलब्ध थीं। रेस के मैदानों में घुड़दौड़ का तमाशा उसी तरह जारी था और आला नस्ल के घोड़े मुल्क के दूर-दराज़ इलाक़ों से रेल के विशेष वैगनों में लाए जाते थे। कलकत्ता की दो दुनियाओं का द्वन्द्व इससे पहले कभी इतना खुल कर सामने नहीं आया था। उन दोनों दुनियाओं में फ़ितरी फ़ासले न थे, लेकिन ये एक दूसरे के लिए अजनबी थीं।

बंगाल में अब तक सात बार अकाल पड़ चुका था। 1770 के अकाल ने उसकी एक तिहाई आबादी का सफ़ाया कर दिया था। बंगाल के गाँव, कुरिये, बस्तियाँ वीरान होती जाती थीं, गली कूचों में ख़ाक उड़ रही थी और उधर इंगलिस्तान में शहर बस रहे थे। औद्योगिक क्रांति के शोर में ब्रिटिश राज के एक दूर के राज्य का सारा दर्द गुम हो गया था। फ़ासलों के बावजूद वाक़यात में कैसे अनदेखे रिश्ते पैदा हो जाते हैं।

अप्रैल 1943 में सड़क पर पड़ी हुई एक लाश का पोस्टमॉर्टम किया गया तो पता चला कि उसके पेट में सिर्फ़ घास थी।

भूख के ख़ौफ़ का ये हाल था कि मज़हबी बंधन भी नज़र-अन्दाज़ कर दिये गये। कट्टर हिन्दू, जो आम हालात में ग़ैर जात के किसी शख़्स के हाथ से पानी का एक प्याला भी क़ुबूल न करता, मुसलमानों के हाथ से खाना वसूल कर रहा था, मुसलमान हिन्दुओं से ग़िज़ा लेते थे। कहते हैं कि माँ-बाप बच्चों का व्यापार करने लगे। खुलना की एक औरत ने अपनी बेटी पन्द्रह रुपये में बेच दी। बर्दमान में एक तीन साल की बच्ची का मोल पाँच रुपये लगा। मालदा में भूगर्दी मण्डल ने अपने इकलौते बेटे मुज़फ़्फ़र, उम्र तीन साल, को अपने हाथों क़त्ल कर दिया क्योंकि वह उसका पेट नहीं भर सकता था और उसके ख़ानदान ने हफ़्ते भर से ग़िज़ा की शक्ल भी न देखी थी। एक बूढ़ा मछेरा इतना कमज़ोर हो चुका था कि जब भूखे कुत्ते उस पर झपटे तो वह अपनी रक्षा न कर सका था।

उधर लन्दन के हाउस ऑफ़ कॉमन्स में ब्रिटिश राज का एक मुहाफ़िज़ हुकूमत की इज़्ज़त व महानता की हाज़िरीन को इत्तेला दे रहा था, "हिन्दुस्तान में इस वक़्त अनाज की कोई कमी नहीं। गेहूँ की फ़सल शानदार हुई है। मसला जो कुछ भी है, तक़सीम की व्यवस्था में ख़राबी के सबब है"।

टैगोर ने ये सूरते-हाल आने से सिर्फ़ तीन साल पहले अपने आप से पूछा था : "ये लोग कैसा भयानक हिन्दुस्तान, कैसी डरावनी बेबसी अपने पीछे छोड़ जाएँगे, जिस दिन इनकी सत्ता का स्रोत खुश्क होगा, उनके पीछे सिर्फ़ कीचड़ और गंदगी बाक़ी रह जाएगी...!"

लन्दन के हाउस ऑफ़ कॉमन्स में ब्रिटिश राज की इज़्ज़त-ओ-अज़मत के उस मुहाफ़िज़ का ये कहना कि सारा फ़साद तक़सीम की व्यवस्था में ख़राबी का है, सच्चाई का एक पहलू भी रखता है!

दौलत की तक़सीम, सहूलियतों की तक़सीम, मौक़ों और फ़ायदों की तक़सीम, दुःख, उलझन और परेशानियों

की तक़सीम, धूप और साए की तक़सीम, उजाले की तक़सीम, अँधेरे की तक़सीम, फ़ितरत की अताकर्दा ख़ैरात और तादाद की तक़सीम... ग़रज़ कि ज़िन्दगी और वजूद का दायरा-दर-दायरा सच्चाइयों का कौन सा निज़ाम है जिसमें गड़बड़ नहीं है!

शहर! तू इस दरिया के किनारे अपने गंदे पांव पसारे लेटा है
ग़लीज़, बदकार, बेरहम!
मैं तेरी दीवानाकुन ख़्वाहिशों से बेज़ार हूँ
शहर! लोग कहते हैं कि तू बदकार है ...-
और मैंने अपनी आँखों से देखा है कि सरे-शाम तेरी रंगे चेहरे वाली औरतें
लड़खड़ाते जवानों को निगल जाती हैं
शहर! तू अपने गन्दे लिबास कब उतारेगा?
शहर! लोग कहते हैं कि तू बेरहम है!
रात गए, जब तेरे दानिशवर रिक्शा लिए ख़ुदकुशी करने जाते हैं
... तू ख़ामोश रहता है
शहर! लोग कहते हैं, मरने के बाद मेरी हड्डियों से बटन बनाएँगे
शहर! तेरे मकानों की दीवारों पर ये कैसी तहरीरें हैं?
शहर! मैंने महीनों से अख़बार नहीं पढ़ा

— ऐन रशीद

मेरे सामने तस्वीरों की एक किताब है (*कलकत्ता* : जोज़ेफ़ लैलीवुड)। रघुवीर सिंह ने कैमरे की आँख से शहर को देखा है, शहर के अन्दर छुपे हुए शहर को। ये तस्वीर ख़बरनामे नहीं, रोज़मर्रा की जानी-बूझी, चखी-बरती सच्चाइयाँ हैं।

IV

कुछ लफ़्ज़ जो मूर हाउस और जोज़ेफ़ लैलीवुड से लिए गए हैं :

> मैं कलकत्ता के एक पुराने सफ़र में एक पुलिस ऑफ़िसर से उसके ज़िले में इन्क़लाबी दहशत पसन्दी के मौज़ू पर गुफ़्तगू कर रहा था, मैंने महसूस किया कि गुफ़्तगू पर उसी तरीक़े से विलियम मैकपीस थैकरे पर जा पड़ी जो कलकत्ता ही में पैदा हुआ था। पुलिस ऑफ़िसर ये जानना चाहता था कि मेरा थैकरे का पसन्दीदा नॉवेल कौन सा है। मैंने जब ये क़ुबूल किया कि मैंने सिर्फ़ Vanity Fair पढ़ रखा है, उसने इसरार किया कि Henry Esmond भी हासिल करूँ। मैं अब भी ये सोच कर हैरान होता हूँ कि अँग्रेज़ी दुनिया में किसी पुलिस स्टेशन पर इस क़िस्म का मशविरा कलकत्ता के सिवा और कहाँ मिल सकता है!
>
> — जोज़ेफ़ लैलीवुड : *कलकत्ता*

ये शहर इन्द्रियों से ज़्यादा दिमाग़ पर हमलावर होता है और इसके असरात अनदेखे जरासीम (कीटाणु) की सूरत दूसरों के वजूद में दाख़िल हो जाते हैं। शायद इसीलिए अब से 70-75 साल पहले ये जुमला मिसाल के तौर पर इस्तेमाल होता था कि "आज कलकत्ता जो कुछ सोचता है, कल वही कुछ सारा हिन्दुस्तान सोचेगा"।

पता नहीं ये महज़ ख़ुशगुमानी है या मुस्तक़बिल की धुन्ध में लिपटी हुई कोई अटल सच्चाई। मगर इसमें शक नहीं कि कलकत्ता ज़ेहनी एतबार से दुनिया का शायद सबसे मुस्तैद शहर है। किपलिंग ने बहुत पहले कहा था... "इस शहर में ग़रीबी और ग़ुरूर साथ-साथ दिखाई देते हैं। ये ग़ुरूर नतीजा है एक गहरे शऊर और सामूहिक ज़िम्मेदारी के एहसास का।"

जोज़ेफ़ लैलीवुड ने एक और तजुरबे का ज़िक्र किया है :

"तनहा भिखारी जिसे मैंने मुसलसल इनाम से नवाज़ा है अधेड़ उम्र का एक मर्द है। एक हाथ से महरूम, सर पर बारीक तराशे हुए सफ़ेदी लिए हुए बाल, दाँत पान से लाल, ग्रैण्ड होटल के सामने वह टैक्सी का दरवाज़ा खोलता बन्द करता है और इनाम पाता है। 1967 के आम चुनाव के ज़माने में एक रोज़ टैक्सी में बैठते वक़्त मैंने पूछा... 'तुमने वोट दिया?' उसका जवाब था... 'हाँ साहब! काम पर आने से पहले मैं वोट डाल आया था।' उस रोज़ मैंने उसे समाज के एक रुक्न (सदस्य), एक शहरी की हैसियत से पहचाना।

"और ग़रीबी और ग़ुरूर के साथ-साथ कलकत्ता हिन्दुस्तान का सबसे दौलतमन्द शहर भी है, हालाँकि ये दौलतमन्दी इसके वजूद से वाबस्ता तरह-तरह की उलझनों के सबब अब दम तोड़ रही है। दहशत का यह जिन्न रात में कभी भी आ सकता है। जब गन्दी बस्तियों और फुटपाथों से फ़ाक़ाज़दा इन्सानों की भीड़ उठ खड़ी हो और खुशहाल तबक़े के लिए क़हर बन जाए। ये तबक़ा चन्द हज़ार लोगों का है जबकि फ़ाक़ाकशों की तादाद लाखों में है। "मुफ़लिस परछाइयाँ चुपचाप अपने अंधेरों से नमूदार होंगी और खुशहाल इन्सानों को उनकी कारों से बाहर घसीट निकालेंगी। और जब तक वह लोग अपनी रक्षा की सूरतें मुहय्या करें, मुफ़लिस परछाइयाँ अपनी संख्या की अधिकता के कारण उन्हें क़ाबू में कर लेंगी। इस डरावने ख़्वाब का सिगनल वह रिक्शेवाले देंगे जिन्होंने कलकत्ता में खुशहाल इन्सानों को खींचने में जानवरों जैसी ज़िन्दगियाँ गुज़ार दीं..." कुछ लफ़्ज़ जो लेनिन से मन्सूब किए जाते हैं, यूँ हैं कि "आलमी इन्क़लाब का रास्ता पेइंचिग, शंघाई और कलकत्ते से होकर जाता है।"

कलकत्ता हिन्दुस्तान की पहली रियासती राजधानी है, जहाँ 1967 के आम चुनाव के बाद चौदह सियासी पार्टियों की मिली-जुली हुकूमत ने ये ऐलान किया कि पश्चिमी बंगाल के मंत्रियों की हिफ़ाज़त के लिए अब पुलिस दरकार न होगी। मुख्यमंत्री की तन्ख़्वाह ग्यारह सौ पचास रुपये महीना से घटाकर सात सौ कर दी गई और दूसरे मंत्रियों की तन्ख़्वाहें नौ सौ रुपये से कम करके पाँच सौ रुपये महीना मुक़र्रर कर दी गईं। ऐलाननामे में ये भी कहा गया कि गवर्नमेण्ट सेक्रेटेरियट के दफ़्तरों में अब एअरकन्डीशनिंग जैसी अय्याशियों के लिए कोई जगह न होगी (लू से हर साल सैकड़ों मौतें होती हैं)। हुकूमत का भार सँभालने के बाद ही कलकत्ता मैदान के एक आम जलसे में एक अठारह नुक़ाती प्रोग्राम पेश किया गया था जिसमें किसानों की बदहाली, ज़मीनी इस्लाहात, तालीमी ढाँचे में सुधार और तरक़्क़ी और आज़ादी की ताक़तों को पाबन्दियों से रिहा करने पर ख़ास तवज्जो दी गयी थी।

अवाम के इन्क़लाबी मूड का इज़हार किसानों और बेज़मीन मज़दूरों के अलावा कारख़ानों के मुलाज़िमीन और औद्योगिक मज़दूरों की सरगर्मियों से भी होता है। लेकिन सवाल शायद इतने आसान नहीं होते जितनी आसानी से उनके जवाब सोच लिए जाते हैं।

शहर की दीवारें नारों से ढक गई हैं, एक बेरहम इन्क़लाबी समझ के साथ।

"बंगाल के बेटों! नींद से जागो और दहाड़ो शेर की तरह!" इस नारे के साथ ही हल्के नीले रंग में माओ का एक पोर्ट्रेट लगा हुआ है। सुर्ख़ परचम के पीछे जुलूस दिखाई देते हैं, हाथों में लाठियाँ, भाले, तीर और कमान सँभाले। "माओ त्से तुंग ज़िन्दाबाद" के नारे लगाता हुआ जुलूस किसी गोदाम के सामने रुकता है और अनाज का हर दाना लूट लेता है। ये नक्सलबाड़ी का छुपा हुआ परदा है।

कलकत्ता युनिवर्सिटी प्रमाणपत्रों की तक़सीम के मामले में दुनिया की सबसे बड़ी फ़ैक्ट्री कही जाती है। दुनिया के सबसे बाग़ी छात्र भी यहीं मिलते हैं। दुनिया में सेकेण्ड हैण्ड किताबों का सबसे बड़ा बाज़ार भी इसी के इर्द-गिर्द है। लगभग आधे मील की दूरी तक कॉलेज स्ट्रीट की दुकानें किताबों से भरी पड़ी हैं। आस पास की दर्जन भर सड़कों पर भी किताबों के स्टॉल हैं, फुटपाथों पर किताबों का ढेर।

दुनिया के किसी भी इलाक़े में इन्सानी समाज किसी परेशानी में हो, कलकत्ता का दिल ज़रूर धड़कता है। चेतना की आज़ादी और जागृति के सबसे पुरजोश मुहाफ़िज़ों का शहर! आन्द्रे मालरो ने जब फ्रांस के सांस्कृतिक कार्य मंत्री की हैसियत से दुनिया की पुरानी फ़िल्मों के सबसे बड़े आर्काइव्ज़ ला सिनेमा थैकयू के सेक्रेटरी-जनरल हेनरी लॉग लुई की मुद्दते-मुलाज़िमत के ख़ात्मे की धमकी दी तो बंगाल के बुद्धिजीवियों ने कलकत्ता की सड़कों पर ज़बरदस्त मुज़ाहिरा किया। वियतनाम की जंग के ज़मान-ए-उरूज का एक मशहूर नारा था। अमारनाम,

तोमारनाम, वियतनाम!

वह सड़क जिस पर अमरीकी कौन्सिलख़ाना है, कलकत्ता कॉरपोरेशन ने उसका नाम हैरिंगटन स्ट्रीट से बदल कर हो चि मिन्ह स्ट्रीट रख दिया है।

बुद्धिजीवियों, फ़नकारों, शायरों, कॉफ़ी हाउसों और लिटिल मैगज़ीनों का शहर! नुमाइश, संगीत सभाएँ, संवाद, गोष्ठियाँ। आए दिन पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं और उसी रफ़्तार से बन्द भी हो जाती हैं।

सत्यजीत रे की एक फ़िल्म का एक रोमानी नौजवान किरदार कहता है :

"मैं कलकत्ते से बाहर एक पल भी न रह सका!"

"क्या मतलब?" उसका भाई पूछता है।

"यहाँ ज़िन्दगी है! बाक़ी सारी जगहें मुर्दा हैं!"

कलकत्ता मैदान जिसके फैलाव और हरियाली के सबब कुछ लोग इसे शहर के फेफड़े मानते हैं क्योंकि घनी बस्तियों के जंगल में हवा के झोंके यहीं आज़ादाना सफ़र करते हैं... हफ़्ते की शामों को आवारागर्द शायरों, ब्रह्मो नौजवानों और नफ़ी व इन्कार को हर्फ़े-इक़रार की सूरत पलकों में सजाए हुए फ़नकारों की टोलियाँ मैदान के मुख़्तलिफ़ गोशों में जमी दिखाई देती हैं... Alienation, कमिटमेंट, प्रोटेस्ट, रोज़ पुराने विचार टूटते हैं और नए ढाले जाते हैं। बीस-बीस, तीस-तीस की टुकड़ियों में, कोई अपनी ताज़ा नज़्म सुना रहा है, कहीं कोई नई धुन सुनाई जा रही है। कहीं किसी नए पेंटिंग पर लम्बी गुफ़्तगू जारी है...

और जब गिन्सबर्ग ने कलकत्ता का सफ़र किया तो नीम तला श्मशान घाट पर चिता जलने के मंज़र ने उसकी इन्द्रियों पर ऐसा असर डाला था कि उसने कई महीने भूखी पीढ़ी के शायरों की सोहबत में गुज़ारे। जब यहाँ से वापस अपने मुल्क को गया तो उसे याद आया कि एक ही हलक़े के शायर भी कलकत्ता के कॉफ़ी हाउसों, सड़कों पर एक दूसरे से लड़ते फिरते हैं। मिले राय चौधरी के नाम उसके एक ख़त में ये जुमला भी आया कि "कोई तो ऐसी बुनियाद हो जिस पर तुम सब एक दूसरे का तहफ़्फ़ुज़ कर सको! उस वक़्त ये अकेली बुनियाद अदबी इज़हार की आज़ादी का मसला है।"

लेकिन इज़हार की इस आज़ादी के इस्तेमाल ने एक शायर को अदालत के दरवाज़े तक पहुँचा दिया। हँगरी जनरेशन का एक अंक अलबर्ट हॉल, कॉलेज स्ट्रीट कलकत्ता के काफ़ी हाउस में तक़सीम हुआ, सवालात पर बहस हुई, मिले राय चौधरी ने अपनी एक नज़्म पढ़ी। और अदालत ने फ़ैसला किया कि नज़्म फ़हश (अश्लील) है। कॉफ़ी हाउस जैसी जगह पर जहाँ नौजवान लड़के-लड़कियाँ जमा होते हों, जिनके ज़ेहन बहुत जल्द बाहरी असर क़ुबूल करते हैं। "इस क़िस्म की फ़हश नज़्म पढ़ना फ़हाशी को हवा देना है और अदब वही है जो अच्छे मूल्यों के प्रचार और तर्जुमानी का फ़र्ज़ अदा करे।"

> अब ऐसे लफ़्ज़ नहीं रह गए जिन्हें हम अदब में इस्तेमाल न कर सकें, न ऐसे मनाज़िर (दृश्य) हैं जिन्हें हम बयान न कर सकें। हिन्दुस्तानी समाज जहाँ फिल्मों में बोसा लेना मना है और जहाँ कामुक अंगों के ज़िक्र पर पाबन्दी है, इसके प्रति घृणा या उस पर हँसना हिमाक़त होगी। तुम्हारे सामने एक तवील (लम्बा), मुश्किल मरहला है।
>
> — हॉवर्ड मैकॉर्ड का ख़त मिले राय चौधरी के नाम,
> वॉशिंगटन : 22 मई 1965

अभी कलकत्ता के सामने कई मरहले हैं, एक लम्बा जाँ गुदाज़ सफ़र, मसाइल का एक सिलसिला कि कलकत्ता की कहानी पूरे हिन्दुस्तान की कहानी है, या मुख़्तसर लफ़्ज़ों में तीसरी दुनिया की कहानी।

...अनगिनत रौशन, रूह पर बोझ बने सवालात का शहर!

...कुछ लोग कहते हैं कि कलकत्ता ही उनका जवाब भी है... !

— क़ुर्तुल ऐन हैदर : *आग का दरिया*
अनुवादक : रिज़वानुल हक़

ग़ालिब का तसव्वुर-ए-शहर और दिल्ली

रिज़वानुल हक़

रचनात्मक साहित्य में आम तौर से और ग़ज़ल की शायरी में ख़ास तौर से यह ज़रूरी नहीं होता कि शायर ग़ज़ल में जिन बातों का इज़हार करे वह उसकी अपनी फ़िक्र का नतीजा हों, या उसके ज़ाती तजुरबात और एहसासात का इज़हार हों। कई बार शायर दूसरों के तजुरबात व एहसासात को भी बयान करता है और कभी-कभी वह रवायती मज़ामीन[1] को रस्मन बयान करता है और अपनी कल्पना से उसमें नया मज़मून पैदा करने की कोशिश करता है। लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं है कि ग़ज़ल का शायर जिन ख़यालात या एहसासात को बयान करता है, उसका उसकी ज़िंदगी या हक़ीक़त से बिलकुल ही कोई रिश्ता नहीं होता। दरअसल शायर सामने की हक़ीक़त को अपने तख़य्युल से मिलाकर एक नई हक़ीक़त की रचना करता है। अब इस मौज़ू पर अधिक गुफ़्तगू से बात अफ़लातून और अरस्तू तक पहुँचेगी जिसकी यहाँ बिलकुल गुंजाइश नहीं है।

'ग़ालिब का तसव्वुर-ए-शहर और दिल्ली' के मौज़ू पर ग़ौर करते वक़्त जो सवाल सबसे पहले ज़ेहन में उभरता है वह यह है कि क्या ग़ालिब के ज़ेहन में शहर का कोई मुनज़्ज़म[2] तसव्वुर था? और अगर मुनज़्ज़म नहीं तो क्या कोई ग़ैर मुनज़्ज़म ही सही क्या उनके ज़ेहन में शहर से वाबस्ता कोई तसव्वुर था? या शहर के तईं उनकी शायरी बिलकुल ख़ामोश है? इन सवालों के जवाब के लिए जब हम ग़ालिब की शायरी का मुताला' करते हैं तो कई ऐसे शे'र नज़र आते हैं जिनमें शहर और बस्ती जैसे लफ़्ज़ों का इस्तेमाल हुआ है, जो ये साबित करने के लिए काफ़ी हैं कि ग़ालिब की उर्दू शायरी शहर के तईं बिलकुल ख़ामोश नहीं है, और उनके ज़ेहन में शहर का कोई तसव्वुर ज़रूर रहा होगा। अब ये मुनज़्ज़म था या ग़ैर मुनज़्ज़म इसका अन्दाज़ा आगे के अध्ययन से ही होगा। ग़ालिब के नीचे लिखे अश्आर में शहर या बस्ती का लफ़्ज़ आया हैः

क़ैस[3] भागा शहर से शर्मिन्दा होकर सूए दश्त[4]।
बन गया तक़लीद[5] से मेरी ये सौदाई[6] अबस[7]।।

आतिशे-अफ़रोज़िए[8] यक शोल-ए-ईमाँ मुझ से।
चश्मक आराइ[9] ए सद शहरे-चराग़ाँ मुझ से।।

आलम तिलिस्मे शहरे-ख़मोशाँ है सर बसर।
या मैं ग़रीबे-किश्वरे-गुफ़्त-ओ-शनूद था।।

अब मैं हूँ और मातमे-यक शहरे आरज़ू।
तोड़ा जो तू ने आईना तिमसालदार[10] था।।

हुआ है शह का मुसाहिब[11] फिरे है इतराता।
वगरना शहर में ग़ालिब की आबरू क्या है।।

1. विषय 2. सुव्यवस्थित 3. मजनूँ का असली नाम 4. जंगल की ओर 5. नक़्ल 6. दीवाना 7. बिला वजह 8. रोशन करने वाला 9. आँख के इशारे से

10. प्रतिबिम्बयुक्त 11. तारीफ़ करने वाला


عام ملک ہند
حسب حکم شہنشاہ دہلی
اس روز بباعث بارش باران
انشاء اللہ بعد مسالمہ

तुम शहर में हो तो हमें क्या ग़म, जब उठेंगे।
ले आएँगे बाज़ार से जाकर दिल-ओ-जाँ और।।
यूँ ही गर रोता रहा ग़ालिब, तो ऐ अहले-जहाँ।
देखना इन बस्तियों को तुम कि वीराँ हो गयीं।।
उलझते हो तुम, अगर देखते हो आईना।
जो तुम से शहर में हों एक दो तो क्योंकर हो।।
रोज़ इस शहर में इक हुक्म नया होता है।
कुछ समझ में नहीं आता कि क्या होता है।।

तो यह थी ग़ालिब की शायरी की कुल दुनिया जिनमें शहर या बस्ती का लफ़्ज़ आया है। इन अश्आर में कहीं शहर की किसी घटना का ज़िक्र है, कहीं किसी शहरे-चराग़ाँ, शहरे-ख़ामोशाँ, शहरे-आरज़ू वग़ैरा का ज़िक्र है, कहीं शहर में अपनी आबरू का ज़िक्र है लेकिन कहीं भी शहर क्या होता है, शहर का उनके ज़ेहन में क्या तसव्वुर है, और शहर से वह क्या उम्मीदें रखते हैं, इस बात का कहीं ज़िक्र नहीं है। इस तरह यह साबित होता है कि ग़ालिब के ज़ेहन में शहर का कोई सुव्यस्थित तसव्वुर नहीं था, या अगर होगा भी तो कम से कम उन्होंने उर्दू शायरी में इसका इज़हार नहीं किया है। लेकिन उपरोक्त शे'रों की रोशनी में ये कहा जा सकता है कि ग़ालिब की शायरी में सुव्यवस्थित न सही लेकिन शहर का कोई तसव्वुर ज़रूर था और उसका उन्होंने उर्दू शायरी में इज़हार भी किया है और अगर इन बिखरे हुए ख़यालात को जोड़ा जाए तो मुमकिन है एक सूरत भी बन जाए।

पहले शे'र को देखें। इस शे'र में 'तक़लीद से मेरी' में जो एक ख़ूबसूरत इशारा है और शायरी की जो दूसरी ख़ूबियाँ हैं उन सबको नज़रअंदाज़ करके सिर्फ़ अपने मौज़ू तक महदूद रहूँगा। क़ैस (मजनूँ का असली नाम) का शरमिंदा होकर शहर से भागना इस बात की तरफ़ इशारा है कि शहर में शरमिंदा होकर नहीं रहा जा सकता। यानी शहर बाशर्म या बाइज़्ज़त लोगों के रहने की जगह है और दूसरे मिसरे (पंक्ति) से पता चलता है कि शहर दीवानों के रहने की जगह नहीं है, यानी वहाँ होश वाले लोग ही रहते हैं। इस तरह इस शे'र से ग़ालिब का शहर के प्रति यह तसव्वुर उभरता है कि शहर शर्म और होश वालों के रहने के लिए होता है। ग़ालिब का एक दूसरा शे'र इस मज़मून को आगे बढ़ाता है और मेरे हासिल किए हुए इस नतीजे की हिमायत करता हैः

हर यक मकान को है मकीं[12] से शर्फ़ असद।
मजनूँ जो मर गया तो जंगल उदास है।।

12. रहने वाला

इस शे'र में मकान से मुराद ईंट गारे से बना मकान नहीं, रहने की जगह है, वह मकान, शहर, मुल्क और खुली जगह कुछ भी हो सकता है। यानी रहने की जगह को फ़ख़्र उसके रहने वालों से होता है और जंगल को मजनूँ पे फ़ख़् था इसलिए वह मजनूँ की मौत पर उदास है। यहाँ क़ाबिलेग़ौर बात यह है कि दूसरे शे'र में मजनूँ है जबकि पहले शे'र में क़ैस है जबकि दोनों लफ़्ज़ एक ही शख़्स के लिए इस्तेमाल हुए हैं। और सही भी है कि क़ैस के मरने पर जंगल को उदासी नहीं हो सकती है उसे तो मजनूँ के मरने पर ही उदासी हो सकती है। इस तरह जंगल मजनूँ के रहने की जगह ठहरी और शहर होश वालों के रहने की। अगले शे'र हैंः

आतिशे-अफ़रोज़िए यक शोल-ए-ईमाँ मुझ से।
चश्मक आराइ-ए-सद शहरे-चराग़ाँ मुझ से।।
आलम तिलिस्मे-शहरे-ख़मोशाँ है सर बसर।
या मैं ग़रीबे-किश्वरे-गुफ़्त ओ शनूद था।।
अब मैं हूँ और मातमे-यक शहरे आरज़ू।
तोड़ा जो तू ने आईना तिमसालदार था।।

इन शे'रों से ग़ालिब का कोई तसव्वुरे शहर तो साफ़ नहीं होता अलबत्ता दूसरे शे'र में किसी चराग़ाँ शहर का ज़िक्र है उससे ये मालूम होता है कि चराग़ाँ होना शहर की एक विशेषता होती है और चराग़ाँ यानी रोशनी से भरपूर होना ज़िंदगी की नेक क़द्रों का प्रतीक है। इस तरह ये नतीजा हासिल होता है कि ज़िंदगी की नेक क़द्रें

शहर की विशेषता होती हैं। अगले शे'र में शहरे-ख़मोशाँ आया है यानी ऐसा शहर जहाँ सब ख़ामोश रहते हों। ये लफ़्ज़ दरअसल क़ब्रिस्तान के लिए इस्तेमाल होता है। इस तरह यह साबित होता है कि शहर के लिए गुफ़्त-ओ-शनूद (कहना-सुनना) ज़रूरी है और उसकी ग़ैर मौजूदगी में शहर क़ब्रिस्तान बन जाता है। चौथे शे'र में एक मिसाली या आरज़ुओं के शहर की तरफ़ इशारा करता है, दूसरे मिसरे में तिमसालदार आईना यानी बिम्बयुक्त दर्पण शहरे-आरज़ू ही है। इस शे'र में मिसाली या आरज़ुओं के शहर की बात तो है, लेकिन वह कैसा होगा? इसकी कोई तफ़सील नहीं है। अगला शे'र हैः

> हुआ है शह का मुसाहिब फिरे है इतराता।
> वगरना शहर में ग़ालिब की आबरू क्या है।।

इस शे'र में ग़ालिब अपने आप को बादशाह का मुसाहिब बताते हैं और कहते हैं कि मैं इसलिए शहर में इतराता फिर रहा हूँ और बाआबरू हूँ क्योंकि मैं बादशाह का मुसाहिब हूँ। यानी शहर में बाआबरू होना बड़े फ़ख़्र की बात है। इस शे'र के मुतालिक़ एक कहानी ये कही जाती है कि एक बार ज़ौक़ देहलवी सवारी से गुज़र रहे थे, तो ग़ालिब ने उनकी तरफ़ इशारा करके ये शे'र पढ़ा था और शे'र का यह अर्थ लगाने वाले ग़ालिब की जगह साले रख कर पढ़ते हैं। ज़ौक़ ने बादशाह से जा कर शिकायत की तो उन्होंने ग़ालिब को बुलवा भेजा तब उन्होंने साले की जगह ग़ालिब कह कर शे'र पढ़ दिया और इस तरह यह शे'र बादशाह की तारीफ़ में हो गया। इस शे'र से ये भी ज़ाहिर होता है कि शहर में किसी का बाआबरू रहना और इतराता फिरना सब कुछ बादशाह की मर्ज़ी के मुताबिक़ होता है। इस शे'र में जो तंज़ है और इसकी जो पृष्ठभूमि है अगर वह अगर न मालूम हो तो इस शे'र का मतलब बिलकुल उलटा निकलेगा। अगला शे'र हैः

> तुम शहर में हो तो हमें क्या ग़म जब उठेंगे।
> ले आएँगे बाज़ार से जाकर दिल-ओ-जाँ और।।

ग़ालिब के इस शे'र में पेचीदगी बहुत है इसलिए इसमें मानी भी बहुत ज़्यादा हैं, साथ ही हमारे मौज़ू के लिहाज़ से भी यह शे'र बहुत अहम है। इसमें वह आधुनिक संवेदना है जिसने हमारी ज़िंदगी में तमाम क़दरों को नज़रअंदाज़ करके सिर्फ़ बाज़ारी नुक़्तए-नज़र से देखना सिखाया है। पहले मिसरे में 'तुम' से सारी ख़ुशियाँ वाबस्ता कर दी गई हैं और इसके रहते कोई ग़म नहीं हो सकता है। यहाँ तक कि वह जब चाहेगा तो दिल और जान तक बाज़ार से और ले आएगा। इसमें ऐसे बाज़ार का ज़िक्र है जहाँ हर चीज़ बिकती है, यहाँ तक कि दिल और जान भी। आज के सरमायादारी निज़ाम ने जंगल, दरिया, माहौल और समुन्दर सब चीज़ों को बाज़ार बना दिया है। इस शे'र में एक पहलू यह भी है कि कहने वाला सुनने वाले के सामने है और उससे यह सारे दावे महज़ चापलूसी में कर रहा है, लेकिन असल बात यह है कि इस शे'र में शहर में बाज़ार की ताक़त को बड़े ज़ोरदार तरीक़े से बयान किया गया है और शहर का सारा तसव्वुर ही बाज़ार पर क़ायम नज़र आता है, और इसमें भी वही तंज़िया लहज़ा है। सातवाँ शे'र हैः

> यूँ ही गर रोता रहा ग़ालिब, तो ऐ अहले जहाँ।
> देखना इन बस्तियों को तुम कि वीराँ हो गयीं।।

इस शे'र में शहर लफ़्ज़ नहीं आया है, इसके बदले 'बस्तियों' आया है। जो वैसे तो मुख़्तलिफ़ मानी भी रखता है लेकिन इस शे'र में दोनों लफ़्ज़ों के मानी तक़रीबन एक हैं। इस शे'र में रोने से बस्तियों के वीरान होने की बात कही गयी है। जिससे ज़ाहिर है कि हँसना और आबाद होना शहर की विशेषता होती हैं। आठवाँ शे'र हैः

> उलझते हो तुम, अगर देखते हो आईना।
> जो तुम से शहर में हों एक दो तो क्योंकर हो।।

शे'र बहुत ख़ूब है और बेशुमार मानी से पुर है, लेकिन मेरे मौज़ू के लिहाज़ से इस शे'र की बस इतनी अहमियत है कि इससे पता चलता है कि शहर में यूँ तो बहुत सी हसीनाएँ हैं लेकिन अगर उसके महबूब जैसी

कुछ हसीनाएँ और हो जाएँ तो शहर में फ़साद बरपा हो जाए। नवाँ शे'र हैः

रोज़ इस शहर में इक हुक्म नया होता है।
कुछ समझ में नहीं आता कि क्या होता है।।

ये शे'र कालीदास गुप्ता रज़ा ने *दीवाने-ग़ालिब* (कामिल) के असल मत्न (पाठ) में शामिल नहीं किया है, बल्कि इसे *'ग़ालिब के कुछ हंगामी मिसरे और शे'र'* के तहत रखा है। और इस तरह के मिसरों और शे'रों के बारे में वह लिखते हैंः "मुन्दरज-ए-बाला[13] अशआर की कोई अदबी हैसियत नहीं। ये ग़ालिब की शोख़िए-तबा और हाज़िरदिमाग़ी का आईना हैं। इनकी क़द्र-ओ-क़ीमत इस पर मुनहसिर है कि ये ग़ालिब के कहे हुए हैं। ज़ाहिर है, इन्हें *दीवान-ए-ग़ालिब* में शमिल करना महज़ दीवान का हुजम बढ़ाना होगा।" (पेज 58)

13. ऊपर लिखे

जबकि ये शे'र ग़ालिब की एक अच्छी ग़ज़ल "शिकवे के नाम से बेमहर ख़फ़ा होता है" की ज़मीन में है। मैं कालीदास गुप्ता रज़ा की इस बात से मुत्तफ़िक़ नहीं हूँ। उन्हें इस शे'र को दीवान में उपरोक्त ग़ज़ल के साथ शामिल करना चाहिए था। ये शे'र हंगामी हालात में एक आम इन्सान की ज़ेहनी कैफ़ियत की अच्छी अक्कासी करता है। शे'र में इबहाम (छुपाने की कला) है कि वह कौन से हुक्म हैं जो रोज़ हाकिमे-वक़्त की जानिब से सादिर होते हैं और उनका क्या असर होता है? इस शे'र से ज़ाहिर होता है कि शहर में एक ऐसा ज़ालिम और दीवाना हाकिम है जो अवाम की कोई परवाह किए बग़ैर रोज़ एक फ़रमान भेज देता है। चाहे वह अवाम के हक़ में हो या न हो, यहाँ तक कि अवाम उस हुक्म को समझे या न समझे। शे'र की पूरी फ़ज़ा में एक बेयक़ीनी और ख़ौफ़ समाया हुआ है। ऐसे शे'र कभी पुराने नहीं पड़ते हैं।

उपरोक्त शे'रों की रोशनी में कहा जा सकता है कि ग़ालिब के ज़ेहन में शहर का तसव्वुर था कि शहर शर्म वालों और होश वालों के रहने की जगह है, शहर रौशन जगह होती है, यानी ज़िंदगी की अच्छी क़द्रें शहर में पायी जाती हैं। शहर के लिए गुफ़्त-ओ-शनूद यानी मुख़लिफ़ लोगों के दरम्यान बातचीत ज़रूरी है, इसके बग़ैर शहर क़ब्रिस्तान बन जाता है। इन शहरों के दरम्यान एक मिसाली या आरज़ुओं का शहर भी होता है। शहर में बाआबरू होना बहुत अहम है। शहर में एक बादशाह या हाकिम होता है और किसी का बाआबरू होना या किसी का इतराता फिरना उसी बादशाह की मर्ज़ी के मुताबिक़ होता है। शहर में एक बाज़ार होता है, जहाँ से हर चीज़ ख़रीदी जा सकती है, दिल और जान भी। और शहर का सारा तसव्वुर ही बाज़ार पर क़ायम होता है। हँसी और आबाद होना शहर की विशेषताएँ होती हैं। शहर की एक ख़ूबी यह भी होती है कि वह हसीनों से भी आबाद होता है। और शहर में बादशाह या हाकिम होता है जो अवाम की परवाह नहीं करता और शहरी ज़िंदगी शदीद बेयक़ीनी और ख़ौफ़ में मुबतला होती है। क़ाबिलेग़ौर बात यह है कि बादशाह और बाज़ार के सिवा शहर के तक़रीबन तमाम तसव्वरात ऐसे है, जिनमें बेहतर ज़िंदगी का अक्स नज़र आता है।

ग़ालिब ने अपनी उर्दू शायरी में कुछ शहरों पर क़त्आत (शायरी की एक विधा) भी लिखे हैं। इनसे भी ग़ालिब के तसव्वुरे-शहर के बारे में कुछ इशारे मिलते हैं और ये हमारे मौज़ू में सहायक हो सकते हैं। जिन शहरों में दिल्ली, लखनऊ, कोलकाता, रामपुर और हैदराबाद शामिल हैं, वह क़त्आत निम्नलिखित हैंः

लखनऊ

लखनऊ आने का बाइस[14] नहीं खुलता यानी।
हवसे-सैर ओ तमाशा, सो वह कम है हमको।।
मक़तए[15]-सिलसिला-ओ-शौक़ नहीं है, ये शहर।
अज़्मे[16]-सैरे-नजफ़ व तूफ़े-हरम है हमको।।
लिये जाती है कहीं एक तवक़्क़ो ग़ालिब।
जादए-रह[17] कशिशे-काफ़े[18] करम है हमको।।
अब्र[19] रोता है कि बज़्मे-तरब आमादा करो।
बर्क़[20] हँसती है कि फ़ुरसत कोई दम है हमको।।
ताक़ते-रन्जे सफ़र भी नहीं पाते इतनी।

14. वजह 15. ख़त्म 16. इरादा 17. रास्ते का ख़र्चा
18. मेहरबानी का दिन 19. बादल

20. बिजली 21. ग़म

हिजरे-याराने-वतन का भी अलम[21] है हमको।।
लाई है मोतमुद्दौला बहादुर की उमीद
जादए-रह कशिशे-काफ़े-करम है हमको

कोलकाता

कलकत्ते का जो ज़िक्र किया तूने हमनशीं।
इक तीर मेरे सीने में मारा हाए हाए।।
वह सब्ज़ाज़ार[22] हाए मुतर्रा[23] कि है ग़ज़ब।
वह नाज़नीं बुताने-ख़ुद आरा कि हाए हाए।।
सब्र आज़मा वह उनकी निगाहें कि हफ़-नज़र[24]।
ताक़त रुबा[25] वह उनका इशारा कि हाए हाए।।
वह मेवा हाए ताज़ए-शीरीं कि वाह! वाह!
वह बादा[26] हाए नाबे-गवारा[27] कि हाए हाए।।

22. हरा-भरा मैदान 23. बारिश
24. नज़र न लगे 25. खीचने वाला 26. शराब
27. शुद्ध और मनपसन्द

रामपुर व हैदराबाद

हिन्द में अहले तसन्नुन[28] की हैं दो सल्तनतें।
हैदराबाद दकन रश्के-गुलिस्ताने इरम[29]।।
रामपुर अहले नज़र की है नज़र में वह शहर।
कि जहाँ हश्त-बहिश्त[30] आके हुए हैं बाहम[31]।।
हैदराबाद बहुत दूर है इस मुल्क के लोग।
उस तरफ़ को नहीं जाते हैं, जो जाते हैं तो कम।।
रामपुर आज है वह बुक़आ-मामूर[32] कि है।
मरजा व मजमए-अशराफ़े-निज़ादे-आदम[33]।।
रामपुर एक बड़ा बाग़ है अज़ रूए-मिसाल।
दिलकश व ताज़ा शादाब व वसीह व ख़ुर्रम[34]।।
जिस तरह बाग़ में सावन की घटाएँ बरसें।
है उसी तौर पे याँ दजला फ़िशाँ, दस्ते[35]-करम।।

28. सुन्नी 29. जन्नत 30. सातों जन्नतें
31. मिलना 32. पवित्र जगह
33. शरीफ़ नस्ल के लोगों की पनाह की पवित्र जगह
34. खुशहाल 35. हाथ

अब्रे-दस्ते-करमे-कल्बे अली ख़ाँ से मुदाम[36]।
दुर्रे-शहवार[37] हैं, जो गिरते हैं क़तरे पैहम[38]।।
सुब्ह दम बाग़ में आ जाए जिसे हो न यक़ीं।
सब्ज़ओ बर्गे-गुल[39] व लाला पे देखे शबनम[40]।।
हब्बज़ा[41]! बाग़े हुमायूने तक़द्दुस[42] आसार[43]।
कि जहाँ चरने को आते हैं ग़ज़ालाने-हरम[44]।।
मसलक शरा[45] के, हैं राह रौ व राहे शनास।
ख़िज़्र भी याँ अगर आ जाए, तो उनके क़दम।।
मद्‌ह के बाद दुआ चाहिए, और अहले सुख़न।
इसको करते हैं बहुत बढ़ के बइग़राक़[46] रक़म[47]।।
हक़ से क्या माँगें? उनके लिए जब हो मौजूद।
मुल्क-ओ-गन्जीनए[48]-व ख़ील[49] व सिपा व कोस[50] ओ अलम[51]।।
हम न तबलीग़ के माइल, न ग़ुलू[52] के क़ायल।

36. हमेशा 37. बादशाहों की शान के मुताबिक़ मोती 38. मुसलसल 39. पुखुड़ी 40. ओस
41. बीज 42. पवित्र 43. सुन्नते रसूल 44. सोने का हिरन जो काबे में लटकाया गया था
45. सरा को मानने वाला
46. डूब कर 47. लिखना 48. ख़जाना 49. बहुत से घुड़सवार 50. बड़ा नक़्क़ारा 51. झण्डा
52. बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बात कहना

दो दुआएँ हैं कि वह देते हैं नव्वाब को हम।।
या ख़ुदा, ग़ालिबे-आसी के ख़ुदावन्द को दे।
दो वो चीज़ें कि तलबगार है जिनका, आलम।।
अव्वलन, उम्रे तबीई व दवामे-इक़बाल[53]।
सानियन[54], दौलते-दीदारे-शहंशाहे-उमम[55]।।

53. ख़ुशी के साथ वह उम्र जो कभी ख़त्म न हो
54. दूसरी 55. उम्मतें, यानी मक्का-मदीना जाने का अवसर

लखनऊ के क़त्ए से ग़ालिब के तसव्वुरे-शहर पर कुछ ख़ास रौशनी नहीं पड़ती है, बस इतना मालूम होता है कि शहर सैर ओ तमाशा के लिए भी जाना जाता है, और उन्हें मोतमुद्दौला से करम की उम्मीदें हैं, जो लखनऊ के नवाब थे। ग़ालिब की कोलकाता की यादें बड़ी पुरलुत्फ़ हैं, उनके लिए इस शहर का ज़िक्र माशूक़ा के ज़िक्र की तरह है, यानी शहर एक माशूक़ा की तरह हसीन है। इसके अलावा वहाँ की शराब और मेवों का भी वह बड़े पुरतपाक लहजे में ज़िक्र करते हैं। ज़ाहिर है इन चीज़ों का तसव्वुर भी वह शहर के साथ करते हैं। रामपुर के क़त्ए में वह हैदराबाद और रामपुर दोनों को बहिश्त बताते हैं और बहिश्त के बारे में वह कहते हैंः

हमको मालूम है जन्नत की हक़ीक़त लेकिन।
दिल के ख़ुश रखने को ग़ालिब ये ख़याल अच्छा है।।

या

वह चीज़ जिसके लिए हमको हो बहिश्त अज़ीज़।
सिवाए बादओ गुलफ़ामे[56] मुश्क बू क्या है।।

56. फूल की तरह ख़ाल यानी महबूबा

या

सताइश[57] गर है ज़ाहिद इस क़द्र जिस बाग़े-रिज़वाँ[58] का।
वह इक गुलदस्ता है हम बेख़ुदों के ताक़े-निसयाँ[59] का।।

57. तारीफ़ 58. रिज़वान की बाग़ यानी जन्नत
59. भूला हुआ

इस तरह बहिश्त ग़ालिब की नज़र में एक ऐसी दुनियावी जगह नज़र आती है जहाँ दिल की मुरादें पूरी होती हैं, और ये मुरादें अकसर उनकी दिली ख़्वाहिशें होती हैं, या उनके तसव्वुर में बेहतरीन से बेहतरीन जो चीज़ हो सकती है, और वह अपने शहर में रह कर ख़्वाहिशें पूरी करना चाहते हैं। बहिश्त के साथ ग़ालिब के यहाँ कोई बहुत मुक़दस मज़हबी तसव्वुर नहीं उभरता है। और ये बात एक तरह से उर्दू शायरी की रवायत का हिस्सा है। रामपुर के क़त्ए में उसे बहिश्त बताने के बाद वह उसे बाग़ात, मौसम और तमाम ख़ूबियों का मजमुआ बना देते हैं। यह सारी चीज़ें रामपुर की हक़ीक़ी कम हैं, बल्कि ग़ालिब शहर में जिन चीज़ों की तवक़्क़ो करते हैं वही महसूस होती हैं।

वह अश्आर जिनमें शहर के बारे में इज़्हारे-ख़याल है और लखनऊ, कोलकाता वग़ैरा पर लिखे गये क़त्आत, ग़ालिब का तसव्वुरे शहर समझने के लिए बुनियादी स्रोत हैं, लेकिन घर, दिल, मुल्क, आईना, गुलिस्तान, वतन वग़ैरा अल्फ़ाज़ बहुत बार शहर ही के मानी में इस्तेमाल किए गये हैं। इसकी एक वजह यह है कि उर्दू शायरी में आमतौर पर और ग़ज़ल में ख़ासतौर से लफ़्ज़ अपने अस्ल मानी में नहीं होते हैं, वह अकसर इस्तेआरा (रूपक) या अलामत (प्रतीक) होते हैं और इस्तेआरों या अलामतों में ये अल्फ़ाज़ एक दूसरे के हम मानी हो जाते हैं। दूसरी वजह यह है कि उर्दू शायरी में एक रवायत यह भी रही है कि जुज़ (हिस्सा) कह कर कुल मुराद लेना और कभी कुल कह कर जुज़ मुराद लेना। इस तरह से यह अल्फ़ाज अक़सर शहर के हम मानी हो गए हैं। अब इस लेख में उपरोक्त लफ़्ज़ शहर के मानी में किस तरह इस्तेमाल हुए, इसकी तफ़सील में जाने से बात बहुत लम्बी हो जाएगी, मैं अपने दावे की दलील के तौर पर ग़ालिब की सिर्फ़ एक मिसाल देकर बात ख़त्म करूँगा, जहाँ घर का एक मानी शहर भी हैः

उग रहा है दर-ओ-दीवार से सब्ज़ा ग़ालिब।
हम बयाबाँ[60] में हैं और घर में बहार आई है।।

60. वीराना, जंगल

ग़ालिब का तसव्वुरे शहर समझने के बाद अब हम देखेंगे कि ग़ालिब ने अपनी उर्दू शायरी में दिल्ली के

बारे में क्या कहा है। दीवाने-ग़ालिब कामिल में निम्नलिखित शे'रों में देहली या दिल्ली शब्दों का बराहे-रास्त इस्तेमाल हुआ हैः

कीजै जूँ अश्क और क़तरा ज़नी।
ऐ 'असद' है हनोज़[61] दिल्ली दूर।।
बादशाही का जहाँ ये हाल हो ग़ालिब! तो फिर।
क्यों न दिल्ली में हर इक नाचीज़ नव्वाबी करे।।
है अब इस मामूरे[62] में क़हते-ग़मे उल्फ़त असद।
हमने ये माना कि दिल्ली में रहें, खावेंगे क्या।।
दिल्ली के रहने वालो 'असद' को सताओ मत।
बेचारा चन्द रोज़ का याँ मेहमान है।।
गर मुसीबत थी, तो ग़ुरबत[63] में उठा लेता, असद।
मेरी दिल्ली ही में होनी थी यह ख़्वारी हाए हाए।।
हाँ यही शाहराहे-देहली है।
मतबए[64]-बादशाहे-देहली है।।
शहरे-देहली का ज़र्रा-ज़र्रा ख़ाक।
तश्नए-ख़ूँ[65] है हर मुसलम्माँ का।।
अब है दिल्ली की तरफ़ कूच हमारा ग़ालिब।
आज हम हज़रते-नव्वाब से भी मिल आए।।
सरे-आग़ाज़े मौसम में अन्धे हैं हम।
कि दिल्ली को छोड़ें लोहारू जाएँ।।

61. अब तक

62. आबादी 63. वतन से बाहर

64. प्रकाशन केन्द्र 65. ख़ून का प्यासा

उपरोक्त नौ शे'रों में से छह शे'र ग़ज़ल के हैं और तीन शे'र मुख़्तलिफ़ क़त्आत के हैं। आइये अब इन शे'रों पर एक नज़र डालते हैं कि ग़ालिब ने दिल्ली के बारे में अपनी शायरी में क्या लिखा है। पहला शे'र हैः

कीजै जूँ अश्क और क़तरा ज़नी
ऐ 'असद' है हनोज़ दिल्ली दूर

हनोज़ दिल्ली दूर का मतलब दिल्ली शहर का दूर होना ही नहीं है, इसका मतलब है कि अभी मंज़िल या मक़सद दूर है। यह शे'र 1816 का है और वह 1812/13 से मुस्तक़िल तौर पर देहली में थे। अपने वालिद अब्दुल्ला बेग ख़ान (1802) और चचा नसरुल्लाह बेग ख़ान (1806) के इंतक़ाल के बाद जब ग़ालिब जैसा ज़हीन और ख़ल्लाक़ (सृजनशील) इन्सान देहली जैसे शहर में आया होगा तो उसके दिल में क्या क्या ख़्वाब होंगे, इसका तसव्वुर आसानी से किया जा सकता है। लेकिन वह ख़्वाब जब पूरे होते नज़र नहीं आए तो ऐसे में यह शे'र एक गहरे दर्द की तरफ़ इशारा करता है। दूसरा शे'र हैः

बादशाही का जहाँ ये हाल हो ग़ालिब! तो फिर
क्यों न दिल्ली में हर इक नाचीज़ नव्वाबी करे

इस शे'र के दो पहलू हैं। इस शे'र का सबसे अहम लफ़्ज़ 'नाचीज़' है। अगर यह लफ़्ज़ अपने लिए है तो ये शे'र अपनी तुच्छता और बादशाह की महानता में है। लेकिन अगर यह नाचीज़ किसी दूसरे शख़्स को मान लिया जाए तो ये शे'र ऐसा शदीद और बराहे-रास्त प्रतिरोध का है कि इतनी बात पर उस शाही दौर में शायर की जान भी ली जा सकती थी। इसी दिल्ली में लगभग सौ साल पहले जाफ़र ज़टल्ली को एक शे'र कहने के जुर्म में फाँसी दे दी गयी थी। वैसे अगर ये नाचीज़ अपने लिए भी मान लिया जाए तो भी इसमें एक बहुत गहरा तंज़ तो है ही। इस तरह यह शे'र भी ग़ालिब को दिल्ली ने किस तरह मायूस किया है, इस बात को दिखाता हैः

है अब इस मामूरे में क़हते-ग़मे उल्फ़त असद।
हमने ये माना कि दिल्ली में रहें, खावेंगे क्या।।

इस शे'र में ग़ौर करने की बात ये है कि क़हत उल्फ़त का नहीं है बल्कि हालत ये है कि ग़मे-उल्फ़त भी नसीब नहीं। इसकी दलील दूसरे मिसरे में है कि हालत अब भुखमरी तक पहुँच गयी है, और ग़मे-उल्फ़त तभी बामानी होता है जबकि पेट भरा हो। इस तरह इस शे'र में रावी कहता है कि देहली में अब उल्फ़त नहीं मिलती, ग़मे उल्फ़त भी नहीं और अब तो खाने का भी कोई ठिकाना नहीं है, फिर ऐसी दिल्ली में कैसे रहा जाए? इस तरह यह शे'र भी ग़ालिब की देहली में नाउम्मीदी और मायूसी की तरफ़ इशारा करता है। चौथा शे'र हैः

दिल्ली के रहने वालों असद को सताओ मत।
बेचारा चन्द रोज़ का याँ मेहमान है।।

यह शे'र तो बराहे-रास्त दिल्ली वालों की शिकायत में है, और पिछले शे'र में दिल्ली छोड़ कर जाने को जो सोचा जा रहा था, यह उसी बात का ऐलान है और जाने की वजह ज़ाहिर है देहली वालों का सुलूक है। ये दोनों शे'र एक ही साल के लिखे हुए हैं। पाँचवाँ शे'र हैः

गर मुसीबत थी, तो ग़ुरबत में उठा लेता, असद।
मेरी देहली ही में होनी थी यह ख़्वारी हाए हाए।।

इस शे'र में भी दिल्ली में अपनी ख़्वारी यानी ज़िल्लत और रुसवाई का ही रोना है लेकिन इसमें इस बात का शिकवा है कि दिल्ली में मेरी मौत की वजह से मेरी रुसवाई और ज़िल्लत के अफ़साने मेरी मौत के बाद भी चर्चा में हैं। अगर बाहर कहीं मौत हुई होती तो लोग शायद मुझे भूल जाते। दिल्ली, जो उम्मीदों, ख़्वाबों और हसरतों का मरकज़ थी, इस शहर में ऐसी तवील ख़्वारी और भी तकलीफ़देह है। इसी बात को आगे बढ़ाते हुए ग़ालिब ने एक शे'र और कहा थाः

हुए मर के हम जो रुसवा हुए क्यों न ग़र्क़े दरिया।
न कभी जनाज़ा उठता न कहीं मज़ार होता।।

अब तक के देहली से मुतालिक़ हमने ग़ालिब (पैदाइश 1797) की जिस शायरी का ज़िक्र किया है, वह सब 1826 से पहले की है। हमें ग़ालिब की ज़िंदगी के बारे में मालूम है कि दिल्ली में ग़ालिब का यह दौर वाक़ई में बड़ी मुश्किलों भरा था, उनकी माली हालत बहुत ख़राब थी, और शायर के तौर पर भी उनकी कोई शिनाख़्त नहीं बन पाई थी। ग़ालिब शदीद तौर पर क़र्ज़ में डूबे हुए थे। 1826 में उन्होंने भरतपुर का सफ़र किया, वहाँ से वापसी पर फ़िरोज़पुर झरका में रुके रहे और क़र्ज़ख़्वाहों के ख़ौफ़ से दिल्ली न आए। फिर वहीं से लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, अज़ीमाबाद (पटना) और मुर्शिदाबाद होते हुए कोलकाता पहुँचे। इस तरह उन्होंने उत्तरी हिन्दुस्तान से पूर्वी हिन्दुस्तान के तक़रीबन तमाम अहम शहरों को देखा। बनारस पर उन्होंने एक और बहुत अच्छी मसनवी 'चराग़े दैर' (मंदिर का दिया) लिखी थी। यह सफ़र बुनियादी तौर पर पेन्शन के लिए था। 1829 में कोलकाता से वापस आए, एक लाहासिल लम्बे सफ़र से अभी वह उबर भी न ही पाए थे कि 1831 में पेन्शन का मुक़दमा ख़ारिज हो गया। इस तरह एक और सदमे से उन्हें गुज़रना पड़ा। इन शदीद मुश्किल भरे दिनों में ही उन्होंने निम्नलिखित ग़ज़ल कही थी जिसमें न सिर्फ़ दिल्ली बल्कि शहरी ज़िंदगी से बेज़ारी और मायूसी बहुत शिद्दत के साथ महसूस की जा सकती हैः

रहिए अब ऐसी जगह चल कर जहाँ कोई न हो।
हम सुख़न कोई न हो, और हम ज़ुबाँ कोई न हो।।
बे दर ओ दीवार सा इक घर बनाया चाहिए।
कोई हमसाया न हो और पासबाँ[66] कोई न हो।।

पड़िये गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार।
और अगर मर जाइये, तो नोहा-ख़्वाँ[67] कोई न हो।।

66. हिफ़ाज़त करने वाला
67. शोक गीत गाने वाला

ग़ालिब ने अपने क़त्आत में दिल्ली का जो ज़िक्र किया है उनमें सबसे पहला शे'र हैः

हाँ यही शाहराहे-देहली है
मतबए-बादशाहे-देहली है

यह शे'र ग़ालिब की किताब *'पंच आहंग'* का छन्दबद्धे इश्तेहार का है जो ग़ालिब ने किसी और के नाम से लिखा था। ज़ाहिर है इस शे'र की अदबी या मेरे मौज़ू के लिहाज़ से कोई ख़ास अहमियत नहीं है।

दूसरे शे'र को पूरे क़त्ए के पसमंज़र के साथ ही पढ़ना चाहिए।

दिल्ली

बस कि फ़ुआले-मा युरीद[68] है आज।
हर सिल्ह[69] शोर इंगलिस्ताँ का।।
घर से बाज़ार में निकलते हुए।
ज़हरा होता है आबे-इन्साँ[70] का।।
चौक जिसको कहें वह मक़तल है।
घर बना है नमूना ज़िन्दाँ[71] का।।
शहरे-देहली का ज़र्रा-ज़र्रा ख़ाक।
तश्न-ए-ख़ूँ है हर मुसलमाँ का।।
कोई वाँ से न आ सके याँ तक।
आदमी, वाँ न जा सके याँ का।।

68. एक अरबी क़ौल "मैं जो भी चाहता हूँ, करता हूँ"
69. हथियार 70. इन्सान का हौसला पस्त होना 71. क़ैदख़ाना

दिल्ली का क़त्आ अगरचे नौ शे'रों का है लेकिन मेरे मौज़ू के लिहाज़ से उपरोक्त पाँच शे'र ही अहम हैं। ये क़त्आ हमारी तारीख़ के एक निहायत अलमनाक हालात का बयान है। दिल्ली में इन्क़लाब 1857 में हिन्दुस्तानियों की हार के बाद अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तानियों पर और ख़ासतौर से मुसलमानों पर जो ज़ुल्म ढाए थे, ये क़त्आ उसी की ग़म भरी दास्तान है। ग़ालिब ने इससे पहले की शायरी में जहाँ-जहाँ भी दिल्ली का ज़िक्र किया था उसमें ज़ाती ग़मों और अपनी नाक़द्री का ज़िक्र किया था, अगरचे उनमें भी एक इन्सानी दर्द था, जिसे हर शख़्स महसूस कर सकता है लेकिन इस क़त्आ में ग़ालिब ने बराहे-रास्त तमाम देहली का दर्द बयान किया है। दिल्ली के गली-कूचों, चौक और बाज़ारों की जो हालत है, वहाँ जो ख़ौफ़ तारी है और अंग्रेज़ों का जो जंगलराज क़ायम है, यह क़त्आ उन हालात का बहुत ही दिल दोज़ बयान है। दिल्ली पर ग़ालिब का अगला शे'र हैः

अब है दिल्ली की तरफ़ कूच हमारा ग़ालिब।
आज हम हज़रते-नव्वाब से भी मिल आए।।

यह शे'र ग़ालिब ने दूसरी बार रामपुर के सफ़र से वापसी के वक़्त कहा था। इसमें और तो कोई ख़ास बात नहीं है, बस एक नुक़्ता यह है कि कूच करना मुहावरा अकसर किसी बड़े मक़सद, ख़ास तौर से जब जंग के मक़सद से सफ़र करते हैं, उस वक़्त कहते हैं। जैसा कि हम जानते हैं, रामपुर में ग़ालिब ने अपनी ज़िंदगी के तक़रीबन सबसे आसूदा दिन गुज़ारे थे। और शायद उनके ज़ेहन में हो कि रामपुर में जो इज़्ज़त ओ आराम उन्हें हासिल हुआ शायद, इस बार दिल्ली में भी वह ज़िंदगी मयस्सर आ जाए, जिसकी वह हमेशा से तमन्ना रखते थे और उन्हें कभी हासिल न हो सकी थी। दिल्ली पर उनका आख़िरी शे'र हैः

सरे आग़ाज़े मौसम में अंधे हैं हम।
कि दिल्ली को छोड़ें लोहारू को जाएँ।।

यह शे'र क़त्आ का है, जिसमें छः शे'र हैं। ये क़त्आ दिल्ली में बरसात की आमद के मौक़े पर कहा गया था, जिसमें दिल्ली में शराब पीने और आम खाने को मिलते हैं, जबकि लोहारू जहाँ पहले ग़ालिब की बीवी उमराव बेगम के बड़े अब्बा नवाब अहमद बख़्श हाकिम थे, वह 1826 में दस्तबरदार किए जा चुके थे और ये क़त्आ 1865-67 के दरम्यान का है। लोहारू के बारे में ग़ालिब ने इस क़त्आ में कहा है कि वहाँ न आम मिलते

हैं, न अंगूर और खाने में न इमली के खट्टे फूल मिलते हैं, न कड़वे करेले, महज़ गोश्त मिलता है, वह भी भेड़ का और रेशेदार। ज़ाहिर है इस क़त्आ में ग़ालिब ने दिल्ली की तारीफ़ की है।

इस तरह हम देखते है कि ग़ालिब के ज़ेहन में शहर का जो तसव्वुर था कि शहर होश, हया और शऊर वालों की जगह होती है, जिनमें आपस में विचार विमर्श होता रहता है, वह रौशन जगह होती है वग़ैरा वग़ैरा। आमतौर पर दिल्ली उसके ख़िलाफ़ नज़र आती है। शहर के तसव्वुर से उनकी शायरी उम्मीदों और ख़्वाहिशों से भरी है, जबकि दिल्ली के संदर्भ में उनकी शायरी महरूमी और मायूसियों से भरी नज़र आती है। हाँ, शहर के तसव्वुर से बादशाह का जो तसव्वुर उनके ज़ेहन में उभरता था, दिल्ली में तक़रीबन वैसा ही बादशाह उनकी शायरी में नज़र आता है।

इस मुताले से एक सवाल ज़ेहन में उभरता है कि ग़ालिब ने दिल्ली में शदीद परेशानी उठाई, बार-बार उन्होंने अपनी नाक़द्री का शिकवा किया, लेकिन ऐसा क्या था कि वह दिल्ली को नहीं छोड़ सके, जबकि बाहर उनके क़द्रदानों की कमी न थी। नवाब रामपुर ने उनकी इतनी क़द्र की और वह हमेशा चाहते रहे कि ग़ालिब रामपुर में ही रहें। ग़ालिब दो बार रामपुर गए ज़रूर, लेकिन उन हालात में जबकि दिल्ली में किसी भी तरह गुज़र-बसर के हालात न रहे, मजबूरी में गये और जैसे ही हालात कुछ साज़गार हुए वह फ़ौरन दिल्ली वापस आ गए। शायद इसकी एक वजह यह थी कि मुग़लिया सल्तनत के पतन के बावजूद दिल्ली को अभी भी शायरी, इल्म, दानिश और फ़न का मरकज़ होने का शर्फ़ हासिल था, और ग़ालिब की ज़िंदगी का अस्ल मक़सद यही फ़न थे। ज़ौक़ के इन्तक़ाल (1854) के बाद उन्हें किसी हद तक शायरी में वह मर्तबा भी हासिल हो चुका था जिसके वो पहले से मुस्तहक़ थे। उनके लिए माली मुश्किलें बहुत मानी न रखती थीं, और वह अपने लहू से शे'र ओ अदब का चराग़ रोशन करते रहे। दिल्ली उनसे वफ़ा करे या न करे लेकिन ग़ालिब एक सच्चे आशिक़ की तरह दिल्ली से वफ़ा करते रहे। तभी तो अल्लामा इक़बाल ने अपनी नज़्म 'मिर्ज़ा ग़ालिब' में कहा थाः

ऐ जहाने-आबाद! ऐ गहवार-ए-इल्म ओ हुनर।
हैं सरापा नाल-ए-ख़ामोश तेरे बाम ओ दर॥
ज़र्रे-ज़र्रे में तेरे ख़्वाबीदा हैं शम्स-ओ-क़मर।
यूँ तो पोशीदा हैं तेरी ख़ाक में लाखों गुहर॥
दफ़्न तुझमें कोई फ़ख़्रे-रोज़गार ऐसा भी है।
तुझमें पिन्हाँ कोई मोती आबदार ऐसा भी है॥

(ऐ आबाद जहाँ दिल्ली, ऐ ज्ञान और कला के केन्द्र, तेरी ख़ामोशी से रोने वाले दरवाज़े और छज्जे, यूँ तो तेरे कण-कण में सूरज और चाँद जैसे लोग हैं, यूँ तेरी ख़ाक में लाखों मोती छुपे हैं, लेकिन क्या तुझमें कोई ग़ालिब जैसा बाकमाल है? क्या कोई ऐसा क़ीमती मोती है?)

देस-परदेस का द्वन्द्व और दिल्ली

अविनाश कुमार

रेमण्ड विलियम्स[1] अपने अध्ययन की शुरुआत हाल की पढ़ी हुई एक पुस्तक के हवाले से करते हैं जिसमें इंग्लैंड की 'कंट्री लाइफ़' (ग्राम्य जीवन) के चले जाने का मर्सिया है, एक ऐसी दुनिया जो पहले विश्वयुद्ध के पहले तक ज़िन्दा थी, पर पिछले पचास वर्षों में नष्ट होती गई, "A way of life that has come down to us from the days of Virgil has suddenly ended." पर जब वो इस ठहरी हुई दुनिया को ठीक-ठीक पकड़ने की कोशिश करते हैं तो यह दुनिया उनकी पकड़ में नहीं आती। वह पहले 1907, फिर 1900, फिर 1860, फिर 1830, फिर 1770-80 और यहाँ तक कि 16वीं-15वीं सदी तक पीछे चली जाती मालूम पड़ती है जहाँ हर कोई, हर लेखक, कवि एक 'old order' (पुरानी व्यवस्था) के ख़त्म हो जाने का स्यापा कर रहा है। पर यह विलाप मूलतः गाँवों से, देहात से जुड़ी हुई एक पूरी सभ्यता पर केंद्रित है। दूसरी ओर, यदि एक दूसरे अपेक्षाकृत नए समाज (अमेरिका) के संदर्भ में 1930-40 के दशकों के लोकप्रिय जासूसी उपन्यास लेखक रेमण्ड चैण्डलर को देखें, जिनके लेखन में लॉस ऐंजेलिस अपने ठोस रूप में उभरता दिखाई देता है तो वहाँ हमें एक पुराने शहर के उजड़ने और नए शहर के बनने के प्रति असहजता झलकती दिखाई देती है। बक़ौल चैण्डलरः

> 'I used to like this town', I said just to be saying something and not to be thinking too hard. A long time ago. There were trees along Wilshire Boulevard. Beverly Hills was a country town. West Wood was bare hills and lots offering at eleven hundred dollars and no takers. Hollywood was a bunch of farm houses on the inter-urban line. Los Angeles was just a big dry sunny place with ugly houses and no style, but good hearted and peaceful... Now we have got the big money, the sharpshooters, the percentage worker, the fast-dollar boys, the hoodlums out of New York and Chicago and Detroit – and Cleveland. We've got the flash restaurants and night clubs they run, and the hotels and apartment houses they own, and the grifters and conmen and female bandits that live in them. The luxury trades, the pansy decoraters, the lesbian dress-designers, the riff-raff of a big hard boiled city with no more personality than a paper cup.[2]

इन अर्थों में, एक शहर न सिर्फ़ अपने जुगराफ़िये में बदल रहा है बल्कि 'High Industrialism' के प्रतीक महानगर/metropole के रूप में सामने आ रहा है। खुद विलियम्स ऐतिहासिक सन्दर्भों में वर्तमान के नए महानगरों का ज़िक्र इसी सिलसिले में करते हैं। सवाल उठता है, इन सारे तथ्यों का भारतीय और उससे भी नीचे उतरकर दिल्ली की बनती-बदलती तस्वीरों से क्या रिश्ता जुड़ता है, ख़ासकर तब जब हम 'मात्र एक शहर' की

बात कर रहे हैं, बग़ैर गाँव बनाम शहर की चिरपरिचित बहस में गए। दूसरी समस्या भाषा की है। यदि हम दिल्ली की स्मृतियों, अनुभवों को आँकने, उन्हें परिभाषित करने का प्रयास करें, मात्र उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में ही, तब भी कम से कम दो भाषाओं (कम से कम आज की तारीख़ में!) से दो-चार होना पड़ेगा। उर्दू और हिन्दी की अपनी-अपनी स्मृतियाँ भी एक तरह से कहें तो दो अलग-अलग सदियों की स्मृतियाँ रही हैं (दिल्ली के सन्दर्भ में)। उर्दू मूलतः उन्नीसवीं सदी में (बावजूद इसके कि अपने छिटपुट रूप में वह बीसवीं सदी के दूसरे हिस्से तक चली आई है) और हिन्दी मूलतः बीसवीं सदी में और वह भी 1950 के बाद ज़्यादा तब, जबकि आज़ादी के बाद वह राजभाषा बनी और नई राजधानी दिल्ली में उत्तर भारत के छोटे शहरों, क़स्बों और गाँवों से हिन्दी लेखक, साहित्यकार अपनी जड़ें जमाने के लिए आने लगे। ऐसा नहीं है कि इनके बीच कुछ साझा नहीं है, अच्छा ख़ासा साझा है, आपसी लेन-देन है, पर कहीं न कहीं 'एक पुरानी सल्तनत' की राजभाषा और 'नई सल्तनत' की राज्य भाषा का फ़र्क़ भी दिखता मालूम पड़ता है।

यदि हम मात्र उर्दू के ही उदाहरणों को लें तो यह दिलचस्प है कि जो बात विलियम्स गाँव-केंद्रित दुनिया के संदर्भ में करते हैं, वह दिल्ली के संदर्भ में बार-बार घटती दिखाई देती है। लाला महेश्वर दयाल की क्लासिक *दिल्ली जो एक शहर है* से शुरू करें जो बीसवीं सदी के दूसरे हिस्से में सामने आई तो एक विलाप हमें यहाँ दिखाई पड़ता है, 'वह सभ्यता और रखरखाव जो दिल्ली में पुराने ज़माने के लोगों में था शायद अब कभी देखने में नहीं आएगा'[3] जिसके हवाले से वह आज़ादी से पहले की दिल्ली को याद करते हैं, वही 1914-15 के आसपास ख़्वाजा हसन निज़ामी अपनी कई किताबों ख़ासकर *बेगमात के आँसू* के माध्यम से 1857 से पहले की दिल्ली को याद करते दिखाई देते हैं। इसी तरह हाली की दिल्ली पर पढ़ी हुई नज़्म जो 19वीं सदी के आख़िर में लिखी गई थी, मूलतः 1857 के पहले की दिल्ली की याद है। वही हाल ग़ालिब और दाग़ देहलवी का भी है। दाग़ कहते हैं, "मेरे दिल से दाग़ पूछे कोई दिल्ली के मज़े। लुत्फ़ था दोनों जहाँ का इक जहाँ-आबाद में", या फिर "लोग कहते हैं बना दिल्ली बिगड़ कर लखनऊ, पर कहाँ ऐ 'दाग़' उस उजड़े हुए घर का जवाब।" उनसे थोड़ा पहले यदि ग़ालिब के ख़तूत पर निगाह दौड़ाएँ,

> आओ मियाँ सैयद ज़ादा-ए-आज़ादा, दिल्ली के आशिक़ए-दिलदादा,
> ढहे हुए 'उर्दू बाज़ार' के रहने वाले, हसद से लखनऊ को बुरा करने वाले,
> न दिल में मेहर-ओ आज़रम, न आँख में हया-ओ-शर्म,
> निज़ामुद्दीन ममनून कहाँ ज़ौक कहाँ मोमिन ख़ाँ कहाँ,
> एक आज़ुर्दा सो ख़ामोश, दूसरा ग़ालिब, वो बेख़ुद व मदहोश,
> न सुख़नवरी रही, न सुख़नदानी, किस बिरते इत्ता पानी?
> हाय दिल्ली बाय दिल्ली! भाड़ में जाए दिल्ली[4]।

ज़ाहिरा तौर पर यह सारा विलाप 1857 के पहले के ज़माने पर हो रहा है पर यदि 19वीं सदी से और पीछे जाएँ तो दो ऐसे बड़े शायर मिलते हैं 'मीर' और 'सौदा' जिन्होंने एक पूरी साहित्यिक विधा को ही जन्म दिया 'शहर-ए-आशोब', यानि एक पूरे शहर, यानी दिल्ली के उजड़ने की दास्तान। यह 'शहर आशोब' की विधा इतनी लोकप्रिय हुई जिसे बाद में दाग़, हाली, नवाब अलाउद्दीन ख़ाँ अलाई, मिर्ज़ा अलाउद्दीन ख़ाँ जैसों ने 19वीं सदी के आख़िर तक क़ायम रखा। दूसरी ओर मीर की प्रसिद्ध आत्मकथा *ज़िक्र-ए-मीर*, उनके अपने उजड़ने और बसने से ज़्यादा दिल्ली के बार-बार उजड़ने और बसने की कथा है। क़िस्सा-कोताह यह कि यह जो दिल्ली की एक 'ठहरी हुई दुनिया' के खोने का विलाप है, फिर बारम्बार पीछे फिसलता दिखलाई पड़ता है। यदि हम फिर रेमण्ड चैण्डलर पर वापस आएँ तो वह क्या चीज़ है जो एक शहर की अस्मिता को, उसकी पहचान को, पूरे नक़्शे पर अलग करती है? "Real cities have somethings else, some individual bony structure under the muck. Los Angeles has Hollywood – and hates it. It ought to consider itself damn lucky. Without Hollywood it would be a mail order city. Everything in the city catalogue you could get better somewhere else."[5] सवाल यह है कि वह 'bony structure' क्या है, जो किसी शहर को ठोस रूप/पहचान देता है, बाक़ियों से अलग?

बक़ौल महेश्वर दयाल, वह है 'शिष्टता, ऊँचे तौर-तरीक़े, भद्रता का व्यवहार, भाईचारे की भावना, अत्यधिक विनम्रता और सहिष्णुता।'[6] पर इन सबसे आगे वह एक गुम हो चुकी दुनिया की शिनाख़्त वहाँ की हवेली के रहन-सहन, बनाव-सिंगार, खानपान और दस्तरख़्वान, पान और हुक़्क़ा, फेरीवालों की आवाज़ें, मिले-जुले रीति-रिवाज, दिल्ली की बोली-ठोली, दास्तानगोई की कला, रज़्म व बज़्म, वसंत के मेले और त्योहारों वग़ैरह में करते हैं, जो उनकी किताब के अलग-अलग अध्याय भी हैं। ज़ौक तो दिल्ली की गलियों पर फ़िदा थे ही। ग़ालिब लिखते हैं, "दिल्ली की हस्ती मुनहसर कई हंगामों पर थी। क़िला, चाँदनी चौक, हर रोज़ा बाज़ार मस्जिद-ए-जामा का, हर हफ़्ते सैर जमना के पुल की, हर साल मेला फूल वालों का! ये पाँचों बातें अब नहीं फिर कहो, दिल्ली कहाँ?"[7] इससे भी पीछे, 18वीं सदी में फिर एक बार झाँकें तो, 'रिसाला-ए-सालार-जंग' के मुताबिक़ जो सालार-जंग के दिल्ली में 1737-40 के अपने प्रवास के अनुभवों पर लिखी गई थी, वहाँ भी चाँदनी चौक की भीड़, उसके साहित्यिक परिदृश्य, मेलों, तमाशों और रक़्क़ासों की दुनिया की याद है। दिलचस्प तौर से बक़ौल सालार-जंग, "चाँदनी चौक में कहवाघरों में बड़ी हस्तियाँ रोज़ाना इकट्ठी होकर कड़वा, काला कहवा पीतीं और अदबी मसलों पर बहस किया करतीं।"[8] ज़ाहिर तौर पर यह हैबरमास की पब्लिक स्फ़ियर की शुरुआती अवधारणा की याद भी दिलाता है। दूसरी ओर मिर्ज़ा फ़रहतुल्लाह बेग़ की 'दिल्ली की आख़िरी शमा' जो पहले 'दिल्ली का एक यादगार मुशायरा' के नाम से प्रकाशित हुई थी। बेग़ दिल्ली की पहचान मूलतः एक 'साहित्यिक संस्कृति', उसकी 'साहित्यिक शख़्सियत' के बतौर करते हैं, एक ऐसी संस्कृति जो न सिर्फ़ शायरों, उनके क़द्रदान नवाबों और बादशाह की साहित्यिक अभिरुचियों का पता देती थी, बल्कि 1848 के आसपास हुए इस मुशायरे के रिपोर्ताज पर भरोसा करें तो इनमें एक ऐसे शायर भी थे जो वाक़ई सिर्फ़ शे'र कह सकते थे, यानी कि लिख-पढ़ नहीं सकते थे; एक पेशे से बढ़ई थे; कुछ दिल्ली से बाहर यानी कोलकाता, हैदराबाद जैसे शहरों से आए हुए थे तो उनमें से दो ईसाई भी थे और एक अंग्रेज़, भले ही नाम उन्होंने तख़ल्लुस के साथ शायराना रखे हों। पर तबीयत के तौर पर अभिजात्य, एक शहरीपन से जुड़ा अभिजात्य हमें लगातार दिखाई देता है, मीर के ज़माने से ही।

दिलचस्प बात यह है कि दिल्ली के होने, दिल्ली के शहरी होने, उस पर गर्व करने की यह सारी बातें एक 'स्मृति' के, एक याद के तौर पर हमारे सामने आती हैं, एक ऐसे गुज़रे ज़माने की दास्तान जो कभी था, एक समुदाय जो कभी था, एक शहर के बाशिंदे होने की पहचान थी, पर जो कि पहले था, गुज़र चुका। वर्तमान में, चाहे वह कोई भी वर्तमान हो, 18वीं सदी के आख़िरी दशकों का, या उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दशकों का, या बीसवीं सदी का, वर्तमान हमेशा उन्हें अलग, निपट अकेला, खड़ा रखता है, अकेलेपन का अहसास देता है और यहीं पर एक तरह से हिंदी लेखकों से उर्दू लेखकों का साझा रिश्ता बनता है। दोनों एक ही ज़मीन पर खड़े नज़र आते हैं। हिंदी का लेखक भी बार-बार इस अकेलेपन की कथा कहता नज़र आता है। यह बात दीगर है कि यह अकेलापन, उस उन्नीसवीं सदी के अकेलेपन से अलग है जो nostalgia से उपजा था। यहाँ है, एक ओर तो छोटे शहरों, गाँवों से आ कर एक नई पहचान की तलाश से जूझने का, महानगर की भीड़ से उपजे अकेलेपन का त्रास, तो दूसरी ओर है, महानगरीय सभ्यता और बदलती परिस्थितियों में (जो कि नई दिल्ली के बनने के बाद से शुरू हो जाती है) आधुनिकता से उपजे, एक बुर्ज़ुआ इंडिविजुअल का अकेलापन, पर कहीं न कहीं इन सबका आपसी साझा दिखता है। इन अर्थों में देखें तो, sense of belonging, शहर के वर्तमान से अपनापन कहीं नहीं दिखता, न 19वीं सदी में, न 20वीं में (बहुत हद तक)। इस निर्वासन की परिभाषाएँ भी अलग हैं और रूप भी। इस संदर्भ में, यदि हम हिन्दी के दो लेखकों को लें तो बात शायद ज़्यादा स्पष्ट हो सकेगी। नामवर सिंह, महेश्वर दयाल की पुस्तक के हिंदी संस्करण की भूमिका में लिखते हैं, "मुझे यह किताब शायद इसलिए पसंद आई है, क्योंकि मैं ख़ुद दिल्ली वाला नहीं हूँ! पिछले तीन दशकों से दिल्ली में रहते हुए भी मैं अपने आपको दिल्लीवाला नहीं कह सकता क्योंकि दिल्ली में रहने मात्र से कोई दिल्ली वाला नहीं हो

"दिल्ली की हस्ती मुनहसर कई हंगामों पर थी। क़िला, चाँदनी चौक, हर रोज़ा बाज़ार मस्जिद-ए-जामा का, हर हफ़्ते सैर जमना के पुल की, हर साल मेला फूल वालों का! ये पाँचों बातें अब नहीं फिर कहो, दिल्ली कहाँ?

जाता है।"[9] इसके बरक्स यदि रघुवीर सहाय को देखें जो लखनऊ से आ कर यहाँ बसे तो एक मिलती-जुलती तस्वीर, एक ठोस परिभाषा बनती नज़र आती है, "दिल्ली मेरा देस नहीं है और दिल्ली किसी का देस नहीं हो सकती... मैं 1951 की गर्मियों में *प्रतीक* का सहायक संपादक होकर दिल्ली आया था... ज़िंदगी में जो दो काम किए हैं — अख़बारनवीसी और कविता — उन दोनों की सबसे अच्छी स्मृतियाँ भी यहीं की हैं और मुफ़लिसी की मस्तियाँ और पस्तियाँ भी, परंतु ये दिल्ली की सबसे बड़ी देन नहीं है। सबसे बड़ी देन तो एक परदेसीपन है, एक अजब तरह का स्निग्ध एकांत जिसमें जब चाहो तब भीतर चले जाओ, चाहे कितनी ही भीड़ में क्यों न हो, और जिसमें से जब चाहो ज़रा देर के लिए बाहर आ जाओ, कोई देखेगा नहीं।"[10] यह परदेसीपन का रेखांकन तो है, पर साथ ही ज़ाहिरा तौर पर एक रूमानियत के साथ, जहाँ भीड़ बनाम अकेलेपन का द्वन्द्व, हताशा नहीं लाता बल्कि लेखक को, व्यक्ति को एक सहजता की स्थिति देता है। पर यह सहजता की स्थिति शायद कम ही लोगों में दिखाई देती है, पर इस पर चर्चा हम आगे करेंगे। एक फ़र्क़ जो दिखता है, वह है दिल्ली की 'अपनी संस्कृति' के प्रति नज़रिए का जिसके बारे में हम ऊपर ज़िक्र कर आए हैं। इसी नज़रिए को बाद के लेखक भी दुहराते हैं, "दिल्ली सिर्फ़ एक शहर का नाम ही नहीं बल्कि एक विशिष्ट सभ्यता और संस्कृति का भी नाम है। यह सभ्यता सैंकड़ों ही नहीं बल्कि हज़ारों वर्षों से हमारी बहुमूल्य निधि रही है।"[11] पर इसी के बरक्स एक बिल्कुल उलट और कहा जाए तो थोड़ा विवादास्पद नज़रिया रघुवीर सहाय का दिखता है, "उसकी (दिल्ली की) अपनी संस्कृति नहीं है। यहाँ के निवासियों के सामाजिक आचरण को कभी इतना स्थिर होने का अवसर भी नहीं मिल सका कि वह एक संस्कृति का रूप ग्रहण करे। अधिक से अधिक वह सभ्यता का, बल्कि उसके अनुकरणों का एक केंद्र हो सकती है, सो वह है। और अपनी तमाम स्मृतियों के साथ है।"[12] सवाल है, इन तमाम स्मृतियों से शहर की क्या तस्वीर बनती है! यदि शहर के दो-तीन प्रतीकों के माध्यम से देखें तो बदलते ऐतिहासिक संदर्भों में उनके माध्यम से दिल्ली की बदलती तस्वीर को देखना शायद ज़्यादा सुगम हो। यदि हम शहर के भूगोल, इसके गली-मुहल्लों से चौड़ी सड़कों तक की यात्रा करें, या फिर वही भीड़ या मेला-ठेला अलग-अलग सन्दर्भों में अपनापन या बेगानेपन की क्या परिभाषा देते हैं, या फिर रात कितने रूपों में हमारे सामने आती है? आगे कुछ इन्हीं बिन्दुओं पर ध्यान केंद्रित कर हम शहर की बदलती तस्वीरों पर चर्चा करेंगे।

यदि ग़ालिब पर एक बार फिर वापस आएँ तो, "याद करो मिर्ज़ा ग़ौहर के बाग़ीचे को, जानिब को कई बांसनशीब था, अब वो बाग़ीचे के सहन के बराबर हो गया, यहाँ तक कि राजघाट का दरवाज़ा बंद हो गया। फ़सील के कंगूरे खुले पड़े हैं, बाक़ी सब अट गया! कश्मीरी दरवाज़े का हाल तुम देख गए हो, अब आहनी सड़क के वास्ते कलकत्ता दरवाज़े से काबली दरवाज़े तक मैदान हो गया। पंजाबी कटरा, धोबीवाड़ा, रामजीगंज, स'आदत खाँ का कटरा, जरनैल बीवी की हवेली, रामजीदास गोदामवाले के मकानात, साहिबराम की बाग़ हवेली, इनमें से किसी का पता नहीं मिलता। क़िस्सा मुख़्तसर शहर सहरा हो गया था।"[13] यहाँ एक ऐसे भौगोलिक समुदाय की याद है, जो इन सभी मकानों, हवेलियों, बाग़ीचों के निशानों के सहारे अपनी अस्मिता, अपने वजूद की पहचान करती है, वह वजूद जो पूरी दिल्ली की चौहद्दी को एक खास शख़्सियत देता है।

डिप्टी नज़ीर अहमद की 'तौबतू-उन्-नसूह' (1874) जो 1857 के बाद फिर एक बार खड़ी होती दिल्ली की पृष्ठभूमि पर लिखी गई थी, इन्हीं गलियों के सुनसान होने का ही रोना रोती दिखती है। अलबत्ता, 1870 के दशक की दिल्ली परः "एक बाज़ार-ए-मौत तो अलबत्ता गर्म था, वर्ना जिधर जाओ सन्नाटा और वीरानी, जिस तरफ़ निगाह करो वहशत-ओ-परेशानी। जिन बाज़ारों में आधी रात तक खवे से खवा छिलता था, ऐसे उजड़े पड़े थे कि दिन दोपहर जाते डर मालूम होता था। कटोरों की झंकार मौक़ूफ़, आमद-ओ-शुद (traffic), बीमार-पुर्सी और इयादत (देखभाल), बाज़दीदी-ओ-ज़ियारत (हाल-चाल लेना), मेहमानदारी-औ-ज़ियाफ़त (त्यौहार-उत्सव), कुल रस्में लोगों ने उठा दीं।" (Christina Osterheld, 'Nazir Ahmad & the Early Urdu Novels: Some Observations' से उद्धृत, *Annual of Urdu Studies*, Vol. 16, 2001) यह सुनसान शहर 1857 का नहीं इस बार शहर के हैज़े की चपेट में आने की वजह से है। Community, एक शहरियत का जुग़राफ़िया गलियों के सुनसान होने में यहाँ एक बार फिर दिखता है जहाँ भीड़, मिलना-जुलना, बाज़ार जैसे शब्दों से इस समुदाय के अपनेपन का आधार तैयार किया गया है। नज़ीर अहमद के दूसरे ज़्यादा चर्चित उपन्यास *मिरातुल-उरूस*,

जो दो बहनों की कहानी के माध्यम से मुस्लिम समाज के पुनर्निर्माण का एजेंडा रख रहा था और सैयद अहमद ख़ाँ की लिखी दिल्ली की तारीख़ *असार-उल-सनादीद* में दिल्ली के इसी शहरी समुदाय को फिर से उठाया भी गया है और उनके उजड़ने का ग़म भी यहाँ झलकता है। इसके बरक्स 1882 में प्रकाशित लाला श्रीनिवास दास की *परीक्षा गुरु* में जिसे हिन्दी का पहला उपन्यास भी कहा जाता है, दिल्ली के बहाने जैन व्यापारी वर्ग की बढ़ती हुई ताक़त और संस्कृति का रेखांकन हुआ है। दिलचस्प तौर पर, 1920 के दशक तक भी, यह देखने को मिलता है कि इस संस्कृति के बरक्स अब दूसरे समुदाय जैसे जैन, दूसरी भाषा (हिंदी) के माध्यम से अपनी पहचान दर्ज करवा रहे हैं। 1923 में प्रकाशित *जैन दिग्दर्शन* पूरे शहर का नक़्शा जैन मन्दिरों के अलग-अलग निशानों के माध्यम से खींचता है, अन्य 'ऐतिहासिक स्थलों' में हमारी चिरपरिचित इमारतें जैसे लालक़िला, क़ुतुबमीनार वग़ैरह बयान की गई हैं, पर शर्तिया तौर पर पहचान का यह ज़ोर मुस्लिम समुदाय को चुनौती के रूप में नहीं है, बल्कि उपरोक्त उदाहरण में वैष्णव सम्प्रदाय के मुक़ाबले ज़्यादा दिखता है।

बीसवीं सदी के इन्हीं वर्षों में दिल्ली या देहली एक नए रूप में सामने आती दिखती है, वह है अपराध, सनसनीख़ेज़ कारनामों, भ्रष्टाचार के प्रतीक-केन्द्र के रूप में और इन्हीं अर्थों में कहें तो उसे एक साथ महानगर का दर्जा प्राप्त होता दिखता है और दूसरी ओर 'आधुनिक' शहरी सभ्यता के केन्द्र का भी। *देहली का ठग* (नदीम सहबाई, 1933), *दिल्ली का दलाल* (पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', 1928), *दिल्ली की गुण्डाशाही* (शंकर लाल गोयल, 1930), *दिल्ली का खूंखार मौला* (1931), *दिल्ली का व्यभिचार* (ऋषभचरण जैन, 1929) जैसे शीर्षकों से ही इस बात का अन्दाज़ लगाया जा सकता है कि किस प्रकार अपराध का रिश्ता एक आधुनिक होते महानगर से जुड़ रहा है। एक ओर तो यह इस तथ्य का स्वीकार भी है कि महानगर में जीवन अपने ज़्यादा जटिल, उलझे हुए रूपों में सामने आता दिखाई देता है और इसके सच को पकड़ने का रूपक ऐसी अपराध कथाओं के रूप में हमारे सामने आ रहा है, तो दूसरी ओर *देहली का ठग* को देखें तो देहली एक ऐसा महानगर है जो पूरब में कोलकाता और बनारस, उत्तर-पश्चिम में लाहौर, उत्तर में अमृतसर और लुधियाना जैसे व्यापार-केन्द्रों से जुड़ा हुआ है, जहाँ लोग तरह-तरह के व्यापारिक, व्यावसायिक उद्देश्यों से आते हैं और ठगी के शिकार बनते हैं। दिलचस्प तौर से लगभग आधे से ज़्यादा उपन्यास एक डॉक्युमेंटरी तर्ज़ पर अख़बारों की कतरनों और ठगी के शिकार हुए लोगों के एफ़आईआर बयान के रूप में लिखा गया है, बेहद यथार्थवादी शैली में। यहाँ वही गलियाँ और जगहें अब दूसरे रूप में दिखाई देती हैं, "आज मैं जमना जाने की इच्छा धारण किए हुए चावड़ी से होता हुआ जामा मस्जिद जा निकला। मेला लगा हुआ था। वैद्य तथा हकीम लोग बड़े मनोरंजक क़िस्से-कहानियाँ सुनाकर जनता को अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे। शब्दरसवश मैं भी हकीम जी की मनोरंजक, प्रसन्न करनेवाली कथा सुनने के लिए खड़ा हो गया। हकीम जी ने अपनी कहानी अधूरी छोड़कर अपना औषध पिटारा संभाला और औषधियों को निकाल-निकाल कर मेज़ पर रखने लगे। मैंने समझ लिया कि इस कथा-प्रचार का स्थान औषध-प्रचार ने ले लिया। मैं रोगी तो था नहीं, चल दिया। सामने समीप ही पनवाड़ी की दुकान थी, थिरी ए का सिगरेट मांगा, पैसा देने के लिए जेब में हाथ डाला तो मेरी हैरानी की सीमा न रही जब मेरी उंगलियाँ कोट के बाहर निकल गई और तमाम पैसे साफ़ हो गये।"[14] यहाँ अपराध तो है, पर मेले, भीड़ और चावड़ी, जामा मस्जिद एक पूरी स्थानीयता के प्रतीक ही हैं, बावजूद इसके कि शहर का पूरा प्रतीक अब अपराध का प्रतीक बन गया है। इसी में आगे सिविल लाइंस, सेसिल होटल जैसे 'आधुनिक' उच्चवर्गीय अंग्रेज़ों के इलाक़ों का ज़िक्र भी शहर की पूरी बुनावट में नए आयाम तो जोड़ता है, पर उसमें सिलवटें नहीं डालता। 'आधुनिकता' के नए केन्द्र अपराध की इस कला को और रोमानी, और रोमांचक ही बनाते हैं, बीसवीं सदी के पश्चिमी महानगर से उपजे आधुनिकतावाद के अलगाव या निर्वासन के परिचायक नहीं बनते जो 1950 के बाद से हिंदी परिदृश्य पर दिखाई देता है। पर इन्हीं अपराध-कथाओं की कुछ दूसरी किताबों पर निगाह दौड़ाएँ तो पाएंगे कि शहर की अस्मिता, एक अपनापन उन्हीं निशानों, गलियों से तो है जहाँ *दिल्ली का दलाल* में दो दोस्त शर्त बदकर गलियों से चाँदनी चौक पहुँचने के सीधे रास्ते पर रेस लगाते हैं और और इसी प्रक्रिया में जहाँ नायक नायिका से आँखें चार करता है तो दूसरी ओर ठण्डी सड़क, चावड़ी आदि से होते हुए नित नए व्यभिचार की घटनाओं का पर्दाफ़ाश भी। पर एक नई चीज़ जो सामने आती दिखती है वह है हिन्दू बनाम मुसलमान की अस्मिताओं की पहचान, इन्हीं गलियों के भीतर

से। इसलिए जहाँ *देहली का ठग* के 'मियांजी' इसके हिन्दी अनुवाद में 'उपाध्याय जी' हो जाते हैं, वहीं *दिल्ली का दलाल* का प्रमुख विलेन अब्दुल्ला मुसलमान पात्र है जो हिन्दू स्त्रियों को अग़वा कर उनसे वेश्यावृत्ति करवाता है। *दिल्ली का व्यभिचार* में तथा ऐसी ही और कथाओं में मुसलमान गुण्डे हिन्दू स्त्रियों, बच्चों पर यौन अत्याचार करते दिखाए जाते हैं। पर दिलचस्प तौर से सिर्फ़ यही नहीं कि दिल्ली एक शहर न होकर अब 'सांप्रदायिक विचारधारा' के प्रतीकों में बदल रहा है, बल्कि हिन्दी साहित्यिक परिदृश्य पर 'उग्र' और ऋषभचरण जैन (जिनके दो उपन्यासों का हवाला ऊपर दिया गया है), 'ठोस यथार्थवाद' की वकालत करते हुए, प्रेमचन्द के 'आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद' को चुनौती पेश कर रहे हैं और इस प्रक्रिया में दिल्ली शहर सनसनीख़ेज़ घटनाओं, अपराधों और व्यभिचारों से भरे प्रतीक में बदल रहा है।

शहर के निशान, सड़कें, गलियाँ और सामूहिक स्थल यदि अभी भी वही पहचान दे रहे हैं तो 1947-48 की दिल्ली यानी विभाजन के दौर की दिल्ली एक मिली-जुली कहानी कहती दिखाई देती है। एक ओर तो फिर से यहाँ नए खंडहरों, नए विध्वंसों की तस्वीर है, तो दूसरी ओर इन्हीं अवशेषों से होते हुए एक नए राष्ट्र की नई राजधानी में इस दर्द को भुलाकर एक नए समुदाय के निर्माण की जद्दोजहद भी, राजधानी दिल्ली इन्हीं कशमकश से गुज़रती दिखती है।

> तारा ने एक प्रौढ़ सिक्ख को देखकर पहाड़गंज का रास्ता पूछ लिया।
> "बेटी, यह सब पहाड़गंज ही है, बहुत बड़ा मुहल्ला है, छोटा-मोटा शहर ही समझो।" सरदार जी ने उत्तर दिया, "कोई क्या बता सकेगा? सभी लोग नये हैं। अंदर गलियाँ है, हिम्मत करो। देखती जाओ, पूछती जाओ। वाहे गुरु मदद करने वाला है।"
> बंती और तारा उजड़े हुए से बाज़ार के दाहिने एक गली में चली गईं। कई मकान एक साथ जले हुए थे। जले हुए मकानों का मलबा गिरने से गलियों में नालियाँ मुँद गयी थीं। गन्दा पानी और गन्दगी गलियों में फैली हुई थी। ...शरण के लिए लोग जले हुए मकानों में भी दिखाई दे रहे थे।[15]

देश और दिल्ली के वजूद के एकाकार होने का प्रतीक एक ओर तो यह ध्वंसावशेष हैं, तो दूसरी ओर शायद, आख़िरी बार भीड़ और मेला (जो कि दिल्ली के अपनापे की पहचान के रूप में अब तक चिन्हित किए जाते रहे हैं) अपने पूरे चरम पर कृष्णा सोबती की स्मृतियों में दिखाई देते हैं, "साहबो, आज़ादी के पहले त्यौहार वाली भीड़ें हमने दिल्ली में फिर कभी नहीं देखीं। हर तरह का आदमी, हर पोशाक का, हर उम्र का, हर रंग, हर तबक़े, शहर, गाँव, क़स्बे से दिल्ली आ गया लगता था। उस दिन पूरे हिंदुस्तान का जमावड़ा दिल्ली में था। सड़कों के किनारे खोमचेवालों की भीड़ें जुटी थीं। पूरा मेला ही आज़ादी पर मुँह मीठा करवाने का जतन लगता था। लड्डू मोतीचूर, कलाकंद, टुकरियाँ, पेठा, गुलाब जामुन, बालूशाही, मुसंडे, हलवा-पूरी, कचौड़ी बेड़मी, समोसा और न जाने क्या-क्या था जो उस दिन वहाँ था। हर खोमचे, रेहड़ी, भल्ली, डलिया पर टँगा हुआ तिरंगा, कुछ बात थी उस दिन — ख़ुशी और आज़ाद हो जाने का ग़ुमान। अब हर आदमी दूसरे आदमी की तरह था। हर दूसरा हर तीसरे की तरह था। कनॉट प्लेस की सजावट, जगमगाहट के अनोखेपन के क्या कहने।"[16] यही सजावट अब 'पुरानी' कही जाने वाली दिल्ली में भी दिखती है। मेलों, रेलों की भीड़ बाहर से तो आई है और पहली बार इस बात का संकेत देती है कि दिल्ली अब सिर्फ़ वहाँ के 'मूल निवासियों' की नहीं रही, वह विभाजन के शरणार्थियों की भी है, जो अपने को 'पुरुषार्थी' कहलाना चाहते हैं, उससे आगे पूरे देश की भी! बावजूद इसके कि यहीं नए-पुराने, नई दिल्ली-पुरानी दिल्ली का द्वन्द्व भी साफ़ होता दिखलाई देता है। नए में एक ख़ास आशंका की आहटें भी हैं: "गर्मी की दुपहर में दिल्ली का आसमान। जाने कैसा दिन था। लगता था किसी झपट तले पड़ा है। आज भी दिल उदास हो आता है उसे लौटा लाने में! गहरे कहीं खटका लगता है और उजाड़-सा छा जाता है — नई दिल्ली की सड़कें ख़ामोश थीं। ट्रैफ़िक कम और सन्नाटा ज़्यादा। कुछ ख़ौफ़नाक सा, फूलों की क्यारियाँ, पेड़-पत्ते, हरियाली सब बेरंग-से उदास दीखते थे। तारकोल के स्लेटी रंग के साथ कत्थई बजरीवाली पटरियाँ बेमुँही-सी बिछी पड़ी थीं। इंडिया गेट से फैलती लंबी-चौड़ी सड़कों पर जाने किन-किन पैरों की गुम आवाज़ें घोड़ों की टाप बनकर हमारे दिल को खटखटाती थीं।" (उपरोक्त) न सिर्फ़ भीड़ के बरक्स सन्नाटा, ख़ामोशी, अपनी उपस्थिति फिर से दर्ज करवा

रहे हैं, बल्कि बदलते शहर के नए निशान, इंडिया गेट, नई दिल्ली की सड़कें, अब नए क़िस्म के निर्वासन की खटखटाहट दे रहे हैं। पर इन सबके बावजूद राजधानी और महानगर दोनों आपस में मिलने की नई कोशिश भी कर रहे हैं, जो एक ख़ास क़िस्म का उत्साह, ख़ास क़िस्म की उम्मीद भी बँधाता है।

"दिल्ली में गुरुद्वारा रोड पर एक कमरा! कुछ साल कलकत्ता में रहने के बाद यह शख़्स (मेरे कहने से) उन दिनों दिल्ली चला आया था। नई दिल्ली स्टेशन की एक बेंच पर बैठे हुए हम लोगों ने दिल्ली शिफ़्ट करने की योजना बनाई थी। सिद्धान्त था : राजधानी में रहकर ज़िन्दगी की नब्ज़ पहचानेंगे। आज तक जो बेशुमार बेहूदा हरकतें की है, उनमें से एक।"[17] मोहन राकेश द्वारा राजेन्द्र यादव के बहाने दिल्ली/नई दिल्ली से बँधती लेखकों, कवियों की उम्मीद सिर्फ़ जीविका, नौकरी की संभावना की उम्मीद नहीं थी, एक बनते महानगर, एक नई बनती राजधानी के बहाने आधुनिक जीवन की संश्लिष्टताओं को पहचानने की उम्मीद भी थी। आज़ादी के बाद हिन्दी कहानी के सबसे चर्चित आंदोलन, 'नई कहानी', के पीछे दिल्ली और लेखकों का आपसी रिश्ता इन्हीं उम्मीदों के आधार पर बन रहा था। सवाल था, दिल्ली, एक महानगर जो निरंतर फैल रहा था, उसे कितने रूपों में, और उसके बहाने ज़िंदगी को कितने रूपों में बयान किया जाये।

राजधानी बनाम महानगर के इस द्वन्द्व को पहचानने में व्यक्ति का अकेलापन पहली बार एक पूरे परिदृश्य में अलग से खड़ा नज़र आता है। यहाँ ध्यान देने लायक बात यह है कि विभाजन के बाद दिल्ली की जनसंख्या में एक आतंककारी फैलाव आ जाता है, जिसे इतिहासकारों ने भी पहचाना है। महानगर की भीड़, अब एक अमूर्त भीड़ बनकर एक ऐसा फलक रचती है, जिसके बीच में व्यक्ति अपनेपन की, अपनी पहचान की, पुरानी पहचान की नई तलाश करने को बाध्य है। "फुहार की बूँदें बिना शब्द किये, बिना चोट किये, मुझे बाहर से अन्दर तक भिगोती रहीं और मैं न जाने उसकी भीगी हवा में क्या ढूँढता खड़ा रहा। मेरे आसपास कई लोग आ-जा रहे थे, मगर मेरे लिए वहाँ जैसे कोई भी नहीं था। गाड़ियों की एक भीड़ स्टेशन के अहाते में से गुज़र रही थी, मगर मेरे लिए उनकी भभकती हुई बत्तियों और गुर्राते हुए इंजनों का जैसे अस्तित्व ही नहीं था। मैं रुका हुआ था, तो मेरे साथ मेरे अन्दर और बाहर सभी कुछ रुका हुआ था। आसपास जो कुछ था, वह एक चौखट में जड़ा हुआ दृश्य था जो इस चौखट से बाहर नहीं निकल पाता था। हर चीज़ अपनी गति के बावजूद उस चौखट में कसी हुई थी। मैं फुहार से भीगता रहा और यह सोचने की चेष्टा करता रहा कि मैं क्या सोच रहा हूँ। क्या मुझे किसी चीज़ की ज़रूरत महसूस हो रही थी? क्या मुझे भूख लग आई थी? या, क्या मुझे सरदी लग रही थी और मैं उस सरदी से बचना चाह रहा था? आख़िर वह अनुभूति क्या थी? जड़ता या विह्वलता? और विह्वलता कैसी? मेरे चारों तरफ़ से एक भरी-पूरी, ठसाठस-सी, दुनिया गुज़र रही थी और मैं अपने अन्दर एक अभाव का, एक शून्य का अनुभव कर रहा था। वह अभाव क्या था? वह शून्य कहाँ था?"[18] शहर के महानगर में परिवर्तित होने के क्रम में व्यक्ति की सिर्फ़ अपनी पहचान ही नहीं खोती लगती बल्कि अमूर्तन इस हद तक होता है कि उसे अपने अभावों तक की पहचान करनी मुश्किल हो जाती है। अपने व्यक्तित्व से अलगाव, निर्वासन का यह एक शास्त्रीय उदाहरण कहा जा सकता है। पर इसी उद्धरण को ध्यान में रखते हुए यह भी देखना ज़रूरी होगा कि किस प्रकार यह अकेलापन एक रूमानियत के साथ पूरे शहर के व्यक्तित्व को भी रोमानी बना रहा है। दूसरी तरफ़ महानगर अपने physical space में, भौतिक विस्तार में, ऐसा फैलाव लिए है कि पुरानी सामुदायिक अवधारणाएँ पहली बार अर्थहीन होती मालूम पड़ती हैं, "अपनी खिड़की से दूर तक बिखरी हुई बत्तियों को देखते हुए मैं सोचने लगता कि क्या इनमें मैं उन बत्तियों को पहचान सकता हूँ जिनका सम्बन्ध मेरे परिचित घरों और उनमें रहने वाले लोगों से है? परन्तु इतने बड़े समूह में अलग-अलग बत्तियों को पहचानना क्या संभव था? मेरे परिचित मेरे लिए कितना भी महत्व रखते हों, एक इतने बड़े विस्तार में उनका महत्व ही क्या था?"[19]

जहाँ अपनी दुनिया इतनी सीमित लगने लगे, इतने बड़े फैलाव के भीतर, यही फैलाव और घेरे का द्वन्द्व, फिर देश की राजधानी और एक शहर के द्वन्द्व में बदल जाता है, एक ऐसा द्वन्द्व जहाँ एक प्रवासी होने की पीड़ा भी है, इतने बड़े फैलाव में किसी परिचय, किसी अपने की कमी का अहसास भी।

दूसरी ओर, ऐसा नहीं है कि यह अजनबियत, एक अपरिचय सिर्फ़ सड़क पर, भीड़ में ज़ाहिर होता है, यह निजी सम्बन्धों को भी अलगाव, अपरिचय की दुनिया में ले जाता है, ख़ासकर एक औरत की दुनिया में।

"अब दो बजे हैं। पाँच बजे अंगीठी जलाने को उठना होगा। पत्थर के कोयलों की अंगीठी को आते-आते भी तो आध-घंटा लग जाता है। इनके आने तक चाय तैयार हो जाती है। बस, यों ही सारा दिन खिसक जाता है, लेटे-लेटे, सोचते-सोचते। कुछ भी करने को मन नहीं होता... मैं किताब छाती पर खुली छोड़कर धूल-अँटे रौशनदान को ताकती रहती हूँ। जब बदन पसीने से तर-ब-तर हो जाता है, तो याद आता है कि हाथ का पंखा यों ही ढीला होकर झुक गया है। अजब हालत है, अब घर की याद नहीं आती। जीजी की दो चिट्ठियाँ आई पड़ी हैं, वहीं आजकल-आजकल में ही महीना होने को आया। सच, राजेंद्र सब कुछ बड़ा व्यर्थ-व्यर्थ सा लगने लगा है।"[20] ज़ाहिरन दिल्ली अब एक ऐसे अमूर्तन की ओर बढ़ चुकी है, जहाँ बतौर महानगर ही उसकी पहचान है।

"रीगल बस स्टॉप के नीम के पेड़ों से धीरे-धीरे पत्तियाँ झड़ रही हैं, बसें जूँ-जूँ करती आती हैं — एक क्षण ठिठकती हैं — एक ओर से सवारियों को उगलती हैं और दूसरी ओर से निगलकर आगे बढ़ जाती हैं। चौराहों पर बत्तियाँ लगी हैं, बत्तियों की आँखें लाल-पीली हो रही हैं। आसपास से सैकड़ों लोग गुज़रते हैं पर कोई उसे नहीं पहचानता। हर आदमी या औरत लापरवाही से दूसरों को नकारता या झूठे दर्प में डूबा हुआ गुज़र जाता है — और यह राजधानी! जहाँ सब अपना है, अपने देश का है — पर कुछ भी अपना नहीं है, अपने देश का नहीं है।"[21] पूरा शहर एक दानवी आकार लेने लगता है, जहाँ बसें अजगर के रूप में, चौराहों की बत्तियाँ एक तानाशाह के रूप में परिवर्तित होने लगती हैं और देश बनाम देस की पहचान का संकट यहीं शुरू होता है, जब दिल्ली पर न सिर्फ़ एक महानगर का ठप्पा लगता है, बल्कि उसके ऊपर राजधानी का भी, सत्ता तंत्र के पूरे जाल का केन्द्र होने की मुहर भी उस पर लगती है। यहाँ दिल्ली का ख़ुद अपने निज से, उसकी प्राथमिक अस्मिता बतौर एक शहर, एक शहरी समुदाय से अलग नज़र आती है। पर फिर भी एक migrant की, एक प्रवासी होने के कारण उसके अकेलेपन का संकट कहें तो एक मूर्त संकट है, इससे आगे का संकट अमूर्तन की ओर तब बढ़ने लगता है जब परिचित भी अपरिचय की ओर बढ़ने लगते हैं।

> फुटपाथ की भीड़ में सहसा कोई परिचित मगर भूला हुआ चेहरा सामने पड़ जाता है। हम दोनों के चेहरों पर एक अर्थहीन मुस्कान आ जाती है, जैसे पहचानना न चाहते हुए भी हमें एक-दूसरे को पहचानना पड़ रहा हो।
>
> 'आजकल दिल्ली में ही हो?'
>
> 'हाँ'
>
> 'तुम तो लखनऊ में थे?'
>
> 'हाँ, कभी था। अब साल-भर से दिल्ली में ही हूँ'
>
> 'अच्छा! मैं समझता था कि तुम अब तक लखनऊ में ही हो। आजकल क्या हो रहा है?'
>
> 'बस वक़्त कट रहा है।'
>
> 'आजकल वक़्त कट जाये वही बहुत है। अच्छा...।' और वह परमहंस निर्लिप्त भाव से हाथ बढ़ा देता है, 'कभी मेरे लायक कोई काम हो, तो बताना। मैं आजकल एक्साइज़ में हूँ। कभी स्कॉच-ऑच की ज़रूरत पड़े या और कोई काम हो...।'
>
> 'कभी ज़रूरत होगी तो बताऊँगा।'
>
> 'अच्छा!' और वह जल्दी-जल्दी सड़क पार करके चला जाता है।
>
> 'सड़क के पार पहुँचने तक शायद उसे मेरे अस्तित्व की याद भी नहीं रहती।'[22]

आधुनिक व्यस्त महानगर की भीड़ यही करती है, मूर्त सम्बन्धों को अमूर्तन की ओर, परिचितों को अपरिचय की ओर ले जाती है। तब यही अदम्य आकांक्षा बचती है कि कैसे इस महानगर की भीड़ के साथ एक रिश्ता, एक आत्मिक सम्बन्ध क़ायम किया जाय।

> सड़क से वही रोज़ की-सी भीड़ गुज़र रही थी। देखने को वहाँ ख़ास कुछ भी नहीं था, मैं चुपचाप नीचे देखता रहा। वह बोला, 'मैं जब भी इस खिड़की के पास आ कर खड़ा होता हूँ,

> तो मुझे न जाने कैसा लगने लगता है! मुझे लगता है मैं एक नदी के बहाव के ऊपर से देख रहा हूँ, मगर इसकी तह में एक और ही दुनिया है जिसका यहाँ से देखने पर कुछ अनुमान नहीं होता। यह बसें, ये कारें, यह भाग-भागकर सड़कें पार करते हुए लोग! इन्हें देखकर क्या यह अन्दाज़ा भी होता है कि इस हलचल की तह में इनमें से हर एक आदमी कहाँ और किस तरह की ज़िंदगी जीता है! — मैं जब भी इस भीड़ पर नज़र डालता हूँ तो इस तरह की बात सोचकर कई बार मेरा मन उदास होने लगता है।'[23]

पर भीड़ से एकात्म होने का रास्ता अकसर नहीं मिलता, वह अंततः अकेला ही रहता है, और यह अकेलापन ऐसा है जो अंततः एक अस्तित्ववादी क़िस्म के अकेलेपन की भी अनुभूति देने लगता है।

> सख़्त सर्दी है। सड़कें ठिठुरी हुई हैं और कोहरे के बादलों को चीरती हुई कारें और बसें हॉर्न बजाती हुई भाग रही हैं। सड़कों और पटरियों पर भीड़ है, पर कुहरे में लिपटा हुआ हर आदमी भटकती हुई रूह की तरह लग रहा है। वे रूहें चुपचाप धुंध के समुद्र में बढ़ती जा रही हैं।[24]

भटकती हुई रूहों की यह अजनबियत धीरे-धीरे एक अमूर्त घृणा में बदलने लगती है, और पुरानी गलियों से नई सड़कों तक फ़ासला यहाँ पर साफ़ बनता दिखाई देता है, मानो गलियों की तंग जगह से चौड़ी सड़कों का फ़र्क़ व्यक्ति का व्यक्ति के प्रति संबंध को ही पुनर्परिभाषित कर रहा हो।

> ऐक्सिडेंट पलक मारते हो गया। और ऐक्सिडेंट की ज़मीन भी पलक मारते तैयार हुई। पर मैं ग़लत कह रहा हूँ। उसकी ज़मीन मेरे मन में वर्षों से तैयार हो रही थी। हाँ, जो कुछ हुआ वह ज़रूर पलक मारते हो गया। दिल्ली में प्रत्येक मोटर चलानेवाला आदमी साइकिल चलानेवालों से नफ़रत करता है। दिल्ली के हर आदमी के मस्तिष्क में घृणा पलती रहती है। दिल्ली की सड़कों पर सारे वक़्त घृणा का व्यापार चलता रहता है। बसों में धक्के खा कर चलने वाले, भाग-भाग कर सड़कें लांघनेवाले, भोंपू बजाती मोटरों में सफ़र करने वाले सभी किसी न किसी पर चिल्लाते; गालियाँ बकते, मुड़-मुड़कर, एक-दूसरे को दाँत दिखाते जाते हैं। घृणा एक धुंध की तरह सड़कों पर तैरती रहती है।
>
> पिछले ज़माने की घृणा कितनी सरल हुआ करती थी, लगभग प्यार-जैसी सरल, क्योंकि वह घृणा किसी व्यक्ति विशेष के प्रति हुआ करती थी। पर अनजान लोगों के प्रति यह अमूर्त घृणा, मस्तिष्क से जो निकल-निकल कर सारा वक़्त वातावरण में अपना ज़हर घोलती रहती है।[25]

इन अर्थों में विलियम्स को एक बार फिर याद करना ज़रूरी लगता है,

> 'Even to oppose and reject the city, men came to the city; there was no other ready way.' (p. 275) The experience of the city is the fictional method; or the fictional method is the experience of the city.[26]

शहर के प्रति यह घृणा बिल्कुल मूर्त रूप में भी सामने आती हैं, "साँप! तुम सभ्य तो हुए नहीं — नगर में बसना भी तुम्हें नहीं आया। एक बात पूछूँ — (उत्तर दोगे?) तब कैसे सीखा डँसना-विष कहाँ पाया?"[27] शहर अब विष के मुकम्मल प्रतीक में बदल गया है।

ऐसा नहीं है कि यह भीड़ हमेशा डर या घृणा ही पैदा करती है। कई बार भीड़ की तहों से गुज़रते हुए उस भीड़ का त्रास, डरा हुआ अस्तित्व भी दिख जाता है, जो दरअसल एक हिंसक भीड़ नहीं है, बल्कि शहर की हिंसा से अभिशप्त अपने अस्तित्व की जद्दोजहद में इधर-उधर भटकती भीड़ है, पर जिसके लिए मात्र शहर की सड़कों तक ही रास्ते खुले हैं:

> यहाँ पँचकुइयाँ से शीला सिनेमा तक
> थूक ही थूक है रात के दस बजे
> भीड़ अब नहीं है/वे सब कहाँ गए,

बीमार फेफड़े, हाँफते लपकते हुए
फेंककर गए हैं जो दिल्ली के हाज़िरी खाते में दस्तख़त
ज़रा-ज़रा दूर पर।
—
खड़ी रेल गाड़ी में आलीशान सन्नाटा
धुले-पुँछे डब्बे हैं, सूखे, कीचड़ नहीं
हर सीट रिज़रफ़ है, गिने-चुने असबाब
सुन्दर सलोतर हैं।
—
पूछो, सवाल है लोग कहाँ लोप हो गए हैं?
हसन से हाँककर उन्हें कहाँ तुमने बन्द कर दिया?
जीवन से जूझते फेफड़ों के सबूत
जिनके दिखे थे अभी
यहाँ आते हुए?[28]

एक ओर दिन के तमाम धुंध में छिपे सत्य को पहचानने की खोज में रात लगातार एक शरणस्थली बनकर आती है, तो दूसरी ओर वही उस दिन की भीड़ के बरक्स व्यक्ति को उसके एकांत में और ठोस रूप में खड़ा करती है। बलराज मेनरा की उर्दू कहानी *'वह'* का पात्र सिगरेट सुलगाने के लिए माचिस की तलाश में आधी रात को भटकता अजनबी सिर्फ़ दूसरों के लिए ही नहीं है, बल्कि ख़ुद के लिए भी है। उसे रात को बेचैनी सड़क पर निकाल लाती है पर उसका सामना उसके जैसे ही अजनबियों से होता है जो उसी की तरह माचिस की तलाश में भटक रहे हैं।[29] रात का अकेलापन दिन की भीड़ से बचकर शहर में व्यक्ति के दुःख को पहचानने का अवसर देता दिखता है। पर क्या यह संभव है?

मेरे नए जूते का लचकीला तला
रात अँधेरी सड़क पे देर तक मैं चला
कोई तीन बजे होंगे तब बिना थके
लौट आया घर, सात बजे का था निकला
कोई भेद शाम का न रात में मगर मिला
किसी दर्द से न जुड़ा इस दुःख का सिलसिला
ख़ैर, ग़नीमत हुई कि वहीं शहर के शहर
घूम करके रह गया व, रास्ते का फ़ासिला[30]

एक ओर तो इस दर्द को समझने और उससे जुड़ने की प्रक्रिया में लेखक फिर नई दिल्ली से पुरानी दिल्ली की ओर मुँह मोड़ता है, जहाँ का इतिहास, जिसकी बीत चुकी सामुदायिक स्मृति में गोकि उसका कोई साझा नहीं है, फिर भी वो उसकी तरफ़ मुड़ने को बाध्य है। नई राजधानी, नई दिल्ली उसे हमेशा एक राजधानी की ही पहचान में जकड़कर रखेगी, आधुनिकता का रोमांस भी अब पीछे छूट गया है,

अपने-अपने क़स्बों का नाम लेकर वे लखनऊ का नाम लेते हैं
जहाँ वे नौकरी करने आए थे
जैसे वहीं पैदा हुए हों
क्योंकि वह किसी क़दर आधुनिक बनना है
और फिर दिल्ली उन्हें समेटकर अथाह में आधुनिक होने की फ़िक्र मिटा देती है।[31]

पर यहीं दिल्ली में अगर पलायनवादी (escapism) का रास्ता है, बचाव का रास्ता है तो यहीं की पुरानी

स्मृतियों में, "फ़िलिप्स फ़ॉर लाईट ऐण्ड म्यूज़िक" – आसफ़ अली रोड पर बना नियॉनसाइन एक नज़र पुरानी और एक नज़र नयी दिल्ली की तरफ़ देख लेता है...।

फ़िलिप्स वाली आँख से उसे तुर्कमान गेट के अन्दर सड़क पर बिछी चारपाइयाँ नज़र आती हैं और लाइट ऐण्ड म्यूज़िक वाली आँख से मिण्टो ब्रिज के उस पार की जगमगाहट जिसके सामने उसे अपना-आप फीका लगने लगता है। उसकी एक आँख हमदर्दी से उदास हो जाती है, दूसरी हीन-भावना से।"[32] रात इस दुःख की तीव्रता और गहराई को और तीखा करती है। यह अकारण नहीं कि *अंधेरे बंद कमरे* का कथावाचक, अंततः कनॉट प्लेस से बारहटूटी, कस्साबपुरा की ओर का रुख़ करता है।

पर यह विकल्प सभी को उपलब्ध नहीं है, महानगर में एक ओर तो यही नियति है, एक atomised, विखंडित व्यक्तित्व के रूप में भटकते रहने की। ऐसे में कुछ इसी भीड़ के भीतर अपनी अजनबियत को खोने की कोशिश शुरू करते हैं, एक montage, एक snap shot के माध्यम से उसी भीड़ में मानवीयता की तलाश को बाध्यः

> बच्चा गोद में लिए
> चलती बस में
> चढ़ती स्त्री
> और मुझमें कुछ दूर तक घिसटता जाता हुआ।[33]

या फिर, वह निरन्तर फैलते शहर में, जो बक़ौल रघुवीर सहाय अब एक 'सामुदायिक जीवन के अनुकूल' नहीं रहा बल्कि 'ख़ानों में' बँटने के लिए अभिशप्त है, अब एक नए सिरे से प्रकृति की पहचान के रूप में अपनी पहचान कर रहा है। आदमी की बुनियादी मानवीय भावनाओं को पुनर्परिभाषित कर रहा है।

> जैसे बहन 'दा' कहती हैं, ऐसे किसी बँगले के किसी तरु (अशोक?)
> पर कोई चिड़िया कुऊकी
> उँचे तरुवर से गिरे, बड़े-बड़े पियराए पत्ते,
> कोई छः बजे सुबह जैसे गरम पानी से नहाई हो
> खिली हुई हवा आई, फिरकी सी आई, चली गई।
> ऐसे, फुटपाथ पर चलते चलते चलते
> कल मैंने जाना कि वसन्त आया।[34]

संदर्भ

1. रेमण्ड विलियम्स, *द कंट्री ऐण्ड द सिटी* लंदन, 1975, पृ. 18.
2. रेमण्ड चैण्डलर, *द लिटिल सिस्टर*, पैन बुक्स, लंदन, 1979, पृ. 140.
3. महेश्वर दयाल, *दिल्ली जो एक शहर है*, हिन्दी अकादमी, दिल्ली, 1991, पृ. 127.
4. ग़ालिब के पत्र, संपा. अर्श मल्सियानी, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 1999, मीर मेहंदी हुसैन मजरूह के नाम लिखा पत्र, ता. 23 मई, 1861 ई.
5. द लिटिल सिस्टर, पृ. 140.
6. द लिटिल सिस्टर, पृ. 127.
7. मीर मेंहदी हुसैन मजरूह को 2 दिसम्बर, 1859 को लिखा पत्र, पूर्वोक्त, पृ. 82.
8. स्टीफ़ेन पी. ब्लेक, *शाहजहाँबाद*, सीयूपी, 1991 पृ. 130.
9. नामवर सिंह, भूमिका, *दिल्ली जो एक शहर है* उपरोक्त.
10. रघुवीर सहाय, *दिल्ली मेरा परदेस*, भूमिका, मैकमिलन, दिल्ली, 1976.
11. नामवर सिंह, भूमिका, *दिल्ली जो एक शहर है*, उपरोक्त.
12. रघुवीर सहाय, उपरोक्त.
13. मीर मेंहदी हुसैन मजरूह के नाम लिखा पत्र, 1861 ई., उपरोक्त.

14. नदीम सहबाई, *देहली का ठग*, अनुवाद पं. जयकृष्णदास शर्मा, दिल्ली, 1933.
15. यशपाल, *झूठा सच, भाग - 2: देश का भविष्य*, पृ. 112.
16. कृष्णा सोबती, 'दिल्लीः नई-पुरानी', *सोबती एक सोहबत*, राजकमल, 1989 (1999) दिल्ली, पृ. 334-5.
17. मोहन राकेश, 'राजेन्द्र यादव पर', *मेरा हमदम मेरा दोस्त* (संपा. कमलेश्वर) किताबघर, नई दिल्ली, 1997.
18. मोहन राकेश, *अंधेरे बंद कमरे*, राजकमल प्रकाशन, 1961, पेपरबैक संस्करण, 1996.
19. वही, पृ. 252.
20. राजेंद्र यादव, 'पुराने नाले पर नया फ़्लैट', *यहाँ तक : राजेन्द्र यादव की कहानियाँ, पड़ाव-2*, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1990, पृ. 470-71.
21. कमलेश्वर, *खोयी हुई दिशाएँ, नई दिल्ली - 1963, समग्र कहानियाँ*, राजकमल, 2001, पृ. 368.
22. *अँधेरे बंद कमरे*, पृ. 266.
23. वही, पृ. 248.
24. कमलेश्वर, *दिल्ली में एक मौत*, पृ. 384.
25. भीष्म साहनी, 'त्रास', *प्रतिनिधि कहानियाँ*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 1989, पृ. 129-38.
26. विलियम्स, *द कंट्री ऐण्ड द सिटी*, पृ. 191.
27. *अज्ञेय संचयिता*, संपा. - नंदकिशोर आचार्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2002, पृ. 70.
28. रघुवीर सहाय, 'कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ', *रघुवीर सहाय संचयिता*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 2003, पृ. 148-49.
29. बलराज मेनरा, *'वह'*, *वसुधा*, अक्टूबर-दिसम्बर, 2001, भोपाल, पृ. 130-35.
30. रघुवीर सहाय, *'सीढ़ियों पर धूप में'*, पृ. 151-52.
31. रघुवीर सहाय, उपरोक्त, पृ. 91 *'लोग भूल गए हैं'* से.
32. मोहन राकेश, *दिल्ली : रात की बाँहों में*, परिवेश, भारतीय ज्ञानपीठ, 1967, पृ. 62-63.
33. रघुवीर सहाय, *आत्महत्या के विरुद्ध*, पृ. 65-66.
34. रघुवीर सहाय, *वसन्त आया*, पृ. 61.

यह जो पटना था

अमिताभ कुमार

लड़कपन में मैं जब पटना में रहता था तब इस शहर को मैं नापसंद करता था, लेकिन ख़ुद से शायद और ज़्यादा नफ़रत करता था। यह घृणा उस समय कम हुई, जब उम्र के बढ़ने के साथ मुझे शब्द मिलने लगे और मैंने लिखना शुरू किया। मैंने ख़ुद को, और पटना शहर को, दो भिन्न हस्तियों के रूप में देखना शुरू कर दिया। किन्तु मैंने यह भी जाना कि कैसे दोनों हस्तियाँ एक न होकर भी हमेशा से ही बहुत क़रीब रही थीं।

पटने में ही मेरी मसें भीगने लगी थीं — किशोरावस्था ने न सिर्फ़ मेरी आवाज़ को प्रभावित किया बल्कि दुनिया को देखने के मेरे नज़रिए को भी बदला। एक दफ़ा मुझसे एक या दो साल बड़े लड़के ने जब स्कूल के अहाते में मेरी बड़ी बहन पर कामुक फ़िकरा कस दिया था तो मैं दंग रह गया। मैं ग़ुस्से से पागल हो गया। सब मानते थे कि मेरी बड़ी बहन बहुत सुन्दर थी। मैं ख़ुद क़ायल था। पर चुप रहा। हो सकता है कि मैं उस बड़े लड़के से डर गया था, लेकिन मेरे अन्दर व्याप्त क्रोध और कामना ने मुझे दुविधा में डाल दिया था। उस लड़के की जिस बात पर मुझे कोफ़्त हुई, वह तो पटना का चालू आचरण था। लड़के में कोई ऐसी ख़ास बात नहीं थी। वह लड़का और मैं, दोनों एक ही शहर के निवासी थे — फिर हमारे आचरण में इतनी भिन्नता कैसे? सच के इस एहसास ने मुझे तन्हा कर दिया।

ग्यारह वर्ष का हूँगा, जब एक दिन अपनी माँ के लिए 'केयरफ्री सैनिटरी नैपकिन्स' ख़रीदने के लिए स्टेशन रोड स्थित एक दवाई की दुकान में घुसा। काउन्टर के पीछे खड़े आदमी ने अपने बग़ल के स्टूल पर बैठे दो आदमियों से कुछ कहा। सब हँस पड़े। वे कह क्या रहे थे? मैं अपनी माँ से दुःखी था, क्योंकि उसने मुझे ऐसे-वैसे काम के लिए भेजा था। पटना में जवान होने के साथ मुझे यह भी समझ में आ रहा था कि अपने परिवार की उन सभी औरतों से एक दूरी बरतनी चाहिए, जिन्हें मैं सबसे ज़्यादा प्यार करता था।

एक तरह से, मुझ पर ऐसी सोच पटना ने ही थोपी। मेरी बहनें अपनी सहेलियों के घर जाने या सिनेमा देखने के लिए रिक्शे लिया करती थीं। मुझसे अपनी साइकिल पर उनके साथ जाने के लिए कहा जाता था। सड़क पर चलने वाले लोग हमेशा उन्हें छेड़ा करते थे। मेरे विचार में, पटना की हरेक सड़क एक नित्य कटाक्ष थी। एक बार, भीड़ भरी बोरिंग केनाल सड़क पर एक दुकान के बाहर एक युवक ने पान चबाते हुए कहा, "देखो, देखो, रेड रोज"। उन्हीं दिनों 'रेड रोज़' नाम की एक फ़िल्म रिलीज़ हुई थी। वर्षों बाद जब मैं दिल्ली के अपने कॉलेज में दोस्तों का दिल बहलाने के लिए जो 'बिहारी' बातें किया करता था, उसमें मैंने इस जुमले को शुमार कर लिया। मैंने अपनी बहनों की चर्चा उसमें कभी नहीं की। मुझे साइकिल के अपने दौरे बड़े अपमानजनक लगते थे। हालाँकि बहनें इन बातों को लेकर ज़्यादा शांत और निर्लिप्त रहा करती थीं। मैंने उनके साथ जाने से मना तो कर दिया, लेकिन मैंने पाया कि घर पर जब भी मैं उनसे लड़ता था, तो वही बातें दोहराता था जो सड़कों पर अजनबियों से उनके बारे में सुना करता था। इस अनुभव ने मुझे घर और बाहर की पहली खंडित चेतना प्रदान की।

एक-दो सालों में, मैं स्वयं दूसरे लड़कों की बहनों पर जुमले कसने में माहिर हो गया। मुझे अपना आहत लड़कपन याद था, इसलिए मैं ध्यान रखता था कि वो लड़कियाँ जिन्हें मैं अपमानित कर रहा था, उनके भाई

कभी भी मेरे शब्द न सुन पाएँ। लेकिन इसके अलावा कोई और बंधन नहीं थे। मैंने कक्षाओं में भौतिकी, भूगोल और जीव विज्ञान के बारे में जो भी पढ़ा था, उसका प्रयोग शरीरों के अपने वर्णन और व्यवहारों में करने लगा जबकि हक़ीक़तन मैं उनके बारे में बिल्कुल अनभिज्ञ था। हिन्दुस्तानी स्कूली लड़के की आमतौर पर दमित यौन कामना का बुख़ार अक्षांश-देशांतरों, तनावों-उभारों, और पसीने से लथपथ सेक्शुअॅलिटी की सेडवादी फ़ंतासी के रूप में तपने लगा।

इन बातों से मेरे ग़ुस्से और उलझन को कम करने में कोई मदद नहीं मिली। ज़िन्दगी की अपनी सड़कें थीं जिन पर मैं चलता गया। न पढ़ता, न लिखता, न ही मेरा कोई रूहानी अस्तित्व था; न ही कोई अंतर्मन। मेरी बड़ी बहन ने एक डायरी लिखनी शुरू की थी। लेकिन, मेरे जीवन में ऐसा कुछ नहीं था जिसे मुझे किसी काग़ज़ पर उतारने की आवश्यकता महसूस हुई हो।

मेरी अराजक किशोरावस्था के शुरुआती कुछ वर्षों में मैं कुछ लिखना चाहता था, और कुछ तस्वीरें बनानी चाही थीं। जब हम नाव द्वारा गंगा नदी पार कर अपने पैतृक गाँव जाते थे, मैं उन दृश्यों को बड़े ग़ौर से देखा करता था, जिनकी तस्वीरें बनाना चाहता था। मुझे बालू का एक हिस्सा और बाँस के खम्भे पर एक छोटा लाल झंडा याद है। दोपहरी में कभी-कभी मैं पानी के समीप लम्बे बगुलों की आकृतियों की तस्वीरें बनाना चाहता था। मैं बहुत सफल नहीं रहा। एक शनिवार के दिन चित्रकारी प्रतियोगिता के बाद मेरे कला शिक्षक ने कहा कि उन्होंने मुझे तीसरा पुरस्कार देने की भरसक कोशिश की थी। उन्होंने अनचाहे तौर पर सर हिलाते हुए अपना वाक्य अधूरा छोड़ दिया और मुझे वे पतले वृक्ष और पर्वत की चोटियाँ याद आ गयीं, जो मैंने कई मौक़ों पर उनके लिए चित्रित की थीं। चूँकि हमारा विद्यालय पानी के पास था, अपनी कक्षा की खिड़की से देखने पर गंगा मुझे उतनी सुंदर नहीं लगती थी। पानी में बहते हुए शवों पर कौवे चोंच मारते नज़र आते थे। मैं अपनी स्कूल पत्रिका के लिए भी लिखना चाहता था। एक रिश्तेदार के घर पर 'रीडर्स डाइजेस्ट' की कुछ पुरानी प्रतियाँ पढ़ी थीं और वैसे ही चुटकुले लिखने की कोशिश भी की, परन्तु उसे भी त्यागना पड़ा। ये चुटकुले सामान्य पाठकों के भेजे हुए होते, लेकिन मेरे इर्द-गिर्द तो कुछ भी ऐसा नहीं हो रहा था जिससे हँसी आए।

मैंने कहानी लिखने का प्रयास किया, लेकिन यह भी आधा-अधूरा रहा। और दो-एक साल के अंदर तो सब अर्थहीन हो गया। पटना के शेष लोगों की तरह हमने भी लड़कियाँ ढूँढ ली थीं। न तो मैं और न ही मेरा कोई दोस्त किसी लड़की को जानते थे। लेकिन लड़कियाँ हमेशा हमारे ख़यालों पर क़ाबिज़ रहती थीं। हम अपनी साइकिलों पर दीवानों की तरह लड़कियों के स्कूल के पास से निकला करते थे, लेकिन मैं अपने आस-पास घूमती लाल स्कर्ट पहनी उन आकृतियों को देखने की हिम्मत नहीं जुटा पाता था। उन लड़कियों में मेरी बहनें भी थीं और मैं आशा करता रहता था कि वे मुझे आवाज़ देंगी। हम लोग 'वीणा' सिनेमा हॉल के रविवार के सुबह ग्यारह बजे वाले शो का भी चक्कर लगाया करते थे। हमने अपने माता-पिता से कह रखा था कि हम लोग अपनी अंग्रेज़ी सुधारने के लिए हॉलीवुड की पुरानी फ़िल्में देख रहे हैं। दर्शकों में बहुत कम ही इस भाषा को समझते या बोलते थे। हम सभी वहाँ एक ही चीज़ के लिए होते थे — नारी के मांसल शरीर के किसी भी संकेत को पाने के लिए। जब भी पर्दे पर सेक्सनुमा कोई भी दृश्य होता था, पूरा थियेटर ज़ोरदार सीटियों की आवाज़ से गूँज पड़ता। ये सीटियाँ एक पल बाद और तेज़ होती, क्योंकि तब तक सेंसर की कैंची चल चुकी होती थी और बाक़ी का दृश्य अदृश्य हो जाता था। जीवन एक ऐसे अंतहीन चक्र में फँसा हुआ प्रतीत होता था जो सस्ती उत्तेजना की आशा करता था, किन्तु निश्चित तौर पर अंततः हताशा ही हाथ लगती थी।

II

पटना के हमसे बड़े युवा भी हताशा के जिस दुष्चक्र में फँसे थे, उसमें यौन-वंचना का एक ज़रूरी पुट था। लेकिन उनकी हताशा के अनुभव, जीवन की क्षीण आशाओं के कारण ज़्यादा पेचीदे होते थे। कॉलेज अकसर ही बन्द कर दिए जाते थे। बेरोज़गारी बहुत अधिक थी और भ्रष्टाचार बेलगाम। मेरे ग्यारहवें जन्मदिन के एक दिन बाद उनकी यह हताशा कॉङ्ग्रेसी मुख्यमंत्री अब्दुल गफ़ूर की लड़खड़ाती सरकार के विरुद्ध प्रदर्शन के रूप में उतर आई।

तारीख़ थी 18 मार्च 1974। पटना में छात्रों के एक जुलूस पर पुलिस ने गोली चलाई जिसमें बहुत सारे प्रदर्शनकारी मारे गए। शीघ्र ही कर्फ़्यू लगा दिया गया। मेरे कुछ रिश्तेदार — चचेरे भाई-बहन व उनके पति-पत्नी जो कि पिछली रात आयोजित एक पार्टी में शामिल होने क़रीब के एक शहर से आए थे, उनके लिए अपने-अपने घरों को लौटना मुश्किल हो गया।

पार्टी लम्बी हो चली। हम घर की छत पर खड़े होकर अंताक्षरी खेलने लगे। हमारे समूह में दूर के रिश्ते की एक युवती थी, जो अद्‌भुत गायिका भी थी। वह भूरी आँखों वाली सुन्दर युवती थी और उसके बाल उसके ललाट पर जिस अंदाज़ से बिखरे हुए थे, वह मुम्बई की मशहूर फ़िल्म अभिनेत्रियों ने लोकप्रिय बनाए थे। जब यह युवती पुरानी हिन्दी फ़िल्मों के गाने गा रही थी, हम दूर बने उन भवनों से उठता धुआँ देख पा रहे थे जिन्हें जला दिया गया था।

उस दिन शुरू हुए छात्रों के उस विद्रोह ने बिहार में सरकार गिरा दी और उसके अगले साल इन्दिरा गांधी द्वारा लगाए आपातकालीन शासन का भी सामना किया। इस आंदोलन के समय जो नेता उभरे — वृद्ध और बीमार जयप्रकाश नारायण और लालू प्रसाद यादव नाम का एक नया छात्र नेता — ये वो नेता थे जो आने वाले समय में भारत की राजनीतिक तक़दीर बदलने वाले थे। मेरी ननिहाल के फैले, बड़े परिवार में मेरे ममेरे भाई अभी तक निष्क्रिय और कैम्पस जीवन से असंपृक्त रहे थे। उनमें से एक ने, कुछ महीने पहले कीटनाशक दवा खा ली थी और आलू से भरे बोरे पर मरने के लिए लेट गया था। वही भाई अब जयप्रकाश (जेपी) का अनुचर बन आंदोलन से जुड़ गया था। दूसरे भाइयों ने भी गिरफ़्तारियाँ दी थीं।

पटना के गांधी मैदान में विशाल जनसमूह एकत्र होने लगे। बिहार के बाक़ी हिस्सों में भी छात्रों ने विद्रोह कर दिए थे। शुरू में विद्रोह को दबाने की कोशिश नहीं की गयी। फिर, दूसरे उपद्रवों के कारण, केन्द्र में इन्दिरा गांधी की सरकार अचानक ख़तरे में पड़ गयी। नतीजतन, उन्होंने आपातकालीन शासन लागू कर दियाः मौलिक अधिकार निलम्बित कर दिए गए और बहुत से लोकप्रिय हो गए नेताओं को जेल में डाल दिया गया था।

पटना जेल के अधीक्षक मेरे मामा थे। उनका घर जेल की दीवारों के बाहर था, जिसके सामने सुजाता भोजनालय था, जिसे पिछले साल छात्र दंगों के दौरान जला दिया गया था। जब मैं मामा के यहाँ खाने जाता था, तब मामा से जेल में बन्दी बनाए गए नेताओं के बारे में सुनता था। मुझे मामा के यहाँ रात के भोजन में मुर्ग़ा मिलता था। मेरे लिए आपातकाल का कोई अर्थ नहीं था। लोग ट्रेनों के सही समय पर चलने की बात करते थे। पटना के परिदृश्य में बदलाव दिखने लगा। अचानक सड़कों पर नए इश्तहार उभर आए, जिनमें ऐसे नारे होते थे जो सुनहरे कल की ओर हमारे प्रस्थान की बात करते थे। हमारे स्कूल के पेशाबघर ने भी इन्दिरा गांधी से एक नारा उधार ले लिया था। जिस दीवार की ओर मुँह कर हम पेशाब करते थे उस पर किसी ने पेन्सिल से लिख दिया था — "आपका भविष्य आपके हाथ में है"। इस तरह राजनीति ने हमारे युवा जगत में प्रवेश किया — मर्दाना जननांग की शक्ल में। ऐसा शायद हमारी युवावस्था के कारण था, लेकिन पटना ने इसे और आसान बना दिया।

सत्तर का दशक पटना में हममें से ज़्यादातर लोगों तक अपनी आधी उम्र गुज़ार कर पहुँचा। जहाँ तक मुझे याद है, आपातकाल ने हमारे ज़माने की उधार की संस्कृति में कोई बुनियादी फेरबदल नहीं किए। हम बेल-बॉटम पहनते थे और हमने अपने बाल बढ़ाए हुए थे। पटना में *ट्रायसेल* नाम की किताबों की एक दुकान थी — पटना कॉलेज के समीप हिन्दी की किताबों के लिए काफ़ी अच्छी दुकानें थी, लेकिन अंग्रेज़ी की किताबों के लिए सिर्फ़ एक ही दुकान थी, जो नए मूड के मुताबिक़ 'स्टिकर' बेचती थी। मैंने जो स्टिकर ख़रीदा था उसमें LOVE को बड़े ही बिंदास और भड़कीले रंगों से सजाया गया था। मैंने किताबें नहीं ख़रीदी।

जब मैं अपने बीते वर्षों को देखता हूँ तो अपने जीवन में साहित्य संबंधी बातों को बिल्कुल नदारद पा कर अचरज में पड़ जाता हूँ। एक ख़बर याद आती है, जिसमें पटना में स्थानीय और प्रख्यात हिन्दी लेखक फणीश्वरनाथ रेणु ने लाठी भाँजते पुलिसकर्मियों से जेपी को बचाने के लिए अपना हाथ उठाया था। उसके तुरंत बाद रेणु को बन्दी बना लिया गया था। रेणु के कथा साहित्य से मेरा परिचय दो दशक बाद जा कर हुआ। और कोई एक दशक पहले राजकपूर-वहीदा रहमान अभिनीत 'तीसरी क़सम' देखी होगी, जो रेणु की ही कहानी पर



आधारित थी। तब तक मैं पटना छोड़ चुका था और रेणु की मौत हो चुकी थी। लेकिन वापस सत्तर के दशक में जब पटना में मैंने पहली बार समाचार में रेणु के बारे में सुना था, तब तक उनका लिखा कुछ भी नहीं पढ़ा था। किसी हिन्दी साप्ताहिक में लेखक के विरोध की ख़बर मेरे लिए ज़्यादा मायने नहीं रखती थी। मेरे दिमाग़ में जो बात रह गयी थी वह यह कि रेणु के लम्बे व घुँघराले बाल जेल में कैसे रूखे और बेतरतीब थे। लेखक को अपनी कोठरी में तेल भी मयस्सर नहीं था।

मेरे जीवन में अगर किंचित सौंदर्यबोध का एहसास था भी तो वह स्कूल में आयोजित होने वाली वाक्-प्रतियोगिता की शक्ल में था। अपने स्कूल के आख़िरी सालों में प्रतियोगिता में लॉर्ड टेनीसन की *द चार्ज ऑफ़ द लाईट ब्रिग्रेड* जितनी बार सुना होगा, उतना शायद पढ़ा नहीं होगा। कार्यक्रम के हिंदी संस्करण में सबसे लोकप्रिय कविता थी रामधारी सिंह दिनकर की अंधराष्ट्रभक्ति से ओत-प्रोत *समर शेष* है। मैंने बेहद जोशोख़रोश से उसका पाठ कर इनाम जीता था। यह कविता वस्तुतः नेहरू के शांतिवाद की आलोचना थी, लेकिन मुझे ये सब कहाँ पता था। दिनकर की मौत को कुछ साल हुए थे और वह हमारे ही शहर के थे। लेकिन मेरे लिए इस बात की भी ज़्यादा अहमियत नहीं थी। उनका घर महज़ एक मकान था, जिसके बाद दाएँ मुड़कर मैं अपने दाँत के डॉक्टर के पास जाता था। यह कवि जिनकी कविता का मैने स्कूल के सभाभवन में पाठ किया था, उसके कुछ साल पहले ही मर चुके थे और उसी शहर में रहते थे, जिसमें मैं रहता था। दिनकर स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी लेखन के दिग्गजों मे एक थे। लेकिन मेरे लिए इसका भी कोई अर्थ नहीं था। उनका घर सिर्फ़ वह घर था, जो सड़क पर उस चिन्ह की तरह था, जहाँ से मुझे दंत विशेषज्ञ के यहाँ जाने के लिए दाहिने मुड़ना पड़ता था।

III

जिस डॉक्टर ने मेरे दाँतों में 'तार' लगाए थे, उसके हाथों से हमेशा साबुन की गंध आती थी। हम जब भी उसके क्लीनिक पर होते थे, वह मेरी माँ से कहता कि मेरे शक्लोसूरत में निखार आने से जो दहेज मिलेगा उसका एक हिस्सा उसे चाहिए। दाँतों का डॉक्टर थोड़ा लद्धड़ था, लेकिन हमारी जाति का होने के कारण हमें पसंद था। पटना में जाति महत्वपूर्ण थी। बाद में, मेरी बहन की जिस परिवार में शादी हुई, वह इस डॉक्टर से जुड़ा हुआ था और इस तरह वह हमारा भी संबंधी बन गया।

पटना में बीते मेरे सालों की यादें शादी की बातों से भरी हुई हैं। हर गर्मी में एक-न-एक चचेरी बहन की शादी होती थी। मैं दहेज-संबंधी सौदे के नाटक देखा करता था। फिर, दहेज का वह हिस्सा जो नक़द में देना होता था, भावी वर के यहाँ ले जाने से पहले मेरे माता-पिता के यहाँ लाया जाता था। मुझे वो दोपहर याद है जब पैसे सस्ते ब्रीफ़केस में या सूटकेस में छिपाए गए रूमालों में लपेट कर लाए जाते थे। एक बार मैंने नोट छुए थे, जो मुझे हल्के गीले मालूम पड़े थे।

हालाँकि लड़कियों के बारे में मैं बहुत सोचा करता था, लेकिन किसी वजह से पटना में शादी के इस जुनून के बावजूद मेरे अंदर सेक्स के प्रति कोई भाव नहीं जगा। सेक्स का घर से कोई मतलब नहीं था, इसका संबंध सड़कों से था। और यह सार्वजनिक था — कटाक्ष था, अपमान था। एक सुबह, जब मैं स्कूल जा रहा था, मैंने अपने घर के गेट पर एक भीड़ जमा देखी। मेरी माँ ने, जो मुझे बाल्कनी से देख रही थी, चीख़कर मुझे देखने से मना कर दिया। यह भीड़ कुत्तों के एक जोड़े के इर्द-गिर्द जमा थी। ये कुत्ते मैथुन कर रहे थे, या कि कहना चाहिए कुत्तों ने मैथुन कर लिया था, और अब अलग होने में असमर्थ थे। यह देखने के लिए एक पूरा मजमा लग गया था। जल्द ही, मैंने दूर से ही ऐसी भीड़ को पहचानना सीख लिया। यह भीड़ उद्विग्न और चिड़चिड़ी होती थी। हमारे तप्त चेहरे थियेटर में बैठने वालों की तरह दिखते होंगे, सिवाय इसके कि हममें अधीरता ज़्यादा थी। लड़के और मर्द इन मैथुन करते कुत्तों के चारों ओर तब तक खड़े रहते थे जब तक कि कोई आदमी अचानक आ कर छड़ी कोंचकर उन जानवरों को अलग न कर दे। कोई पत्थर मार देता, या फिर थूक देता था। मैं विरक्ति और उत्तेजना से भर जाता।

शादी का सेक्स से बहुत ज़्यादा नाता नहीं था। इसका नाता पैसों से था। दहेज के लिए कभी भी पर्याप्त पैसे नहीं होते थे। यह हमारे अपमान के लिए काफ़ी था, लेकिन यह उतनी भड़काने वाली बात नहीं थी, क्योंकि

लड़की वालों से झुके रहने की उम्मीद की ही जाती थी। हमारे परिवार में चचेरे भाइयों से कहीं ज़्यादा बहनें थीं। कई देखने में अच्छी नहीं थीं। और ज़्यादा पढ़ी-लिखी तो कोई नहीं। लड़के भी प्रतिभाहीन थे। लेकिन उनके संदर्भ में शादी की बात कम और नौकरियों की ज़्यादा होती थी। पटना में क्लर्क की नौकरियों के अलावा बहुत कम नौकरियाँ थीं। मेरे भाई हर साल लोक सेवा आयोग की परीक्षाएँ देते थे, लेकिन किसी का कहीं होता नहीं था। जहाँ तक चचेरी बहनों का सवाल था, उनकी दूसरी समस्याएँ भी थीं। मुझसे बड़ी एक बहन, हर रात बिस्तर गीला कर देती थी। मेरी माँ उसे डॉक्टरों के यहाँ ले जाती थी। यह सवाल मैं ख़ुद से अकसर करता था — क्या वह शादी के बाद भी बिस्तर गीला करेगी? यह बहन रबड़ के गद्दे पर सोती थी। मैं उसकी शादी की सेज पर रबड़ के हरे गद्दे की कल्पना करता था। मेरी दूर के रिश्ते की एक बहन थी जिसका एक पाँव ख़राब था। जितनी बार यह युवती हमारे घर से जाती थी, मेरी माँ लम्बी साँस लेकर कहती थी, "इससे कौन शादी करेगा?" बहुत सालों बाद, अमेरिका के एक शहर के एक थियेटर में टेनेसी विलियम का नाटक 'अ ग्लास मेनाज़री' देखते वक़्त मैं पटना की अपनी इस रिश्तेदार के बारे में सोचने लगा। स्टेज पर एक बेहद दु:खी, आसरत व लंगड़ा कर चलने वाली औरत थी, जो अपने ऐसे जीवन साथी के इंतज़ार में थी जो शायद कभी नहीं आए, और आए भी तो अपना मतलब निकल जाने और दया का स्रोत सूख जाने के बाद चला जाएगा। उस महिला में मुझे अपनी उसी रिश्तेदार बहन का अक्स दिखा, जिससे मेरा संपर्क अब टूट चुका था। मुझे नहीं पता, मेरा ख़ुद का तादात्म्य उस औरत से ज़्यादा था या उस मर्द से।

अपने जीवन के इस समय के लिए मेरे पास एक तस्वीर है। मैं भारत में एक ट्रेन से सफ़र करता हुआ अंधेरे में एक घर के पास से गुज़रता हूँ, जिसमें खुली खिड़की से एक जलता हुआ निस्तेज बल्ब देखता हूँ। यह एक क्षणिक झलक होती है, लेकिन मेरे दिमाग़ में पटना और मेरे बहुत सारे रिश्तेदारों की ज़िंदगी की याद वापस लाने के लिए काफ़ी है। मुझे लगता है कि मेरा अपने इर्द-गिर्द के लोगों के दु:ख को जानना गहरा और सच्चा था। इससे स्वाभाविक तौर पर एक करुणा उपजती थी; वैसे ही उदासी के प्रति मेरे मन में एक रूमानी झुकाव था। मैं उस व्यक्ति की तरह होना चाहता था जो उस अंधेरे घर के पास से गुज़रता है, जहाँ एक अकेला बल्ब टिमटिमाता है। लेकिन हक़ीक़त में तो मैं अभी भी पटने में रह रहा था। उस शहर में मैं फँसा हुआ महसूस करता था और मुझे यक़ीन था कि मैं एक बड़े कुनबे के छिछले संघर्षों में उलझ कर रह गया था। उसने मुझमें एक मायूस मजबूरी का भाव भर दिया। न तो मैं लेखक बन पाया, न ही इश्क़ कर पाया। कुछ नहीं होने का अहसास था। आत्मदैन्य की अवस्था में मुझे लगने लगा कि इसकी जड़ें कहीं न कहीं उस जगह में भी थीं जहाँ मैं रह रहा था।

पटना में मेरी बड़ी बहन की शादी वह अंतिम शादी थी जिसमें मैं शामिल हुआ। तब तक मैं दिल्ली के एक कॉलेज में था। दिल्ली में रहते हुए मुझे अपने लेखक होने का धुंधला-सा गुमान हो चला था। मुझमें महत्वपूर्ण बौद्धिक बदलाव आ गया था। मैंने पढ़ना शुरू कर दिया था। यह तो याद नहीं कि ऐसा क्यों हुआ, लेकिन यह शायद इसलिए हुआ, क्योंकि मैंने निर्णय ले लिया था कि मुझे दिल्ली में बेहतर अंग्रेज़ी की ज़रूरत थी। मैं अभी भी झोंक में पढ़ता था, लेकिन किताबों की दुनिया में घुसने से दुनिया को नए ढंग से देखने लगा था।

दरियागंज में डीटीसी की बस में बैठे-बैठे मेरे सर में गूँजती एक आवाज़ सड़क पर बिकने वाली चीज़ों, उनके रंग और बेचने वालों की आँखों की दृष्टि का वर्णन कर जाती थी। मैं अपने आस-पास की दुनिया को निरख कर, अपने विचारों को वाक्यों में गूँथ रहा था। शब्द मेरी दुनिया को वह निहायत ज़रूरी आकार देते थे। मैं अभी तक उस दुविधा से बाहर नहीं हो पाया था, जिसे मैंने पटना में महसूस किया था। लेकिन भाषा अभी तक की मेरी अनिर्वचनीय भावनाओं को संज्ञा देने का मौक़ा दे रही थी।

मैंने कुछ कविताएँ और दो-एक कहानियाँ लिखी थीं, थोड़ी पत्रकारिता भी की थी। जब मैं अपनी कक्षाओं में बोर हो जाता था, यानी कि जब अर्थशास्त्र के शिक्षक मक्खन और बंदूक़ ख़रीदने के सापेक्षिक गुणों पर बोर करते थे तो मैं कविताएँ लिखता था। इन कविताओं में एक पराभौतिक तड़प थी, ये मेरी दमित काम-इच्छाओं के उदात्त प्रमाण थीं। लेकिन मेरी कहानियों या अख़बारी लेखन में दीगर तरह का ज्ञान फूट रहा था। मैं पटना छोड़ चुका था। अब मैं कहीं और था।

अब मैं पटना के बारे में नए नज़रिए से लिखता था। मैंने फ़िल्मों, किताबों और अख़बारों के माध्यम से दुनिया की केन्द्र-विमुख ऊर्जाओं की जानकारी प्राप्त की थी, जो मुझे मेरे परिवार की और मेरी चिन्ताओं से दूर ले जाती थी। दुनिया तजुर्बे से मालामाल थी। इस ज्ञान ने मुझे जैसे मुक्त कर दिया था। इसने मुझे अपने बचपन की विस्मृत घनिष्ठताओं, इसकी ख़ुशी और दुःख को भी याद करने में मदद की थी। मैने जो भी पढ़ा और लिखा, उसमें पटना की ओर लौटना शुरू कर दिया। यह आदत ख़ुद पर थोपे गए, पटना से निर्वासन के कारण बढ़ी थी। मैं अभी भी इसके बारे में उसी तरह लिखता हूँ जैसे कि मैं और कुछ जानता ही नहीं।

IV

जो कहानियाँ मुझे पटने से मिली हैं, और ये कहानियाँ ही हैं व्याख्याएँ नहीं, वे मेरे माज़ी का हिस्सा हैं। लेकिन मेरे परिवार के बहुत-से लोगों के लिए उनका वर्तमान भी हैं। मैं भी अपने बीते हुए कल को पूरी तरह समझ नहीं पाया हूँ। वो ख़बरें और कहानियाँ, जिन्हें मैं दर्ज करता हूँ या लिखता हूँ, कुछ ऐसी अस्पष्ट चेष्टाएँ हैं, मानो मैं पटना की ओर हाथ हिला रहा हूँ और यह कहना मुश्किल है कि मैं 'हलो' कह रहा हूँ या 'गुड बाय'।

मैं पटना की कहानियाँ इसलिए कहता हूँ ताकि मैं गुमनाम बस्ती का बाशिंदा होने की शर्म से उबर सकूँ। और कुछ-कुछ नॉस्टैल्जिया के चलते क्योंकि याद के नाम पर मेरे पास पटना के सिवा और था ही क्या। तो मेरी शर्म, मेरा नॉस्टैल्जिया, दोनों ही मेरे पटना छोड़ने के तजुर्बे का हिस्सा हैं – पटना जहाँ का मैं होना नहीं चाहता था और अमेरिका जहाँ का शायद (चाह कर भी) कभी नहीं हो पाऊँगा।

पटना आज मुझे दुनिया से मुख़ातिब होने का एक रास्ता देता है, तब भी जबकि दुनिया काल्पनिक है। मैं ग़ौर करता हूँ कि पटना का नाम अरुंधती रॉय के *द गॉड ऑफ़ स्मॉल थिंग्स* में एक बार आता है और अनीता देसाई के हाल के उपन्यास *फ़ास्टिंग फ़ीस्टिंग* में यह नाम बहुत जल्दी आ जाता है (पृ. 5)। विक्रम सेठ के *अ सूटेबल बॉय* में पटना वह जगह है जहाँ 'असाधारण घटनाएँ' घटित हो रही हैं, ऐसी घटनाएँ, जो कि कम-से-कम एक चरित्र के विचार से, "देश के आकार और ढाँचों को पूरी तरह बदलने वाली थीं" (पृ. 816)। पटना ही वह जगह है जहाँ कई राजनीतिक पार्टियाँ जिनमें कि काँग्रेस पार्टी भी शामिल है, "जून की उन्मत्त गर्मी में अधिवेशनों का आयोजन कर रही थीं" (पृ. 817)। सलमान रश्दी की *मिडनाइट्स चिल्ड्रेन* में, "पटना के चावल" का जिक्र पाते हैं। अफ़सोस कि पटना रश्दी के *द ग्राउंड बिनीथ हर फ़ीट* से एकदम ग़ायब है, अलबत्ता एक पीलू दूध वाला – वह रईस जिसने एक फ़रेबी दुग्ध-योजना बनाई थी, और जिसका एक काग़ज़ी बकरी फ़ार्म था और जिसकी पत्नी गोलमटोल औरत है – नामक एक चरित्र अवश्य है जो चारा-घोटाले के जादुई यथार्थवादी बिहारी मुख्यमंत्री लालू यादव के असली काल्पनिक चरित्र पर आधारित हैं।

V

पटना केवल मेरा घर ही नही है! यह वक़्त के खूँटे में टँगा शहर भी है! मेरे लेखन पर पटना के पते की अनिवार्य मुहर है। मैं पटना छोड़ना चाहता था, मुझे पक्का पता नहीं, मैं इसे कभी छोड़ भी पाया, लेकिन यह बड़ी राहत की बात है कि पटना मेरे बग़ैर भी अपने ही अंदाज़ में जिए जा रहा है। अपने लेखन में तय नही है कि मैं कभी ऐसा कर पाया, लेकिन मेरे लिए यह सुकून की बात है कि पटना वही है, जो यह मेरे बिना है। मेरी बड़ी बहन को अब मेरे संरक्षण की ज़रूरत नहीं है, वह पटना में हर दिन काम पर जाती है, और जब मैं वहाँ होता हूँ, घर लौटकर मुझे कहानियाँ सुनाती हैं। हम अकसर हँसते हैं। पर अब भी उसकी बातें सुनते हुए मुझे पटना का वह डरावना और भ्रामक रूप याद आ जाता है जब मैं किशोर था।

यहाँ तक कि लालू यादव और दूसरे स्थानीय राजनीतिज्ञों की कहानियाँ, जो हमें मज़ेदार लगती हैं, मुझे दूसरे समय में लौटा ले जाती हैं। बिहार विधानसभा और दूसरी जगहों पर ताक़त का भोंडा प्रदर्शन उस स्कूल के अहाते से बिल्कुल अलग नहीं हैं, जहाँ उस लड़के ने मेरी बहन पर भद्दा जुमला कसा था। कभी-कभी मुझे लगता है कि पटना अपने ही कैशौर्य के खूँटे में अटक तो नहीं गया है। आप इन सबको शहर के सामंती जीवन

के स्थायी निशानों में देख सकते हैं – हिंसा, पुरुष अंहकार, जाति-स्त्री-द्वेष। मैंने अपनी बहन से पूछने की हिम्मत नहीं की कि वह कैसे हर दिन, इन सब के साथ जीती है।

कुछ साल पहले जब मैं पटना गया था, तो मेरी बहन ने हमारे गाँव के बारे में बताना शुरू किया, जहाँ मैं अपनी दादी की मृत्यु के अवसर पर गया था और फिर कभी नहीं गया। मेरी बहन हमारे रिश्तेदारों के बारे में बता रही थी, और बातचीत हमारे पिता के अपने चचेरे भाई के बेटों ओर बेटियों की ओर मुड़ गयी। हमारे तीन चचेरे भाई-बहन थे, जो हमसे काफ़ी छोटे थे। सबसे बड़ा एक लड़का था, जो किशोरावस्था की शुरुआत से ही मुसीबतों में घिर गया था। उसने मेरी दादी का कुछ अनाज चुरा लिया। सुनते थे कि वह खजूर के पेड़ों पर चढ़कर उन मिट्टी के हांडियों से ताड़ी पी जाता था जो ताड़ी निकालने वाले वहाँ लटका कर जाते थे। जब मैं गाँव जाता, वह लड़का मेरे लिए फल लाता था। अपने भाई-बहनों की तरह उसके बाल और आँखें भूरी थीं और मैं उसे बहुत पसंद करता था। उसका नाम दीपक था, उसकी छोटी बहन का सुनीता। मुझे याद है कि सुनीता गोरी और शर्मीली थी। मेरी दादी शिकायत करती थी कि सुनीता उनके घर के पीछे, छोटे बग़ीचे से पालक लिया करती थी। छह या सात साल की होने पर सुनीता ने जानवरों को चराना शुरू कर दिया था। वह बकरियों और भैंस की देखभाल करती थी। दस वर्ष की रही होगी, जब मैं '80 के दशक में, अमेरिका जाने के लिए पटना छोड़ने के समय आख़िरी दफ़े उससे मिला था।

मेरे जाने के बाद सुनीता जवानी की दहलीज़ पर क़दम रख चुकी थी। मेरी बहन ने बताया कि सुनीता की हमारे रिश्तेदारों में ही एक-दो लोगों से आशिक़ी थी। ...सुनीता अपने आशिक़ों से आम के बग़ीचे में मिला करती थी। इनमें से एक शादीशुदा था, जिसे मैं अच्छी तरह जानता था, और मेरी बहन के इस कहानी बताने के कुछ ही दिन पहले मैंने उसे पटना में देखा था। सुनीता रात में, आम के कुंज में उससे मिला करती थी।

गाँव के लोगों को इसके बारे में पता चल गया। सुनीता के भाई दीपक ने यह कहानी अपनी माँ से सुनी। बिहार में भाई होने की त्रासदी बहन होने की त्रासदी से थोड़ा ही कम है। दीपक ने हँसुए से सुनीता का सिर काट दिया। उसके बाद वह ग़ायब हो गया। पुलिस एक बार गाँव आ कर लौट गई।

मेरी तरह दीपक ने भी अपनी जन्मभूमि छोड़ दी। कुछ समय के लिए, उसने असम की एक रेलवे परियोजना में मज़दूर का काम किया। फिर मैंने सुना कि वह वापस आ गया था और अब पटना में रिक्शा चलाता था।

VI

हालाँकि मैं ऐसी चेष्टाओं के महत्व नहीं समझता लेकिन मैं पटना के एक कवि, आलोक धन्वा की वह कविता पेश करना चाहता हूँ जो उन्होंने सुनीता की याद में लिखी थी। आलोक हिन्दी में लिखता है। एक दशक पूर्व मैंने आलोक की कविताओं को पढ़ना शुरू किया। उसकी कविताओं का पहला संकलन, *दुनिया रोज़ बनती है* 1998 में प्रकाशित हुआ था। उसके कुछ ही समय पहले सुनीता को मारा गया होगा।

1989 की गर्मियों में, प्रख्यात वामपंथी कवि गोरख पांडे ने दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में आत्महत्या कर ली थी। पांडे पटना के हिन्दी कवि थे। दिवालियापन और प्रतिरोध करने वालों की नियति – दमन – के दो पाटों में पिसते कई वाम प्रकाशनों ने मृत कवि की स्मृति को समर्पित विशेषांक निकाले। एक ऐसे ही प्रकाशन, *प्रसंग*, ने अपने एक विशेष संस्करण में लिखा था, "जयमल सिंह पड्डा, अवतार सिंह पाश, गोरख पांडे, सफ़दर हाशमी, शंकर ताम्बी, सोमदत्त, कामेश दीपक, अमृतलाल नागर, मोहनलाल महतो 'वियोगी' और उन सभी की याद में जो काल के शिकार हो गए"।

उस यादगार अंक में *प्रसंग* ने उन कवियों की कविताएँ भी प्रकाशित कीं, जिन्होंने संघर्ष में उक्त कवियों के कंधे से कंधा मिलाया था। आलोक इन्हीं में से एक थे। भूमिका में कहा गया : "जहाँ से समकालीन हिंदी कविता ने एक नई दिशा पाई, और जहाँ जनसंघर्ष की चेतना को अपना काव्य स्वर मिला"। आगे चलकर मैंने आलोक को और पढ़ा। पिछले कुछ सालों में मैं इन पुरअसर कविताओं के अनुवाद करने में जुटा हूँ : इनमें मासूमियत और हिंसा का वही अक्स उभरता है, जिससे मैं सदा से परिचित रहा हूँ।



मैं आलोक की और कविताएँ पढ़ता गया।

लेकिन इससे पहले कि मैं आलोक की कविता "भागी हुई लड़कियाँ" पेश करूँ, मैं उस आलोचना का एक टुकड़ा पेश करना चाहता हूँ, जो कि पटना से ही प्रकाशित होने वाली हिन्दी की लघु पत्रिका *समकालीन जनमत* में प्रकाशित हुई थी। आलोक की कविता उस पत्रिका में अकसर प्रकाशित होती थी। आलोचना के इस टुकड़े को पटना और दूसरी जगहों के महत्वपूर्ण वामपंथी संघर्षों के पक्षधर महेश्वर ने लिखा था। प्रस्तुत है महेश्वर द्वारा आलोक की कविता के बारे में कही गयी बात — और मैं इन शब्दों को प्रस्तुत कर रहा हूँ क्योंकि इनमें नारीवादी विरोध के स्वर हैं, ये अलग बात है कि मेरे ख़याल से आलोचक द्वारा प्रस्तुत विकल्प सुनीता के हरगिज़ नहीं थे।

'तुम्हारी औरतें सिर्फ़ उनकी डायरियों में भाग रही हैं, वो सिर्फ़ उनकी डायरियों के पन्नों में भाग रही हैं। लेकिन ये औरतें अपने असली जीवन में कहाँ भाग रही हैं? असली जीवन में औरतें सामना कर रही हैं और उनकी दृढ़ता इन दिनों बढ़ रही है। औरतों ने यह महसूस करना शुरू कर दिया है कि वो पितृसत्तात्मकता, सामंती उत्पीड़न और पूँजीवादी-उपभोक्तावाद के सामूहिक भार के नीचे संघर्ष कर रही हैं। भारत में जो शोषण आज है, उस माहौल में, औरतों के जीवन को दुःखी बनाने में उनमें से हर चीज़ शामिल हैं। और इन चीज़ों का सामना करने के लिए औरतें आगे बढ़ रही हैं। ये विरोधी औरतें कहाँ हैं? तुम कहते हो कि वो उनकी डायरियों में भाग रही है और मैं देख रहा हूँ कि वो कहीं भाग नहीं रही हैं इस समय, भागने की तुलना में, वो अपना सर काटना ज़्यादा पसंद करेगी।'

भागी हुई लड़कियाँ

एक

घर की ज़ंजीरें
कितना ज़्यादा दिखाई पड़ती हैं
जब घर से कोई लड़की भागती है

क्या उस रात की याद आ रही है
जो पुरानी फ़िल्मों में बार-बार आती थी
जब भी कोई लड़की घर से भागती थी?
बारिश से घिरे वे पत्थर के लैम्पपोस्ट
सिर्फ़ आँखों की बेचैनी दिखाने-भर उनकी रोशनी?

और वे तमाम गाने रजतपर्दों पर दीवानगी के
आज अपने ही घर में सच निकले!
क्या तुम यह सोचते थे कि
वे गाने सिर्फ़ अभिनेता-अभिनेत्रियों के लिए
रचे गये थे?
और वह ख़तरनाक अभिनय
लैला के ध्वंस का
जो मंच से अटूट उठता हुआ
दर्शकों की निजी ज़िन्दगियों में फैल जाता था?

दो

तुम तो पढ़कर सुनाओगे नहीं
कभी वह ख़त
जिसे भागने से पहले वह
अपनी मेज़ पर रख गयी
तुम तो छिपाओगे पूरे ज़माने से
उसका संवाद
चुराओगे उसका शीशा, उसका पारा,
उसका आबनूस
उसकी सात पालों वाली नाव
लेकिन कैसे चुकाओगे
एक भागी हुई लड़की की उम्र
जो अभी काफ़ी बची हो सकती है
उसके दुपट्टे के झुटपुटे में?

उसकी बची-खुची चीज़ों को
जला डालोगे?
उसकी अनुपस्थिति को भी जला डालोगे?
जो गूँज रही है उसकी उपस्थिति से
बहुत अधिक
सन्तूर की तरह
केश में

तीन

उसे मिटाओगे
एक भागी हुई लड़की को मिटाओगे
उसके ही घर की हवा से
उसे वहाँ से भी मिटाओगे
उसका जो बचपन है तुम्हारे भीतर
वहाँ से भी
मैं जानता हूँ
कुलीनता की हिंसा!

लेकिन उसके भागने की बात
याद से नहीं जायेगी
पुरानी पवन चक्कियों की तरह

वह कोई पहली लड़की नहीं है
जो भागी है
और न वह अन्तिम लड़की होगी
अभी और भी लड़के होंगे
और भी लड़कियाँ होंगी
जो भागेंगे मार्च के महीने में

लड़की भागती है
जैसे फूलों में गुम होती हुई
तारों में गुम होती हुई
तैराकी की पोशाक में दौड़ती हुई
खचाखच भरे जगरमगर स्टेडियम में

चार

अगर एक लड़की भागती है
तो यह हमेशा ज़रूरी नहीं है
कि कोई लड़का भी भागा होगा

कई दूसरे जीवन प्रसंग हैं
जिनके साथ वह जा सकती है
कुछ भी कर सकती है
सिर्फ़ जन्म देना ही स्त्री होना नहीं है

तुम्हारे टैंक जैसे बन्द और मज़बूत
घर से बाहर
लड़कियाँ काफ़ी बदल चुकी हैं
मैं तुम्हें यह इजाज़त नहीं दूँगा
कि तुम अब
उनकी सम्भावना की भी तस्करी करो

वह कहीं भी हो सकती है
गिर सकती है
बिखर सकती है
लेकिन वह ख़ुद शामिल होगी सब में
ग़लतियाँ भी ख़ुद ही करेगी
सब कुछ देखेगी
शुरू से अन्त तक
अपना अन्त भी देखती हुई जायेगी
किसी दूसरे की मृत्यु नहीं मरेगी

पाँच
लड़की भागती है
जैसे सफ़ेद घोड़े पर सवार
लालच और जुए के आर-पार
जर्जर दूल्हों से
कितनी धूल उठती है!

तुम
जो
पत्नियों को अलग रखते हो
वेश्याओं से
और प्रेमिकाओं को अलग रखते हो
पत्नियों से
कितना आतंकित होते हो
जब स्त्री बेख़ौफ़ भटकती है
ढूँढती हुई अपना व्यक्तित्व
एक ही साथ वेश्याओं और पत्नियों
और प्रेमिकाओं में!

छह
कितनी-कितनी लड़कियाँ
भागती हैं मन ही मन
अपने रतजगे, अपनी डायरी में
सचमुच की भागी लड़कियों से
उनकी आबादी बहुत बड़ी है

क्या तुम्हारे लिए कोई लड़की भागी?

क्या तुम्हारी रातों में
एक भी लाल मोरम वाली सड़क नहीं?

क्या तुम्हें दाम्पत्य दे दिया गया?
क्या तुम उसे उठा लाये

अपनी हैसियत, अपनी ताक़त से?
तुम उठा लाये एक ही बार में
एक स्त्री की तमात रातें
उसके निधन के बाद की भी रातें!

तुम नहीं रोये पृथ्वी पर एक बार भी
किसी स्त्री के सीने में लगकर

सिर्फ़ आज की रात रुक जाओ
तुम से नहीं कहा किसी स्त्री ने

सिर्फ़ आज की रात रुक जाओ
कितनी-कितनी बार कहा कितनी
स्त्रियों ने दुनिया भर में
समुद्र के तमाम दरवाज़ों तक दौड़ती हुई आयीं वे
सिर्फ़ आज की रात रुक जाओ
और दुनिया जब तक रहेगी
सिर्फ़ आज की रात भी रहेगी।

अनुवादः मनीषा सिंह

कौन जाएगा कहीं काशी की गाली छोड़ के

गौतम सान्याल

I गालियाँ

इस कृति (*काशी का अस्सी*, काशीनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2002) में शुद्ध घी की जो देसी गालियाँ परोसी गई हैं, वह बहुतों को पच नहीं पाईं। सच कहूँ तो *हंस* में इसके धारावाहिक प्रकाशन से हिंदी के संभ्रांत पाठक वैसे ही आतंकित हो गए थे जैसे कुछ दिनों पहले नरवानर से दिल्लीवासी। ध्यात्व है कि नरवानर का रहस्य तब खुला जब लोगों को पता चला कि नरवानर का हड़कंप उतना बाहर नहीं जितना कि भीतर है।

बहरहाल, बेशुमार गालियाँ परोसते हुए इस गद्य ने जो किया है, उसके लिए 'छीः-छीः' कहते भी नहीं बनता है — वह संभ्रांत के चूतड़ में अटकी उस व्याकुल-वायु की तरह 'अकथ' ही है। उस 'अकथ' को वाणी देते हुए और अटके-भटकों को मार्ग बताते हुए गालियों के सौंदर्यशास्त्र के प्रश्रय में तनिक गंभीर परामर्श प्रस्तुत है।

निवेदन है कि गालियाँ किसी भी भाषा की विलक्षण सम्पदा होती हैं, वह भाषिक-अभिव्यक्ति का चूड़ांत निदर्शन होती हैं। शब्दार्थ निर्यास का जो सघन-स्तर गालियों में निहित है, वैसा अन्य शब्द-कोटि में नहीं। संक्षेपण की दृष्टि से गालियों का कोई सानी नहीं है — जो आप हज़ार शब्दों में या साढ़ेसाती व्याख्याओं में न कह पाते हों, मात्र दो गालियों में अनायास ही व्यक्त कर दे सकते हैं। जब सारे के सारे संभ्रांत शब्द बेअसर होकर लौट आते हैं तो एक ही गाली में काम चल जाता है।

दूसरी तरफ़, ऐसा व्यक्ति इस पृथ्वी पर नहीं रहता या नहीं है जो गालियों का उपयोग नहीं करता, जिसने किसी को या स्वयं को कभी गालियाँ न दी हों। सामाजिक स्तर या रुचि के अनुसार उसके प्रकार भेद हो सकते हैं मगर गालियों से बचा नहीं सकता है।

प्रश्न उठता है कि अब गालियाँ चिरकाल से मनुष्य के दिमाग़ और समाज में हैं तो इनसे कैसे बचा जा सकता है? इस प्रश्न का दूसरा पहलू है कि जो चिरंतन है वह स्वयं में अश्लील कैसे हो सकता है? प्रमाणित है कि गालियाँ आदिम समाज में भी पौराणिक युग में थीं और आज भी हैं तो वह स्वयं में अश्लील, अनुपयोगी और अतिरिक्त कैसे हो सकती हैं?

गालियाँ जब जीवन और समाज में हैं तो वह साहित्य में क्यों कर न आएँ? प्रश्न तो सीधा-सा है कि गालियों को (विशेष परिस्थितियों में) न देने का या उसे साहित्य में आने से रोकने का कोई उपाय भी है? मेरे विचार से नहीं है, अगर वह साहित्य जीवन पर आधारित है। इन तमाम प्रतिप्रश्नों से जो नाभिकीय दिशाफलक उठ खड़ा हुआ है, वह बिल्कुल स्पष्ट है — किसी कथावृत्त या गद्य में, गालियों के उपयोग-प्रयोग की शर्तें क्या हैं?

निवेदन है कि कथावृत्त में गालियों का प्रयोग पिरामिड पर तीक्ष्ण चोटी की भाँति, अँगूठी में नग की भाँति, साँप में ज़हर की तरह और रात नदी में नाव पर की लालटेन की भाँति ही होना चाहिए। गालियों का उपयोग घुड़सवारी में चाबुक की तरह और मेघ-संकुल आकाश में बिजली की एक कौंध की भाँति होना चाहिए — बिजली

की एक कौंध जो क्षण भर के लिए सही, मगर क्षण भर में, समस्त आकाश को उद्‌भासित कर देती है। संक्षेप में, यही कहना है कि आँखों को ठीक से आँज पाए तो काजल, वरना मुँह पर पुत गई तो कालिख ही कहलाएगी।

जीवन में नग्नता है, लेकिन नग्नता ही जीवन नहीं है। कला में नग्नता हो सकती है मगर समग्रतः और अंततः कलाएँ नग्नता ही नहीं है। जो गालियाँ करुणा, संत्रास, सहमर्मिता और आर्त्तनाद पैदा न करें, पाठक मन को जुगुप्सा से आप्लावित न कर दें, यथार्थ की विश्वसनीय संभाव्यता का परिवेश न गढ़ सकें और संपूर्ण रचना के संवाद को सुतीव्र-सुतीक्ष्ण न कर दें — वह साहित्य के नाम पर गाली ही हैं!

उपर्युक्त तमाम परामर्शों को ध्यान में रखें तो आलोच्य-कृति *काशी का अस्सी* से टकराते हुए एक बड़ा-सा परिसर खुलता है, वहाँ लेखक की अनेक सफलताएँ साफ़-साफ़ दिखती हैं तो विफलताएँ भी, मगर गालियों के बारे में हमारे मन में ऐसी गाँठें पड़ी हुई हैं कि निगाह खुलती नहीं। उसी गाँठ के पोस्टमॉर्टम के लिए एक प्रसंग प्रस्तुत है।

सभी जानते हैं कि ब्रिटिश से ज़्यादा दक़ियानूस या नकभौंसिकोड़िए तो कोई होते नहीं! तो उसी लंदन में बर्नाड शॉ का नाटक 'पिग्मेलियन' प्रारंभ हुआ। नाटक में एक स्थिति तब आती है, जब नायिका एलिज़ा डूलिट्ल गहरे क्षोभ में कह उठती है : ब्लडी! तो शो के पहले हफ़्ते इस गाली पर सारा प्रेक्षागृह सिहर उठता रहा, लेकिन बाद में जब नाटक ख़ूब चल निकला और लोगों ने ख़ूब पसंद किया तो वह कथास्थिति आते ही जैसे ही एलिज़ा थोड़ा-सा मंच के सामने की ओर आ जाती, अंधेरे में पूरा प्रेक्षागृह बुदबुदा उठता था — ब्लडी! एलिज़ा को संवाद बोलने की ज़रूरत नहीं पड़ती। एक दिन हॉल की बत्तियाँ जली की जली रह गईं। प्रेक्षागृह बिल्कुल शांत रहा और उस दिन 'ब्लडी' संवाद बोला ही न जा सका!

कहने का आशय यही कि चाहे हॉल की बत्तियाँ जली रहें या बुझी रहें, मेरा सूरते-हाल यही है कि जो संलाप (गालियाँ) मेरी ज़बान पर चढ़ गया है, उसे मुझे बोलना ही है।

कहना न होगा कि *काशी का अस्सी* की अस्सी प्रतिशत गालियाँ अचूक, सुंदर और पारदर्शी हैं, कहीं से भी वीत-श्राद्ध दिखाई नहीं देतीं, अपने लक्ष्य को भेदकर तूणीर में इंटैक्ट लौट आती हैं। वह कथास्थितियों में विलक्षण व्यंजना उत्पन्न करती हैं, समग्र गद्य जैसे सधा हुआ गांडीव हो और पाठकमन जैसे इसकी प्रत्यंचा। रह-रहकर तीर छूटते हैं और पाठकमन उस टंकार की झंकृति से भर उठता है, जिसमें लक्ष्य के प्रति ललकार है तो स्वयं के प्रति कॉन्फ़िडेंस भी। ये गालियाँ मूलतः जमात की भाषा है जिसे अंग्रेज़ी में जारगन या अरगॉट कहते हैं। स्लैंग भाषाविज्ञ एरिक पैट्रिज (*स्लैंग, येस्टरडे ऐण्ड टुडे*) और बी. बैरी (*दि अमेरिकन थिसॉरस ऑफ़ स्लैंग्स*) ने विस्तार से इसकी चर्चा की है। ये जमात क्या है? ये जमात जनता है, जिसका लोकतंत्र से संपूर्ण मोहभंग हो गया है, जो समाज के हैजेमनी-क्लास की वास्तविकता ख़ूब पहचान गई है। ये अपभाषा जनता के मन की भाषा है, लोकतंत्रों के ठेकेदारों के प्रति जनता का पारदर्शी संवाद है। 'संतों घर में झगड़ा भारी' का पूरा अध्याय इसी जन-भाषा से आप्लुत है।

इन गालियों को बाँचते हुए मेरे सामने सबसे बड़ी समस्या इन गालियों को लेकर नहीं है, बल्कि उन शोधयत्नों के बारे में है, जिसका हिंदी में पूरी तरह से अभाव है या जो हिंदी में सिरे से अनुपस्थित हैं। कैनेडा के जॉन हालावे के नाटक, जो कि अपभाषा (पेजॉरेटिव लैंग्वेज) में रचित हैं, का विश्लेषण सम्भव है, क्योंकि वहाँ/मेलविन वैन डेनवार्क और बी. बैरी के कोश उपलब्ध हैं। बांग्ला में इसे बाँचना सम्भव है क्योंकि वहाँ कुमारेश घोष, भक्तिप्रसाद मलिक या तपन राय चौधरी के ग्रंथ उपलब्ध हैं। सर्वोपरि डॉ. सत्रजित गोस्वामी के ग्रंथ (बांग्ला अकथ्य-भाषा का शब्दकोश) तो है ही, जो कि स्लैंगविज्ञ हैं भले ही उनका शोधयत्न अमेरिका के लुइज़े पाउंड के स्तर का नहीं है। लेकिन हिंदी में ऐसे शोधयत्न तो क्या, मेरी जानकारी में एक भी आलेख उपलब्ध नहीं है। (*हंस* में पंद्रह साल पहले मैंने बहस चलाई थी, "गाली मत दो गोली मार दो" — *समाज बोलता है* पुस्तक में गालियों का विशद विश्लेषण है — *हंस* के सम्पादक राजेन्द्र यादव) स्थिति ये है कि इस कृति को बाँचने के लिए परंपरा का व्यवहार (ट्रैडिशन ऐण्ड प्रैक्टिस) तो क्या, एक भी रेफ़रेंस-बुक नहीं है। ऊपर से हिंदी के पाठक गांधी जी के चार बंदर बने बैठे हैं। चौथा बंदर मैं हूँ जो *हंस* में छपी किसी कहानी में दो-चार गालियाँ देखते ही चिहुँककर संपादक को

लानत भेजते हुए पत्र लिखता हूँ और रात को बच्चे सो जाने के बाद हर हफ़्ते बिना नागा साउंडलेस ब्लू फ़िल्म देखता हूँ! बहरहाल, गालियों के सौंदर्यशास्त्र व समाजशास्त्र के व्यवस्थित विवेचन के अभाव में, एक-दो विक्षिप्त मंतव्यों के प्रश्रय में इस कृति को बाँचते हुए, क्या है कि इसके साथ अन्याय ही कर रहा हूँ। एरिक पैट्रिजर ने लिखा है — गालियाँ, जीवन और समाज में मात्र विशेषण के रूप में नहीं होती। वे स्पीच के सारे फ़िगर के रूप में बहुरूप होती है, यहाँ तक कि मुहावरे-कहावतों या जातीय भाषा-चेतना के रूप में (तुलनीय दिल्ली-हरियाणा का 'भैणचो' या बनारस का 'भोंसड़ी के') और स्वयं में भीषण अस्थिर होती हैं — 'No record of slang can even be complete of course, its duration is too unstable. The continual use of new words as the old lose the freshness and color...' (लुइज़े पाउंड) अतएव इन्हें साहित्यिक कृति की स्थिर भाषा में ढालना अत्यंत दुष्कर कार्य है। इनकी अस्थिरता के बारे में पैट्रिजर का कहना है कि यह स्वयं में बहुरूपता से एकरूपता की ओर सदैव क्रियान्वित रहती है और slangs, after all, a peculiar kind of vagabond language always hanging over the outskirts of legitimate speeches.

पहली बात तो यह है कि इस कृति में गालियों का प्रयोग मात्र विशेषण के रूप में नहीं हुआ है, जैसा कि *हंस* में छपी कुछ कहानियों या राही मासूम रज़ा के *आधा गाँव* में। ध्यान से देखने पर इसमें अपभाषा की स्पीच के सारे के सारे फ़िगर मिलेंगे। इसमें गालियाँ संज्ञा, सर्वनाम, क्रियाविशेषण, क्रियाभाव, क्रियापद पैटर्न, समुच्चय, अव्यय, कर्मवाच्य, कर्तृवाच्य, पूर्वसर्ग आदि तमाम व्याकरणिक कोटियों में मेल्टेड मिलेंगी। यहाँ तक कि मुहावरे (माँ चुदाय दुनिया, हम बजायें हरमुनियाँ), कहीं-कहीं तो संपूर्ण आप्तवाक्य (दोनों एक ही गांड़ हगते थे) तो कहीं पूरे प्रसंग के प्रतीक के रूप में, जैसे तन्नी-गुरु का 'बुढ़ापे का सबसे बड़ा कष्ट' विवेचन। बक़लम तन्नी गुरु — जब उनके बुढ़ा गए कायापलट को देखकर लेखक के मन में अनुकंपा उभरी (गुरु क्या थे और बुढ़ापे में क्या हो गए!) तो गुरु ने कहा — 'छोड़ो ये सब, एक पते की बात सुनो, जानते हो बुढ़ापे का सबसे बड़ा कष्ट क्या है?' उन्होंने एक जांघ की तरफ़ इशारा किया — 'एक ऐसी चीज़ का निरंतर लटकते रहना, जिसका अब न को इस्तेमाल है, न ज़रूरत! ऐसे फ़ालतू वजन का ढोना और मरते दम तक ढोते रहना, बुढ़ापे का सबसे बड़ा कष्ट है।' उल्लेखनीय है कि काशीनाथ सिंह यहाँ मात्र किसी विशेषण का प्रयोग करते (लजाते हुए मेरा प्रयास, उदाहरणार्थ, पीएच-डी अर्थात् पोटाटो हाइली डिफ़ेक्टिव) तो बेबात हो जाती, वो बात पैदा नहीं हो पाती जो कि वहाँ हुई है। तन्नी गुरु का आग-राग विवेचन भी (जिसे सुनते ही नीचे कुछ सुलगने लगता है) इतना ही अर्थवंत है।

यही नहीं, शब्दों के स्तर पर गालियों की डिस्मैंटेलिंग और टर्निकेशन (dismantling and turnication) भी देखते ही बनता है। उदाहरण के लिए, फटकलंड गिरधारी, झँटकुल्ली, गड़ऊँ-गदर आदि ये रूपांतरित गालियाँ मात्र अलंकृति के लिए नहीं, बल्कि पूरे प्रसंग को परिभाषित करती प्रयुक्त हुई हैं। उदाहरण के लिए झँटकुल्ली। यह प्रसंग सीपीआई की वास्तविक अवस्थिति को बताने के लिए (भारतीय राजनीति में) आया है, ये हर दिन किसी न किसी मसले पर स्टेटमेंट देते रहते हैं, जबकि ये सांसद होते ही हैं कितने — 'रामजी राय चले और चार क़दम चलकर लौट आए — ये भों... के सौ करोड़ के आबादी में पाँच झँटकुल्ली सीपीआई और दिखाएंगे ऐसे कि ये न हों, तो देश ही न चले!'

और इन गालियों के संदर्भ में अस्सी का दृष्टिकोण साफ़ है — 'जो मज़ा सबको गरियाने में है, वह किसी तरफ़ होने में कहाँ!' अस्सी किसी की तरफ़ नहीं है। अस्सी कबीर का गुर्दा है। वह संभ्रात और आभिजात्य के शव पर बैठा हुआ मंत्र बुदबुदाता कापालिक है। विसंगति देखते ही विद्रूप पेल देता है और रह-रहकर हर-हर महादेव की तर्ज पर अस्सी के जार्गबॉन या आरगॉट का कुहराम उठाता है — अरे भों... के, बुजरौ के, छिनरौ के! उसका यह कोरस सॉफ़्टनोज़्ड बुलेट की तरह है जो टारगेट पर लगते ही अश्लील ढंग से छितरा जाता है। बड़ी निर्ममता से, वह किसी को नहीं छोड़ता — यहाँ तक कि लेखक को नहीं — 'इ भोंसड़ी के कौन है बे? लेखक है। बकरा-जइसा दाड़ी-दाढ़ा बढ़ाने से कोई लेखक थोड़े नु बन जाता है!'

अतएव कहने में संकोच कैसा कि यह हिंदी की पहली किताब है जिसमें गालियों का महाकाव्यिक, पूर्णांग, पारदर्शी और बहुविध प्रयोग हुआ है। आगामी दिनों में जब हिंदी के स्लैंग्स का थिसॉरस या अपभाषा का कोश

लिखा जाएगा तो कदाचित् यह कृति सर्वाधिक काम में आएगी। अब मैं बांग्ला वालों को ताल ठोंककर कह सकता हूँ कि हमारे पास भी एक ऐसी कृति है।

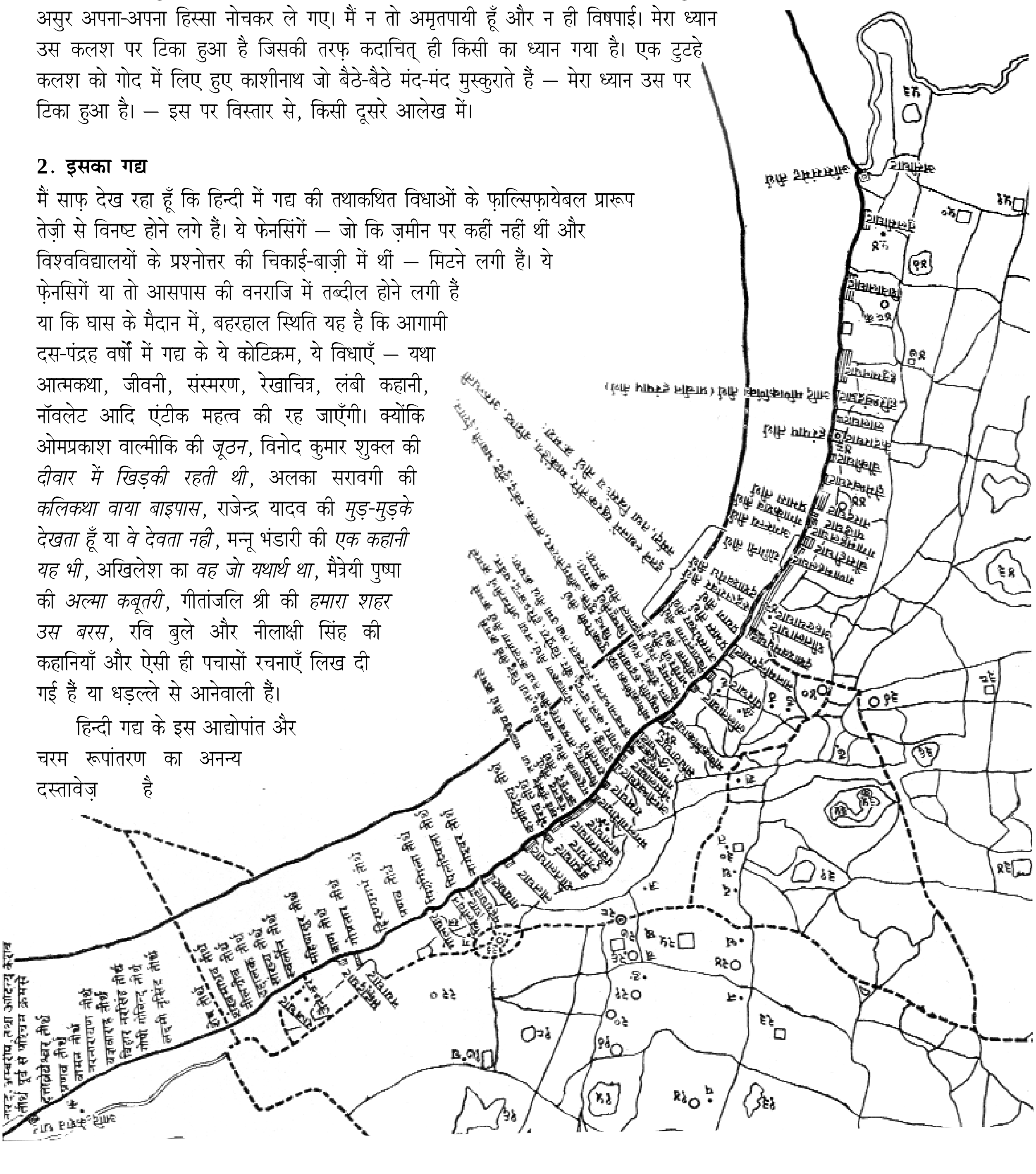
लेकिन वाह तब आह में बदल जाती है जब मेरी दृष्टि *काशी के अस्सी* की बाक़ी बीस प्रतिशत गालियों पर जा टिकती है। निस्संदेह ये गालियाँ अश्लील, अनुपयोगी, अपारदर्शी, अतिरिक्त, अरोचक, अनर्गल, अल्लटप्पू, अलील, अवलेही, अविवेकी, अप्रासंगिक और असंभाव्य प्रतीत होती हैं। कई बार ये गालियाँ प्रयोक्ता के होंठों पर बफनरी मूछों की तरह या चौपट राजा के गले में मोज़े या पैरों में पहने गए मुकुट की भाँति दिखाई देती हैं। इनके बारे में संक्षेप में और संकेत से इतना कहना है कि ये किसी अच्छे प्रयास की विफलता के सिंप्टम नहीं, बल्कि ये काशीनाथ सिंह का सिंड्रोम है। आदमी जब अपनी बीमारी के सिंप्टम को जी-जान से चाहने लगता है और अपने स्वयं-ज्ञापित व्यक्तित्व का अंश बना डालता है तो उसे सिंड्रोम कहते हैं।

इन गालियों के संदर्भ में आख़िरी बात कोई मुझसे पूछे कि मेरा ध्यान कहाँ केन्द्रित है, तो क़िस्सा है कि समुद्र-मंथन के बाद गड़उँ-गदर मचा, मंथन से निकले अमृत और विष तो सुर और असुर अपना-अपना हिस्सा नोचकर ले गए। मैं न तो अमृतपायी हूँ और न ही विषपाई। मेरा ध्यान उस कलश पर टिका हुआ है जिसकी तरफ़ कदाचित् ही किसी का ध्यान गया है। एक टुटहे कलश को गोद में लिए हुए काशीनाथ जो बैठे-बैठे मंद-मंद मुस्कुराते हैं — मेरा ध्यान उस पर टिका हुआ है। — इस पर विस्तार से, किसी दूसरे आलेख में।

2. इसका गद्य

मैं साफ़ देख रहा हूँ कि हिन्दी में गद्य की तथाकथित विधाओं के फ़ाल्सिफ़ायेबल प्रारूप तेज़ी से विनष्ट होने लगे हैं। ये फेनसिंगें — जो कि ज़मीन पर कहीं नहीं थीं और विश्वविद्यालयों के प्रश्नोत्तर की चिकाई-बाज़ी में थीं — मिटने लगी हैं। ये फ़ेनसिगें या तो आसपास की वनराजि में तब्दील होने लगी हैं या कि घास के मैदान में, बहरहाल स्थिति यह है कि आगामी दस-पंद्रह वर्षों में गद्य के ये कोटिक्रम, ये विधाएँ — यथा आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र, लंबी कहानी, नॉवलेट आदि एंटीक महत्व की रह जाएँगी। क्योंकि ओमप्रकाश वाल्मीकि की *जूठन*, विनोद कुमार शुक्ल की *दीवार में खिड़की रहती थी*, अलका सरावगी की *कलिकथा वाया बाइपास*, राजेन्द्र यादव की *मुड़-मुड़के देखता हूँ* या *वे देवता नहीं*, मन्नू भंडारी की *एक कहानी यह भी*, अखिलेश का *वह जो यथार्थ था*, मैत्रेयी पुष्पा की *अल्मा कबूतरी*, गीतांजलि श्री की *हमारा शहर उस बरस*, रवि बुले और नीलाक्षी सिंह की कहानियाँ और ऐसी ही पचासों रचनाएँ लिख दी गई हैं या धड़ल्ले से आनेवाली हैं।

हिन्दी गद्य के इस आद्योपांत और चरम रूपांतरण का अनन्य दस्तावेज़ है



काशी का अस्सी — जो न तो संस्मरण है, न ही आत्मकथा, रिपोतार्ज भी नहीं, रेखाचित्र या उपन्यास उपक्रम भी नहीं — बस, गद्य है। इसे विधाओं की दीवारों पर टाँगकर 'इ संस्मरण' और 'उ रेखाचित्र' जैसी प्रागैतिहासिक शब्दावली में बाँचा न जा सकेगा। ग्रंथकार ने भूमिका में ही चेतावनी दे दी है — 'यह रचना वयस्कों के लिए है, बच्चों और बूढ़ों के लिए नहीं...' मेरी समझ के अनुसार बच्चों से तात्पर्य उन बूढ़ों से है, जो विश्वविद्यालयों में गद्य की विधाएँ बाँचते है और बूढ़ों का अर्थ वे बच्चे हैं, जो सब कुछ जानकर भी नहीं जानते, गद्य के इस आद्योपांत रूपातंरण को मानकर भी नहीं मानते!

अर्थ है कि इसके फ़्लैप के पहले पैराग्राफ़ में इसे 'उपन्यास' तो दूसरे पैराग्राफ़ में इसे 'कथा-रिपोतार्ज' कहा गया है। रेणु का क़िस्सा सबको मालूम है कि किस तरह प्रकाशक ने भूलवश मैला-आंचल के फ़्लैप पर 'एक आंचलिक उपन्यास' लिख दिया था और वर्षों विश्वविद्यालयों में 'आंचलिक उपन्यास' पढ़ाया जाने लगा। ये सारे के सारे हसीन गुनाह तब लोगों से 'हो' जाते हैं, जब गद्य रूपांतरण की संस्कृति से गुज़रता है। मनोरंजक तथ्य तो यह है कि स्वयं काशीनाथ सिंह ने इस रचना की पहली पंक्ति में इसे 'संस्मरण' कह दिया है। आख़िर वे भी तो विश्वविद्यालय में वर्षों 'डाकसाहब' रहे हैं! कहना यही है कि आगामी दस-पंद्रह वर्षों में हिन्दी गद्य की तमाम विधाएँ जब एक-दूसरे में समाहित हो जाएँगी, तो इस गद्य का ऐतिहासिक महत्व स्वयमेव स्पष्ट हो जाएगा।

3. गप्प-गोष्ठियाँ

मानव सभ्यता के इतिहास में, मनुष्य के सामाजिक व्यवहार (सोशल प्रैक्सिस) के संदर्भ में कोई भी सामाजिक अनुक्रिया इतनी धारावाहिक नहीं चली जितना कि यह, यानी कि ये गप्प-गोष्ठियाँ। निवेदन है कि सुकरात के ज़माने में ये सांस्कृतिक जमावड़े इसी रूप में थे, जैसा कि आज हैं। इस विश्व की प्रत्येक भाषा-साहित्य के सांस्कृतिक इतिहास में इसका अपना ही महत्व है। अगर यह सच है कि पिछले तीन सौ वर्षों में, विश्व के जितने भी कला-आंदोलन (चित्रकला, साहित्य, स्थापत्य आदि) हुए हैं, उसका नब्बे प्रतिशत फ्रांस से उद्भूत हुआ है, तो ये भी सच है कि यह पेरिस जैसे नगरों के कहवाघरों में बाहर-भीतर के सांस्कृतिक जमावड़ों की उपज हैं।

बांग्ला संस्कृति का यह तो अभिन्न अंग है। बांग्ला में इस जमावड़े को 'आड्डा' या 'ठेक' कहते है, आहार-निद्रा-मैथुन की तरह यह गप्पबाज़ी औसत बंगाली के लिए अनिवार्य है। यहाँ विश्व की सारी समस्याओं का हल बातों ही बातों में हो जाता है। इन 'अड्डों' में जो पिनद्ध मंतव्य किए जाते हैं, टीका-टहोका-टिप्पणी की जो कौंध चिलकती है उसकी तुलना दमकती दामिनी से की जा सकती है, इनमें दुनिया-जहान-क़ायनात को बातों ही बातों में जैसा समेट लिया जाता है, उसकी तुलना पुच्छल तारे के परिभ्रमण कक्ष से और इसके विट की तुलना बर्नार्ड शॉ के श्रेष्ठ मंतव्यों से की जा सकती है। अर्ज़ है कि इन पंक्तियों का लेखक ऐसे ही दो 'ठेक' का नियमित सदस्य है। किसी दिन वह इनमें नहीं जाता और रात के आठ बजे ही घर लौट आता है तो उसकी पत्नी पहला काम यह करती है कि अपनी उल्टी हथेली को उसके गले में छुआती पूछ बैठती है — तबीयत ख़राब है क्या!

लेकिन ये सांस्कृतिक जमावड़े मात्र हँसी-ठट्ठे की चीज़ नहीं हैं। स्वाधीनता संग्राम के दौरान अनेक क्रांतिकारी दल इन्हीं सांस्कृतिक अड्डों से प्रसूत हुए हैं, जैसे कि 'युगांतर' या 'अनुशीलन समिति'। इस पर लिखा भी जा चुका है, जहाँ तक साहित्य या नाटक या फ़िल्मों का प्रश्न है — ग़ौर से देखें तो किसी भी भाषा का साहित्य जितना उसके समय-समाज का ऋणी है उतना ही इन सांस्कृतिक जमावड़ों का। किसी भी साहित्यकार को सर्वाधिकार प्रेरणा इन्हीं गप्प-गोष्ठियों से मिलती है।

अतएव प्रिय पाठको, पप्पू की दुकान पर उस गरियाते-गपियाते हुजूम को हँसी-खेल न जानेंगे!

4. अंततः फुटकल ख़ाते में : पहली बात में बीती रात!

पहली बात तो यह है कि हिन्दी में यह नगर-संस्कृति पर पहली किताब है। हिन्दी में 'नगर जीवन' पर तो बहुतेरी हैं — एक ढूँढ़ो, हज़ार मिलेंगी, मसलन नई कहानी और साठोत्तरी कहानी का मुख्य उपजीव्य तो नगर-जीवन ही है, लेकिन वे मुख्यतः 'नागर-कथाएँ' है जिन्हें नागरिकों ने लिखा है, कभी-कभी रोज़गार की तलाश में गाँव से

शहर आ बसे 'एक पीढ़ीवाले' नागरिकों ने। उन कथाओं के केन्द्र में नागर-चरित्र हैं, कोई विशिष्ट नगर नहीं है। उनमें नगर हाशिए या पृष्ठभूमि पर है।

प्रश्न उठता है कि नगर-संस्कृति की शर्तें क्या हैं? विनीत मगर स्पष्ट परामर्श है कि कोई भी कृति अगर संपूर्ण नगर (जैसे दिल्ली, कोलकाता, मुंबई, चेन्नई) पर आधारित है तो वह नगर-संस्कृति की रचना नहीं होती, क्योंकि किसी भी महानगर की आत्मा उसके संपूर्ण क्षेत्र वर्गफलन या नगर-निगम-म्युनिसिपैलिटी की संपूर्ण परिसीमा में निवास नहीं करती, बल्कि इसके विपरीत, उस महानगर में टुकड़े-टुकड़े, उसकी विशिष्ट गाँठों या अंचल या किन्हीं मुहल्लों-चौराहों में, वहाँ की विशिष्ट जीवन-शैली में समाहित होती है।

उदाहरण के लिए, इलाहाबाद की नगर-संस्कृति इलाहाबाद में नहीं बल्कि लोकनाथ की गलियों व दारागंज-कीटगंज इलाक़े में निवास करती है। गया की नगर-संस्कृति टुकड़े-टुकड़े चौक, दक्खिन दरवाज़ा या टिल्हा इलाक़ों में समाहित है। इसी तरह कोलकाता का वास्तविक स्पंदन पूरे कोलकाता में नहीं बल्कि फुटबाल मैदान के आसपास, नाटकों के प्रेक्षागृह, पुस्तक मेले में — साउथ और नॉर्थ कोलकाता की भिन्न-भिन्न नगर-शैलियों में निहित है। उसका स्पंदन कुमार टोली (जहाँ मिट्टी की प्रतिमाएँ बनती है), कॉलेज स्ट्रीट की सेकेंड हैंड पुस्तकों की दुकानों पर व वहाँ के सांस्कृतिक-जमावड़ों में बसा हुआ हुआ है।

युरोप में, उसकी असंख्य नगर-संस्कृतियों पर प्रभूत परिमाण में साहित्य उपलब्ध है, वहाँ के रचनाकारों ने अकसर युरोप के छोटे-बड़े नगर-क़स्बों के जीवंत चित्र शब्दों में ढाले हैं, नगर संस्कृति पर अनवरत और प्रभूत लिखा है। वेनिस, टूरिन, प्राग, मिलान, मलागा, लिस्बन, मैड्रिड, ओस्लो, स्टॉकहोम, लिपज़िग, बेलग्रेड, इस्तांबुल, अंकारा, म्युनिख़, कोलोन, स्टुर्टगार्ड — कहाँ तक गिनाएँ, किन-किन रचनाकारों को उद्धृत करें — वहाँ नगर-संस्कृति पर लिखने की एक समृद्ध परम्परा है। हिन्दी के रचनाकार तो बाहर से उड़ आए पखेरू हैं, जो मात्र अंडियाने के लिए किसी नगर की किसी टहनी पर जा ठहरते हैं, वे 'बसते' नहीं हैं। उन्हें नगर-संस्कृति से क्या लेना-देना! अतएव लोगों को 'दिल्ली की दीवार' का गुप्तधन दिखाई दे जाता है, दिल्ली का स्पंदन सुनाई नहीं देता।

यह कृति बनारस की एक गाँठ (नोड) अस्सी पर आधारित है। कहते हैं कि वाराणसी दो नदियों की संयोग-स्थली है — वरुणा और अस्सी, दरअसल ये परस्पर-विरोधी नगर-संस्कृतियाँ हैं, जो चिरकाल से यहाँ अदृश्यतः प्रवाहित हैं। एक तरफ़ वरुणा का गुरु-गंभीर प्रशांत कछार है जो तल्लीन तपस्वियों की तपोभूमि है और वहाँ — 'स्निग्ध तरु की छाया में बैठ, परिषद करती सुविचार!' तो दूसरी तरफ़ अस्सी है — सबॉल्टर्न की अस्सी, जो दुनिया को एल.के.डी. रखती है — फक्कड़ और अलमस्त, मज़ाकिया और औघड़, जीवन की बड़ी से बड़ी समस्या को अपने अमुक पर रखकर माखौल उड़ाती शिव की बारात! वरुणा के किनारे कभी तुलसी बसते थे, जबकि अस्सी के किनारे कबीर, वरुणा के किनारे जयशंकर प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचंद बसते हैं, तो अस्सी के किनारे भारतेंदु, शिवशंभु, धूमिल और काशीनाथ सिंह।

निवेदन है कि अस्सी ने अपने जीवटपन के बल पर सदैव संभ्रांत-आभिजात्यपूर्ण वरुणा की धज्जियाँ उड़ाई हैं और यह पुस्तक वरुणा बनाम अस्सी के इसी सनातन और दुर्धर्ष समर पर आधारित है, यह द्वंद्व बनारस की अस्मिता है, उसकी विशिष्ट पहचान है — इसीलिए मैंने इस कृति को 'नगर-संस्कृति का महत्वपूर्ण दस्तावेज़' से सिरोपा है। यह भी अर्ज़ है कि बनारस की जनता सदैव अस्सी के पक्ष में 'मतदान' करती आई, उन्हें वरुणा कभी रास नहीं आई। इस पुस्तक से इतना तो पता चलता ही है।

अंततः एक प्रश्न उठाना चाहूँगा जो कि इन दिनों किसी महत्वपूर्ण कृति को देखते ही मेरे मन में फूट पड़ता है — क्या इसका लेखक इसे लिखने का वस्तुतः अधिकारी है? क्या अस्सी को लिखने का हक़ काशीनाथ सिंह के पास है?

मेरे मन में सदैव से यह धारणा बनी हुई है कि रामायण लिखने का वस्तुतः अधिकारी वाल्मीकि नहीं था, क्योंकि वह पाठ के भीतर क्रमवार नहीं था। रामायण लिखने का वास्तविक अधिकार राम, लक्ष्मण, हनुमान, रावण, मेघनाद, सुमंत, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि के पास नहीं था, भिन्न-भिन्न कारणों से, रामायण लिखने का कुछ-कुछ अधिकार सीता, लव-कुश और मारीच के पास था।

लेकिन रामायण को लिखने का वास्तविक अधिकारी विभीषण ही था, क्योंकि एकमात्र वही था, जिसने राम और रावण को क़रीब से देखा था, जिसने राम और रावण की दुर्बलताओं और उनकी फ़र्क़ हीनताओं को क़रीब से देखा था। युद्ध शुरू होते ही वह पाठ के बाहर चला गया और यही उसके हक़ का एंट्री-प्वॉइंट था।

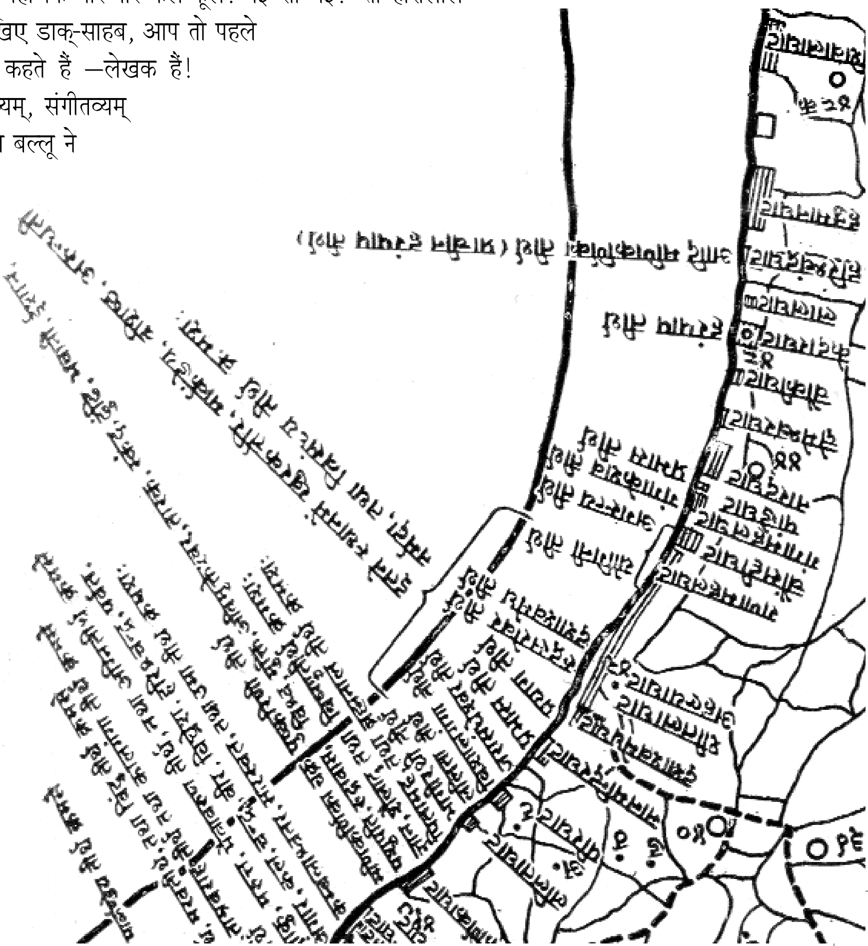
निवेदन है कि अस्सी-कथा को लिखने का वास्तविक हक़ इसके विभीषण उर्फ़ काशीनाथ सिंह के पास ही था, क्योंकि वह पाठ के भीतर था तो बाहर भी। अस्सी-कथा को लिखने का वास्तविक अधिकार तन्नी-गुरु, गया सिंह, मादलेन, पप्पू, बारबार बाबा, रामवचन पांडे, राजकिशोर, ब्रह्मानंद सहोदर आदि के पास नहीं था, क्योंकि वे पाठ में ही क़ैद होकर रह गए, 'कथा' से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाए।

इस संपूर्ण कथा में काशीनाथ सिंह ने अपनी थ्री-डायमेंशनल उपस्थिति को ख़ूबसूरती से बनाए रखा — पप्पू की दुकान के एक नियमित सदस्य डाक-साहब के रूप में, अर्थात् एक चीख़ के रूप में, कथा के केन्द्र में एक द्रष्टा-चरित्र के रूप में और कथा या पाठ के बाहर अस्सी के चारण-कवि के रोल या खोल में घुसपैठ कभी नहीं की, इस कथा की विलक्षणता का रहस्य इसी में छुपा है।

वैसे अस्सी-कथा को लिखने-कहने का वास्तविक हक़ बिरहिया बल्लू या हीरालाल के पास था — मगर उन्हें गाने-बजाने से फ़ुर्सत कहाँ! लेकिन यह कॉपीराइट काशीनाथ सिंह कैसे हड़प गए, राज़ कुछ और है। ये और क़िस्सा है कि अस्सी के किसी अन्य भेदी 'दूसरे विभीषण' ने ये राज़ की बात मुझे क्यों बताई!

एक दिन पप्पू की दुकान पर डाक-साहब हीरालाल और बल्लू को लिवा लाए, चाय-वाय पिलाई, भांग की गोलियाँ परोसी, दुकान ख़ाली थी। गऊ से सीधे बल्लू, सांड से बेफ़िक्र हीरालाल। बल्लू ने इच्छा ज़ाहिर की — 'डाक् साहब, लिख दें अस्सी-कथा?' चौंकने का उच्चस्तरीय अभिनय करते हुए डाक् साहब बोले — 'अरे, न्न्न्! ये भूल कभी मत करना! लिखने से बड़ा अनर्थ हो जाता है, गिल्ली ग़ायब हो जाती है! दिखाएँ?' पप्पू ने मुँह घुमा लिया, बल्लू भौंचक — ऐसा? तो, पत्नी लिखने को मना नहीं करती?' डाक-साहब बोले — 'मना तो करती है, मगर क्या फ़ायदा! गिल्ली कोई बिजली तो नहीं कि आए-जाए, कोई पपीता तो नहीं कि बार-बार फले-फूले! गई सो गई!' तो हीरालाल ने सुझाया — 'तो आप ही लिखिए डाक्-साहब, आप तो पहले से गिल्ली-कट यानी कि क्या कहते हैं —लेखक हैं! लिखितव्यम् तो गिल्ली कटितव्यम्, संगीतव्यम् त गिल्ली बचितव्यम्'। उसी रात बल्लू ने एक गीत रचा —

कौन ठगवा नगरी लूटल हो,
गिल्ली देके, सगरी लूटल हो।



सेक्स रेवॉलूशन: ज़िन्दाबाद

विपिन भाटी

1990 की बात है, दुनिया बदल रही थी जैसे कि हमेशा बदलती है। साहिबाबाद में तब लड़के ही लड़के दिखते थे। Correspondence course करते लड़के। Competition की तैयारी के इंतज़ार में लड़के। नौकरी न होने पर दहेज की आस में बैठे लड़के। ...और कुछ यूँ ही ख़ाली लड़के। दरअसल, सूचना क्रांति, नई आर्थिक नीतियों और अजीबोगरीब शिक्षा तंत्र ने ऐसे पढ़े-लिखे नौजवानों और कुछ पुराने जवानों की एक फ़ौज तैयार कर दी थी जो Cable T.V. देख-देख कर ऊँचे ख़्वाब देखने लगे पर भविष्य की अनिश्चितता और साहिबाबाद के रमणीय माहौल के कारण कार्य तुच्छ करने लगे। ये ख़तरा पैदा हो गया कि इन लड़कों का असंतोष और नैसर्गिक ऊर्जा कहीं समाज में क्रांति लाने के लिए इस्तेमाल न हो जाए। पर उनका सारा जोश cricket खेलने और cricket पर लम्बी बेबुनियाद और तर्कहीन चर्चाओं की ओर मुड़ गया। और भारत जैसा महान देश एक औपनिवेशिक खेल की बदौलत एक बार फिर सामाजिक असंतुलन और बदलाव से बच गया।

साहिबाबाद में अन्य चीज़ों की तरह 'चक्कर' में sex को पूंजीवाद के प्रतीक के रूप में देखा जाता था। यही कारण था कि चक्कर चलाने के सारे आयाम Public Domain में होने के बावजूद sex को उससे नहीं जोड़ा गया था। और इस प्रकार love को बुर्ज़ुआ पूँजीवाद से मुक्त कर साहिबाबाद में चक्कर चलाने का दौर बुलन्द था। जिस प्रकार हर सरकारी तन्त्र में एक अभिजात्य शासक वर्ग होता है (उसी प्रकार) साहिबाबाद के कुछ चक्कर अन्य की अपेक्षा ज़्यादा महत्व लिए थे। शायद ही कोई चक्कर हो जिसके मानक फूल, गिफ़्ट्स, फ़िल्में, और पार्क होने की बजाय धूल, भयावह गर्मी, थकान, बोरियत और भीड़ हों। परन्तु साहिबाबाद की जीवन्त परम्परा के अनुसार यहाँ का सबसे लम्बा और सर्वाधिक लोकप्रिय चक्कर इन उपरोक्त चीज़ों की बदौलत ही याद किया जाता है।

गंजे और गुड्डी के चक्कर का एक प्रतीकात्मक दिन इस प्रकार होताः

सुबह मेहँदी घोलने की तैयारी के बीच एक फ़ोन। फ़ोन के बाद गुड्डी का विपिन को यह बताया जाना कि गंजे ने साहिबाबाद स्टेशन पर मिलने को कहा है। अब इस विषय पर गोष्ठी होती है कि दस बजे वाली ट्रेन या एक बजे वाली। काफ़ी सोचने पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि ठीक दोपहरी में एक बजे वाली ट्रेन लेना ही सही है, वर्ना बालों में मेहँदी लगाना रह जाएगा। वैसे भी मेहँदी की permanence को चक्कर की क्षणभंगुरता की अपेक्षा अधिक नम्बर मिलते थे। बाक़ी मंडली का इस बात से आनन-फ़ानन में ही अवगत हो जाना होता था कि गंजे और गुड्डी निकल पड़े हैं मिलने और इसके अनुसार अपनी दिनचर्या को सेट कर लो। इधर शाम को वापसी पर मंडली का मिंटो ब्रिज स्टेशन पर पहुँचना अनिवार्य था। वहाँ गंजे और गुड्डी अलग-अलग बैठे होते। गंजा अपनी चिर-परिचित मुद्रा में मुँह फुलाए और मंडली की सार्वजनिक बैठक का इंतज़ार, क़मीज़ के दो बटन खोलकर कर रहा होता। गुड्डी सबसे पहले खुश होकर अलग से आज की नोंक-झोंक का कारण बताने को उत्सुक होती। कारण वही तुच्छ सा — 'यार सामने रंगा अंकल खड़े थे और ये मेरे कंधे पर सिर रख रहा था'। गंजे का कहना था कि 'उस दिन तो अपने भाई के कंधे पर बड़े आराम से सिर रख लिया था'। और यह कहकर

दोनों कई घंटे गर्मी में वापस जाने वाली ट्रेन का इंतज़ार, जो क़रीब 5 घंटे बाद थी, कनॉट प्लेस के वाहियात चक्कर लगाने में व्यस्त हो जाते और सड़ी गर्मी की चपेट में लहूलुहान हुए शरीर की दशा के लिए मन ही मन एक दूसरे को दोषी ठहराने लगते। गुड्डी तो आज शाम को होने वाली बैठक में आज की छीछालेदर का आनन्द लेने के लिए बैचेन हो उठती। बिना आवाज़ किए दोनों एल-ब्लॉक में *निरूलाज़* के सामने वाले चबूतरे पर जा बैठे। वहाँ बैठे चाय वाले ने उत्तेजित हो उन्हें सलाम किया जिसका गंजे पर कोई असर नहीं हुआ। पर गुड्डी ने एक फीकी मुस्कान बिखेरकर चाय वाले को मानो सूचित किया कि आज भी मौसम ख़राब है। अब धीरे-धीरे मंडली के सदस्यों का आगमन शुरू हुआ। गिन्टी जो आस-पास ही मंडरा रहा था, अचानक प्रकट हुआ और गुड्डी की तरफ़ मुस्कुराया जिससे गंजे की भृकुटी तनी और उसने बेमतलब में 50 मीटर का एक चक्कर लगाया। गिन्टी और गुड्डी ने शीघ्रता से इस दौरान गंजे की बुराई कर ली तथा यही नहीं, उसे impractical घोषित कर ऐसे बैठ गए जैसे कि Supreme Court ने किसी याचिका पर अंतिम फ़ैसला दे दिया हो। चाय की चुस्कियों के दौरान ही दीपक खट्टर और अमित का प्रवेश हो गया, जो कुछ नई pant-shirt कम भाव में ख़रीद कर लाए थे। गिंटी ने उनमें से कुछ को वहीं पहनने की ज़िद की और कुछ पर व्यंग्य बाण छोड़े। गंजे ने चाय पीकर फिर से mainstream में प्रवेश किया और इल्ली के आते ही उसे फटकार लगाई कि वह वहाँ क्यों आया है।

उसका नाम इल्ली इसलिए पड़ा क्योंकि चने के झाड़ पर लगने वाले कीड़े की तरह वह कहीं भी किसी भी समय प्रकट हो सकता था तथा लाख कोशिश के बाद भी चिपका रहता था। इल्ली ने अपने नाम को चरितार्थ करते हुए इस फटकार को दरकिनार किया और गंजे से लिपट गया और साथ न छोड़ने का बिन माँगा वादा किया। अब शुरू हुआ दोपहरी में कनॉट प्लेस के फेरे लेने का सिलसिला जो बीच में चाय की तलब और भूख, दोनों विषयों पर होने वाली गहन चर्चा के लिए कभी-कभी रुकता। चर्चा का विषय वही होता, अब क्या करें तथा कहाँ क्या खाएँ। लोकतंत्र की मर्यादाओं का पालन करने की धुन में कुछ फ़ैसला न हो पाता तथा 'मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक' वाली कहावत को सही सिद्ध कर वापस चबूतरे के चाय वाले का बिज़नेस बढ़ाया जाता। सामने *निरूलाज़* में जाने की मंडली के छोटे सदस्य जैसे दीपक और अमित की इच्छा गंजे द्वारा मार्क्सवादी दुराग्रह के चलते कठोरतापूर्वक दबा दी जाती। ये अलग बात है कि जब कभी रोमांस का थर्मामीटर अच्छा अंक दिखा रहा होता तो गंजे के द्वारा *निरूलाज़* में जाना एक सामान्य बात होती। बीच-बीच में गंजे के द्वारा गाए गानों से उसकी मनःस्थिति का अन्दाज़ा लगाया जा सकता था। मसलन, अगर गाना होता था "समाँ है सुहाना" तो इसका अर्थ होता था, शाम हो रही है सारा दिन तो बर्बाद हो गया अब थोड़ा मेल बढ़ाया जाए। वैसे भी विपिन के आने का समय हो गया था और *यादों की बारात* वाला गाना गाए जाने को बेताब था। कभी-कभी चम्पी, जो लुफ़्थांसा (Lufthansa) में मैनेजर था, के आने से मंडली में sophistication की मात्रा बढ़ जाती और गंजे और गुड्डी के रोमांस से थके माहौल में अचानक बातचीत कॅरियर के सवाल के आस-पास झूमने लगती तथा इसी के साथ खान-पान पर किया जाने वाला ख़र्च भी भारत के बजट की तरह बिना बताए बढ़ जाता। इधर कूड़ी ने कुत्ते की भयंकर आवाज़ निकाल कर मंडली को अपने आने की सूचना दी। उसका मंडली को भीड़ भरे स्टेशन पर ढूँढने का यही नुस्ख़ा था। इस कुकरहाव के बाद गंजे और गुड्डी के विषय पर हो रही गहन बातचीत पर विराम-सा लग जाता। वैसे बातचीत का आशय घूम-फिर कर यही था कि — क्या किया जाए? उसको कभी-कभी possessiveness, relationship में freedom तथा प्यार की सार्थकता जैसे विषयों के भार से इस तरह दबाया गया था कि इन शब्दों को सुनते ही लोगों की उल्टी का भय

सुबह मेहँदी घोलने की तैयारी के बीच एक फ़ोन। फ़ोन के बाद गुड्डी का विपिन को यह बताया जाना कि गंजे ने साहिबाबाद स्टेशन पर मिलने को कहा है। अब इस विषय पर गोष्ठी होती है कि दस बजे वाली ट्रेन या एक बजे वाली। काफ़ी सोचने पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि ठीक दोपहरी में एक बजे वाली ट्रेन लेना ही सही है, वर्ना बालों में मेहँदी लगाना रह जाएगा।

रहता था। कुल मिलाकर प्रेम, चक्कर, falling in love, और loving में difference इत्यादि विषयों की लीद इस तरह निकाल दी गयी थी कि कोई व्यक्ति इनसे बचने के लिए किसी भी हद तक जा सकता था। यहाँ तक कि स्टेशन पर Dumb Charades भी खेल सकता था। और होता भी यही। शाम की थकन व उमस, दिन भर की शारीरिक कसरत के बाद मंडली चाय की शर्त लगाकर स्टेशन पर Dumb Charades खेलना शुरू करती जिसमे गिंटी को आपत्ति होने की वजह से उसे टाइम-कीपर बनाया जाता तथा इस चक्कर में शाम की सारी ट्रेन छोड़ दी जातीं। आख़िरी ट्रेन से साहिबाबाद पहुँच वहाँ हारी हुई टीम, जो हमेशा इल्ली और गुड्डी की होती, चाय पिलाती और सब लोग यह निश्चय करते हुए विदा लेते कि दोबारा ऐसा दिन नहीं बिताएंगे। इस निश्चय का हश्र चुनावी वादों की तरह होता। फ़र्क़ इतना था कि इसे टूटने में मात्र दो दिन का समय लगता।

अब यह transition ...

मंडली के महत्वपूर्ण सदस्य जैसे दीपक, डिम्पी, अमित, नितिन वग़ैरह किताबी ज्ञान से वंचित, मार्क्सवाद से मुक्त व क्रांतिकारिता के अभाव में ख़ुद को मंडली के शीर्ष वर्ग की तुलना में तुच्छ पाकर प्रेम से भी अपने को वंचित रखने लगे। वैसे भी platonic love के दुराग्रह उनकी समझ से परे थे। रोमांस के प्रति ऊपर से लादे गए विचारों को हज़म करने में उन्हें अपच तो हुई किन्तु फिर भी वे एक अनकही मर्यादा में बँधे रहे। किन्तु जब भारतीय बाज़ार विदेशी माल के लिए खुलने लगे और साहिबाबाद की सड़कों पर 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद', 'ड्यूहरिंग मतखंडन' की बजाय *Chicken Soup for the Soul* और दीपक चोपड़ा इत्यादि दिखाई देने लगे तो ऐसे में साहिबाबाद के मस्तिष्क में भी नए सवाल उठ खड़े हुए। लेकिन जिस प्रकार ग्लासनॉस्त की मार से गोरबाचेव धराशाही हुए उसी तरह प्रेम में खुलेपन को लाने के बाद गंजे, विपिन इत्यादि अपने-अपने प्रेम को न बचा पाए। और इस प्रकार से sexual revolution अपने सपूतों को खा गया। मतलब ये कि मंडली के शीर्ष वरीयता प्राप्त चक्करों में लात पड़ने लगी और बौने सदस्यों ने नई क्रांति के बिगुल बजा दिए। चेलों ने गुरुओं की Girlfriends मार लीं और गुरू, रोमांस की भाषा में, सड़क पर आ गए। लेकिन इससे बहुत पहले अकेले एक व्यक्ति अमित ने अपने से दुगुनी उम्र की औरतों से चक्कर चलाकर साहिबाबाद में नए युग का आह्वान किया तथा 'Joy of Sex' नामक किताब का साहिबाबाद में प्रवेश हो गया। साहिबाबाद की ईंटें चीख़-चीख़ कर कहने लगीं कि intellectual प्यार के दिन लद चुके हैं और नए परिवेश और भूमंडलीकरण के दौर में प्यार पर भी मंडली के दिग्गजों की monopoly नहीं रहेगी।

Sex Revolution ज़िन्दाबाद!





कामना का शहर

ये हक़ाइक़ की चट्टानों से तराशी दुनिया
ओढ़ लेती है तिलिस्मों की रिदा रात गए

- जाँ निसार अख़्तर

हमारा दौर कामना के विस्फोट का दौर है। सूचना प्रौद्योगिकी क्रांति — कंप्यूटर, इंटरनेट, मोबाइल फ़ोन, मीडिया पॉर्नोग्रफ़ी आदि आज शहरी समाज में दैहिक कामनाओं की पूर्ति के नए महत्वपूर्ण उपकरण बन गए हैं। उपभोक्ता संस्कृतियों में ज़बर्दस्त गतिशीलता और पूरब-पश्चिम की सीमाओं के आर-पार फ़ौरी अनुकरणीयता संभव हुई है। शहर के रिज, सार्वजनिक पार्कों, ऐतिहासिक क़िलों आदि में पनपते प्रेम, शहर की तंग गलियों के लालबत्ती क्षेत्र, कॉलगर्ल्स के अड्डे, मुहल्लों, दफ़्तरों आदि में बन रहे विवाहेतर संबंध आदि बेशक शहरी कामाचार के सामूहिक केंद्र होते हैं। इन सबके अलावा जनसुविधाओं के सार्वजनिक स्थलों पर दर्ज पॉर्न टीका-टिप्पणियाँ, यौन हेल्थ क्लिनिक, हिजड़े, समलैंगिक आदि शहर की सेक्शुऍलिटी का ताना-बाना गढ़ते हैं।

पीछे मुड़कर देखने पर लगता है कि शहरी सामाजिक स्थलों में मनोरंजन की नैतिकता भी पुराने ज़माने के मुक़ाबले काफ़ी ढीली पड़ी है। लेकिन नाइजीरियाई सिनेमाघरों का विश्लेषण बताता है कि इस परिवर्तन की प्रक्रिया आसान नहीं रही है। कुछ तबक़ों द्वारा सिनेमाघर ऐसे तनाव स्थल के रूप में देखे जाते थे जहाँ विभिन्न सामाजिक पायदानों/समुदायों/लिंगों/नस्लों के लोग मेलजोल के ज़रिए नैतिक संकट पैदा करते हैं। औपनिवेशिक सरकारों ने भी सिनेमाघरों को नियंत्रण की ज़मीन या उसके औज़ार के रूप में देखा। सिनेमाघर हैं तो फ़िल्में भी होंगी और उनका प्रचार-प्रसार भी होगा। तकनीकी विकास ने आज भले ही फ़िल्मों के प्रचार-प्रसार की तकनीक में क्रांतिकारी बदलाव ला दिए हों लेकिन उसका यह सफ़र पोस्टर से ही शुरू होता है। तकनीकी विकास के साथ-साथ इसके स्वरूप में तो दिलचस्प बदलाव आए ही हैं इसकी छपाई, डिज़ाइन, वितरण आदि इलाक़ों में भी नायाब प्रयोग हो रहे हैं।

शहर और बाज़ार का साथ चोली-दामन का है। पर चकाचौंध भरे शहरी बाज़ारों से अलग शहर के अलग-अलग मुहल्लों में लगने वाले हाटनुमा साप्ताहिक बाज़ार शहरी जनसंस्कृति का एक नया रूप गढ़ते हैं। बल्लियों-बाँसों पर टंगे कपड़े, पटरी या ज़मीन पर चटाई बिछाकर रखे प्लास्टिक के बर्तन, कॉस्मेटिक्स के सामान, मसालों के बोरे, चादरें, घर में काम आनेवाली रोज़मर्रा की अनगिनत चीज़ें यहाँ मिलती हैं भले ही उन पर छपे लेबल किसी मशहूर ब्रैंड की खुशफ़हमी पैदा करें। बहरहाल, शहर के हाशिए पर चल रहे इस हाट-बाज़ार के कारोबारी पुलिसिया उत्पीड़न से बचते-बचाते न केवल धड़ल्ले से अपनी रोज़ी-रोटी चलाते हैं बल्कि आम लोगों की रोज़मर्रा की ज़रूरतें भी पूरी करते हैं। रोज़ी-रोटी और रोज़गार की तलाश में शहर आए लोग अपने साथ अपनी आस्था भी लेकर आते हैं। पूर्वांचल से दिल्ली में आकर बसे हिंदुओं के महत्वपूर्ण और पवित्र व्रत-त्योहारों में से एक है छठ पर्व। इन शहरी प्रवासियों के बीच सूर्य की पूजा-आराधना के इस पर्व का आयोजन पिछले कुछ वर्षों में और व्यापक हुआ है। शहर की प्रतिस्पर्धात्मक राजनीति ने भी इसे लपकने में कोई कसर नहीं छोड़ी है।

दिल्ली में ही मेट्रो की बड़ी धूम है। मुमकिन है आने वाले सालों में ऑटो ऐतिहासिक वस्तुएँ बन कर रह जाएँ। बेहतर होगा कि उनके पीछे छपे नारों में बयान ज़िंदगी के फ़लसफ़े को अभी दर्ज कर लिया जाएः

हम वो दिवाने हैं जो ताज़ा हवा लेते हैं।
खिड़कियाँ खोल के मौसम का मज़ा लेते हैं।।

शशिकांत

नाइजीरिया – सिनेमा हॉल की ज़मीन पर

ब्रायन लार्किन

"ज़रा मुझे प्लाज़ा पर छोड़ देना।" "एल डोराडो पर मिलना।" उत्तरी नाइजीरिया के कानो शहर में राह चलते कही गई इन दिशासूचक बातों से इस शहर में सिनेमाघरों की भूमिका साफ़ समझी जा सकती है। कानो के शहरी भू-दृश्य में विशालकाय इमारतें जगह-जगह सिर उठाए खड़ी दिखाई देती हैं। यहाँ की बसें, टैक्सियाँ, और मोटरबाइकें हर रोज़ लोगों को घर से काम, काम से बाज़ार, और बाज़ार से वापस घर लेकर आती हैं। इस दौरान यहाँ के लोग लाज़िमी तौर पर इन इमारतों से भी रूबरू होते हैं। हालाँकि इनमें से ज़्यादातर मुसाफ़िरों की फ़िल्मों या थियेटर में ख़ास दिलचस्पी नहीं होती मगर अपने सार्वजनिक परिक्षेत्र को सिनेमाघरों, मस्जिदों, डाकख़ानों, अमीर के महल और उपनिवेशवादी ज़माने के बाद बनी दूसरी संस्थाओं के ज़रिए पहचानना उन्होंने अच्छी तरह सीख लिया है। इन सिनेमाघरों के बाहर बहुत सारे छोटे-मोटे दुकानदार, यूँ ही वक़्त काटते ठलुए, मेकैनिक और फ़िल्मों के शौक़ीन सिनेमा द्वारा रची गई एक ख़ास सामाजिक दुनिया पर निर्भर रहते हैं। सिनेमाघरों के पीछे और आजू-बाजू में लड़के उनकी ऊँची-ऊँची काली दीवारों के सामने फ़ुटबॉल खेलते हैं। बीच-बीच में कुछ लोग उस दीवार पर जाकर पेशाब भी कर आते हैं जहाँ बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हुआ है कि "यहाँ पेशाब न करें"।

इस लेख में सिनेमा की भौतिकता की पड़ताल करने की कोशिश की गई है। हालाँकि यह लेख सिनेमा की फ़ंतासियों से बनने वाली दुनिया के बारे में है, मगर ऐसा कहने से मेरा आशय उस जादुई दुनिया से नहीं है जिसमें सिनेमा अपने दर्शकों को ले जाता है। बल्कि मैं तो फ़ंतासी को आम चीज़ों में, ख़ासतौर से दैनिक ज़िंदगी के जिन्सीकृत तत्त्वों की ठोसता में छिपी ऊर्जा के रूप में देखता हूँ (देखें बेंयामिन 1978)। ये चीज़ें सिर्फ़ ऐसे उत्पाद नहीं हैं जिन्हें लोग ख़रीदते हैं बल्कि ये चीज़ें शहरी रिहाइश को उसका परिपूर्ण ऐन्द्रिक अनुभव प्रदान करती हैं। दूसरे शब्दों में, मेरा यह निबंध सार्वजनिक संस्थानों के तौर पर सिनेमाघरों की भौतिक संस्कृति के बारे में है। इसमें मैंने शहरी भू-दृश्य में सिनेमाघरों के वास्तुशिल्प और उनकी जगह को लेकर चली खींचतान को औपनिवेशिक शहरीकरण के थोपे जाने की ठोस उपमाओं और औपनिवेशिक जीवन में आधुनिकता के अनुभवों के तौर पर आँकने की कोशिश की है।

कानो में सिनेमाघरों की आमद के साथ कई तरह के विवाद उठ खड़े हुए। एक विवाद इस बात को लेकर था कि शहर में थियेटर या सिनेमाघर किस जगह बनाए जाएँ। इस नई तकनीक के शैतानी स्वरूप की अच्छाइयों-बुराइयों और इस बात को लेकर भी ख़ूब बहस थी कि किसको सिनेमा में जाने दिया जाए और किसको नहीं। सिनेमाघरों ने सामाजिक मेल-मिलाप के ऐसे नए तरीक़े गढ़ दिए जो स्थान, स्त्री-पुरुष और सामाजिक ऊँच-नीच के प्रचलित संबंधों को चुनौती देते थे। सिनेमाघरों को लेकर उठने वाले ये विवाद अकसर शहरी स्थान के पुनर्सीमांकन में संघर्ष के क्षण थे। एक तरह से देखें तो ये विवाद अतिक्रमणकारी और आक्रामक औपनिवेशिक आधुनिकता के सामने हौसा समुदाय की नैतिक पहचान और दायरे को पुनर्परिभाषित और पुनर्निर्मित करने के प्रयास थे। हौसा समुदाय में सिनेमा जैसी नई टेक्नॉलजी की... क्या हो, यह तय होना अभी बाक़ी था। सिनेमा के बारे में हौसा समुदाय के लोगों की सोच, उनकी कहानियाँ और अफ़वाहें तथा इस टेक्नॉलजी का ज़िक्र करने के लिए

इस्तेमाल होने वाले शब्द — इन सब में उपनिवेशवाद और शहरी अनुभवों के इतिहास की छाप दिखाई देती है। इनसे हमें पता चलता है कि एक टेक्नॉलजी के रूप में सिनेमा किस तरह हौसा समुदाय में दाख़िल हुआ और कैसे लोगों की कल्पनाओं का केंद्रबिंदु बन गया।

औपनिवेशिक शासन से आज़ाद हुए नाइजीरिया जैसे अफ़्रीकी देशों में सिनेमा जाना कोई साधारण या स्थानीय अनुभव नहीं था। यह एक ऐसा अनुभव रहा है मानो आप अफ़्रीका के बाहर किसी देश की सैर पर जा रहे हों।[1] सिनेमाघर की गैलरी से उसकी अंधेरी रात में दाख़िल होने पर दर्शक जादुई ढंग से एक ऐसी दुनिया में पहुँच जाता है जहाँ अमेरिकी यथार्थ, भारतीय भावनाएँ और हाँगकाँग की नृत्य रचना न जाने कब से नाइजीरियाई रजत पट की फ़ंतासी पर क़ब्ज़ा जमाए बैठी है। मगर सिनेमाघर एक अनूठा सामाजिक परिक्षेत्र है। वहाँ मौजूदगी और ग़ैर-मौजूदगी, जड़ता और आवागमन का द्वैध दिखाई देता है। लिन किर्बी (1997) के शब्दों में वहाँ गति के बिना यात्रा का सा विरोधाभास दिखाई देता है। लोगों, विचारों और वस्तुओं को आंदोलित व अस्थिर कर देने की अपनी इस क्षमता के कारण ही सिनेमा को निर्णायक रूप से आधुनिक माना जाता है। सांस्कृतिक औपनिवेशिकता के भूत को जन्म देने वाली पल-पल बदलती तस्वीरों की बौछार स्थानीय दायरों की सीमाओं को ख़तरे में डाल देती है। सिनेमा यात्रा की यह प्रक्रिया दुविधापूर्ण भी है और बहुअर्थी भी। राष्ट्रों के आर-पार होते सांस्कृतिक प्रवाहों के ज़रिए यह प्रक्रिया "स्थान की सांस्कृतिक विशिष्टता" (वॉर्ड्स 1996ः 64) को कमज़ोर करने लगती है। लेकिन एक सांस्कृतिक परत रच कर यह अपनेपन के स्वरूपों को दोबारा पुष्टि और सघनता भी प्रदान कर सकती है क्योंकि इस परत के विरुद्ध देशी धार्मिक, जातीय और राष्ट्रीय पहचानें और पुख़्ता भी हो सकती हैं। और आख़िर में, इस्लामी या हिंदू पुनर्नवीकरण के ज़रिए यह प्रक्रिया आधुनिकता के ऐसे वैकल्पिक स्रोतों को भी बढ़ावा दे सकती है जो स्थान और समाज के रूपांतरण के अपने विशिष्ट तरीक़ों के आधार पर पश्चिमीकरण की प्रतिक्रिया में आकार लेते हैं।

अपने एक और लेख में मैंने इसी तरह मीडिया के सामाजिक परिक्षेत्र का भी विश्लेषण किया है। वहाँ मैंने फ़ंतासियों की उस दुनिया का विश्लेषण किया है जहाँ सिनेमा अपने दर्शकों को ले जाता है। उस लेख में मैंने इस बात को समझने की कोशिश की है कि हौसा दर्शक भारतीय फ़िल्मों को किस तरह एक ऐसे सुरक्षित तीसरे दायरे के रूप में देखते हैं जहाँ वह पश्चिमी आधुनिकता और हौसा परंपराओं के विकल्प की कल्पना कर सकते हैं (देखें लार्किन 1997)। (हालाँकि सिनेमाघरों को अकसर एक ऐसे कारक के रूप में देखा जाता है जो आवाजाही और गतिशीलता को बढ़ावा देता है। मगर इसके साथ ही ये इमारतें शहरी भू-दृश्य का एक बेहद संकीर्ण और अंतरंग हिस्सा भी हैं जो अपने इर्द-गिर्द ऐसे सामाजिक व्यवहारों का एक ढेर जुटा लेता है।) सामाजिक व्यवहार सिनेमा जाने की क्रिया को एक ऐसी घटना में तब्दील कर देते हैं जिसका मक़सद स्क्रीन पर दिखाई जाने वाली फ़िल्मों से कहीं बढ़कर होता है — और कई बार तो उसका इन फ़िल्मों से कोई संबंध ही नहीं होता। मीडिया के सामाजिक परिक्षेत्र का यह आयाम उन स्थानों पर ध्यान केंद्रित करता है जिन्हें सिनेमाघर अपने भौतिक गुणों और शहरी भू-दृश्य में अपनी जगह के ज़रिए रच देते हैं। यहाँ मेरा फ़ोकस "विशिष्ट दायरों की भौतिकता" पर है जो "वस्तु के ऐंद्रिक और भौतिक गुणों" की ओर ध्यान आकर्षित कर देती है और इन गुणों के ज़रिए "हम सांस्कृतिक जीवन और मूल्यों के साथ सूक्ष्म संबंधों की परतें खोल पाते हैं" (मिलर 1997ः 9)। बहुत सारे विद्वानों ने सिनेमा जाने की क्रिया को एक बोधात्मक व्यवहार के रूप में देखने के चक्कर में सिनेमा के स्थान को एक तटस्थ नज़र से देखने की कोशिश की है। हालाँकि हॉलीवुड, बॉलीवुड तथा अन्य राष्ट्रीय सिनेमाओं ने दर्शकों में समरूपता पैदा करने के लिए पाठीय संबोधन के संबंधों का नियमन करने के लिए काफ़ी ज़ोर लगाया है परंतु व्यवहार में सिनेमा का अनुभव अभी भी अत्यंत स्थानीय क़िस्म का ही है। एक ठोस व्यावसायिक रूप ले चुकने के बावजूद सिनेमाघर हमारे सामने ऐसी भौतिक वस्तुएँ प्रस्तुत नहीं करते जिन्हें हम अपने साथ घर ले जा सकें। वह हमें सिर्फ़ ऐसा भावनात्मक अनुभव ही उपलब्ध करा पाते हैं जो प्रकाश, दृष्टि, गति और सामाजिकता के ख़ास संबंधों से नियंत्रित ऐंद्रिक वातावरण पर आधारित होता है।[2] सिनेमाघरों के भवनों का विश्लेषण करते हुए और कानो के मानचित्र पर उनकी जगह के चुनाव को लेकर चली खींचतान का विश्लेषण करते हुए मैं सिनेमा के अध्ययन को उन सामाजिक व्यवहारों के अध्ययन की तरफ़ मोड़ना चाहता हूँ जो इन थियेटरों से पैदा होते हैं।

यहाँ मैं इस बात की पड़ताल करना चाहता हूँ कि सिनेमा के इर्द-गिर्द एक ख़ास वातावरण किस तरह रचा जाता है। इसके सहारे मैं औपनिवेशिक शहरीकरण के स्वरूप को भी समझने की कोशिश करूँगा।

सिनेमा, फ़िनौमनॉलजी और औपनिवेशिक आधुनिकता

वॉल्टर बेंयामिन ने ऐसी वस्तुओं की बेहद शक्तिशाली व्याख्याएँ रची हैं जो इतिहास के आवेग में लुप्त हो चुकी थीं या जिनकी अहमियत सामाजिक और आर्थिक संरचना में आ रहे बदलावों में दब चुकी थी। मिसाल के तौर पर, पेरिस के आर्केड्स के बारे में उनका प्रसिद्ध विश्लेषण इन तोरण पथों के नएपन पर नहीं बल्कि इस तथ्य पर आधारित था कि कभी वह भी नए थे और अब उनका ऐतिहासिक क्षण बीत चुका है। बेंयामिन के दोस्त एडॉर्नो के मुताबिक़ उन्होंने "सांस्कृतिक टुकड़ों की एक ऐसी पथरीली... या पुरानी पड़ चुकी फ़ेहरिस्त" रची जिसने हमें ऐतिहासिक प्रक्रिया या "संस्कृति की अभिव्यक्ति" का ठोस दैहिक स्वरूप उपलब्ध करा दिया (बक-मोर्स में उद्धृत, 1989: 58)। बेंयामिन ने भौतिक संस्कृति के इस आकर्षक सैद्धांतीकरण के बारे में सीगफ़्राइड क्रैकॉव से भी ज़िक्र किया जिन्होंने हाशिए के, क्षणिक, और ठोस के ऐतिहासिक-दार्शनिक अध्ययन की आधारशिला रखी थी। बेंयामिन की तरह क्रैकॉव भी सतह पर दिखाई देने वाली परिघटना में ही दिलचस्पी ले रहे थे और उनका तर्क था कि उनका हाशियाई, व्यापक उत्पादित स्वरूप सामाजिक व्यवस्था के लिए एक उद्बोधक तत्त्व है। अपने निबंध "दि मास ऑर्नमेंट" में उन्होंने लिखा कि "ऐतिहासिक प्रक्रिया में एक युग को जो जगह मिलती है, वह... उसकी अचेत सतह स्तरीय अभिव्यक्तियों के विश्लेषण से निर्धारित की जा सकती है।" इस निबंध में उन्होंने तर्क दिया कि "अभिव्यक्तियाँ... अपने अचेत स्वरूप के परिणामस्वरूप चीज़ों की स्थिति की बुनियादी अंतर्वस्तु तक एक प्रत्यक्ष पहुँच मुहैया करा देती हैं" (क्रैकॉव 1995: 75)।

क्रैकॉव और बेंयामिन, दोनों के लिए ही ज़िंदगी का दैनिक पठार — दीवार पर लगे पोस्टर, दुकानों पर लगे बोर्ड, नाचने वाली लड़कियाँ, धड़ाधड़ बिकती किताबें, पैनोरमा, शहर की बसों का आकार, शक्ल और आवाजाही — ये सारी चीज़ें उस फ़ंतासीपूर्ण ऊर्जा की सतही अभिव्यक्तियाँ हैं जिनके ज़रिए समूह अपनी सामाजिक व्यवस्था को देखता है। यह संरचना आधुनिकता की शहरी संस्कृति का एक परस्पर गुंथा हुआ विश्लेषण मुहैया कराती है। ऐसा विश्लेषण जिसमें एक-दूसरे से बिलकुल विपरीत परिघटनाएँ संरचनागत ढंग से एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। बेंयामिन को यांत्रिक पुनरुत्पादन के बोधात्मक और मनोवैज्ञानिक प्रभावों के लिए जाना जाता है। इस यांत्रिक पुनरुत्पादन ने दृष्टि, बोध और यांत्रिकता से संबंधित सिनेमा अध्ययनों में विश्लेषणात्मक परंपरा को काफ़ी बल दिया है। क्रैकॉव और बेंयामिन, दोनों की रचनाएँ मानवविज्ञानियों को इसलिए आकर्षित करती हैं क्योंकि ये रचनाएँ दैनिक जीवन पर केंद्रित हैं और अफ़्रीकी अध्ययनों और मानवशास्त्र में शहरी भौतिकता की एक बृहत्तर परिघटना के हिस्से के तौर



पर जनसंस्कृति का सैद्धांतीकरण करके आलोचनात्मक शहरीकरण और सिनेमाई अध्ययनों को ऐतिहासिक और जातिशास्त्रीय रचनाओं के साथ जोड़ने का एक समृद्ध समाजशास्त्रीय साधन उपलब्ध कराती हैं।[3]

शहरी मानचित्र पर सिनेमाघरों की जगह और सिनेमाघरों के निर्माण में इस्तेमाल होने वाली शिल्प-शैली के ज़रिए यहाँ मैं औपनिवेशिक आधुनिकता के स्वरूप की पड़ताल कर रहा हूँ। रंग-बिरंगी कंक्रीट, बिना छत वाले रजत पट और बाज़ारों से नज़दीकी औपनिवेशिक पूँजीवाद और उस पर हौसा समुदाय की प्रतिक्रिया, दोनों की संरचनात्मक परिस्थितियों के बारे में "स्थानीय परिस्थिति के ज्ञान" (क्रैकॉव 1995ः 75) को उजागर करती हैं। कानो में सिनेमाघरों को औपनिवेशिक सार्वजनिक परिक्षेत्र के रूपांतरण की एक व्यापक परिघटना के तहत लाया गया था। पहले ही वहाँ पहुँच चुके बीयर पार्लरों, थियेटरों, सार्वजनिक बग़ीचों, पुस्तकालयों और व्यावसायिक सड़कों की तरह सिनेमाघरों ने भी स्थानीय समाज में मेलजोल के नए मौक़े व तौर-तरीके उपलब्ध करा दिए। ये ऐसे तरीक़े थे जो सार्वजनिक जीवन पर हावी मौजूदा सामाजिक और लैंगिक भेदभाव और ऊँच-नीच को चुनौती देते थे। नतीजतन, सिनेमाघरों ने सामाजिक मेलजोल के ऐसे नए तरीक़े गढ़ दिए जिनको नियंत्रित करना ज़रूरी था। अधिकृत रूप से यह काम औपनिवेशिक प्रशासन के कंधों पर था जबकि अनधिकृत रूप से इस मक़सद को हासिल करने के लिए हौसा समुदाय के रीति-रिवाजों का सहारा लिया गया। ये सिनेमाघर न केवल एक नए समुदाय की रचना कर रहे थे, बल्कि उन्होंने इस समुदाय को क्षैतिज स्तर पर व्यवस्थित करने के नए रास्ते भी खोले (मिशेल 1991; थॉम्पसन 2000)।

मैं सिनेमाघरों के उदय को एक रूपांतरकारी शहरी आधुनिकता की व्यापक परिघटना के हिस्से के तौर पर देखना चाहता हूँ। यह एक ऐसी रूपांतरकारी शहरी आधुनिकता थी जो जेंडर, वर्ग और व्यक्ति के संबंधों को तहस-नहस कर रही थी। इस उथल-पुथल की अपनी संभावना के चलते सिनेमाघर वास्तव में किस तरह विकसित हुए और तकनीकी एवं मनोरंजक व्यवहारों के रूप में उनके इर्द-गिर्द के सामाजिक संबंध किस प्रकार अस्तित्व में आए, इसे किसी स्वतःस्फूर्त प्रक्रिया का परिणाम मान लेना सही नहीं होगा। असल में ये इसके भीतर चल रही खींचतान का परिणाम थे। सिनेमा को नियंत्रित करने की औपचारिक और अनौपचारिक कोशिशें — सिनेमाघर कहाँ बनाया जाए, सिनेमा में कौन जाएगा और कौन नहीं जाएगा, और वहाँ कैसी फ़िल्में दिखाई जा सकती हैं — इन सब पर भारी विवाद था। इन सवालों के ज़रिए स्थानीय सामाजिक, जातीय एवं लैंगिक मूल्य-मान्यताओं के भीतर एक परा-राष्ट्रीय परिघटना घट रही थी। न्यूयॉर्क, मुंबई, लंदन और कानो, सभी जगह सिनेमाघरों के उदय के साथ इस तरह की बातें जुड़ी रही हैं परंतु औपनिवेशिक शासन के साथ ख़ास तरह के संबंध औपनिवेशिक समाजों में सिनेमाघरों के उदय की परिघटना को बुनियादी तौर पर एक भिन्न स्वरूप प्रदान कर देते हैं। मिसाल के तौर पर, संयुक्त राज्य अमेरिका में सिनेमाघरों का उदय आप्रवासी मज़दूरों को मनोरंजन का ज़रिया उपलब्ध कराने के लिए हुआ था। अमेरिकी सिनेमाघरों के बारे में प्रचलित सबसे शक्तिशाली कहानियों में से एक इस बारे में है कि वहाँ के उद्यमियों ने सिनेमा को एक बुर्ज़ुआ मनोरंजन स्रोत के रूप में मान्यता दिलाने के लिए किस कदर जद्दोजहद की थी।[4] औपनिवेशिक प्रसंग में यह समीकरण बिल्कुल उलट जाता है। ज़्यादातर जगह सिनेमा को स्थानीय यूरोपियनों और देशी अभिजात्य वर्ग के मनोरंजन के विदेशी औपनिवेशिक साधन के रूप में लाया गया था और जब यह समाज में ख़ासा लोकप्रिय हो गया तब जाकर जनता को भी सिनेमाघरों या प्रेक्षागृहों में दाख़िल होने की छूट दी गई। बाक़ायदा निम्नवर्गीय गतिविधि की बजाय यहाँ इसे अकसर अभिजात्य और नस्ली भेदभाव की बुनियाद पर खड़े मनोरंजन के साधन के रूप में देखा जाता था। इन सब चीज़ों के बावजूद ज़्यादातर जगह सिनेमा देखने जाना कुछ ही समय के भीतर एक स्थानीय, ठेठ देशी गतिविधि बन गया (और उल्लेखनीय है कि भारत के मामले में तो फ़िल्म निर्माण भी एक ठेठ देशी परिघटना बन गया)।

सिनेमाघरों का वास्तु-नियोजन

अपनी भौतिकता, काल और परिवेश में पुनरुत्पादन की अपनी क्षमता और महानगरीय भूदृश्य पर अपनी सर्वव्यापी मौजूदगी के कारण सिनेमाघर या सिनेमा हॉल हमारे चिर-परिचित संगी मालूम पड़ते हैं। थियेटरों की तात्त्विक सुरक्षा दरअसल प्रेक्षागृह की औपचारिक ठोसता से पैदा होती है जो दर्शकों को एक जाने-पहचाने क्षैतिज विन्यास में

बाँध देती है। थियेटर के भीतर दर्शक पर्दे पर रोशनी और अंधकार के वायवीय दृश्य के सामने क़तारों में बैठे रहते हैं। दुनिया के ज़्यादातर हिस्सों में थियेटर लोगों की ज़िंदगी का हिस्सा बन चुका है। हम इसकी मौजूदगी पर सवाल खड़ा नहीं करते और न ही किसी ऐसे युग की कल्पना कर पाते हैं जब इस पर सवाल खड़ा किया जा सकता था, जब इसकी रचनात्मकता ने एक शक्तिशाली रूपांतरकारी क्षमता को जन्म दिया था। परंतु हमारी ज़िंदगी का हिस्सा होने का यह भ्रामक आयाम है और यह उस प्रक्रिया को ढँक देता है जिसके ज़रिए एक भौतिक, सार्वजनिक दायरा सामाजिक रूप ले लेता हैः जब मिथक के निर्माण की प्रक्रिया में हम इतिहास को भूल जाते हैं (बार्था, 1972)। सिनेमाघरों की आमफ़हम मौजूदगी औपनिवेशिक शासन की उन ऐतिहासिक परिस्थितियों पर पर्दा डाल देती है, जिन्होंने इस तकनीक को संभव बनाया था।

औपनिवेशिक शहरों में सिनेमाघरों के निर्माण से यौन, जातीय, धार्मिक एवं नस्ली मेलजोल के नए सामाजिक स्थल पैदा हुए। परा-राष्ट्रीय तकनीक के रूप में न तो किसी एक देश की इस पर चौधराहट है न ही इसकी अपनी कोई नियत अस्मिता है। नतीजतन सिनेमाघरों की स्थिति एक ऐसे तनाव-बिंदु की हो गई, जिसके खुलेपन से पारंपरिक ऊँच-नीच व सामाजिक दायरों को ख़तरा महसूस होता है। यह उभयवृत्ति इस बात से साफ़ दिखाई देती है कि औपनिवेशिक शासकों ने इस नई संस्था की रूपांतरकारी क्षमता को नियंत्रित करने के लिए बहुत सारे तरीक़े अपनाए थे और उसे मौजूदा लैंगिक विभाजनों के सांचे में ढालने की कोशिश की थी। उदाहरण के लिए, भारत में सिनेमाघरों के अलग-अलग दरवाज़े बनाए गए ताकि महिलाएँ पुरुष दर्शकों के संपर्क में आए बिना सिनेमाघरों में आ-जा सकें (अरोड़ा, 1995)। दमिश्क में महिलाओं की बढ़ती आवाजाही की चिंता और अंतर्लैंगिक मेलजोल के ख़तरे को सीमित करने के लिए दोपहर बाद के शो केवल महिलाओं के लिए आरक्षित कर दिए गए (थॉम्पसन, 2000)। केन्या के लामू इलाक़े में इस ख़तरे पर क़ाबू पाने के लिए वहाँ भी हफ़्ते में एक रात औरतों के लिए आरक्षित कर दी गई। इसे वहाँ 'स्त्रियों की रात' कहा जाता था (फ़्यूजलेसांग, 1994)। उत्तरी नाइजीरिया में अंतर्लैंगिक मेलजोल को लेकर अनैतिकता फैलने का भय इतना गहरा था कि वहाँ महिलाओं की ज़िंदगी में सिनेमाघरों को कभी भी सामाजिक स्वीकृति नहीं मिल पाई। अगर सिनेमाघरों को लेकर इतनी सारी जगहों पर इतनी हाय-तौबा मचाई गई और इतने क़ायदे-क़ानून बनाए गए तो ज़ाहिर है कि सामाजिकता के दायरे के रूप में सिनेमा हॉल का अध्ययन कितना ज़रूरी है। इसलिए सिनेमाघरों को न तो निरा नैसर्गिक माना जाए न ही महज़ औपनिवेशीकरण की तकनीक। असलियत यह है कि सिनेमाघर सोच-समझ कर बनाए गए थे और निर्माण की इस प्रक्रिया में चले संघर्ष में औपनिवेशिक शहरीकरण के तनाव सबसे आगे दिखाई पड़ते हैं।

अक्टूबर 1937 में लेबनान के एक उद्योगपति ने ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार से कानो शहर में रेक्स सिनेमा के निर्माण की इजाज़त माँगी। इसे शहर का पहला सोद्देश्य निर्मित सिनेमा होना था। रेक्स सिनेमा को एक ओपन एअर यानी खुली छत वाले सिनेमाघर के रूप में बनाया गया। इसे 'गार्डन सिनेमा' भी कहा जाता था। उसमें दो कमरों के अलावा एक 'बार' का भी इंतज़ाम किया गया था। आवेदन देने वाले उद्योगपति का प्रस्ताव था कि इस बार को 'बेहद सुरुचिपूर्वक और पत्थरों से बनाया जाएगा' (नाइजीरियाई राष्ट्रीय अभिलेखागार, संख्या 171; द बेस्ट अफ़्रीका पिक्चर कंपनी, संख्या 172)। दो साल बाद जब उत्तरी नाइजीरिया की राजधानी कडुना में एक होटल मालिक जे. ग्रीन एम्बादिवे ने कानो में एक ज़्यादा औपचारिक और भव्य होटल एवं सिनेमा परिसर बनाने के लिए लाइसेंस की अर्ज़ी दी तो प्रदर्शन के इस स्वरूप में कुछ बदलाव कर दिए गए। इस आवेदन में आश्वासन दिया गया था कि प्रस्तावित सिनेमाघर में 'वह सभी आधुनिक सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाएँगी जो दुनिया के अभिजात्य देशों के प्रथम श्रेणी होटलों और सिनेमाघरों में पाई जाती हैं' (नाइजीरियाई राष्ट्रीय अभिलेखागार)। हालाँकि एम्बादिवे की अर्ज़ी ख़ारिज कर दी गई मगर उसका यह प्रस्ताव इस बात की गवाही ज़रूर देता है कि उस समय नाइजीरिया में सिनेमाघरों को किस तरह देखा जाता था। आवेदन में निर्माण सामग्री की गुणवत्ता और कानो के सिनेमाघरों को पश्चिम के 'प्रथम श्रेणी' सिनेमाघरों के मुक़ाबले खड़ा करने का गर्वपूर्ण दावा इस बात की पुष्टि करता है कि इन सिनेमाघरों के मालिक अभिजात्य युरोपीय ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए किसी भी हद तक जाने को तैयार थे। 'विश्व के अभिजात्य देशों' में पाई जाने वाली प्रथम श्रेणी सुविधाओं पर इस आग्रह के ज़रिए युरोपीय ग्राहकों को इस बात का भरोसा दिलाने की कोशिश की जा रही थी कि इन

सिनेमाघरों में उन्हें जाना-पहचाना माहौल मिलेगा। दूसरी तरफ़ स्थानीय हौसा दर्शकों के लिए यह भव्यता का एक विशिष्ट नज़ारा था। सिनेमाघर में 'बार' के समावेश से इस बात का आश्वासन दिया जा रहा था कि केवल सिनेमाई अनुभव के अलावा वहाँ 'ठंडी हवा और शाम का मज़ा लूटने के लिए आने वाले' यूरोपियनों को मौज-मज़े के साधन भी उपलब्ध कराए जाएँगे (फ़्यूजलेसांग, 1994)। इन शुरुआती सिनेमाघरों की बनावट और सामाजिक उपादेयता औपनिवेशिक आधुनिकता के एक और सार्वजनिक दायरे — होटल — से गहरे तौर पर जुड़ी हुई थी। होटल की तरह सिनेमा भी एक ऐसा सार्वजनिक दायरा है जहाँ आपकी पहचान उजागर नहीं होती। लोग कुनबे-कुटुम्ब, धर्म या जातीयता के बँधनों से आज़ाद होकर यहाँ थोड़ी देर के लिए इकट्ठा होते हैं और फिर अपनी-अपनी दिशाओं में चल देते हैं। सिनेमा को होटल की तर्ज़ पर बनाने का मतलब था कि इस पूरे अनुभव को केवल फ़िल्म देखने के इर्द-गिर्द नहीं बुना जा रहा था। यह विदेशियों के आमोद-प्रमोद के लिए अस्तित्व में आ रही मनोरंजन गतिविधियों के एक व्यापक ताने-बाने का हिस्सा था।

परिवर्तन की औपनिवेशिक विचारधारा के उत्पादन की हैसियत से सिनेमाघरों को वास्तु नियोजन औपनिवेशिक शासन की ख़ास ऐतिहासिक परिस्थितियों को अभिव्यक्त एक सामाजिक दायरे के रूप में सिनेमाघरों ने एक नए क़िस्म की 'पब्लिक' को जन्म दिया। यह 'पब्लिक' 'मनुष्यों को सिद्धांततः बेनाम और परस्पर स्थानापन्न सदस्यों के एक क्षितिज के रूप में देखने' पर अस्तित्व में आती थी (बार्बर, 1997ः 348)। क्रैकॉव ने इस 'पब्लिक' को 'भीड़' कहा उनका तर्क है कि सिनेमाघर में दर्शकों के बैठने की व्यवस्था 'क़तार-दर-क़तार क़िस्म की है जहाँ अकेला दर्शक भीड़ के समूचेपन के सामने गौण पड़ जाता है' (क्रैकॉव, 1998; क्रैकॉव एवं लेविन 1995ः 79)। सिनेमाघरों में बैठने की व्यवस्था से औपनिवेशिक शासन की नई दैहिक बनावट का संकेत मिलता है हालाँकि यह व्यवस्था इस नई बनावट के क़ाबू में कभी नहीं रह सकती थी। एक अमूर्त और समरूप समुदाय के निर्माण की कोशिश ऊँच-नीच और विशिष्टता के औपनिवेशिक एवं हौसा क़ायदे-क़ानूनों के सामने बेअसर हो जाती थी। सिनेमा की अवधारणा में श्वेत दर्शकों के बैठने की अलग व्यवस्था इसी का एक उदाहरण है।

भारी ऊँच-नीच वाले औपनिवेशिक विश्व में साझा सार्वजनिक दायरे की एक फ़ौरी समस्या नस्ली मेलजोल की आशंका में निहित थी। अलग-अलग नस्ल के दर्शकों को एक साथ रखने के कौन से परिणाम हो सकते थे? लोगों की आशंकाओं को ध्यान में रखते हुए रेक्स सिनेमा के लेबनानी मालिकों ने शुरुआत में यह तय किया था कि उनके सिनेमा में युरोपीय दर्शक ही आएँगे। बाद में उन्होंने सिनेमाघर की समय-सारणी में दो दिन केवल यूरोपियनों व अरबों के लिए और दो दिन केवल अफ़्रीकी दर्शकों के लिए तय कर दिए। यह पृथक्करण जानबूझ कर किया गया था मगर अभी भी यह अनौपचारिक ही था और इसे मोटे तौर पर सीटों की क़ीमत के ज़रिए लागू किया जा रहा था।[5] जे. ग्रीन एम्बादिवे एक क़दम और आगे निकल गए। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि वह अपने सिनेमा के प्रेक्षागृह को दो बिल्कुल अलग हिस्सों में बाँटेंगे। एक हिस्से में युरोपीय दर्शक बैठेंगे और दूसरे में अफ़्रीकी। दोनों हिस्सों के प्रवेश द्वार भी अलग-अलग होंगे। उनके प्रस्ताव में दोनों हिस्सों के बीच एक अग्निशमन द्वार के अलावा और कोई संपर्क नहीं था और इस दरवाज़े के बारे में भी उन्होंने अधिकारियों को पूरा यक़ीन दिलाया कि वह 'हमेशा बंद ही रहेगा' (क्रैकॉव, 1998; क्रैकॉव एवं लेविन, 1995ः 79)। सिनेमाघरों के वास्तु नियोजन में नस्ली पृथक्करण की व्यवस्था को सूत्रबद्ध करने की इस कोशिश से पता चलता है कि सिनेमाघर की ठोस भौतिकता भेदभाव (इस मामले में नस्ली भेदभाव) की स्थानीय विचारधाराओं को किस प्रकार अभिव्यक्त करती है। अग्नि सुरक्षा नियमों के विषय में लागोस के प्रधान सचिव को उत्तरी प्रांतों के सचिव द्वारा लिखी गई चिट्ठी से यह सकते में डाल देने वाली सच्चाई सामने आती है कि किस तरह सिनेमाघरों का भौतिक दायरा भी नस्ली पूर्वाग्रह की ख़ास औपनिवेशिक स्थिति का परिणाम हो सकता हैः

> बैठने की व्यवस्था के बारे मेंः कुछ अफ़्रीकियों में यह स्वाभाविक प्रवृत्ति पाई जाती है कि ख़तरे की मामूली सी अफ़वाह पर भी वे बदहवास हो जाते हैं। ऐसे में ये बेहतर होगा कि इंग्लैंड में प्रचलित प्रावधानों के विपरीत नाइजीरिया के सिनेमाघरों में जमी हुई सीटों के बीच अच्छी-ख़ासी जगह छोड़ी जाए। उनके बीच में गुज़रने के लिए चौड़ी जगह हो और हॉल से निकास के लिए

ज़्यादा बड़े और ज़्यादा संख्या में दरवाज़े बनाए जाएँ (नाइजीरियाई राष्ट्रीय अभिलेखागार एवं एम.आई.ए.; सचिव उत्तरी प्रांत, 1932)।

कानो में शाही ब्रिटिश मौजूदगी सिनेमाघरों के नामकरण में भी दिखाई देती थी। रेक्स के बाद कानो के पहले सिनेमा का नाम पैलेस रखा गया। बाद में क्वींस थियेटर आया। इन नामों से सिनेमा के अनुभव में शाही शानो-शौकत के दर्शन का आश्वासन मिलता था।[6] कानो के दूसरे सिनेमाघरों को अरबी नाम दिए गए, जैसे अल दुनिया, और हाल ही में मरहबा (स्वागत के लिए इस्तेमाल होने वाला अरबी शब्द)। इन अरबी नामों से पता चलता था कि इन सिनेमाघरों के मालिक अरबी मूल के हैं। ये नाम हौसा समुदाय और अरब विश्व के बीच सांस्कृतिक संबंधों को भी रेखांकित करते थे। एल डोराडो (जिसे साम्राज्यवादी कल्पना में लंबे समय तक बेहिसाब धन-दौलत के उस लुप्त शहर का दर्जा दिया जाता रहा जो बस 'खोजी नज़रों' के इंतज़ार में है), प्लाज़ा और ओरियन आदि नामों से यात्रा और गतिशीलता का संकेत मिलता है और ये एक जगह से दूसरी जगह पहुँच जाने, स्थानीय और रोज़मर्रा की क़ैद से बाहर निकल जाने का अहसास कराते हैं जोकि सिनेमाई पलायनवाद की ख़ासियत है। कानो में सिर्फ़ एक सिनेमाघर ऐसा है जिसका नाम स्थानीय है। वापा नामक इस सिनेमाघर का नाम उस जगह के नाम पर ही रखा गया है जहाँ वह स्थित है।

शहरी कानो का विकास

कानो के शहरी इलाक़े में सिनेमाघर जिन जगहों पर बनाए गए वहाँ पहले से ही तीव्र तनाव व टकराव मौजूद थे। यह तनाव 1903 में उस समय शुरू हुए जब अपनी फ़तह के बाद अंग्रेज़ों ने कानो की कच्ची दीवार के बाहर एक आधुनिक शहर बसाना शुरू किया। अंग्रेज़ों ने कानो को प्रशासकीय और प्रतीकात्मक, दो दायरों में बाँट दिया। एक तरफ़ चारदीवारी में घिरा 'बिरनी' (पुराना शहर) था और दूसरा एक बाक़ायदा आधुनिक लघु नगर। पुराने शहर में अमीर का राजनीतिक शासन चलता था। वहाँ कुर्मी बाज़ार के आसपास रहने वाले व्यापारिक परिवारों का आर्थिक महत्व साफ़ दिखाई देता था। औपनिवेशिक शासन के पहले तक सहारा के आर-पार होने वाले व्यापार में कुर्मी बाज़ार एक महत्वपूर्ण केंद्र हुआ करता था। पुराने शहर में ब्रिटिश शासन से पहले के रीति-रिवाज अभी भी यथावत थे। अप्रत्यक्ष शासन सिद्धांत के तहत औपनिवेशिक बदलावों से उसकी हिफ़ाज़त की जाती थी। यहाँ मिशनरियों की गतिविधियों और पश्चिमी शिक्षा पर पाबंदियाँ थी; ज़्यादातर परिवार अभी भी घरेलू अहातों में रहते थे और ये अहाते ख़रीद-फ़रोख़्त की बजाय मौरूसी तरीक़े से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के हाथों में चले जाते थे।[7] यहाँ महिलाओं को पुरुषों से अलग रखने में कड़ाई बरती जाती थी, वेश्यावृत्ति और शराब की बिक्री प्रतिबंधित थी और रूढ़िवादी इस्लाम की मूल्य-मान्यता सर्वोपरि थी।

यह नया शहर आर्थिक, जातीय एवं सांस्कृतिक, हर लिहाज़ से इस पारंपरिक ढर्रे के बिल्कुल ख़िलाफ़ जाता था। यह शहर कई अलग-अलग इलाक़ों में बँटा हुआ था। एक व्यावसायिक इलाक़ा था, एक अन्य इलाक़े में सीरियाई और लेबनानियों के लिए 'एशियाई' क्वार्टर थे, नाइजीरिया के ग़ैर-हौसा निवासियों के लिए साबोन गारी का इलाक़ा था। एक इलाक़ा यूरोपियनों के रहन-सहन के लिए निर्धारित था। जब कानो औपनिवेशिक शासन के तहत आ गया तो पुराने शहर में तरक़्क़ी की रफ़्तार बहुत धीमी रही जबकि नये शहर में काफ़ी तेज़। इसी काल में यहाँ नए बैंक, कंपनियाँ और नए-नए व्यवसाय खुलने लगे जिन्होंने उत्तरी नाइजीरिया को व्यापक पूँजीवादी विश्व अर्थव्यवस्था से जोड़ दिया। अंततः यह इलाक़ा कानो की अर्थव्यवस्था का इंजन बन गया। मज़दूरों के लिए फ़ैक्ट्रियों और व्यवसायों के साथ-साथ यहाँ मौज-मस्ती के नए तरीक़े और साधन भी गढ़े गए। यूरोपियनों के लिए जेंटलमेन्स क्लब और रेस्त्राँ थे जबकि अफ़्रीकी मज़दूरों के लिए बीयर पार्लर और नाचघर थे।

नए शहर के उदय से कानो में अधिरचनागत, वास्तुशिल्पीय और प्रतीकात्मक विभाजन गहराने लगा। पुराने शहर में मिट्टी के मकानों पर लाल और भूरे गेरू की पुताई जी.आर.ए. (आवासीय युरोपीय बस्ती) की लक़दक़ हरियाली और साबोन गारी की जल्दबाज़ी में बनाई गई बैरकों के सामने फीकी पड़ने लगी। पुराने शहर में संकरी, घुमावदार, कच्ची गलियाँ होती थीं जबकि जी.आर.ए. को ऐबेनीज़र हॉवर्ड की गार्डन सिटी की तर्ज़ पर बनाया गया था। अर्द्धचंद्र और सितारों जैसे चौराहे, विशाल हवादार मकान और सड़कों की बगल में बड़े-बड़े हरे बग़ीचे

इस शहर को एक नई आभा प्रदान करते थे (फ़्रिशमैन, 1977)। यहाँ भी साबोन गारी की स्थिति भिन्न थी। औपनिवेशिक व्यवस्था में अपनी उपयोगितावादी हैसियत को प्रतिबिंबित करते हुए यह बस्ती एक ग्रिड व्यवस्था पर आधारित थी। वहाँ कई-कई युवा पुरुष प्रवासी मिलकर कमरा किराए पर लेते थे। युरोपीय इलाक़े का खुलापन अफ़्रीकी इलाक़े की भीड़भाड़ के सामने बिलकुल अलग दिखाई देता था और 440 गज़ के मध्यवर्ती ज़ोन के ज़रिए इन दोनों इलाक़ों को एक-दूसरे से बिल्कुल काट दिया गया था।[8] शारीरिक संक्रमण के डर से निजात पाने के लिए क़ानून बनाया गया कि घरेलू नौकरों के अलावा और कोई भी अफ़्रीकी रात में युरोपीय इलाक़े में नहीं पाया जाएगा।

बदनाम बस्ती

1975 में एक हौसा विद्वान इब्राहिम ताहिर ने साबोन गारी के बारे में अपनी राय दी थी। उन्होंने लिखा कि यह इलाक़ा —

> अजनबियों को एक-दूसरे के नज़दीक लाने का ज़रिया था। यहाँ नाइजीरियाई और विदेशी ईसाई, युरोपीय ईसाई, नसारा या नाज़रीन, शहरी घुमक्कड़ों, दिहाड़ी मज़दूरों, वेश्याओं और औरतों के दलालों को एक-दूसरे के साथ घुलने-मिलने का मौक़ा मिलता है। यहाँ गिरजाघर, शराबघर और नाचघर के साथ-साथ होटल और वेश्यालय भी हैं (ताहिर, 1975ः 110)।

ताहिर की राय कानो में रहने वाले एक अंग्रेज़ द्वारा 1926 में दी गई राय से बहुत अलग नहीं थी। उस अंग्रेज़ ने भी साबोन गारी को 'लम्पट तत्त्वों' से भरी 'एक बदनाम बस्ती' बताया था।[9] कानो के हौसा लोगों की नज़र में साबोन गारी मान्य सामाजिक संबंधों के उल्लंघन का प्रतीक बन चुका है। यह औपनिवेशिक उद्यम के तहत बनाया गया एक 'अन्य स्थान' है, जिसके ख़िलाफ़ हौसा के मुस्लिम रीति-रिवाज अपनी ख़ास शक्ल और परिभाषा अख़्तियार कर सकते हैं।

साबोन गारी का निर्माण 1912 में किया गया। यह बस्ती लॉर्ड लुगार्ड के अप्रत्यक्ष शासन सिद्धांत की राजनीतिक आवश्यकता को पूरा करती थी। राजनीतिक मातहती के बदले में अंग्रेज़ों ने आश्वासन दिया कि वह हौसा समुदाय की राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संरचनाओं की हिफ़ाज़त करेंगे और उन्हें बाहरी, ख़ासतौर से पश्चिमीकरण के प्रभावों से बचाकर रखेंगे (लुगार्ड, 1922)।[10] दक्षिण के लोगों को अनिवार्य माना गया क्योंकि वे 'उपनिवेशवादियों की भाषा में बात करना, उसे पढ़ना-लिखना जानते थे' (उबाह, 1982ः 54)। इससे अंग्रेज़ों के लिए उनकी उपयोगिता तो साबित होती थी मगर इस आधुनिक आबादी के सांस्कृतिक प्रभावों के बारे में अंग्रेज़ भी उतने ही सशंकित थे जितना कि हौसा लोग।

अंग्रेज़ी बोलने के अलावा दक्षिण के लोग युरोपीय कपड़े भी पहनते थे, पश्चिमी शिक्षा को ऊँची नज़र से देखते थे और उनमें से ज़्यादातर ईसाई थे। क्योंकि साबोन गारी में शराब के ख़िलाफ़ कोई धार्मिक प्रतिबंध नहीं था और वहाँ पुरुष प्रवासियों का वर्चस्व (शुरू में) था इसलिए शराब ख़रीदने के लिए यह इलाक़ा पूरे शहर में प्रसिद्ध हो गया और यह बस्ती अपने नाचघरों, मधुशालाओं और वेश्यावृत्ति के लिए जानी जाने लगी।

अफ़्रीकियों के बीच पृथकता को हौसा की धार्मिक एवं प्रशासनिक मूल्य-मान्यताओं के संरक्षण का सर्वश्रेष्ठ तरीक़ा माना गया। इसके लिए ऐसी सामाजिक एवं जातीय परिधियाँ निर्धारित की गईं जहाँ हौसा लोग दाख़िल नहीं हो सकते थे। जैसा कि एलीन कहते हैं : 'इस प्रकार के नियंत्रण के फलस्वरूप... बाहर से आए लोग सरकार और युरोपीय फ़र्मों को ज़रूरी सेवाएँ तो उपलब्ध कराएँगे मगर इससे उनके हौसाभाषी पड़ोसियों की अत्यंत सम्मानित (अंग्रेज़ों की नज़र में) संस्कृति के भ्रष्ट होने की संभावना बेहद सीमित हो जाएगी'[11] (एलीन, 1976ः 87)। प्रशासकीय स्तर पर साबोन गारी को स्थानीय ब्रिटिश शासन और वैधानिक अधिकारक्षेत्र में रखा गया और उसे सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनीतिक रूप से पड़ोसी इलाक़ों से अलग रखने की कोशिश की गई। हौसा लोग दक्षिण के लोगों को अपनी संस्कृति से कट चुके 'काले यूरोपियनों' की मानिंद देखते थे जबकि दक्षिण के लोग रियायत भरी कृपालुता से देखते हुए हौसा समाज को एक पिछड़े और परंपरागत समाज की श्रेणी में रखते थे। उत्तर में

दक्षिण के लोगों की हाशिए की मौजूदगी 'स्थानीय विदेशी' और 'अजनबी देशी' के परस्पर अंतर्विरोधी भावों से और क्षीण हो जाती थी। साबोन गारी के लोगों को आधिकारिक रूप से 'अजनबी देशी' ही कहा जाता था।[12]

कुल मिलाकर इस राजनीतिक ताने-बाने में ही सिनेमाघरों की शक्ल-सूरत और जगह का नक़्शा बनता है। यहाँ के सिनेमाघर उस समय भी और अभी भी, मुख्य रूप से पुराने शहर के बाहर नए पश्चिमोन्मुखी इलाक़ों में स्थित हैं। दिलचस्प बात यह है कि कानो के तक़रीबन सारे सिनेमाघर जातीय आबादी के सीमावर्ती बाज़ारों के आसपास ही स्थित हैं। ये बाज़ार आमतौर पर कानो के एक हिस्से को दूसरे हिस्से से अलग करने वाली औपचारिक सीमारेखा के रूप में काम करते हैं। कानो का पहला सिनेमाघर, रेक्स (जो अब टूट चुका है), साबोन गारी बाज़ार की बग़ल में ही बनाया गया था। इस प्रकार यह सिनेमाघर साबोन गारी के दक्षिणी नाइजीरियनों, फ़ागे में रहने वाले अरबों एवं ग़ैर-हौसा उत्तरी नाइजीरियनों और युरोपीय औद्योगिक-व्यावसायिक ज़िले बोम्पाई में रहने वाले यूरोपियनों — तीनों के बीचोंबीच स्थित था। इसी तरह ओरियन और प्लाज़ा सिनेमाघर भी पुराने शहर के फाटक के ठीक बाहर बनाए गए थे। उनमें से एक कोफ़र वम्बाई बाज़ार के नज़दीक था जबकि दूसरा पुराने शहर और फ़ागे के बीच की चारदीवारी की बग़ल में कानटिन क्वारी बाज़ार के पास बनाया गया था। एल डोराडो साबोन गारी के एक छोर पर स्थित था। यह सिनेमाघर साबोन गारी और बोम्पाई के बीच सीमारेखा का काम करता था। इसके तक़रीबन एक मील उत्तर में क्वींस सिनेमाघर था। अल दुनिया (जो अब टूट चुका है) सिनेमाघर भी साबोन गारी बाज़ार के पास ही स्थित था। यह सिनेमाघर इस बस्ती को फ़ागे से और फ़ागे को व्यावसायिक केन्द्र से अलग करता था। यानी, सिनेमाघर भौतिक रूप से उपेक्षित और परस्पर अतिक्रमण की संभावना वाले स्थानों पर बनाए जा रहे थे। ये सिनेमाघर हौसा इलाक़ों के नज़दीक तो थे ताकि मुस्लिम दर्शक भी उनमें जा सकें मगर सिनेमा के भीतर उन्हें औरों से अलग रखा जाता था और समय बीतने के साथ सिनेमाघरों की अवैध हैसियत भी औपनिवेशिक (तथा उत्तर-औपनिवेशिक) कानो में धार्मिक, नस्ली एवं सांस्कृतिक पृथक्करण को बढ़ावा देने का ज़रिया बन गई।

सिनेमाई परिवेश की नैतिक आभा

कानो के सिनेमाघर अपने जन्मकाल से ही अपने इलाक़े के नैतिक परिवेश से लदे हुए थे। इनमें से ज़्यादातर सिनेमाघर साबोन गारी और फ़ागे में स्थित थे। फ़िल्मों का शुरुआती प्रदर्शन साबोन गारी में हुआ। उस वक़्त इसके लिए कोई निश्चित जगह तय नहीं थी। कई बार ये फ़िल्में एलज़ीयेट जैसे नाचघरों में दिखाई जाती थीं जहाँ फ़िल्म के साथ-साथ नाच-गाने और पुरस्कार वितरण के कार्यक्रम भी चलते रहते थे।[13] इसके बावजूद, 1934 तक आते-आते यहाँ भी सिनेमा इतना लोकप्रिय ज़रूर हो चुका था कि कानो के ब्रिटिश निवासियों के मुताबिक़ वहाँ 'काफ़ी नियमित रूप से' फ़िल्में दिखाई जाने लगी थीं (नाइजीरियाई राष्ट्रीय अभिलेखागार, 1934) और इसके सिर्फ़ 20 साल बाद पहला सोद्देश्य सिनेमा, रेक्स, अस्तित्व में आ गया। साबोन गारी बाज़ार से सटे बिना छत वाले रेक्स सिनेमा में हर हफ़्ते चार फ़िल्में दिखाई जाती थीं। शुरुआत में फ़िल्मों के प्रदर्शन को अनौपचारिक रूप से नस्ली आधार पर बाँटा गया था — दो रातें ग़ैर-अफ़्रीकी (युरोपीय और सीरियाई) दर्शकों के लिए और दो रातें अफ़्रीकी दर्शकों के लिए आरक्षित रखी गई थीं। सिनेमाघर में एक गार्डन बार भी खोला गया और शुरू के दिनों में वहाँ शराब भी पिलायी जाती थी। परंतु ब्रिटिश अधिकारी इस बात का कोई रास्ता नहीं निकाल पा रहे थे कि अब अफ़्रीकियों के बीच शराब की बिक्री पर रोक लगाने और यूरोपियनों को शराब की छूट देने के लिए क्या तरीक़ा अपनाया जाए (नाइजीरियाई राष्ट्रीय अभिलेखागार, 1934)। फलस्वरूप, आख़िरकार सिनेमाघरों में शराब की बिक्री पर औपचारिक रूप से प्रतिबंध लगा दिया गया और यह क़ानून आज तक क़ायम है।

रेक्स सिनेमा साबोन गारी के हाशिए पर स्थित था। इसका मतलब है कि यह सिनेमाघर एक ऐसे इलाक़े में पड़ता था जो हौसा-मुसलमान समुदाय की नज़र में तमाम सांस्कृतिक बँधनों से आज़ाद था। इस बात के बावजूद या संभवतः इसी वजह से हौसा के युवकों में सिनेमा तेज़ी से लोकप्रिय होने लगा और चालीस के दशक के मध्य तक आते-आते सिनेमा जाने को एक सस्ते, निर्धन-सुलभ मनोरंजन के रूप में देखा जाने लगा था। यह एक

ऐसी चीज़ बन गई जो इज़्ज़तदार लोगों की हैसियत के लिए मुफ़ीद नहीं थी। पचास के दशक की शुरुआत में एक औपनिवेशिक अधिकारी ने लिखा कि 'स्थानीय नज़रिया कुछ इस तरह है : बुद्धिमान और पढ़े-लिखे मालम (मुस्लिम धार्मिक शिक्षक) वहाँ जाते ही नहीं... वह हौसा के उन निचले दर्जे के लोगों को भी पसंद नहीं करते जो सिनेमा का शौक रखते हैं...' (कानो राज्य इतिहास एवं संस्कृति ब्यूरो (एचसीबी); 1954)। सिनेमाघर में निम्नवर्गीय लोगों व स्त्री-पुरुष दोनों की उपस्थिति के चलते उन्हें अधिकांश हौसा महिलाओं के लिए सामाजिक तौर पर अनुपयुक्त माना जाता था। जो औरतें सिनेमा में जाती थीं उन्हें कारूवाई ('स्वतंत्र औरतें/वेश्याएँ') माना जाने लगा। सिनेमाघर में उनकी मौजूदगी इस दायरे के कथित नाजायज़ चरित्र में इज़ाफ़ा करती थी। सिनेमा के भीतर यौन उपलब्धता और यौन गतिविधियों का मतलब था कि वहाँ स्क्रीन के ऊपर और स्क्रीन के बाहर, दोनों तरफ़ आनंद और कामनाएँ थीं, एक संदर्भ का कामुक आनंद दूसरे संदर्भ में कामुक आनंद को सहला रहा था।

कुल मिलाकर सिनेमा जाना एक बाक़ायदा सामाजिक गतिविधि बन गया। यह एक ऐसा अनुभव था जो ख़ुद फ़िल्म देखने से कहीं बढ़कर था। कानो के रेज़ीडेंट फ़ेदरस्टोन ने 1948 में कहा कि 'कानो शहर, फ़ागे और साबोन गारी के ज़्यादातर युवा वर्ग में सिनेमा जाना अब एक आम चीज़ हो गई है भले ही वह इसको समझ पाते हों या नहीं, और सिनेमा के संवाद उन्हें सुनाई पड़ते हों अथवा नहीं' (कानो राज्य इतिहास एवं संस्कृति ब्यूरो (एचसीबी); कानो के रेज़ीडेंट ई. के. फ़ेदरस्टोन, 1948)। फ़ेदरस्टोन के इस बुज़ुर्गाना एतराज़ से यह पता नहीं चल पाता कि उस ज़माने में सिनेमा जाना किस अहमियत की सामाजिक और चाक्षुष घटना बन चुकी थी। एक दर्शक ने फ़ेदरस्टोन को बताया कि हालाँकि बहुत बार उसे दिखाई जा रही फ़िल्म बिलकुल समझ में नहीं आती मगर वह फिर भी सिर्फ़ 'इसलिए सिनेमा जाता है ताकि लोग उसे सिनेमा जाते हुए देखें और वहाँ वह अपने यार-दोस्तों से मिल सके।' यह सामाजिक गतिविधि एक ख़ास सामाजिक परिधि में घट रही थी। यह सामाजिक परिधि एक शहरी भूदृश्य पर रूपांतरण की प्रक्रिया में अपने सामाजिक और नैतिक स्थान से अपना नैतिक आभामंडल ग्रहण कर रही थी। चालीस के दशक में नियमित रूप से सिनेमा जाने वाले एक पढ़े-लिखे हौसा के व्यक्ति ने मुझे बताया कि सिनेमा जाने का मतलब यह था कि लोग पुराने शहर की सुरक्षित नैतिक चौहद्दी से बाहर निकल कर एक अनैतिक दायरे (साबोन गारी) में दाखिल हो जाते थे। वह आदमी जान-बूझकर ऐसा करता था और उसके इस रवैये की जड़ में हौसा सत्ता और इस्लामिक कट्टरपंथ के ख़िलाफ़ एक रेडिकल प्रतिक्रिया जैसी थी। कट्टरपंथी हौसा समुदाय इस्लाम की मूल्य-मान्यताओं के हिसाब से सिनेमा जाने को एक ख़राब बात मानता था इसलिए इस पूरे कृत्य का आनंद बेहद स्थानीय था। यह नैतिक व्यवस्था के उल्लंघन का एक ऐसा अंतरंग अनुभव था जो फ़िल्म देखने के इर्द-गिर्द बुना जा रहा था। यह अनुभव हौसा के औपनिवेशिक शहरीकरण के एक ख़ास स्वरूप से जन्म ले रहा था।

हौसा समाज की मुख्यधारा ने इस औपनिवेशिक प्रौद्योगिकी का जिस कौतूहल के साथ स्वागत किया था उसे सिनेमाई तंत्र की ताक़त के बारे में उठने वाले धार्मिक सवालों ने और भी बढ़ा दिया। बरकिंडो (1993) के शब्दों में, रूढ़िवादी इस्लामिक शिक्षकों के 'निष्क्रिय प्रतिरोध' पर अंग्रेज़ों की औपनिवेशिक फ़तह के शुरुआती दिनों से ही स्थानीय समाज में औपनिवेशिक शासकों द्वारा लाई जा रही नई-नई वस्तुओं के ख़िलाफ़ विरोध सघन रूप लेने लगा था। हिस्केट (1984) बताते हैं कि बड़े-बूढ़े मुसलमान ऐसे मुसलमानों को नर्क की आग में जाने की बद्दुआ दिया करते थे जो हरिकेन लैंप, टॉर्च या कपड़े में क़लफ़ आदि का प्रयोग करते थे या अपनी क़मीज़ों पर बटन टाँकते थे। पहले औपनिवेशिक सेंसर बोर्ड में काम कर चुके नसीरू कबारा की गिनती कानो के असरदार शेख़ों में की जाती थी। उन्होंने मुझे बताया कि 'स्थानीय मालम' (जिससे उनका आशय थोड़े बहुत पढ़े-लिखे, मोहल्ला छाप इस्लामिक शिक्षकों से था) इसलिए सिनेमा को बुरा मानते थे क्योंकि वे यह तय नहीं कर पा रहे थे कि स्क्रीन पर दिखाई जा रही तस्वीरें असली हैं या नक़ली। उनकी नज़र में बात सिर्फ़ इतनी थी कि अगर फ़िल्म में किसी की हत्या हुई है तो हो सकता है कि वह व्यक्ति सचमुच मारा गया हो। अगर ऐसा नहीं था तो यह उनके लिए जादू था और क्योंकि इस्लाम जादू के ख़िलाफ़ है इसलिए फ़िल्म को भी हराम माना जाता था (शेख़ नसीरू कबारा, 1995)। बहुत सारे लोगों को यह भी लगता था कि सिनेमाई चलचित्र तस्वीरों और मूर्तियों पर लगाए गए इस्लामिक निषेध का उल्लंघन करते हैं।[14]

कबारा की नज़र में सिनेमा की इस तर्कसंगत तकनीक के कथित ईशनिंदक और जादुई स्वरूप पर यह धार्मिक आग्रह दुनिया भर में, ख़ासतौर से इस्लाम में, व्याप्त अज्ञानता की ओर इशारा करता है। परंतु हौसा के शुरुआती सिनेमाघरों के नामों से पता चलता है कि सिनेमा को मायाजाल मानने का अहसास कितना लोकप्रिय था। सिनेमाघर के लिए सबसे पहले प्रयुक्त हौसा शब्द था मैजिगी — जो 'मैजिक' या जादू से ही निकलता है। उसी तरह एक सिनेमा हॉल का तो नाम ही था डोडोन बैंगो — यानी 'दीवार पर पसरी शैतानी आत्माएँ।' इन नामों से ज़ाहिर है सिनेमा से लोग कितने अभिभूत और आकर्षित थे। उनकी इस प्रतिक्रिया में बोध की कई गहरी प्रतीकात्मक परतें दर्ज थीं — जिन्हें ईसाइयत, ईसाइयत-पूर्व लोक-धर्म और उपनिवेशवाद के संदर्भ में ही समझा जा सकता है।

औपनिवेशिक कानो की दुनिया में सिनेमा जाना हौसा दर्शकों के लिए एक विद्रोही कृत्य था। यह एक ऐसा मनोरंजन था जिसमें युरोपीय और अफ़्रीकी, दोनों लोग शरीक थे। और इस तथ्य पर युरोपीय और हौसा, दोनों ही समुदाय के लोग खुश भी होते थे और नाराज़ भी। फ़िल्म का प्रदर्शन सामान्य औपनिवेशिक शैली में अलग-अलग दर्शकों के बीच बँटा हुआ था परंतु युरोपियनों के लिए निर्धारित प्रदर्शन से अगले दिन अफ़्रीकी दर्शक भी उसी जगह उसी फ़िल्म को देखने के लिए टूट पड़ते थे। इस तरह अफ़्रीकी भी एक ऐसे आनंद का मज़ा ले रहे थे जो बुनियादी तौर पर केवल युरोपीय दर्शकों को ध्यान में रखकर रचा गया था। यह बात औपनिवेशिक क्लबों और खेल कार्यक्रमों से बिलकुल अलग थी क्योंकि उनमें अफ़्रीकियों को बेदख़ल रखा गया है। हौसा में सिनेमा को बारीकी संस्कृति के हिस्से के तौर पर भी परिभाषित किया जाने लगा। इसकांसी या लम्पटता इस संस्कृति की विशेषता थी। बारीकी शब्द की उत्पत्ति अंग्रेज़ी के बैरक शब्द से हुई है और इसका आशय प्रेतात्मा के आने (बोरी), पुरुष एवं स्त्री वेश्यावृत्ति तथा नाच-गाने और शराबख़ोरी से है। असल में इस तरह की गतिविधियाँ उत्तर की तरफ़ आने वाले युवा प्रवासी मज़दूरों के लिए बनाए गए बैरकों से वाबस्ता थीं और क्रमशः उन्होंने एक विद्रोही सांस्कृतिक रूप को जन्म दिया।

कानो में सिनेमाघरों के उदय के स्थानिक एवं सामाजिक संदर्भ ने वहाँ एक अवैध आभामंडल पैदा कर दिया जो युरोपीय तकनीकी के प्रति रूढ़िवादी हौसा अविश्वास के साथ सहज और स्वाभाविक दिखाई देता था।

पैलेस, अल दुनिया और हौसा के नैतिक परिवेश की सुरक्षा

कानो में सिनेमाघरों की शुरुआत ने उपनिवेशवाद के अंतर्गत शहरी 'स्पेस' की नैतिक परिभाषा पर पहले से ही चल रहे टकरावों को और हवा दी।[15] सिनेमाघरों को किस तरह बनाया जाए, वहाँ क्या दिखाया जाए, वहाँ शराब की बिक्री सही है या ग़लत — ये सभी मुद्दे औपचारिक क़ायदे-क़ानून के ऐसे विषय थे जिनके ज़रिए उपनिवेशवाद की परिवर्तनकारी भौगोलिक एवं सामाजिक विचारधाराएँ सूत्रबद्ध होती थीं। हौसा समुदाय में इस बात को लेकर भी विवाद था कि सिनेमाघर कहाँ बनाए जाएँ और किन लोगों को सिनेमाघरों में जाने की छूट दी जाए। इस टकराव का सबसे अच्छा साक्ष्य तेज़ी से हौसा समुदाय के नियंत्रण से बाहर निकलते जा रहे शहरी दायरे के नैतिक पुनर्सीमांकन की कोशिशों में दिखाई देता है। अर्जुन अप्पादुरई (अप्पादुरई, 1996) ने इस प्रक्रिया को 'बस्ती (लोकैलिटी) के उत्पादन' की संज्ञा दी है। उनके हिसाब से इस प्रक्रिया के तहत सामाजिक रूप से संगठित सत्ताएँ ऐसी जगहों पर दावेदारी प्रस्तुत करती दिखाई देती हैं, जहाँ की स्थिति में अराजकता की संभावना हो। सिनेमा को एक स्वरूप प्रदान करने की कोशिश असल में ग़ैर-मुस्लिम (युरोपीय एवं दक्षिणी नाइजीरियाई) संस्कृति एवं धार्मिक मूल्यों द्वारा अतिक्रमण के विरुद्ध हौसा जीवन के मुस्लिम आधार को मज़बूती प्रदान करने में निहित थी। सिनेमाघर मोहल्लों की पहचान बन गए और उनमें वह नैतिक गुण-अवगुण भी निहित माने जाने लगे जो उन मोहल्लों को मौजूदगी को औचित्य देते थे। शहरी हौसाओं के लिए सिनेमाई अनुभव शहरी सार्वजनिक 'स्पेस' के स्वरूप व नियमन पर चल रही बहसों के इतिहास में गुँथा हुआ था (और है)।

1949 में एक लेबनानी सिनेमा डिस्ट्रीब्यूटर ने कानो अमीरात के रेज़ीडेंट को चिट्ठी लिखकर पैलेस सिनेमा के निर्माण की इजाज़त मांगी। उसका प्रस्ताव था कि इस सिनेमाघर को पुराने शहर के कुर्मी बाज़ार के पास जकारा के क्वार्टरों में बनाया जाए। जिस समय पैलेस के लिए यह आवेदन दिया गया तब तक कानो में सिनेमा जाना एक स्थापित गतिविधि बन चुका था। हौसा समुदाय के बहुत सारे लोग नियमित रूप से पुराने शहर से निकलकर

वाजे में स्थित दोनों सिनेमाघरों में से किसी एक की शरण में पहुँच जाते थे। बहरहाल, उपरोक्त आवेदन का अनूठापन इस बात में था कि उसमें पहली बार पुराने शहर के भीतर कोई सिनेमाघर बनाने की इजाज़त माँगी जा रही थी। कडुना के औपनिवेशिक अभिलेखागार में इस आवेदन की प्रतियाँ मौजूद हैं और वहीं से इस बात का भी पता चलता है कि पैलेस सिनेमा कब शुरू हुआ। मगर मैं पैलेस की जिस कहानी से उलझ रहा हूँ वह अफ़वाहों और पूर्वाग्रहों पर आधारित है। यह कहानी ऐसे क़िस्सों और स्मृतियों पर आधारित है जो पैलेस के वस्तुगत इतिहास की नहीं बल्कि सामाजिक कल्पना में उस सामाजिक परिवेश की ज़्यादा जानकारी देते हैं जिसमें ये सिनेमाघर अस्तित्व ग्रहण कर रहे थे। सिनेमाघरों से जुड़ी अफ़वाहें, उनके बारे में माँ-बाप से बच्चों को मिले क़िस्से-कहानियाँ स्थानीय शब्दावली का एक अहम हिस्सा हैं। ये कुछ ऐसे अर्ध-धार्मिक रूपक हैं जिनके ज़रिए लोग भौतिक घटनाओं के तले स्थित 'वास्तविक' उद्देश्यों की दैवी शिनाख़्त करते हैं।

जब कानो के अमीर ने पैलेस सिनेमा के निर्माण की इजाज़त दे दी तो हौसा समुदाय के कई तबक़ों में इस फ़ैसले की तीखी प्रतिक्रिया हुई। कानो के उलेमा पुराने शहर के इस्लामी परिवेश में इस विध्वंसक, यौन गतिविधि के दख़ल पर आग-बबूला हो उठे। ज़्यादा कट्टरवादी उलेमाओं ने तो पुराने शहर में फ़िल्मों के प्रदर्शन के ख़िलाफ़ फ़तवा जारी कर दिया और तस्वीरों के बारे में धार्मिक सूक्तियों के सहारे उन्होंने यह साबित करने की कोशिश की कि यह तकनीक काफ़िराई (कुफ़्र) की निशानी है। मुझे जो कहानियाँ बताई गई हैं उनके मुताबिक़ जब यह फ़तवा अमीर के मंत्रिमंडल के सामने आया तो उसे ख़ारिज कर दिया गया हालाँकि कानो के तत्कालीन अमीर, अब्दुलाही को सामाजिक रूप से काफ़ी रुढ़िवादी माना जाता था। अब्दुलाही के इस नए फ़ैसले से अफ़वाहों का एक और सैलाब आ गया। इनमें से एक अफ़वाह यह थी कि अब्दुलाही ने ब्रिटिश रेज़ीडेंट के दबाव में मजबूरन ये फ़ैसला लिया है (अदामु, 1996)।

1951 में जब पैलेस को लेकर विवाद चल ही रहा था और अभी यह सिनेमाघर चालू भी हुआ नहीं था, तभी यह पूरा मामला अचानक गर्म हो गया। अल दुनिया सिनेमाघर में आग लगने से वहाँ मौजूद 600 में से 331 दर्शक मारे गए।[16] इस अग्निकांड के बाद सरकार ने एक जाँच आयोग बिठाया जिसने निष्कर्ष दिया कि यह फ़िल्म ज्वलनशील नाइट्रेट फ़िल्म के कारण लगी थी। जब प्रोजेक्शन कक्ष में फ़िल्म ने आग पकड़ ली तो आग तेज़ी से छत के ज़रिए पूरे सिनेमाघर में फैल गई और नतीजतन इतने लोग मारे गए। इस दुर्घटना के लिए हौसा समुदाय के लोगों को ज़िम्मेदार बताया जाने लगा। जब यह आग लगी उस समय फ़िल्म देखने वाले दर्शकों में से 82 प्रतिशत हौसा समुदाय (न कि दक्षिणी नाइजीरियाई युरोपीय) के थे। इनमें से सबसे कम उम्र का दर्शक केवल 9 साल का था।

औपनिवेशिक राज्य ने दुर्घटना की जो कैफ़ियत दी उसमें हौसा समुदाय को यह दुर्घटना कैसे हुई, इसका जवाब तो मिला पर वे इसे 'यह क्यों हुई' की तार्किक व्याख्या मानने को तैयार नहीं थे। पैलेस सिनेमा को लेकर उठ रहे विवाद के प्रसंग में बहुत सारे लोग यह मानने लगे कि यह अग्निकांड अवैध और अनैतिक गतिविधियों में हौसा समुदाय के लोगों की शिरकत का एक दैवी दंड था। इस त्रासदी को हौसा समाज के बढ़ते पश्चिमीकरण के नतीजे में ईश्वरीय प्रकोप के रूप में देखा जाने लगा। नतीजतन, इस घटना की व्याख्या करने वाली कई और अफवाहें पैदा हो गईं। इनमें सबसे व्यापक और अभी भी बड़े पैमाने पर स्वीकृत अफ़वाह यह थी कि अल दुनिया में उस रात जो फ़िल्म दिखाई जा रही थी उसमें पैग़ंबर मोहम्मद की तस्वीर भी शामिल थी। इसका मतलब था कि औपनिवेशिक तकनीक ईशनिंदा को बढ़ावा दे रही है। कई दूसरे लोगों का मानना था कि थियेटर के निर्माण के समय उसके आसपास से गुज़रने वाले लोग उस सिनेमा को बद्दुआएँ देते थे और सिनेमाघर के जलने में इन बद्दुआओं की क्रोधाग्नि का भी असर ज़रूर है।[17]

कानो जैसे धार्मिक समाज में, जहाँ भौतिक जगत में ईश्वर के अलौकिक हस्तक्षेप की बातें एक सामान्य घटना हैं, वहाँ अफ़वाहें और क़िस्से-कहानियों का भी दैनंदिन घटनाओं की पड़ताल के आलोचनात्मक विमर्श का हिस्सा बन जाना लाज़िमी था। अल दुनिया के इर्द-गिर्द केंद्रित कहानियाँ हौसा की नैतिक दुनिया में दाख़िल होते जा रहे पश्चिमी सांस्कृतिक परिवेश के प्रति टकराव और दुविधा के बारे में बताती हैं। इन कहानियों में सिनेमाई निरूपण का नायक चरित्र व्यक्त होता है, और उसे पैग़म्बर मोहम्मद के चित्रांकन के धर्मद्रोह का गुनहगार माना

गया। धीरे-धीरे ये अफवाहें इतनी व्यापक हो गईं कि औपनिवेशिक सरकार को आधिकारिक रूप से उन पर ध्यान देना पड़ा। सरकार ने रेडियो पर इन अफ़वाहों के खंडन किए। दो दिन तक चार अलग-अलग भाषाओं में रोज़ाना दो बार रेडियो डिफ़्यूज़न सर्विस के ज़रिए इस बात का ऐलान किया गया कि इस बात में कोई सच्चाई नहीं है कि अल दुनिया में मारे गए लोगों के शवों को उठाने वाले मौत के मुँह में जा चुके हैं, या कि जिन स्थानीय अधिकारियों ने इस दुर्घटना के समय लोगों की मदद की थी वह पागल हो चुके हैं, या कि कानो की जेल के क़ैदी (जिन्होंने शवों को निकालने में मदद की थी) कई दिनों तक खाना नहीं खा पाए थे। कुल मिलाकर अल दुनिया के बारे में प्रचलित कहानियाँ उस अनौपचारिक नैतिक अर्थव्यवस्था का हिस्सा बन गईं जिसने कानो में सिनेमा के उदय को नियंत्रित किया था।

बहरहाल, महीनों के विवाद के बाद आख़िरकार पैलेस सिनेमा चालू तो हो गया मगर उसकी मुख़ालिफ़त जारी रही। जब इस सिनेमाघर का विरोध हिंसक रूप लेने लगा तो अमीर को मजबूरन पुलिस बुलानी पड़ी और सिनेमाघर के उद्‌घाटन का विरोध कर रहे युवकों को गिरफ़्तार कर लिया गया (अदामू, 1996)। ब्रिटिश पुलिस सुपरिंटेंडेंट ने लिखा है कि पैलेस के खुलने के तीन माह बाद भी शहर के युवक नियमित तौर पर इस सिनेमाघर में आए दर्शकों पर पथराव कर रहे थे। उन्होंने कहा कि इससे भी बुरी बात यह है कि जिस अलकली (मुस्लिम न्यायधीश) को इन मामलों की सुनवाई का ज़िम्मा सौंपा गया वह भी कथित रूप से इन युवाओं की मदद कर रहा है इसलिए सिनेमा में फ़िल्म के प्रदर्शन के दौरान 'व्यवस्था' बनाए रखने में पुलिस को काफ़ी दिक़्क़त पेश आ रही थी। इसे विडंबना कहिए या अपरिहार्यता, पैलेस के विरोधियों का डर हक़ीक़त बन गया — पैलेस सिनेमा एक अनैतिक सामाजिक स्थान बन गया। एक ऐसी बदनाम जगह जहाँ, मेरे एक दोस्त के मुताबिक़, लोग शराब पीते थे, नशीली दवाइयाँ लेते थे और औरतों व दूसरे पुरुषों के साथ सेक्स करते थे ('वहीं! वहीं! तुमसे बिलकुल बग़ल वाली सीट पर ही!')। अस्सी के दशक की शुरुआत में पुराने कानो शहर के निवासी और पैलेस विरोधी मुहिम के एक वयोवृद्ध नेता साबो बाकिन ज़्वो कानो के गवर्नर बने और उन्होंने इस सिनेमाघर को बंद कर दिया। उन्होंने एक भव्य लोकलुभावन भंगिमा अख़्तियार करते हुए उसे एक अस्पताल में रूपांतरित कर दिया। इसके बाद से आज तक पुराने शहर में कोई सिनेमाघर नहीं खुल पाया है।[18] आज भी सिनेमा के शौक़ीन सैंकड़ों हौसा युवक शहर की सरहद पर बने मिट्टी के फाटकों से गुज़रकर रात में साबोन गारी, फ़ागे और नसारावा के सिनेमाघरों में जाते हैं।

पैलेस सिनेमा के निर्माण का विरोध हौसा के मुसलमानों द्वारा कानो के शहरी समाज के नैतिक, भौगोलिक संतुलन को पुनर्स्थापित करने की कोशिशें थीं। जिसे अब तक शहर का दर्जा मिला हुआ था, उस आबादी के बाहर एक महानगरीय आबादी का उदय, पुराने शहर और नए क़स्बे व वाजे के बीच आर्थिक एवं राजनीतिक संतुलन में बदलाव और मौजूदा राजनीतिक संरचनाओं से किसी तरह की हमदर्दी न रखने वाले 'स्थानीय विदेशियों' (जिनमें से कुछ लोग स्थानीय धार्मिक एवं सांस्कृतिक तौर-तरीक़ों का खुलेआम मज़ाक उड़ाते थे) की प्रवासी आबादी में इज़ाफ़े ने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी जहाँ राजनीतिक और सामाजिक परिवेश पर ख़तरे में पड़ते जा रहे हौसा नियंत्रण का आग्रह लगातार महत्वपूर्ण होता जा रहा था। जब एक विदेशी, अनैतिक और मुमकिन तौर पर ग़ैर-धार्मिक संस्था के रूप में पुराने शहर के भीतर पैलेस का निर्माण कर लिया गया तो उसने पुराने शहर और वाजे के बीच पूरी एहतियात के साथ खड़ी की गई सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक विभाजन की दीवार के लिए ख़तरा पैदा कर दिया।

पैलेस के बारे में उठे विवाद के बाद लेबनानी उद्यमियों ने दोबारा पुराने शहर में कोई थियेटर बनाने का हौसला नहीं दिखाया। समझौते की मुद्रा में दो सिनेमाघर शहर की दीवार के ठीक बाहर बनाए गए। इनमें से एक कोफ़र वम्बाई में स्थित ऑरियोन सिनेमा और दूसरा फ़ागे में स्थित प्लाज़ा सिनेमा था। इन सिनेमाघरों का निर्माण इस तथ्य की गवाही देता है कि 1950 के दशक से ही हौसा समुदाय के लोग कानो के सिनेप्रेमी दर्शकों में अपना संख्या बल स्थापित कर चुके थे। हालाँकि हौसा समाज में सिनेमाघरों की नैतिक स्थिति काफ़ी अस्पष्ट सी है और योरूबा या इबो समाज के मुक़ाबले यहाँ सिनेमाघरों की हैसियत ज़्यादा विवादास्पद रही, इसके बावजूद

यहाँ के हौसा युवाओं में सिनेमा के प्रति उत्साह में कोई गिरावट आती दिखाई नहीं देती। मरहबा या प्लाज़ा में जाकर भारतीय फ़िल्में देखने को इबो, लेबनानी और यहाँ तक कि भारतीय मूल के आप्रवासी भी एक हौसाई क़िस्म की सामाजिक गतिविधि के रूप में ही देखते हैं।

निष्कर्ष

कानो के सिनेमाघर अलग-थलग खड़ी इमारतें नहीं बल्कि एक शहरी वातावरण में एकीकृत ऐसे बिंदु हैं जहाँ से उन्हें अपना महत्व हासिल होता है और जिसे वह ख़ुद परिभाषित करते हैं। प्यार और रोमांच के बेमिसाल क़िस्सों की स्क्रीनिंग स्थल के रूप में यहाँ के सिनेमाघर हौसा के दर्शकों के सामने अमेरिकी, भारतीय और ब्रिटिश संस्कृति की कल्पित सच्चाइयाँ पेश करते हैं (देखें लार्किन, 1997)। यहाँ मैंने इस बात पर ज़ोर दिया है कि औपनिवेशिक आधुनिकता में आए बदलावों से जन्मी और उन्हें अभिव्यक्त करने वाली एक व्यापक शहरी भौतिकता के अंग के तौर पर सिनेमाघरों की क्या जगह रही है। उनके सामाजिक महत्व को औपनिवेशिक शासन के तहत पैदा हुई अन्य तकनीकों और सार्वजनिक स्थलों से अलग करके नहीं देखा जा सकता। कानो में सिनेमाघर कानो-लागोस रेलमार्ग के बनने के महज़ बीस साल बाद अस्तित्व में आ गए थे और ये सिनेमाघर उन इलाक़ों में स्थित थे, जिन्हें कानो आने वाले पुरुष प्रवासियों की भीड़ को ध्यान में रखते हुए बसाया गया था। उन्हें नए औपनिवेशिक महानगर की सरहद और उसके नैतिक गुणों को रेखांकित करने वाले नए औपनिवेशिक बाज़ारों की बग़ल में बनाया गया था। ये सिनेमाघर शहरी सार्वजनिक परिधि में आए बदलावों से पैदा हुए यौन एवं जातीय मेलजोल के नए केंद्रों के निर्माण की प्रक्रिया का हिस्सा थे। इन सिनेमाघरों के भौतिक दायरे, उनकी गंदी ईंटों, टूटी रोशनियों और सिनेमाघर को बाँटने वाली दीवारों में हमें औपनिवेशिक शासन और औपनिवेशिक शहरीकरण के इतिहास की छाप साफ़ दिखाई देती है। इस अध्ययन में मेरा मक़सद सिनेमाघरों की पहले से दी हुई उस छवि के पार जाने का है जिस पर सवालों की कोई गुंजाइश दिखाई नहीं देती और जो अंधेरा होने पर, फ़िल्म शुरू होते ही, विश्लेषण की नज़र से ओझल हो जाती है। इसकी बजाय मैंने मीडिया के विकास क्रम में सिनेमाघरों की अहमियत को एक सैद्धांतिक जामा पहनाते हुए ख़ुद सिनेमाघर की भौतिकता का विश्लेषण किया है। मीडिया का यह विकास क्रम तकनीक को उस बृहत्तर सामाजिक परिधि में स्थित करता है जहाँ से उन्हें अर्थ मिलते हैं।

अनुवादः योगेंद्र दत्त

टिप्पणियाँ

यह निबंध 'थियेटर्स ऑफ़ द प्रोफ़ेन : सिनेमा ऐण्ड कॉलोनियल अरबनिज़्म' का एक संशोधित संस्करण है। उपरोक्त लेख *विज़ुअल एंथ्रोपोलॉजी रिव्यू* के उस विशेष सिंपोज़ियम में प्रकाशित हुआ था जिसका इस लेखक ने संपादन किया था (लार्किन, 1999ए; बी)। इस लेख के यहाँ पुनर्प्रकाशन की अनुमति देने के लिए मैं एएए को धन्यवाद देता हूँ। इस निबंध के लिए किए गए अनुसंधान में वेनर-ग्रेन फ़ाउंडेशन फ़ॉर एंथ्रोपोलॉजिकल रिसर्च के अलावा न्यूयॉर्क विश्वविद्यालय से मिली शोधवृत्ति का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। नाइजीरिया में मेरा अनुसंधान कानो राज्य इतिहास एवं संस्कृति ब्यूरो तथा अरेवा हाउस सेंटर फ़ॉर हिस्टॉरिकल डॉक्यूमेंटेशन इन कडुना की सहायता पर काफ़ी आश्रित रहा है। मैग मैक्लगान, फ़ाए गिंस्बर्ग, टी.ओ. बीडलमैन, लीला अबू-लुघोद, ब्रायन एडवर्ड्स और *विज़ुअल एंथ्रोपोलॉजी रिव्यू* के बेनाम समीक्षकों की टिप्पणियों के आधार पर इस निबंध में कई संशोधन किए गए हैं।

1. 1930, 1940 और 1950 के दशकों में कानो की सिनेमाई मुख्यधारा में ब्रिटिश और अमेरिकी फ़िल्मों का ही दबदबा था. पचास के दशक में यहाँ के सिनेमाघर मिस्र और भारत की पुरानी फ़िल्में भी दिखाने लगे. साठ के दशक के मध्य तक आते-आते मिस्र की फ़िल्में ग़ायब हो गईं और भारतीय फ़िल्में सबसे लोकप्रिय फ़िल्म विधा के रूप में सामने आईं (कम से कम उत्तरी नाइजीरिया में) हालाँकि अभी भी कुछ अमेरिकी और ब्रिटिश फ़िल्में काफ़ी लोकप्रिय थीं. सत्तर के दशक में हाँगकाँग की फ़िल्मों को लोकप्रियता मिलने लगी. जब नब्बे के दशक में मैंने अपना यह अनुसंधान किया उस समय कानो के सिनेमाघरों में भारतीय फ़िल्में सप्ताह में पाँच रात दिखाई जा रही थीं. हाँगकाँग की और अमेरिकी फ़िल्मों के लिए एक-एक दिन आरक्षित था. हाँगकाँग और अमेरिका की इन फ़िल्मों में से ज़्यादातर मारधाड़ वाली औसत दर्जे की फ़िल्में थीं। यहाँ के सिनेमा की मुख्यधारा में अफ़्रीकी फ़िल्मों को शायद ही कभी नियमित रूप से दिखाया गया है (इस प्रसंग में यारूबा फिल्म्स एक उल्लेखनीय अपवाद है। यह एक छोटा 'अपरिष्कृत' सिनेमा था जो योरूबा यात्रा थियेटर परंपरा से पैदा हुआ था। इन फ़िल्मों को ज़्यादातर मुख्यधारा के सिनेमाघरों में नहीं दिखाया जाता था बल्कि उन्हें नाटकीय मंचन के लिए बनाए गए पुराने प्रेक्षागृहों को किराए पर लेकर उनमें

प्रदर्शित किया जाता था).

2. रूसी फ़िल्म इतिहासकार यूरी त्सीवियान (1994) ने प्रेक्षागृह के तापमान, प्रोजेक्टर की जगह, रोशनी की गुणवत्ता और दृश्य एवं श्रव्य बाधाओं के स्वरूप पर ध्यान देते हुए सिनेमा जाने को एक सांवेगिक गतिविधि के रूप में बड़े सुंदर तरीक़े से व्यक्त किया है.
3. 'यह कहने में कोई हर्ज नहीं है कि अफ़्रीकियों को सस्ती दर वाली रात को ही सिनेमा में दाख़िल होने की अनुमति मिल पाती थी फिर भले ही वह ज़्यादा क़ीमत चुकाने को तैयार भी हो जाएँ'। टिकटों की क़ीमत के ज़रिए अनौपचारिक पृथक्करण दक्षिण भारत में भी एक प्रचलित पद्धति रहा है (स्टीफ़न ह्यूजेस, व्यक्तिगत संवाद)। इससे यह सवाल उठता है कि अलग-अलग नस्लों को एक-दूसरे से अलग रखने के लिए कट्टर नस्ली भेदभाव की बजाय क्या यही तरीक़ा पूरे अंग्रेज़ी साम्राज्य में प्रचलित था.
4. यहाँ तर्क दिया जा सकता है कि ये नाम हौसा की राजतंत्र व्यवस्था के आधार पर रखे गए थे। यह बात संभवतः सही है कि सिनेमाघरों के नाम कई बातों को ध्यान में रखकर रखे जा रहे थे. एक तरफ़ ये नाम ब्रिटिश साम्राज्य की भव्यता और दूसरी तरफ़ स्थानीय हौसा सरकार को ध्यान में रखकर चुने गए थे परंतु ये सभी नाम स्थानीय भाषा की बजाय अंग्रेज़ी में थे — सार्की की जगह लैटिन शब्द रेक्स (यह शब्द ब्रिटिश शाही परिवार के साथ संबंधों पर ज़ोर देता है), गिडान सार्की की जगह पैलेस और सरोन्या की जगह क्वीन.
5. 1946 में कानो के ज़िला अधिकारी सी.डब्ल्यू. राउलिंग ने कानो की भूमि पट्टेदारी व्यवस्था के अपने सर्वेक्षण में दर्ज किया कि अमीर के परिसर के पूर्व में स्थित क्षेत्र 'अभी भी अंग्रेज़ों से पहले के रीति-रिवाजों की तस्वीर पेश करता है. यहाँ अभी भी पारिवारिक परिसर हैं जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक ही परिवार के पास चले आ रहे है, मकानों को किराए पर देने की प्रथा नहीं है, रेहन रखने की व्यवस्था नहीं है. मरने वाला व्यक्ति परिवार के किसी ऐसे स्थानीय सदस्य को ही अपना मकान बेचता है जिसको कुछ और कमरों की ज़रूरत होती है.' (फ़्रिशमैन, 1977ः 116-117)
6. टी.एस. राईस, मेमोरेंडम ऑन सेग्रीगेशन ऐण्ड टाउन प्लैनिंग, 1921. केएनए केनोलोकाउथ 5/2 142/1923 (फ़्रिशमैन, 1977).
7. 1926 में रेज़ीडेंट्स के सम्मेलन में कानो के रेज़ीडेंट अलेक्ज़ेंडर ने अपने भाषण के दौरान इस पद का प्रयोग किया था. इस शब्द के ज़रिए कानो के हौसा लोगों की नज़र में साबोन गारी के प्रतीकात्मक मूल्य को समझा जा सकता है (रेज़ीडेंट एलेक्ज़ेंडर ऑफ़ कानो, 1927, ऐलिन, 1976ः 138 में उद्धृत).
8. इस सोच के मुताबिक़ युरोपीय कंपनियों को पुराने शहर में व्यापार करने की छूट नहीं थी. ईसाई मिशनरियों को उत्तर में अपनी गतिविधियों की कोई छूट नहीं थी और कानो (पुराना शहर और फ़ागे, जो शहर के उत्तर में स्थित एक परंपरागत व्यापारिक इलाक़ा था) के उत्तरी मुस्लिम इलाक़ों पर अमीर का राजनीतिक वर्चस्व क़ायम था.
9. उत्तरी नाइजीरिया में नियुक्त ब्रिटिश औपनिवेशिक अधिकारी दक्षिणी नाइजीरियनों को प्रायः हिक़ारत की नज़र से देखते थे. उनकी नज़र में दक्षिणी नाइजीरियन अपनी 'अफ़्रीकी' विरासत को ख़ारिज तो कर रहे हैं परंतु 'युरोपीय' रंग-ढंग में रंगने को तैयार नहीं हैं. इस्लामिक उत्तरी नाइजीरिया में सामाजिक ऊँच-नीच की व्यवस्था ब्रिटिश पूर्वाग्रहों के लिए फ़ायदेमंद थी इसलिए उसे बनाए रखने की पूरी कोशिशें की गईं. उत्तरी नाइजीरिया के एक गवर्नर जनरल का कहना था कि 'हम कोई हिंसक बदलाव नहीं चाहते'. (बैल, 1910/1911, एलीन, 1976ः 51 में उद्धृत).
10. सिम्मेल (1950) ने अजनबी का जो सिद्धांत दिया था, साबोन गारी उसका एक बेहतरीन उदाहरण था। सिम्मेल का तर्क यह था कि अजनबी, जो अकसर एक व्यापारी होता है, नज़दीकी और दूरी के परस्पर विरोधी सिद्धांतों का वाहक होता है। यानी बाहरी होते हुए भी वह 'ख़ुद समूह का एक हिस्सा' ही होता है (सिम्मेल, 1950ः 402).
11. फ़िल्म प्रदर्शन का यह तरीक़ा अमेरिका और ब्रिटेन में फ़िल्म इतिहास की नक़ल करता है. अमेरिका और ब्रिटेन में शुरुआती फ़िल्में आमतौर पर प्रहसन (देखें हानसेन, 1991), या नाटक (देखें चनान, 1996) के व्यापक कार्यक्रम के हिस्से के तौर पर दिखाई जाती थीं. इन कार्यक्रमों में गायक, कॉमेडियन और नर्तक भी अपना-अपना पार्ट अदा करते थे. इस तरह फ़िल्में भी शाम के इस मनोरंजन कार्यक्रम के कई तत्त्वों में से एक तत्त्व का रूप ले लेती थीं.
12. हालाँकि ख़ुद क़ुरान में भी तस्वीरें बनाने पर पाबंदी नहीं लगाई गई है परंतु हदीस (पैग़ंबर के उपदेश और कृत्य) में कलाकारों की हैसियत पर नकारात्मक बातें कही गई हैं (देखें ब्रावमान, 1974; ग्रेबर, 1973).
13. बाद में यह नाम मुख्य रूप से ब्रिटिश सरकार के गतिशील सिनेमाघरों पर लागू होने लगा। ये सिनेमाघर शैक्षणिक एवं प्रचार संबंधी फ़िल्में दिखाने के लिए शहरों और गाँवों में जाते रहते थे.
14. बाद में इन दोनों शब्दों की जगह सिनिमा या सिलिमा — इन दो ज़्यादा तटस्थ शब्दों ने ले ली.
15. 'नैतिक' शब्द के इस्तेमाल से मैं दो चीज़ों की तरफ़ संकेत कर रहा हूँ। कानो में सिनेमाघर को एक अनैतिक, यौन-विषयक स्थान के रूप में परिभाषित किया गया है. वहाँ यह एक ऐसी जगह है जिसे कभी सामाजिक स्वीकार्यता नहीं मिल पाई. दूसरी तरफ़ एक निहित स्तर पर मैं बीडेलमान (1993) द्वारा दी गई नैतिकता की उस अवधारणा का अनुसरण कर रहा हूँ जो छवियों और व्यवहारों का एक ऐसा समूह है जिसके ज़रिए लोग अपनी दुनिया को समझ भी सकते हैं और उसके भीतर रहते हुए इस प्रकार कार्य भी कर सकते हैं जो उनकी नैतिक समझ के अनुरूप भी हो और उसे चुनौती भी देता हो. बीडेलमान के लिए जगह एक 'नैतिक रूपक', एक ऐसा सामाजिक उत्पाद है जो समाज व व्यक्तित्व की कल्पित व्यवस्था को सूत्रबद्ध करता है और व्यक्ति एवं समाज के बारे में और उनके बीच टकराव के संबंध में आधारभूत विचार

प्रस्तुत करता है। नैतिक परिधि में कल्पना की सक्रिय उपस्थिति के बारे में बीडेलमान के तर्क में परिधि को मानवीय क्रियाओं की देन, एक सचेत निर्मिति के रूप में देखने की सुविधा मिल जाती है.

16. देखें, नाइजीरियाई राष्ट्रीय अभिलेखागार और न्यायमूर्ति परसी ई. ह्यूबार्ड.
17. अफ़्रीका के दूसरे हिस्सों की तरह हौसा समाज में भी बद्दुआओं (Rlhus/curse) को एक शक्तिशाली जादुई ताक़त के रूप में देखा जाता है. वहाँ के लोगों का विश्वास है कि कुछ लोगों के पास अपनी बद्दुआओं को साकार करने की चमत्कारिक शक्ति होती है लेकिन यदि इस शक्ति से लैस कोई व्यक्ति शैतानी इरादे नहीं रखता तो वह अपनी इस शक्ति का प्रयोग नहीं करता है. एक व्यक्ति ने इस व्याख्या के बारे में समझाते हुए मुझे बताया कि अल दुनिया के निर्माण को इतने ज़्यादा लोग बद्दुआएँ दे रहे थे कि उन सारी बद्दुआओं के मिले-जुले वजन से ही सिनेमाघर मिट्टी में मिल गया.
18. सानी मेनाग्गे में कानो राज्य इतिहास एवं संस्कृति ब्यूरो (एचसीबी) एक बिना छत वाला थियेटर चलाता है जिसे प्रसिद्ध कोरोसो नृत्य मंडली द्वारा दिखाए जाने वाले नाटकों और नृत्य कार्यक्रमों के लिए प्रयोग किया जाता है. जब एचसीबी इस थियेटर का इस्तेमाल नहीं कर रहा होता है तो एक प्रोजेक्शन युनिट के ज़रिए हौसा के नाटक और भारत व हाँगकाँग की फ़िल्मों के वीडियो कैसेट वहाँ चलाए जाते हैं. उस समय यह एक सिनेमाघर जैसा दिखाई देता है मगर एक सरकारी संस्थान की काई और प्राधिकार भी उसमें साफ़ दिखाई देता है.

संदर्भ

रॉबर्ट सी. ऐलन, 'मोशन पिक्चर एक्ज़ीबिशन इन मैनहैटन, 1906-1912 : बियॉन्ड द निक्लॉडियॉन'. यह लेख जॉन फ़ेल (सं) *फ़िल्म बिफ़ोर ग्रिफ़िथ*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ॉर्निया, बर्कले, 1983 में संकलित है, पृ. 162-75.

डेविड एडली ऐलिन, 'द साबॉन गारी सिस्टम इन नॉर्दर्न नाइजीरिया', पीएचडी शोध प्रबंध, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ॉर्निया, लॉस एंजिलिस, 1976.

अर्जुन अप्पादुरई, *मॉडर्निटी ऐट लार्ज*, मिनियापॉलिस, 1996 में 'द प्रोडक्शन ऑफ़ लोकैलिटी', पृ. 178-99.

वॉल्टर आर्मब्रस्ट, 'ह्वेन द लाइट्स गो डाउन इन काइरोः सिनेमा ऐज़ सेक्युलर रिचुअल', *विज़ुअल ऐंथ्रॉपॉलजी*, 10; 1998 पृ. 413-42.

पूनम अरोड़ा, 'इम्पेरिलिंग द प्रैस्टीज ऑफ़ द हवाइट वूमेनः कॉलोनियल एंग्ज़ाइटी ऐण्ड फ़िल्म सेंसरशिप इन ब्रिटिश इंडिया', *विज़ुअल ऐंथ्रॉपॉलजी रिव्यू,* 1 (2), 1997, पृ. 36-49.

करीन बार्बर, 'प्रिलिम्नरी नोट्स ऑन दि ऑडियेंस इन अफ़्रीका', *ऐफ़्रीका*, 67(3), 1997, पृ. 349-62.

बावूरो एम. बारकिंडो, 'ग्रोइंग इस्लामिज़्म इन कानो सिटी सिंस 1970: कॉज़ेज़, फॉर्म्स ऐण्ड इंप्लिकेशंस'. यह लेख लुई ब्रेनर (सं.) *मुस्लिम आइडेंटिटी ऐण्ड सोशल चेंज इन सब-सहारन अफ़्रीका*, ब्लूमिंग्टन 1993. में संकलित है, पृ. 91-105.

रोलाँ बार्थ, *माइथॉलजीज़,* लंदन 1986.

टी.ओ. बीडेलमैन, *मोरल इमैजिनेशन इन कागुरू मोड्स ऑफ़ थॉट*, वॉशिंगटन, 1993.

वॉल्टर बेंयामिन, 'द वर्क ऑफ़ आर्ट इन द ऐज ऑफ़ मेकैनिकल रिप्रोडक्शन', *इल्यूमिनेशंस*, न्यूयॉर्क, 1978, पृ. 217-51.

----------, पेरिस, 'कैपिटल ऑफ़ द नाइंटीन्थ सेंचुरी', *रिफ़्लेक्शंसः एसेज़, एफ़ॉरिज़्म्स ऑटोबायोग्रैफ़िकल राइटिंग्स*, न्यूयॉर्क, 1979.

एलीन बाउज़र, *द ट्रांसफ़ॉर्मेशन ऑफ़ सिनेमा*, 1907-1915, न्यूयॉर्क, 1990.

सूज़न बक-मॉर्स, *द डायलेक्टिक्स ऑफ़ सीइंगः वॉल्टर बेंयामिन ऐण्ड दि आर्केड्स प्रोजेक्ट*, मैसाच्यूसेट्स, 1989.

माइकल शैनन, *द ड्रीम दैट किक्सः द प्रीहिस्ट्री ऐण्ड दि अर्ली इयर्स ऑफ़ सिनेमा एंटरटेनमेंट इन ब्रिटेन*, लंदन, 1996.

ऐन फ़्रीडबर्ग, *विंडो शॉपिंगः सिनेमा ऐण्ड द पोस्टमॉडर्न*, बर्कली, 1993.

मिनाउ फ़्यूगेलसैंग, *वेल्स ऐण्ड वीडियोज़ः फ़ीमेल यूथ कल्चर ऑन द कीनियन कोस्ट,* स्टॉकहोम, 1994.

ओलेग ग्रैबॉर, *द फ़ॉर्मेशन ऑफ़ इस्लामिक आर्ट*, न्यू हेवन, 1973.

मिरियम हेंसेन, *बैबेल ऐण्ड बियॉन्डः स्पेक्टेटरशिप इन अर्ली सायलेंट फ़िल्म*, मैसाच्यूसेट्स, 1991.

जेफ़्री डी. हिमपेले, 'फ़िल्म डिस्ट्रीब्यूशन ऐज़ मीडियाः मैपिंग डिफ़रेंस इन द बोलिवियन सिनेमास्केप', *विज़ुअल ऐंथ्रॉपॉलजी रिव्यू,* 12(1), 1996, पृ. 47-66.

मर्विन हिस्कैट, *द डिवेलपमेंट ऑफ़ इस्लाम इन वेस्ट अफ़्रीका*, लंदन, 1984.

स्टीफ़ेन पी. ह्यूज़, 'पुलिसिंग सायलेंट फ़िल्म एक्ज़ीबिशन इन साउथ इंडिया', यह लेख रवि वासुदेवन (सं.) *मेकिंग मीनिंग इन इंडियन सिनेमा,* दिल्ली, 1999 में संकलित है.

लिन किर्बी, *पैरेलल ट्रैक्सः द रेल रोड ऐण्ड सायलेंट सिनेमा*, डरहैम, 1997.

रिचर्ड कोस्ज़ार्स्की, *ऐन इवनिंग्स एंटरटेनमेंटः दि एज ऑफ़ द सायलेंट फ़ीचर पिक्चर 1915-1928*, न्यूयॉर्क, 1990.

सिगफ़्रीड क्रैकॉर, *द मैस ऑर्नामेंटः वाइमर एसेज़*, मैसाच्यूसेट्स, 1995.

ऐनेट कून, *सिनेमा, सेंसरशिप ऐण्ड सेक्शुअलिटी 1909-1925*, लंदन, 1988.

ब्रायन लार्किन, 'इंडियन फ़िल्म्स नाइजीरियन लवर्सः मीडिया ऐण्ड द क्रिएशन ऑफ़ पैरेलल मॉडर्निटीज़', *ऐफ़्रीका,* '67 (3), 1997, पृ. 406-40.

---------, इंट्रोडक्शन टू मीडिया टैक्नॉलजीज़ ऐण्ड द डिज़ाइन फ़ॉर मॉर्डन लीविंग, *विज़ुअल ऐंथ्रॉपॉलजी रिव्यू,* 14(2), 1999, पृ. 11-13.

---------, 'थियेटर्स ऑफ़ द प्रोफ़ेन : सिनेमा ऐण्ड कॉलोनियल अर्बनिज़्म', *विज़ुअल ऐंथ्रॉपॉलजी रिव्यू,* 14(2), 1999b, पृ. 40-62.

फिलीस मार्टिन, *लेज़र ऐण्ड सोसाइटी इन कॉलोनियल ब्रैज़ाविले*, इंग्लैंड, 1995.

डैनियल मिलर, 'ह्वाय सम थिंग्स मैटर', यह लेख डैनियल मिलर (सं.), *मैटीरियल कल्चर्सः ह्वाय सम थिंग्स मैटर,* शिकागो 1997 में संकलित है.

टिमॉथी मिचेल, *कॉलोनाइज़िंग ईजिप्ट,* बर्कली, 1991.

चार्ल्स मूसर, *द एमर्जेंस ऑफ़ सिनेमाः द अमेरिकन स्क्रीन टू 1907*, बर्कली, 1990.

पैट्रिस पेट्रो, *जॉयलेस स्ट्रीट्सः विमेन ऐण्ड मेलोड्रैमैटिक इमैजिनेशन इन वाइमर जर्मनी*, प्रिंस्टन, 1989.

वूल्फ़गैंग शिवेलबुश, *द रेलवे जर्नी : दि इंडस्ट्रियलाइज़ेशन ऑफ़ टाइम ऐण्ड स्पेस इन द नाईंटीन्थ सेंचुरी*, बर्कली, 1986.

रॉबर्ट स्क्लार, *मूवी-मेड अमेरिका : ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ़ अमेरिकन मूवीज़,* न्यूयॉर्क, 1975.

इब्राहिम ताहिर, *स्कॉलर्स, सेंट्स ऐण्ड कैपिटलिस्ट् स इन कानो 1904-1974 : द पैटर्न ऑफ़ बुर्जुआ रेवॉलूशन इन ऐन इस्लामिक सोसाइटी*, पीएच. डी. शोधप्रबंध केम्ब्रिज युनीवर्सिटी, 1975.

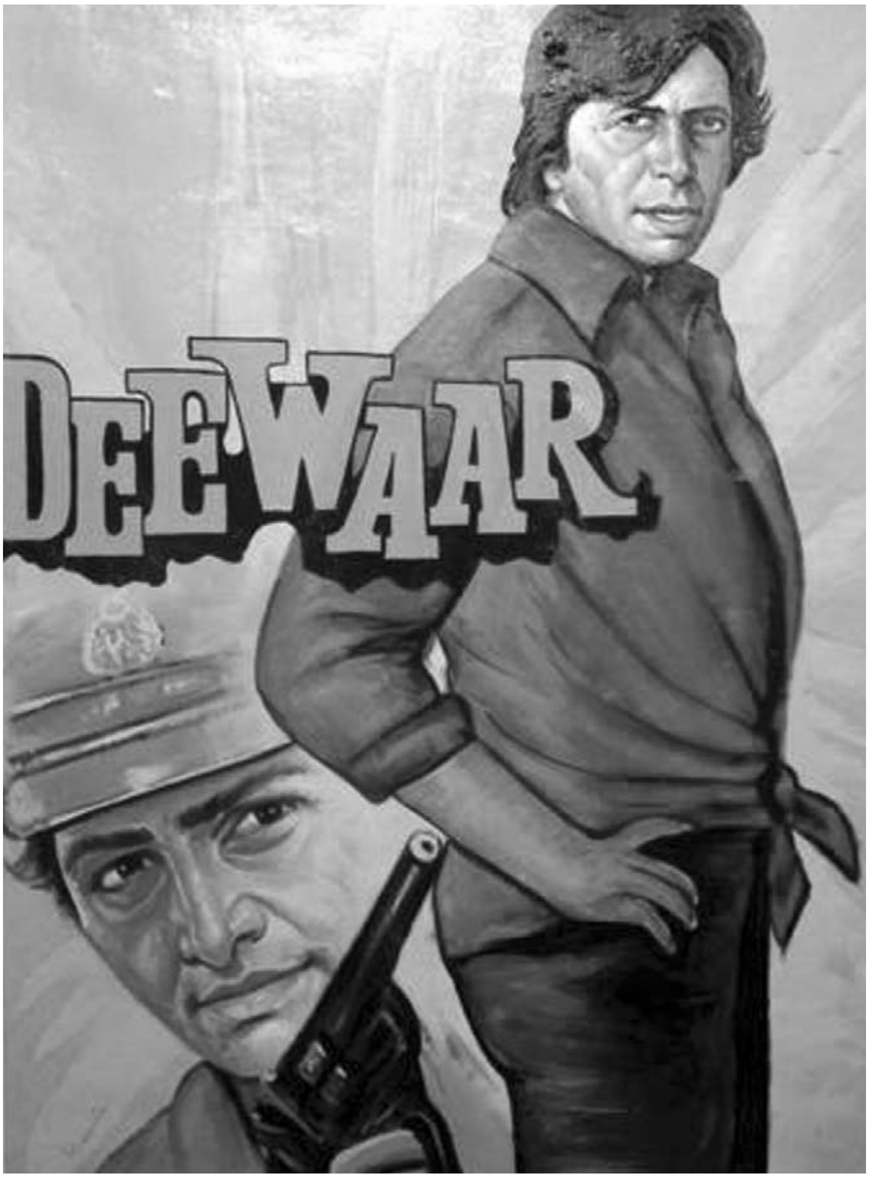
एलिज़ाबेथ थॉम्सन, *कॉलोनियल सिटिज़ंसः रिपब्लिकन राइट्स, पैटर्नल प्रिविलेज ऐण्ड जेंडर इन फ़्रेंच सीरिया ऐण्ड लेबनान,* न्यूयॉर्क, 2000.

यूरी सिवियन, *अर्ली सिनेमा इन रशा ऐण्ड इट्स कल्चरल रिसेप्शन,* न्यूयॉर्क, 1994.

माइकल वॉट्स, 'प्लेस, स्पेस ऐण्ड कम्युनिटी इन ऐन ऐफ़्रिकन सिटी', यह लेख पैट्रिशिया यीगर (सं.) *द जॉग्रफ़ी ऑफ़ आइडेंटिटी*, ऐन आर्बर, 1996 में संकलित है, पृ. 59-97.

फ़िल्मी पोस्टर का सफ़र

रंजनी मज़ुमदार



भूमंडलीकरण के इस दौर में जहाँ हमारी रोज़ाना की ज़िन्दगी छवियों से लबरेज़ है, प्रचार में दृश्य की अहमियत को रेखांकित करने की ज़रूरत नहीं है। भूमंडलीकरण के बाद 1990 का दशक भारतीय फ़िल्म उद्योग के लिए महत्वपूर्ण रहा है। टेलीविज़न का प्रवेश, नगरीय इलाक़ों का रूपान्तरण, इंटरनेट का प्रसार तथा नई तकनीक के आगमन, सौन्दर्यशास्त्रीय संवेदनाओं तथा बाज़ारी रणनीतियों में परिवर्तन ने फ़िल्म उद्योग पर अपनी छाप छोड़ी है। संयोगवश इसी दौर में फ़िल्म उद्योग अपने इतिहास के भयंकर आर्थिक संकट से भी ग्रस्त रहा है चूँकि ज़्यादातर फ़िल्में बॉक्स ऑफ़िस पर पिटी हैं। यूँ तो पहले के दौर में भी फ़िल्म प्रचार हमेशा महत्वपूर्ण रहा है लेकिन अब यह एक बिल्कुल अलग मुक़ाम पर आ पहुँचा है। 'एन्डेवर' के प्रमुख (1998 में स्थापित एक मार्केटिंग कम्पनी) राजेश ग्रोवर बताते हैं कि फ़िल्म की सफलता में प्रचार और मार्केटिंग की भूमिका पाँच से दस प्रतिशत होती थी लेकिन अब यह हिस्सा चालीस से पचास प्रतिशत हो गया है।

ग्रोवर का ख़याल है कि समकालीन भूदृश्य में मीडिया प्रतियोगी प्रचार और बाज़ार की जगह बन गया है। पहली बात तो यह हुई है कि नई तकनीक और दृश्य के तमाशे ने पुराने हस्तमुद्रित फ़िल्म पोस्टर की शक्ल ही बदल दी। दूसरी ओर डिजिटल पोस्टरों के इस युग ने हाथ से छपे पोस्टर को 'कला-वस्तु' के रूप में देखने की ख़्वाहिश पैदा कर दी है। इन दोनों ही प्रवृत्तियों में आप एक साथ दृश्य का तमाशा और पुराने रूपों के प्रति मोह देख सकते हैं, जिसे भुनाने के लिए नई वित्तीय संस्थाएँ नए तरह के उपक्रम और अनोखे प्रचार-प्रसार की रवायतें पेश कर रहे हैं।

इस लेख में हम समकालीन पोस्टर के उत्पादन और वितरण को उसके ऐतिहासिक, तकनीकी और शहरी बदलावों के संदर्भ में देखेंगे। तभी यह बात साफ़ हो पाएगी कि जहाँ एक ओर समकालीन प्रचार तकनीकों और टेलीविज़न ने पोस्टर की शक्लोसूरत और उनकी क़ीमतों में इज़ाफ़ा किया है वहीं दूसरी ओर पुराने पोस्टर रूपों के प्रति अतिरिक्त मोह भी पैदा हुआ है। इन बदलावों को भाँपते हुए नई संस्थाओं ने एक बिल्कुल अभिनव माल की तैयारी में ख़ुद को जुटा दिया है। गलियों से अजायबघर तक पोस्टर का यह निराला सफ़र बेहद दिलचस्प है।

निर्माण, वितरण और प्रसार की तकनीक

फ़िल्म पोस्टर की शुरुआत की निश्चित तारीख़ बता पाना मुश्किल है। लिथोग्रैफ़िक छपाई भारत में 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में आयी तथा इसका पहला प्रयोग धार्मिक तस्वीरों की छपाई में हुआ। दादा साहब फाल्के द्वारा 1913 में निर्मित पहली भारतीय फ़िल्म *राजा हरिश्चन्द्र* की कहानी धार्मिक मिथकीय ही थी। अख़बारों के विज्ञापन, पर्चे और प्रचार पुस्तिकाएँ तो मिलती हैं लेकिन पोस्टरों के इस्तेमाल के सबूत अप्राप्य हैं। बाबूराव पेंटर द्वारा निर्देशित *कल्याण खजिना* (1924) का पोस्टर संभवतः सबसे पुराना उपलब्ध पोस्टर है। ख़ुद निर्देशक ने इसकी डिज़ाइन तैयार की थी और उसमें रंग भी भरे थे। ये पोस्टर पहले अमूमन कैनवस पर बनाए जाते थे और फिर उसी स्रोत का इस्तेमाल कर सस्ते काग़ज़ पर छपाई की जाती थी। चूँकि छपाई की सामग्री ही विज्ञापन का मुख्य ज़रिया थी, इसलिए स्टूडियो युग में फ़िल्मी गाने, कहानियों की पुस्तिकाएँ, पर्चे और पोस्टर बड़ी तादाद में छपते थे लेकिन इसमें सबसे अहम पोस्टर ही था।

अपनी शुरुआती ज़िन्दगी से ही पोस्टर का घुमक्कड़ स्वरूप मशहूर रहा है और यह शहर की दरो-दीवार से लेकर शौचालयों, पान की दुकानों और झोंपड़ियों तक चिपका पाया जाता रहा है। इसके सहारे फ़िल्म संस्कृति को तो बढ़ावा मिलता ही है, होटलों में सजावट भी की जाती है — यह एक साझा विज्ञापन और फ़िल्म-संस्कृति का प्रतीक — दोनों है। शहरी केन्द्रों में तो पोस्टर वर्षों से छापे-लगाए जाते रहे हैं। सिनेमा थियेटरों के बाहर तथा शहर की दीवारों पर इनकी मौजूदगी देश के अधिकांश शहरों की दृश्य-संस्कृति का अहम पहलू है। कई छोटे शहरों में आज भी इन पोस्टरों को रिक्शे पर चारों तरफ़ चिपकाकर, एक आदमी को लाउड-स्पीकर से प्रचार करते देखा जाता है। बड़े शहरों में फ़िल्म के प्रचार का पुराना रूप नई डिजिटल तकनीकों के आगमन तथा गलियों में नियॉन लाइट विज्ञापन की ज़ोरदार मौजूदगी के कारण धीरे-धीरे परिवर्तन के दौर से गुज़र रहा है। नए शहर की चकाचौंध से मुक़ाबला करने में असमर्थ ये पारम्परिक फ़िल्म पोस्टर अब केन्द्र से परिधि की तरफ़ जा रहे हैं। मिसाल के तौर पर दिल्ली में ही ऐसे पोस्टर ज़्यादातर पुराने शहर या पूर्वी और पश्चिमी इलाक़े के ख़स्ताहाल

सिनेमाघरों पर लगा जाते हैं। छोटे शहरों में, जिन्हें फ़िल्म वितरक 'इंटीरियर्स' कहते हैं, पोस्टर अभी भी दीवारों पर चिपकाए जाते हैं।

आज यह पोस्टर उद्योग एक विस्तृत ढाँचा है जिसमें फ़िल्म के कुल बजट का लगभग 5 से 10 प्रतिशत हिस्सा जाता है। यह किसी भी फ़िल्म की पब्लिसिटी का एक अत्यंत आवश्यक हिस्सा है। फ़िल्मी पोस्टर तैयार करने वाले सात या आठ डिज़ाइन घराने हैं और सबके सब मुम्बई में हैं। फ़िल्म निर्माता इन्हें प्रचार-सामग्री तैयार करने का पूरा ठेका देते हैं, जिसके अंतर्गत पोस्टर, फ़ोटो-सेट, ऑडियो कैसेट, सीडी कवर और ब्रोशर शामिल हैं। डिज़ाइन के बाद लगभग डेढ़ लाख पोस्टर बनाये जाते हैं तथा उन्हें विभिन्न वितरण क्षेत्रों में प्रिंटरों द्वारा सीधे भेजा जाता है। भारत में पाँच मुख्य फ़िल्म वितरण क्षेत्र हैं जिनमें मुम्बई सबसे बड़ा है। विभिन्नता-विशालता तथा दूरदराज़ के प्रदेशों को ध्यान में रख कर वितरण नेटवर्क द्वारा सांस्कृतिक और सामाजिक विशिष्टिता का निर्धारण करके दर्शकों के अलग-अलग खंड या हिस्से बनाए जाते हैं।

इस तरह 'ए', 'बी' और 'सी' तीन श्रेणियाँ हैं। वितरकों के लिए दर्शकों की भी तीन विशिष्ट कोटियाँ हैं। 'सी' श्रेणी में ऐसी जगहें आती हैं जहां छोटे बजट की और आम तौर पर अर्द्ध-कामोत्तेजक फ़िल्में चलती हैं। श्रेणी 'ए' में बड़े महानगर — दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता, चेन्नई, बंगलोर — तथा अन्य बड़े शहर आते हैं। श्रेणी 'बी' में वे छोटे शहर आते हैं जिन्हें 'इंटीरियर्स' कहा जाता है। फ़िल्म पोस्टर की रचनात्मकता इन क्षेत्रीय विभाजनों की वितरकीय परिभाषा पर निर्भर करती है। दिल्ली के प्रमुख फ़िल्म पोस्टर वितरक संजय मेहता का कहना है कि श्रेणी 'ए' की नागर कॉस्मोपॉलिटन संवेदनशीलता वितरकों को पोस्टरों के साथ कुछ आज़ादी देती है। पोस्टरों में गिटार का होना शायद दूरस्थ अभ्यंतरिक प्रदेशों में न स्वीकार किया जाए इसीलिए इन प्रदेशों के दर्शकों की रुचि के अनुसार स्थानीय रूप से सामान्यतः नए पोस्टर बनाए जाते हैं। श्री मेहता का कहना है कि केन्द्र 'बी' के दर्शकों के लिए गिटार बंदूक़ बना दिया जाता है।

इसी तरह ख़ास हिस्सों में कलाकारों की लोकप्रियता भी पोस्टरों के रूप में अंतर लाती है। स्थानीय संवेदनशीलता और दर्शकों की उम्मीदों के आधार पर निर्धारित कलाकारों की लोकप्रियता पोस्टरों की शक्ल को प्रभावित करती है। यह उसी तरह है, जैसे कुछ ख़ास फ़िल्मों के कलाकारों का निर्धारण होता है। एक्शन फ़िल्म को साधारण तथा श्रेणी 'बी' में सफल माना जाता है तथा कुछ 'ए' श्रेणी में भी। यहाँ पोस्टरों में आक्रोश की अतिनाटकीयता, मर्दानगी, बंदूकें, तकनीकें, कारें तथा जोखिम भरे दृश्यों को दिखाया जाता है। यहाँ स्त्री कलाकारों को सीमांत में रखा जाता है। इसी तरह 'ए' श्रेणियों में पारिवारिक फ़िल्मों की सफलता बहुत-सी बातें दिखाती हैं, मसलन — नए भारतीय परिवारों में उत्सवपूर्ण माहौल, आनन्दपूर्ण समारोह, नखरेबाजी, शादी के रंग-बिरंगे परिधान तथा कई औरतों का होना। पारिवारिक फ़िल्मों में रोमांस की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है।

अधिकांश वितरकों और मुद्रकों का मानना है कि मुम्बई से निकलने वाले पोस्टर दर्शकों को एकसूत्र में बाँधने का काम करते हैं — यानी कि उनकी एक सार्वभौमिक भूमिका है। चूँकि ये पोस्टर अत्यंत महत्वपूर्ण हैं इसलिए वितरकों द्वारा अपने विशेष दर्शकों की रुचियों और प्राथमिकताओं को ध्यान में रखना आवश्यक समझा जाता है। इसीलिए स्थानीय डिज़ाइनों में खास भौगोलिक क्षेत्र की सांस्कृतिक पसंद को तरजीह दी जाती है। मुम्बई से अंग्रेज़ी में भेजे जाने वाले पोस्टरों को उत्तरी भारत में हिंदी में परोसा जाता है। बंगाल में पोस्टरों में कभी-कभी बांग्ला का प्रयोग होता है। लोकप्रिय धार्मिक उत्सवों का भी पोस्टरों पर प्रभाव पड़ता है।

उत्तर प्रदेश में ईद के दौरान स्थानीय डिज़ाइन द्वारा 'ईद मुबारक़' काफ़ी मोटे अक्षरों में पोस्टर के ऊपर लिखा जाता है, जो मुस्लिम क्षेत्र के दर्शकों को ध्यान में रखकर किया जाता है। इसी प्रकार होली और दिवाली में भी हिंदुओं के लिए किया जाता है। इन अवसरों पर फ़िल्मों को मनोरंजन के मुख्य साधन के रूप में दिखाने का प्रयास किया जाता है। बड़े बजट की फ़िल्म के लिए स्थानीय पोस्टरों की संख्या लगभग 70 से 80 हज़ार तक होती है। सामान्यतः फ़िल्म रिलीज़ होने के बाद जब पहले हफ़्ते में फ़िल्म अच्छी चलती है तो पोस्टर नहीं बदलते हैं, लेकिन यदि पहला सप्ताह अच्छा नहीं होता है तो दर्शकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए नए वैकल्पिक पोस्टर बनाए जाते हैं। जैसा कि कई मुद्रकों और वितरकों द्वारा बताया गया, उनके लिए फ़िल्म रिलीज़ होने के दिन से ही उल्टी

गिनती शुरू हो जाती है। बॉक्स ऑफ़िस पर फ़िल्म की दशा को देखकर वितरक दर्शकों के बारे में निर्णय लेते हैं। अगर फ़ायदे कम होते हैं तो स्थानीय रूप से लोकप्रिय तथा ग्राह्य चीज़ों को पोस्टरों में जगह दे देते हैं भले ही ये चीज़ें वास्तव में उन फ़िल्मों में हों या न हों। इस प्रकार पोस्टर सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक लोकप्रिय संस्कृति के प्रतीकात्मक उदाहरण बन जाते हैं जो विनिमय के अनेक स्तरों से प्रभावित होते हैं।

अपनी रचना में रंगों के प्रयोग तथा अंतिम प्रिंटिंग प्रक्रिया के समय से ही निर्माण की तकनीकों, डिज़ाइन आदि से होकर पोस्टर एक लम्बा सफ़र तय करता है। पहले निर्माता द्वारा दिए गए फ़ोटोग्राफ़ को चित्रकार कैनवस पर चित्रित करता था। विभिन्न मुद्राओं और कलाकारों के हाव-भाव तथा निर्माण श्रेय से युक्त इस पोस्टर को बनाने में प्रायः एक सप्ताह का समय लगता था। कैनवस औसतन 30 इंच चौड़े और 40 इंच लम्बे होते थे। परिवर्द्धक लेंस की अनुपस्थिति के कारण चित्रों का आकार इसके अंतिम रूप में आने तक एक ही रहता था। कैनवस चित्रों का फ़ोटोग्राफ़ प्राकृतिक रोशनी में पारम्परिक कैमरे से लिया जाता था। जब 1985 में भारत में नए परिवर्द्धक लेंस आए तभी मूल डिज़ाइन के आकार को कम किया जा सका।

इसके बाद वह दौर आया जिसे लोकप्रिय शब्दावली में 'काटो और साटो' कहा जाता है। यानी फ़िल्म के फ़ोटुओं को पहले काटकर अलग कर लिया जाता था और फिर उन्हें सजावटी तरतीब में लगाकर पोस्टर बना लिया जाता था। पृष्ठभूमि को रंगों और दूसरे अलंकारों की कूचियों से भर दिया जाता था। इस तरह 'काटो और साटो' की विधि वस्तुतः फ़ोटोग्राफ़ी और चित्र का मिश्रण रही है। पोस्टर डिज़ाइनर निर्माता व निर्देशक की सलाह से अपने काम को अंजाम देते हैं। कभी-कभार उन्हें फ़िल्म की पटकथा दे दी जाती है, लेकिन ऐसा नहीं होने पर उन्हें निर्माता-निर्देशकों की सलाह से काम चलाना पड़ता है। पोस्टर डिज़ाइनर को मुख्यतः गानों, पटकथा, कलाकार, शूटिंग की जगह जैसी बातों का ख़याल रखना पड़ता है, लेकिन अगर इनसे काम न चले तो स्टूडियो के अंदर या आउटडोर जगहों पर ले जाकर फ़िल्मों के प्रमुख कलाकारों के साथ विशेष चित्र खिंचवाए जाते हैं।

फिर उन सारे फ़ोटुओं को जाँचा-परखा जाता है। छाँटने की प्रक्रिया कई दिनों तक चलती है। चुने हुए फ़ोटुओं से पोस्टर बनाने की प्रक्रिया में कई दिन लग जाते हैं। कम्प्यूटर तकनीक के आगमन से डिजिटल रचनात्मकता, स्तरों को जमाने का काम, सटीक रंग डालना और बहु-छवि संयोजन अपेक्षाकृत आसान हो गया है। कम्प्यूटर पर विभिन्न संयोजनों की इस सम्भावना से फ़िल्मों के बहुआयामी पक्ष के प्रतिबिम्बन में लोच व सुविधा आई है। मुम्बई के इन उच्चस्तरीय डिज़ाइनरों के साथ-साथ अन्य शहरों में भी स्थानीय डिज़ाइनरों की सामानांतर अर्थव्यवस्था उभरी है। ये डिज़ाइनर कम्प्यूटर का आसानी से प्रयोग करते हैं तथा नियमित रूप से इंटरनेट से कलाकारों की तस्वीरें स्थानीय पोस्टरों के निर्माण की ख़ातिर निकालते हैं। इस तरह के कम्प्यूटर की दुकानों के प्रसार के कारण इस तरह की तकनीक तक पहुँच आसान हो गई है। पहले के कई डिज़ाइनर्स अब कम्प्यूटर की दुकानों में बैठे होते हैं तथा चुनाव प्रचार के पोस्टर्स, कम बजट की फ़िल्मों (ख़ासकर केन्द्र यानी दूरस्थ और अभ्यांतरिक स्थानों के लिए), सरकारी स्वास्थ्य अभियानों के लिए पोस्टर्स बनाने में व्यस्त रहते हैं। अपनी रचनात्मक दक्षता के बावजूद कोई भी स्थानीय डिज़ाइनर उतना पैसा नहीं कमा पाता जितना मुम्बई के उच्च स्तरीय डिज़ाइनर कमाते हैं।

फ़िल्म उद्योग की अराजक प्रकृति के कारण डिज़ाइन संबंधी सारे निर्णय तदर्थ रूप में लिए जाते हैं। शायद ही कोई पटकथा डिज़ाइनरों के अवलोकनार्थ जाती हो। *लगान* (2001, आशुतोष गोवारिकर) के पोस्टर की डिज़ाइनर सिमरत बरार याद करती हैं: 'यह अकसर अपवाद जैसा था क्योंकि मुझे फ़िल्माए गए गाने व पटकथा उपलब्ध कराए गए थे। हर फ़िल्म का कथानक दो या तीन उप-कथानकों में बाँट कर देखा जाता है। सुश्री बरार के हिसाब से *दिल चाहता है* (2001, फ़रहान अख़्तर) के ऐसे तीन तत्त्व थेः उसकी ताज़गी, उसका अंदाज़ और अंतर्राष्ट्रीय मिज़ाज, जिन्हें उन्होंने पोस्टर में उकेरने की कोशिश की।

नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ डिज़ाइन, अहमदाबाद में प्रशिक्षित सिमरत बरार ने विज्ञापन में अपना कॅरियर शुरू किया। वह मानती हैं कि वैसे तो मुम्बइया फ़िल्मी पोस्टरों के प्रस्तुतीकरण की हमेशा से अपनी ही एक शैली रही है, लेकिन आज के दौर के पोस्टरों की डिज़ाइन और काग़ज़ की गुणवत्ता पेशेवर विज्ञापन की शर्तों पर निर्भर होती जा रही है। चूँकि बहुत सारे डिज़ाइनर अब औद्योगिक विज्ञापन जगत से फ़िल्मी जगत में आ रहे हैं, इसलिए उनके द्वारा प्रयुक्त तकनीकों में समानता होना हैरत की बात नहीं है। कम्प्यूटरीकरण से पहले एक पोस्टर की लागत

लगभग डेढ़ रुपये थी। आजकल यह औसतन सात रुपये या फ़िल्म के बजट के अनुसार अधिक भी होती है। *सिल्वर प्वाइंट* नामक एक अहम मुम्बइया मुद्रक फ़िल्मी जगत के तक़रीबन 60 फ़ीसदी पोस्टर छापता है। उसके एक प्रतिनिधि का कहना है कि पोस्टर की औसत लागत बेहतर आर्ट पेपर, नई मुद्रण तकनीक, डिज़ाइनरों की फ़ीस आदि के कारण बढ़ गई है।

'कभी ख़ुशी कभी ग़म' (2002) नामक बड़े बजट की फ़िल्म के निर्माता ने प्रिंट-प्रचार पर लगभग 2 करोड़ रुपये ख़र्च किए जो प्रचार की कुल लागत का छठा हिस्सा था। *सिल्वर प्वांइट* व्यापार व उद्योग जगत के मशहूर मुद्रक हैं और विज्ञापनों की डिज़ाइनर दक्षता का इस्तेमाल फ़िल्मी पोस्टरों में करते हैं। पुराने ज़माने में फ़िल्म का प्रचार पोस्टरों और झलकियों (ट्रेलर) के ज़रिए होता था। आजकल यह काम टेलीविज़न, रेडियो और फ़िल्मी सितारों, निर्माता, निर्देशकों द्वारा ख़ास तौर पर चलाए गए विज्ञापन अभियानों से होता है। इन सब तरक़ीबों के लिए बाज़ार की रणनीति तैयार करने वाली संस्था *एन्डेवर* प्रिंट-प्रचार को विज्ञापन का एक हिस्सा मानती है। *एन्डेवर* के जनक राजेश ग्रोवर इस बात पर जोर देते हैं कि फ़िल्म को बाज़ारों में एक उत्पाद की तरह लाया जाना चाहिए तथा यह पूरी क्रिया पेशेवर तरीके से होनी चाहिए; क्योंकि फ़िल्म उद्योग में इसका अभाव रहा है। फ़िल्म के कुल 15-20 प्रतिशत पर *एन्डेवर* की आँखें होती हैं। प्रचार को फिर एक मुक़म्मल अभियान की शक्ल दी जाती है, जिसमें हर तरीक़े के साधन शुमार हैं। विज्ञापन, फैशन, फ़िल्म और टेलीविज़न के आपसी रिश्ते ने आक्रामक बाज़ार संस्कृति को जन्म दिया है। यही प्रवृत्ति नए भूमंडलीय सौंदर्य बोध में भी लक्षित है।

टेलीविज़न, शहरी क्षेत्र और नए पोस्टर

दुनिया भर के पंडितों ने उपभोग और शहरी भूगोल के सौन्दर्यशास्त्र के बीच के संबंधों की पड़ताल की है। जगह बदलने की प्रक्रियाओं में ही वस्तु-रूप अपना जादुई चरित्र धारण करता है। मल्टीप्लेक्स और नवीकृत सिनेमाघर, ख़रीदारी के लिए बने नए मॉल, कहवाघर, एटीएम व नियॉन लाइट के विज्ञापनों ने कई बड़े शहरों को एक शानदार नए तमाशे की शक्ल दे दी है। केबल टेलीविज़न से आए बदलावों ने दृश्यों के माध्यम से पूरी दुनिया को हमारे घरों में ला पटका है।

दृश्यों की इस बाढ़ का ताल्लुक़ वैसे तो मूलतः उपभोक्ता प्रदर्शन या तमाशबीनी से है, लेकिन इससे गली-चौक-चौबारों के रूप-रंग गतिचाल में ढेर-सारे बदलाव आए हैं। इस नयी दृश्य संस्कृति से भला सिनेमा के पोस्टर और ख़ुद सिनेमा जगत कैसे अछूता रहता।

1990 के दशक में केबल टीवी के आगमन ने फ़िल्म पब्लिसिटी के एक नए क्षेत्र का निर्माण किया है। पहले गानों को कार्यक्रमों में दिखाया जाता था। आगे चलकर फ़िल्म पब्लिसिटी के लिए ट्रेलर (झलकियाँ) बनाए गए। इन झलकियों को कार्यक्रमों, विज्ञापनों तथा गीत-संगीत की भीड़भाड़ में अपने लिए जगह बनानी होती है। इलेक्ट्रॉनिक विज्ञापन की दुनिया के लोगों को इन झलकियों को नाटकीय और शानदार बनाने के लिए कहा जाता है। ये झलकियाँ इस बात को सुनिश्चित करती हैं कि दर्शकों को विदेशी स्थानों, ऐक्शन, रोमांस, संगीत तथा कलाकारों की मौजूदगी अवश्य दिखायी जाए। पिछले कुछ वर्षों में ये फ़िल्म पब्लिसिटी में प्रमुख रूप से उभरे हैं। इससे टेलीविज़न और फ़िल्म उद्योग के बीच संबंध इतने गहरे हुए हैं कि लगभग सभी चैनलों पर अब 'बॉलीवुड' के पैकेज प्रदर्शित किए जाते हैं।

1992 में डिजिटल तकनीक को ला कर राहुल नन्दा ने पोस्टर निर्माण क्षेत्र में 'काटो व साटो' तकनीक का सफ़ाया कर दिया। वे भी पोस्टरों के नए रूप के पीछे टेलीविज़न का हाथ मानते हैं। उन्हें पारम्परिक होर्डिंगों पर चित्रित पोस्टर भोंडे व सस्ते नज़र आए क्योंकि पोस्टर कलाकार चालू क़िस्म की पिटी-पिटाई चित्रकारी किया करते थे। राहुल नन्दा ने शहर का पहला डिजिटल बिलबोर्ड तैयार किया। उनके अनुसार 1990 के दशक में फ़िल्म विज्ञापन उत्कृष्ट और परिष्कृत दिखने लगा। हालाँकि उन्हें शुरू में पारम्परिक डिज़ाइनरों के विरोध का सामना करना पड़ा मगर अंततः कम्प्यूटर ही पोस्टर डिज़ाइनिंग के लिए मुख्य रूप से इस्तेमाल किया जाने लगा। "आज प्रिंट मीडिया इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की तरह दिख सकती है", ऐसा नन्दा कहते हैं। वे इंटरनेट और टेलीविज़न को नए युग का परिचायक मानते हैं जहाँ दृश्य संस्कृति, प्रिंट और गतिमान छवियों के बीच एक बेधड़क लेन-देन होता है।

जैसे-जैसे स्थापित माहौल का गठन स्टील, शीशे और प्रकाश के प्रयोगों द्वारा परिवर्तन के दौर से गुज़रता है वैसे-वैसे हम शहर के ख़ास हिस्सों में, शहरी आंदोलन के क्षेत्र में पहुँचते हैं जो मुख्य रूप से सौन्दर्यीकृत, जादुई और उत्तेजक होता है। जैसे-जैसे भवन निर्माण की सामग्री में इस्पात, काँच और रोशनी के नए प्रयोगों से बदलाव आ रहे हैं, शहरों में ऐसे इलाक़े मिलने लगे हैं जहाँ चुम्बकीय और तमाशाई साज-सज्जा से हमारा साक्षात्कार होने लगा है। लगता है हम सौंदर्यबोध की नई दुनिया में आ गए हैं। शहरों की वास्तु योजना में अब टीवी की उपस्थिति महत्वपूर्ण हो गई है। अपने केबल-अवतार में टेलीविज़न सार्वजनिक ज़िन्दगी के देशकाल व लय में जैसे दबे पाँव घुसा चला आया है। कहवाघरों, रेस्त्राँ, डिपार्टमेंटल स्टोर, एअरपोर्ट, बियर बार, छोटी-बड़ी दुकानों, फ़ास्ट फूड चेन या अन्य पब्लिक हलक़ों में माहौल का हिस्सा बन गया टीवी एक नई दृश्य संस्कृति का निर्माण करता है, जिसमें उचटती नज़र इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की दृश्यमान गतिशीलता का नज़ारा देखती है।

हम टेलीविज़न सेट को घर के बाहर भी पाते हैं क्योंकि यह शहरी जीवन की तर्ज़ के साथ एकीकृत हो गया है। एम टीवी या ख़बरिया चैनलों, क्रिकेट या फ़िल्मी गीतों के तेज़ी से बदलते दृश्यों की गति के साथ मुसलसल साक्षात्कार ने फ़िल्म पोस्टरों को चमक-दमक में उतना ही आकर्षक बनने को मज़बूर कर दिया है। सिमरत बरार और राहुल नन्दा के अनुसार टीवी पर आने वाले विज्ञापनों के स्तर पर इन पोस्टरों का आना आवश्यक है। इन दोनों रूपों की दृश्य उपस्थिति का एक समान होना आवश्यक है ताकि फ़िल्म प्रचार के साथ इनका सहज संबंध बन सके।

चूँकि नई तकनीक ने देखने के ढंग को ही बुनियादी तौर पर बदल दिया है इसलिए शहरी प्रदर्शन की भव्यता के लिए सौन्दर्य बोध को एक अलग क़िस्म के सौंदर्यबोध की ज़रूरत आन पड़ी है। इस परिदृश्य में हाथ से बनी कभी मामूली रही सिनेमाई तस्वीरें अब संग्रहणीय कला का दर्जा प्राप्त कर चुकी हैं।

मोह और डिजिटल युग में कलात्मक माहौल (डिजिटल युग में अतीत मोह और कला की आभा)

यांत्रिक पुनरुत्पादन के वाल्टर बेंयामिन के मशहूर सिद्धांत के अनुसार फ़ोटॉग्रफ़ी के उदय से चित्रकला की आभा जाती रही और चित्रों की बहुलता ने कला के जनतंत्रीकरण को संभव बनाया क्योंकि संग्रहालयों की क़ैद से निकल कर वह आम लोगों को उपलब्ध हो गई। बदलाव की विडम्बना देखिए कि हाथ से बने फ़िल्मी पोस्टर जो नब्बे के शुरुआती वर्षों तक पूरे देश में चिपके रहते थे और सड़कों पर पाँच रुपये में बिकते थे, अब कलाकृति का दर्जा हासिल कर चुके हैं, क्योंकि गुणग्राहक संग्रहकर्त्ता उनका संरक्षण और प्रदर्शन करके उन्हें बेच रहे हैं। अर्जुन अप्पादुरई ने इस प्रक्रिया को 'विपथन द्वारा वस्तुकरण' 'commoditization by diversion' कहा है, जिसके तहत चीज़ों को उनके परिचित संदर्भ में उठाकर कहीं और रख देने से उनका मूल्य बढ़ जाता है। इन चीज़ों को फ़ैशन, घरेलू सजावट और संग्रह के हलक़ों में देखा जा सकता है। अप्पादुरई के अनुसार वस्तुओं का यह विपथन और मूल्य संवर्धन सौंदर्यबोध और उद्यमी ऊर्जा के साथ आने से होता है।

शुरू में इन्हें कला का रूप नहीं माना गया क्योंकि इनका सीधा संबंध प्रचार के व्यावसायिक नेटवर्क के साथ था। आज पारम्परिक पोस्टरों की सार्वजनिक क्षेत्र में ग़ैर-मौजूदगी इन्हें एक सम्माननीय वस्तु का दर्जा देती है, जिसका अध्ययन आवश्यक होता है तथा जिन्हें संग्रहालयों के विरल माहौल में या घरों में सजा कर रखने की दृष्टि से देखा जाता है।

जैसे ही डिजिटल तकनीक से तैयार छवियाँ या फ़ोटोग्राफ़ मुख्य रूप से पोस्टर कल्चर का हिस्सा बनती हैं वैसे ही हस्तनिर्मित या चित्रित पोस्टर की महत्ता बढ़ जाती है क्योंकि संग्रहकर्ता और संग्रहालय दोनों ही अपने संग्रहों के साथ प्रतिस्पर्द्धा करने लगते हैं। वे इन पारम्परिक पोस्टरों को 'लुप्तप्राय कला रूप' मानते हैं या इन्हें सांस्कृतिक इतिहास का प्रिंट मानते हैं। इस तरह ये पोस्टर नई वस्तु का दर्जा प्राप्त करते हैं, क्योंकि समकालीन रूप स्वयं ही विज्ञापन की तकनीकों से प्रभावित होकर ज़्यादा वस्तुकृत होता जाता है।

लुप्तप्राय कलारूप की आभा से मंडित होकर पोस्टर एक नई जिन्स बन जाते हैं जबकि साथ-साथ समकालीन पोस्टर विज्ञापन की नई तकनीकों से सुसज्जित होकर बिकाऊपन की एक और सीढ़ी चढ़ जाता हैं। 'सौंदर्यबोध' की नई सत्ता से लैस होकर पुराने पोस्टर वस्तु-विनिमय के विरल चक्र में अहम हो जाते हैं।

संग्रह क्या है, "आर्थिक दायरे से कुछ समय तक या स्थायी तौर पर बाहर रखी क़ुदरती या कृत्रिम चीज़ों को बंद जगहों पर सुरक्षित रख कर प्रदर्शित करने" की प्रक्रिया ही न? यहाँ संग्रहित वस्तुओं की एकमात्र उपादेयता अदृश्य और दृश्य जगत की विनिमय प्रक्रिया में शुमार हो सकने वाले अर्थ पैदा करने की क्षमता है। इस सिद्धांत को फ़िल्म पोस्टर पर लागू करना दिलचस्प होगा। डिजिटल पोस्टरों के आम होने के बाद, पुराने फ़िल्मी ज़माने की याद दिलानेवाले हाथ के रंगे पोस्टरों को थोड़े समय के लिए अदृश्य होना पड़ा। फिर अचानक वही चीज़ जिसे कुत्ता नहीं पूछता था, आज कला की मिसाल बनकर अप्राप्य हो गयी है। जो संग्रहकर्त्ता कुछ समय से पोस्टर जमा कर रहे थे, वे अब अपरिहार्य बन गए हैं। मुम्बई, दिल्ली और लंदन के कला गलियारों में मढ़े हुए फ़िल्मी पोस्टरों की प्रदर्शनियाँ लगने लगी हैं।

इस संदर्भ में *ओसियन्स (OSIANS)* नाम के नीलामीघर का उदय महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह कला की नीलामी करके लोक संस्कृति हेतु मोल पैदा कर रहा है। इसके संस्थापक नेविल टुली के ख़याल में कलात्मक संस्कृति को नए ढाँचे की ज़रूरत है ताकि कला को "विकास प्रक्रिया का केन्द्र बनाया जा सके और आगे चल कर एक ऐसी मूल्य-व्यवस्था उभर पाए जहाँ लोक-कला की साख हो।" टुली ने *ओसियन्स* को सरकार, निजी औद्योगिक प्रायोजनों और जनकल्याण से आर्थिक रूप से आज़ाद रखा है। इन सबको गौण महत्व देते हुए एक ऐसा नया तंत्र बनाया गया है जिसके ज़रिए कला की सम्पदा को उत्पादित और करीने से वितरित किया जा सके।

पोस्टर-सूची की भूमिका में टुली कहते हैं कि चटख रंगों, जज़्बाती भावनाओं और ऊर्जस्विता से लबरेज़ दीवार के पोस्टर के बरक्स गायतों की शांत सौम्य जलरंग — आकृतियों को रखने से कई नए अनपेक्षित अतंर्संबंध उजागर होने लगते हैं। बिकाऊ मूल्य के बिना वस्तुओं का क्या महत्व? *ओसियन्स* फ़िल्म उद्योग के अंदर और बाहर इसी विश्वास की उग्र वकालत कर रहा है। इस तरह की नीलामी को उचित ठहराते हुए टुली कहते हैं कि इससे लोग दस्तावेज़ों की क़द्र करेंगे और उनके संरक्षण के प्रति गम्भीर होंगे। टुली ने देशभर से लगभग 380 छोटे-मोटे संग्रहकर्त्ताओं और विक्रेताओं की सामग्री काफ़ी सस्ते में जुटा ली है।

यहाँ एक तरफ़ तो *ओसियन्स* जैसे अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त नीलामी घर हैं वहीं दूसरी तरफ़ फ़िल्म उद्योग की परिधि पर पड़े हुसैनी जैसे सिनेप्रेमी हैं। पहला मुख्य संग्रह हुसैनी नाम के एक सिने प्रेमी से ख़रीदा गया जिसने अपने 25 वर्षों के व्यक्तिगत संग्रह को एक लाख रुपये के लिए बेचा। जहाँ *ओसियन्स* नीलामीघर है वहीं हुसैनी की मौत के बाद उनके बेटों को मजबूरी में पैसे के लिए अपने संग्रह को बेचना पड़ा। इतिहासकारों, पत्रकारों, विद्यार्थियों और फिल्म समालोचकों की नियमित रूप से इनकी संग्रहों तक पहुँच थी तथा कोई व्यक्ति अपने निजी संग्रह को मामूली रक़म के लिए इनको बेच देता था। मुख्य संग्रहकर्ता और ऑक्शन हाउस के रूप में *ओसियन्स* के प्रवेश के कारण यह गतिकी पूरी तरह से बदल चुकी है।

फ़िल्म से जुड़ी स्मारिकाओं की मिल्कियत का इतिहास पेचीदा है। टुली के मुताबिक शुरू में तो सारे अधिकार निर्माता के पास ही होते हैं, लेकिन जैसे ही वितरक प्रचार सामग्री का इस्तेमाल करने लगते हैं, ये जनसम्पदा हो जाते हैं, जिसपर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं होता। अपने असल भौतिक रूप में पोस्टर जन सम्पदा हैं। टुली के अनुसार अगर हाथ से बना पोस्टर है तो उसकी मिल्कियत कलाकार की होती है, लेकिन अगर निर्माता ने क़रार किया हुआ है तो स्वत्वाधिकार उसका होगा। कलाकार की मिल्कियत सिर्फ़ उन मूल चित्रों तक महदूद होती है, जिनसे निगेटिव बनाए गए हों। हालाँकि 1990 तक कोई क़ाग़ज़ी क़रार नहीं होता था — सब कुछ भरोसे पर चलता था। इसी अस्पष्ट स्थिति में ओसियन्स ने अपना धंधा शुरू किया और व्यापारियों व छोटे संग्रहकर्त्ताओं से सामग्री ख़रीद ली। चूँकि इसके पास अंतर्राष्ट्रीय बाज़ारों में प्रदर्शनियों व नीलामियों के आयोजन करने के तमाम साधन हैं, इसलिए इसने फ़िल्मी पोस्टर को लोकप्रिय कलावस्तु के रूप में स्थापित करने में कामयाबी अर्जित की। इस तरह पोस्टर के इर्द-गिर्द एक नई अर्थव्यव्स्था और वित्तीय लेन-देन का ताना-बाना बुन दिया गया है।

टुली कहते हैं कि कला दुनिया की सबसे क़ीमती वस्तु होती है क्योंकि यह इतिहास का मूर्त रूप है। जिस प्रकार से कला का माहौल पुराने फिल्मी पोस्टरों को आत्मसात कर रहा है उससे हम एक उलझन महसूस करते हैं कि इन छवियों का भविष्य क्या होगा? दुर्लभ फ़िल्मी पोस्टरों की अनुपलब्धता को आसानी से कम्प्यूटर

टेक्नॉलजी से दूर किया जा सकता है। व्यापक बाज़ार में इसे लाने के लिए कम्प्यूटर की रंग-योजना से सही करके नक़ली प्रतियाँ निकाली जा सकती हैं। चंद लोगों तक उपलब्धता और इस तरह विशिष्ट कला रूप के इसके मौजूद दर्जे में इससे भारी फ़र्क़ पड़ेगा। इन पुराने पोस्टरों के लिए इच्छा कहाँ से उत्पन्न होती है, इसे अभी जानना थोड़ा मुश्किल हैं मगर अति-विज़ुअल तीव्रता के क्षण में अतीत मोह उत्पत्ति की पहचान आवश्यक है।

टेलीविज़न के साथ संबद्ध दृश्य संस्कृति की नई सत्ता के बारे में जहाँ शक की गुंजाइश कम है वहीं पुरानी छवियाँ जो अलग समय की परिचायक भी हैं, केबल टी.वी. के माध्यम से प्रसारित हो रही हैं। स्टार गोल्ड, सोनी और ज़ी.टी.वी. पुरानी फिल्मों को दिखाते हैं जो कभी सिर्फ रविवार की रात में दूरदर्शन पर दिखाई जाती थीं।

विभिन चैनलों पर दिखाई जाने वाली श्वेत-श्याम फ़िल्में, 'रहें ना रहें' जैसे कार्यक्रम जिसमें जावेद अख़्तर पुरानी फ़िल्मों से तार्रुफ़ कराते हैं और 'यादें' जैसे दीगर कार्यक्रम पुरानी यादों को ताज़ा कर रहे हैं। इनकी उपस्थिति को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। पुरानी और नई मुम्बइया फिल्में दिखाकर ये सभी पीढ़ी के दर्शकों को संतुष्ट करना चाहते हैं। टेलीविज़न के कारण समकालीन परिदृश्य में श्याम-श्वेत और रंगीन, पुराने तथा नए, पहले तथा अभी, भूत तथा वर्तमान साथ-साथ विद्यमान हैं जो पहले कभी इतने मज़बूत तथा भव्य रूप में नहीं रहे। इसके कारण मोह और लोक स्मृति जीवंत हो जाती है।

चैनलों के ये कार्यक्रम टेलीविज़न पर फ़्लैशबैक जैसे हैं यानी कि ये एक साथ बहुल समय क्षेत्र की रचना करते हुए, नियंत्रण और दृश्य-संतुष्टि की चाहत पैदा करते हैं। हाथ से बना हुआ पोस्टर आज संग्रह योग्य वस्तु बन गया है। जगह बदलकर संग्रहालयों तक जा पहुँचा है। इसकी पैदाइश में अतीत मोह, उद्यमी कौशल, लोकस्मृति और आधुनिकता इन सबका योगदान है।

अनुवादः दीपक किशोर + नवल किशोर राम



अकथ कथन अर्थात ज़ेहन के गुप्त रोग

शुद्धब्रत सेनगुप्ता

"एक रोज़ शायद ... लोग ये सवाल पूछेंगे कि अपनी सबसे पुरशोर कारस्तानियों पर छायी चुप्पी को बनाए रखने पर हम इतने आमादा क्यों हैं।"

मिशेल फूको, द हिस्ट्री ऑफ़ सेक्शुअॅलिटी, खंड I

कनॉट प्लेस के आउटर सर्कल के गलियारे में बने मोड़ के पास एक छोटा सा कोना। इसी कोने की फ़ुटपाथ पर एक आदमी पॉर्न साहित्य बेच रहा है। पास ही में एक लड़का दिल की शक्ल वाले रजतरंगी ग़ुब्बारे बेच रहा है। दोनों के पीछे की दीवार पर मीरा नायर की *कामसूत्र* का एक बदरंग हो गया पोस्टर लगा हुआ है। पोस्टर के पास ही सिक्के से चलने वाला एक फ़ोन है जो अब चलता नहीं है। जल्दबाज़ी में ही सही लेकिन बहुत सारे लोगों ने उस दीवार पर अपने-अपने दिल की बात कह डाली है। इस ग़रज़ से कि किसी की लापरवाह नज़र से वह चूक न जाएँ, तक़रीबन सभी ने अपने संदेशों के कुछ ख़ास हिस्सों को पूरी एहतियात के साथ रेखांकित भी कर दिया है। इन पैग़ामों में लोगों ने अपने नाम और फ़ोन नंबर दिए हैं और पढ़ने वालों को बात करने का खुला न्यौता भी। ज़्यादातर लोगों ने रात के एक ख़ास वक़्फ़े में बात करने की इच्छा ज़ाहिर की है।

वाणी थककर चूर हो जाने की हद तक सेक्स के बारे में बात करने को तैयार है बशर्ते बात करने वाला शख़्स 18 से 25 साल के बीच हो। मनोज को ऐसे मर्दों से बात करने में दिलचस्पी है जो मर्दों से बात करने में दिलचस्पी रखते हैं। अनीता सिर्फ़ एसएमएस के ज़रिए ताल्लुक़ क़ायम करना चाहती है। वह अपने फ़ोन पर नहीं बल्कि एक पेजर पर एसएमएस मंगवा रही है। उसका वादा है कि अगर उसे आपका संदेश अच्छा लगा तो वह भी यक़ीनन जवाबी एसएमएस भेजेगी।

इन लघुकथाओं के लेखक कौन हैं? आउटर सर्कल की एक पपड़ाई सी दीवार के पास कुछ लम्हा ठहरने वाले ये लोग मच्छरों से कुश्ती लड़कर अजनबियों को अपने जिस्मानी अहसासात के बारे में बताते हुए पूरी रात जागकर क्यों गुज़ार देना चाहते हैं? इसमें लेन-देन या पैसे का कोई चक्कर नहीं है। ये वैसे दिलकश इश्तहारी बोर्ड नहीं हैं जिनके ज़रिए आपको एंटीगुआ के किसी नंबर पर बात करने की दावत दी जाती है और, किसी कोने में आहिस्ते से ये जानकारी भी दे दी जाती है कि आपकी कॉल पर आईएसडी दरें लागू होंगी। ये इश्तहार आपको लाइव चैट की दावत देते हैं। पर ये चैट न तो जीवंत होती है और न ही चटपटी। ऊपर हमने जिन पैग़ामों का ज़िक्र किया है उनको लिखने वाले लोग एस्कॉर्ट कारोबार या मसाज/मालिश के धंधे में लगे ख़वातीनो-हज़रात भी नहीं हैं जो अपने ऑनलाईन इश्तहार और रेट कार्डों के ज़रिए मुकम्मल ज़ेहनी और जिस्मानी संतुष्टि का यक़ीन दिलाते हैं। शायद यह स्कूली बच्चों की शरारत हो। अगर ऐसा है भी तो उनके ये संदेश अतीत की यादगार के तौर पर अगले मौसम की पुताई तक इस दीवार पर बने रहेंगे — एक बड़े, उदास शहर में वाबस्तगी की गुज़ारिशों की तरह। जिन्होंने इन दीवारों पर ये पैग़ाम लिखे हैं, उनके बारे में क्या कहा जाए? ये लोग ऐसी कौन सी बेजान

हवा में साँस लेते हैं कि उन्होंने ज़िन्दगी से मुँह मोड़कर शांति और सुकून के लिए इस दीवार और टेलीफ़ोन का सहारा ले लिया और इस बचे-खुचे आनंद में ही ज़िंदगी का समूचापन ढूँढने लगे हैं।

इस कराहती दीवार को मैंने अपनी एक ख़ास तलाश के दौरान देखा था। उस वक़्त मैं दिल्ली में प्यार, वासना और चाहत के निशान खोज रहा था। मैं शहर की सड़कों और उसे जोड़े रखने वाले छोटे-छोटे चौराहों पर चाहत, इज़हार व इक़रार की कहानियों और नृत्य-कथाओं को पढ़ना चाहता था। अब तक की दिल्लियों, यानी रसख़ान की दिल्ली, मीर और ग़ालिब की दिल्ली इन सबके भीतर राह-बाट की बोल-चाल में काम-कला की साज-सजावट खूब दिखाई देती है। दिल्ली की इन पुरानी शक्लों ने मेरी सोच और चेतना पर एक गहरी परछाईं छोड़ी है। अब मैं यही देखना चाहता था कि आज के दौर की तेज़ रोशनी में ये परछाईं कितनी टिक पाती है। मैं प्राचीन और आधुनिक दिल्ली की कामेच्छा का नक़्शा बनाना चाहता था। और इस काम के लिए ज़रूरी कुछ उपयोगी किंवदंतियां, सबूत और ऐसी ही कुछ दूसरी चीज़ें जुटाना चाहता था। मैं बस अड्डों, मक़बरों, सिनेमाघर की बालकनी में लगी सीटों, कॉफ़ी हाउसों में कोने पर रखी टेबलों की तरफ़ ग़ौर से देखने की ज़रूरत या गुंजाइश को दर्ज करना चाहता था। मैं चाहता था कि सार्वजनिक पार्कों के झाड़-झंखाड़ और शौचालयों से खुद इन स्थानों को जो कामोद्दीपक हैसियत मिलती है, उसको जाना-बूझा जाए। शुरुआत में मैं बहुत दूर तक नहीं जा पाया। किसी बदतमीज़ वीडियो गेम के पहले ही दौर में ख़राब चाल चल कर लड़खड़ा जाने के नतीजों की तरह, आड़ी-टेढ़ी लिखावटों वाली यह दीवार मेरे रास्ते में आकर खड़ी हो गई। अपनी ख़ास भाषा या अल्फ़ाज़ के कारण, या उनकी कमी से एक ख़ास हैसियत अख़्तियार कर चुकी इस दीवार, इस रुकावट ने मुझे मेरी खोज पर आगे बढ़ने से रोक दिया। अपनी खोज के लिए मुझे इस दीवार से आगे जाना ज़रूरी था और इसी कोशिश में मैं वहाँ जा पहुँचा जिसका ज़िक्र मैं करने जा रहा हूँ।

मैंने वाणी को फ़ोन घुमा दिया। रात के ग्यारह बज चुके थे। मैंने उससे जानना चाहा कि क्या मैं उसी वाणी से बात कर रहा हूँ जिसने कनॉट प्लेस के आउटर सर्कल में एक दीवार पर अपना फ़ोन नंबर लिख छोड़ा था।

"यहाँ कोई वाणी नहीं रहती," एक थकी हुई सी आवाज़ आई। आवाज़ से लगता था कि वह किसी औरत की है और उसकी उम्र पच्चीस से सैंतीस साल के बीच होगी। ऐसा लगा कि आवाज़ तो वाणी की है लेकिन जैसे वह अपने नाम की पहचान से भाग रही है।

मैं लगा रहता हूँ। अपनी इच्छा बताते हुए मैं उसे इस बात का भरोसा दिलाता हूँ कि मैंने होश गँवा देने की हद तक सेक्स के बारे में बात करने के लिए फ़ोन नहीं किया है, बल्कि मैं तो इस बारे में बात करना चाहता हूँ कि लोग दीवारों पर इस तरह के संदेश क्यों छोड़ते हैं। मैंने उससे कहा कि अब भी अगर वह चाहे तो फ़ोन काट सकती है। उसने फ़ोन नहीं काटा। अब उसने मुझसे एक सीधा सवाल किया — क्या मैं *डेबोनेयर* या *फैंटेसी* के लिए क़िस्से-कहानियाँ ढूँढ रहा हूँ। मैंने कहा कि मैं लिखता तो हूँ मगर मैं पत्रकार नहीं हूँ और अब तक *डेबोनेयर* या *फैंटेसी* में छपने का सौभाग्य नहीं मिला है। फिर पूछता हूँ कि क्या वह अब भी बात करने को तैयार है।

"सेक्स," वह कुछ इस तरह बोलती है मानो बतियाने का मुद्दा खोल रही हो। कहा "अगर हम सेक्स के बारे में बात नहीं कर सकते तो फिर बात करने का क्या तुक है?"

मेरे हाव-भाव में एहतियात का पुट है, आवाज़ बंद हो जाती है। मैं एक फ़ासला बनाए रखने की कोशिश कर रहा हूँ। मुझे लगता है कि फ़ोन करके मैं बेमतलब ही इस झमेले में फँस गया हूँ। तभी उसने मेरी मुश्किल थोड़ी आसान कर दी। उसकी आवाज़ आयी, "क्या आपको कोई समस्या है? निजी ज़िंदगी की कोई परेशानी? कोई गुप्त रोग?"

"तुम ये काम क्यों करती हो?" मैं पूछता हूँ।

उसने कहा, "तुमने ये फ़ोन क्यों किया?" और फ़ोन काट दिया। मैं इस अहसास के साथ फ़ोन के सामने बैठा रह जाता हूँ कि जवाबी सवाल पूछ कर उसने मेरे सवाल का जवाब ही तो दिया है। इस बात का आग्रह करके कि मैं संपर्क साधने की अपनी इस औचक कोशिश पर ज़रा ठहरकर सोचूँ। बड़ी महीन चतुराई से उसने ज़ाहिर कर दिया कि जिस तरह मैं उसे दीवार के पर्दे से खींचकर उससे बात कर सकता हूँ उसी सहजता से वह

मेरे अस्तित्व को स्वीकार या नकार सकती है। किसी फ़ोन नेटवर्क के आउटर सर्कल पर हुआ यह संक्षिप्त साक्षात्कार जैसे रूहानी अंतरंगता का क्षण रहा हो।

मैं वाणी के बारे में सोचने लगता हूँ। एक ऐसी औरत जिसका नाम 'ध्वनि' या 'शब्द' का संस्कृत पर्यायवाची है। एक ऐसी औरत जो देह से ज़्यादा एक आवाज़ है — एक ऐसी आवाज़ जो किसी के भी कानों में गूंज सकती है। एक ऐसी औरत जो जिस्मानी तौर पर हो या न हो, मगर टेलीफ़ोन के तारों में क़ैद किसी भूत की तरह कहीं न कहीं है। सोचते-सोचते मुझे बचपन में सुनी एक कहानी याद आ गई जो अभी भी उस वक़्त मुझे पल भर के लिए चिंता में डाल देती है जब रात-बिरात अचानक फ़ोन की घंटी बज उठती है। मैं सोचने लगता हूँ कि अगर ऐसा ही है तो मर चुकी या क़ैद इच्छाओं के न जाने कितने भूत और जिन्न मेरे शहर की हवा में डोल रहे होंगे। निज़ामुद्दीन की दरगाह की चारदीवारी के भीतर बनी छोटी-छोटी खोहों में ऐसे कई माहिर बैठे हैं जो 'ऊपरी हवा' में मौजूद जिन्न के सताये हुओं का इलाज करते हैं। क्या उन्होंने कभी मेरे शहर में कामना की सँकरी गलियों में भटकते भूतों पर ध्यान दिया है? क्या शहर की ख़त्म हो चुकी कामेच्छा में दोबारा जान आने के संकेत दिखाई देते हैं?

'सेक्स' — ज़िंदगी में पहली बार यह शब्द मैंने एक विशालकाय इश्तहार पर पढ़ा था। उस वक़्त मेरी उम्र सात साल रही होगी। मेरे स्कूल जाने के रास्ते में सड़क किनारे एक बड़ा सा इश्तहार लगा हुआ था जिस पर एक निहायत अहम से दिखने वाले शख़्स की तस्वीर बनी थी। उसकी लंबी ऐंठदार बेहद नुकीली मूँछें थीं। उसने एक सूट और टाई पहनी हुई थी। होंठों को देखकर तो ऐसा लगता था मानो उसने लिपस्टिक भी लगा रखी हो। उस तस्वीर की सबसे दिलचस्प बात उस आदमी की पगड़ी थी जो क़रीब-क़रीब उसके चेहरे जितनी ही बड़ी थी और पठानी शैली में सिर पर मुड़े हुए पंखे की तरह बंधी थी। ये ख़ानदानी शफ़ाख़ाना वाले हकीम हरकिशन लाल ("हमारी कोई ब्रांच नहीं", "हकीम जी की नक़ली तस्वीरों के झाँसे में न आएं" वाले हकीम साहब) की तस्वीर थी। और क्या तस्वीर थी! उसका क़द पाँच फ़ुट भी नहीं रहा होगा मगर फिर भी मेरे लड़कपन में दिल्ली के आसमान पर उसी का राज था। रूरीटेराई तानाशाहों की तरह उसकी तस्वीर मुझे मानो शहर के हर चौराहे पर लटकी दिखाई देती थी। "विश्व प्रसिद्ध सेक्स स्पेशलिस्ट" — ये शब्द उसके मिशन का बयान करते थे और "खुशहाल वैवाहिक जीवन : गुप्त रोग से छुटकारे के लिए खुद आकर मिलें या निजी तौर पर ख़त लिखें" — इन शब्दों से उसके प्रोग्राम का पता चलता था। एक आम सात साल के लड़के की तरह कुछ समय के लिए मुझे इस बात का पूरा यक़ीन होने लगा था कि बदक़िस्मती से फख़रूद्दीन अली अहमद नहीं बल्कि यही आदमी भारत का राष्ट्रपति है, मेरे आसपास की दुनिया का सबसे बुलंद शख़्स।

अफ़सोस अब हकीम जी हमारे बीच नहीं रहे। मगर अब शहर के ज़्यादातर चौराहों पर उनके जैसे सेक्स विशेषज्ञों की एक लंबी-चौड़ी गारद ने उनकी जगह ले ली है। इन सबके इश्तहारों पर मूँछों से लैस या सफ़ाचट, मगर लाज़िमी तौर पर सूट-बूट में सजा एक गबरू आदमी ज़रूर दिखाई देता है। इन इश्तहारों को देखकर ऐसा लगता है कि आपातकाल के दिनों में चलाए गए नसबन्दी अभियान के दौरान दिल्ली के मर्दों में नामर्दी का जो ख़ौफ़ पैदा हुआ था, उसने हमारे शहर की दीवारों पर एक अमिट निशान छोड़ दिया है।

इन हकीमजियों के पास नामर्दी, संतान प्राप्ति में दिक़्क़त और शुक्राणुओं की कमी (निल शुक्राणु) के जादुई व फ़ौरी असर करने वाले इलाज मौजूद हैं। उनके पास "सेहत, स्फूर्ति और जोश" का पूरा ख़ज़ाना है।



अख़बारी इश्तहारों और सार्वजनिक पेशाबघरों की शोभा बढ़ाने वाले स्टिकरों से उनके चेहरे हमें घूरते रहते हैं। शौचालयों की दीवारों पर उन्हें इतनी ऊँचाई पर लगाया जाता है जहाँ से वह सीधे हमारी नज़र के दायरे में आ जाते हैं। उनके इर्द-गिर्द कुछ जिस्मानी हिस्सों की शौक़िया चित्रकारी भी दिखाई देती है जो गुफ़ाओं में की जाने वाली चित्रकारी की ख़त्म हो चुकी प्राचीन विधा का एकमात्र समकालीन अवशेष मालूम पड़ती है। इन स्टिकरों व तस्वीरों का मक़सद ऐकांतिक चिन्तन की प्रेरणा देना है।

गुफ़ाचित्रों की तर्ज़ पर बनाए गए ये चित्र भी हमारी कल्पनाओं के साथ मिल कर एक जादुई असर पैदा करते हैं। इन चित्रों के कलाकारों को संभोगरत जोड़ों की अर्द्ध-यथार्थवादी तस्वीरें बनाने में ख़ासा मज़ा आता है। मगर आमतौर पर इन चित्रों के रचनाकार वृत्त, त्रिकोण, शंकु और अंडाकार ज्यामितीय रूपकों से ही काम चला लेते हैं। वैसे भी, इंसानी जिस्म के बहुत सारे अंगों को जब वह इन्हीं बिम्बों के सहारे अभिव्यक्त कर सकते हैं तो और ज़्यादा दक्षता की उन्हें ज़रूरत ही क्या है। ये चित्रकार अपने चित्र के ऊपर दो-चार लाईन की कविता भी पेल देते हैं जिससे पता चलता है कि वह आदमी क्या चाहता है (जी हाँ, फ़ोन बूथ के पास बने संदेशों के लेखकों के विपरीत इन चित्रों का चित्रकार कोई मर्द ही होता है), वह कहाँ कामयाब रहा है और कहाँ नाकामयाब हुआ है। इन कविताओं में मेरी पसन्दीदा कविता वह है जो मैंने लाजपत नगर की एक सार्वजनिक मूतरी में देखी थी। कविता कुछ इस तरह थी :

चूतिया चोदा चौदह साल, आशिक़ दीवाना बेमिसाल।
गुप्त रोग का रोगी रोया, दिल्ली आ के सब कुछ खोया।।

'गुप्त रोगों' के शहीदों को दी गयी इस श्रद्धांजलि से पता चलता है कि शहीद का कामुक करतबों से भरा जीवन बड़े त्रासद ढंग से ख़त्म हुआ था। संभव है कि जहाँ यह कविता थी वहाँ उसे परोपकार की भावना से किसी ने 'जनहित में' चिपकाया हो। इसके बग़ल में ही एक स्टिकर लगा हुआ है जिस पर गुप्त रोगों का जादुई इलाज करने वाले डॉ. रोशन का विज्ञापन छपा है। बुधवार और शुक्रवार को घंटाघर के पास अपने मरीजों का इलाज करने वाले डॉ. रोशन का यह विज्ञापन गागर में सागर से कम नहीं है।

"क्या आप अपने सामान के आकार से चिंतित हैं? क्या आपको कमज़ोरी की वजह से बार-बार शर्मिंदगी होती है? क्या आप शर्तिया लड़का पैदा करना चाहते हैं? वैवाहिक जीवन का आनंद लेना चाहते हैं? क्या स्वप्नदोष ने आपकी नींद हराम कर रखी है? क्या आपको गैस, मोटापा, भगंदर या बवासीर की शिकायत है? हमारे यहाँ इन गुप्त रोगों की तमाम गुप्त परेशानियों को पूरी तरह गुप्त तौर पर हल किया जाता है।"

पढ़ने वाले को एक बार फिर आगाह किया जाता है कि वह ख़ुफ़िया तौर पर ही हकीम जी को ख़त लिखे या ख़ुद आकर मिलें ताकि उसकी समस्या पर "ख़ास तवज्जो दी जा सके।"

गुप्त रोग मायूसी की एक अवस्था का लक्षण है। इन रोगों से ये भी पता चलता है कि हमारे शहर की ज़िंदगी में सेक्शुअॅलिटी की क्या जगह है। सेक्स का ख़याल भी इतना परेशान करने वाला माना जाता है कि आप उसके बारे में सीधे-सीधे बात नहीं कर सकते। उसके साथ किसी ऐसे विशेषण का होना ज़रूरी है जिससे इस बारे में कोई शुबहा बाक़ी न रह जाए कि इस बारे में किस क़दर लुक-छिप कर बात करना ज़रूरी है। यानी जब आप 'सेक्स' कहना चाहें तो उसके आगे-पीछे कहीं 'गुप्त' या ऐसा ही कोई शब्द ज़रूर जोड़ें। कहने का मतलब ये है कि सेक्स के मुताल्लिक़ कोई भी चीज़ लाज़िमी तौर पर गुप्त होनी चाहिएः गुप्तांग, गुप्त ज्ञान, गुप्त आनंद वगैरह। इसका एक मतलब यह भी है कि स्वाभाविक दायरे से बेदख़ल कर दिए जाने पर गुप्त प्रसंग संक्रामक हद तक सर्वव्यापी हो जाते हैं। सड़क के कोनों पर लगे रंग-बिरंगे पर्चों की तरह ये क़िस्से भी हर कहीं मंडराने लगते हैं, बग़ल से गुज़रने वाले मुसाफिरों पर झपटने के लिए हर वक़्त तैयार जैसे चौक-चौराहे पर अपनी देह की नुमाइश करने के शौक़ीन लोग।

गुप्त ज्ञान हमारी भाषा पर हावी हो चुका है। दिल्ली का औसत मर्द स्त्री या पुरुष के गुप्त अंगों की चर्चा किए बिना या पारिवारिक सेक्स के दैवी और वर्जित विशेषाधिकार का आवाहन किए बग़ैर कोई सार्थक जुमला मुकम्मल नहीं कर पाता। नतीजा, हर बातचीत के इर्द-गिर्द 'गुप्त शब्दों' का एक काला बवंडर छा जाता है। इन

लफ़्ज़ों पर कोई ध्यान नहीं देता और ख़ुद बोलने वाले भी इस बात से अनजान रहते हैं कि वह क्या बोल रहे हैं। मानो सेक्स से जुड़े शब्द, जैसे शिश्न/लंड या योनि/चूत को बयान करने वाले शब्द दिन-ब-दिन के सोच-व्यवहार और बातचीत के वॉलपेपर हों। इसके बावजूद जब संजीदगी के साथ शरीर के अलग-अलग हिस्सों का नाम लेने की बारी आती है तो एक अटपटी-सी शर्मिंदगी छा जाती है। मिसाल के तौर पर, टट्टों की बात चलने पर कुछ ऐसा भाव पैदा होता है मानो अंडकोष सिर्फ़ छोटी-छोटी गोलियाँ हों। जैसे कि अंडकोष की गोलियाँ शून्य हों — स्क्रैबल की ख़ाली जगहों की तरह अपने आप में अर्थहीन — अपने आप को छोड़कर हर दूसरी चीज़ की संज्ञा बन जाते हैं।

इस मुक़ाम पर मैं दिल्ली में भाषा के विकासक्रम के बारे में बात करना चाहता हूँ। क्या दिल्ली, हमारा ये शहर, हमेशा से मादरचोद-बहनचोद शहर रहा है या आम चीज़ों के बारे में बात करने के लिए हमारे पास कोई और अभिव्यक्तियाँ भी थी? किसी भी ज़बान में निहित अभिव्यक्तियों की संभावनाओं का एक पैमाना ये है कि वह भाषा किसी को कोसने के लिए कितने मुमकिन तरीक़े मुहैया करा पाती है। या फिर यह देखा जाए कि घटिया भाषा के रूप में परिभाषित करने के लिए जिस कवच का सहारा लिया गया है वह कितना मोटा है। मेरे ख़याल से अब मैं अपनी बात को थोड़ा और साफ़ तौर पर कह सकता हूँ। मेरा कहना ये है कि शहर की आम भाषा से कथित घटिया भाषा या नीची ज़बान को अलग करने की कोई ज़रूरत नहीं है। बल्कि मैं तो इस बात को लेकर अपनी शिकायत दर्ज कराना चाहता हूँ कि ये अभिव्यक्तियाँ हमारी महिला रिश्तेदारों (माँ या बहन) के साथ अपमानजनक यौन संबंधों तक सीमित होकर रह गई हैं। यानी हमारे पास इन बातों का भण्डार ख़त्म होता जा रहा है और ये अभिव्यक्तियाँ दो ख़ास दायरों तक सीमित होती जा रही हैं। इसके साथ ही मैं ये भी अर्ज़ करना चाहता हूँ कि यह तरीक़ा रूखी भाषा के दायरे को मर्दाना और आमतौर पर मीसोगाइनिस्ट तर्ज़ेबयाँ का औज़ार बना देता है। मुझे भाषा में मिसॉजिनी (औरतों से घृणा) से कोई एतराज़ नहीं है बशर्ते मर्दों के ख़िलाफ़ औरतों की अभिव्यक्ति के रास्ते भी उपलब्ध हों।

अगर आपकी इजाज़त हो तो अब मैं 1961 में हाइडलबर्ग विश्वविद्यालय के साउथ एशिया इंस्टीट्यूट द्वारा शाया एक बेहद दिलचस्प मोनोग्राफ़ के कुछ अंश आपके सामने रखना चाहता हूँ। *दिल्ली की बोलियाँ* शीर्षक से लिखे गए इस मोनोग्राफ़ को बहादुर सिंह ने लिखा है जो एक ज़माने में दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदू कॉलेज में हिन्दी के प्रोफ़ेसर और भाषा विज्ञान के जाने-माने विद्वान रह चुके हैं। इस मोनोग्राफ़ से मैं ऐसी गालियों का एक छोटा-सा कैटलॉग पेश करना चाहता हूँ जो वक़्त की मार और भाषा की सिकुड़न झेलते-झेलते अब ख़त्म हो चुकी हैं। इसके ज़रिए मैं नाक़ाबिले बयान चीज़ों के बारे में भाषायी सहनशीलता, बर्दाश्त और संभावनाओं की लुप्त होती परंपरा की तरफ़ संकेत करना चाहता हूँ इसलिए थोड़ा सा धैर्य और रखें।

तुम रहती दुनिया तक जीओ।

दूल्हा के बाबा को पोते-पड़ौते खिलाने नसीब हों।

जवानी की क़सम।

अगर मैं झूट बोल्लई होऊँ तो इत्ती की इत्ती मर जाऊँ

अपने लगमातरों से मिलने गयी थी क्या?

अपने घग्गड़ के पास थी क्या?

इस मुए की पड़ौस पै झाड़ू फिरे।

जवान लाश लौटे

सांडबिजार, साँप के सँपोलिए

छिनाल, हरामज़ादी, हैज़े पीटी, हर्राफ़ा, लुच्ची नपूती, साली, भेनचो, सुअरख़ानी,

तूझे चार घड़ी का हैज़ा हो।

द डायलेक्ट्स ऑफ़ डेल्ही, पृष्ठ 44-47.

यह एक बड़ी बदक़िस्मती की बात है कि दूसरी परिपक्व और परिष्कृत भाषाओं के विपरीत हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के विद्वानों ने गंदी या यौन केन्द्रित भाषा का पर्याप्त कोश इकट्ठा नहीं किया है। मैंने अभय दुबे साहब, प्रोफ़ेसर शाहिद अमीन, और रविकांत व अन्य विद्वान साथियों (और मेरा ख़याल है कि इस फ़ेहरिस्त में मुझे डॉ. आलोक राय का नाम भी शामिल कर लेना चाहिए) से ये पता लगाने की कोशिश की है कि क्या हिन्दी में भी ज़बान पर संजीदगी के साथ विचार किया गया है। अभय जी जैसे कुछ साथियों ने किसी मशहूर लेखक द्वारा लिखे गए एक अप्रकाशित मोनोग्राफ़ का ज़िक्र किया है जिसे धक्के मार-मार कर सार्वजनिक परिक्षेत्र से बाहर निकाल दिया गया। प्रोफ़ेसर अमीन जैसे कुछ अन्य लोगों ने बताया कि शब्दकोश और निघंटुओं की रचना ज्ञानोदय काल की देन रही है और गाली-गलौज़ का ज़िक्र ला कर असल में हम ज्ञानोदय से पहले की एक सामाजिक मौखिक संस्कृति की बात कर रहे हैं। ऐसे में सवाल यह उठता है कि नागरी प्रचारिणी सभा तो ज्ञानोदय काल के बाद की और बाक़ायदा आधुनिक चीज़ रही है और उसने इस सिलसिले में कुछ न कुछ काम ज़रूर किया होगा। रविकांत ने मुझे बताया कि फ़ादर एस.डब्ल्यू. फ़ैलन की हिंदुस्तानी डिक्शनरी में ऐसी चीज़ों का एक भारी ख़ज़ाना मिलता है। देखने पर पता चला कि उनकी बात वाक़ई काफ़ी हद तक सही थी। यह निघंटु अपने आप में निश्चय ही एक शानदार चीज़ है मगर मेरी राय में यह वक़्त की रफ़्तार में पीछे छूट गया है। सटीकता और सामयिकता की ऐतिहासिक कसौटियों की दृष्टि से देखें तो हमारे यहाँ आमफ़हम 'सड़कछाप' भाषा का ऐसा कोई कोश नहीं, जो रेख़्ती की नाज़ुक सरगोशियों से लेकर शहरी नीची ज़बान की धूमधड़ाका पंजाबी या बंबइया गालियों तक को अपने अंक में भर सके। क्योंकि मानक हिन्दी-उर्दू कोशों में तो अपवाद के तौर पर नामवाची शब्दों को छोड़कर सम्पूर्ण शरीर के साथ न्याय कर सकने वाले तमाम लफ़्ज़ों को नियमित तौर पर देश निकाला दिया जाता रहा है। आधुनिक भारतीय भाषा व साहित्य में सेंसर की पैठ इतनी गहरी है कि इससे भाषायी दरिद्रता की विडम्बनात्मक स्थिति बन जाती है — जिन अश्लीलताओं का उपयोग नहीं होना चाहिए उनका अतिशय उपयोग होता है और दीगर क़िस्म के वाक्रूपों की घनघोर उपेक्षा होती है। नतीजतन, एक तरफ़ तो मादरचोद-बहनचोद जैसी मुट्ठी भर गालियाँ चारों तरफ़ फैल जाती हैं और दूसरे सिरे पर कई बातों को कहने के लिए लोगों को क़ायदे के शब्द भी नहीं मिल पाते। मिसाल के तौर पर, अगर कोई हिन्दीभाषी महिला किसी डॉक्टर से बात करती है, ख़ासतौर से स्त्री रोग विशेषज्ञ से बात करती है तो उसे अपनी समस्या के बारे में बताते हुए बहुत दिक़्क़त महसूस होती है। इसीलिए हिन्दी साहित्य की 'काम-विषयक' अभिव्यक्तियों पर संस्कृत की काई जमी रहती है। इशारों, द्विअर्थी अभिव्यक्तियों और दुलार-मनुहार के मामले में उर्दू का दामन फिर भी ज़्यादा भरा दिखाई देता है। सआदत हसन मंटो और इस्मत चुग़ताई जैसे कहानीकारों या नून मीम राशिद जैसे शायरों ने काम की बातों को अभिव्यक्त करने के रचनात्मक तरीक़े ईजाद किए थे लेकिन, इसमें भी कोई शक नहीं कि समकालीन उर्दू अदबीयत यौन विवरण के पूरी तरह ख़िलाफ़ है। अली सरदार जाफ़री ने *दीवान-ए-मीर* से सारे काम विषयक अशआर छाँट-छाँट कर बाहर निकाल दिए और पूरे अदबी दायरे में कहीं जरा सी फुसफुसाहट भी सुनाई नहीं दी। उर्दू और हिंदुस्तानी के साहित्य भंडार के इस परिशोधन से होता यह है कि जिस्म, सेक्शुॲलिटी और ऐसी हर चीज़ के इर्द-गिर्द ख़ामोशी का एक ब्लैकहोल पैदा हो जाता है जिसे 'नाक़ाबिले बयान' माना जाता है।

ऐसी सूरत में जिस्म और उसके अहसासात के बारे में बातचीत करना मुश्किल होता चला जाता है। इसीलिए मुझे हैरत है कि वाणी अपने जिस्म को आवाज़ देने के लिए इतनी हिम्मत कैसे जुटा लेती है। (अगर आप समकालीन हिन्दी पॉर्न पत्र-पत्रिकाओं, किताबों को पढ़ें तो उनमें शरीर के अंगों को आमतौर पर संस्कृतनिष्ठ भाषा में व्यक्त किया जाता है। इन शब्दों को देखकर मुझे फ़ौरन कामिल बुल्के की शरण लेनी पड़ती है और उससे भी काम नहीं चलता तो मैं मोनियर विलियम्स की पनाह में जाता हूँ)। मैं सोचता हूँ कि क्या वाणी सचमुच वाणी है, क्या सुख की उसकी शरीरहीन अभिव्यक्ति कुछ आहों-कराहों, फुसफुसाहटों, ख़ामोशियों, सीत्कारों के दौरों और मुट्ठी भर डॉक्टरी प्रेस्क्रिप्शनों से आगे जा पाती होगी? अगर सेक्शुॲलिटी ही वह पुल है जो जिस्म को ख़यालों से जोड़ता है (क्योंकि यौन संबंधी विचार आमतौर पर जिस्म के भीतर-बाहर जिस्मानी तौर पर ही व्यक्त होते हैं) तो जिस शब्दावली के ज़रिए हम अपने जिस्म के बारे में बात कर सकते हैं, उसका पतन हमारे काम-विषयक स्वत्व को भी भाषा के दायरे से बाहर कर देता है और हमारे ख़यालों को दरिद्रता की गर्त में जा पटकता है।

मेरे ख़याल में तो यह ख़ामोशी ही शायद सबसे बड़ा गुप्त रोग है। यौन अधूरेपन के हर अहसास और नपुंसक आक्रोश की हर अभिव्यक्ति की जड़ इसी में है। शरीर क्या महसूस कर रहा है, इस बात को ज़ाहिर कर पाने में नाकामी आपसी संवाद को पूरी तरह ध्वस्त कर कर सकती है। और ऐसी मुठभेड़ की हर मिसाल, जिसमें ग़ैर-रज़ामंद सेक्शुऑलिटी के तत्त्व साफ़ दिखाई देते हैं, इसी ध्वंस का उदाहरण है और इन्हीं पर ताक़त व वर्चस्व की वह नींव खड़ी होती है जो दूसरे के शरीर पर अपनी छाप छोड़ कर सुकून पाती है। जो संवाद सामान्य रूप से नहीं क़ायम हो सकता या आगे नहीं बढ़ सकता उसे आगे बढ़ाने के लिए ताक़त के अलावा संभवतः और कोई साधन नहीं बचता। शायद इसी कारण दिल्ली पुलिस के साहेबान (जो 'हमारे लिए हमारे साथ, हमेशा' रहते हैं) शहर के पार्कों या जंगल-झाड़ियों में हाथ लग जाने वाले समलैंगिक पुरुषों के साथ यौन संबंधों की इच्छा को रोक नहीं पाते। या संभवतः इसीलिए, जब कोई औरत ज़ोर-ज़बर्दस्ती या बलात्कार की शिकायत दर्ज कराने पुलिस के पास जाती है तो उसके सामने दोबारा उसी हादसे से गुज़रने की आशंका पैदा हो जाती है। बात ये नहीं है कि पुलिस वालों के हॉर्मोन्स की मिक़दार या बनावट कुछ बेहतर होती है, मामला महज़ इतना है कि ये ऐसे मौक़े होते हैं जब गुप्त प्रसंग खुले में आ जाने की दहलीज़ पर खड़े होते हैं और दमन की बुनियाद पर खड़े माहौल में उनसे निपटने का एकमात्र रास्ता यही बचता है कि हिंसा की एक ख़ुराक दे दी जाए।

अगर कुछ देर के लिए सेक्स की जगह भोजन को रख दिया जाए तो इस परिस्थिति का बेतुकापन स्पष्ट हो जाएगा। मान लीजिए कि भोजन और खाना खाने की क्रिया, ये सब गुप्त प्रसंगों के दायरे में आते हैं। ऐसी सूरत में मिल-बाँटकर खाना ख़तरनाक साबित हो सकता है। तब खाना खुले में नहीं दिखाई देगा और भूख की सार्वजनिक अभिव्यक्ति को बेहद उत्तेजक व्यवहार की श्रेणी में रखा जाएगा। ऐसे हालात में दुष्ट तत्त्व घर के दरवाज़े तोड़कर खाने पर टूट पड़ेंगे या फिर अपने खाने की सार्वजनिक तौर पर नुमाइश लगाएँगे। ऐसे में भोजन का निषेध या किसी को जबरन खाना खिलाना दूसरों की देह पर अपनी ताक़त आज़माने का ज़रिया बन जाएगा। पेटुओं की तरह खाना और अखाद्य पदार्थों से खिलवाड़ कैसी थकेली तृप्ति देगा, हम समझ सकते हैं।

दिल्ली की बसों में दस्तदराज़ी करने वाले लफ़ंगे या रात में अकेले पैदल जा रही औरत का क्वालिस में बैठ पीछा करने वाले इसी गुप्त रोग के लक्षणों से पैदा मौक़ों का फ़ायदा उठाते हैं। अगर सेक्शुऑलिटी और शारीरिक अभिव्यक्ति की भाषा रोज़मर्रा के जीवन का हिस्सा होते और उन पर खुलकर बात हुआ करती तो लोगों के दिमाग़ में ऐसे अंधेरे कोने ढूँढना मुश्किल हो जाता जहाँ यहाँ-वहाँ हाथ मारने के ये इरादे पैदा होते हैं। उस स्थिति में 'कमज़ोरी' और 'ताक़त' जैसे साधारण शब्दों के इर्द-गिर्द कोई एक अर्थपूर्ण यौन भाषा रचना मुश्किल हो जाता। दूसरों पर हावी होने के लिए उनकी सेक्शुऑलिटी पर सोचा-समझा हमला बोलने की क्रिया भी सत्ता व अतिक्रमण के प्रदर्शन के लिए कामुक उत्तेजना के तत्त्वों से वंचित होती।

जब दिल्ली की बस में कोई आदमी किसी औरत को टटोलता है तो अकसर एक ही जवाब आता है — "घर में माँ-बहन नहीं हैं क्या?" हालाँकि इस जवाब से कई बार औरत को वक़्ती राहत मिल जाती है लेकिन इस बात पर सोचना फिर भी ज़रूरी है कि क्या यह 'माँ-बहन अवधारणा' भी सार्वजनिक स्थान पर यौन-उत्पीड़न को बढ़ावा देने वाला एक अहम कारण नहीं है? यह तर्क कुछ इस तरह आगे बढ़ता है : गुप्त प्रसंगों ने पहले ही तय कर दिया है कि माँ और बहन (न कि पिता और भाई) के भीतर सेक्स का कोई स्रोत नहीं होता, उनको एक स्वायत्त यौन इकाई माना ही नहीं जा सकता। यह एक स्वाभाविक और मानी हुई बात है कि माँ और बहन कभी सेक्स के बारे में बात नहीं करेंगी और न ही उनसे सेक्स के बारे में कोई बात करेगा। यह सोच औरतों के साथ बनने वाले तमाम ताल्लुक़ात में एक दोहरी विकृति पैदा कर देती है। पहली बात तो यह कि बाक़ी तमाम औरतों (अपनी माँ-बहन के अलावा) को बेइंतेहा यौन आकर्षण का स्वाभाविक निशाना मान लिया जाता है (आख़िर वे तो किसी और की माँ-बहन हैं न)। और दूसरी, क्योंकि उनके साथ किसी भी तरह की नज़दीकी लाज़िमी तौर पर गुप्त प्रसंग के दायरे में ही आती है (क्योंकि किसी औरत के साथ यौन संवाद की प्रत्यक्ष और खुली अभिव्यक्ति असंभव है), इसलिए चोर-उचक्के की तरह हाथ साफ़ करना ही मर्दों के लिए सबसे आसान विकल्प बन जाते हैं। बल्कि गुप्त प्रसंग का ही एक और नतीजा ये भी हो सकता है कि दाब-भींच की शिकार औरत ख़ुद ही इन हरकतों के प्रति एक अनजान की मुद्रा अपनाने लगे।

मेरे ख़याल में दिल्ली की औरतें यौन मुक्ति के दायरे को और फैलाने के लिए तभी दबाव डाल सकती हैं जब वह इस बात के लिए आवाज़ उठाएँ कि उन्हें हर दुराचारी पुरुष की सांकेतिक माँ या बहन न माना जाए। यानी ज़रूरत इस बात की है कि हर हरकत की स्वतंत्र तौर पर पड़ताल की जाए और उसे गुप्त ज्ञान के रहस्यमयी नियमों के साथ जोड़कर न देखा जाए।

मर्द और औरत अपनी सेक्शुअॅलिटी का निषेध करके नहीं बल्कि उसका हक़ जताकर ही यह सुनिश्चित कर सकते हैं कि उनके बीच होने वाली हर मुठभेड़ और आदान-प्रदान को सेक्स की ज़रूरत नहीं है। क्योंकि तब सेक्स दीगर इंसानी गतिविधियों की तरह सामान्य हो जाएगा जिनके बारे में खेल, राजनीति, पीने के पानी के इंतज़ाम और एक बेहतर सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था की तरह आसानी से बात की जा सकती है। अगर ऐसे दायरे गढ़े जाएँ जहाँ अजनबी एक-दूसरे से मिल सकें और एक-दूसरे में दिलचस्पी का इज़हार कर सकें, अगर यह सुनिश्चित किया जा सके कि वयस्क उम्र की कोई भी महिला (न कि सिर्फ़ ऐसी महिलाएँ जो ज़ाहिरा तौर पर जवान और सम्पन्न दिखाई देती हैं) पुरुषों की तरह और उनसे आज़ाद रहते हुए सामाजिक जीवन जी सकती है, तो शहर के चेहरे पर पड़ा यह नक़ाब हट जाएगा। शहर की सड़कों पर हर किसी को आवागमन की सुरक्षित और सस्ती सुविधा उपलब्ध कराने के लिए सड़कों पर बेहतर रोशनी और एक सुविधाजनक परिवहन व्यवस्था की माँग उठाकर ही सड़कों पर आनंद के नए दायरे रचे और ढूँढे जा सकते हैं। या, जैसा कि लेनिन ने कभी एलेक्ज़ेंद्रा कोलंताई से कहा था, मर्दों और औरतों के बीच यारी-दोस्ती व सहवास के लायक़ मोहब्बत और जिस्मानी ताल्लुक़ात के नए नीतिशास्त्र का रास्ता लाज़िमी तौर पर 'आवास के सवाल' तक जाना चाहिए — आज आप शहर की किसी भी अकेली औरत (या मर्द) से पूछिए कि उसकी निजी यौन स्वायत्तता के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट क्या है तो पता चलेगा कि मकान मालिकों द्वारा थोपी गई शुचिता/ब्रह्मचर्य या बनावटी शादियों की समस्या उन चीज़ों की फ़ेहरिस्त में काफ़ी ऊपर आएगी, जिनका वे फ़ौरन हल चाहते हैं। अनुभवों की एक नई ज़बान तभी रची जा सकती है जब इंसानी जिस्म और जिस्मानी तजुर्बों के अवमूल्यन को चुनौती देने के लिए हम रोज़-ब-रोज़ की बोलचाल में कामोत्तेजक और खिलंदड़ई का सहारा लेंगे क्योंकि यह ज़बान जिस्म का अवमूल्यन नहीं करती। तब जाकर शायद वाणी दीवार पर लिखे अपने संदेश के ज़रिए सेक्स के अलावा और चीज़ों के बारे में सोचने-विचारने व बात करने के लिए भी न्यौता दे पाएगी।

एक छोटी सी तजवीज़

लेकिन अभी मेरी बात ख़त्म नहीं हुई है। अभी मैं अपनी एक छोटी सी तजवीज़ भी आपके सामने रखना चाहता हूँ। और मेरी तजवीज़ ये है कि गालियों (जो औरतों से संबंध बनाने तक सीमित रह गई हैं) के इस अति दरिद्र भंडार में इज़ाफ़ा किया जाए और उनमें ऐसी अभिव्यक्तियाँ भी शामिल की जाएँ जो गालियों के तौर पर ज़्यादा मुफ़ीद हों (गाली लाज़िमी तौर पर मारक होनी चाहिए और मारक ही सुनाई भी पड़नी चाहिए, वर्ना तो भला उसका मतलब भी क्या रह जाएगा), उनमें भेदभाव की गुंजाइश कम हो (यानी उनको बोलने वाले के लिए और सुनने वाले के लिए भी इस्तेमाल किया जा सके और जिसके बारे में बात हो रही है उसके बारे में कुछ कहने की तो बात ही छोड़ दीजिए), उनमें माँ-बहनों के साथ इतना ज़िद्दी लगाव न हो, वे ग़ैर-मीसोजेनिस्ट हों, साफ़ तौर पर यौनिक मगर ग़ैर-सेक्सवादी, बल्कि सेक्सवाद विरोधी हों और सुनने में सबको मज़ा आए।

इस मुक़ाम पर मैं आपके सामने ऐसा ही एक शब्द उछालने जा रहा हूँ और मुझे उम्मीद ही नहीं बल्कि भरोसा है कि आप में से बहुत सारे लोग इस चुनौती को स्वीकार करेंगे और इससे कहीं ज़्यादा बेहतर शब्द गढ़ेंगे। मुझे यक़ीन है कि समय गुज़रने के साथ आप गालियों का एक भरा-पूरा भंडार इकट्ठा कर लेंगे और उनके सहारे हमारी रोज़ की बातचीत और मसालेदार बन जाएगी। मैं जो शब्द पेश करने जा रहा हूँ वह एक जाने-पहचाने शब्द से हूबहू मिलता है। इस शब्द के साथ एक विस्फोटक सीत्कार निकलती है जो आवेग से लेकर ग़ुस्सा, दांत भींचने, या उदासीनता, और यहाँ तक कि हैरानी, पस्ती और निराशा के भावों को भी व्यक्त करती है।

मैंने जो शब्द सोचा है वह है 'ज़हनचोद'। मैंने पहले ही कहा था कि इसका उच्चारण कुछ ऐसे शब्दों से काफ़ी मिलता-जुलता है जिन्हें आपने भी बहुत बार सुना होगा। यह शब्द ईश्वर, नियति, औरों, वक़्त, समाज,

प्रकृति और खुद उस शख़्स के हाथों चेतना, आत्मा और इंसानी जज़्बे के साथ शारीरिक संबंध को व्यक्त करता है। यह एक ऐसा शब्द है जो इंसानी हालात में भारी विविधताओं को व्यक्त करता है और दूसरी तरफ़ हर उस ज़ेहन के प्रति सम्मान और संवेदनशीलता भी दर्शाता है जिसकी कथित रूप से चुदाई हुई है। यह लैंगिक गाली नहीं है — इसे आप बेझिझक अपने ऊपर भी इस्तेमाल कर सकते हैं — 'मेरा ज़हन चोद दिया'। यह गाली उन आधे-अधूरे समानार्थियों के मुक़ाबले भी काफ़ी बेहतर है जो जहाँ-तहाँ अभी भी सुनाई दे जाते हैं। 'माइंडफ़क' इसी तरह की एक गाली है। दक्षिण एशियाई भाषाओं में मैंने 'चोद' प्रत्यय पर ख़त्म होने वाली सिर्फ़ एक ऐसी गाली सुनी है जो लैंगिक अर्थों से आज़ाद है — 'बोकाचोदा' यानी मूर्ख चुदाईबाज़। यह एक बड़ी शोख़-सी बंगाली गाली है। मगर हिंदुस्तानी में बंगाली का सबसे बेहतरीन प्रतिनिधि बनने की संभावना रखने वाले इस बोकाचोदा में भी ज़हनचोद जैसी अस्तित्वादी गहराई या व्यापक चोट करने का दम नहीं है।

अब मीडिया को ही लीजिए। जब भी कभी हम कोई नई हिन्दी फ़िल्म देखने जाते हैं या क्रिकेट मैच अथवा सियासी बहस-मुबाहिसा सुनते हैं तो आप जानते हैं क्या होता है — हम सबका साला ज़हन चुद जाता है। आप में से जो लोग पंजाबी मिज़ाज के हैं और जो अपनी गालियों को संक्षेप में अनुनासिक अंदाज़ में देना चाहते हैं — जिन्हें 'बैण... ' कहना ज़्यादा पसंद है, वे लोग अब उतने ही मजे से 'ज़ैण... ' कह सकते हैं। अब मैं अपनी दलील और अपने थके हुए ज़ेहन को राहत देना चाहता हूँ। मुझे उम्मीद है कि आगे से हमारी बातचीत कहीं ज़्यादा अभिव्यक्तिपूर्ण होगी और हमारी ज़िंदगी की नाक़ाबिले बयान चीज़ों को एक बार फिर आवाज़ मिल जाएगी।

अनुवादः योगेन्द्र दत्त



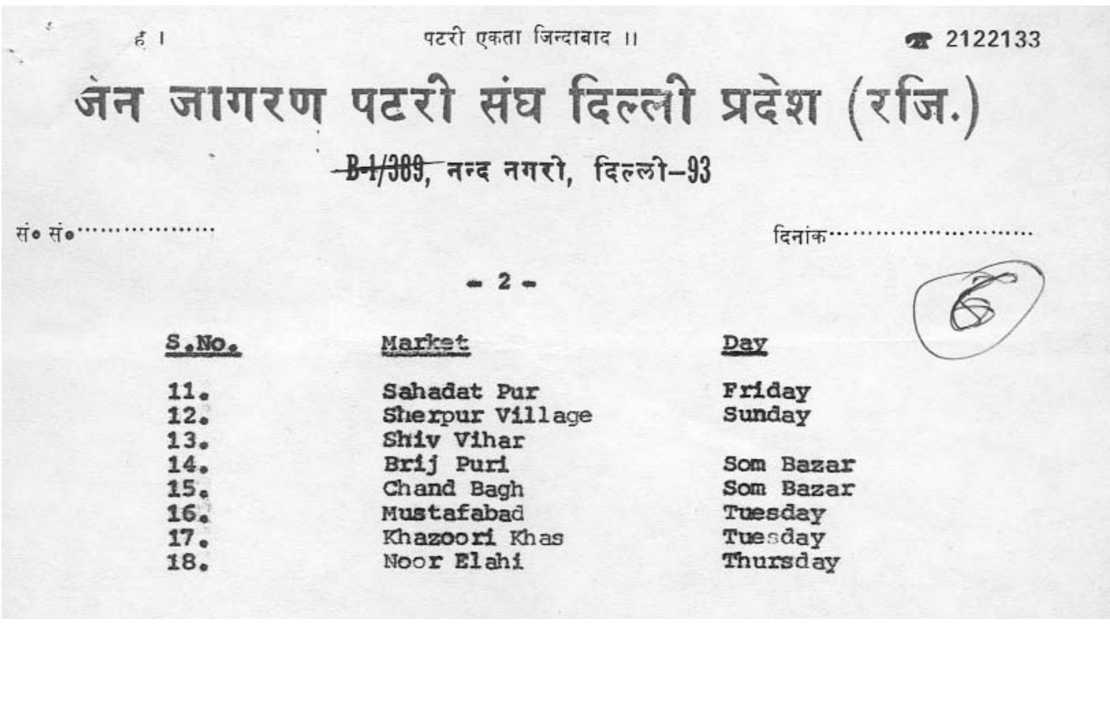
यमुनापार के घुमंतू बाज़ार

नरेश गोस्वामी

दिल्ली शहर में साप्ताहिक बाज़ार को हम महज़ एक दृश्य की तरह देखकर आगे बढ़ जाते हैं। अकसर इस दृश्य में भीड़ होती है और बल्लियों, बाँसों पर टंगे कपड़े, पटरी या ज़मीन पर रखे प्लास्टिक के बर्तन, कॉस्मेटिक्स के सामान, मसालों के बोरे, चादरें, घर में काम आने वाली रोज़मर्रा की अनगिनत चीज़ें। अकसर इसे हम एक इतनी आमफ़हम चीज़ की तरह लेते हैं कि साप्ताहिक बाज़ारों जैसी परिघटना की विराटता और व्यापकता पर हमारा ध्यान नहीं जाता।

एक अनुमान के मुताबिक़ सप्ताह के प्रत्येक दिन दिल्ली के विभिन्न इलाक़ों में 400 बाज़ार लगे होते हैं। इन बाज़ारों में हर महीने लगभग 70 करोड़ रुपये का कारोबार होता है। इनसे 2 लाख लोग प्रत्यक्ष रूप से जुड़े हैं जबकि 10 लाख लोगों की रोजी-रोटी इन्हीं बाज़ारों से चलती है। सन् 2002 के आँकड़ों के मुताबिक़ एमसीडी को इन बाज़ारों से 70 लाख रुपये की आय हुई।

इतनी बड़ी सामाजिक आर्थिक परिघटना होने के बावजूद, साप्ताहिक बाज़ारों के बारे में कोई व्यवस्थित अध्ययन देखने को नहीं मिलता। साप्ताहिक बाज़ार के स्वरूप, संघटन, उसके सामाजिक चरित्र, यहाँ बिकने वाली वस्तुओं के उत्पादन केंद्र से लेकर बाज़ार तक आने का नेटवर्क, बाज़ार के लगने से पैदा होने वाले सामाजिक स्पेस और बाज़ार के वजूद को बनाए रखने और प्रशासन के हस्तक्षेप से निपटने के लिए की जाने वाली राजनीति को समझने के लिए, हमारे पास पहले से कोई निर्देशिका मौजूद नहीं थी। इसलिए इस अध्ययन के लिए हमने



हं । पटरी एकता जिन्दाबाद ।। ☎ 2122133

जन जागरण पटरी संघ दिल्ली प्रदेश (रजि.)

~~B-1/389~~, नन्द नगरी, दिल्ली–93

सं० सं०.................. दिनांक.........................

– 2 –

S.No.	Market	Day
11.	Sahadat Pur	Friday
12.	Sherpur Village	Sunday
13.	Shiv Vihar	
14.	Brij Puri	Som Bazar
15.	Chand Bagh	Som Bazar
16.	Mustafabad	Tuesday
17.	Khazoori Khas	Tuesday
18.	Noor Elahi	Thursday

मुख्यतः बाज़ार में दुकान लगाने वालों से इंटरव्यू लिए। कई बार हमें एक दुकानदार द्वारा दी गई सूचनाओं को दूसरे लोगों से क्रॉस-वेरीफ़ाई करना होता था, परन्तु धीरे-धीरे इस प्रक्रिया में बाज़ारों की भीतरी संरचना और गतिशीलता को समझने के लिए यह तंत्र ख़ुद ही विकसित होता चला गया।

भौगोलिक स्तर पर यह अध्ययन विशेषकर दिल्ली के उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र से ताल्लुक़ रखता है। इस क्षेत्र में हमने ख़ासतौर पर भजनपुरा, गोकुलपुरी, मुस्तफ़ाबाद, चाँदबाग, मौजपुर, मंडोली, नंदनगरी, दिलशाद गार्डन, जनता फ़्लैट्स में लगने वाले बाज़ारों का अध्ययन किया है।

यमुनापार के इस सारे इलाक़े को दिल्ली के अनियोजित और अनियंत्रित फैलाव का प्रतिनिधि उदाहरण माना जा सकता है — सँकरी, आड़ी-तिरछी गलियों और छोटे-बड़े डिब्बों सरीखे मकानों की बेतरतीबी। इस समूचे इलाक़े की बस्तियाँ आपस में आमतौर पर सड़कों से नहीं बल्कि गलियों से जुड़ती हैं। पहली नज़र में बाहरी आदमी के लिए यह इलाक़ा कोई खास दिलचस्पी पैदा नहीं करता क्योंकि पुरानी दिल्ली के कूचों-गलियों-हवेलियों की तरह इस इलाक़े की बस्तियों के पास न कोई विशिष्ट इतिहास है, न अज़ीम क़िस्सा, न कोई परम्परा।

दरअसल यह सारा इलाक़ा पिछले तीस-पैंतीस वर्षों के दौरान विकसित हुआ है। इससे पहले यह घौंडा, मौजपुर, खजूरी जैसे गाँवों की खेती की ज़मीन थी। दिल्ली में 1982 में आयोजित किए गए एशियाई खेलों से इस क्षेत्र में बसावट की प्रक्रिया में और तेजी आई। इस दौरान दिल्ली में बड़े पैमाने पर निर्माण कार्य हुआ जिसके चलते इस इलाक़े में पश्चिमी उत्तर प्रदेश, उत्तराँचल, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार से मज़दूरों, राजमिस्त्रियों, दस्तकारों और दूसरी तरह के कामगारों का व्यापक स्तर पर प्रवेश हुआ। आठवें दशक के उस शुरुआती दौर में दिल्ली जैसे लोगों के लिए अवसरों की नगरी थी। अगर प्रवासी लोगों के एक हिस्से को भवन निर्माण आदि में सीधे काम मिल जाता था तो दूसरे लोगों के लिए उनके इर्द-गिर्द ढाबों, चाय और पान-बीड़ी की दुकानों की सम्भावनाएँ खुल जाती थीं। आज इस इलाक़े की विभिन्न बस्तियों में उस दौर के प्रवासी ही फैले हुए हैं। लेकिन उनकी दूसरी पीढ़ी के लिए दिल्ली अब 'परदेस' नहीं है।

बहरहाल, साप्ताहिक बाज़ारों का अध्ययन करते हुए एक समस्या लगातार यह बनी रही कि समूची संरचना को समझने के बाद ही उसके किसी एक पहलू पर फ़ोकस किया जा सकता था।

इसके चलते हमें साप्ताहिक बाज़ारों के कई पहलुओं पर एक साथ ध्यान देने को मजबूर होना पड़ा। हालाँकि अध्ययन के लिहाज़ से कई सारे पक्षों पर एक साथ विचार करना वांछनीय नहीं था। परन्तु उन पहलुओं को दरकिनार करके साप्ताहिक बाज़ारों की समूची संरचना को देख पाना भी मुश्किल था। इसके लिए हमने कुछ सवालों के साथ सफ़र शुरू किया जैसे कि -

— बाज़ार में दुकान लगाने वाला व्यक्ति बाहर से आया है या कि मूलतः दिल्ली का है।
— उसकी जाति क्या है और कहाँ तक पढ़ा है?
— दिल्ली में किराए पर रह रहा है या कि अपना मकान बना लिया हैं।
— मासिक आय लगभग कितनी है? बच्चों को इसी काम में लगाना चाहता है या उनके बारे में कुछ 'बेहतर' सोचता है?
— फ़ैक्ट्री बंदी का रोज़गार पर क्या फ़र्क़ पड़ा है?
— क्या अलग-अलग जगहों/कॉलनियों के बाज़ारों में कोई फ़र्क़ होता है या सभी का स्वरूप एक जैसा होता है?
— बाज़ार में सबसे ज़्यादा स्टॉल किस उत्पाद के हैं?
— पिछले दस वर्षों से बाज़ार में नया क्या कुछ हुआ है?
— माल कहाँ से ख़रीदते हैं?
— पटरी बाज़ार के सामानों की गुणवत्ता में क्या फ़र्क़ होता है?
— बाज़ार कहाँ-कहाँ लगाते हैं?
— बाज़ार लगाने में दिक़्क़तें, प्रशासन-पुलिस, एमसीडी का रवैया आदि।

इसके अलावा हमने तीन उत्पादों का प्रोफ़ाइल तैयार किया और लोगों से उन वस्तुओं के उत्पादन केंद्रों, विज्ञान तंत्र, सेल्स प्रोमोशन, बेचने के तरीक़ों के बारे में बातचीत की।

खैर, सबसे पहले हम ये देखें कि पूर्वोक्त सवालों से क्या तस्वीर उभरी है?

इस इलाक़े में बाज़ार लगाने वाले लोगों में ज़्यादातर विस्थापित हैं और उनमें से ज़्यादातर लोग बिहार के बजाय पूर्वी उत्तर प्रदेश से ताल्लुक़ रखते हैं। पहाड़/उत्तरांचल के लोग इस व्यवसाय में लगभग न के बराबर हैं। बाज़ार के जातिगत विन्यास को देखने पर पता चलता है कि इसमें ज़्यादातर लोग हिन्दू-मुसलमानों की दलित, पिछड़ी जातियों से आते हैं। लगभग आधे दुकानदारों के पास अपने मकान हैं। दुकानदारों की मासिक आय का वितरण दर्शाता है कि यह मूलतः निम्नवर्गीय दुकानदारों और औसतन निम्न-मध्यवर्गीय उपभोक्ताओं का बाज़ार है। इन बाज़ारों में मध्यवर्गीय कॉलनी के लोग कुछ खास चीज़ों जैसे बेडशीट या फुटकर सूती कपड़े के लिए आते हैं। एक आम दुकानदार की मासिक आय 3 से 4 हज़ार के बीच रहती है।

यह आँकड़ा उन दुकानदारों के बारे में हैं जो अपेक्षाकृत बड़े और ज़्यादा विज़िबल क़िस्म के काम करते हैं। जैसे रेडीमेड गारमेंट्स (बच्चों की फ़्रॉक, जीन्स-टीशर्ट आदि), कॉस्मेटिक्स, फ़ुटवेयर, बर्तनों आदि का काम करने वाले। छोटे पैमाने पर काम करने वाले लोगों में — अचार बेचने वाले, ब्रा, ब्लाउज़ या पेटीकोट ख़ुद तैयार करके बेचने वाले लोग शामिल हैं।

सभी बाज़ार एक जैसे नहीं होते। दुकानदार उन्हें एक प्रकार की ग्रेड व्यवस्था भी देते हैं। ग़ौर से देखने पर पता चलता है कि साप्ताहिक बाज़ार एक मल्टीलेअर्ड परिघटना है। बाज़ार छोटे-बड़े होते हैं, कुछ को 'कमाऊ' कहा जाता है और कुछ को 'ख़तम' कहा जाता है। दरअसल बाज़ार की स्पेशियल लोकेशन ही किसी बाज़ार को अच्छी, औसत या कम कमाई का दर्जा देती है।

उदाहरण के लिए हमारे अध्ययन क्षेत्र में गोकुलपुरी, मौजपुर, नंदनगरी में क्रमशः मंगलवार, बुधवार और मंगलवार को बाज़ार लगते हैं। ये बाज़ार कमाई के लिहाज़ से बड़े बाज़ार माने जाते हैं। इनमें हरेक बाज़ार की कुछ ख़ास जनसंकुल अवस्थितियाँ हैं। गोकुलपुरी, वज़ीराबाद-ग़ाज़ियाबाद मुख्य सड़क के नज़दीक हैं। और यह समूचा इलाक़ा पीछे की तरफ़ फैला हुआ है इससे गंगा विहार, शिव विहार, यमुना विहार, बृजपुरी और अन्य कई घनी आबादी वाले क्षेत्र जुड़े हैं। इस तरह यह बाज़ार एक बहुत बड़े इलाक़े की ज़रूरतें पूरी करता है। जहाँ एक बाज़ार में कॉस्मेटिक्स या चप्पलों/फ़ुटवेयर की दुकानें तीन या चार होती हैं। इस बाज़ार में कॉस्मेटिक्स का सामान बेचने वाले 12 से 15 स्टॉल तक देखे जा सकते हैं। नंदनगरी के जनता फ़्लैट इलाक़े में लगने वाले बाज़ार में वस्तुओं की वराइटी और क्वालिटी दोनों अलग दिखाई देती है। वहाँ दुकान लगाने वाले लोगों से बात करने पर पता चलता है कि नज़दीकी कॉलनी दिलशाद गार्डन में साउथ इण्डियन लोगों का होना इस बाज़ार को दुकानदारों के बीच लोकप्रिय बनाता है। दुकानदारों के मुताबिक़ 'मद्रासियों' की क्रयक्षमता स्थानीय लोगों के मुक़ाबले बेहतर होती हैं। दक्षिण भारतीयों के बारे में दुकानदारों की आम धारणा यह है कि सामान्य आर्थिक हैसियत के बावजूद उनकी लाइफ़ स्टाइल स्थानीय लोगों से बेहतर होती है।

इस तरह साप्ताहिक बाज़ार की बनावट स्थान विशेष के समुदाय से गहरा ताल्लुक़ रखती है। उदाहरण के तौर पर यमुना विहार के बाज़ार में हमें पुराने कपड़ों की एक भी पटरी दिखाई नहीं देती जबकि अन्य बाज़ारों में एक से तीन आदमी तक पुराने कपड़े बेचने का काम करते हैं।

साप्ताहिक बाज़ारों के संबंध में इस अध्ययन से एक दिलचस्प बात यह सामने आती है कि यहाँ इन बाज़ारों में बिकने वाली कुछ चीज़ों खासकर — कॉस्मेटिक्स, फ़ुटवेयर और रेडीमेड गारमेंट्स उत्पादों में अनाम मैन्यूफ़ैक्चर्स का बोलबाला है। यह बात हैरत में डाल देती है कि लिपस्टिक, फ़ेयरनेस क्रीम, नहाने का साबुन, शैम्पू, इत्र के ऐसे कई ब्रैन्ड जो आमतौर पर दुकानों में नहीं मिलते यहाँ धड़ल्ले से बिकते हैं। उदाहरण के तौर पर 'पार्को' एक नहाने का साबुन है जो 'पेयर्स' की नकल पर बनाया गया है। 'चार्मी' जूतों की पॉलिश है। 'विक्टर' एक हर्बल शैम्पू का नाम है। 'फ़ेयर ऐण्ड केयर' गोरेपन की क्रीम है। 'प्योरडेंट' एक टूथपेस्ट का नाम है। इन उत्पादों का सिर्फ़ और सिर्फ़ साप्ताहिक बाज़ारों में मिलना यह सिद्ध करता है कि ये दुकानदार और इन चीज़ों के उत्पादक

किसी भी ढंग से अपने उत्पाद का विज्ञापन करना ज़रूरी नहीं समझते। उसे पहले से ही अपने बाज़ार में ग्राहक की जानकारी होती है। दरअसल साप्ताहिक बाज़ारों में उपभोक्ता-स्पेस में किसी तरह के विज्ञापन तंत्र का न उभर पाना कई सारी चीज़ों से तय होता है। पहली बात, यहाँ उत्पादक और दुकानदार दोनों ही छोटी पूँजी के खिलाड़ी होते हैं। उन्हें संसाधनों के आधार पर अलग-अलग श्रेणी में रखने का कोई ख़ास मतलब नहीं होता। दूसरे यहाँ ब्रैंड-चेतना मनोवैज्ञानिक वर्चस्व के रूप में तो काम करती है लेकिन वास्तविक ख़रीदारी के समय ठोस आर्थिक हैसियत ही निर्णायक चीज़ हो जाती है। साप्ताहिक बाज़ारों में बिकने वाली लोकप्रिय पॉलिश 'चार्मी' और 'प्योरडेंट' नाम का टूथपेस्ट शायद निम्नवर्गीय उपभोक्ता स्पेस के इस स्थायी द्वंद्व की ओर ही इशारा करते हैं। कम पूँजी और उपभोक्ता की सटीक पहचान साप्ताहिक बाज़ारों में विज्ञापनतंत्र को अलग से नहीं उभरने देती। इसके चलते यहाँ के उत्पाद सूचना के स्थानीय स्रोतों की मदद से बाज़ार में तैरते हैं। उनके पीछे विज्ञापन द्वारा गढ़ी गई ज़िंदगी-से-जीवंत छवियों की कोई भूमिका नहीं होती।

कॉस्मेटिक्स उत्पादों के रैपर पर लिखी जानकारी से पता चलता है कि वे सदर बाज़ार दिल्ली में बनाए जाते हैं। उत्पादकों से बात करने पर ज़ाहिर होता है कि उन्हें इन उत्पादों के पोटेंशियल मार्केट के बारे में बख़ूबी पता होता है। वे यह साफ़ तौर पर जानते हैं कि इन उत्पादों की खपत किस सामाजिक भूगोल में होती है। कॉस्मेटिक्स के सस्ते उत्पादों की खपत नौवें दशक के बाद ज़्यादा बढ़ी है। उनके मुताबिक़ दिल्ली में बाहर से प्रवासी एक ख़ास ढंग का खुलापन महसूस करते हैं और सस्ते में अच्छा दिखने की ख़्वाहिश पूरी करना चाहते हैं। दरअसल साप्ताहिक बाज़ार में बिकने वाले बहुत से उत्पादों के डिस्ट्रीब्यूशन नेटवर्क को देखकर ही यह समझ में आता है कि शहर के सीमान्त की अर्थव्यवस्था कैसी होती है।

बाज़ार की अंदरूनी बनावट को 'ठीये' की अवधारणा बहुत गहराई से प्रभावित करती है। एक ढंग से कहें तो बाज़ार के ख़ास ढाँचे को 'ठीया' ही तय करता है। ठीया बिकता भी है और उसे फ़ौरी तौर पर किराए पर भी उठाया जाता है। दिलशाद गार्डन इलाक़े की कलंदर कॉलनी में कंघी, चाकू, रबड़बैंड आदि का स्टैंड लगाने वाले रोशनलाल ने एक दिन झल्लाकर कहा था कि आज ख़ामख़्वाह 70 रुपये की 'चड्डी' हो गई। जब मैंने इस चड्डी के बारे में पूछा तो उसने बताया कि उसका स्टॉल जहाँ लगा है वह मूलतः किसी और दुकानदार का 'ठीया' है। जिसका इस्तेमाल करने के लिए उसे उक्त दुकानदार को 70 रुपये दिए थे। दरअसल 'ठीया' बाज़ार के अंदर एक ऐसा अनुलंघनीय स्थान माना जाता है जिसे दुकानदार विशेष के साथ जोड़कर देखा जाता है। एक बाज़ार के सभी दुकानदारों के बीच किसी व्यक्ति के स्टैण्ड लगाने के स्थान को लेकर आमसहमति बन जाती है। कोई अन्य दुकानदार उस स्थान पर अपना माल नहीं रख सकता। इस तरह हम देखते हैं कि कैसे उस स्थान को एक समूह-बाज़ार के दुकानदारों की वैधता हासिल हो जाती है। परन्तु इसी सहमति और वैधता के बीच से ठीए की व्यावसायिक महत्ता भी उभरने लगती है। कई बार दुकानदार की हालत पिट जाती है पर ठीया महत्वपूर्ण बना रहता है और बाज़ार में इस ठीए की क़ीमत बढ़ती रहती है। नंदनगरी के जनता फ़्लैट क्षेत्र में बृहस्पतिवार को लगने वाले बाज़ार के एक दुकानदार ने अपने ठीए के बारे में बताया कि उसने यह ठीया पच्चीस हज़ार में लिया था। इससे पहले वह ख़ुद कई जगह अपने ठीये बेच चुका है। ठीये के बारे में यह जानना दिलचस्प है कि एक समय ख़ुद भले यह सेलेबल कमोडिटी बन जाता हो उसकी शुरुआत काफ़ी हताशापूर्ण माहौल में होती है। ठीया बनते या बनाने में एक दुकानदार को सालों लग जाते हैं। शायद यही कारण है कि एक दुकानदार का ठीया 4 या 5 किलोमीटर दूर लगने वाले बाज़ार में तो हो सकता है परन्तु पड़ोस के बाज़ार में नहीं। उदाहरण के लिए सोमवार को भजनपुरा के नजदीक चाँदबाग में बाज़ार लगता है और मंगलवार को उससे सिर्फ़ 2 किलोमीटर की दूरी पर गोकुलपुरी का बाज़ार लगता है। लेकिन चाँदबाग के बहुत सारे दुकानदार गोकुलपुरी के बाज़ार में नहीं

'पार्को' एक नहाने का साबुन है जो 'पेयर्स' की नक़ल पर बनाया गया है। 'चार्मी' जूतों की पॉलिश है। 'विक्टर' एक हर्बल शैम्पू का नाम है। 'फ़ेयर एण्ड केयर' गोरेपन की क्रीम है। 'प्योरडेंट' एक टूथपेस्ट का नाम है।

देखे जाते, क्योंकि वहाँ उनके ठीये नहीं होते।

किसी भी बाज़ार में ठीया कोने से शुरू किया जाता है, फिर जैसे-जैसे बाज़ार का आकार बढ़ता है वैसे-वैसे दुकान बीच की तरफ़ सरकती जाती है। दुकानदार जितना बीच में होता है, उसकी दुकानदारी उतनी ही बढ़िया मानी जाती है। इस तरह ठीये का सवाल बड़ा टेढ़ा होता है, वह एक धीमी और निश्चित प्रक्रिया के बाद ही महत्वपूर्ण बन पाता है। इसलिए यह बात हमेशा देखने में आती है कि दुकानदार अपेक्षाकृत नये और छोटे बाज़ार से शुरुआत करते हैं क्योंकि वहाँ बीच में पहुँचने की उम्मीद काफ़ी रहती है। यह जानते हुए भी कि बड़े बाज़ार में बिक्री ज़्यादा होती है, अधिकांश दुकानदार छोटे बाज़ारों को नहीं छोड़ते क्योंकि वहाँ उनका स्थान स्ट्रेटेजिक होता है। बड़े बाज़ारों में काम जमते-जमते लोगों की उम्र बीत जाती है।

साप्ताहिक बाज़ारों की भीतरी गतिशीलता का ही एक और पहलू यह है कि पिछले दस सालों में रेडीमेड गारमेंट्स के प्रमुख केंद्र गांधीनगर का वर्चस्व टूटा है। अब यमुनापार के कई क्षेत्रों में गारमेंट्स का काम होने लगा है। उदाहरण के लिए सामान्य कपड़ों का निर्माण अशोक विहार में होता है। इसी तरह ऊनी कपड़ों के निर्माण के क्षेत्र में मंडोली का नाम धीरे-धीरे उभर रहा है। दुकानदारों के मुताबिक़ गारमेंट्स के क्षेत्र में इस तरह का विकेंद्रीकरण उनके लिए फ़ायदेमंद साबित हुआ है। इससे गांधीनगर के मैन्युफ़ैक्चरर्स/थोक विक्रेताओं की मोनॉपली टूटी है। पहले वहाँ के डीलर बहुत कम मार्जिन देते थे परन्तु अब वे दुकानदारों से बेहतर ढंग से पेश आने लगे हैं। स्थानीय और घरेलू स्तर पर काम करने वाले उत्पादक ख़ुद बाज़ार में जा कर दुकानदारों से सम्पर्क बनाते और डीलिंग करते हैं।

लेकिन इन बाज़ारों में गारमेंट्स के स्थानीय उत्पादन की बढ़ती हिस्सेदारी के साथ ही यह तथ्य चौंकाने वाला है कि यहाँ कोलकाता में निर्मित फ्रॉक भी बिकती हैं। इस संबंध में दुकानदार बताते हैं कि कोलकाता में थोक के भाव में एक फ्रॉक 20 रुपये में पड़ती है, और यहाँ वह 30 से 35 रुपये में बिक जाती है।

साप्ताहिक बाज़ारों में काम कर रहे डिस्ट्रीब्यूशन के नेटवर्क को देखने से यह पता चलता है कि छोटी पूँजी के उत्पादक, दुकानदार और उससे अलग-अलग स्तर पर जुड़े लोगों ने अपना एक स्वायत्त क्षेत्र बनाया है। विज्ञापन पर टिकी भूमंडलीकृत अर्थव्यवस्था के मौजूदा दौर में सामान्य बाज़ारों का यह नेटवर्क वाक़ई हैरत में डाल देता है। यहाँ कोई भी चीज़ ऐसी नहीं जिसे कभी भी, कहीं भी या किसी भी ढंग से विज्ञापन में देखा गया हो। यहाँ ज़्यादातर चीज़ें सूचना के लोक स्रोतों से आती हैं। एक दुकानदार दूसरे को बताता है या उत्पादक ख़ुद वहाँ पहुँच जाता है।

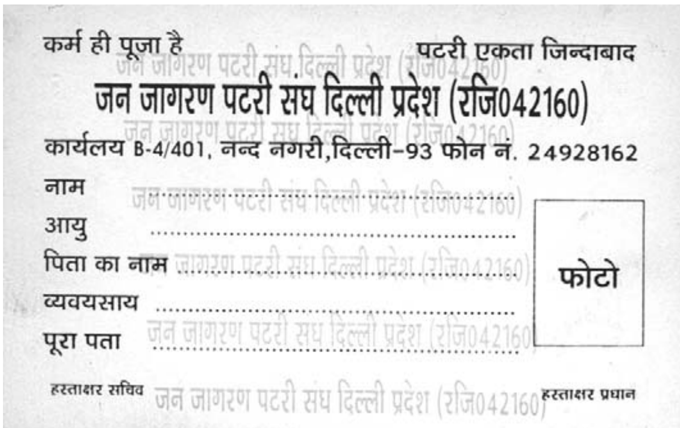
बाज़ार की भीतरी संरचना का अध्ययन करते हुए वहाँ राज्य की प्रशासनिक मशीनरी की मौजूदगी हमारा ध्यान खींचती है। साप्ताहिक बाज़ार एमसीडी की अनुमति और पुलिस के संरक्षण में लगते हैं। लेकिन ग़ौरतलब है कि बाज़ार के संदर्भ में दोनों एजेंसियों की भूमिका प्रायः नकारात्मक होती है। एमसीडी के कर्मचारी हरेक दुकानदार से पाँच रुपये का तहबाज़ारी शुल्क लेते हैं। यह शुल्क दुकानदार को 6x4 फ़ुट की जगह इस्तेमाल करने की एवज़ में लिया जाता है। आमतौर पर एक औसत बाज़ार से एमसीडी के लोग दो-ढाई हज़ार रुपये शुल्क के तौर पर वसूलते हैं, लेकिन इसके बदले उन्हें पानी के टैंकर या शौचालय जैसी बुनियादी सुविधाएँ भी नहीं दी जातीं।

इसी के साथ पुलिस की भूमिका देखें। किसी इलाक़े में बाज़ार लगाने की अनुमति देने से पहले पुलिस यह सुनिश्चित करती है कि बाज़ार में शान्ति-व्यवस्था और आम नागरिक की सुरक्षा को ख़तरा पैदा न हो और बाज़ार इस ढंग से लगाए जाएँ कि ज़रूरत पड़ने पर उसके बीच से फ़ायर ब्रिग्रेड की गाड़ी निकल सके। ऊपर से तय किए गए ऐसे क़ानून असल में पुलिस के हाथों में अतिरिक्त ताक़त दे देते हैं जिसका वह बाज़ार वालों पर इस्तेमाल करती है। यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि साप्ताहिक बाज़ार के दुकानदार बाज़ार न लग पाने या उसके बंद होने के सदमे को बर्दाश्त करने की हालत में नहीं होते।

इसलिए वे उन्हें पाँच से दस रुपये के बीच रिश्वत दे कर अपना काम निकालने की जुगत में रहते हैं। अकसर पुलिस का बहाना यह रहता है कि इन बाज़ारों में असामाजिक तत्त्व घूमते रहते हैं जिसके चलते कोई

दुर्घटना हो सकती है। इसके अलावा पुलिस रेहड़ी वालों से 40 से 50 रुपये वसूलकर उन्हें भी बाज़ार में घुसने की इजाज़त दे देती है जबकि क़ानूनन यह ग़लत है। एमसीडी के मुताबिक़ बाज़ार सड़क की दोनों पटरियों पर लगना चाहिए। पुलिस के अलावा एमसीडी कर्मचारी भी हरेक दुकानदार से पाँच रुपये की पर्ची काटने के बजाय उनसे अकसर दो या तीन रुपये में सौदा कर लेते हैं।

अन्ततः पुलिस की वसूली, प्रशासन की बेरुख़ी, आम भ्रष्टाचार और बेरोक-टोक चलने वाली ऐसी और दूसरी क़िस्म की अनियमितताओं के बावजूद साप्ताहिक बाज़ार एक जीवंत स्पेस का निर्माण करते हैं। यहाँ अमरूदों को 'हरे मेवे' कहा जाता है और रिंकल-फ़्री चमकदार कपड़े को 'चिकल चाँदनी'। यहाँ ठेली पर चाट का स्वाद लेती औरतों की हँसी-ठिठोली को देखा-सुना जा सकता है। यहाँ 'शीतल', 'गौरी', 'मुस्कान', 'मुमताज़' जैसी मानवी नामों की चप्पलें देखी जा सकती हैं। यहाँ नल-दमयंती के पुरा-आख्यानों से लेकर इंडीपॉप तक की ऑडियो कैसेट्स आठ से दस रुपये में ख़रीदी जा सकती हैं। दरअसल साप्ताहिक बाज़ार एक दिन के लिए छोटी-छोटी इच्छाओं का लोकतंत्र बनाता है जहाँ लोगों को लगता है कि चीज़ें हमारी ज़द से बाहर नहीं हैं।


कर्म ही पूजा है पटरी एकता जिन्दाबाद

जन जागरण पटरी संघ दिल्ली प्रदेश (रजि042160)

कार्यलय B-4/401, नन्द नगरी, दिल्ली-93 फोन नं. 24928162

नाम

आयु

पिता का नाम

व्यवसाय

पूरा पता

फोटो

हस्ताक्षर सचिव हस्ताक्षर प्रधान

महानगर में छठ

दिल्ली के नक़्शे पर लोकपर्वों का बढ़ता रुतबा

राकेश कुमार सिंह



छोटा भाई तब बहुत छोटा था, दिवाली पर घर में पटाखेबाज़ी करने वाला अकेला मैं ही था। ज़िद करने पर माँ-पिताजी की मध्यस्थता पर बड़ी बहन और छोटे भाई को एक-आध फुलझड़ी पकड़ा देता था और बाक़ी मिरचइया, आलू बम और रॉकेटों पर अपना क़ब्ज़ा होता था। जितना फोड़ पाता था फोड़ता था बाक़ी छठ के लिए बचा कर रख लेता था, क्योंकि होश सँभालने पर मेरे लिए अतिशबाज़ी छठ के एक अभिन्न अंग जैसा ही था। शायद दिवाली के तुरंत बाद होने के कारण छठ में अतिशबाज़ी का रिवाज बन निकला होगा। यह और बात है कि छठ के लिए बचा कर रखे पटाखे सील जाया करते थे इसलिए उन्हें धूप में सुखाते रहना पड़ता था और उस क्रम में यार-दोस्त एक-आध पटाखे अपनी जेब में भी रख लिया करते थे। इन सबके बावजूद दोस्तों से मुक़ाबला करने लायक़ पटाखे बच जाया करते थे। समय बीता और मैं दिल्ली युनिवर्सिटी आ गया। यहाँ मुज़फ़्फ़रपुर की तरह दिवाली और छठ की लम्बी छुट्टी नहीं होने के कारण दिल्ली वाले अंदाज़ में दिवाली मनाने का मौक़ा तो मिला लेकिन छठ छूटता चला गया। तब यहाँ के ज़्यादातर लोगों को छठ की जानकारी नहीं थी। कहीं यह व्रत होता भी था तो उसे बड़ी हिक़ारत की नज़र से देखा जाता था। पिछले चार-पाँच सालों में हालात बदले हैं, यहाँ

व्यापक स्तर पर छठ के आयोजन की शुरुआत हुई है। ऐसे शहर में जहाँ छठ की कोई अहमियत नहीं थी वहाँ हो रहे इन आयोजनों के प्रति उत्सुक होना लाज़िमी है।

I

छठ बिहार के हिन्दुओं के लिए महत्वपूर्ण और पवित्रतम् व्रत-त्यौहारों में से एक है। इसमें सूर्य की पूजा होती है लिहाज़ा इसे सूर्यषष्ठी भी कहा जाता है। लेकिन इसके गीतों और इससे जुड़े रिवाजों को देख-सुनकर मेरे मन में एक बहुत बड़ी गुत्थी उलझी हुई है वह यह कि यदि इसमें सूर्यदेव की पूजा होती है तो फिर इतने बड़े पैमाने पर छठि माई (छठ माता) के गीत कैसे? फ़िलहाल, इस सवाल को अपने सुधी पाठकों के लिए छोड़ते हुए मैं अपनी बात प्रचलित लोकाचार के इर्द-गिर्द ही केन्द्रित करना चाहूँगा। यह त्यौहार साल में दो बार होता है। एक 'चैती छठ' (मार्च-अप्रैल), अमावस्या के छह दिन बाद और दूसरा 'कतकी छठ', कार्तिक (अक्टूबर-नवम्बर) अमावस्या यानी दिवाली के छह दिन बाद। कार्तिक वाले छठ की अपेक्षा चैती छठ बहुत कम लोग करते हैं। व्रती समेत पूरा परिवार इस त्यौहार में शामिल होता है। सबके लिए नए-नए कपड़े बनवाए जाते हैं। पूजा के लिए आवश्यक बरतन और सामग्री जैसे नये दउरे[1], सूप[2] और कोसिया[3] वग़ैरह ख़रीदे जाते हैं। खरना[4] से इस तीन दिवसीय व्रत की शुरुआत होती है। इस दिन व्रतधरी नदी/तालाब में स्नान करते हैं और दिन भर के उपवास के बाद शाम को बिना नमक का खाना खाते हैं। अगले दिन पूजा के लिए 'अर्घ्य'[5] के सामान जुटाए जाते है और उन्हें सूपों में सजाकर दउरे में सँभालकर रखा जाता है ताकि उस तक कोई न पहुँच सके। इस बात का ख़ासा ध्यान रखा जाता है कि अर्घ्य का सामान जूठा न हो जाए। शाम को क़रीब तीन-चार बजे लोग दउरा लेकर अपनी सुविधानुसार नदी या तालाब पर पहुँचते हैं और अर्घ्य को पानी के किनारे सजाते हैं। व्रतधारी पानी में ठाड़ी[6] के लिए खड़े हो जाते हैं जबकि महिलाएँ अर्घ्य के नजदीक बैठकर छठि मैया और सूर्यदेव को रिझाने के लिए समवेत् स्वर में तरह-तरह के गीत गाती हैं। यहाँ यह उल्लेख ज़रूरी है कि कार्तिक चढ़ते ही घरों में छठ के गीत शुरू हो जाते हैं। हर वक़्त और विधान के लिए अलग-अलग गीत प्रचलित हैं। इस मौक़े के लिए एक बज्जिका गीतः

> छोटी मोटी सुन्दर बेटी के भुइयाँ लोटे केश
> सुप लेले अइहे गे बेटी अरघ के बेर
> छोटी मोटी मालिन बेटी के भुइयाँ लोटे केश
> फूलवा लेले अइहे गे बेटी अरघ के बेर
> छोटी मोटी बजजवा बेटी के भुइयाँ लोटे केश
> फल लेले अइहे गे बेटी अरघ के बेर
> छोटी मोटी ग्वालिन बेटी के भुइयाँ लोटे केश
> दूध लेले अइहे गे बेटी अरघ के बेर

सूरज डूबने से कुछ पल पहले तक व्रतधारी पानी में खड़े रहते हैं और सूर्य को 'अर्घ्य' देने के साथ इस प्रक्रिया के एक भाग का अन्त होता है। उसके बाद सब लौटकर घर आते हैं। गोबर से लिपे आँगन में एक बार फिर से सजाकर रखे गए अर्घ्य पर दीप जलाए जाते हैं। यदि छठि माई और सूरज देवता से वादा किया गया हो या कोई मन्नत माँगनी हो तो आँगन में हाथी[7] भी स्थापित किया जाता है। इस अवसर पर एक बार फिर महिलाओं का समवेत्-गान होता है। मसलन यह भोजपुरी गीतः

> एहु साल कोसिया भराइव हो, छवाइब गंगा तीरे मड़वा
> बार-बार उंखिया[8] मंगाइब हो, छवाइब गंगा तीरे मड़वा
> बेटा बियहली तऽ कोसिया भरवली, अपना पुतोहिया से व्रत रखवबली
> पोतवा के जहिया[9] खेलाइव हो, छवाइब गंगा तीरे मड़वा
> गुलजार करिहें आदितऽ अंगनीया अपनीया, बाजी दुअरिया पे हमार बधइया
> सोनवा आ चनिया लुटाइव हो, छवाइब गंगा तीरे मड़वा...

अगले दिन सूर्योदय से पहले एक बार फिर समूचा परिवार नदी के किनारे पहुँचता है और इस बार उगते हुए सूर्य को अर्घ्य दिया जाता है। अर्घ्य-अर्पण की प्रक्रिया शाम जैसी ही होती है। बीती रात आँगन में स्थापित किए गए हाथी को सूर्य की लालिमा निकलने से पहले ही जल में विसर्जित कर दिया जाता है। महिलाओं का गायन यहाँ भी होता है लेकिन इस बार गीतों का तकाज़ा यह होता है कि ठंड में पानी में खड़े व्रतियों की स्थिति को देखते हुए सूरजदेव जल्दी दर्शन देंः

जल बीच ठाड़े रही रहिया निहारी जी, आयीं न आदितमल जल्दी पधारीं जी
साते ही घोड़वा के शोभे सवारी जी, देईं दर्शन अब बहुतऽ पुकारीं जी
कइले पानी पूजन के बड़ा तैयारी जी, देईं अरघ अब आरती उतारीं जी
मोरी ओरी देखिं अब पलक उघारी जी, दुखिया खबैया के भगिया सवारीं जी
जानी आदितऽ राउड़ महिमा बा भारीजी, पूजेला जे भी ओकर दुख देलीं तारी जी...

सूर्योदय के बाद सभी लोग वापस घर आते हैं और व्रतधारियों के पारन[10] के साथ छठ का समापन होता है। आम तौर पर घर-परिवार की बेहतरी और सम्पन्नता के लिए यह व्रत किया जाता है, लेकिन एक महत्वपूर्ण अवधारणा यह भी है कि छठ करने से वंश-वृद्धि होती है। प्रचलित लोकाचार के अनुसार बाँझ महिलाएँ ज़रूर छठ करती हैं। इस मौक़े पर गाए जाने वाले गीतों से इसे समझा जा सकता हैः

निरधन बाँझिन रो-रो पुकारे
छठि मइया अन-धन दीं, सुन्दर पूत कि गोदिया खेलाइब हे
छठि मइया आईं नऽ दुअरिया सजाइब
ओखरि[11] खनाइब हे, नारियर, केलवा, कसरवा चढाइब
छठि मइया गइया के दुधवा धराइब, अरघ दिआइब हे...

यूँ तो विवाहित महिलाएँ ही यह व्रत करती हैं, लेकिन इक्के-दुक्के पुरुष भी ठाड़ी और डंड[12] देते हैं तथा कुछ अविवाहित युवतियाँ भी उपवास रखती हैं। ऐसा करके या तो वे सूर्यदेव से कुछ माँगते हैं या फिर अपने मन्नतों के बदले उनसे किए गए वादों को पूरा करते हैं।

मोरे दुअरे पे आवे बारात, वर छठि मइया दऽ
असो होई पीयरे हाथ, वर छठि मइया दऽ
उपवास रखि माँगी मंगनवा, अब न कुँवार रहीं दऽ वरदनवा
तू तऽ जानेलू मनवा के बात, वर छठि मइया दऽ वरदनवा
बजवा दऽ मंगल मधुर शहनाई, अब के बरस दऽ तू डोलिया चढ़ाई
जेके निहारत थके ना नयनवा, अइसन तू दिहऽ सुन्दर सजनवा
दे दऽ हमके सुखी अहिवात, वर छठि मइया दऽ
चम-चम मंगीया पर चमके सेनुरवा, लाल रंग बिंदिया से चमके लिलरवा
कर द करुणा कऽ तू बरसात, वर छठि मइया दऽ...

छठ के दौरान व्रती के लिए अलग बिस्तर की व्यवस्था की जाती है और मान्यता यह है कि उसे ज़मीन पर ही सोना चाहिए। पूजन-सामग्री की पवित्रता और शुद्धता का पूरा ध्यान रखा जाता है। पूरा परिवार इस बात के प्रति बेहद सजग रहता है कि किसी भी प्रकार की ग़लती न हो जाए। लोग विनम्र होकर जाने-अनजाने में हुई ग़लतियों के लिए क्षमा माँगते हैं। यह मैथिली गीत दरअसल क्षमा याचना ही हैः

जल थल वायु अगिन में अहिं छि, अहिं गगन के अधार
हे मइया अहिं गगन के अधार
व्रत के नियम हम किछुओ न जानि, नई जानि पूजा प्रथार
हे मइया नई जानि पूजा प्रथार
गलती के छेमब हे छठि माता, गलती हम कैलों हजार
हे मइया गलती हम कैलों हजार...



यहाँ यह उल्लेख करना भी ज़रूरी है कि एक ओर आम दिनों में जहाँ महिलाओं को घर की चौखट लाँघने की भी मनाही होती है वहीं दूसरी ओर गाँव-देहात की महिलाएँ छठ व्रत करने या देखने नदी या तालाबों पर जाती हैं। और तो और नयी नवेली दुल्हनों को विशेष रूप से छठ में शामिल करवाया जाता है। कुछ लोग छठ के घाटों पर नयी दुल्हनों के जाने को वंशवृद्धि की मान्यता से जोड़कर देखते हैं जबकि इसका दूसरा पहलू यह भी है कि इससे महिलाओं को घर से बाहर निकलने का स्पेस मिलता है।

II

मूलतः बिहार का व्रत होने के बावजूद राज्य से लगे पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा नेपाल की तराई में भी कहीं-कहीं लोग यह व्रत करते हैं। दरअसल, बिहार और इन क्षेत्रों की संस्कृति और रहन-सहन में बहुत हद तक समानता और बिहारवासियों के साथ लम्बे समय से चलते आ रहे इनके वैवाहिक संबंधों के कारण छठ को इन क्षेत्रों में मान्यता मिली है। अन्यथा होता यह था कि देश के जिस किसी भी हिस्से में बिहार के लोग रहते हैं वे छठ करने अपने-अपने गाँव चले जाते थे। दिल्ली में रहने वाले बिहारी प्रवासियों की भी यही स्थिति थी। लेकिन पिछले चार-पाँच सालों से बिहारी प्रवासियों, ख़ासकर कामगारों और मध्यवर्गीय परिवारों के एक बहुत बड़े तबक़े ने दिल्ली में ही छठ व्रत करना शुरू कर दिया है। स्थिति ऐसी हो जाती है कि पूजा करने के लिए नदी और नहरों के किनारे जगह कम पड़ जाती है। वज़ीराबाद, लोहा पुल गीता कॉलनी, कुदसिया घाट बस अड्डा, आईटीओ, ओखला, मदनपुर खादर, बदरपुर, हैदरपुर, बादली, समयपुर, सागरपुर, अशोकनगर, त्रिलोकपुरी, कल्याणपुरी, डाबरी, पालम, चिल्ला गाँव, कोंडली, लोनी और इंडिया गेट तथा ग़ाज़ियाबाद में लोनी, वसुंधरा एवं हिंडन सहित राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली और इसके आसपास लगभग 300 स्थानों पर क़रीब 20 लाख लोग छठ करते हैं। शहर में अलग-अलग स्थानों पर छठ करते लोगों/परिवारों से उनकी वर्गीय स्थिति की झलक भी मिलती है। निम्न और मध्यवर्गीय तबक़े के लोग यमुना के विभिन्न घाटों पर तथा कामगार समुदाय विभिन्न नहरों के किनारे छठ करते हैं जबकि इंडिया गेट के नज़दीक के ताल पर वरिष्ठ अधिकारी और अति विशिष्ट (वीआईपी) तबक़े के लोग छठ करते हैं। बताया जाता है कि कई वरिष्ठ केन्द्रीय मंत्री और फ़िल्म स्टार के परिवार भी दिल्ली में छठ करते हैं। आमतौर पर यहाँ छठ करने वाले परिवारों को नदी-नालों तक पहुँचने के लिए 5-7 किलोमीटर की दूरी तय करनी पड़ती है। साधन-सम्पन्न लोग अपनी गाड़ियों से इस दूरी को तय करते हैं अन्यथा लोगों को सामूहिक रूप से बस, टेम्पो या फिर ऑटो रिक्शा किराए पर लेना पड़ता है। कामगार परिवार तो छठ के घाट तक रिक्शा-ठेलों पर जाते हैं जबकि दिल्ली में छठ करने वाले एक बहुत बड़े तबक़े को पैदल ही नदी-नहरों की दूरी तय करते देखा जा सकता है। सिर पर दउरा थामे पुरुष, हाथों में गन्ना लिए बच्चे और टोलियों में गीत गाती महिलाएँ छठ के घाटों पर पहुँचती हैं।



जहाँ तक आवश्यक पूजन सामग्रियों की उपलब्धता का सवाल है तो आठ-दस साल पहले दिल्ली में छठ करने वाले परिवारों के लिए यह एक समस्या थी। लाख कोशिशों के बावजूद शहर में उन्हें पूजन-सामग्री नहीं मिल पाती थी। लेकिन पिछले कुछ सालों से बेशक थोड़ी महँगी लेकिन ज़रूरत की सभी चीज़ें शहर में आसानी से उपलब्ध होने लगी हैं। पहले केवल पँचकुइयाँ रोड में इन सामानों का मेला लगता था लेकिन अब छठ के लगभग एक सप्ताह पहले से ही छठ के विभिन्न घाटों के आस-पास इन सामानों की अस्थायी दुकानें लग जाती हैं, इसके अलावा आज़ादपुर मंडी, वज़ीराबाद, पश्चिमी दिल्ली तथा यमुना पार की कुछ पुनर्वास कॉलनियों के आसपास भी व्रत के ज़रूरी सामान बिकते हैं। बताया जाता है कि बिहार से ट्रकों में भरकर सामान लाए जाते हैं।

III

सच है कि दस साल पहले दिल्लीवासी छठ से बिल्कुल ही अनजान थे। जिन्होंने इसके बारे में थोड़ा-बहुत सुना भी था, उनके लिए यह 'बिहारियों'[13] का एक त्यौहार मात्र था। महानगर में छठ करने वाले जवाहरलाल[14] कहते हैं, "पन्द्रह साल पहले दिल्ली में छठ को कोई जानता भी नहीं था, लोग कहते थे कि बिहारी पगला गए हैं।" एक फ्रांसीसी यात्री थोरोक्स[15] का कलकत्ता के छठ का अनुभव भी जवाहरलाल जैसा ही है। बिहारी प्रवासियों को सिर पर टोकरी लेकर जाते देखकर बस में उनके एक सहयात्री चटर्जी महाशय की प्रतिक्रिया थी, "बिहारी हुगली को गंदा करने जा रहे हैं"। उनके मुताबिक़ एक पड़ोसी राज्य के निवासी को इस बात का अन्दाज़ा भी नहीं है कि बिहारवासियों के लिए छठ कितना महत्वपूर्ण है। छठ पूजा समिति, दिल्ली के अध्यक्ष श्री शिवाराम पांडे जवाहरलाल की राय से सहमति जाहिर करते हुए कहते हैं, "धीरे-धीरे छठ के बारे में दिल्ली वालों की धारणा बदल रही है। यहाँ के ग़ैर बिहारी लोगों ने अब इसके महत्व को समझना शुरू किया है। अब न केवल लोग छठ देखने आते हैं, बल्कि इसके आयोजन में भी खुलकर मदद करते हैं। हम लोगों को सरकारी मदद तो अब मिलनी शुरू हुई है, इससे पहले तो चंदा जुटाकर ही हम लोग छठ-पूजा ऑर्गेनाइज़ करते थे। आपको बता दूँ कि पूर्वी दिल्ली के एक सरदारजी छठ पूजा में बहुत बड़ा भंडारा लगाते हैं।"[16] छठ पूजा समिति के ही बैरिस्टर सिंह की राय है कि अपने पड़ोसियों की देखा-देखी कुछ ग़ैर-पूर्वांचली परिवारों ने भी छठ व्रत करना शुरू कर दिया है। शहर में छठ का आयोजन करने वाले कुछ अन्य समूहों का मानना है कि ऐसा समय जल्दी ही आएगा जब यहाँ के लोग भी यह व्रत करने लगेंगे।[17]

विगत चार-पाँच सालों में महानगर में कई पूजा समितियों तथा सामुदायिक संगठनों का गठन हुआ है, जिन्होंने न केवल सामूहिक रूप से छठ के आयोजन का सिलसिला शुरू किया है बल्कि सरकार से छठ के बेहतर आयोजन के लिए घाट, सफ़ाई, रोशनी इत्यादि की भी माँग की है। लिहाज़ा, दिल्ली में छठ का व्यापक सरकारी

सर्वेक्षण किया गया और सरकार ने यह माना कि बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश वासियों के लिए छठ दशहरा और दिवाली से भी ज़्यादा महत्वपूर्ण है। परिणामस्वरूप दिल्ली सरकार छठ के आयोजन के प्रति गंभीर हुई। अब तो कॉङ्ग्रेस और भाजपा जैसी महत्वपूर्ण राजनैतिक पार्टियों ने भी छठ के आयोजन में दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी है। कॉङ्ग्रेस समर्थक यह दावा करते हैं कि दिल्ली विधान सभा में बिहारी पृष्ठभूमि के विधायक महाबल मिश्रा के प्रयासों के कारण दिल्ली की सरकार और यहाँ की जनता ने तो छठ के महत्व को समझा ही है, देश के पैमाने पर भी इसको एक पहचान मिली है। उन्हीं के प्रयासों के कारण विगत दो वर्षों से दिल्ली में छठ के मौक़े पर एक दिन के सीमित सरकारी अवकाश (रेस्ट्रिक्टेड हॉलिडे) की घोषणा हो रही है। विगत छठ में जयप्रकाश पुल, आईटीओ के नजदीक हाथी घाट पर छठ के अवसर पर छठ पूजा समिति की ओर से आयोजित एक कार्यक्रम में लोगों को संबोधित करते हुए दिल्ली की मुख्यमंत्री श्रीमती शीला दीक्षित ने यह घोषणा की कि अब दिल्ली सरकार छठ के प्रति पूरी तरह संजीदा है और हर संभव सरकारी सहायता के लिए वचनबद्ध है। उन्होंने वायदा किया कि छठ के बेहतर आयोजन में किसी भी तरह की कोताही नहीं की जाएगी। उन्होंने बताया कि पिछली बार दिल्ली में केवल आठ स्थानों पर छठ के आयोजन में सरकारी सहायता प्रदान की गयी थी जबकि इस साल बाईस स्थानों पर सरकारी सहायता से छठ आयोजित किया जा रहा है।

छठ के अवसर पर होने वाली छुट्टी के बारे में जवाहरलाल कहते हैं, "रेस्ट्रिक्टेड छुट्टी पाने में तो हम कामयाब हो गए लेकिन चूँकि दिल्ली में ज़्यादातर पूर्वांचलवासी निजी क्षेत्रों, ख़ासकर छोटे-उद्योग धंधों और बाज़ारों में मज़दूरी करते हैं और उनके दम पर यहाँ की अर्थव्यस्था चलती है इसलिए हमारी माँग है कि निजी क्षेत्रों में भी छठ के अवसर पर कम-से-कम एक दिन की छुट्टी होनी चाहिए ताकि छोटे-बड़े सभी लोग लोहड़ी, बैसाखी, महावीर जयंती वगैरह की तरह ही छठ को भी अपने परिवारों के साथ धूमधाम से मना सकें।[18] उत्तर प्रदेश-बिहार महासंघ, दिल्ली के महामंत्री रामनारायण दूबे भी इस राय से इत्तेफ़ाक़ रखते हैं और साथ ही यह भी माँग करते हैं कि छठ के अवसर पर दिल्ली में वैसी ही छुट्टी होनी चाहिए जैसी कि पन्द्रह अगस्त और छब्बीस जनवरी जैसे राष्ट्रीय त्यौहारों पर होती है। छठ के आयोजन में भाजपा की भूमिका की सराहना करते हुए वह कहते हैं, "पूर्वी दिल्ली के पूर्व सांसद लालबिहारी तिवारी के प्रयासों के कारण दिल्ली के विभिन्न इलाक़ों में छठ पूजा समितियों का गठन हुआ है और उन समितियों ने छठ के संगठित आयोजन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। ज़ाहिर है इससे व्रत करने वालों की परेशानी थोड़ी कम हुई हैं।"[19]

IV

सच है कि दिल्ली में छठ के दौरान दोनों ही प्रमुख राजनीतिक पार्टियों की सक्रियता बढ़ जाती है, परन्तु इनके समर्थक एक-दूसरे पर यह आरोप लगाते हैं कि उनकी सक्रियता की असली वजह बिहारी वोट है। कहने की ज़रूरत नहीं है कि शहर में छठ के कुछ भीड़ भरे घाटों पर बड़े-बड़े मंच बनाए जाते हैं और दोनों ही पार्टियों के शीर्षस्थ नेता उन मंचों से छठ के प्रति अपने उद्‌गार व्यक्त करते हैं। पिछले साल छठ में राजनैतिक पार्टियों की सक्रियता पर बात करते-करते जवाहरलाल ने अचानक पूछ लिया था, "इस बार दिल्ली में चुनाव छठ से पहले होगा कि बाद में? ... यदि बाद में होगा तो इस बार प्रधानमंत्री आएगा छठ के घाट पर ...।"[20] जवाहरलाल की इस बात पर ग़ौर करने की ज़रूरत है क्योंकि एक मोटे अनुमान के मुताबिक़ दिल्ली में 18 से 20 प्रतिशत बिहारी मतदाता हैं, और कुछ विधान सभा क्षेत्रों में तो चुनावी नतीजे तय करने में इनकी निर्णायक भूमिका होती है। पिछले दो सालों से दिल्ली में छठ पर चल रहे अपने शुरुआती अध्ययन से मुझे जवाहरलाल की बात दमदार दिखती है। इस साल भी दिल्ली में छठ के विभिन्न घाटों पर आयोजित कार्यक्रमों में दिल्ली की मुख्यमंत्री शीला दीक्षित मुख्य अतिथि की हैसियत से पहुँची थीं। जहाँ वह ख़ुद नहीं पहुँच पायीं वहाँ उनके कैबिनेट सहयोगी, स्थानीय सांसद, विधायक या निगम पार्षद पहुँचे। इसके अलावा आने-जाने वालों में भाजपा, समाजवादी पार्टी तथा शिवसेना जैसी पार्टियों के छोटे-बड़े नेता तो थे ही। और तो और इस बार तो छठ के एक घाट पर विवादास्पद तांत्रिक चंद्रास्वामी की उपस्थिति भी बेहद दिलचस्प थी। उक्त छठ पूजा समिति के प्रेस सचिव बैरिस्टर सिंह ने

चंद्रास्वामी की उपस्थिति के बारे में कहा, "स्वामीजी से मंदिर नु बनवावे के बा (स्वामीजी से मंदिर बनवाना है)।[21] बैरिस्टर सिंह की यह राय एक नयी क़िस्म की शहरी धार्मिकता का संकेत है।

कहना मुश्किल है कि दिल्ली में छठ का इतिहास कितना पुराना है लेकिन इतना तो तय है कि बिहारी प्रवासियों की ही किसी पीढ़ी के साथ छठ दिल्ली में आयी। जब तक यह तबक़ा अल्पसंख्यक रहा तब तक इसने दब-छुपकर छठ किया, लेकिन जैसे-जैसे इसकी संख्या में बढ़ोतरी हुई वैसे-वैसे छठ को सार्वजनिक दायरे (पब्लिक डोमेन) में आने का मौक़ा मिला और एक हद तक इसे स्वीकार्यता भी मिली। ज़ाहिर है छठ को मिली इस अहमियत और सार्वजनिक दायरे में इसके प्रवेश ने यहाँ के राजनैतिक दायरे में एक नयी क़िस्म की हलचल पैदा की। राजनैतिक शक्तियों को पूर्वांचलवासियों के 'वोटिंग-स्ट्रेन्थ' का एहसास हुआ। दोनों ही पार्टियों में पूर्वांचल प्रकोष्ठ का गठन किया गया और प्रतीक के तौर पूर्वांचल के एक-आध नेता को महत्वपूर्ण ओहदे दिए गए। पार्टियों ने यह महसूस किया कि इन तबक़ों का वोट लेने के लिए छठ जैसे महत्वपूर्ण त्यौहार में किसी न किसी प्रकार का हस्तक्षेप ज़रूरी है। लिहाज़ा इन पार्टियों के संरक्षण में जगह-जगह छठ पूजा समितियों का गठन किया गया और इनके नेताओं ने छठ में शिरकत करनी शुरू कर दी। बहुत जल्दी ही यह शिरकत राजनैतिक स्पर्द्धा में तब्दील हो गयी और इसी के साथ शुरू हुआ छठ पर 'शुभकानाएँ' जारी करने का सिलसिला। पिछले साल तो बाक़ायदा दिल्ली सरकार की ओर से अख़बारों में शुभकामना संदेश प्रसारित किए गए थे और इस मामले में केन्द्र सरकार भी पीछे नहीं थी। विगत चार-पाँच सालों से छठ के विभिन्न घाटों पर कॉङ्ग्रेस और भाजपा के नेताओं की तस्वीरों वाले शुभकामना संदेशों की बड़ी-बड़ी हॉर्डिंग्स लगायी जाने लगी हैं। छठ के दिनों में छोटे-बड़े नेताओं के नामों और तस्वीरों के साथ छठ के शुभकामना संदेशों वाले पोस्टरों से शहर की दीवारें पट जाती हैं तथा बिजली और टेलीफ़ोन के खम्भों पर ऐसे संदेश ख़ूब लहराते दिखते हैं। पिछले साल भारतीय जनता पार्टी के विधायक और पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी का संरक्षण प्राप्त धर्मयात्रा महासंघ के अध्यक्ष के बारे में एक छठ पूजा समिति के पदाधिकारियों की शिकायत थी कि वो ज़बरदस्ती अपना बैनर घाट के इर्द-गिर्द टाँगना चाहते हैं। उनके बारे में पदाधिकारियों का कहना था कि पूजा के लिए चंदा तो दे नहीं सकते हैं और बैनर टँगवाने के लिए उतारू हो रहे हैं।



दुहराने की ज़रूरत नहीं है कि बिहार छठ की जननी है और मुख्यमंत्री बनने के बावजूद श्रीमती राबड़ी देवी स्वयं यह व्रत करती रही हैं, फिर भी ऐसा नहीं दिखता वहाँ इसके आयोजन पर किसी भी प्रकार से राजनीति हावी होती रही हो। हाँ, लालू प्रसाद यादव के व्यक्तित्व के कारण मुख्यमंत्री द्वारा किया जाने वाला छठ एक 'मीडिया इवेन्ट' ज़रूर बनता रहा है। अन्यथा वहाँ वर्षों से दिवाली, होली, ईद, महावीर जयन्ती, इत्यादि अवसरों की तरह ही छठ पर भी सरकार की ओर से शुभकामना संदेश जारी किए जाते रहे हैं। लेकिन राजनैतिक पार्टियों और लीडरान की ओर से शुभकामनाओं की पोस्टरबाजी वहाँ आज तक नहीं दिखी। कुछ व्यापार मंडलों की ओर से जारी किए जाने वाले शुभकामना संदेशों के अलावा खोजने

पर भी वहाँ बिजली या टेलीफ़ोन के खम्भों या दीवारों पर किसी राजनेता का शुभकामना संदेश नहीं दिखता है। व्यापार मंडलों के शुभकामना संदेशों की बात तो समझ में आती है क्योंकि कारोबार की दृष्टि से उनके लिए छठ जैसे महत्वपूर्ण अवसर साल में एक-आध ही आते हैं और ऐसे में छठ पर शुभकामना संदेश जारी करके वे अपने उत्पादों का प्रचार-प्रसार करते हैं, जो क़तई अस्वाभाविक नहीं है। ग़ौरतलब है कि दिल्ली में अब तक व्यापार मंडलों या व्यापारियों की तरफ़ से छठ के मौक़े पर कोई ख़ास शुभकामनाबाज़ी नहीं दिखी है। 2003 में छठ के कुछ घाटों पर एक-आध तंबाकू उत्पादकों के शुभकामना संदेशों वाले बैनर ज़रूर लहरा रहे थे, इसके बारे में अरविंद मोहन[22] का मानना है कि छठ के मौक़े पर तम्बाकू उत्पादों के विज्ञापनों वाले संदेशों का एक मतलब है कि क्योंकि छठ करने वाले परिवारों में तम्बाकू उत्पादों की ख़पत सबसे ज़्यादा होती है, इसलिए उनके लिए छठ अपने उत्पादों के प्रचार-प्रसार का एक अच्छा मौक़ा हो सकता है।

मज़ेदार यह कि 2003 में छठ के अगले दिन दिल्ली से निकलने वाले कुछ राष्ट्रीय दैनिक अख़बारों में ख़बर छपी कि उपप्रधानमंत्री लालकृष्ण आडवाणी ने अपनी चेन्नई यात्रा रोक कर छठ मनायी। साथ में तस्वीर छपी थी जिसमें दिल्ली विधान सभा चुनावों से पहले मुख्यमंत्री के दावेदार और भाजपा के धाकड़ नेता मदनलाल खुराना भाँगड़ा करते दिख रहे थे। इस लेख की शुरुआती बातों से पाठकों को यह अंदाज़ा लग गया होगा कि छठ कोई ऐसा 'फ़ेस्टिवल' नहीं है कि जिसे किसी हवाई यात्रा को टाल कर ढोल के कानफाड़ू धुन पर भाँगड़े के साथ दो-तीन घंटों में 'सेलिब्रेट' कर लिया जाए और फिर टीवी पर दुनिया देखे कि कैसे देश का कोई 'कर्णधार' किसी लोकपर्व को देश के नक़्शे पर ला रहा है। इतना ही नहीं चुनावी राजनीति की मजबूरियों के चलते समय-समय पर मुंबई में पूर्वांचल विरोधी अभियान छेड़ने के लिए कुख्यात शिवसेना को भी वहाँ छठ के संगठित आयोजन में कूदने के लिए मजबूर होना पड़ा है। अपने तथाकथित पूर्वांचली प्रतिनिधि सांसद संजय निरूपम की अगुवाई में शिवसेना ने छठ का संगठित आयोजन आरंभ कर दिया है (संजय निरूपम अब शिव सेना में नहीं हैं)। पूर्वांचल वासियों को रिझाने के लिए पार्टी की ओर से भोजपुरी कार्यक्रमों का आयोजन किया जाने लगा है। ऐसे ही एक कार्यक्रम में जुहू बीच पर पिछले दो सालों से चुनिंदा फ़िल्मी कलाकारों को पूर्वांचल वासियों के दुलारे के तौर पर पेश कर शिवसेना ने उन्हें सम्मानित करने का सिलसिला भी आरंभ किया है। ख़बर है कि पहले गोविंदा और अब अमिताभ बच्चन "भोजपुरी सम्राट" की उपाधि से नवाज़े गए हैं।

छठ में राजनैतिक पार्टियों की बढ़ती दिलचस्पी के साथ एक जो और महत्वपूर्ण रुझान देखने में आ रहा है वह है पूर्वांचल वासियों में एक नई क़िस्म की अस्मिता के लिए बढ़ती कुलबुलाहट। ज़ाहिर है, न केवल राजनैतिक ताक़तों को पूर्वांचल वासियों के 'वोटिंग स्ट्रेंथ' का अंदाज़ा हुआ है बल्कि पूर्वांचल वासियों को खुद भी इसका एहसास हुआ है। इस एहसास की वजह से उनके बीच शहर में बड़ी संख्या में क्षेत्र, जाति और समुदाय के आधार पर संगठन बनाने शुरू हुए हैं, और उन संगठनों के ज़रिए उन्होंने तरह-तरह के स्पेस के लिए राजनैतिक ताक़तों के साथ नेगोशिएट करना शुरू कर दिया है। नेगोसिएशन की इस प्रक्रिया ने तरह-तरह से अस्मिता के सवाल को वजह और गति प्रदान की है।

V

छठ को सार्वजनिक दायरे में लाने में राजनैतिक पार्टियों और राजनीतिज्ञों के हस्तक्षेपों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है लेकिन केवल इन हस्तक्षेपों के बूते ही मीडिया और बाज़ार की इस नूराकुश्ती में छठ के लिए इस मुक़ाम तक पहुँचना आसान नहीं लगता है। इसलिए यहाँ इन दोनों की भूमिकाओं को खंगालना भी एक सामयिक ज़रूरत बन जाती है। यूँ तो 1979 में *महुआ फ़िल्म्स* के बैनर तले तपेश्वर प्रसाद के निर्देशन में *छठ मइया की महिमा*[23] नामक एक फ़िल्म बनी थी, जिसका गीत लिखा था प्रख्यात गीतकार भूपेन हज़ारिका ने और महेन्द्र कपूर, लता मंगेशकर, उषा मंगेशकर, आशा भोंसले तथा जानी-मानी लोक गायिका विंध्यवासिनी देवी ने इसके गीत गाए थे। बताया जाता है कि छठ के दौरान रिलीज़ हुई उस फ़िल्म ने बिहार में अच्छी-ख़ासी भीड़ बटोरी थी। निश्चित रूप से दौर के हिसाब से उस फ़िल्म को एक महत्वपूर्ण मीडिया हस्तक्षेप कहा जा सकता है। लेकिन मीडिया-क्रांति के

इस युग में छठ की लोकप्रियता के परिप्रेक्ष्य में यहाँ टी. सिरीज़ की भूमिका पर ग़ौर करना भी वाजिब होगा। 1980 के दशक के मध्य में चर्चित गायकों से मिलती-जुलती आवाज़ों में हिन्दी गीतों के कैसेट्स से शुरू हुई इस कम्पनी ने धीरे-धीरे उन तमाम लोक संस्कृतियों और रिवाजों को संगीत में ढालना शुरू किया जो या तो वर्षों से अनछुए रहे थे या फिर जिन पर बड़ी कंपनियाँ कुंडली मारकर बैठी हुई थीं। नए-नए विषयों और अनाम गायकों को लेकर सस्ती क़ीमतों पर ऑडियो कैसेट्स निकालकर इसने एक ऐसा समानान्तर संगीत उद्योग खड़ा किया जिसने बड़ी-बड़ी कंपनियों की ज़मीनें खिसका कर रख दीं। होली हो या दिवाली, भगवती जागरण हो या शिवरात्री, श्रावणी (काँवड़) मेला हो या फिर छठ जैसे खाँटी लोकपर्वः *टी. सिरीज़* हर मौक़े के लिए बड़ी संख्या में कैसेट जारी करता है। एक अनुमान के मुताबिक़ छठ के अवसर पर हर साल *टी. सिरीज़* भोजपुरी, मैथिली, बज्जिका[24] और अंगिका[25] में कम-से कम आधे दर्जन कैसेट जारी करता है। यूँ तो *'गंगा'* और *'सैंटम'* जैसी कुछ छोटी कंपनियों ने भी ऐसे कैसेट बनाने शुरू किए हैं लेकिन अभी उनका हस्तक्षेप बेहद सीमित है। शारदा सिन्हा, भरत शर्मा व्यास, अजित कुमार अकेला, सुनील छैला बिहारी, तृप्ति शाक्या, अनुराधा पौडवाल, मीनू अरोड़ा इत्यादि की आवाज़ों में जारी किए जाने वाले इन कैसेट्स में विविधता होती है। अंतर्वस्तु की दृष्टि से पिछले सालों के मुक़ाबले ये अपेक्षाकृत नए होते हैं। यहाँ यह उल्लेख करना विशेष रूप से ज़रूरी है कि माता की भेंटों या शिव के भजनों की तरह छठ के लिए फ़िल्मी धुनों पर आधारित कैसेट्स अब तक नहीं बनाए गए हैं लेकिन छठ के मौक़े पर बाज़ार में बिकने वाले कैसेटों को देखकर ऐसा नहीं लगता कि फ़िल्मी गीतों की धुनों पर छठ के गीतों के कैसेट निकालने में अब और ज़्यादा वक़्त लगेगा। हालाँकि यह विशुद्ध रूप से रिवाज और बोली विशेष से जुड़ा त्यौहार है, और ऐसा भी नहीं है कि इसमें थोड़ी-बहुत भी मुंबइया मसाला फेंटने की गुंजाइश हो, लेकिन हाल के सालों में ऐसे अनछुए रिवाजों और संस्कृतियों के साथ बड़ी तेज़ी से घालमेल होने शुरू हुए हैं।

> काँच ही बाँस के बहंगिया, बहंगी लचकइत जाय
> बनीं न बलमजी कहरिया, बहंगी घाटे पहुँचाय
> बाट जे पूछलऽ बटोहिया, बहंगी केकरा के जाय
> आँख तोहर फुटलऽ ए बटोहिया, बहंगी छठि माई के जाय ...
>
> भोजपुरी, छठि के पूजा (अक्टूबर 2003) से

> नारियलवा जे फरेला घवद से, ओह पर सुगा मेडराय
> उ जे खबरी जनइबो आदित से, सुगा दिहले जुठियाय
> उ जे मारबउ रे सुगवा धनुष से, सुगा गिरे मुरझाय
> केरवा जे फरेला घवद से, ओह पर सुगा मेडराय
> उ जे खबरी जनइबो आदित से, सुगा दिहले जुठियाय
> उ जे मरबो रे सुगवा धनुष से, सुगा गिरे मुरझाय ...
>
> भोजपुरी, छठि के पूजा (अक्टूबर 2003) से

उपर्युक्त दोनों गीत इतने लोकप्रिय हैं कि छठ आरंभ होते ही टोलियों में महिलाएँ इनका समवेत् गान आरंभ कर देती हैं। वर्षों से बिहार की अलग-अलग बोलियों में ये गाए जाते रहे हैं। पर *टी सिरीज़* ने इसके बरक्स भी अनेक नए-नए गीतों को कैसेटबद्ध किया है, ग़ौर करते हैं कुछ नए गीतों परः

> बाट-घाट सजि गेले आय हे, अथिन छठि मइया
> चहुँ दिशी छठि के रऽ गान हे, अथिन छठि मइया
> पटना के घाट पर चकमक चमके, रंग-रंग ज्योति के इजोत हे
> अथिन छठि मइया
> दउरा साज चलु, चलु बहिना, भई गेल अरघऽ के बेर हे
> अथिन छठि मइया
> कोई माँगे अन-धन कोई संतानक, माँगी रहऽन बरदान हे
> अथिन छठि मइया...
>
> मैथिली, हे छठि मईया (अक्टूबर 2003) से

छठि माई के दउरवा दुल्हा टाँगे रे
पुरब दिशा में माई हे, सुरूज जागे रे
गइया के बँधनवा खुलल, तीनो तिरलोक जागल
अंगना-दुअरिया में सुतल अन्हरिया भागल
अन्हरा के अँखिया मिलल, कोढ़िया के कयवा
निरधन के अन-धन, बाँझिन के मयवा
अरघ चढ़ावे लंगड़ा आगे-आगे रे
पुरब दिशा में माई हे...

बज्जिका, हे छठि मईया (अक्टूबर 2003) से

असो छठ व्रत रउओ राखीं ए पिंकी के पापा, कि हमरो बात मानीं
हमरे साथे करीं पावन आदितदेव की पूजा, कि हमरो बात मानीं
फल-पकवान के लऽई के दउरवा, गंगा के घाट चलीं पहिरी के पियरिया
उहवाँ मिल के बनावल जाई फेर माटी की बिदिया, कि हमरो बात मानीं
कइल जाइ मिल के जऽ आदितऽ की भक्ति
रोग शोक दूर होई मिली बड़ा शक्ति

भोजपुरी, छठि के पूजा (अक्टूबर 2003) से

इन गीतों को देखकर लगता है कि अब वो दिन दूर नहीं जब 'काँटा लगा...' या 'जय-जय शिवशंकर...' जैसे हिट रीमिक्सों की धुनों पर छठ के गीत भी लिखे जाएँगे। छठ से जुड़े ऐसे गीतों के बारे में लोगों की अलग-अलग राय है। कुछ लोग इसे छठ की अपनी आस्था के साथ छेड़छाड़ मानते हैं जबकि कुछ लोगों को लगता है कि इससे छठ को और ज़्यादा व्यापकता मिलेगी। छठ पूजा समिति, दिल्ली के अलग-अलग पदाधिकारियों की इस पर अलग-अलग राय है। अध्यक्ष श्री शिवाराम पांडे मानते हैं कि हालाँकि ऐसे गीतों से हल्केपन का बोध होता है लेकिन हमें केवल हल्केपन की वजह से ही इसका विरोध नहीं करना चाहिए, अगर हिंदी में, या पंजाबी में छठ के गीतों के कैसेट आएँगे तो और ज़्यादा लोग छठ के बारे में जानेंगे।[26] जबकि प्रचार सचिव बैरिस्टर सिंह ऐसे गीतों को सिरे से ख़ारिज करते हैं और कहते हैं कि ऐसे गीतों से न केवल हमारी संस्कृति के साथ छेड़छाड़ होगा बल्कि हमारी आस्था का भी अपमान होगा, हमें अभी से इसके प्रति सचेत रहना चाहिए।[27]

तय हो चुका है कि तकनीकि व प्रौद्योगिकी क्षेत्र में हो रहे नित नए बदलावों के इस दौर में सिकन्दर वही बन सकता है जो इसके साथ चलेगा और *टी. सिरीज़* ने इन बदलावों से हाथ मिलाकर साबित कर दिया है कि सिकन्दर बनने की क्षमता उसमें है। पिछले चार-पाँच सालों से इसने अन्य धर्मिक अवसरों के साथ-साथ छठ के लिए भी ऑडियो कैसेटों और सीडी के साथ-साथ बड़ी संख्या में वीडियो सीडी बनाना शुरू किया है। रोज़-ब-रोज़ शुरू होने वाले केबल चैनलों ने *टी. सिरीज़* का रास्ता और भी सुगम बना दिया है। छठ से लगभग एक महीने पहले से इन चैनलों पर 'छठ महिमा', 'आहो दीनानाथ' और 'उगे सुरूजवा हमार', 'हे छठि मइया', 'छठि के पूजा' जैसे ऑडियो-वीडियो कैसेटों और सीडी का प्रचार शुरू हो जाता है।

बाज़ार और पर्व-त्यौहारों का हमेशा चोली-दामन का साथ रहा है। दुर्गा पूजा और ईद जैसे त्यौहारों पर मेलों का रिवाज बहुत पुराना है। मेला निश्चित रूप से एक क़िस्म का बाज़ार भी होता है। लम्बे अर्से से लोग अपनी घरेलू ज़रूरत की चीज़ें इन मेलों से ख़रीदते रहे हैं। बिहार में छठ के सामान्य घाटों पर भी मेले सा दृश्य होता है। एशिया का सबसे बड़ा कहा जाने वाला सोनपुर मेला छठ के दिन ही शुरू होता है। गया के पास बड़गाँव में सूर्य मंदिर के समीप बहुत बड़ा मेला लगता है, आसपास के इलाक़े में उस स्थान पर छठ करना बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। ज़ाहिर है जो लोग छठ व्रत करने वहाँ पहुँचते हैं वे मेले में ख़रीदारी भी करते हैं। हालाँकि, मेले के बरक्स भी छठ का एक व्यापक बाज़ार है। बिहार के बाज़ारों में तो छठ के दिनों में तिल रखने की भी गुंजाइश नहीं होती है। कुम्हार और पनवाड़ी से लेकर बड़े-बड़े बरतन भंडारों, कपड़े की दुकानों, फल और सब्ज़ी मंडियों तक पूरा का पूरा बाज़ार छठ के दिनों में ठसाठस भरा होता है। एक अनुमान के मुताबिक़ उन दिनों वहाँ के



बाज़ारों में कारोबार 200 प्रतिशत से भी अधिक बढ़ जाता है। ज़ाहिर है दिल्ली में अभी यह बाज़ार उस मुक़ाम तक नहीं पहुँचा है, और शायद उस मुक़ाम तक पहुँचना संभव भी नहीं लगता है। इसका पहला कारण यह है कि बिहार या पूर्वी उत्तर प्रदेश में छठ के मौक़े पर न केवल व्रत से संबंधित चीज़ें ख़रीदी जाती हैं बल्कि बड़ी संख्या में लोग अपने परिवार के सदस्यों के लिए कपड़े भी ख़रीदते हैं। या यूँ कहें कि अब भी वहाँ के गाँवों में ज़्यादातर परिवारों में ख़ासकर होली और छठ के मौक़े पर ही कपड़ों की ख़रीदारी की जाती है, जबकि दिल्ली में ऐसी कोई बात नहीं होती है। दूसरी महत्वपूर्ण वजह यह है कि छठ के साथ श्रावणी (काँवड़िया) मेले या करवा चौथ जैसा तामझाम नहीं जुड़ा है। सावन (जुलाई-अगस्त) में काँवड़ से लेकर कपड़े (टी-शर्ट, हाफ़ पैंट, अंग वस्त्र, सिर पर बाँधने की पट्टी, इत्यादि), बैग, घुंघरू इत्यादि चीज़ों की बिक्री अचानक बढ़ जाती है या फिर करवा चौथ और तीज के दिनों में शहर की हर गली और नुक्कड़ बाज़ार या मेले की शक्ल में तब्दील हो जाती है। करवा चौथ के दौरान यदि चूड़ी, मेहंदी और शृंगार प्रसाधनों को छोड़ भी दें तो केवल मिठाइयों का कारोबार भी करोड़ों का होता है। ज़ाहिर है इस लिहाज़ से छठ का बाज़ार अपेक्षाकृत बेहद सीमित है और यह भी सच है कि रमज़ान और छठ जैसे कुछ त्यौहारों को बाज़ार पूरी तरह प्रभावित कर भी नहीं सकता है। अरविंद मोहन ठीक ही कहते हैं, “बाज़ार के लिए तो रमज़ान सबसे फ़ायदेमंद हो सकता था क्योंकि यह एक महीने का होता है, लेकिन असलियत यह है कि बाज़ार को इसमें बेचने के लिए कुछ है ही नहीं। बाज़ार उपवास और आस्था बेचेगा? उपवास और आस्था के अलावा रमज़ान में है ही क्या? यही स्थिति छठ की भी है। यहाँ भी आस्था, उपवास और पवित्रता का मामला है। इसलिए ज़ाहिर है एक हद के बाद इसमें बाज़ार कोई दख़ल नहीं कर सकता है।”[28] फिर भी कहा जा सकता है कि दिल्ली में लगभग बीस लाख की आबादी द्वारा किए जाने वाले छठ व्रत का एक सीमित ही सही, बाज़ार बना है। बेशक यह पुनर्वास बस्तियों में कपड़े की दुकानों या फिर फल मंडियों तक ही सीमित क्यों न हो। हालाँकि, सुथनी और गागर नींबू जैसी ख़ास कुछ चीज़ों के लिए यह सीमित बाज़ार अब भी बिहार पर निर्भर है।

VI

भारत में पर्व-त्यौहारों की परंपरा बहुत पुरानी है और काफी हद तक ये परंपराएँ ब्राह्मणवादी कर्मकांडों के प्रभाव में भी हैं। लेकिन इन ब्राह्मणवादी कर्मकांडों से मुक्त पर्व-त्यौहारों की भी यहाँ एक पुरानी और जीवंत परम्परा है। प्रकृति और प्राकृतिक वस्तुओं की पूजा-आराधना वाली उस परंपरा को 'लिट्िल ट्रेडिशन' कहा गया है। ज़ाहिर है 'लिट्िल ट्रेडिशन' यहाँ की लोक-संस्कृति का एक अहम हिस्सा रही है और वर्षों से लोग न केवल इसके साथ जीते आए हैं बल्कि उन्होंने इसको संजोए भी रखा है। जनजातीय क्षेत्रों में इन परंपराओं को ख़ास तौर से देखा जा सकता है, जहाँ सदियों से लोग जल, ज़मीन, जंगल, पहाड़ इत्यादि को अपनी तरह-तरह की शक्तियों का स्रोत मानते आ रहे हैं और पूजते आ रहे हैं। पूर्वोत्तर में बिहू या दक्षिण में पोंगल या फिर बिहार में छठ को इसी परंपरा के रूप में देखा-समझा जा सकता है। परंतु हाल के सालों में इस 'लिट्िल ट्रेडिशन' को भी ब्राह्मणवादी कर्मकांडों के दायरे में समेटने की कोशिशें तेज़ हुई हैं। एक तरफ़ सुदूर पहाड़ों में अब भी 'सभ्यता' से कोसों दूर रह रहे जनजातीय लोगों को हनुमान का वंशज बताया जा रहा है, और अपना बिछड़ा हुआ वनवासी बंधु कहकर उन्हें हिंदू धर्म में शामिल करने की मुहिम चलायी जा रही है। दूसरी तरफ़ छठ जैसे त्यौहार को अपने में समाहित करने की पुरज़ोर कोशिशें हो रही हैं।

यहाँ इक्कीसवीं सदी की इस आधुनिकता में धार्मिक तौर-तरीक़े की गुत्थियों को समझना सचमुच बहुत बड़ा सवाल है। जहाँ धर्म और भक्ति भावों का समारोहीकरण हो रहा है और पूरा का पूरा बाज़ार इन समारोहों में उतरता नज़र आ रहा है। भीड़ भरी सड़कों के किनारे नित उगते 'प्राचीन' संकटमोचन हनुमान और शिव मंदिरों के आगे बीच सड़क पर गाड़ी रोककर पत्थरों पर मत्था टेकते लोगों की क़तारें दिनोंदिन लम्बी होती जा रही हैं, बीच सड़क पर भगवती जागरणों में फ़िल्मी धुनों पर आधारित कानफाड़ू भेंटों पर लोगों की थिरकन 'डिस्कोथेकों' को पीछे छोड़ रही है, 'डिज़ाइनर्स फ़ेस्टिवल' बन चुके 'करवा चौथ' जैसे त्यौहार के मौक़े पर आरती की थाल लिए आधी रात तक पतियों और 'ब्वॉय फ्रेंडों' का इंतज़ार करती महिलाओं की संख्या साल-दर-साल बढ़ती जा रही है, भगवानों के ड्रेस डिज़ाइनिंग के लिए प्रोफ़ेशनल फ़ैशन डिज़ाइनर्स 'वॉलन्टरी सर्विस' के लिए तेज़ी से आगे आ रहे हैं, सावन के महीने में काँवड़ियों का रेला सड़क और क़ानून-व्यवस्था को अपने क़ब्ज़े में लेता जा रहा है और इन्हीं के बीच छठ जैसे एक लोक-पर्व को व्यापकीकरण का मौक़ा मिल रहा है। बहरहाल, हरिद्वार से दिल्ली तक की काँवड़ यात्रा हो या करवा चौथ, सरस्वती पूजा हो विश्वकर्मा पूजा या फिर तीज हो या छठ; सच है कि हाल के वर्षों में दिल्ली में इनके संगठित आयोजन का सिलसिला शुरू हुआ है और इन्हें नए-नए अंदाज़ भी मिले हैं। यह देखना दिलचस्प होगा कि आने वाले वर्षों में राजनीति, बाज़ार और मीडिया के प्रगाढ़ हो रहे संबंध, उनकी बढ़ती दख़लंदाज़ी और एक ख़ास क़िस्म की अस्मिता की कुलबुलाहट, छठ या छठ जैसी लोक परंपराओं और पर्वों को किस मुक़ाम तक और किस रूप में पहुँचाती हैं। ज़रूरी है कि अपनी निगाह जमाए रखी जाए, शायद इससे महानगर के धार्मिक रिवाजों व प्रवृत्तियों में हो रही तब्दीलियों को समझने में सुविधा होगी।

संदर्भ व टिप्पणियाँ

1. दउराः बाँस से बनी टोकरीनुमा चीज़, जिसमें छठ की समग्र सामग्री रखी जाती है इसे बंगहिया/बंगही भी कहा जाता है.
2. सूपः यह भी बाँस से बना एक उपकरण होता है, इसे छाज भी कहा जाता है. यह व्रत के लिए सबसे ज़रूरी उपकरणों में एक है। इसी में



अर्घ्य सजाए जाते हैं.

3. कोसियाः मिट्टी से बना बरतन. व्रत के लिए दही इसी में जमाया जाता है.
4. खरनाः यह छठ व्रत का एक महत्वपूर्ण अंग है, शाम वाले अर्घ्य की पहली रात होने वाली इस प्रक्रिया में व्रती पूरी और गुड़ वाली खीर का प्रसाद चढ़ाती/चढ़ाता है और व्रती समेत पूरा परिवार बिना नमक का भोजन करता है.
5. अर्घ्यः यह इस व्रत का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है. पहले दिन डूबते और उगते हुए सूर्य की पूजा की जाती है, जिसके तहत व्रती सूर्य की ओर मुँह करके उन्हें प्रसाद पेश करता/करती है.
6. ठाड़ीः बहुत से लोग इस व्रत में केवल पानी में खड़ा होने का ही संकल्प लेते हैं, पानी में खड़ा होने की इस प्रक्रिया को ठाड़ी देना कहते हैं.
7. हाथीः यह भी व्रत का एक अंग है, आम तौर पर मन्नतों के लिए मिट्टी से बने हाथी की स्थापना की जाती है. शाम वाले अर्घ्य से लौटकर आने के बाद व्रती आँगन में इसकी स्थापना करती/करता है. इसके चारों ओर चार गन्ने खड़े किए जाते हैं जिसने ऊपरी हिस्से में किसी नए कपड़े (इस कपड़े को चनमा कहा जाता है) में कुछ अनाज बाँधकर रखा जाता है. पूरी रात इसके ऊपर और इसके चारों ओर दीप जलाए जाते हैं और अगली सुबह अर्घ्य के साथ ही नदी/तालाब में इसे विसर्जित कर दिया जाता है.
8. उंखियाः गन्ना. अन्य फलों व पकवानों के अलावा गन्ना अर्घ्य के लिए बेहद ज़रूरी होता है.
9. जहियाः जब.
10. पारनः व्रत की अंतिम प्रक्रिया, आम तौर पर उपवास तोड़ने की प्रक्रिया को पारन कहा जाता है.
11. ओखरि : ओखल.
12. डंडः इसे दंड भी कह सकते हैं. ऐसे भी लोग होते है जो सूर्यदेव से कुछ माँगते वक़्त यह वायदा करते हैं कि उनकी मन्नत पूरी होने की स्थिति में वे डंड देंगे और उसी वादापूर्ति के तहत वैसे लोग अपने घर से नदी/तालाब तक पैदल ज़मीन में घिसटते हुए पहुँचते हैं. यह प्रक्रिया बेहद थकाऊ और पीड़ादायक होती है.
13. बिहारीः आम तौर पर ग़रीब और मज़दूर किस्म के लोगों को बिहारी कहकर संबोधित किया जाता है.
14. जवाहरलालः साक्षात्कार.
15. थोरोक्सः *ट्रेवलॉग*, बेलेन्टाईन बुक्स एडिशन, 1976, पेज 173-74.
16. साक्षात्कार.
17. साक्षात्कार.
18. साक्षात्कार.
19. साक्षात्कार.
20. जवाहरलाल से यह बातचीत पिछले वर्ष लोकसभा चुनावों से पहले हुई थी.
21. साक्षात्कार.
22. अरविन्द मोहन *दैनिक हिन्दुस्तान* से जुड़े वरिष्ठ पत्रकार हैं। उनके साक्षात्कार से.
23. www.imdb.com/tittle/tt0373757.
24. बज्जिकाः बिहार के तिरहुत प्रमंडल में बोली जाने वाली बोली.
25. अंगिकाः भागलपुर और कोशी प्रमंडल में बोली जाने वाली बोली.
26. साक्षात्कार.
27. साक्षात्कार.
28. साक्षात्कार.



इतने पर भी सुगिया चुप ही रही। दारोगाजी ने सोचा, अब कौन-सा ढंग निकालूँ। कुछ देर तक उसके मुख की ओर लुभाई नज़रों से देखकर बोले — अगर मेरे साथ तेरा मन राज़ी हो गया, तो सच मान, छुट्टी लेकर जल्दी ही तेरे साथ बनारस चलूँगा। वहाँ तुझे घुमा-फिराकर विन्ध्याचल ले चलूँगा। फिर प्रयागराज, चित्रकूट, अयोध्याजी, गयाजी, बैजनाथजी, ठाकुरद्वारा सब तीर्थों की सैर करा दूँगा। रेलगाड़ी, हवागाड़ी और घोड़ा-गाड़ी के सिवा कहीं तुझे एक पग भी पैदल चलना नहीं पड़ेगा। मेरे साथ मौज से देश-देश की हवा खाना, देश-देश की मिठाइयाँ खाना, देश-देश की चीज़ें ख़रीदना — सब हौसला मिटा लेना। बनारस की साड़ी और विन्ध्याचल की चुनरी ख़रीद दूँगा। प्रयागराज का क़िला दिखाऊँगा, त्रिवेणी में नाव पर झिरझिरी खेलाऊँगा। चित्रकूट के पहाड़ पर सैर कराऊँगा। अयोध्याजी में सावन का झूला दिखाऊँगा। गयाजी का पेड़ा और बैजनाथजी का चूड़ा-दही बहुत ही बढ़िया होता है। अभी क्या, जब खिलाऊँगा तब कहना क्या खिलाया! बैजनाथ जी से कलकत्ते होते हुए ठाकुरद्वारा जाना पड़ेगा। कलकत्ते में बिजली की गाड़ी पर चढ़ाकर सारा शहर एक ही दिन में घुमा दूँगा। हवागाड़ी पर चढ़ाकर क़िले के मैदान की हवा खिलाऊँगा। बागबाज़ार का रसगुल्ला और मीठा सन्देश चखवाऊँगा। वहाँ का रसगुल्ला इतना बढ़िया होता है कि मुँह में डालते ही गल जाता है। बंगाली मिठाई तो तूने कभी खाई न होगी? खाकर देखना, मुँह से न छूटेगी। बंगाल की पाढ़दार साड़ी बहुत ही अच्छी होती है। बढ़िया-से-बढ़िया देखकर तेरे लिए शान्तिपुरी साड़ी ख़रीद दूँगा। फिर ठाकुरद्वारे में समुन्दर की बहार दिखलाऊँगा। अगर तू कहेगी, तो बम्बई भी दिखला दूँगा। तेरे लिए सब करूँगा, मगर तू करने देगी तब न?

शिवपूजन सहाय, *देहाती दुनिया*, 1926, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2001.

मैं बर्मा गया उधर आग पिक्चर लगी थी
पिक्चर देखने गया
उधर टिकट के वास्ते कुछ पासपोर्ट वगारा (वग़ैरा) दिखाना पड़ता है
टिकटवाले ने पूछा पासपोर्ट किधर है?
मैं बोला भॅनचोद
मुझे टिकट मँगता है

उन लोगों ने वापस मणिपूर भेज दिया
पुलिस कमिशनर ने पूछा बर्मा कायको गया था?
मैं बोला ओ लौंडी के बच्चे
इंडिया में ररक्खाही क्या है!

अरुण कोलटकरच्या

साभारः प्रास प्रकाशन (1977), वृंदावन—2ब, एस
रहेजा टाउनशिप, मलाड पूर्व, मुंबई—400097.

फ़ुटपाथ पर कामसूत्र

नई सेक्सी दिल्ली

अभय कुमार दुबे

हम शुरू से ही साफ़ कर देना चाहते हैं कि हम कोई 'पारिवारिक पत्रिका' नही निकाल रहे हैं। अगर आप किसी की बेटी, पत्नी या सास हैं और अगर ग़लती से आपने हमारी पत्रिका ख़रीद ली है, तो बेहतर होगा कि मेहरबानी करके आप उसे अपने मर्द को पढ़ने के लिए दे दें...

पचास साल पहले *प्लेबॉय* के पहले अंक में प्रकाशित ह्यू हेफ़नर की टिप्पणी,
जिसे *पायनियर*, दिल्ली के परिशिष्ट *वीवासिटी* ने जुलाई 2003 में छापा

अगर मुझे एक पॉर्न मैगज़ीन मिले तो उसे पढ़ने में मुझे कोई हिचक नही होगी। मैं इस बारे में खुल कर स्वीकारती हूँ, जबकि दूसरे लोग यही काम बंद कमरों में करते हैं।

सुपर हिट म्यूज़िक वीडियो *डीजे डॉल* की नायिका शेफाली ज़रीवाला,
डेल्ही टाइम्स, 3 मई 2003.

हालाँकि लोगों की राय के लिए हमारे दरवाज़े हमेशा खुले रहते हैं और दरअसल हम पाठकों की तरफ़ से की जाने वाली आलोचनाओं को प्रोत्साहित भी करते हैं, लेकिन यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि 'मोर सेक्स प्लीज़, वी आर इंडियन' जैसा आइटम छाप कर हम आज की पीढ़ी को उसके माता-पिताओं के मूल्यों की शिक्षा देना नही चाहते थे। हमारी कोशिश तो केवल तथ्यों को सामने लाने की थी। उन तथ्यों के ज़रिये हम माता-पिताओं को बताना चाहते थे कि आज की पीढ़ी क्या सोचती है और क्या महसूस करती है।

सम्पादक, *डेल्ही टाइम्स/इंडियाटाइम्स.कॉम*
(*डेल्ही टाइम्स* के 29 मई 2003 के अंक में कामसूत्र सेक्स सर्वे
पर पाठकों की प्रतिक्रिया के जवाब में प्रकाशित)



क्या आप डॉ. मोजो को जानते हैं, या आपकी कभी लवगुरू से मुलाक़ात हुई है? एक का पता है दिल्ली की ज़मीन, तो दूसरे का पता है दिल्ली का आसमान। एक दिन में, अगर चाहें तो सुबह-सुबह ही मिल सकता है, तो दूसरा रात में उस समय मिलता है जब घड़ी के दोनों हाथ एक-दूसरे के गले मिलने वाले होते हैं।[1] डॉ. मोजो अलग-अलग नामों से महानगर के अख़बारों और पत्रिकाओं के पन्नों पर सप्ताह में कई बार दिखायी पड़ते हैं, और लवगुरू कभी औरत तो कभी मर्द की आवाज़ में एफ़एम रेडियो के चैनलों पर छाये रहते हैं। काम दोनों का एक ही है। वही, जो सदियों पहले भारतीय इतिहास के प्राचीन काल में आचार्य वात्स्यायन का हुआ करता था। वात्स्यायन ने यौन क्रिया का एक मैनुअल तैयार किया था जिसे हम *कामसूत्र* के नाम से जानते हैं। वात्स्यायन की नायिकायें और उनके द्वारा दिया जा सकने वाला यौन प्रशिक्षण संभवतः उस युग के अभिजनों को ही सुलभ था, जबकि उनके उत्तर-आधुनिक प्रतिनिधियों, डॉ. मोजो और लवगुरू, ने वही यौन प्रशिक्षण आम लोगों को उपलब्ध कराना शुरू कर दिया है। मुख-मैथुन से जुड़ी उलझनों, सम्भोग की विभिन्न तकनीकों और कौटुम्बिक-कामाचार (इंसेस्ट) की समस्याओं का वैज्ञानिक शब्दावली में निराकरण करने वाले ये विशेषज्ञ सलाहकार वैसे तो अनाम और अनाकार हैं, लेकिन कभी-कभी इनके वास्तविक नाम भी होते हैं। इन्हें कभी डॉ. प्रकाश कोठारी कहा जाता है, जो बताते हैं कि माहवारी के समय सम्भोग करना कितना सुखद और सुरक्षित हो सकता है; और कभी इनका नाम डॉ. संजय चुग हो सकता है जो सतम्भन शक्ति बढ़ाने के लिए शिश्न-व्यायाम की तकनीकों का सिलसिलेवार वर्णन करते हैं।

वात्स्यायन का दुर्भाग्य यह था कि उन्होंने अपने पूर्वगामी यौन-विशेषज्ञों की पुरुष-केंद्रीयता का उल्लंघन करते हुए *कामसूत्र* में स्त्री-यौनिकता का सिद्धांत प्रतिपादित करने का दुस्साहस कर डाला था। इसलिए उन्हें ताज़िंदगी पुरुष-यौनिकता को प्रमुख मानने वाले उन सिद्धांतकारों का कोपभाजन बनना पड़ा जो स्त्री में कामेच्छा का केंद्र देखने के लिए तैयार नहीं थे। वात्स्यायन के युग से ही ज्ञान-राजनीति ने यह सुनिश्चित करने की पूरी चेष्टा की है कि स्त्री यौनिकता को मान्यता देने वाला उनका ग्रंथ पुस्तकालय की अलमारियों में ही पड़ा धूल खाता रहे।[2] डॉ. मोजो और लवगुरू सौभाग्य से ऐसे ज़माने में पैदा हुए हैं जब स्त्री की कामेच्छा अपनी दावेदारियों से विक्टोरियायी यौन शुद्धतावाद के अंतिम गढ़ों को भी हिलाये दे रही है। वात्स्यायन के प्रतिनिधियों द्वारा तक़रीबन रोज़ जारी किये जा रहे सेक्स मैनुअलों के बीच कहीं दिल्ली के कनॉट प्लेस के पीछे एक दिलचस्प क़िस्म की छत पर विभिन्न आयुवर्गों की महिलाएँ स्त्री की यौन-क्षुधा के मुद्दे पर जम कर कई घंटों तक विचार-विमर्श करती हैं। उनके मन में शंकाएँ रहती हैं, किसी साम्यवादी समाज के धुले-पुँछे आदर्श की परिकल्पना बार-बार उन्हें अपनी देह से बाहर ले जाती है, लेकिन ज़माने की माँग उन्हें बार-बार देह के केंद्र में आने के लिए विवश करती है। भले ही फ़िलहाल वे डॉ. मोजो की पाठिका और लवगुरू की श्रोता न हों, लेकिन उनकी बहस को सुन कर साफ़ लगता है कि ज़माना बदल रहा है और इस बार ख़ास बात यह है यह बदलाव उनसे बाहर और अनजान नहीं, बल्कि उनके भीतर और उनकी जानकारी में हो रहा है।[3] यही है वह समय जिसे सेक्शुअॅलिटी का इतिहास लिखते हुए फूको ने पूर्व के संदर्भ में 'आर्स इरॉटिका' कहा था, और जिसे एंथनी गिडेंस ने 'ट्रांसफ़ॉर्मेशन ऑफ़ इंटिमेसी' की संज्ञा दी है। फूको और गिडेंस अपना विमर्श ज़्यादातर पश्चिमी संदर्भों तक ही सीमित रखते हैं, लेकिन उत्तर-आधुनिक भारतीय यौन चेतना में इस विमर्श की आहटें पढ़ी जा सकती हैं। वैसे भी भूमंडलीकृत होती हुई दुनिया में पूर्व की यौनिकता ही नहीं, बल्कि यौनिकता को ही समझने के लिए वात्स्यायन और फूको को मिला कर पढ़ना ज़रूरी हो गया है।[4]

ज़ाहिर है कि दिल्लीवालों की कामनाओं का भूगोल बदल रहा है। उनकी कामनाएँ कभी आर्थिक और सामाजिक प्रगति के मानकों से ही परिभाषित होती थीं, लेकिन आज उनके केंद्र में उनकी देह का सुख आ चुका है। आज ये कामनाएँ आधुनिकता और बाज़ार की फ़ैक्ट्री में रची जाती हैं। मुश्किल यह है कि हमारे पास किसी सेक्शुअल सर्वे की सेवाएँ उपलब्ध नहीं हैं, वरना उसके ज़रिये हमें दिल्ली के सेक्शुअल भूगोल का पता चल सकता था। अमेरिका के लिए इस तरह के सेक्शुअल सर्वे की भूमिका चालीस और पचास के दशक में अल्फ़्रेड किंसी और उनके साथियों ने निभाई थी। अमेरिकी पुरुषों और महिलाओं के यौन व्यवहार के बारे में प्रकाशित किंसी रिपोर्ट के बाद सत्तर के दशक में हाइट रिपोर्ट ने स्त्रियों के यौन व्यवहार के बारे में विशेष जानकारी दे

कर अमेरिकी सेक्शुअॅलिटी का ख़ाका काफ़ी कुछ पूरा कर दिया था। 1979 में किंसी इंस्टीटयूट ने ही एलन बेल और मार्टिन वीनबर्ग द्वारा लिखित अमेरिकी समलैंगिकता का दस साल लंबा अध्ययन प्रकाशित किया। इसने दावा किया कि समलैंगिक व्यक्ति इतरलैंगिक व्यक्ति से कई मामलों में बेहतर होता है। इसके आधार पर समलैंगिता की राजनीति को सामाजिक तर्क मिले और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के तहत सेक्शुअल ऐटलस की संभावनाएँ बनने लगीं। पचास और साठ के दशक में केवल *प्लेबॉय* जैसी सॉफ़्टपॉर्न पत्रिकाएँ ही सेक्शुअॅलिटी की दुनिया में हस्तक्षेप करती थीं, पर सत्तर के दशक में सामान्य अमेरिकी मीडिया ने सेक्शुअॅलिटी के सभी आयामों के लोकप्रिय प्रतिनिधि की भूमिका निभानी शुरू की। वह सेक्शुअॅलिटी संबंधी शोध में भाग लेने लगा और सर्वेक्षणों के परिणामों को मीडिया के ज़रिये आम लोगों तक पहुँचाया जाने लगा। इस तरह मीडिया सेक्शुअॅलिटी की विविध व्याख्याओं का वाहक बन गया। अस्सी और नब्बे के दशक में हुए सेक्स सर्वेक्षणों को सेक्स के लिहाज़ से काफ़ी खुल चुके मीडिया के ज़रिए पाठकों को परोसा गया। मीडिया ने ख़ुद भी सेक्स सर्वेक्षण कराने शुरू किये और शौक़िया सेक्स विशेषज्ञों की एक पूरी फ़सल पैदा कर डाली। अख़बारों और पत्रिकाओं के कॉलम यौन क्रिया की तकनीक सिखाने के मैनुअल बन गये। सेक्शुअॅलिटी की सेल लग गयी जिसमें फ़र्ज़ी और वैध दोनों तरह की सेक्स रिसर्च यौन क्रांति की वैधता के लिए इस्तेमाल की जाने लगी।[5]

लेकिन, अमेरिका की तरह दिल्ली के पास किंसी जैसे किसी इंस्टीटयूट की सेवाएँ कभी नहीं रहीं। अस्सी के दशक के ख़ात्मे तक इस शहर की देह पर सर्वेक्षण आधारित समाजशास्त्र के ज़रिये मीडिया ने किसी सेक्शुअल इबारत के लिखने की शुरुआत भी नहीं की थी। आज़ादी मिलने के कम से कम चालीस साल बाद तक सेक्शुअॅलिटी के नाम पर उसके पास सभी दूसरी जगहों या सभी दूसरे शहरों की तरह सेक्स ऐक्ट के कुछ केंद्र ही थे। परिवार की चौहद्दी में बना माता-पिता का बेडरूम था जिसे सेक्स ऐक्ट के एकमात्र स्थायी और वैध केंद्र के रूप में देखा जा सकता था। यौन क्रिया के कुछ अवैध केंद्र भी थे जिनमें परिवार की ही तरह तक़रीबन अनंत काल से चली आ रही उतनी ही स्थायी क़िस्म की संस्था चकला घर प्रमुख थी। दिल्ली के संदर्भ में इसे हम जी.बी. रोड के नाम से जानते हैं। इधर-उधर बिखरा हुआ कॉलगर्ल्स का एक धंधा था जिसने अकसर गिरफ़्तार हो जाने वाले कमलजीत नाम के एक दलाल की शख़्सियत को एक तरह की कुत्सित आभा से भर दिया था। इसके अलावा सात परतों के नीचे दफ़्न कौटुम्बिक कामाचार (इंसेस्ट) था। विवाहेतर संबंधों की अवैध दास्तानें थीं जिनका ज़िक्र वैध तरीके से करने पर पाबंदी थी। हस्तमैथुन की शाश्वत क्रिया थी जिसके कारण धरती पर गिर रहे वीर्य के एक-एक क़तरे से मर्दाना ताक़त के क्षय की चीत्कार निकलती रहती थी। ख़ानदानी शफ़ाख़ाने के हकीम साहब थे जिनकी रामबाण दवाओं के विज्ञापनों से दिल्ली के पेशाबघरों की दीवारें सजी रहती थीं। मध्यवर्गीय भद्र समाज में थोड़े से दाग़ी क़िस्म के समलैंगिक भी थे जिनके 'ऐक्टिव' या 'पैसिव' होने की खुसफुसाहट सामाजिक गॉसिप का स्थायी अंग थी। कुल मिलाकर यह एक ऐसी सेक्शुअॅलिटी थी जो पूरे देश में कहीं भी पायी जा सकती थी, ख़ासकर किसी भी शहरी समाज में इसके अंश मिल सकते थे। इस सेक्शुअॅलिटी पर आधुनिक शहरी जीवन के आदिम रूपों की छाया थी। इसे उन वक़्तों की छाप कहा जा सकता था जब पूँजीवाद की संस्कृति भारतीय शहरों में उत्पादन के दावों के साथ नमूदार हुई थी और भारतीय पूँजीवाद मितव्ययिता के पब्लिक सेक्टरी दौर से गुज़र रहा था। राष्ट्रीय बचत का मुहावरा अर्थव्यवस्था के केन्द्र में था, और यौन जीवन के केन्द्र में वीर्य को बचा कर रखने का आग्रह छाया हुआ था। शहरी मध्यवर्ग को तरह-तरह की विचारधाराओं से दुनियावी मोक्ष की उम्मीद थी। यौन ऊर्जा का प्रचलित मतलब मर्दानगी ही होता था। जिसे यूजेनिक्स जैसे सूत्रीकरणों के ज़रिये राष्ट्र-निर्माण की महापरियोजना में लगाने की तजवीज़ें उस समय तक पुरानी नहीं पड़ी थीं।[6] कंडोम परिवार नियोजन के मुहावरे से बाहर नहीं निकल पाया था। ब्रह्मचर्य और देशभक्ति के निजी रिश्तों की प्रामाणिकता को 'नॉनवेज लतीफ़ों' ने भंग नहीं किया था। वेश्याओं ने ख़ुद को 'सेक्स वर्कर' के रूप में पेश करना शुरू नहीं किया था।

उस ज़माने में फ़ैशन या तो फ़िल्मी ऐक्टरों की ठेकेदारी था, या फिर उसे ऊपरी तबक़े के लोगों की अदाबाज़ी का नाम दिया जाता था। प्रेमी-प्रेमिका दो अलग-अलग कम्पार्टमेंटों में रहते हुए प्रेमपत्र लिखते रहने के लिए अभिशप्त थे और तीस हज़ारी के सिविल मैरेज कोर्ट से बाहर निकलते ही रोमांस के छीजने की प्रक्रिया

शुरू हो जाती थी। क़ानूनी घोषित हो जाने के बाद भी गर्भपात की घटना रुसवाई का कारण बन सकती थी। चरम आनंद के लिए छटपटाती उन्नत उरोजों वाली काल्पनिक नायिकाओं को तृप्त करने वाले विकराल शिश्नों की भीषण स्तम्भनशक्ति के दर्शन केवल मस्तराम द्वारा रचित क्लासिक पॉर्न उपन्यासों में ही हो सकते थे। ज़ाहिर है कि इन सेक्शुॲलिटी की भूमिका समाज के लिए किसी भी तरह विधेयक नहीं थी। इसके आईने में समाज परिवर्तन की शक्ल देखना नामुमकिन था। यह सेक्शुॲलिटी इंसान की शख़्सियत को परिभाषित करने वाले उस 'सार तत्त्व' का रूप नहीं ले पायी थी जो हर व्यक्ति के लिए विलक्षण होता है। यह तो ज़्यादा से ज़्यादा आनुषंगिक भूमिका ही निभा सकती थी, क्योंकि हर हालत में इसके तहत आयोजित होने वाला सेक्स ऐक्ट विवाह की पवित्र संस्था द्वारा स्थापित प्रजनन के कतर्व्य की सीमाओं में बँधा हुआ था।

दिल्ली को उसकी विशिष्ट सेक्शुॲलिटी मिलनी तब शुरू हुई जब भारतीय पूँजीवाद का विकास एक ख़ास चरण में पहुँचा। यौन क्रांति के संदर्भ में दुनिया भर का तजुर्बा बताता है कि फ़्री मार्केट और फ़्री सेक्स काफ़ी कुछ अन्योन्याश्रित प्रत्यय हैं। सेक्स एक दैहिक हक़ीक़त है। लेकिन, सेक्शुॲलिटी देह पर केंद्रित होते हुए भी देह के दायरे में क़ैद नहीं होती। इतिहास और संस्कृति के औज़ार उसे बनाते हैं। आधुनिकीकरण एक ख़ास मुक़ाम पर पहुँच कर ऐसे हालात तैयार करता है जिनमें अभी तक ख़ामोश रही सेक्शुॲलिटी हज़ार ज़ुबानों से बोलने लगती है। इंसान अपने वैयक्तीयन (इंडिविडुएशन) के बिना आधुनिक नहीं होता और इंसान की सेक्शुॲलिटी कामनाओं के ज़रिये वैयक्तीयन को आत्मगत आधार देती है। आधुनिकीकरण, पूँजीकरण, जिंसीकरण और बाज़ार यौन क्रिया और प्रजनन को एक अनिवार्य रिश्ते में बँधा नहीं रहने देते। संतानोत्पत्ति से रिश्ता टूटते ही सेक्स देह के आनंद का प्रबल स्रोत बन कर उभरता है। यौन संबंधों की एकनिष्ठता सात जन्मों का साथ नहीं रह जाती और जीवन निजी रिश्तों की अलग-अलग कहानियों में बँटा हुआ उपन्यास हो जाता है। यौन दमन पर बहस छिड़ जाती है। वीर्य संरक्षण पर टिकी हुई मर्दानगी को हस्तमैथुन (मास्टरबेशन) चुनौती देने लगती है। देह व्यापार पर आरोपित हज़ारों साल पुरानी अनैतिकता को वेश्याओं का यह नारा पलट देता है कि उन्हें 'सेक्स वर्कर' समझा जाना चाहिए। औरत की ऐंद्रिकता का विधान ही नये सिरे से बनता है। वह समझने लगती है कि पति के सामने पेश किये जाने के अलावा भी उसकी देह के कई उपयोग हो सकते हैं। वह देखती है कि पहली बार 'सेक्स गॉडेस' के तौर पर म्यूज़िक चैनलों पर होने वाले उसकी देह के छायानुवाद में वैशाली की नगरवधू की तरह अपमान के तत्त्व नहीं हैं। आर्थिक मजबूरियों के बिना भी स्वैच्छिक चुनाव से देह व्यापार में उतरने वाली रूपजीवाओं का प्रतिशत बढ़ने लगता है। इस माहौल में स्त्री जैसे ही यौन संतुष्टि की दावेदारी करती है, पितृसत्ता की चौधराहट गड़बड़ाने लगती है। दृश्यरति (वॉयरिज़्म या पोर्नोग्राफ़ी) का ऊपर से नीचे तक और दायें से बायें तक प्रसार हो जाता है। छोटा परिवार अधिक यौनानंद की गुंजाइशों के साथ उभरता है। *कामसूत्र* जैसे कंडोम ब्रांड चरम आनंद और सुरक्षित सहवास के दावे के साथ बाज़ार में उतरते हैं। कंडोम पर इतरलैंगिक इजारेदारी ख़त्म हो जाती है और हेटरोसेक्शुॲलिटी का मुँह होमोसेक्शुॲलिटी चिढ़ाने लगती है। रूमानी प्रेम का चरम उत्कर्ष अपनी ख़ुदी को मिटा देने वाले हेटरोसेक्शुॲल उत्कट प्रेम में न हो कर अपनी-अपनी इयत्ता को बरक़रार रखने की शर्त वाले उस प्रेम में होता है जो हेटरो भी हो सकता है और होमो भी। सेक्स ऐक्ट अपनी विविधताओं के साथ गोपनीयता से बाहर निकल कर 'पब्लिक सेक्स' का रूप ले लेता है। निजी जीवन की ज़मीन पर पकने वाली कामनाओं की फ़सल इंसान को अपनी सेक्शुअल पहचान का उत्सव मनाने के लिए उकसाती है। इस पहचान के ज़रिये न जाने कितनी उत्तर-आधुनिक बग़ावतें होने लगती हैं। यह केवल सेक्शुअल वैयक्तीयन ही है जिसमें परिवार की प्राक्-आधुनिक संस्था को बुनियादी तौर पर बदलने की क्षमता होती है।

निजी पूँजी, बाज़ार, ग़ैरधार्मिक शिक्षा, संचार और परिवहन के नये साधन, आदि भी सेक्शुअल पहचान और उसके आधार पर होने वाले वैयक्तीयन पर गहरा असर डालते हैं। ये नया मुहावरा, नया प्रोत्साहन और नया स्पेस देते हैं। आधुनिकीकरण के ये सभी पहलू शहरी ज़मीन पर ही पनपते हैं, इसलिए सेक्शुॲलिटी शहरों में ही सूत्रबद्ध होती है और वहीं ख़ुद को व्यक्त करती है। वैयक्तीयन का सिलसिला शहरी जीवन की ज़मीन पर चलता है। शहर में आप बेहद खुला जीवन जीते हुए भी निजी तौर पर एक ख़ास तरह की सीक्रेसी क़ायम रख सकते हैं, यहाँ तक कि आपकी एक सीक्रेट लाइफ़ भी हो सकती है। कोई चाहे तो एक सामूहिक सीक्रेसी का

दायरा भी क़ायम कर सकता है। 'स्ट्रेट' यानी हेटरोसेक्शुअल लोग समझते हैं कि शहर उनका है, पर एक ख़ुफ़िया तौर पर अनदेखे-अनजाने 'क्वीयर' यानी होमोसेक्शुअल होगों का भी होता है। सेक्शुऑलिटी का 'कमिंग आउट' संदेश देता है कि शहर के पार्कों, बस स्टॉपों, टॉयलटों, पबों, रेस्त्राओं, मल्टीप्लेक्सों, रात के अड्डों और ऐसे ही न जाने कितने स्पेसों के तात्पर्य और इस्तेमाल एक नहीं बल्कि दो हो चुके हैं। ठीक उसी तरह जैसे कभी फ़्रॉयड ने बीसवीं सदी की शुरुआत में हमें बताया था कि इंसान की देह का हर अंग एक नहीं, दो काम करता है एक काम क़ुदरती और दूसरा सेक्शुअल। फ़्रॉयड की यह बात शहरी स्पेसों पर भी लागू होती है। सेक्शुऑलिटी के 'कमिंग आउट' में नये समुदायों के उदय की गुंजाइश रहती है। इस तरह आधुनिकीकरण के तहत शहर के भीतर पनपते नये शहर की शिनाख़्त सेक्शुऑलिटी की नयी अभिव्यक्तियों के आईने में होती है। सेक्शुऑलिटी के नये रूप नये शहर का सुराग़ देते हैं।

देह और दैहिक आनंद की केंद्रीयता के कारण प्रेम, मित्रता, भाईचारे और रक्त संबंधों की शक्ल कुछ से कुछ हो जाती है। एक ज़बर्दस्त बहस छिड़ जाती है जिसमें पूरा मास मीडिया, बुद्धिजीवी हलक़े, सरकार, राजनीतिक पार्टियाँ, धर्माचार्य, मानवाधिकारों के समर्थक, तरह-तरह के नैतिकतावादी और मूर्तिभंजक पक्ष-विपक्ष में खड़े नज़र आते हैं। साहित्य में, ख़ास कर कथा साहित्य में सेक्स ऐक्ट की राजनीति मुखर हो जाती है। सार्वजनिक जीवन में सेक्स स्कैंडलों का लम्बा सिलसिला शुरू हो जाता है। एक तरफ़ यौन क्रांति का झंडा बुलंद होता है, और दूसरी तरफ़ मुक़ाबले में सेलिबेसी (ब्रह्मचर्य) का भजन होने लगता है। सेक्शुऑलिटी पर होने वाली बहस के कारण बनने वाले समीकरणों की शक्ल अलग होती है। राजनीतिक विमर्श हैरत से देखता है कि उसे शहरी जीवन के उन तजुर्बों पर भी राय देनी है जो अब तक सार्वजनिक चर्चा के योग्य नहीं माने जाते थे। राजनीतिक लोकतंत्र, आर्थिक लोकतंत्र, सामाजिक लोकतंत्र और लैंगिक लोकतंत्र से अलग सेक्शुअल लोकतंत्र और सेक्शुअल नागरिकता के विचार से वह भौचक्का रह जाता है। हर विचारधारा के उदारतावादी और रेडिकल अकसर पूरी तरह अनुदार और प्रतिगामी साबित की जा सकने वाली पेशकश करते हुए पकड़े जाते हैं। विरोधाभास यह होता है कि सेक्शुअल लोकतंत्र के सवाल पर ब्राह्मणों और दलितों में प्रवक्ताओं की राय एक हो सकती है। जब अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर सेक्शुअल रुझान को मानवाधिकारों से गिनने की बहस होती है तो सारे आपसी झगड़े भुला कर भारत की सरकार पाकिस्तान की सरकार के पीछे चलती नज़र आती है। जेंडर लोकतंत्र वालों को घोर दक्षिणपथियों, अनुदारपंथियों और धर्माचार्यों की भाषा बोलते हुए देखा जा सकता है। वर्किंग क्लास में काम करने वाला कम्युनिस्ट पार्टी का पूर्णकालिक कार्यकर्ता और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का जीवनदानी प्रचारक बिल्कुल एक सी बात करते नज़र आ सकते हैं। शहर की सेक्शुऑलिटी जब अपनी हज़ार ज़ुबानों में बोलती है तो मार्क्सवादी, गांधीवादी, सांस्कृतिक राष्ट्रवादी और यहाँ तक कि आधुनिकतावादी तक उसके सवालों का जवाब नहीं दे पाते। सेक्शुऑलिटी के मुद्दे को सबसे पहले प्रचलित करने वाला नारीवाद भी ख़ुद को इस माहौल का स्वाभाविक अंग नहीं समझ पाता। सेक्शुअल मुद्दे इन विचारधाराओं को ऊपर से नीचे और दायें से बायें पूरी तरह विभाजित कर देते हैं।

नब्बे के दशक की शुरुआत में नरसिंह राव और मनमोहन सिंह ऐण्ड कम्पनी ने एडम स्मिथ के 'इनविज़िबिल हैंड' को जैसे ही खुली छूट दी, 'मैडम स्मिथ के विज़िबिल हेंड' ने अपनी करामात दिखानी शुरू कर दी। मुंबई से प्रकाशित होने वाली *डिबॉनेयर* उस समय तक भारत में *प्लेबॉय* शैली की शायद एकमात्र पत्रिका थी। इस पत्रिका ने अपने पाठकों के बीच 1991 में एक सर्वे कराया जो अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे शहरी मर्दों के यौन व्यवहार की एक झलक पेश करता था। सर्वे के नतीजों को दो समाज वैज्ञानिकों — मीरा सवारा और सी.आर. श्रीधर — से विश्लेषित कराया गया। इसके बाद सेक्स सर्वेक्षणों का सिलसिला शुरू हो गया। इसके फ़ौरन बाद *सैवी* नामक महिला पत्रिका ने अंग्रेज़ी पढ़ी-लिखी शहरी स्त्रियों के यौन व्यवहार पर सर्वे किया जिसके नतीजों का विश्लेषण करने के लिए एक बार फिर इन्हीं दोनों विद्वानों की सेवाएँ ली गयीं। 1983 में एड्स का रोग प्रकाश में आया और 1986 में भारत में पहले एड्स रोगी की शिनाख़्त हुई। सारी दुनिया इस लाइलाज महारोग से आक्रांत थी। इस रोग के फैलने के कई कारणों में से दो प्रमुख कारण असुरक्षित हेटरोसेक्शुअल सम्भोग और असुरक्षित होमोसेक्शुअल सम्भोग थे। एड्स के डर ने विश्व संस्थाओं को देह व्यापार के दायरों और होमोसेक्शुअल दायरों की जाँच करने का कार्यक्रम दिया। तीसरी दुनिया के देशों में सेक्शुऑलिटी के विमर्श की शुरुआत करने और

उसके ज़रिये सेक्शुअॅलिटी को ज़ुबान देने का श्रेय एक तरह से इस महारोग को भी जाता है। *डिबॅनेयर* और *सैवी* के सेक्स सर्वेक्षणों के बाद तरह-तरह के सर्वेक्षणों का सिलसिला शुरू हो गया। सरकारी विभाग, ग़ैर-सरकारी संगठन और मीडिया के संस्थान पिछले चौदह साल में बार-बार तरह-तरह के सर्वेक्षण करके यह पता लगाने का प्रयास करते दिखे कि देश के शहरों की सेक्शुअॅलिटी का सूचकाँक क्या है और ख़ासकर दिल्ली की सेक्शुअॅलिटी का सूचकाँक क्या है। 1990 से 1995 के बीच किये गये इन सर्वेक्षणों में दिल्ली मुंबई से पीछे थी, पर सन 2000 के बाद हुए सर्वेक्षणों में वह देश के पहले नम्बर के सेक्शुअल सिटी की तरह उभरी।[7]

नज़रिये के लिहाज़ से इन सर्वेक्षणों की सीमाएँ अपने-आप में स्पष्ट हैं। उनमें से कोई केवल शारीरिक सहवास की विधियों और कोई सिर्फ़ यौन शिक्षा के नज़रिये से किया गया है, किसी पर प्रजनन संबंधी स्वास्थ्य का नज़रिया हावी है तो कोई सिर्फ़ एड्स विरोधी अभियान का ही नतीजा है। आमतौर पर ये सर्वेक्षण सेक्स संबंधी प्रश्नों को औरत और मर्द के बीच ऊँच-नीच के सत्ता संबंधों की रोशनी में सूत्रबद्ध नहीं करते। इन सर्वेक्षणों का यह प्रिय सवाल होता है कि 'पिछले महीने आपने कितनी बार यौन क्रिया की', लेकिन कुछ उल्लेखनीय अपवादों को छोड़ कर इसके साथ ये सवाल नहीं पूछे जाते कि यौन क्रिया में किसने पहल की, परिस्थितियाँ क्या थीं, क्या दोनों पार्टनरों में से किसी ने कभी यौन क्रिया का प्रस्ताव ठुकराया भी, क्या इसके बावजूद यौन क्रिया हुई, कुल मिलाकर यौन क्रिया पर सहमति बनी या नहीं, अगर सहमति बनी तो यौन क्रिया के साथ किस तरह की बाध्यताएँ जुड़ी हुई थी, क्या हिंसा या घरेलू कलह के खुले या छिपे अंदेशे भी उसके साथ जुड़े हुए थे, आदि। ज़ाहिर है कि इन सर्वेक्षणों की पद्धति और मंशा पर काफ़ी आपत्तियों की गुंजाइश है, पर इसके बावजूद उनसे विभिन्न अंतर्दृष्टियाँ मिलती हैं। इनसे इतना संदेश तो मिलता ही है कि अगर कोई पूछताछ करने और बात करने के लिए तैयार हो तो पढ़े-लिखे शहरियों में से कई अपनी सेक्शुअॅलिटी को व्यक्त करना चाहेंगे। ये सर्वेक्षण बताते हैं कि शहर के वासी अंधेरे और बंद शयन कक्षों में ख़ामोशी से सम्भोग करते-करते ऊब चुके हैं। वे प्रयोग के मूड में हैं और आज़मा कर देखना चाहते हैं कि वात्स्यायन ने जिन चौंसठ कलाओं और चौरासी आसनों का जिक्र किया है, उनकी व्यावहारिक निष्पत्तियाँ क्या हैं। हालाँकि नेशनल फ़ैमिली प्लैनिंग एसोसियेशन जैसी संस्थाओं ने भी शहरी युवक-युवतियों की सेक्शुअॅलिटी का सर्वे करके इस प्रक्रिया में अपना योगदान किया, पर समाचार माध्यमों ने इसमें प्रमुख भूमिका निभायी। नब्बे के दशक में ही वर्ल्ड वाइड वेब (डब्ल्यू.डब्ल्यू.डब्ल्यू.) जैसी परिघटना सामने आयी और इंटरनेट ने सेक्शुअॅलिटी की दुनिया को राष्ट्रीय सरकारों के सेंसर की सीमाओं से बाहर कर दिया। इंटरनेट के कारण सर्वे करना आसान हो गया। 2003 में हुआ 'कामसूत्र क्रॉस-टैब सेक्स सर्वे' तीन डॉट कॉम पोर्टलों ने ही मिल कर किया था। त्रिआयामी संचार क्रांति (सेलुलर फ़ोन, इंटरनेट और उपग्रही चैनल) के साथ ही सेक्शुअॅलिटी के हज़ार ज़ुबानों से बोलने के हालात बन गये।

इन परिस्थितियों ने दिल्ली में दैहिक कामनाओं का भूगोल मुखर कर दिया। यह दिल्ली में ही सबसे ज़्यादा क्यों हुआ, इसकी वजह दिल्ली की तवायफ़ों, उनके ग्राहकों, दिल्ली के समलैंगिकों और दिल्ली के हिजड़ों के महानगरीय (कॉस्मोपॉलिटन) चरित्र में ही नहीं है, बल्कि इस हक़ीक़त में भी है कि दिल्ली की तक़रीबन आधी आबादी फ़्लोटिंग है। इसे हम उखड़े हुए लोगों का शहर कह सकते हैं। इस मामले में दिल्ली मुंबई, कोलकाता, बंगलूर और चेन्नई जैसे महानगरों से बहुत आगे है। नब्बे के दशक की शुरुआत में दिल्ली की ऐसी आबादी क़रीब 42 फ़ीसदी थी जो केवल चौदह साल में बढ़ कर 50 फ़ीसदी हो गयी है। तेज़ी से विकसित होती हुई सार्वदेशिकता के कारण दिल्ली की आबादी को एक छोटे भारत की संज्ञा दी जा सकती है। आईटी प्रोफ़ेशन से लेकर अर्थव्यवस्था के तीसरे क्षेत्र, जिसे हम सर्विस सेक्टर कहते हैं, ने फ़ैशन और विज्ञापन उद्योग के साथ मिल कर इस उखड़ी हुई आबादी के सेक्शुअल अभिजन का निर्माण किया है। उखड़े हुए लोग सेक्शुअल एडवेंचर की संभावनाओं से लैस होते हैं, क्योंकि भूगोल-परिवर्तन उनकी कामनाओं पर उन नैतिकताओं वर्जनाओं की जकड़ ढीला कर देता है जो उन्होंने अपने जन्म स्थान पर परिवार और कुटुम्ब की छाया में हुए लालन-पालन के दौरान आत्मसात की थीं।

दिल्ली के रेडलाइट एरिया जीबी रोड के 82 चकलाघरों में धंधा करने वाली क़रीब तीन हज़ार तवायफ़ों में ज़्यादातर आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पंजाब, गुजरात और यहाँ तक कि नेपाल की

हैं। इन तवायफ़ों में से कई दिल्ली में एक सीक्रेट लाइफ़ गुज़ारती हैं। वे साल में एक बार अपने बच्चों और परिवार के साथ रहने जाती हैं। वे लोग उनके चकलाघर वाले जीवन को नहीं जानते। इसी तरह कनॉट प्लेस के सेंट्रल पार्क में या अशोक होटल के पास नेहरू पार्क में या फिर धौला कुआँ के बस स्टैंड पर या फिर लालक़िले से कश्मीरी गेट के बीच रोज़ शाम को सेक्स पार्टनरों की तलाश करते हज़ारों समलैंगिकों और हिजड़ों के बीच किसी एक क्षेत्र की इज़ारेदारी नहीं मिलेगी। समलैंगिकता के प्रवक्ताओं का दावा है कि दिल्ली देश की 'गे राजधानी' बन चुकी है। सिर्फ़ दिल्ली में बिकने वाले अख़बारों में छपने वाले हेटरोसेक्शुअल डेटिंग कॉलमों में भी दिल्ली की एक बेहद तेज़ी से बढ़ती हुई सेक्शुअल सार्वदेशिकता का नमूना मिल सकता है। इंटरनेट पर सेक्शुअॅलिटी के हिसाब से अलग-अलग चैट रूम प्रचलित हैं। उनमें घुसपैठ करने पर पता लगता है कि दिल्ली की सेक्शुअॅलिटी कितनी सर्वभारतीय क़िस्म की है। सार्वदेशिकता और उखड़ी हुई आबादी के साथ-साथ बीसवीं सदी के आख़िरी दस सालों में दिल्ली को अपने आधुनिक इतिहास में पहली बार पाँच नये स्पेस मिले जिनके कारण अंतरंग रिश्तों में तब्दीली आने की गुंजाइश बनी। पहला स्पेस ऑटोमोबाइल क्रांति ने मुहैया कराया जो अस्सी के दशक के मध्य में शुरू हुई थी और नब्बे के दशक में चरम पर पहुँची। दूसरा स्पेस सेलुलर फ़ोन ने दिया। तीसरा स्पेस ऑडियो-विज़ुअल क्रांति और इंटरनेट के ज़रिये मिला। चौथा स्पेस डिस्कोथीक और पब संस्कृति के साथ-साथ नये उत्तर-आधुनिक कहवाघरों और मल्टीप्लेक्सों ने तैयार किया। और, पाँचवां स्पेस बाज़ार और उपभोक्ता क्रांति ने दिया।

कार ने मोबाइल प्राइवेसी दी और दैहिक प्रेम की सम्भावनाओं को भौतिक रूप से गतिशील बना दिया। सेलफ़ोन का स्पेस तो शुद्ध मोबाइल साबित हुआ। उसके कारण रोमांटिक लव की काफ़ी मुश्किल घटना चुटकी बजाने जितनी सरल हो गयी। इंटरनेट ने पहली बार इस समस्या का समाधान पेश किया कि वर्चुअल रियलिटी ओर रियलिटी में क्या अंतर है। फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ लव के इलाक़े में यह बहस अनंत काल से चल रही थी। इंटरनेट ने वर्चुअल रियलिटी को रियलिटी के समकक्ष ला बैठाया। प्रेम वर्चुअल होते हुए भी वर्चुअल नहीं रह गया। जिस साइबर कैफ़े में मेल चेक करने के लिए जाया जाता है, उसी कैफ़े में इंटरनेट पर पॉर्न सर्फ़िंग होने लगी। ध्यान रहे कि इंटरनेट एक ऐसा स्पेस भी है जहाँ दृश्य पोर्नोग्राफ़ी भारतीय चरित्रों के साथ मौजूद है। जब बीसवीं सदी ख़त्म हुई थी तो भारत इंटरनेट पर पॉर्न के एक बड़े केंद्र के रूप में उभर चुका था। करीब 18000 पूरी तरह से भारतीय पॉर्न साइटें बन चुकी थीं और उनके सैम्पल नेटिज़ंस को मुफ़्त में उपलब्ध थे। इन तमाम पॉर्न साइटों के सर्वर विदेशों में हैं। प्रौद्योगिकीय विकास ने इंटरनेट पॉर्न को डाउनलोड करके सीडी और डीवीडी में उतार कर बाज़ार में बेचना बेहद आसान कर दिया। सेलफ़ोन, एसएमएस और ई-मेल ने सीक्रेट लाइफ़ को प्रेमपत्रों की दुनिया से निकाल कर कहीं ज़्यादा बड़ी रफ़्तार और बारम्बारता प्रदान की। ऑडियो-विज़ुअल क्रांति ने पोर्नोग्राफ़ी के ज़रिये सेक्स ऐक्ट को मनी शॉट, मीट शॉट और बीवर शॉट की तकनीकों से दिखाया। स्वयं सेक्स करते हुए इस कार्रवाई को इस प्रकार देखना असम्भव था। सेक्स ऐक्ट की वास्तविक और फ़र्ज़ी सम्भावनाओं का अनंत उद्घाटन हुआ। कहवाघरों और मल्टीप्लेक्सों ने शहर के अंधेरे कोनों को रोशन कर दिया। दिल्ली के मध्यवर्ग को पहली बार बाक़ायदा एक नाइट लाइफ़ मिली। पश्चिमी तर्ज़ के नाचघरों में मद्यपान करते हुए जोड़ों के सामूहिक नृत्य ने शारीरिक स्पर्श और अंतरंगता के सर्वथा नये अनुभव का सृजन किया। तरह-तरह की थीम पार्टियों का फ़ैशन धनाढ्यों के दायरे से निकल कर जल्दी ही मध्यवर्ग में प्रचलित हो गया। पश्चिम में मची यौन उथल-पुथल में उपभोक्ता क्रांति की महत्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। दिल्ली में इस समय उपभोक्ता क्रांति भी चरम पर है। धन की 'स्पेंडिंग' और वीर्य की 'स्पेंडिंग' एक-दूसरे को पर्यायवाची हो गये हैं। शॉपिंग के ज़रिये कामनाओं की आर्गेज़्मिक पूर्ति का दावा किया जाता है और यौन संदर्भों में इस्तेमाल की जाने वाली शब्दावली उपभोक्ता गतिविधियों में जम कर इस्तेमाल की जा रही है। विज्ञापन जगत ने घोषित कर दिया है कि सेक्स माल बेचने के सर्वाधिक आकर्षक माध्यमों में से एक है। इस तरह दिल्ली देश के एक ऐसे महानगर के रूप में उभरा जिसकी न केवल पचास फ़ीसदी आबादी फ़्लोटिंग थी, बल्कि जिसमें सबसे ज़्यादा कारें थीं। जहाँ सबसे ज़्यादा लोग सेलफ़ोन इस्तेमाल कर रहे थे। जहाँ ज़्यादा मल्टीप्लेक्स और नये कहवाघर थे। दिल्ली के बाशिंदे ख़रीद-फ़रोख़्त पर देश में सबसे ज़्यादा ख़र्च कर रहे थे। यह कोई संयोग ही नहीं है कि पश्चिम में यौन क्रांति की अवधि वही

है जब वहाँ पहली बार मोटरचालित वाहनों की क्रांति हुई थी। वहाँ केवल एक नया मोबाइल स्पेस यौन क्रांति की चिंगारी सुलगाने के लिए काफ़ी था। दिल्ली में तो ऐसे पाँच-पाँच स्पेस हैं जिन्हें इस शहर ने देश के किसी भी अन्य क्षेत्र की अपेक्षा सबसे ज़्यादा उत्सुकता के साथ अपनाया है।

अंजलि कपूर से शेफाली ज़रीवाला तक: सेक्शुअॅलिटी का इतिहास बतर्ज़ मीडिया

नब्बे का दशक दिल्ली के लिए नयी अर्थ नीति का ही नहीं नयी सेक्शुअॅलिटी का दशक भी समझा जाना चाहिए। फरवरी 1995 कोई बहुत पुरानी तारीख़ नहीं है। लेकिन, मीडिया की निगाहों से देखें तो वक़्त की वर्चुअल रफ़्तार के कारण दिल्ली की सेक्शुअॅलिटी के पिछले दस-बारह साल के इतिहास में यह तारीख़ दशकों पुरानी बर्फ़ में जमी हुई लगेगी। इसी महीने एक शनिवार को बार काउंसिल ऑफ़ इंडिया ने काफ़ी उत्तेजक वाद-विवाद के बाद फ़ैसला किया था कि वह अपनी एक महिला सदस्य के ख़िलाफ़ कार्रवाई करेगा। एडवोकेट अंजलि कपूर ने वकील के रूप में अपने पेशे से संबंधित कोई आपत्तिजनक काम नहीं किया था। उन पर आरोप यह था कि उन्होंने एक पोर्नोग्राफ़िक पत्रिका में अपनी नंगी तस्वीरें छपवा कर वकीलों की शान में बट्टा लगा दिया है। बार काउंसिल ने जैसे ही यह निर्णय लिया, नारी अधिकारों के लिए संघर्षरत महिला संगठनों में बहस शुरू हो गयी कि क्या किसी महिला को अपनी देह के इच्छानुसार इस्तेमाल का अधिकार नहीं मिलना चाहिए? महिला संगठन एक तरफ़ तो अंजलि कपूर के इस अधिकार के पक्ष में खड़े थे, और दूसरी तरफ़ महिलाओं ने दिल्ली हाईकोर्ट में पोर्नोग्राफ़िक पत्रिकाओं के प्रकाशन पर रोक लगाने के लिए याचिका भी दायर कर रखी थी। बहस में सीधे-सीधे दो पक्ष थे: एक तरफ़ ऋतु मेनन जैसे नारीवादियों की आवाज़ थी जिसका दावा था कि औरतों को पोर्नोग्राफ़िक सामग्री पढ़ने में कोई दिलचस्पी नहीं होती; दूसरी तरफ़ विमेंस पॉलिटिकल वॉच की अध्यक्ष वीणा नैयर जैसी हस्तियाँ थीं जिनकी मान्यता थी कि 'औरत का भी मर्द की ही तरह एक सेक्शुअल वजूद होता है। निश्चित रूप से पोर्नोग्राफ़िक पत्रिकाओं का एक महिला पाठक वर्ग भी है।' इस बहस में महिला दक्षता समिति की विनय भारद्वाज की राय भी उल्लेखनीय थी। वे अंजलि कपूर के अधिकार की पैरोकारी करते हुए भी कह रही थीं कि उनकी अपनी किशोर वय की पुत्री के लिए ऐसी कोई औरत न तो अनुकरणीय आदर्श हो सकती है और न ही होगी। अंजलि कपूर का क्या हुआ, यह किसी को आज तक पता नहीं है। सुरक्षित रूप से माना जा सकता है कि वे दिल्ली की किसी मध्यवर्गीय कॉलनी में एक अनाम ज़िंदगी बिता रही होंगी। उस समय किसी पत्रकार या किसी एथनोग्राफ़र ने उनसे यह पूछने की ज़हमत नहीं उठायी कि आख़िर वकालत जैसे पेश से जुड़े होने के बाद भी उन्होंने न्यूड मॉडल बनना क्यों स्वीकार किया था। क्या वे अपनी सेक्शुअॅलिटी व्यक्त करने के लिए बेचैन थीं, या किसी दबाव, धोखे या आर्थिक प्रलोभन के वशीभूत हो कर उन्होंने अपनी देह का ऐसा इस्तेमाल होने दिया?[8]

सन् 2003 में दो मई को इंजीनियरिंग की बीस वर्षीय छात्रा शेफाली ज़रीवाला ने जैसे इसी सवाल का जवाब दिया हो, 'यह इक्कीसवीं सदी है। आख़िर लोगों को पॉर्न मैगज़ीन पढ़ने से क्यों हिचकना चाहिए?' ये वही शेफ़ाली ज़रीवाला थीं जो *डीजे डॉल* नामक सुपरहिट म्यूज़िक विडियो की शुरुआत में ही पब में अपने बॉय फ्रेंड का इंतज़ार करते हुए एक पॉर्न पत्रिका पढ़ती नज़र आती हैं और अपने प्रेमी के नाराज़ होने के बावजूद आख़िर तक उसे नहीं फेंकतीं। वे उसे मनाने के लिए 'काँटा लगा' की तर्ज़ पर कामोद्दीपक नृत्य करते हुए उस पत्रिका को जलाने की एक्टिंग भी करती हैं, पर जब म्यूज़िक वीडियो ख़त्म होता है तो कैमरा दर्शकों को दिखाता है कि उनकी कमर में प्रेमी की बाँह है पर पीछे बेल्ट में वही अधजली पॉर्न पत्रिका खुसी हुई है। *डीजे डॉल* एक ऐसा म्यूज़िक वीडियो है जो सुबह से शाम तक कम से कम पाँच बार टीवी के किसी न किसी चैनल पर पूरे साल दिखाया जाता रहा। इसके ऑडियो को पूरे उत्तर भारत के चौराहों और विवाह समारोहों में लगातार बजते हुए सुना जा सकता था। अंजलि कपूर के न्यूड्स सिर्फ़ इतना साबित कर पाये थे कि शहर में सेक्शुअल अभिव्यक्ति का जोखिम उठाकर बीच बहस में आने के बावजूद इंसान अनाम रह कर ज़िंदगी गुजार सकता है, पर पोर्नोग्राफ़ी पढ़ती हुई शेफ़ाली को मीडिया और मार्केट ने नयी पीढ़ी के लिए एक नयी नायिका का दर्जा दे दिया। 'काँटा लगा' एक ऐसे क्षण के रूप में उभरा जिसे इतिहास में दर्ज कराने के लिए न तो किसी पत्रकार की ज़रूरत थी और न ही किसी एथनोग्राफ़र की। शहरी सेक्शुअॅलिटी को इसके ज़रिये एक नयी परिभाषा मिली। प्राइवेट पब्लिक

हो गया। पोर्नोग्राफ़ी से निकलने वाली दृश्यरति (वॉयरिज़्म), मद्यपान और समूह नृत्य के देह-केंद्रीय पहलू (प्रदर्शनप्रियता), सेक्स की ताक़त, उसकी बेचैनी और शहरी स्पेस की ऐंद्रिकता साकार हो गयी।

दिल्ली का मीडिया यहीं नहीं रुका। उसने आधुनिक दुनिया की सबसे पहली, सबसे कामयाब और सबसे मशहूर सेक्स मैगज़ीन की गोल्डन जुबली समारोहपूर्वक मनायी। *प्लेबॉय* का इतिहास जानने के लिए किसी को खुशवंत सिंह के पास जाने की ज़रूरत नहीं पड़ी। क़रीब बीस साल पहले खुशवंत देश के उन कुछ एक लोगों में से एक थे जो *प्लेबॉय* के अंक बाक़ायदा घोषित रूप से आयात करते थे। हवाई अड्डे पर अश्लीलता के आरोप में पत्रिका ज़ब्त हो जाने पर उनकी क़लम इसे अपने लोकतांत्रिक अधिकारों का हनन करार देती थी। मीडिया की दुनिया में माना जाता था कि सरदारजी के पास *प्लेबॉय* के सभी गर्मागर्म अंक सिलसिलेवार होंगे। लेकिन, उनके निजी अभिलेखागार में जाने की ज़हमत उठाये बिना दिल्ली वालों को जुलाई 2003 के मध्य में *प्लेबॉय* का तक़रीबन पूरा इतिहास समारोहपूर्वक पता चल गया। दिल्ली के अपने मीडिया के ज़रिये उन्हें पत्रिका के प्रकाशक-मालिक ह्यू हेफ़नर और उनकी अर्धनग्न प्लेमेट सुंदरियों की रंगीन तस्वीरें भी देखने को मिल गयीं।

1953 की जुलाई में *प्लेबॉय* का पहला अंक प्रकाशित हुआ था। हेफ़नर का दावा था कि उनकी पत्रिका सेक्स क्रांति के संदर्भ में जो भूमिका निभाने जा रही है, उसका महत्व अल्फ्रेड किंसी द्वारा किये गये अमेरिकी पुरुषों के यौन व्यवहार की विख्यात अध्ययन रपट से ज़रा-सा ही कम है। हम जानते हैं कि हेफ़नर ने अपना वायदा पूरा करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। लेकिन, *प्लेबॉय* की पचासवीं जयंती मनाने वाला दिल्ली का अपना मीडिया भी पाठकों से एक ख़ास तरह का वायदा कर रहा था जिसका भूगोल हेफ़नर के वायदे से कहीं ज़्यादा लंबा-चौड़ा और गहरा था। दिल्ली के मीडिया ने न केवल उसके अल्फ्रेड किंसी का काम भी किया। उसने सेक्स, सेक्शुअॅलिटी, विवाह और बदलते हुए रिश्तों में गहरी दिलचस्पी दिखायी। *टाइम्स ऑफ़ इंडिया* के 'डेल्ही टाइम्स', *हिंदुस्तान टाइम्स* के 'एचटी सिटी', *पायनियर* के 'वीवासिटी', *नवभारत टाइम्स* के 'हेलो दिल्ली', *दैनिक हिंदुस्तान* के 'हिंदुस्तान सिटी' और *दि एशियन एज* के महानगरीय परिशिष्ट 'दि डेल्ही एज' जैसे अख़बारों ने तरह-तरह के यौन सर्वेक्षण आयोजित किये, प्रतिष्ठित सेक्स विशेषज्ञों और मनोचिकित्सकों को आमंत्रित किया ताकि पाठकगण अपनी यौन समस्याओं पर उनकी राय ले सकें। अपने रंगारंग पृष्ठों में यौन क्रांति का संदेश दे कर और खुद को इस क्रांति का वाहक और औज़ार बना कर पेश करते हुए इस मीडिया ने *डिबॉनेयर* और *सैवी* जैसी मुंबइया पत्रिकाओं को पीछे छोड़ दिया। इंटरनेट के साथ मिलकर ये अख़बार धरती से आसमान तक दिल्ली की सेक्शुअॅलिटी को ध्वनित करने लगे। इन अख़बारों में सबसे आगे था *डेल्ही टाइम्स* जिसके कॉलमों में तो समूचा शहर प्राक्क्रीड़ा करता हुआ दिख रहा था। अगर यह यौन क्रांति नहीं थी, तो उसकी तैयारी ज़रूर थी।

अंजलि कपूर प्रकरण की तरह 'डीजे डॉल' और मीडिया पर भी अश्लीलता के आरोप लगे और आज भी लग रहे हैं, लेकिन ज़ाहिर है कि 1995 की तरह कोई किसी के ख़िलाफ़ कार्रवाई करने की हैसियत में नहीं रह गया है। नैतिकता की राजनीति पूरी तरह बदल चुकी है। यह मीडिया फ्री मार्केट को फ्री सेक्स के रूप में परिभाषित कर चुका है। औरत और मर्द की देह को कामोत्तेजक और सुलभ मुद्राओं में पेश करके इसने अपनी प्रसार संख्या ख़ासी बढ़ा ली है। देह व्यापार के रूप उसके लिए विज्ञापन से होने वाली आमदनी के स्रोत बन चुके हैं। मीडिया शहर के भूगोल को नये सिरे से रच रहा है। भूमंडलीकरण के तहत होने वाली संचार क्रांति और बाज़ारीकरण के कारण दिल्ली को कई नये तरह के स्पेस मिल गये हैं जिनके आधार पर एक नयी सेक्शुअल दिल्ली के मानचित्र की रेखाएँ खींची जा रही हैं। इस नयी सेक्शुअल दिल्ली में हस्तमैथुन, समलैंगिकता, सामूहिक यौनक्रिया, पोर्नोग्राफ़ी का प्रसार, देह-व्यापार, प्रेम के नये रूपों, पॉप साइकोलॉजी, रोज़ाना की ज़िंदगी के सेक्शुअॅलाइजेशन और यौन प्रतीकों की भाषा के साथ उपभोक्तावाद के अंतर्गुंफन का बोलबाला है।

नयी सेक्शुअॅलिटी: नया भूगोल

नयी सेक्शुअॅलिटी का भूगोल वह नहीं है जो राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के सरकारी मानचित्र में साफ़-सुथरे ढंग से दिखाया गया है। इस भूगोल की सीमाएँ ठोस सूत्रीकरण से परे एक तरह के आत्मगत द्वैध में उकेरी जा रही हैं। इन सीमाओं के बीच कामनाओं का ऐंद्रिक संसार है जो सेक्शुअॅलिटी के पुराने रूपों को अस्थिर कर रहा है।

यह एक ऐसा भूगोल है जिसके कई सीमांत हैं। मसलन, शहर की घनी मध्यवर्गीय बस्तियों में ऐसे कई अड्डे हैं जिन्हें लोग केवल हस्तमैथुन के लिए इस्तेमाल करते हैं। एक ख़ास समय पर उन्हें सामूहिक रूप से हस्तमैथुन करते हुए देखा जा सकता है। लाजपत नगर की अमर कॉलनी का नाला एक ऐसे ही अड्डे के रूप में मीडिया में चर्चित हुआ है। अख़बार में छपे और इंटरनेट पर जारी किये गये हस्तमैथुन के इस अड्डे के वर्णन से दिल्ली की नयी सेक्शुअॅलिटी के कुछ आयाम सामने आते हैं :

राँची से दिल्ली में तक़रीबन कितने साल भर पहले पढ़ने के लिए आयी रोमिला सहोता नामक छात्रा ने यह झकझोर देने वाला वाक़या सुनाया, "मैं अपने साथ रहने वाली लड़कियों के साथ कमरे की दहलीज़ पर बैठी थी कि अचानक हमने ज़मीन पर एक छाया हिलते हुए देखी। नज़र उठायी तो हमारे होश उड़ गये। हमने देखा कि वह व्यक्ति सीधे हमारी आँखों के सामने हस्तमैथुन कर रहा है। मैं बता नहीं सकती कि हमने उस क्षण किस क़दर डर और घृणा महसूस की। स्वाभाविक था कि हम वहाँ से मुँह छिपा कर भाग जातीं। इसके अलावा उस समय और कुछ क्या किया जा सकता था। ...मामला यहीं ख़त्म नहीं हुआ। हस्तमैथुन करने वाला वह अकेला आदमी नहीं था दर्जनों लोग यही करते थे। नाले के पास प्रत्येक दिन हमने दो-तीन लोग यही करते देखे।" ... रोमिला अमर कॉलनी में रहती है जो अपने पुराने फ़र्नीचर मार्केट के लिए जाना जाता है। दिल्ली में हर साल क़रीब दो लाख छात्र उच्च शिक्षा और नौकरियों के लिए आते हैं। इनमें से आधी लड़कियाँ होती हैं। अमर कॉलनी के बहुत से घर उन्हें वाजिब किराये पर पेइंग गेस्ट बना लेते हैं। हज़ारों लड़कियाँ यहाँ रहती हैं। इस हस्तमैथुन की घटना की लड़कियों ने पुलिस में एफ़आईआर भी दर्ज करायी। पुलिस ने कार्रवाई करने का वायदा भी किया, पर कोई ख़ास नतीज़ा नहीं निकला। ... यह इलाक़ा मुख्य सड़क से दूर है। यहाँ ऐसे कई इलाक़े हैं जहाँ ख़ुफ़िया हरक़तें की जा सकती हैं। कई आवाराग़र्द अमर कॉलनी के गंदे नाले में रोज़ाना पहुँचते हैं।[9]

सवाल यह है कि खुलेआम हस्तमैथुन करने वाले ये लोग कौन हो सकते थे। ये इमारती काम में लगे हुए मजदूर हो सकते थे या फिर कॉलेजों के छात्र हो सकते थे। एक जानकारी के अनुसार दिल्ली के क़रीब दस लाख रिक्शेवालों में से आठ लाख ऐसे हैं जो या तो अकेले रहते हैं या फिर उनकी शादी नहीं हुई है। वज़ीरपुर इंडस्ट्रियल एरिया जैसे क्षेत्रों में रहने वाले ज़्यादातर मज़दूर अकेले रहते हैं। इनमें से कई लोग जी.बी. रोड की तवायफ़ों के पास महीने में एक या दो बार जाते हैं। लेकिन हस्तमैथुन करके अपनी यौन आवश्यकताओं को पूरा करना ज़्यादा आसान है।[10] हॉस्टल में रहने वाले युवा छात्रों के बीच एक-दूसरे के सामने सामूहिक हस्तमैथुन की परिघटना कोई नई नहीं हैं। लेकिन, सार्वजनिक रूप से हस्तमैथुन की घटना और किसी एक स्थान का उसके लिए विशेष रूप से उपयोग करना निश्चित रूप से नयी बात है। हस्तमैथुन यौन व्यवहार का हमेशा से अंग रहा है लेकिन, नयी सेक्शुअॅलिटी तरह-तरह के सेक्स सर्वेक्षणों के ज़रिये साबित करती है कि वह कोई रोग या बुरी आदत नहीं है, बल्कि एक सामान्य और स्वाभाविक यौन आचरण है। *डिबॅनेयर* के सेक्स सर्वे ने चौंका देने वाली जानकारी दी थी कि तीस फ़ीसदी से ज़्यादा शहरी पुरुष ऐसे हैं जो अपनी पत्नियों से नियमित सम्भोग करने के बावजूद नियमित रूप से हस्तमैथुन भी करते हैं क्योंकि उन्हें हस्तमैथुन वाला यौनानंद स्त्री के साथ सम्भोग से नहीं प्राप्त होता।

दिल्ली 'पुरुष समलैंगिकों की राजधानी' बन चुकी है। शाम सात बजे नेहरू पार्क, सेंट्रल पार्क, चिराग़ दिल्ली का जहाँपनाह फ़ॉरेस्ट, धौला कुआँ का बस स्टैंड और गार्डन, इंडिया गेट का लॉन, अंतर्राज्यीय बस अड्डा, दिल्ली के हर इलाक़े में फैले हुए मसाज पार्लर और पाँचसितारा होटलों के हैल्थ क्लबों पर समलैंगिक कब्ज़ा सा कर लेते हैं। यहाँ सेक्स पार्टनरों की तलाश में आधी रात तक 'क्रूज़िंग' होती है। समलैंगिकता के इन सीमांतों पर हज़ारों हिजड़े और कोठी (स्त्रैण हाव-भाव वाले पुरुष) देह व्यापार का बाज़ार गर्म रखते हैं। इस बाज़ार में अर्थपूर्ण कामोत्तेजक इशारे, एक निगाह या एक स्पर्श भर से संबंध बनते हैं और किसी पेड़, चट्टान या किसी झाड़ी के पीछे 'रिलीज़' होते ही संबंध खत्म हो जाता है। यह एक नया सेक्स बाज़ार है जो पूरी तरह 'अनरेगुलेटेड' है यानी जो अभी तक किसी रैकेट या दलालों के गिरोह की गिरफ़्त में नहीं आया है। रिक्शेवाले और कूड़ा बीनने वाले अपने पसीने से गँधाते जिस्म ले कर ही नहीं, अधिकारी वर्ग और कॉरपोरेट क्लास के लोग भी अपनी परफ़्यूम्ड देह के साथ यहाँ उतरते हैं। इन समलैंगिकों की यौन भाषा न हिंदी है न अंग्रेज़ी। वे जिस कूट भाषा



का इस्तेमाल करते हैं उसे फ़ारसी कहते हैं। यह ग़ालिब वाली फ़ारसी नहीं है। इसके तहत गुदा मैथुन कराने वाला 'कोठी' और करने वाला 'गिरिया' कहलाता है। शिश्न को 'लिकुम' और शिश्न-प्रवेश को 'धरवाना' कहते हैं। धारा 377 के कारण ग़ैरक़ानूनी करार दी गयी समलैंगिकों की इस दुनिया में पुलिसवाले को 'डुंगर' के नाम से बुलाया जाता है। दिल्ली के समलैंगिक मुखमैथुन को 'कोमेर', देह के पृष्ठभाग को 'बोतल', नितंबों को 'बिट्टू', चूचक को 'धरकी', सिगरेट को 'धुमकी', धन को 'थिपुर', चाय को 'भपकी' और खतने वाले व्यक्ति को 'चिल्कू' कहते हैं। समलैंगिकों की फ़ारसी यहीं ख़त्म नहीं हो जाती। उसमें और भी बहुत से शब्द हैं जो 'क्रूज़िंग' करते हुए इस्तेमाल किये जाते हैं जिससे इस दुनिया की सीक्रेसी क़ायम रहती है।[11]

नयी सेक्शुॲलिटी पर दिल्ली के समलैंगिकों के प्रभाव को कम करके नहीं आँका जा सकता क्योंकि दिल्ली की एक गे वेबसाइट द्वारा लगाये गये एक तख़मीने के अनुसार राजधानी की पुरुष आबादी का कम से कम चार-पाँच फ़ीसदी हिस्सा समलैंगिक यौन व्यवहार के साथ किसी न किसी प्रकार जुड़ा हुआ है। इस अनधिकृत समाज के ज़्यादातर सदस्य विवाहित और बाल-बच्चों वाले हैं, पर उनकी बाइसेक्शुअल कामनाएँ उन्हें नियमित रूप से 'क्रूजिंग' के लिए धकेलती रहती हैं। दिल्ली के फ़ार्महाउसों और कुछ विशेष रूप से चिन्हित बार-रेस्त्रांओं में नियमित रूप से गे पार्टियों की धूम रहती है। मिसाल के तौर पर सात जून, 2003 को अँधेरिया मोड़ से तकरीबन पौने दो किमी. आगे रॉयल गार्डन में हुई गे रेन डांस पार्टी देखी जा सकती है। दस बजे रात से शुरू हुई इस पार्टी में शामिल होने की फ़ीस 350 रुपये प्रति व्यक्ति थी और हर गे भागीदार को दारू साथ लाने के लिए कहा गया था। इसी तरह चाणक्य सिनेमा के पास 'पेग्स ऐण्ड पाइन्ट्स' नामक बार में अकसर मंगलवार को रात नौ बजे से दो बजे तक गे नाइट्स आयोजित की जाती हैं। साउथ एक्सटेंशन का एक नया रेस्त्राँ 'लिज़र्ड कोर्ट' अपनी गे पार्टियों के लिए चर्चित हो चुका है।

दिल्ली की वैकल्पिक यौनिकताओं का नज़ारा हिजड़ों और स्त्री समलैंगिकों की गतिविधियों के बिना पूरा नहीं हो सकता। पुरुष समलैंगिकों के मुक़ाबले ये दोनों दायरे हद दर्जे की गोपनीयता के आवरण से ढँके रहते हैं। लेकिन धीरे-धीरे इनके बाहर आने की प्रक्रिया भी चल रही है। तीस हज़ारी कोर्ट के बाहर हिजड़ों के एक नायक की गोली मार कर की गई हत्या ने मीडिया का ध्यान उनकी सीक्रेट सोसाइटी की तरफ़ मोड़ दिया है और उनकी गतिविधियों के बारे में राजधानी का समाज दिलचस्पी लेने लगा है।[12] पिछले दो साल से राजधानी के थियेटर सर्किल में हिजड़ों की ज़िंदगी पर किये जाने वाले नाटक 'जानेमन' की ज़बरदस्त धूम रही है। इसका हर शो हाउसफ़ुल जाता रहा है। वैकल्पिक यौनिकता पर काम कर रहे संगठनों का एक मोर्चा 'प्रिज़्म' स्त्री समलैंगिकों का अध्ययन करने की योजना पर काम कर रहा है। उसने क़रीब ढाई-तीन सौ ऐसी स्त्रियाँ तलाश कर ली हैं जिनसे बातचीत करके वह लेस्बियन यौन व्यवहार का आख्यान तैयार करेगा।

नयी सेक्शुॲलिटी ने दिल्ली को देह व्यापार के कुछ ऐसे नये रूप प्रदान किये हैं जो अपने-आप में इस सेक्शुॲलिटी के नयेपन का प्रमाण हैं। पहले देह व्यापार के सिर्फ़ दो रूप प्रचलित थेः चकला घर और कॉलगर्ल रैकेट। पिछले दस-बारह सालों में मसाज पार्लरों, एस्कॉर्ट सर्विसों, फ्रेंडशिप क्लबों और नक़दी या उपहारों के बदले यौन समागम के लिए प्रस्तुत लोगों के निजी अनौपचारिक दायरों के रूप में देह व्यापार की शक्ल पूरी

तरह बदल गयी है। फ्रेंडशिप क्लब की परिघटना तो ऐसी है जिसे पुराने क़िस्म के देह व्यापार की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। इसके प्रचलन ने तो हाल ही में शुरू हुए फ़ोन सेक्स को फ़ैशन से बाहर कर दिया है। फ़ोन सेक्स ने ही पहली बार अख़बारों के ज़रिये विज्ञापन करके सेक्स के आधुनिक जिंसीकरण का नमूना पेश किया था। फ्रेंडशिप क्लबों ने इसे चरम पर पहुँचा दिया है। हालत यह है कि जो अख़बार फ्रेंडशिप क्लबों की परिघटना को देह व्यापार के रूप में परिभाषित करने के लिए पूरे पृष्ठ की ख़बर छापता है, वही अख़बार उन क्लबों के विज्ञापनों के ज़रिये भारी-भरकम राजस्व भी कमाता है। केवल पश्चिमी दिल्ली में ही 165 फ्रेंडशिप क्लब हैं। पूरी दिल्ली में इनकी संख्या का तख़मीना अभी तक नहीं लगाया जा सका है।[13]

दिल्ली की एड्स नियंत्रण सोसाइटी द्वारा 2003 में कराये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार दिल्ली में घोषित रूप से देह व्यापार में लिप्त वेश्याओं की संख्या 35,062 है। देह व्यापार में लगे पुरुष समलैंगिकों की संख्या इस सर्वेक्षण ने 7,532 आँकी है। इसी तरह सेक्स के धंधे से रोज़ी कमाने वाले हिजड़ों की संख्या 7,317 है। दिल्ली में 35,442 आवारा बच्चे हैं जिनका कोई स्थानीय अभिभावक नहीं है और 205 जगहों पर ये बच्चे पैसे के बदले ख़ुद को सेक्स ऐक्ट के लिए उपलब्ध कराते हैं। दिल्ली में रोज़ करीब 35000 ट्रक ड्राइवर आते हैं जिनके बारे में माना जा सकता है कि उनका यौन जीवन बेहद अनियंत्रित होता है। चार महीनों और 45,000 लोगों से बातचीत के बाद पूरा हुआ यह सर्वेक्षण बताता है कि देह व्यापार में लगे इन लोगों की गतिविधियाँ राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में दूर-दूर तक फैल गयी हैं। रोहिणी, बवाना, मदनगीर, त्रिलोकपुरी, नांगलोई और पांडव नगर तक सर्वेक्षण ने ऐसे 276 स्थानों की शिनाख़्त की जहाँ देह का सौदा नियमित रूप से होता है। पुरुष समलैंगिक 117 जगहों पर सक्रिय पाये गये। इनमें नेहरू पार्क या सेंट्रल पार्क जैसी जगहों के अलावा दिल्ली विश्वविद्यालय, पटपड़गंज, मयूर विहार, आनंद पर्वत और पंजाबी बाग़ जैसे इलाक़े भी शामिल हैं।

पिछले दस साल में दिल्ली में पोर्नोग्राफ़ी का अभूतपूर्व प्रसार हुआ है। आमतौर पर विज़ुअल पोर्नोग्राफ़ी के बाज़ार पर पश्चिमी पॉर्न फ़िल्मों का आधिपत्य है। भारतीय पॉर्न फ़िल्में न के बराबर हैं, जो हैं भी उनकी क्वालिटी बहुत गिरी हुई है और वे पश्चिमी पॉर्न को चुनौती दे पाने की स्थिति में नहीं हैं। अंग्रेज़ी की प्रिंट पोर्नोग्राफ़ी भी ज़्यादातर विदेशी किताबों की नक़ल है या उसका रीप्रिंट है। पोर्नोग्राफ़ी में विशुद्ध भारतीय योगदान देखना हो तो हिंदी की प्रिंट पोर्नोग्राफ़ी पर नज़र डालनी चाहिए। दिल्ली में यह बाज़ार बिना कोई ख़ास गोपनीयता अपनाये हुए ख़ूब फल-फूल रहा है। 1981 की शुरुआत में पोर्नोग्राफ़ी के विक्रय अड्डे या तो पुरानी दिल्ली में दरीबा कलाँ और चाँदनी चौक के फ़ुटपाथ होते थे या फिर आईएसबीटी में दीवारों के सहारे ज़मीन पर लगी हुई पीली पन्नी चढ़ी हुई सेक्सी किताबें बिकती थीं। युवाओं और छात्रों के बीच हिंदी पोर्नोग्राफ़ी की दो किताबें क्लासिक का दर्ज़ा पा चुकी थीं। एक थी *भांग की पकौड़ी* जिसकी कथावस्तु इनसेस्ट की घटनाओं के आस-पास बुनी गयी थी। दूसरी थी *स्वर्ग की नसैनी* यह एक ऐसे आवारागर्द आशिक़ की कहानी थी जो अपनी तक़रीबन भयंकर यौन शक्ति और विकराल शिश्न के दम पर सारे ज़माने में घूम-घूम कर दैहिक संतुष्टि के लिए छटपटाती औरतों को तुष्ट करता घूमता है। विक्टोरियन प्यूरिटनिज़्म के मध्यवर्गीय माहौल के मुक़ाबले इन अंडरग्राउंड कथानकों में कोई अपराधबोध नहीं था। इन पॉर्न उपन्यासों की शब्द योजना पर बोलचाल और गॉसिप की यौन शब्दावली हावी थी। इनके लेखक थे कोई मस्तराम। यह एक फ़र्ज़ी नाम था जो आज तक जारी है। लेकिन आचार्य मस्तराम का यह कामसूत्र अब बदल गया है। इसकी भाषा संस्कृतनिष्ठ हो गयी है। इसमें सेक्स ऐक्ट की घटनाओं को एक समस्यापूर्ति के रूप में पेश किया जाता है। इसका मुख्य मोड कन्फ़ैशन है। इससे पता चलता है कि सेक्शुऑलिटी का पश्चिमी डिस्कोर्स लोकप्रिय स्तर पर कहाँ तक घर कर चुका है। दूसरे, हिंदी की यह मस्तराम छाप पोर्नोग्राफ़ी सेक्शुअल आडेंटिटी के विषय में भी चिंतित नज़र आती है। उसमें समलैंगिक और बाइसेक्शुअल सेक्स ऐक्ट आमतौर से मिलने लगा है। दिल्ली के अर्धशहरी बाज़ार पर हिंदी की इसी प्रिंट पोर्नोग्राफ़ी का क़ब्ज़ा है। एक किताब दस रुपये की बिकती है। इसके अलावा दरियागंज, सदर बाज़ार, नयी और पुरानी दिल्ली के रेलवे स्टेशन, सभी मल्टीप्लेक्सों में फ़ुटपाथ पर पल्प साहित्य बेचने वाली दुकानों से प्रिंट पोर्नोग्राफ़ी आसानी से ख़रीदी जा सकती है। नब्बे के दशक में इलाहाबाद से विकी भार्गव द्वारा प्रकाशित *फ़ेंटेसी* नामक पॉर्न पत्रिका का दिल्ली के फ़ुटपाथी बाज़ार पर हमला हुआ था। उसकी कामयाबी देख कर अचानक कई पॉर्न पत्रिकाएँ निकलने लगी थीं। यह पत्रिका

आज भी बिकती है और मुंबई से निकलने वाली *डिबॉनेयर* के भी ग्राहक हैं। लेकिन अब पहले जैसी बात नहीं रही, क्योंकि पहले केवल ये दोनों पत्रिकाएँ ही यौन पत्रकारिता की ज़रूरतें पूरी करती थीं। आज यह ज़रूरत *कॉस्मो* जैसी लाइफ़ स्टाइल पत्रिकाओं समेत सामान्य मीडिया पूरी कर रहा है। कनॉट प्लेस के प्रतिष्ठित बुक स्टोर्स के शो केसों में सेक्स संबंधी पुस्तकों के एक साथ पंद्रह-पंद्रह टाइटिल लगे देखे जा सकते हैं। प्रकाशकों का मानना है कि कुल मिलाकर यौन संबंधी साहित्य की बिक्री में ज़बरदस्त उछाल आया है। बाज़ार में कई तरह के *कामसूत्र* आ चुके हैं। सभी का दावा है कि वे ही आचार्य वात्स्यायन द्वारा रचे गये असली कामसूत्र हैं। इनमें एक अंग्रेज़ी का *फ़ोटोग्राफ़िक कामसूत्र* है जिसकी क़ीमत पाँच सौ रुपये से भी ज़्यादा है। संस्कृत से हिंदी में किन्हीं आचार्यजी का अनुवाद किया गया दो सौ रुपये का *कामसूत्र* भी है। एक किन्हीं गुप्ताजी द्वारा प्रस्तुत *कामसूत्र* भी है जो दिल्ली के अर्धशहरी इलाक़ों के फ़ुटपाथ पर दस रुपये की दर से बिक रहा है। गुप्ता जी ने इस किताब के आख़िर में वात्स्यायन के साथ मार्क्स और एडलर के नाम से कुछ काम संबंधी विचार भी जोड़ दिये हैं।

सर्वेक्षणों और मीडिया में छपी ख़बरों के ज़रिये तैयार किये गये दिल्ली के सेक्शुअल भूगोल के मानचित्र पर इस आशय का शक हमेशा किया जा सकता है कि यह कितना प्रामाणिक है। दरअसल, इसकी प्रामाणिकता की डिग्री उतनी ही है जितनी किसी आत्मगत तथ्य में आवेशित की जा सकती है। इस नक़्शानवीसी के पीछे तीन समीकरण काम करते हुए लग रहे हैं। पहला समीकरण सेक्स, सेक्शुॲलिटी, सिटी और आधुनिकीकरण का है जो इस नयी सेक्शुॲलिटी को भारतीय पूँजीवाद के विकास के ताज़ा चरण से जोड़ता है। दूसरा समीकरण परिवार, प्रेम और रिश्तों की नयी संरचना दर्शा रहा है। और, तीसरा समीकरण एक ख़ास तरह की सेक्शुअल इंजीनियरिंग की तरफ़ इशारा कर रहा है जिसमें निकट भविष्य की सेक्शुअल पॉलिटिक्स के डिम्बाणु हैं। जैसे-जैसे ये समीकरण ठोस होंगे, दिल्ली का सेक्शुअल भूगोल भी प्रामाणिक होता चला जायेगा।

पहला समीकरण: सेक्स, सेक्शुॲलिटी, सिटी और आधुनिकीकरण

> इफ़ इट मेक्स यू हैपी/इट कांट बी दैट बैड
> इफ़ इट मेक्स यू हैपी/दैन व्हाई दि हैल आर यू सैड
>
> शेरिल क्रो द्वारा गाया हुआ गीत

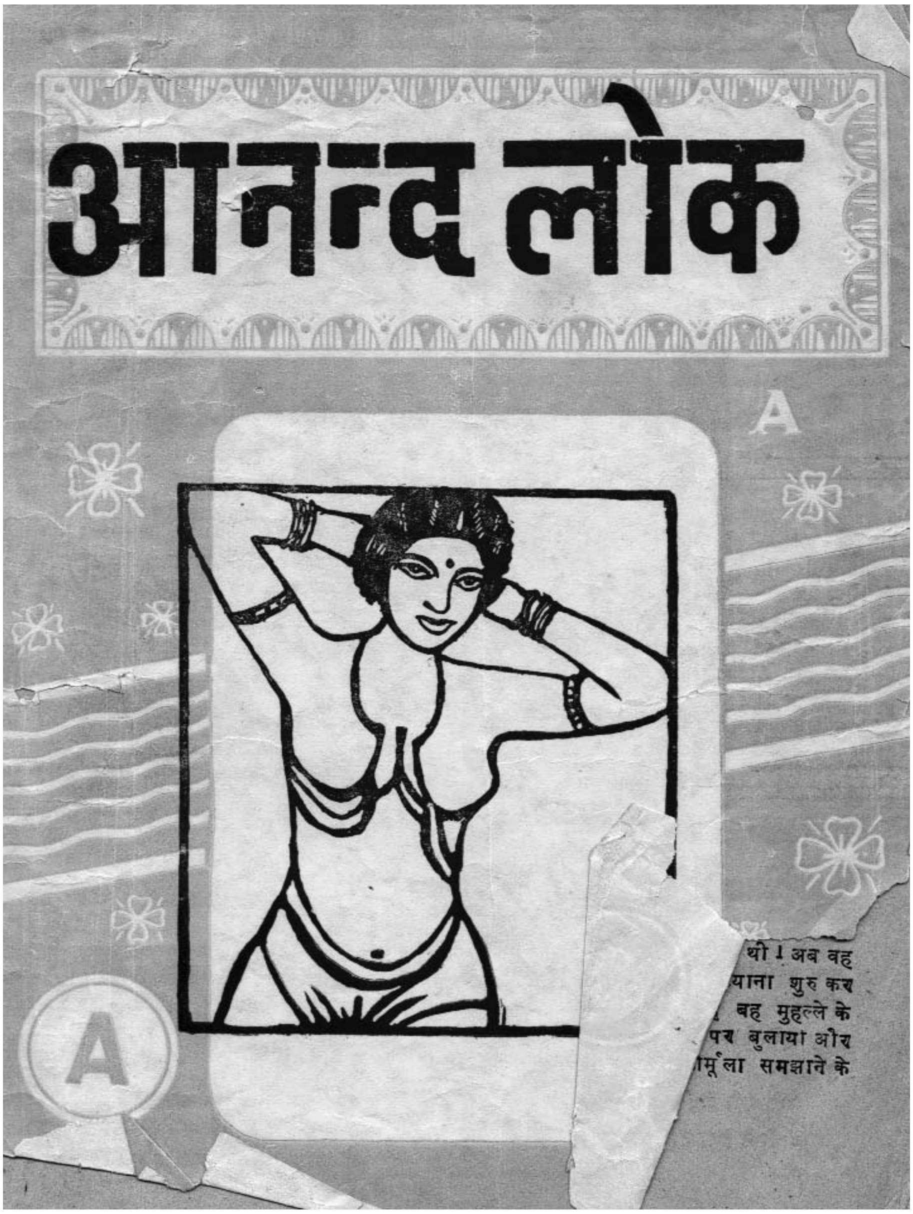
मई 2003 के पच्चीसवें दिन रविवार की फ़ुर्सत में *टाइम्स ऑफ़ इंडिया* ने संपादकीय पृष्ठ पर एक बहस छेड़ी जिसका शीर्षक था, 'सेक्सप्लिसिट इंडियाः आर वी फाइनली ओपनिंग अप'। इसमें विनय कामत और निखत काज़मी ने हिस्सा लिया। दोनों ही टाइम्स ग्रुप के घरेलू लेखक थे। यौन क्रांति की वांछनीयता पर दोनों के बीच कोई मतभेद नहीं था। झगड़ा केवल यह था कि क्या वास्तव में सेक्स क्रांति हो रही है या नहीं; और अगर हो रही है तो उसका विस्तार और गहराई कितनी है। कामत ख़ुश थे कि आर्थिक सुधारों के प्रभाव में मौजूदा पीढ़ियाँ भी सुधार के रास्ते पर चल निकली हैं। विवाह की संस्था में पारदर्शिता का समावेश हो गया है यानी लोग मानने लगे हैं कि विवाहेतर संबंध तो स्वाभाविक ही हैं। कामत ने सेक्स से संबंधित खुलेपन को भूमंडलीकरण की प्रक्रिया से जोड़ा और ऐलान किया कि 'लव इज फ़्रीअर दैन मार्केट'। कामत के मुक़ाबले बहस कर रही निखत काज़मी को इस बात से इनकार नहीं था कि यौन स्वच्छंदता काफ़ी बढ़ गयी है पर उन्हें दुःख इस बात का था कि समाज ने अभी इसे स्वाभाविक मानना शुरू नहीं किया है। उन्होंने चुनौती दी कि आज भी सड़क पर खुलेआम कोई किसी का चुम्बन नहीं ले सकता, बिना विवाह किये साथ-साथ रहने वाले गोपनीयता को ही श्रेयस्कर मानते हैं और सेक्स का मुख्य स्थल अभी भी बुझी हुई रोशनियों वाला शयन कक्ष ही है। कामत बनाम काज़मी की इस बहस के ठीक नीचे प्रतिष्ठित स्तम्भ लेखिका बाची करकरिया ने मई के महीने में ही 'डेल्ही टाइम्स' में छपे कामसूत्र सेक्स सर्वे के नतीजों को किसी ओलम्पिक प्रतियोगिता की भाषा में विश्लेषित किया था यानी किसने किसको पछाड़ दिया है, कौन टॉप सीड था और कौन कितने नंबर ले पाया। जाहिर है कि इस बहस में कोई रहस्य नहीं था। टाइम्स ग्रुप से बाहर के किसी व्यक्ति की राय शायद इसलिए नहीं ली गयी थी कि वह कामसूत्र सेक्स सर्वे के ऑंकड़ों से कुछ अवांछित नतीजे निकाल सकता था। वैसे यह सेक्स सर्वे कराने वाली तीन डॉट कॉम कंपनियों में एक *इंडियाटाइम्सडॉटकॉम* थी जिसके मालिक वही हैं जिनके हाथों में टाइम्स ग्रुप की बागडोर है।

मीडिया साफ़तौर पर बता रहा है कि शहर की सेक्शुअॅलिटी का मतलब है आधुनिक जीवन के सभी दायरों का सेक्शुलाइजेशन। इसके तहत हर तर्जुबे, हर परिस्थिति, यहाँ तक कि मौसम में होने वाले परिवर्तनों, अर्थव्यवस्था और रोज़गार की संरचनाओं में होने वाली तब्दीलियों, शहर की आबादी में होने वाले बदलावों, मनोरंजन के साधनों, रहन-सहन के तौर-तरीक़ों, पहनने-ओढ़ने के फ़ैशनों, रिश्तों के विभिन्न रूपों, समाज में होने वाली हर तरह की घटना को सेक्शुअल कसौटियों पर कसा जाने लगता है। इस मामले में दिल्ली का मीडिया भारतीय पत्रकारिता की सभी पिछली परम्पराओं को लाँघता हुआ दिखता है। वह न केवल शहरी सेक्शुअॅलिटी की घटनाओं को तत्परता से पकड़ने के लिए सेक्स बीट पर रिपोर्टर तैनात करता है, बल्कि वह सेक्स से संबंधित ख़बरों को गढ़ता भी है। मसलन, मौसम में आने वाली तब्दीलियों के आधार पर ऐसी क़यासबाजी की जाती है कि पारा अगर तेज़ी से चढ़ रहा है तो क्या बेडरूम का सीन भी गर्म होगा या फिर दिल्ली में मानसून आ गया है तो क्या मनोरम हवा सम्भोग करने का विशेष प्रोत्साहन नहीं देगी। दिल्ली की सर्दियाँ भी इन ख़बरों के लेखकों को यौन क्रिया का मौसमी तर्क गढ़ने का अवसर दे देती हैं। इसी तरह अंतर्राष्ट्रीय खेल प्रतियोगिताओं के बहुप्रतीक्षित मुक़ाबलों की पूर्वसंध्या पर भी यह मीडिया अटकलें लगाता है कि भारत की जीत-हार की बेडरूम में कामोत्तेजना के सीन पर क्या प्रतिक्रिया होगी। अर्धनग्न देसी-विदेशी सुंदरियों के चित्रों से भरे मीडिया के ये पृष्ठ अपनी रपटों में मद्यपान को श्रेष्ठता और अभिजन व्यवहार की विशेष अभिव्यक्ति के रूप में दिखाते हैं। समूह नृत्य और थीम पार्टियों के फ़ैशन को विशेष रूप से प्रोत्साहित करने वाले चित्रों और ख़बरों को छाप कर यह मीडिया देह के प्रदर्शन और देह के आपसी सम्पर्क से पैदा होने वाली एंद्रिक अनुभूतियों को वैधता प्रदान करता है।

यौन क्रांति पर मीडिया में चल रही इस बहस को अगर पूँजीवाद विरोधी विचारधाराओं का असर मंद पड़ जाने के संदर्भ में देखा जाये तो ऐसा लग सकता है कि कुछ ख़ास परिस्थितियों में शहरी मध्यवर्ग सेक्स ऐक्ट को अपने जीवन की सार्थकता, अपने आनंद के उत्कर्ष और अपने अनुभव की प्रामाणिकता के रूप में देखने लगा है। अस्सी के दशक के आसपास कामनाओं के सामाजिक महत्व पर चर्चा करते हुए ई. व्हाइट ने कुछ ऐसी ही परिस्थिति की व्याख्या इस प्रकार की थी :

> ...जब धर्म, देशभक्ति और परिवार जैसे सामाजिक मूल्य ध्वस्त हो जाते हैं तो सेक्स को आगे बढ़ कर ज़िम्मेदारी उठानी पड़ती है। वह हमारे लोकोत्तर अनुभवों का अकेला ज़रिया बनकर उभरता है। वह हमारे लिए प्रामाणिकता की अकेली कसौटी बन जाता है। कई चरम आनंदों को एक साथ भोगने की ललक अपने शिखर को छू लेती है... कामकला में त्रुटिहीनता और मर्मज्ञता की माँग होने लगती है। लोगों को यक़ीन हो जाता है कि सम्पूर्ण यौन अनुकूलता में ही सच्ची अंतरंगता छिपी हुई है। ज़ोर दिया जाने लगता है कि केवल सेक्स का अनुभव ही रोमांचकारी हो सकता है, केवल उसी के ज़रिये प्रेम हासिल किया जा सकता है और केवल सेक्स के आधार पर ही पता लगाया और दिखाया जा सकता है कि कौन किस लायक़ है...

दिल्ली के मीडिया में सेक्स ऐक्ट की केंद्रीयता और सम्भोग की क्रियात्मक विविधताओं पर दिये जा रहे ज़ोर को शायद इस कथन की रोशनी में ज़्यादा अच्छी तरह समझा जा सकता है। सेक्स विशेषज्ञ संजय चुग से अपनी यौन समस्याओं का समाधान पूछने वाले पाठकों में कई ऐसे हैं जो अपने पार्टनर को पूरा आनंद दिये बिना ही स्खलित हो जाते हैं। चुग के पास ऐसे पाठकों के लिए 'शिश्न-व्यायाम' का लम्बा सुझाव है जिसे वे आयुर्विज्ञान की शब्दावली में बड़ी सफ़ाई से वर्णित करते हैं। एक दूसरे यौन सलाहकार अशोक जैन अपने ऐसे ही चिंतित पाठक को *मास्टर ऐण्ड जॉनसन* तकनीक इस्तेमाल करने की सलाह देते हैं। संभवतः स्थानाभाव के कारण *नवभारत टाइम्स* के 'हेलो दिल्ली' परिशिष्ट में लिखने वाला यह विशेषज्ञ इस तकनीक का ब्यौरा नहीं दे पाता, लेकिन कम से कम उसका जवाब प्रश्नकर्ता के दिमाग़ में इतना साफ़ कर देता है कि आधुनिक सेक्सोलॉजी के पास उसकी समस्या का कोई न कोई समाधान है ज़रूर। वह चाहे तो विशेषज्ञ के पास निजी तौर से जा कर तकनीक सीख सकता है। 'वीवासिटी' के कालमों में चुम्बन लेने की विभिन्न विधियों का पूरा मैनुअल छप चुका है। कॉस्मो


आनन्द लोक
A
A
थी। अब वह
याना शुरु कर
बह मुहल्ले के
पर बुलाया और
ार्मूला समझाने के

जैसी 'लाइफ़ स्टाइल' पत्रिकाएँ तो संभोग में चरम आनंद प्राप्त करने वाली तकनीकों का तुलनात्मक अध्ययन प्रकाशित करने में वात्स्यायन के *कामसूत्र* से भी आगे जा चुकी हैं। यौन तकनीक का यह विमर्श मीडिया में बिखरा पड़ा है और अन्य सामग्री के साथ तक़रीबन मुफ़्त में उपलब्ध है। यौन तकनीकों पर ऐसी सार्वजनिक चर्चा भारत के इतिहास में पहले कभी नहीं देखी गयी। मीडिया एक नया *कामसूत्र* लिख रहा है।

दूसरा समीकरण: परिवार, प्रेम और रिश्ते

> ग़ैर-पश्चिमी संस्कृतियों में... प्रयोग और अनुभव द्वारा कामकला की शिक्षा पर आमतौर से स्त्रियों की इजारेदारी होती थी। उस ज़माने में तक़रीबन हमेशा ही कामकला महिलाओं के एक ख़ास समूह तक ही सीमित रहती थी। रखैलें, वेश्याएँ या अल्पसंख्यक धार्मिक समूहों की सदस्याएँ इस विद्या में मर्मज्ञता विकसित करती थीं। एक आदर्श के रूप में इयत्ता आधारित प्रेम एक ऐसे समाज में विकसित होता है जिसमें हर एक के पास कामकला में पारंगत होने के मौक़े रहते हैं। यह प्रेम मान कर चलता है कि 'भद्र' समझी जाने वाली महिला और परम्परानिष्ठ समाज के हाशिये पर पड़ी पतिता के बीच की खाई मिट जायेगी। रूमानी प्रेम के विपरीत इयत्ता आधारित प्रेम यौन संबंधों के मामले में अनिवार्यतः एकनिष्ठता पर नहीं चलता।
>
> एंथनी गिडेंसः *ट्रांस्फ़ॉर्मेशन ऑफ़ दि इंटीमेसी*

मीडिया एक नया कामसूत्र लिख रहा है। इस नये कामसूत्र के ज़रिये औरत और मर्द एक-दूसरे की सेक्शुअॅलिटी समझने की कोशिश कर रहे हैं। 'हेलो दिल्ली' के एक ही अंक में छपे इन सवालों और जवाबों से एक अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि नई सेक्शुअॅलिटी की चिंताएँ और जिज्ञासाएँ कैसी हैं:

> दिल्ली की सुजाता लिखती हैं: मैं एक सुंदर और पढ़ी-लिखी लड़की हूँ। मेरी समस्या यह है कि मैं जिस लड़के से प्यार करती हूँ वह मुझसे अब दूर-दूर भागने लगा है। शुरू में तो वह मेरे पीछे पागल था लेकिन जब से हम दोनों के बीच शारीरिक संबंध बने हैं, तभी से वह मुझसे बात करने से क़तराने लगा है। मुझे समझ में नहीं आता कि क्या करूँ?
>
> दिल्ली के सचिन लिखते हैं: मैं 25 वर्षीय युवक हूँ। अभी छह महीने पहले ही मेरे भाई की शादी हुई थी। एक दिन मैं और मेरी भाभी घर में अकेले थे। अचानक मेरी भाभी मेरे बिस्तर पर आ कर लेट गयीं और हम दोनों मर्यादा की सभी सीमाएँ लाँघ गये। मेरी भाभी मेरी हमउम्र है। यह सिलसिला चार महीने तक चलता रहा। अब मुझसे मुँह चुराने लगी है, जो मुझे बहुत बुरा लगता है। कई बार दिल करता है कि सारी बात घरवालों को बता दूँ, लेकिन भाभी की बदनामी की डर से चुप हो जाता हूँ। कृपया आप ही बताएँ मैं क्या करूँ?
>
> फ़रीदाबाद के धर्मवीर लिखते हैं : मेरी शादी को लगभग दो साल हो गये हैं, लेकिन मुझे इस बात का दुःख है कि मैं अभी तक अपनी बीवी के साथ शारीरिक संबंध नहीं बना पाया हूँ। इसका कारण सेक्स अंग में तनाव की कमी है। जब मैं चाहता हूँ, तब तनाव नहीं आ पाता और जब नहीं चाहता तब रहता है। इस वजह से मेरी पत्नी बहुत परेशान है। कृपया उपाय बतायें।

कामसूत्र सेक्स सर्वे के लिहाज़ से देखा जाये तो सुजाता और सचिन शादी से पहले यौनक्रिया करने वाले दिल्ली के उन लोगों की श्रेणी में आते हैं जिनका प्रतिशत तक़रीबन 52 है। सुजाता और सचिन को अपने सेक्स ऐक्ट की नाकामी की शिकायत नहीं है। लेकिन, प्रश्न से ज़ाहिर है कि सुजाता की यौनक्रिया एक बार होकर रुक जाती है, पर सचिन और उसकी भाभी का संबंध चलता रहता है। यानी सुजाता की यौनक्रिया की सफलता संदिग्ध है। सर्वे का आँकड़ा सिर्फ़ सनसनी फैलाकर और यौन क्रांति का दावा करके रह जाता है, पर वह ज़ाहिर नहीं करता कि विवाह की संस्था से बाहर सफल या असफल यौनक्रिया करने पर कितने तरह के जज़्बाती उफानों का सामना करना पड़ सकता है। सुजाता और सचिन यौनक्रिया के बाद और उसके कारण संबंधों में आये तनाव से परेशान हैं। दूसरी तरफ़ धर्मवीर यौनक्रिया में नाकाम रहने के कारण पत्नी के साथ संबंधों में आ रहे तनाव से

चिंतित हैं। उनके प्रश्न से लगता है कि पत्नी की शिकायत ज़्यादा मुखर हो जाने पर ही उन्होंने मनोचिकित्सक अशोक जैनर को चिट्ठी लिखी होगी। बहरहाल, यौनक्रिया तीनों स्थितियों में संबंधों को परिभाषित करने का ज़रिया बनती दिखायी देती है। सुजाता के प्रश्न को भारतीय युवाओं के नये सेक्शुअल रुझानों की एक झलक लेने के नज़रिये से भी पढ़ा जा सकता है। वह कहती है कि दैहिक संबंध बनने के बाद से ही उसका प्रेमी उससे दूर भागने लगा। प्रेमी का यह रवैया उसके दिमाग़ में आ सकने वाले संभावित ख़यालों की तरफ़ इशारा करता है। दस-पंद्रह साल पहले सम्भोग के लिए सुजाता की तत्परता उसके प्रेमी की निगाह में उसे गिरा सकती थी। ऐसी हालत में उसे यौनक्रिया दोहराने में कोई दिक़्क़त नहीं होनी चाहिए थी। वह सुजाता के साथ कई बार यौनक्रिया करने के बाद भी उसके साथ संबंध तोड़ सकता था। इससे लगता है कि अगर कोई संबंध 'ग्रेट सेक्स' उपलब्ध नहीं करा सकता तो आज के भारतीय युवाओं के लिए उसका भविष्य संदिग्ध हो सकता है।

मीडिया सेक्शुॲलिटी को और भी कई कोणों से खुली बहस में ले आया है। वह सेक्शुअल लोकतंत्र, सेक्शुअल नागरिकता, सेक्शुअल पहचान और सेक्शुअल समुदाय की अवधारणाओं का इस्तेमाल न करते हुए भी उनकी व्यावहारिक निर्मितियों की तरफ़ इशारा करता है। मसलन, वह साफ़ इशारा करता है कि जिन सेक्शुअल मामलात को निबटा हुआ माना जाता था, वे सवाल आज फिर से पुनर्विचार के दौर से गुजर रहे हैं। बजाय इसके कि वह नयी पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी के सेक्शुअल मूल्यों की शिक्षा दे, वह पुरानी पीढ़ी को नयी पीढ़ी के ख़यालों के बारे में बताने को अपने प्राथमिक कर्तव्य के रूप में पेश करता है। पहले सेक्शुॲलिटी के प्रचलित मतलब के केवल तीन पहलू थे : इरोटिक एहसासों के स्रोत के रूप में औरत की देह, पुरुष की शिश्न-केंद्रित चिंताएँ और हेटरोसेक्शुअल दायरा। यह मीडिया आज की सेक्शुॲलिटी को बहुवचन के रूप में पेश करता है। उसकी सामग्री जिस अंदाज़ में सामने आती है उससे लगता है कि आज पुरुष की देह भी उतने ही केन्द्र में है। मर्दानगी पर हेटरोसेक्शुॲलिटी के संदर्भ में बहस हो रही है। 'पुरुष मीनोपॉज़' पर लेख छप रहे हैं। ऐसे शोधों की जानकारी दी जा रही है जो स्त्री के बजाय पुरुष को कमज़ोर जेंडर करार देते हैं। सर्वेक्षणों के ज़रिये साबित करने की कोशिश हो रही है कि आज का पुरुष घर के काम में हाथ बँटाने के लिए ख़ासतौर से उत्सुक है। इसके पीछे पेशकश यह बताने की है कि आज के ज़माने में श्रम का लैंगिक बँटवारा पहले जैसा नहीं रह गया है। बहस हो रही है कि इंडिया फ़ैशन वीक में रोहित बल के पुरुष मॉडलों ने अपनी माँग में सिंदूर क्यों भरा?

वैकल्पिक यौनिकताओं के संदर्भ में इस मीडिया ने हिजड़ों पर ख़ासतौर से ध्यान दिया है। दिल्ली में हिजड़ों की गिरोहबंदी, उनके देह व्यापार, हिंसा और अपराध की संरचनाओं के साथ उनके अंतर्संबंधों पर मीडिया में काफ़ी सामग्री छपती है। व्यापार और विज्ञापन की दुनिया में चल रहे विमर्श के ज़रिये वह दिखाता है कि नये उपभोक्ता समाज में ब्रांडों का व्यापार अब पहले की भाँति स्त्री लिंग और पुल्लिंग के अलग-अलग ख़ानों में क़ैद नहीं रह गया है। स्त्रियों को वह सामान बेचा जा रहा है जो पुरुषों के लिए बनाया जाता रहा है और पुरुषों को स्त्रियों के लिए तैयार किया गया माल पसंद आने लगा है। इसे मीडिया में 'जेंडर-बेंडर' कहा जाता है। उपभोक्ता क्रांति का यह पूरा माहौल हमें सेक्शुॲलिटी को नयी रोशनी में देखने पर मजबूर करता है। हम देखते हैं कि परिवार द्वारा निर्धारित स्त्री-पुरुष की अलग-अलग भूमिकाएँ और वजूद परस्पर व्यापी होते जा रहे है, पर 'विमेन ऑन टॉप' की अवधारणा ऐसे नये आसनों को प्राथमिकता सूची में ऊपर बढ़ा रही है जिनमें औरत मर्द के नीचे दबे होने या उसके एहसास की शिकार नहीं रह जाती।

सेक्शुॲलिटी की अभिव्यक्तियों के इन विभिन्न आयामों की सबसे बड़ी विशेषता है सेक्स ऐक्ट से पहले की परिस्थितियों के बारे में उभर रहा विमर्श। यह विमर्श उन क्षणों के बारे में है जब प्रेम संबंध की शुरुआत होती है। अख़बारों के कॉलम इस तरह की सामग्री से भरे पड़े हैं। 'डेल्ही टाइम्स' के कॉलमों में पत्नियों और प्रेमिकाओं के लिये राय-मशविरे के लम्बे-लम्बे मैनुअल हर हफ़्ते छपते हैं। बात आसानी से समझ में आ जाये, इस मक़सद से उसे ऑब्जेक्टिव टेस्ट की शैली में लोकप्रिय ढंग से छापा जाता है। इन मैनुअल्स को तैयार करने में इस्तेमाल की गयी होशियारी के कारण आसानी से पता नहीं चलता कि दरअसल ये परिवार और सेक्शुॲलिटी की पहले से स्थापित संरचनाओं को बदलने के मक़सद से छापे गये हैं। इनके अलावा सलाह-मशविरे की शैली में जो फ़ीचर नियमित रूप से छपते हैं उनमें भले ही विवाह की संस्था और एकनिष्ठ संबंधों की अनिवार्यता का

उल्लघंन करने की राय न दी जाती हो, पर उनमें यह संदेश साफ़ होता है कि अगर शादी परस्पर संतोषजनक ढंग से नहीं चल पा रही है, तो बेहतर होगा कि उसे ख़त्म कर दिया जाये। विवाहेतर संबंधों का विरोध करते हुए भी ये फ़ीचर बिना संकोच कहते हैं कि जब तक किसी के साथ रहो, वफ़ादारी के साथ रहो, लेकिन अगर संबंधों में खटास आ जाये तो उसे तोड़ने में ज़्यादा हीला-हवाला करना भी उचित नहीं है और, ज़रूरी नहीं कि दोबारा शादी के चक्कर में फँसा जाये। अकेले जीवन गुजारना भी श्रेयस्कर और सुखकर हो सकता है। मसलन, एक मैनुअल पत्नियों को समझाता है कि अपने पति को भावनात्मक रूप से आकर्षित बनाये रखने के लिए उन्हें क्या करना चाहिए। दिलचस्प बात यह है कि इस मैनुअल में पत्नी से अपेक्षा की गयी है कि उसे पति को लगातार 'नोटिस' पर रखना चाहिए। यानी पति को यह एहसास रहे कि पत्नी कभी भी उसे 'आश्चर्यचकित' कर सकती है। अगर पति उसे समझने की कोशिश नहीं करेगा तो वह नये संबंध के बारे में सोच सकती है। यह अंदेशा पति को एक ख़ास तरह की अस्थिरता का शिकार बनाये रखेगा और वह पत्नी को घर की मुर्ग़ी नहीं समझेगा। विवाह से पहले की जाने वाली दोस्ती और डेटिंग के बारे में भी युवा वर्ग का विचार साफ़तौर से उभर कर आता है कि आज के ज़माने में वे शादी करने के मक़सद से दोस्ती की शुरुआत नहीं करते। जहाँ तक 'अंतर्मन' के डॉक्टर अशोक जैनर का सवाल है, वे सम्भोग के ज़रिये हासिल 'ऑर्गेज़्म' को 'लिटिल डैथ' समझने के पुराने मनोचिकित्सकीय फंडे में फँसे हुए हैं।

हर बुधवार को 'डेल्ही टाइम्स' के कॉलम डेटिंग के विज्ञापनों से भरे होते हैं। हर विज्ञापन कभी छिपे और कभी खुले संबंधों में यौन संबंधों के लिए निमंत्रण की तरह होता है। इनकी कुछ मिसालों से अंदाज़ा लग सकता है कि किस तरह मित्रता, यौन संसर्ग, देह व्यापार और डेटिंग आपस में गड्डमड्ड हो कर विशुद्ध सेक्शुॲलिटी में बदल गये हैं :

> गोपनीयता की गारंटी है। मैं साहिल, 24 साल का, गोरा, ख़ूबसूरत, पाँच फ़ुट दस इंच लंबा, एक कंपनी में अधिकारी हूँ। किसी भी जवान लड़की या अमीर महिला कुछ दिनों का रोमांस करना चाहे तो मैं तैयार हूँ। कोई झमेला नहीं चाहिए।
>
> विनोद, 40 साल, दिल्ली, शादीशुदा पर डिस्सेटिस्फ़ाइड, किसी भी उम्र की महिला के साथ सच्ची और टिकाऊ दोस्ती के लिए तैयार।
>
> लवबग4यू का संदेश : कॉस्मेटिक, आर्टिकुलेट और वैरी प्रेटी। और मॉडेस्टी तो मुझे छू नहीं गयी। लो, मैं हूँ तुम्हारे लिये। कैन यू हैंडिल मी। अगर हाँ, तो इस पते पर मुझे ईमेल करो।
>
> बिज़नेसमैन, चालीस साल, पाँच फ़ुट चार इंच, दोस्त की तलाश पार्टियों में जाने के लिए। केवल दिल्ली की महिलाएँ ही संपर्क करें। फ़ोन नंबर दें और फ़ोन करने के वक़्त का भी उल्लेख करें।
>
> आई एम बिग बूज़म्ड, 38, सेक्सी, लाइक टु बी पैंपर्ड, आई केन बी यौर एम्प्रेस, इफ़ यू वांट टु बी माई एम्परर, कॉंटेक्ट मी। मेल 45 टु 55 आर प्रेफ़र्ड।
>
> लुकिंग फ़ॉर क्वालिटीज़ ऑफ़ ए गॉडफ़ादर केयरिंग, लविंग, प्रोटेक्टिव। आई एम 38 सिंगल, प्रेटी ऐण्ड वेरी पैंपर्ड। इफ़ यू आर ए किंग विद दि क्वालिटीज़ ऑफ़ ए गॉड फ़ादर हू केन पैंपर मी ऐण्ड ट्रीट मी लाइक ए क्वीन। मेल मी ऐट —
> buxom_queen38@indiatimes.com

डेटिंग के इन विज्ञापनों में सम्पर्क के लिये हमेशा ईमेल का पता दिया जाता है। ज़ाहिर है कि इंटरनेट न होता तो इस तरह की डेटिंग भी संभव न होती जो परिवार, उम्र, समुदाय और संस्कृति की सीमा के पास जा सकती हो। ये सारे विज्ञापन सेक्शुअल एडवेंचर की संभावनाओं से धड़क रहे हैं। कुछ विज्ञापन ख़ास तरह की आमंत्रण से भरी सेक्सी भाषा (जैसे : आई एम ए शुगरी बेबी या फिर कॉल फ़्रॉम ए स्वीटी-ट्वीनी या मैसेज फ़्रॉम ए लिटिल मरमेड) अपनाते हैं जिससे लगता है कि उनके पीछे देह व्यापार के रैकेट काम कर रहे होंगे। स्त्रियों की तरफ़ से

दिये गए डेटिंग के ये विज्ञापन साफ़ कहते हैं कि वे अपने पुरुष पार्टनर के साथ हफ़्ते-दस दिन के लिए गोवा की यात्रा करने को तैयार हैं और अगर वह चाहे तो उन्हें पहाड़ों की सैर करने में भी कोई गुरेज़ नहीं है। यह भी देह व्यापार के नये रूपों की तरफ़ इशारा करता है। ये रूप देह व्यापार को केवल यौनक्रिया तक ही सीमित नहीं रखते। ये 'वन नाइट स्टैंड' से आगे जाते हैं और कई दिन साथ-साथ रहने और घूमने-फिरने से बनने वाली परिस्थितियों में प्रेम की नौबत तक ले जाने वाली अंतरंगता की संभावनाएँ जगाते हैं। ज़ाहिर है कि यह 'प्रेटी वूमेन' वाला नज़ारा है। पर इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि इसमें टिकाऊ अंतरंगता की संभावनाएँ क्षीण ही रहेंगी क्योंकि इस संबंध की अवधि पहले से ही परस्पर सहमति के आधार पर व्यावसायिक नज़रिये से काट-छाँट कर छोटी कर दी गयी है। इन सीमाओं के बावजूद इस तरह की डेटिंग में मर्द की सेक्शुॲलिटी के लिहाज़ से एक नयी परिघटना की संभावना भी पढ़ी जा सकती है। पुरुष को यौनक्रिया में ज़बरदस्त एकाग्रता की ज़रूरत पड़ती है, वरना वह जिस तेज़ी से उत्तेजित होता है, उतनी ही तेज़ी से वह अपने यौनांग की उत्तेजना पल भर में खो भी देता है। किसी एक स्त्री के साथ परस्पर व्यावसायिक सहमति के आधार पर ही सही, एक दिन से ज़्यादा लगातार कई दिन तक तनाव मुक्त सफल सहवास अपेक्षाकृत स्थायी क़िस्म की अंतरंगता की तरफ़ ले जा सकता है।

बहरहाल, देह व्यापार का एक और नया पहलू फ्रेंडशिप क्लबों की नवविकसित परिघटना में पाया जा सकता है। राष्ट्रीय अख़बारों के वर्गीकृत विज्ञापनों के कॉलमों में ऐसे फ़ोन नम्बर इफ़रात से मिलते हैं जिन पर कॉल करके एक निश्चित फ़ीस दे कर महिला फ्रेंड पायी जा सकती है। यह दोस्ती भी डेटिंग की तरह दस या पंद्रह दिन चलने के लिए ही की जाती है। इसमें साथ-साथ घूमा जाता है, वाइनिंग-डाइनिंग होती है, फ़िल्म देखी जाती है, उपहार दिये जाते हैं और यह सिलसिला जितनी ख़ूबी और खुले दिल से होता है उसी के अनुपात में सेक्स का सुख भी उठाया जा सकता है। यह धंधा क़ानून की पकड़ से एकदम बाहर है। दिल्ली के सबसे मशहूर मैरिज ब्यूरो ('रिश्ते ही रिश्ते : मिल तो लें' का विख्यात नारा देने वाला) के संचालक द्वारा चलाये जा रहे फ्रेंडशिप क्लब पर पुलिस ने जब छापा मारा तो कई कम्प्यूटरों में भरे हुए बहुत से फ़ोन नम्बर मिले। ये फ्रेंडशिप चाहने और देने वालियों के थे। संचालक महोदय ने पुलिस को चुनौती दे कर कहा कि वे कोई ग़ैरकानूनी काम नहीं कर रहे। यानी उन पर दलाली का इल्ज़ाम नहीं बनता था। वे तो एक पक्ष को दूसरे पक्ष के केवल फ़ोन नम्बर देते हैं। बाकी काम करना दोनों पार्टियों की ज़हमत है। फ्रेंडशिप कराने वाले क्लबों में सबसे मशहूर और व्यावसायिक कुशलता से काम करने वाली संस्था शायद टाइम्स फ्रेंडशिप नेटवर्क लिमिटेड है। 1997 से पब्लिक लिमिटेड कंपनी के रूप में काम कर रही यह संस्था दावा करती है कि उसके पास जोशोख़रोश से काम करने वाली एक टीम है और आधुनिकतम प्रौद्योगिकी के साथ सबसे बड़ा नेटवर्क है। वह दोस्ती बेचने के बाद हफ़्ते में सात दिन और चौबीस घंटे आफ़्टर सेल सर्विस भी देती है। यह कंपनी अपने विज्ञापन में आश्वासन देती है :

फ़्रेंडशिप श्योर, सेफ़ ऐण्ड सिक्योर! दो लाख का मुफ़्त इंश्योरेंस! फ़्रेंडशिप की गारंटी वरना पैसे वापस।

टाइम्स फ्रेंडशिप वालों को अगर फ़ोन किया जाये तो वे उम्र, पेशा, आमदनी और रुचियों आदि का पता लगा कर सलाह भी देते हैं कि आप को कैसी फ्रेंडशिप 'सूट' करेगी। उसी के हिसाब से फ़ीस होती है। आम तौर पर तीन स्तरों की फ्रेंडशिप की पेशकश करने वाली यह कंपनी साफ़ बताती है कि नीचे से दो स्तरों पर तो पुरुष को ही फ्रेंड के ऊपर ख़र्चा करना होगा, पर सर्वोच्च स्तर की फ्रेंडशिप में हो सकता है कि महिला पक्ष ही ख़र्च करने के लिए राज़ी हो जाये। या दोनों एक-दूसरे पर ख़र्च करें। पहले दोनों स्तरों पर महिला पक्ष के पास चुनाव का अधिकार नहीं होता। पर, सर्वोच्च स्तर पर महिला पक्ष भी पुरुष को ठुकरा सकता है। न तो यह चकलाघर वाला देह व्यापार है और न ही कॉलगर्ल वाला जिसमें सम्भोग के अलावा और कुछ नहीं होता। देह व्यापार की यह अजीब-सी संरचना है जिसमें पैसे के बदले किये जाने वाले सम्भोग को मित्रता और रोमांस से गूँथ दिया गया है। ज़ाहिर है कि इस घालमेल में नये तरह के अंतरंग रिश्ते बनने की काफ़ी संभावनाएँ हैं जो विवाह और परिवार के दायरों के बाहर सक्रिय रह सकते हैं। डेटिंग के विज्ञापन और फ्रेंडशिप क्लब उत्तरोत्तर लोकप्रिय होते चले जा रहे हैं। इन विज्ञापनों में मँझोली आय वाले लोगों के लिए भी सेक्शुअल एडवेंचर की संभावनाएँ हैं।

जॉन डि'इमिलियो द्वारा की गयी पूँजीवाद और समलैंगिकता के रिश्तों की व्याख्या को अगर एंथनी गिडेंस द्वारा प्रतिपादित प्रेम की तीन श्रेणियों के साथ पढ़ा जाये तो समझ में आने लगता है कि दिल्ली का मीडिया डेटिंग कॉलमों और फ्रेंडशिप क्लबों के ज़रिये किस तरह के प्रेम की संस्तुति कर रहा है। आधुनिक समाजों में सेक्शुअॅलिटी, प्रेम और ऐंद्रिकता की चर्चा करते हुए एंथनी गिडेंस ने प्रेम की तीन श्रेणियाँ बनायी हैं। रूमानी प्रेम, उत्कट प्रेम और इयत्ता केन्द्रित प्रेम। ये तीनों ही रूप आधुनिकता की देन हैं और पूँजीवादी विकास में तरह-तरह की भूमिकाएँ निभाते दिख सकते हैं।

रूमानी प्रेम आज़ादी की कामना से जुड़ा हुआ है और वह सेक्शुअॅलिटी को गले लगाने के बावजूद उसे पहली प्राथमिकता पर नहीं रखता। यहाँ पूँजी अपने प्रभुत्व के शुरुआती दौर में उत्पादक शक्तियों के विकास का नियामक होते हुए भी प्रेम को डराती है। यहाँ प्रेम ऐलान करके कहता है कि वह स्थापित संरचनाओं द्वारा आरोपित रिश्तों को मान्यता नहीं देता। लव में दोनों पार्टनर एक-दूसरे को स्पेशल समझते हैं और यह स्पेशलिटी उसी समय स्थापित हो जाती है जब पहली बार नज़रें चार होती हैं। दोनों एक-दूसरे के सामने अपना हृदय खोलते चले जाते हैं। दोनों ही इयत्ताएँ मिल कर एक हो जाती हैं। रूमानी प्रेम की यह घटना अपने प्रारंभ और परिणाम में अलग-अलग संस्कृतियों में अलग-अलग ढंग से घटती है। प्रेम की इस संस्कृति-विशिष्ट क़िस्म का तीव्र और सार्वभौम रूप उत्कट प्रेम है जिसमें दैहिक आकर्षण और सेक्शुअॅलिटी इतनी प्रखर होती है कि प्रेमी युगल का परिवेश अस्थिर हो जाता है। इस प्रेम में राजसिंहासन त्याग दिये जाते हैं, वर्ग और जाति की सीमाएँ तोड़ दी जाती हैं और एक-दूसरे को पाने के लिए रेडिकल तरीक़े अख़्तियार करने में भी कोई हिचक नहीं दिखायी जाती। रूमानी प्रेम में भी व्यवस्था विरोध के तत्त्व होते हैं, पर उत्कट प्रेम व्यवस्था को अपने सामने पूरी तरह झुका देना चाहता है। वह मरने-मारने पर उतारू रहता है। व्यवस्था इन दोनों प्रेमों की अस्थिरकारी प्रवृत्तियों से चौंकती है और ऐलान करती है कि 'इश्क़ चीज़ है बेहद नाज़ुक, अक़्ल का बोझ उठा नहीं सकती'।

पूँजीवादी समाज लगातार एक तीसरी तरह के प्रेम की तलाश करता रहता है जिसकी सिफ़ारिश करने में उसे किसी जोखिम का सामना न करना पड़े। यह है इयत्ता आधारित प्रेम। इसमें दोनों पक्ष आगा-पीछा सोच-समझ कर प्रेम में पड़ते हैं। पहली नज़र में किसी का किसी को भा जाना प्रेम की शुरुआत कर सकता है, इससे मन में प्रेम का विचार पैदा हो सकता है, लेकिन बुद्धिसंगत कसौटियों पर कसने से यह आकर्षण मस्तिष्क द्वारा ख़ारिज भी कर दिया जाता है। इस प्रेम में प्रेमीजन अपने परिवेश को कोई चुनौती नहीं देना चाहते। वे भविष्य, सामाजिक हैसियत, आर्थिक हैसियत और अपनी इयत्ता की पूरी रक्षा का बंदोबस्त करके प्रेम के मैदान में उतरते हैं। यहाँ प्रेम विवाह 'स्वनियोजित विवाह' में बदल जाता है जिसमें दोनों पक्षों के परिजन भागीदारी करते हैं।

ख़ास बात यह है कि इस प्रेम में दोनों पक्ष अपनी इयत्ता एक-दूसरे के सामने उतनी ही प्रकट करते हैं जितनी संबंधों के जारी रहने के लिए ज़रूरी होती है। दोनों किसी न किसी रूप में अपनी प्राइवेसी सुरक्षित रखने का निर्णय ले सकते हैं। चूँकि मामला इयत्ता का है, इसलिए सेक्शुअल रुझान पहली प्राथमिकता बन जाता है जिससे प्रेम दो तरह की गिरफ़्तों से आज़ाद हो पाता है। सबसे पहले वह शाश्वत प्रेम के आग्रह से मुक्त होता है। नतीजे के तौर पर 'मिलन और तलाक़' की परिघटना वाला समाज उभरता है। यौन संबंधों की एकनिष्ठता धारावाहिक किस्म की एकनिष्ठता में बदल जाती है। दूसरे उसे हेटरोसेक्शुअॅलिटी की गिरफ़्त से आज़ाद होने का मौक़ा मिल जाता है। यानी इयत्ता आधारित प्रेम समलैंगिक प्रेम को भी स्वीकार करता है। पूँजीवाद को यही प्रेम पसंद है और इसकी पेशकश भूमंडलीकरण के युग में अनायास ही नहीं की जा रही है।

तलाक़ के मामलों के विशेषज्ञ वकीलों के मुताबिक़ दिल्ली में होने वाले प्रत्येक पाँच विवाहों में एक का अंत तलाक़ में होता है। यह पिछले पाँच सालों की स्थिति है। पहले तलाक़ के लिए दी जाने वाली अर्ज़ियों में तीस फ़ीसदी महिलाओं की तरफ़ से दी जाती थीं, अब उनकी संख्या बढ़ कर चालीस फ़ीसदी हो गयी है। दिल्ली में पाँच तलाक़ कोर्ट हैं जिनमें प्रतिदिन पच्चीस से तीस मुक़द्दमे दायर होते हैं। यानी हर वर्ष आठ-नौ हजार दम्पति तलाक़ के लिए अदालतों की शरण लेते हैं। यह परिस्थिति बहुत बड़े पैमाने पर ऐसे समुदाय को पैदा कर रही है जिसकी रचना जल्दी ही दूसरी या तीसरी शादी करने वाले लोगों, या फिर अकेले रहने वाले लोगों से ही होगी। लेकिन, केवल इन्हीं आँकड़ों के आधार पर यह नहीं माना जा सकता कि नयी सेक्शुअॅलिटी के विकसित

होने की वे भौतिक स्थितियाँ तैयार हो गयी हैं जो युरोप या अमेरिका में हैं। इससे यह अंदाज़ा भी नहीं लगाया जा सकता कि दिल्ली या देश में किसी भी क़िस्म के समलैंगिक समुदायों की रचना हो रही है। शायद इसीलिए दिल्ली में समलैंगिकों के बीच काम करने वालों ने 'गे' या 'लेस्बियन' जैसी पश्चिमी अस्मिताओं के मुक़ाबले एक 'एमएसएम' जैसी श्रेणी ईज़ाद की है। इसका मतलब हुआ 'मैन हू हेज़ सेक्स विद मैन'। दिल्ली के एक बड़े सेक्शुअॅलिटी एनजीओ के सहयोग से दिल्ली के पुरुष समलैंगिकों की एक एथनोग्राफ़ी में यह श्रेणी काफ़ी ठोस रूप से निकल कर आयी है। इस अध्ययन से पता लगता है कि दिल्ली के समलैंगिकों में शादीशुदा और बाल-बच्चों वाले मर्दों की संख्या ख़ासी है। इस तरह बाईसेक्शुअॅलिटी का तथ्य सामने आता है।

तीसरा समीकरण: सेक्शुअल इंजीनियरिंग, सेक्शुअल पॉलिटिक्स और सेक्शुअल इंडेक्स

> जैसे-जैसे उजरती मज़दूरी का प्रसार और उत्पादन का सामाजिकीकरण हुआ, सेक्शुअॅलिटी को प्रजनन की 'अनिवार्यता' से मुक्त करना संभव होता चला गया। विचारधारात्मक रूप से हेटरोसेक्शुअल रिश्तों का मतलब अंतरंगता, परस्पर ख़ुशी और आनंद की अनुभूतियों को बढ़ावा देना समझा जाने लगा। एक तरफ़ परिवार की संस्था को आर्थिक उत्पादन की स्वतंत्र इकाई से वंचित करके और दूसरी तरफ़ सेक्शुअॅलिटी को संतानोत्पत्ति की ज़िम्मेदारी से बरी करके पूँजीवाद ने ऐसे हालात तैयार किये कि कुछ औरतों और मर्दों को अपना निजी जीवन अपनी समलैंगिक ऐंद्रिक और जज़्बाती ज़रूरतों के आसपास व्यवस्थित करने का मौका मिल गया...
>
> जॉन डि'इमिलियो: *कैपिटलिज़्म ऐण्ड दि गे आइडेंटिटी*

> पूरे भारत की गे आबादी का 32 फ़ीसदी हिस्सा राजधानी में है। ऐसे हास्यास्पद आँकड़े पढ़कर लोगों को लगता है कि हम लोग पूरी दिल्ली पर क़ब्ज़ा ही किये ले रहे हैं। कई लोगों ने मुझसे मिलकर कहा है कि 'अरे, तुम लोग तो हर जगह हो और फैलते ही जा रहे हो।' मेरा जवाब था कि हम लोग कोई महामारी नहीं हैं जो फैलती जा रही हो।
>
> 12 जून के *हिन्दुस्तान टाइम्स* में प्रभा चंद्रन के आइटम 'डेल्ही इज़ न्यू कैपिटल ऑफ़ गेज़' की प्रतिक्रिया में 'गे डेल्ही: न्यूज़ ऐण्ड रिव्यूज़' की टिप्पणी।

डि'इमिलियो, डेविड हैलपेरिन और पीटर रे जैसे विद्वान अपने अध्ययनों में अलग-अलग ढंग से दिखाते हैं कि समाज में जैसे ही परिवार की संस्था संकट में फँसती है, समलैंगिकता, आत्मरति और दृश्यरति चुनौतीपूर्ण मुद्रा में उभरते हैं। इन विद्वानों के पास इस सूत्रीकरण को ठोस साबित करने के प्रमाण भी हैं। वे युरोप और अमेरिका में तलाक़ की बढ़ती हुई संख्या ही नहीं, दूसरी और तीसरी शादियों में वृद्धि के आँकड़े भी पेश करते हैं। उनके विमर्श से एक समझ में आने वाला सिद्धांत निकलता है कि पूँजीवाद एक तरफ़ तो सेक्स को दैहिक आनंद से जोड़कर उसे सर्वाधिक प्रामाणिक बना देता है जिससे समलैंगिकता के लिये पहले से कहीं ज़्यादा स्पेस बनने की संभावनाएँ पैदा होती हैं, लेकिन साथ ही वह परिवार की अस्थिरता की झूठी तोहमत भी समलैंगिकता पर मढ़ता है ताकि यह प्रवृत्ति संतानोत्पत्ति की ज़िम्मेदारी निभाने वाले परिवार को पूरी तरह खा न जाये। इस तरह पूँजीवाद होमोसेक्शुअॅलिटी और होमोफ़ोबिया दोनों को एक साथ बढ़ावा देता है।

सेक्शुअॅलिटी पर उपलब्ध पश्चिमी समाज विज्ञान या तो युरोपीय और अमेरिकी अनुभव की इसी समझ पर आधारित है या फिर वह दक्षिण-पूर्व एशिया और प्रशांत महासागरीय देशों में पनपे सेक्स मार्केट के अध्ययन के आधार पर रचा गया है। भारतीय परिस्थितियाँ अभी तक सेक्शुअॅलिटी के अध्येताओं का विषय ही नहीं बनी हैं। यहाँ सेक्शुअॅलिटी के बारे में अगर कुछ है तो सुधीर कक्कड़ की रचनाओं और प्रकाश कोठारी की टीका-टिप्पणियों के रूप में देखा जा सकता है। ये लोग भी सेक्शुअॅलिटी के चिकित्सकीय और वैचारिक आधार की खोजबीन करने में ज़्यादा व्यस्त रहे हैं। भारतीय सेक्शुअॅलिटी के आत्मगत और वस्तुगत पहलुओं के भाष्य के मामले में विद्वानों के एक छोटे से अध्ययन दल ने पिछले दिनों ज़रूर कुछ काम किया है। इन लोगों ने भारतीय मैस्क्युलिनिटी

को अपनी दिलचस्पी का केन्द्र बनाया है। इनके साथ कुछ गैर-सरकारी संस्थाएँ एड्स के प्रश्न को केन्द्र करके अपनी गतिविधियाँ चला रही हैं। ये संस्थाएँ होमोफ़ोबिया के ख़िलाफ़ काम करते हुए समलैंगिकता को एक स्वाभाविक मानवीय यौन रुझान के रूप में पेश करती हैं। समलैंगिकता के भारतीय इतिहास को उकेरने का भी कुछ प्रयास हुआ है। देखा जाये तो दिल्ली में सेक्शुअ‌ॅलिटी के ऊपर लोकप्रिय बहस की शुरुआत का श्रेय नब्बे के दशक के उत्तरार्ध में हुई दो घटनाओं को जाता है। पहली, आईटीओ स्थित पुलिस मुख्यालय पर समलैंगिकों का प्रदर्शन और दीपा मेहता की फ़िल्म *फ़ायर* के ख़िलाफ़ हिंदुत्व ब्रिगेड के हमले की प्रतिक्रिया में कुछ लेस्बियनों का पहली बार खुलकर सामने आना। लेकिन, इससे पहले ही एड्स भेदभाव विरोधी संगठन की गतिविधियों ने इस बहस की नींव डाल दी थी। अरुण भंडारी, डॉ. जे.पी. जैन, जगदीश भारद्वाज, एस.ए. ललिता, डॉ. पी. एस. साहनी, एस.सी.एन. शालिनी और सिद्धार्थ गौतम ने मिलकर इस संगठन के लिए 1991 में एक रपट तैयार की जिसे *सिटिज़ंस रिपोर्ट ऑन दि स्टेटस ऑफ़ होमोसेक्शुअ‌ॅलिटी इन इंडिया* क़रार दिया गया। इस रपट का शीर्षक था 'लैस देन गे'। इसके बाद दिल्ली में सेक्शुअ‌ॅलिटी का मसला सीधे-सीधे या तो मीडिया के हाथों में जाता हुआ दिखायी देता है या फिर उस पर एनजीओ के रूप में प्रचलित संगठन हावी होते हुए दिखते हैं। मीडिया होमासेक्शुअ‌ॅलिटी के बारे में ख़बरें तो देता है, पर वह अपना कार्यक्षेत्र हेटरोसेक्शुअ‌ॅलिटी को ही बनाता है। एनजीओ समलैंगिकता के दायरे में काम करते हैं और हेटरोसेक्शुअ‌ॅलिटी को अनुसंधान के विषय में देखने से भी परहेज़ करते हैं। इस तरह दिल्ली में सेक्शुअ‌ॅलिटी का विमर्श हेटरो और होमो कम्पार्टमेंट्स में बँट जाता है। दोनों की राजनीति अलग-अलग है। मीडिया बाज़ार की सेवा में लगा हुआ है और एनजीओ एड्स के खिलाफ़ संघर्ष के नाम पर मिल रहे विदेशी धन के दबाव में एक ख़ास तरह के एजेंडे को आगे बढ़ा रहे हैं।

मीडिया भूमंडलीकरण और आधुनिकीकरण के नाम पर जिस यौन क्रांति का नेतृत्व करने का दावा कर रहा है, उसका पहला अधूरापन तो यह है कि वह सेक्शुअ‌ॅलिटी में निहित बहुवचन को स्वीकारते हुए भी साफ़ तौर पर केवल हेटरोसेक्शुअ‌ॅलिटी के पक्ष में ही झुका हुआ है। बहस के दौरान उसे हिंदुत्व ब्रिगेड के सिद्धांतकार केवलरत्न मलकानी के मुक़ाबले समलैंगिकता के पुराने पैरोकार अशोक राव कवि का वक्तव्य छापने में कोई दिक़्क़त नहीं होती। पर साप्ताहिक कॉलमों में नियमित रूप से छपने वाले सेक्स संबंधी सलाह-मशविरे में जैसे ही कोई व्यक्ति अपनी समलैंगिक प्रवृत्तियों की जानकारी देता है, मनोचिकित्सक उसे 'होमोसेक्शुअल डिसऑर्डर' का डर दिखाता हुआ नज़र आता है। यह मीडिया समाज में बढ़ती हुई या सामने आती हुई समलैंगिकता के तथ्यों पर ज़ोर देने से परहेज़ करता है। *डेल्ही टाइम्स* द्वारा कामसूत्र सर्वे के दो बार छापे गये नतीज़ों में इस पहलू का तक़रीबन जानबूझ कर जिक्र नहीं किया गया। *डेल्ही टाइम्स* ने केवल हेटरोसेक्शुअल दायरे में हो रही सेक्शुअल गतिविधियों के आँकड़ों में ही दिलचस्पी दिखायी। विचारधारात्मक रूप से समलैंगिकता के खिलाफ़ न होते हुए भी टाइम्स ग्रुप उससे संबंधित तथ्यों की उपेक्षा क्यों करता है? इसके कारणों का केवल क़यास लगाया जा सकता है। समझा जा सकता है कि भारत में समलैंगिक एक समुदाय के रूप में नहीं उभर पाये हैं इसलिए बाज़ार उनकी एक उपभोक्ता समुदाय के रूप में शिनाख़्त करने में नाकाम है। शायद बाज़ारवाद की सेवा में लगे अख़बार समलैंगिकों को उस यौन क्रांति का उल्लेखनीय अंग मानने के लिए तैयार नहीं हो पाते जो उसकी निगाह में तेज़ी से घटित हो रही है। यहाँ तक कि कामत, काज़मी और करकरिया ऐण्ड कंपनी भी समलैंगिकता का ज़िक्र नहीं करते।

मीडिया दिल्ली में नये तैयार हुए होमोसेक्शुअल स्पेस का विवरण तो देता है, पर अपर्याप्त। पुलिस जब समलैंगिकता विरोधी क़ानून धारा 377 लागू करने के लिए छापे मारती है, तो उन घटनाओं और उनके विरोध की रोशनी में वह ज़्यादा से ज़्यादा यह बता पाता है कि नेहरू पार्क, सेंट्रल पार्क और लाल क़िले से लेकर पुरानी दिल्ली रेलवे स्टेशन तक हर शाम छः बजे के बाद पुरुष समलैंगिक सेक्स पार्टनर की तलाश में 'क्रूज़िंग' करते हैं। लेकिन यह मीडिया उन गे पार्टियों, गे शादियों और गे जोड़ों का ब्यौरा देने से संकोच करता है जो पिछले दस सालों से दिल्ली के सेक्शुअल परिदृश्य के मुखर अंग बन चुके हैं। यहाँ एक बार फिर मीडिया की दिलचस्पी अधिकांशतः हेटरोसेक्शुअल दायरे में हो रही सेक्शुअल गतिविधियों तक ही सीमित है। दरअसल, मीडिया होमोसेक्शुअ‌ॅलिटी की ख़बरों को सनसनी फैलाने के लिए इस्तेमाल करता है जिसकी दो प्रतिक्रियाएँ होती हैं। एक बिम्ब बनता है कि समाज में यौन स्वच्छंदता बहुत बढ़ती जा रही है। दूसरी तरफ़ होमोफ़ोबिया को बढ़ावा

मिलता है क्योंकि मीडिया की ख़बरें जाने-अनजाने समलैंगिक पुरुष को भावशून्य, बच्चों के साथ कुकर्म करने वाले, बीसियों और पचासों पार्टनरों के साथ सेक्स करने वाले व्यक्ति की छवि दे देता है।

दिल्ली के मीडिया द्वारा की जा रही सेक्शुअल इंजीनियरिंग का अध्ययन इस शहर की सेक्शुऑलिटी के इंडेक्स को निर्धारित करने में काफ़ी मददगार हो सकता है। यह इंडेक्स कामनाओं के भौतिक आधार और उनकी संरचना की तरफ़ एक गतिशील इशारा कर सकता है। मीडिया में दिल्ली के ऐसे तमाम बाज़ारों का नियमित वर्णन मिलता है जहाँ ताज़ा फ़ैशन के मुताबिक़ वस्त्र बहुत सस्ते दामों में मिलते हैं। फ़िल्मों में रानी मुखर्जी और करीना कपूर जैसी फ़िल्मी हीरोइनों द्वारा पहनी गयी पोशाकें, बाँधी गयी बेल्टें और तमाम तरह के पश्चिमी परिधान इस फ़ैशन मार्केट ने निम्न और निम्न-मध्यवर्ग को मुहैया कराना शुरू कर दिया है। दस साल पहले इस तरह के बाज़ारों की उपलब्धता न के बराबर थी। आज उच्च वर्ग द्वारा अपनायी जाने वाली स्टाइल हफ़्ते भर के अंतराल में प्रतिकृति के रूप में इन बाज़ारों में मिल जाती है। रुपहले पर्दे पर नायक-नायिकाओं की इरोटिक छवि को परोसने वाले वस्त्र शहरी समाज में दायें से बायें तक बहुत जल्दी आम लोगों की इरोटिक इयत्ता को व्यक्त करने के माध्यम बन जाते हैं। मीडिया रिश्तों में देह की बढ़ती हुई प्रधानता की जानकारी देता है। आख़िरकार नयी सेक्शुऑलिटी देह के बदलते हुए और विविध होते हुए इस्तेमाल का भी तो नाम है। मीडिया परिवार की मौजूदा दशा की शुरुआती जानकारी देता है। संकेत मिलता है कि हेटरोसेक्शुअल परिवार की संस्था संकट में फँसने की तरफ़ बढ़ रही है। मीडिया बताता है कि तलाक़ की दर बढ़ रही है। उसके वैवाहिक विज्ञापनों वाले कॉलमों में तलाक़शुदा औरतें और विधवाएँ वरों की माँग कर रही हैं। मोनोगेमी सीरियल मोनोगेमी की तरफ़ बढ़ती दिखायी देती है। मीडिया विवाह की बढ़ती हुई उम्र, अकेली रहने वाली औरतों और मर्दों की बढ़ती हुई संख्या की तरफ़ ध्यान खींचता है। केवल पढ़े-लिखे साधनसम्पन्न लोग ही नहीं, दिल्ली के अनौपचारिक क्षेत्र में काम कर रहे लाखों मज़दूर भी अकेले ही जीवनयापन कर रहे हैं, जिनमें तक़रीबन आठ लाख तो रिक्शेवाले ही हैं।

मीडिया पोर्नोग्राफ़ी और इरोटिक सामग्री के सामाजिक असर पर नियमित रूप से बहसें और अन्य सामग्री प्रकाशित करता रहता है। फ्रेंडशिप क्लबों, फ़ोन सेक्स, मसाज पार्लरों और एस्कॉर्ट सर्विसों के विज्ञापन छाप कर वह देह व्यापार के नये-नये रूपों और उसके अभूतपूर्व प्रसार का वाहक बना हुआ है। वह सेक्शुऑलिटी पर एड्स जैसे महारोग के असर से ख़ासा चिंतित है। एड्स का आतंक हेटरो और होमो दोनों क्षेत्रों में है। सेक्शुऑलिटी से जुड़े तक़रीबन सभी एनजीओ एड्स का मुक़ाबला करने के नाम पर पश्चिम से बड़े पैमाने पर धन ला रहे हैं। विदेशी धन के प्रायोजित आग्रहों से बहुत बड़े पैमाने पर सेक्शुऑलिटी के डिस्कोर्स को एक ख़ास दिशा दी जा रही है। विदेशी पैसे ने एक ख़ास तरह की 'पॉलिटिकल करेक्टनेस' पैदा की है। जिस तरह संसदीय राजनीति में अल्पसंख्यकों की राजनीति होती है, ठीक उसी तर्ज़ पर ऑल्टरनेटिव सेक्शुऑलिटी की राजनीति हो रही है।

उपभोक्ता क्रांति और मनोरंजन उद्योग के साथ जुगलबंदी करता हुआ मीडिया नियोजित विधि से हेटरोसेक्शुऑलिटी की शिनाख़्त बाज़ार के टारगेट के रूप में कर रहा है। मीडिया के ज़रिये दिल्ली में रोज़-ब-रोज़ हेटरोसेक्शुऑलिटी का समारोह मनाया जा रहा है। सर्वेक्षण आधारित समाजशास्त्र और महामारियों से जुड़े हुए अंतर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य तंत्र के उपादानों का इस्तेमाल करते हुए अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी ने दिल्ली को कामनाओं की फ़ैक्ट्री में बदल दिया है, एक ऐसी फ़ैक्ट्री में जिसमें कामनाएँ संतृप्त होने के बजाय दूसरी कामनाओं को रचने की कामना से ग्रस्त हैं। दिल्ली की जमीन पर सेक्शुऑलिटी पूँजी की सतत तरलता, अपकेन्द्रीयता और गतिशीलता का उत्तर-आधुनिक मॉडल बन गयी है।

मीडिया द्वारा प्रायोजित हेटरोसेक्शुअल सेक्स क्रांति बताती है कि दिल्ली के समाज में विभिन्न लैंगिक अभिनेताओं के बीच यौन क्रिया के लिए रोज़ाना होने वाली अन्योन्यक्रिया बारम्बारता के लिहाज़ से पहले के मुक़ाबले बहुत बढ़ गयी है। यौन क्रिया की स्थानिकता भी अब शयन कक्ष या चकलाघर केन्द्रित नहीं है। शहर के तक़रीबन सभी स्पेस इरोटिक अनुभूतियों से दो-चार हो रहे हैं। लेकिन, मीडिया इस वार्ता के ज़रिये स्थापित होने वाले लैंगिक सत्ता संबंधों के बारे में जानकारी देने से परहेज़ करता है। इस मामले में उसकी मान्यता भी बाज़ार की तरह ही लैंगिक तटस्थता के पक्ष में झुकी हुई लगती है। ज़ाहिर है कि इस तरह की यौन क्रांति में पहले से हावी मर्दानगी के सेक्शुअल मूल्यों को ही अपनी स्थिति मज़बूत करने का मौक़ा मिलता है। लेकिन, क्या

शहरी यौनिकता से संबंधित इस परिवर्तन के दौरान स्त्रीत्व के लिए उसकी अपनी सेक्शुअल एजेंसी पहले के मुक़ाबले सुलभ नहीं हुई है? इस सवाल का जवाब नकारात्मक नहीं दिया जा सकता। मीडिया ने जो छवियाँ परोसी हैं, मर्दानगी पर जिस तरह की बहसों को बढ़ावा दिया है, देह-केन्द्रीयता का जिस तरह से बोलबाला हुआ है और स्त्री पक्ष के लिए इरोटिक एहसासों का जो नवीकरण हुआ है, वह निश्चित रूप से औरत के यौन जीवन में भारी परिवर्तनों का वाहक बन सकता है। इन परिवर्तनों में लैंगिक सत्ता संबंधों को दूरगामी तौर पर प्रभावित करने की क्षमता है। ये परिवर्तन यौन सम्मान के लिए होने वाली अन्योन्यक्रिया के चरित्र को आज नहीं तो कल ज़रूर बदल सकते हैं जिससे परिवार की संरचना पर रेडिकल असर पड़ सकता है।

आभार

मैं आशीष नंदी, धीरूभाई शेठ, रवि सुंदरम, रविकांत, आदित्य निगम, निवेदिता मेनन, ऐश्ली टेलिस, अविनाश झा, श्वेता शारदा, राहुल राय, अनुजा गुप्ता, नवीन चंद्र, शैल मायाराम, आर. के. श्रीवास्तव, अरविंद जैन और राजेन्द्र यादव का शुक्रगुज़ार हूँ जिन्होंने इस अनुसंधान में सामग्री जुटाने से लेकर सोचने-समझने के स्तर तक मेरी मदद की। लेख की सीमाओं की पूरी ज़िम्मेदारी सिर्फ़ मेरी है। इस अध्ययन की अधिकतर सामग्री 1990 से अब तक *इंडियन एक्सप्रेस* और उसके रविवारीय परिशिष्ट, *टाइम्स ऑफ़ इंडिया* और उसके महानगरीय परिशिष्ट *डेल्ही टाइम्स*, *हिन्दुस्तान टाइम्स* और उसके महानगरीय परिशिष्ट *एचटी सिटी*, *पायनियर* और उसके महानगरीय परिशिष्ट *वीवासिटी*, *नवभारत टाइम्स* और उसके महानगरीय परिशिष्ट *हैलो दिल्ली*, *दैनिक हिन्दुस्तान* और उसके महानगरीय परिशिष्ट *हिन्दुस्तान सिटी* और *एशियन एज* के महानगरीय परिशिष्ट *द डेल्ही एज* में छपी ख़बरों, बहसों और विश्लेषणों से ली गयी है। इसके अलावा कई नेट पर उपलब्ध सामग्री की मदद भी ली गयी है जिसमें गे डेल्ही.डॉट कॉम प्रमुख है।

टिप्पणियाँ

1. डॉ मोजो दिल्ली टाइम्स के पन्नों पर पढ़े और लव-गुरू एफ़एम चैनल रेडियो सिटी पर सुने जा सकते हैं. लेकिन, इससे भी आगे बढ़ कर इस आलेख में ये दोनों नाम प्रतीकात्मक रूप से इस्तेमाल किये गये हैं. दूसरे अख़बारों में दूसरे नामों से और दूसरे एफ़एम चैनलों पर किसी और आवाज़ में यौन विषयक सलाह-मशविरे की ये सेवाएँ दिन-रात खुलेआम क़ानून के दायरे में उपलब्ध हैं. ख़ास बात यह है कि यह दिल्ली के अपने मीडिया की ही परिघटना है. अख़बारों के मुख्य हिस्से से ये बातें अलग रखी जाती हैं, और न ही आकाशवाणी तक इनकी संक्रामकता फैली है.
2. काम विज्ञान में वात्स्यायन के इस विशिष्ट योगदान और उसके कारण उन्हें होने वाली परेशानियों की झलक उनके जीवन पर सुधीर कक्कड़ द्वारा रचित जीवनीपरक उपन्यास *एस्केटिक ऑफ़ डिज़ाइय* से मिलती है. हिंदी में राजकमल द्वारा प्रकाशित इसका अनुवाद *कामयोगी* अपने बेहतरीन अनुवाद के लिए पुरस्कृत हो चुका है.
3. यहाँ वामपंथी महिला संगठन की जिस बैठक का ज़िक्र किया गया है उसमें एकमात्र पुरुष के रूप में यह लेखक भी शामिल था. मैंने जैसे ही यह सवाल उनके बीच में फेंका कि अगर कोई वेश्या सेक्स-वर्कर के उत्तर-आधुनिक अवतार में उनके बीच आ कर उनके संगठन की सदस्यता का दावा करे, तो क्या वे उसे सदस्य बनायेंगी, बहस ने एकदम रेडिकल मोड़ ले लिया. भाषा और शब्दावली पूरी तरह नैतिकता का तख़्तापलट वाली हो गयी। मुझे यह देख कर अचरज हुआ कि पचास से ऊपर की उम्र वाली महिलाओं से लेकर नयी उम्र की लड़कियों तक में स्त्री की कामेच्छा को लेकर सकारात्मक रुख़ प्रकट हो रहा था. मेरे ख़याल से वामपंथी महिला संगठनों में इस प्रकार का रवैया अद्भुत समझा जाना चाहिए, क्योंकि ऐसे ज़्यादातर महिला संगठनों ने प्रेम और सेक्स के कम्युनिस्ट आदर्शों की आड़ में विक्टोरियायी शुद्धतावादी मूल्यों को जम कर आत्मसात कर रखा है.
4. इस जगह मैं पूर्णिमा मनकेकर (2004) से सहमत हूँ कि भारतीय या पूर्वी दुनिया की यौनिकता को समझने के लिए किसी विशुद्ध भारतीय या प्राच्य नज़रिये का इस्तेमाल करना व्यर्थ होगा। पूँजीवाद के नये चरण और आधुनिक विकास ने हमारी यौनिकता के ताज़े रूपों का सामान्यीकरण कर दिया है, और इस सामान्यीकरण पर पश्चिमी संस्कृति की गहरी छाप है.
5. जॉन एच. गैंगन और रिचर्ड जी. पार्कर ने अपने लेख 'कंसीविंग सेक्शुऑलिटी' में सर्वेक्षण तकनीक और सर्वेक्षणों के नतीजों के मीडिया द्वारा प्रसारण के महत्व पर रोशनी डाली है। दिल्ली का मौजूदा नज़ारा इस मायने में सत्तर के दशक में अमेरिकी मीडिया के नज़ारे से काफ़ी मिलता-जुलता है.
6. संजय श्रीवास्तव (2003) ने पुरुष यौनिकता पर अपनी एक रचना में इस पहलू की तरफ़ ध्यान खींचा है. बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में एन.एस. फड़के और ए.पी. पिल्ले जैसे यौनविज्ञानियों ने भारत की यौन समस्याओं पर नस्ल सुधारने की दृष्टि से अनुसंधान किया था जिसे यूजेनिक्स कहा जाता है.
7. 1990 के बाद से किये गये प्रमुख सेक्स सर्वे और अध्ययन इस प्रकार है जिनका इस विश्लेषण में इस्तेमाल किया गया है:
   लैस देन गे, एड्स भेदभाव विरोधी आंदोलन, नई दिल्ली 1991; मीरा सवारा और सी.आर. श्रीधर, *द डेबॉनेयर सेक्स सर्वे : सेक्स ऐण्ड दि इंडियन मेन* (अक्टूबर 1991, जनवरी 1992), स्वयं श्रीधर द्वारा निजी वितरण के लिए प्रकाशित दिसम्बर 1994 में मुंबई

में पुस्तक के रूप में प्रकाशित; मीरा सवारा और सी.आर. श्रीधर, *द सैवी सेक्स सर्वे : द सेक्स लाइफ़ ऑफ़ इंडियन विमेन, द सैवी*, अप्रैल 1992; *कामसूत्र क्रॉस-सेब सेक्स सर्वे 2003*, *डेल्ही टाइम्स* के 19, 22 और 29 मई 2003 के अंकों में इसके नतीजे प्रकाशित हुए, सर्वे का पूरा पाठ *डेल्ही टाइम्स/इंडियाटाइम्स.कॉम* पर उपलब्ध; 'यूथ सेक्शुॲलिटी : ए स्टडी ऑफ़ नॉलेज, एटीट्यूड्स, बिलीफ़्स ऐण्ड प्रेक्टिसेज़ एंड अरबन एजुकेटेड इंडियन यूथ 1993-94', फ़ेमिली प्लैनिंग एसोसियेशन ऑफ़ सेक्स-एक्स एट जी. बी. रोड इन डेल्ही, सेंटर फ़ॉर एजुकेशन ऐण्ड डोक्युमेंटेशन, मुंबई; 'सेक्सवर्कर्स, होमोसेक्शुअल्स राइज़िंग इन सिटी', डेल्ही स्टेट एड्स कंट्रोल सोसाइटी द्वारा कराई गई रिसर्च पर आधारित प्रमोद कुमार की रपट, *द डेल्ही एज*, 7 अगस्त 2003 डेल्ही वरजिन टेरिटरी टिल 18, गुड़गाँव के सेंटर फ़ॉर स्टडीज़ इन सेक्शुअल हेल्थ, के सर्वेक्षण पर आधारित जयदीप मज़ूमदार की रपट, *हिंदुस्तान टाइम्स*, 29 जुलाई 2003; 'सेक्स इन स्कूल नो मोर टैबू' : सर्वे, दिल्ली के अतिरिक्त पुलिस आयुक्त यू.एन.बी. राव द्वारा आईआईटी, दिल्ली के सहयोग से किये गये अध्ययन पर आधारित, श्रीरूपा मित्र चौधरी की रपट, *टाइम्स ऑफ़ इंडिया*, दिल्ली, 11 मार्च 1999; 'सेक्स इज़ इन बट अवेयरनैस इज़ नॉट', नेशनल इंस्टीटयूट ऑफ़ हैल्थ ऐण्ड फ़ेमिली वेलफ़ेयर द्वारा किये गये अध्ययन पर आधारित राधिका डी. श्रीवास्तव की रपट, *टाइम्स ऑफ़ इंडिया*, दिल्ली, 23 फ़रवरी, 2001; अनुपम रायज़ादा, एस.बी.गुप्ता, अरुण कुमार, सेक्शुअल प्रेक्टिसेज़ अदर देन पेनो-वैजाइनल सेक्स : पर्सेप्शंस ऐण्ड प्रेक्टिसेज़ इन एन अरबन कम्युनिटी, *इंडियन जरनल ऑफ़ कम्युनिटी मेडिसन*, खंड 27, अंक 4, अक्टूबर-दिसंबर 2002, एम.ई. ख़ान, जान डब्ल्यू. टाउनसेंड, रंजना सिन्हा और सीमा लखनपाल, सेक्शुअल वायलेंस विदिन मैरिज, 1997, पॉप्युलेशन काउंसिल, नयी दिल्ली; बिमान मुखर्जी, 'सोशल टैबू ऑफ़ प्रि-मैरिटल सेक्स ब्रोकन', 24 जून 2002, 2002 के कामसूत्र सेक्स सर्वे पर आधारित रपट आईअफ़्रीका.कॉम.

8. 'पोर्नोग्राफ़ीज़ मिरर हैज़ प्राइवेट इमेजेज़', *टाइम्स ऑफ़ इंडिया*, दिल्ली, 25 फ़रवरी 1995.
9. दि अदर विक्टिम्स ऑफ़ लस्ट : ए नाइटमेयर शो फ़ॉर फ़ीमेल रेजिडेंट्स, अमन सिंह की रपट, नेट पर उपलब्ध.
10. रिचा सिंह, मेस्क्युलिन आइडेंटिटीज़, वर्कर्स ऐण्ड एचआईवी/एड्स : अ स्टडी ऑफ़ डेल्हीज़ वज़ीरपुर इंडस्ट्रियल एरिया, ईपीडब्ल्यू/वीएसएनपएल.कॉम पर उपलब्ध.
11. जेरेमी सीब्रुक, लव इन ए डिफ़रेंट क्लाइमेट (दिल्ली के समलैंगिकों का एक अध्ययन), वर्सो, लंदन और न्यूयार्क, 1999.
12. हिजड़ों की यौनिकता किस तरह संगठन शक्ति के दम पर हिंसा और धमकी की भाषा बोल सकती है, इसके एक सबूत के रूप में रघुवीर नगर के हिजड़े नीलम बाई के विज़िटिंग कार्ड को देखा जा सकता है जिस पर साँई बाबा की तस्वीर छपी है, पूरे क्षेत्र का भौगोलिक वर्णन है और साफ़ लिखा है कि अगर नीलम बाई गोपालजी के अलावा किसी को बधाई दी, तो बधाई दोबारा ली जायेगी.
13. 'दि वर्ल्ड्स ओल्डेस्ट प्रोफ़ेशन – 2003' (दिल्ली के फ़्रेंडशिप क्लबों पर एक रपट), आर्चिस मोहन और और विभा शर्मा, *हिंदुस्तान टाइम्स*, 16 फ़रवरी 2001.

संदर्भ

जॉन डि'इमिलियो, *कैपिटलिज़्म ऐण्ड गे आइडेंटिटी, दि लेस्बियन ऐण्ड गे स्टडीज़ रीडर* (सम्पादक : हेनरी एबेलव, मिशेल आइना बराली और डेविड एम. हैलपेरिन), रटलेज, न्यूयॉर्क और लंदन, 1993, पृष्ठ 467-476.

डेविड एम. हैलपेरिन, इज़ देयर ए हिस्ट्री ऑफ़ सेक्शुॲलिटी, *द लेस्बियन ऐण्ड गे स्टडीज़ रीडर*, पृष्ठ 416-431.

मिशेल फूको, *द हिस्ट्री ऑफ़ सेक्शुॲलिटी* (तीन खंड), पेंगुइन बुक्स, 1998.

लिंडा विलियम्स, *हार्ड कोर : पावर, प्लेज़र ऐण्ड द 'फ़्रेंज़ी ऑफ़ द विज़िबल'*, कैम्ब्रिज, 1999.

रुथ वनिता और सलीम किदवई (सं.), *सेम सेक्स लव इन इंडिया : रीडिंग्स फ़्रॉम लिटरेचर ऐण्ड हिस्ट्री*, मैकमिलन, 2000.

एंथनी गिडेंस, *द ट्रांसफ़ॉर्मेशन ऑफ़ इंटीमेसी : सेक्शुॲलिटी, लव ऐण्ड इरोटिसिज़्म इन मॉडर्न सोसाइटीज़*, पॉलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज 1992.

सुधीर कक्कड़, *इंटीमेट रिलेशंस : एक्सप्लोरिंग इंडियन सेक्शुॲलिटी* ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

संजय श्रीवास्तव, 'सेन सेक्स, द फ़ाइव इयर प्लान हीरो, ऐण्ड मस्तराम मैस्क्युलिनिटी : ऑन द कल्चर्स ऑफ़ ट्वंटियथ सेंचुरी मैस्क्युलिनिटी', मैस्क्युनिलिटीज़ पर हुए सेमिनार में पेश आलेख.

पूर्णिमा मनकेकर और लुइसा शीन, 'इंट्रोडक्शन : मीडियेटेड ट्रांसनेशनलिज़्म ऐण्ड सोशल इरोटिक्स', *जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़*, 63, अंक 2, मई 2004.

एशियन रीजनल एक्सचेंज फ़ॉर न्यू ऑल्टर्नेटिव्ज़ (एरीना) के *जेंडर ऐण्ड सेक्शुॲलिटी* विशेषांक में प्रकाशित तीन लेख : उर्वशी बुटालिया की रचना 'दि इश्यू एट स्टेक : दि इंपॉर्टेन्स ऑफ़ द पॉलिटिक्स ऑफ़ सेक्शुॲलिटी', विकाश एन.पांडे की रचना 'कंज़्यूमिंग/कंज़्यूम्ड बॉडी : कंटेम्परेरी पॉलिटिक्स ऑफ़ डिज़ायर' और आभा चौहान की रचना 'प्रोस्टीट्यूशन ऐण्ड द सेक्स वर्क : डिलेमा फ़ार दि विमेंस मूवमेंट इन इंडिया'.

सुल्तान शाहीन, 'इंडिया रीडस्कवर्स कामा', *एशिया टाइम्स*, डब्ल्यूडब्ल्यूडब्ल्यू.ए टाइम्स.कॉम.

माइनॉरिटीज़ ऐण्ड अदरनेस : सेक्शुॲलिटी इन द सिटी, लिमिटेड स्पेस, डब्ल्यूडब्ल्यूडब्ल्यू.हेलसिंकी फ़्री/मे.कॉम.

डेविड टी. ईवांस, *सेक्शुॲल सिटिज़नशिप : द मैटीरियल कंस्ट्रक्शन ऑफ़ सेक्शुॲलिटीज़*, रटलेज, लंदन और न्यूयॉर्क, 1993.

लेस्बियन इमर्जेंस : *ख़ामोश इमरजेंसी जारी है! कैंपेन फ़ॉर लेस्बियन राइट्स, ए सिटिज़ंस रिपोर्ट*, अगस्त 1999, नई दिल्ली.

ऑटो के पीछे क्या है

प्रभात कुमार झा + रविकांत



लाज़िम है, कि 'सड़कछाप' शायरी की बात एक सड़कछाप गाने की नक़ल से की जाए। विद्वान जगत शायद विद्योत्माना अंदाज़ में पूछे कि 'अस्ति कश्चिद वाग्विशेषः' — ऐसी क्या ख़ास बात है? बचाव पक्ष वैसे तो दलील देने की ज़रूरत नहीं समझता फिर भी इशारतन गुज़रे ज़माने के चंद महारथियों को फुटनोटित करना शायद होशियारी होगी। उर्दू के आलातरीन, अफ़सानानिगार स'आदत हसन मंटो ने अपने पचासेक साल पहले लिखे एक निहायत चुटीले लेख 'दीवारों पर लिखना' में लगभग सिद्ध कर दिया कि महत्तर सत्य बड़ी इमारतों के बदबूदार मूत्रालयों में खुदे होते हैं। इसका एक और धारदार प्रमाण उन्हीं की एक और कहानी - और क्या, 'मूतरी' — में मिलता है, जहाँ कथानायक हिन्दू-मुसलमानों के बीच चलते वाग्युद्ध अर्थात माँ-बहन का उपसंहार एक तटस्थ क़िस्म के जुमले में हुआ देख कर उस दुर्गंधित माहौल में ख़ुशबू के अहसास से तर होकर बाहर निकलता है। अगर आपने मंटो को पढ़ा है तो आपने देखा होगा कि उनकी कहानियाँ अख़बारी कतरनों को ले कर कल्पना और मर्म के अबूझ ठिकानों का सफ़र ऐसे तय करती हैं, जैसे कि सच और झूठ की मिलावट का पता ही न चले।

मंटो के हवाले से ही पता चलता है कि जनाब पतरस बुख़ारी ने भी उर्दू हाई अदब के उड़नछू घोड़े से नीचे उतरकर इस क़िस्म के भित्तिलेखन को अपनी नज़रेसानी के लायक़ समझा। उसी तरह फ़्रांस के नामी-गिरामी

सिद्धांतकार रोलाँ बार्थ ने इमारतों पर प्रेमी-प्रेमिकाओं द्वारा 'एक-दूजे के लिए' उकेरी गई सार्वजनिक इबारतों को उनके इश्क़ की अद्वितीयता और अमरता के अहसास से जोड़ा है। हाल ही में प्रदर्शित एक और फ़िल्म के नायक बंटी और बबली जब छोटे शहरों की कम-कम बारिश और नदिया की मद्धम रफ़्तार से तंग आकर महानगरीय समंदर में छलाँग लगाने के सपने देखते हैं, तो उनकी एक हसरत यह भी होती है कि कोयले के खड़िये से फ़लक पर अपना बड़ा-बड़ा नाम लिख दें। अगर और शास्त्रीय ढाढ़स चाहिए तो वॉल्टर बेन्यामिन और मिशेल दि सर्त्यू को भी पलटा जा सकता है। क़िस्सा कोताह ये कि सड़कछाप, गली-मोहल्ला छाप, पान-दुकान छाप, चौक-नुक्कड़ छाप या लोक-संस्कृति छाप रचनाशीलता के हम पहले क़द्रदान नहीं हैं। कहते हैं न किसी ज़माने में नज़ीर भी गुज़रे थे और चिरकी तो अंडरवर्ल्ड शायरी के जानकार के लिए मंगलाचरण जैसा ही ठहरे!

बहरहाल, मंटो का अपना नतीजा यह है कि दीवारों पर लिखना इंसानी फ़ितरत में शामिल है। दीवार पर लिखना ऐसा ही है जैसे 'सरे-बाज़ार कोई ब-आवाज़े बुलंद करके कोई ऐलान कर दिया जाए...दीवारों पर क़िस्मत भी आज़माई जाती है... हिसाब के सवाल भी हल किए जाते हैं, सियासत की गुत्थियाँ भी सुलझाई जाती हैं और अपने दिल की भड़ास भी निकाली जाती है...'

तो इन्हीं पुरखों से प्रेरणा-प्रसाद पाकर हमने क़रीब साल-डेढ़-साल पहले दिल्ली की सड़कों पर कभी आड़े-तिरछे, कभी थके-हारे तो कभी रॉकेटीय सैनिक संरचना में अनुशासित चींटियों की तरह तैरते स्कूटर-तिपहिया-ऑटो के पिछवाड़ों को ताड़ना शुरू किया। ताड़ना और पाड़ना भी, यानी उन इबारतों को क़लमबद्ध करना भी शुरू किया। जैसे ही किसी ऑटो के पीछे कुछ लिखा हुआ दिखा नहीं कि हमारी आँखें बकोध्यानम मुद्रा में आ जाती थीं। हाथ, क़लम और काग़ज़ टटोलने लगते थे, और कुछ नहीं मिला तो हम सामने की इबारत को मोबाइल में ही जज़्ब कर लेते थे। अगर दिल्ली पुलिस मुस्तैद होती तो हमारे कई चालान कट चुके होते क्योंकि बाज़ मौक़ों पर तो हमने बाक़ायदा गाड़ी हाँकते हुए इनकी नक़ल करने की कोशिश की है। लेकिन दोस्तों ने भी क्या मदद की! स्कूटर पर हैं तो स्कूटर पर, कार में हैं, तब तो क्या बात है — कई एक साथ हैं — सबों की कोशिश यही होती थी कि इस अमृतवाणी को नोट ही कर लिया जाए। फ़ील तो ख़ैर तत्काल ही कर लेते थे। ज़ाहिर है कि हमारे प्रयास हमेशा सफल नहीं होते थे। कई बार तो टटोल-टटोल कर थक जाते थे, हाथ सिर्फ़ चिल्लड़ आता था। याददाश्त हमसे वादा करती कि याद रख लेंगे लेकिन लेखनी तक पहुँचते-पहुँचते वह भी बेवफ़ाई कर जाती। इस तरह हमने कम से कम सौ-डेढ़-सौ रत्नों को तो खोया ही होगा। शायद उनमें से कुछ को किसी और मोड़ पर पा भी लिया होगा, कौन जानता है? अपने लंबे जुगाड़-काल में हम तो बेशरम थे ही, हमने यह भी पाया कि इस टाइमपास को लेकर जनता में आम उत्साह है और कई लोग तो शौक़िया ऐसा ही काम करते रहे हैं। किसी पार्टी में बात छेड़ दी तो दस में एक मेहरबान के पास तो कुछ



न कुछ निकल आता था। हमारी एक दोस्त को जब पता चला तब से उन्होंने हमें नियमित तौर पर नारे भेजने शुरु कर दिये। तो साहिबान यह एक सामूहिक बौद्धिक कार्य है, और कभी न खत्म होनेवाला भी।

यह भी तजुर्बे की बात है कि इबारतें दिल्ली की ऑटों की ख़ासियत हैं। हमने तो इतनी काव्यमय, ऐसी शायराना सवारीगाड़ी हिंदुस्तान में कहीं नहीं देखी — आसेतु हिमालय और पूरब से पश्चिम तक। बेशक लोग तरह-तरह से अपने रोज़गार, अपने विश्वकर्मा, अपनी लक्ष्मी को सजाते और अराधते हैं, लेकिन जितनी रंगीनी और विविधता यहाँ है, उतनी कहीं नहीं। शायरी का शौक़ दिल्ली के ख़ून में है — मीर, ग़ालिब और अशोक चक्रधर यहीं के तो ठहरे! हमारी राह पर पहले चले महाजन बताते हैं कि थाइलैंड में इसकी बहन को 'टुकटुक' कहते हैं, कि हिन्दुस्तान में ही इसके कई और आकार-प्रकार हैं, इनके थोड़े दूर के सगे-संबंधियों को कहीं 'सूअर' तो कहीं 'गणेश' कहते हैं — जाकी रही भावना जैसी। यह भी कि पाकिस्तान में भी ऑटो की दीवारों पर काफ़ी शायरी आज़माई जाती है, जिनमें से कुछ तो वर्च्युअल या आभासी दुनिया के रास्ते हम तक भी पहुँची है। कुछ छन-छनाकर आप तक भी पहुँचाए देते हैः वहाँ के ऑटो ख़ुद को एक ओर तो काली 'ज़हरीली नागन' या 'ज़ख़्मी परिंदा' तो दूसरी ओर 'बुलबुल का बच्चा' या 'ख़तरनाक़ रैम्बो' कहते पाए गए हैं। 'डालर की तलाश' में हर कोई 'आफ़रीदी तैयारा' बैठा है। दिल्ली या हैदराबाद की तरह सिनेमा वहाँ भी छाया हुआ है — 'सिर्फ़ तुम', 'ज़िद्दी' या 'मोहब्बतें', जैसी कितनी फ़िल्में आकर चली गई हैं, दीवारों से उनके पोस्टर फट चुके होंगे, लेकिन उनके नाम अभी भी लाहौर या कराची की गलियों में लरज़ रहे हैं। दिल्ली की तरह ही पाकिस्तान के कुछ हिस्सों में पंजाबी बोली की ख़ुशबू आबाद हैः

आवांगी हवा बन के।
जावांगी तंग करके॥

ना छेड़ मलंगा नूँ।
पै जाएगा पंगा नूँ॥

हिन्दुस्तान में तुलसीदास की अवधी चौपाइयाँ मिल जाती हैंः

प्रवेसि नगर कीजै सब काजा।
हृदय राखि कोसल पुर राजा॥

तो जैसी कि उम्मीद भी की जाती है, कुछ पाकिस्तानी सड़कछाप शायरी तो वाक़ई अदबी हैः

ना डर बाद-ए-मुख़ालिफ़ से ऐ अक़ाब।
ये तो चलती है, तुझे ऊँचा उड़ाने के लिए॥

जो शायद उच्च-भ्रू नक़्क़ादों को भी भा जाएँ। इस शे'र को तो लाल बुझक्कड़, दानिशमंद साहिबान इक़बाल के नाम से जोड़ ले जायेंगे, लेकिन सामान्य तौर पर ये इबारतें खुली इबारतें हैं, इनके लेखक, सर्जक पता नहीं कौन हैं। पता नहीं कहाँ-कहाँ से टुकड़ा जोड़कर, कहीं का रदीफ़ और कहीं का क़ाफ़िया जोड़कर शे'र बना लिया जाता है, पद गढ़ लिए जाते हैं, नारे चिपका दिए जाते है। लेकिन इतना तय है कि इनका अस्तित्व प्रवाहमयी है, रवानगी इनकी नियति है, ये चलायमान हैं, शाश्वत गतिमय... सिर्फ़ इस अर्थ में नहीं कि ये चलती हुई गाड़ी से चिपके हैं, बल्कि इस अर्थ में भी कि इन चल-इबारतों का मूल खोजना बड़ा कठिन है। कहा जा सकता है कि ये अफ़वाहों की तरह हैं... जितने मुँह उतनी बातें। उतनी ही तरह की बातें!

अब चूँकि हमने इनके मूल को शक के घेरे में डाल कर इन इबारतों के रचयिता को मौलिक होने की महानता की गुंजाइश से महरूम कर दिया है, तो थोड़ी सफ़ाई देने की ज़रूरत महसूस हो रही है। पूछा जा सकता है कि क्या नक़ल में रचना नहीं हैं? या नक़ल क्या महज़ नक़्क़ाली है, क्या चीज़ों को वक़्त और स्थान के साथ निरंतर नए परिवेशों में ले जाने और उनमें नए अर्थ भर देने में कोई सलाहियत, क़ाबिलियत नहीं है?

कोई हुनर नहीं? क्या अफ़वाहों में ही कोई कल्पना, कोई तसव्वुर नहीं होता। इतिहासकार मान चुके हैं कि कमल के फूल, या चपातियों, या उड़ी-उड़ाई मौखिक उड़नघइयों से 1857 की क्रांति हुई, पातियों से 19वीं सदी में दंगे हुए, गाँधी 'महात्मा' बन गये, दिल्ली-भर में गणेश जी ने दूध पी लिया, या हाल में ही नरवानर का तांडव संभव हुआ! तो, रचना तो है। यह भी मानते चलें कि बातों के मुँह और जगह बदलने से उनका रूप ही नहीं, पैकेजिंग ही नहीं, बातें ख़ुद भी बदल जाती हैं। उनका असर तो बदलता ही है। प्रस्तुत हैं कुछ प्रमाण इस सड़कछाप रचनाधर्मिता के नामः

तेरी झील सी आँखों में डूब जाने को दिल चाहता है — छपाक!

जय शिव शंकर, भीड़ ज़रा कम कर

कही अनकही बातों की अदा है दोस्ती,
हर रंजो-ग़म की दवा है दोस्ती।
इस ज़माने में कमी है पूजा करनेवालों की,
वरना इस ज़माने में ख़ुदा है दोस्ती ।।

उफ़क़ पर सितारों को नींद आ रही है।
उल्लू की पट्ठी तू अब आ रही है।।

कभी साइड से आती हो, कभी पीछे से आती हो।
मेरी जाँ हार्न दे देकर, मुझे तुम क्यों सताती हो।।

या, सरहद पार से ही एक और योगदानः

क़ायदे आज़म ने फ़रमाया। तू चल, मैं आया।।

एक शे'र बिहारी दिल्लीवाले की तरफ़ से भीः

हम भी कभी रहीश थे, जो दुनिया लुटा बैठे।
क्शिमत ऐसी फूटी, ऑटो चला बैठे।।

लेकिन हम जिस शे'र से सबसे मुतास्सिर हुए, उसे पेश किए बिना बात बनेगी नहींः

आपके नेचर ने हम पर इतना इफेक्ट किया।
सबको रिजेक्ट कर हमने आपको सेलेक्ट किया।।

इन्हें आप चाहे जैसे पढ़ सकते हैं, लेकिन इतना ज़रूर है कि ये इबारतें मध्यवर्गीय रूढ़ धारणाओं को चुनौती देती हैं। दिल्ली के एक आम मध्यवर्गीय रोडार्थी की आए दिन की विपदा सुनें तो लगेगा कि ऑटो वालों से ज़्यादा मक्कार तो शायद ही शहर में कोई हो। कुछ तथ्यः स्टेशन पर उतरते ही दिल्ली में नए आए मेहमानों की जैसी खिचिखच भरी ख़ातिरदारी ये उतारते हैं, वैसी कम से कम मुम्बई या हैदराबाद वाले तो नहीं करते। मीटर, चाहे इलेक्ट्रॉनिक ही क्यों न हो, सत्तर फ़ीसदी ख़राब पाए जाते हैं; वापसी में सवारी नहीं मिलती, किसी ज़माने में पिस्टन की बदलाई के चलते चढ़ाई असंभव हो जाया करती थी और ये सारे बहाने चालीस का सत्तर बनाने की फ़िराक़ में गढ़े जाते थे। अगर आप बहस छेड़ें तो उनके पास टका-सा जवाब भी होता है कि साहब, कौन भ्रष्ट नहीं है, जिसका प्रति-जवाब अकसर मुश्किल हो जाता है। हाँ, कभी-कभी कहने का मन होता है — ऑटो क्यों चलाते हो? बैंक क्यों नहीं लूटते? कभी-कभार हम आपसी गप-शप में ऑटोवालों की ईमानदारी की किंवदंतियां सुनते-सुनाते पाये जाते हैं, या साल में एकाध ख़बर अख़बार में भी उग आती है कि फ़लाँ-फ़लाँ ऑटोवाले ने अमुक महिला का पर्स, जिसमें पैसे थे, क्रेडिट-कार्ड थे, जस-का-तस लौटा दिया और हम इसपर

यक़ीन भी करते हैं, पर दाँतों तले उँगली दबाकर। कहने का मतलब यह है कि दिल्ली के तिपहिया चालकों की जनछवि राजनेताओं से बेहतर नहीं है। रही-सही कसर पिछले दिनों सीएनजी संकट के दौरान हुई उनकी हड़तालों ने दूर कर दी। पर ऑटोवालों से निजात भी है क्या? ऑटो अध-बने मेट्रो के इस शहर-ए-दिल्ली की धड़कन हैं — हमसाया भी, मजबूरी भी, आसरा भी। वे आपसे लाख लड़ेंगे, झगड़ेंगे, हुज्जत करेंगे, लेकिन अगले दिन आप ही के इंतज़ार में बिछे मिलेंगे, आँखों में निमंत्रण, दिलों में सेवाभाव लिए :

क्यों बैठे हो सोच में।
आ जाओ मेरे कोच में।।

चलती है गाड़ी उड़ती है धूल।
मिलती है सवारी खिलते हैं फूल।।

अपने दरबार में ऐ मालिक मेरी भी ज़मानत रखना।
मुझे जो भी हो लेकिन मेरी सवारी को सलामत रखना।।

उम्मीद है कि यह सब पढ़के हमारी ही तरह आपके दिल पर भी पड़ी पूर्वग्रह की चट्टानी परतों में एक छोटी-सी दरार पड़ गई होगी और आप ऑटोवालों की कलात्मक प्रतिभा को सराहने के मूड में आ चुके होंगे। वैसे भी, अगर इन इबारतों को इनके लिखनेवालों के आत्मकथ्य की मिसाल मानी जाए तो हमें कोई यकसाँ चरित्र नहीं दिखेगा। शहर की तरह ही इनमें वैविध्य है — इलाक़े का, भाषा का, धर्म का, मिज़ाज का, ख़याल का, तबीयत का, राजनीतिक प्रतिबद्धताओं का, तुकातुक का, रचना व प्रेरणा का... और न जाने किन-किन चीज़ों का, जिन्हें किसी सरल समाजशास्त्रीय या सौंदर्यशास्त्रीय घटकों में घटाया नहीं जा सकता। वैसे तो नैतिक निर्णय हमारे समाज में बहुत सहज और सस्ते उपलब्ध हैं, और हम चाहें तो फ़ौरन उनके आचरण और चरित्र के बारे में मूल्य-विषयक फ़ैसले कर सकते हैं, लेकिन बेहतर यही होगा कि देखें कि ये इबारतें हमसे क्या सब लेकर और किन रूपों में मुख़ातिब हैं।

पहली बड़ी आमफ़हम बात तो यह कि ऑटो की दुनिया पूरी तरह फ़िल्मी दुनिया है : सिर्फ़ इस सामान्य अर्थ में नहीं कि हमारी आपकी और जनसाधारण की दुनिया फ़िल्मी है। हम अपने सरताज महबूब सितारों की तस्वीरें टाँगते हैं, उनकी फ़िल्में 'फ़र्स्ट डे, फ़र्स्ट शो' देखने में गर्व महसूस करते हैं, और बड़े फ़ख़्र से उनके मशहूर जुमले, दृश्य, स्टाइल दुहराते या कॉपी करते हैं। शायद कहा जा सकता है कि हमारी संस्कृति के लिए फ़िल्में एक अहम संदर्भ-बिंदु हैं, जहाँ लोग फ़िल्मों से वैसे ही उद्धरण व सूक्तियाँ लेते हैं, जैसे हमारे पूर्वज-पूर्वजाएँ गोसाईं जी के रामचरितमानस से लेते थे। ऑटो की भीतरी दीवारों पर भी अमूमन हीरो-हीरोइनों की शोख़ या मासूम तस्वीरें होती हैं। ख़ास बात ये है कि बाहरी दीवारों पर ऑटोवालों के नाम फ़िल्मों के नाम पर धर दिए जाते हैं। आपने राह चलते कई 'दिलजले', 'फ़क़ीरा', 'हिना', 'बेवफ़ा सनम', 'मुक़द्दर का सिकंदर', 'मैं तुलसी तेरे आँगन की', 'राजा हिन्दुस्तानी', 'आशिक़ी', 'दिल आशिक़ाना है', देखे होंगे। एक अहम बात यह भी कि ये फ़िल्मी शीर्षक जैसे गाड़ी पर छपकर दीगर चिन्हों की तरह उसके ड्राइवर के मिज़ाज की लक्षणाएँ या व्यंजनाएँ बन जाते हैं। लेकिन बात सिर्फ़ फ़िल्मों से अविकल नक़ल उतारने की नहीं है, बात उस अंदाज़ की भी है, जिसे हम फ़िल्मी कहा करते हैं। अंदाज़ की इस गाड़ी में तरह-तरह के तेवर हैं — रूमानियत, ग़ुस्सा, अकड़, आवारगी, दार्शनिकता, फ़ाक़ा-मस्ती, बेचारगी, विडंबना, दीनो-ईमान, बदला, शहादत, वग़ैरह, वग़ैरह। ऐसा लगता है कि ये सब भावनाएँ अपनी अभिव्यक्ति के लिए जब लोक-सांस्कृतिक विधाएँ तलाशती हैं, तो उन्हें फ़िल्मी मुहावरों के तैयारशुदा विश्वकोश की शरण लेनी पड़ती है, या यूँ कहें मुहावरे जब कुछ यूँ बनते दिखते हैं, तो हम उन्हें फ़िल्मी कहकर पुकारते हैं :

रूप की रानी चोरों का राजा।
मिलना है तो सोनिया विहार आ जा।।

सच्चाई छुप नहीं सकती बनावट के वसूलों से।
कि ख़ुशबू आ नहीं सकती कभी काग़ज़ के फूलों से।।

दिल के अरमां आसुओं में बह गये।
वो उतरकर चल दिए, हम गियर बदलते रह गये।।

दुल्हन वही जो पिया मन भाए।
गाड़ी वही जो मंज़िल तक पहुंचाए।।

जो मिल गया उसी को मुक़द्दर समझ लिया।

कभी हँसना है, कभी रोना है, कभी खोना है, कभी पाना है।
क़िस्मत का तो यही फ़साना है।।

लब्बोलुवाब ये है कि भावनाओं की इस इन्द्रधनुषी दुनिया में हमें भोगे हुए दर्शन मिलते हैं, तो जी-हुई नसीहतें भी। गति का उत्सव मिलता है तो बेकल ज़िंदगी की लानतें भी। कुल मिलाकार शहर और सड़क की अनिश्चित ज़िंदगी की सूक्तियाँ हैं ये नारे जिसमें 'स्ट्रीट-स्मार्ट विज़्डम' अर्थात गली-सुलभ बुद्धि के साक्षात निदर्शन होते हैं। दो-चार मिसालें लें :

अपनों से सावधान

दोस्ती पक्की, ख़र्चा अपना-अपना

माँगना है तो ख़ुदा से माँग बंदे से नहीं।
दोस्ती करनी है तो मुझसे कर, धंधे से नहीं।।

देते हैं रब, सड़ते हैं सब।
पता नहीं क्यों।।

'दुनिया मतलब की' जैसे नारे अगर ज़माने से ठोकर खाई आत्मा की चीत्कार हैं, तो 'अपनों से बचकर रहेंगे, ग़ैरों को देख लेंगे' में एक साथ अपने अस्तित्व का निचोड़ है, तो धमकी भी। लेकिन ऐसा लगता है कि



ऑटो वाले अनिश्चितता के इतने आदी हैं कि अपेक्षित ही उनकी परेशानी का सबब हो जाता है। अब देखिए कि भला करने वाले एक भले ऑटो वाले का क्या निष्कर्ष हैः

मतलब की है दुनिया कौन किसी का होता है।
धोखा वही देते हैं जिन पर ऐतबार होता है।।

नेकी कर जूते खा,
मैंने खाए तू भी खा।

ऑटो वालों की ज़िन्दगी परेशान, जल्दबाज़ी में फँसे, फ़ौरन पहुँचाने की माँग/आदेश/गुहार लगाते पैसेंजरों से अनवरत मुठभेड़ का दूसरा नाम है। ऐसे यात्रियों को भी कभी हौले से 'थोड़ा इंतज़ार का मज़ा लीजिए' तो कभी दिल्ली का ठेठ जवाब मिलता हैः 'ठंड रख ठंड।' लेकिन इसी तीर से पीछे आ रही धैर्यहीन गाड़ियों को भी सबक़ दी गई है।

ऐ आदमी हराम खाना छोड़ दे।
टायर महंगे हैं, रेस लगाना छोड़ दे।।

पीछा करना बेकार है

पार कर, नहीं तो बर्दाश्त कर

लोग नहीं मानें तो कोई कह बैठेगाः

मैं तो ऐसे ही चलूंगी

वह शरीफ़ज़ादा फिर भी शोर मचाये जा रहा हो तोः

भौंक मत कुत्ते की तरह!

अगर इससे भी बात नहीं बनी तो जीवन का अंतिम सत्य ही पढ़ा दिया जाये, शायद कुछ असर होः

भगवान के घर पंद्रह साल पहले जाने से अच्छा है,
अपने घर पंद्रह मिनट देर से जाओ।

जो इतने लंबे वाक्य में नहीं समझ पाया, वह मुख़्तसर में क्या समझेगा, लेकिन सरसइया के दोहरे की तरह शायद बात बन जाएः

जिनको जल्दी थी, वो चले गए!

या

जिनको जल्दी थी वो गुज़र गए!

बाज़-बच्चे, ख़ासकर मोहल्लों में, जब ऑटो धीरे-धीरे, लगभग रेंग रहा होता है तो लटक लेने की कोशिश करते हैं। उन्हें वैसे ही डाँटा गया है, जैसे हमारे समाज में बच्चों को डाँटा जाता हैः

चल हट पीछे!

लटक मत टपक जाएगा!

लटक मत पटक दूंगी!

इसका एक झारखंडी संस्करण भी अभी हमारे हाथ लगा हैः

बेटा छूले त गेले
सटले त घटले!

अर्थात, अगर छुओगे तो जाओगे, और अगर सटे तो दुनिया से घटे। वहीं से एक आवारा मिज़ाज ऑटो वाले का भी पता मिलता है। मुलाहज़ा फ़रमाइएः

फिराया लाल चौक टू बुट्टी मोड़
वाया जन्ने-तन्ने

अर्थात, आग़ाज़ और अंजाम तो तय है पर बीच के स्टॉप या बरास्ते कहीं भी हो सकते हैं। आवारगी के ही मानकों को लेकर चलें तो ड्राइवरों और शराब का आपसी रिश्ता मिथकीय है और एक पद में तो इसकी बाक़ायदा आत्मस्वीकृति भी मिलीः

दुल्हन वही जो पिया मन भाये।
ड्राइवर वही जो पीकर चलाए।।

एक और में तो पीने की वकालत निहायत देवदासाना रूमानियत के साथ की गई हैः

शराब नाम ख़राब चीज़ है, जो कलेजे को जला देती है।
उस बेवफ़ा से तो सही है, जो ग़म को भुला देती है।।

लेकिन हमारी इल्तिज़ा है कि ऑटो के जनपद में ऊपर दी गई नसीहतों को अपवाद माना जाए। आम तौर पर पीकर न चलाने की सख़्त हिदायत ही देखी गई हैः

पीकर जो चलाएगा, परलोक को जाएगा

चलाएगा होश में तो ज़िंदगी भर साथ दूंगी।
चलाएगा पीकर तो ज़िंदगी जला दूंगी।।

बड़ी ख़ूबसूरत हूँ नज़र मत लगाना।
ज़िंदगी भर साथ दूंगी पीकर मत चलाना।।

राम जन्म में दूध मिला, कृष्ण जन्म में घी।
कलयुग में दारू मिली, सोच समझ कर पी।।

अगर पी है तो भगा ले
वरना 1132 के पीछे लगा ले।

भाँग माँगे मीठा, चरस माँगे घी
दारू माँगे जूता चप्पल, जब-जब ज़्यादा पी।

यानी आपको भँग पीने पर मीठी चीज़ खाने की इच्छा होती है, चरस पीने वाले अगर घी जैसी पुष्टिवर्धक चीज़ खाएँ तो बेहतर है, पर हंगामेबाज़ दारूबाज़ों का तो कोई सरल सभ्य प्राकृतिक उपचार है ही नहीं। पीने पर एक आख़िरी शे'र देखेंः

ऐ दूर के मुसाफ़िर, नशे में चूर गाड़ी मत चलाना।
बच्चे इंतजार में हैं, पापा वापस ज़रूर आना।।

आपने ग़ौर कर लिया होगा कि ये नारे कई तरह के संवाद परोस रहे हैं। कहीं ऑटो, जो अकसर माशूक़ा की भूमिका में होती है, अपने माशूक़ के वावफ़ा रहने का इसरार करती है, कहीं पीछे चलते किसी भी ड्राइवर को ये चीज़ें संबोधित हैं, और कहीं तो इसे बस 'जनहित में जारी' कर दिया गया है :

आबादी का बढ़ता बोझ, साधन घटते जाते रोज़।
पेड़ों से आती हरियाली, हर हाल में हो रखवाली।।

अगर पीछे अशोक के बहुभाषीय अभिलेखों तक जायें तो आदेशों व सूचनाओं को पब्लिक कंज़ंप्शन या जनहित में जारी करने की रवायत पुरानी है, पर हमारी याददाश्त में आधुनिक वाहनों पर इतने इफ़रात में सरकारी नारों का इस्तेमाल आपातकाल के आसपास से हुआ। बीस-सूत्री कार्यक्रम के तमाम सूत्र तो पेले ही गये, और याद हो तो 'छोटा परिवार, सुखी परिवार', 'अनुशासन ही देश को महान बनाता है', 'हम दो, हमारे दो' आदि नारे उन्हीं दिनों की राज्याश्रयी प्रेरणा के नतीजे हैं। बहरहाल, परंपरा का निर्वाह न सिर्फ़ सहमत जैसी संस्थाओं ने सांप्रदायिक सौहार्द फैलाने के उद्देश्य से आयोजित ऑटो स्लोगन प्रतियोगिताओं के ज़रिये किया है, जिसका एकाध अवशेष मिटते-मिटाते हम तक भी पहुँचने में कामयाब हो गया :

मंदिर मस्जिद के झगड़ों में दोनों क़ौमें मिट जाएंगी।
मंदिर-मस्जिद में पूजा करने क्या इनकी लाशें जाएंगी।।

धर्म जोड़ता है तोड़ता नहीं

बल्कि कुछ ऑटोवालों ने भी स्वायत्त ढंग से समाज-कल्याण के नारे दिए हैं, भले ही उनमें से कुछ संदेश वाक़ई घिसे-पिटे-से हैं, जैसे :

दुल्हन ही दहेज है

सुंदरता को श्रृंगार की ज़रूरत नहीं होती

तो चंद नारे वाक़ई आक्रामक हैं, इस तथ्य के गवाह कि हिंदू राष्ट्रवाद का घृणा अभियान एक हद तक सफल रहा है :

दूध माँगोगे खीर देंगे।
कश्मीर माँगोगे चीर देंगे।।

लेकिन ग़ौरतलब है ये कि कुछ नारे थोड़ा हटके, थोड़ी विडंबना और कहीं-कहीं आलोचना का पुट लिए हुए हैं :

रामराज्य तो आने से रहा,
भ्रष्टाचार जा नहीं सकता
? ऐसा लगता है ना!

सौ में से निन्यानबे बेईमान,
फिर भी मेरा भारत महान!

मेरी दिल्ली, तेरी शान।
टूटी सड़कें, ट्रैफ़िक जाम!!

संत कबीर रूहानी कशमकश की पेचीदगियों, उसके ताने-बाने को समझाने के लिए हमें अपनी बुनकर की ज़िंदगी से मुहावरे उठाकर देते हैं, दुष्यंत कुमार हमें वही सुनाते हैं, जो वे ओढ़ते-बिछाते हैं, तो उसी तर्ज़ पर ऑटोवाले भी बिलकुल अपनी कच्ची-पक्की जिंदगी हमारे सामने जैसे खोल कर रख देते हैं। हम पाते हैं कि काफ़ी पीड़ा, काफ़ी दर्द, और अपनी यथास्थिति से काफ़ी असंतोष है यहाँ। उम्मीद है तो बस इसलिए कि जिजीविषा है, गुलज़ार के लफ़्ज़ों में, जिये जाना भी तो एक आदत है :

माँ की दुआ जन्नत की हवा।
माँ की बद्दुआ बेटा रिक्शा चला।।

सबर कर बुरे दिन भी टल ही जाएंगे।
मज़ाक उड़ानेवालों के चेहरे बदल जाएंगे।।

जी रहा हूँ ऐसे पीके अश्के ग़म।
जिओ ऐसे तो कलेजा निकल जाए।।

ऐ ऊपरवाले, बदनसीबी न दे।
मौत दे दे, पर, ग़रीबी न दे।।

गाड़ी चलाने से पहले हैंडल संभाल लेना।
अभी भूखी चल रही हूँ, खाना खिला देना।।

सो जाते हैं फ़ुटपाथ पर अख़बार बिछाके।
मज़दूर कभी नींद की गोली नहीं खाते।।

जब तक इंस्टालमेंट देते हो, गाड़ी अपना नहीं सपना है।

वैसे ही जैसे-तैसे कट रही थी, ऊपर से सीएनजी तो कोढ़ में खाज की तरह आया। सीएनजी ने दिल्लीवालों की ज़िन्दगी आम तौर पर, और ऑटोवालों की ख़ास तौर पर, हराम कर दी। पहले केन्द्र और राज्य सरकार के



बीच की रस्साकशी, अदालत का डंडा, ईंधन की क़िल्लत — वो लंबी-लंबी लाइनें कि सारा वक़्त अक्षरशः ईंधन जुटाने में ही लग जाये, आदमी कमाए कब, आराम कब करे — नई स्कूटर ख़रीदने का दंद और लाइसेंस-काग़ज़ का चिरंतन पुलिसिया ख़ौफ़ तो बिल्कुल नये जामे में दम-दाख़िल हो गया। सुनते हैं उनकी आपबीती, उन्ही की ज़ुबानी :

उफ़ ये गैस !

अमीरों को मारा पेट की गैस ने।
ग़रीबों को मारा सीएनजी की गैस ने।।

गाड़ी चल नहीं सकती बिना सीएनजी के।
ड्राइवर गाड़ी नहीं चला सकता बिना सवारी के ।।

गैस मिल गई क्या ?

बुरी नज़र वाले सीएनजी चला

यह अख़िरी नारा तो फिर भी एक अनाम, निराकार दुश्मन को संबोधित है, लेकिन आगे तो साक्षात दिल्ली पुलिस से खुलेआम पंगा ले लिया गया है। इसी ज़मीन का दूसरा शे'र ज़्यादा मार्मिक है :

हमको दिल्ली पुलिस ने लूटा और किसी में कहाँ दम था।
मेरी कश्ती वहीं डूबी जहाँ पानी कम था।।

हमें तो अपनों ने मारा ग़ैरों में कहाँ दम था।
मेरी गाड़ी वहीं रुकी जहाँ सीएनजी कम था।।

ख़ुदा ग़ारत करे सीएनजी बनानेवाले को।
घर से बेघर कर दिया सीएनजी चलानेवाले को ।।

ओए बेटा नीले, सीएनजी न मिले, तो देसी पी ले।
अगर देसी न मिले, तो थैली पी ले।।

दारू से सीएनजी का ग़म ग़लत नहीं होना था, नहीं हुआ। सीएनजी का कारवाँ तो चल पड़ा था, गर्दो-ग़ुबार भी धीरे-धीरे थम ही गया। ऑटो को नये पर्यावरण के मुताबिक़ अपना रंग-रूप बदलना पड़ा, अपनी देह पर सीएनजी का अनिवार्य गुदना गुदाना पड़ा और साथ ही बदली उसकी वाणी :

सीएनजी की कदर करें

लेकिन इस मौक़े का सबसे ज़्यादा फ़ायदा उन लोगों ने उठाया जिनका संघर्ष के दौर में अस्तित्व ही नहीं था। आरटीवी नाम की एक नई ग्रामीण वाहन गाड़ी शहर में चली, जिसके लिए आसमान साफ़ था, ज़मीन समतल थी, सो वे चटपट आबाद हो गईं, ख़ुद को 'हरी-भरी' कहा, लगभग आत्ममुग्ध, स्वनामधन्य अंदाज़ में। लेकिन उन्होंने पैसेंजरों का ऐसा ठुँसान ठूँसा कि उनकी स्वार्थपरता भी उनकी अपनी ही किसी सखी-सहेली ने उजागर कर दी :

हरी तुम्हारी, भरी हमारी

जो हरी-भरी दिल्ली के सरकारी मंसूबों पर एक तल्ख़ टिप्पणी है, होगी हरी तुम्हारी, हमारी तो हमें बस भरी चाहिए। एक लिप्सा-दर्प भी है।

बहरहाल, ये सब तो ऐतिहासिक हादसे हैं — यक़ीनन संजीदा, मगर आए-गए। आइए, वापस कुछ स्थायी क़िस्म की वेदनाओं की ओर लौटें। ऑटो वालों की तमाम ज़िंदगी टुकड़ा-टुकड़ा इंतज़ार की ज़िंदगी है। एक जगह से दूसरी जगह जाने का, भाड़ा सही मिलेगा कि नहीं, मीटर सही उठेगा कि नहीं, पैसेंजर मिलेगा कि नहीं। सड़क का ये सफ़र मुसलसल इंतज़ार का सफ़र है। लेकिन चिर-प्रतीक्षा का यह दर्द ऑटो के नारों में सबसे गहरा तब उभरता है, जब हम ऑटो वालों के विरह-विदग्ध सगे-संबंधियों की दशा देखते हैं :

कीचड़ में पैर रखोगी तो धोना पड़ेगा।
ड्राइवर से शादी करोगी तो रोना पड़ेगा।।

पापा जल्दी आ जाना।
मम्मी इंतज़ार कर रही है।।

भोजन भरी थाली,
दूध भरा प्याला,
बालम तेरी याद में।

लेकिन इस सर्वदा चलायमान ज़िंदगी में इंतज़ार भी स्थायी नहीं है :

मौत भी मुकम्मल, तेरा भी एतबार है
दोनो में जो भी आए, उसका इंतज़ार है

यह हम नहीं कह रहे हैं, '3952 आई थी कहकर चली गई' :

सीख ले बेटा ड्राइवरी, बड़ी बुरी है जात।
न रहने का ठौर ठिकाना, घरवाली देखे बाट।।

जल्दी घर लौट कर आना

लिखा परदेस क़िस्मत में, वतन की याद क्या करना।
जहाँ बेदर्द हाकिम हों, वहां फ़रियाद क्या करना।।

क़िस्मत ने मुझको राह का पत्थर बना दिया।
जो इधर से गुज़रा ठोकर लगा गया।।

दिल तो बहुत रोया, पर आँखों से न रो सके।
ज़िंदगी रोड पर गुज़री, कभी गद्दे पर न सो सके।।

परदेसी तुम कब आओगे?

हम गगन गिल के एक उम्दा लेख के हवाले से जानते हैं कि रघुवीर सहाय की तरह ही बहुत सारे ऑटो वालों के लिए भी दिल्ली परदेस ही है, यहाँ सड़कों पर वह वक़्त-बेवक़्त, उनींदे इसलिए दौड़ते फिरते हैं कि गाँव के उनके घर में एक और नींव पड़ जाए, एक और दीवार उठ जाए, एक अदद छत डल जाए, चंद रुपये मनीआर्डर के चले जाएँ। यानी बक़ौल राही मासूम रज़ा, ग़ुब्बारे भले यहाँ उड़ रहे हों, डोर तो कहीं और है। पर ये जीना भी कोई जीना है : शहर की, सड़क की, सवारी की अनिश्चितताएँ, पुलिस का खड़का, ट्रैफ़िक का हाँका! इसीलिए आपने भाग्य के साथ समझौता कर लेने के बाद भी एक आउटडेटेड सी नसीहत वे अब भी कलेजे से लगाए घूमते हैं :

जय

बाबा बालकनाथ की जय माता दी जय

संतोषी माँ ओम नमः शिवाय जय बाबा

गनीनाथ माँ का आर्शीवाद माँ की पनाह में है ड्राइवर गाड़ी

र इसके बच्चे माँ की अमानत सबका

मालिक एक धन-धन सतगुरू तेरा ही आसरा गुरूकृपा जय

श्री गौरीशंकर जय श्री बालाजी जय चामुंडा देवी जय भैरव

जय जगन्नाथ जी जय दादा देव जय माँ भगवती ओम

साईंनाथ ओम साईंराम जय मां काली साहिब सतगुरू

कबीर जय दादा खेतवाले की चल

कांवरिया शिवधाम जय मां झंडेवाली जय मां

शेरावाली जय बजरंगबली जय भूमियावाले बाबा

की हर श्रीनाथ जी हरिओम राधेराधे जय बाबा

खाटूवाले की जय दादा देव जी बाबा रामदेव

जी की जय जय गोगा पीर जय मां ज्वाला

जय पूर्णागिरि एक तू ही निरंकार जय मां

पाथरीवाली की ओम कुंजबिहारी नमः बोल

बम श्री बाबा गोरखनाथ की जय जय श्री तिरुपति जी

गॉड गिफ्ट जय बाबा लोकनाथ जय

सच्चिदानंद भगवान श्री राममंगल जी

महाराज जय बाबा लाल जी जय जाहर

वीर बाबा जय बाबा गरीबनाथ जय मां

नगरकोटवाली की जय नैना देवी

संत को दिल्ली मत भेजना

चाँदनी चौक के फ़व्वारे न होते, इंडिया गेट के नज़ारे न होते।
गाड़ी अगर न चलती होती, ड्राइवर भूखे मरते होते।।

सवारी मिल भी जाए तो परेशानी ख़त्म हो जाती है क्या? एक से एक लोगों से पाला पड़ता हैः कोई कहता है तेज़ चलो तो कोई धीरे चलने की ताक़ीद करता है, किसी को लंबा, फ़रागत रास्ता चाहिए तो कोई शॉर्टकट ढूंढता है...चाहे जो हो

गाड़ी चलानेवाला, किसी से कुछ नहीं कहता।
सवारी शोर करती है, ड्राइवर कुछ नहीं कहता।।

क्योंकि वह जान चुका है, सवारी से झगड़ा करना नादानी है, ज़्यादा अकड़ ठीक नहींः

झुकते वही हैं जिनमें जान होती है।
अकड़ जाना मुर्दे की पहचान होती है।।

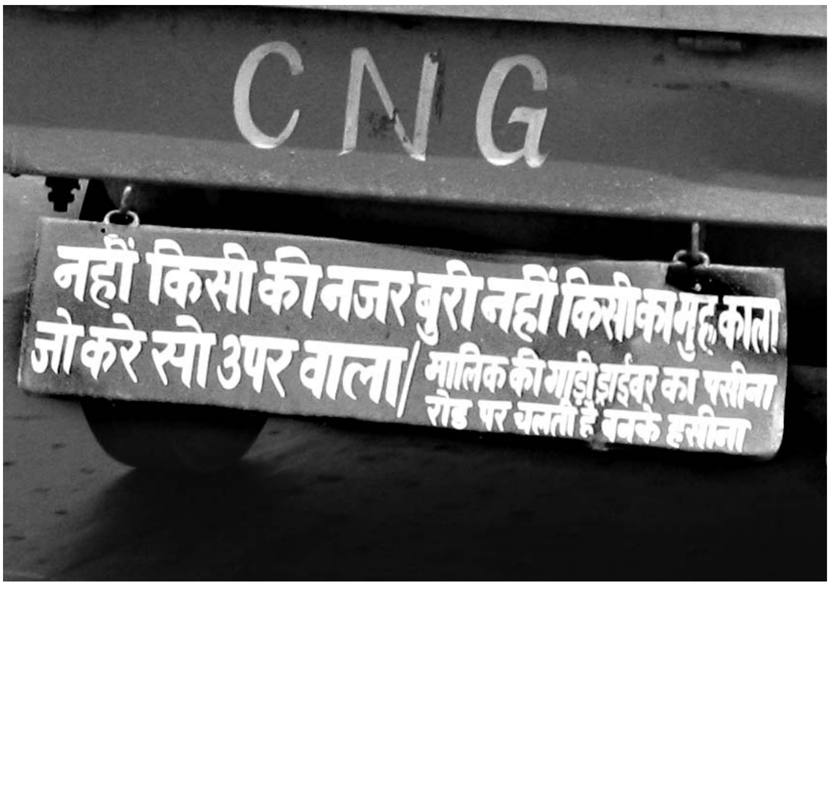
ऑटो वाले हर हालत में अपनी सवारी के शुक्रगुज़ार हैं सिवाय उधारियों के हमने तो शायद ही कभी किसी को उधार पर ऑटो लेते देखा है, लेकिन ये जनाब तो इस तरह की शिकायत से बचने की जुगत भिड़ाते दिखेः

नाज़ुक है ज़िंदगी परेशां है ज़माना।
आपसे उधार करके हमें क्या है कमाना।।

पानी गिरता है पहाड़ से, दीवार से नहीं
दोस्ती है हमसे, हमारे रोज़गार से नहीं

धर्म, विश्वास, आस्था

रॉकेट छोड़ते समय नारियल फोड़ने वाले देश में वैसे तो यह समझने में कोई मसला नहीं होना चाहिए कि मशीनों पर काम करने वाले भी काफ़ी पूजा-पाठ, सगुन-अपसगुन मानते हैं। ऑटो की दुनिया भी काफ़ी हद तक अंधविश्वासों की दुनिया है, विश्वास और आस्था की तो है हीः कुछ लोग शायद दोनों में फ़र्क़ भी नहीं करते होंगे। हम उन्हें दोष नहीं देते, क्योंकि वैसे भी आधुनिकतावादी विवेकवाद के इतने लंबे शासनकाल के बाद क्या



दोनों में कोई तार्किक भेद करना संभव है? बहरहाल, जिसे आम शब्दावली में आस्था कहा जाता है, धर्म कहा जाता है, उसी की बात करें। ख़तरों से खेलते इस भगवान-भीरू जीवन के बारे में पहली मार्के की बात तो यह है कि यह बहु-देववादी है... लोगों की अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक जड़े हैं, सरोकार हैं, मत-परंपराएँ हैं। आते होंगे लोग दिल्ली भौतिक संपदाओं की अपनी एक छोटी-सी गठरी लेकर, लेकिन मन की आध्यात्मिक गठरी में तो क्या कुछ नहीं समाया होता है, और यह गठरी जब सड़कों पर, इबारतों में बिछती है, तभी हम पर खुलती है :

मधुर मधुर नाम, हरि ओम हरि ओम।
पावन पावन नाम हरि ओम हरि ओम।।

माता रानी फल देगी।
आज नहीं तो कल देगी।।

जय बाबा भैरो नाथ की।
चिंता नहीं किसी बात की।।

चाँदनी रात थी नदी का किनारा था।
स्टीयरिंग था हाथ में माता का सहारा था।।

शिव समान दाता नहीं, बिपत निडारन हार।
लज्जा मोरी राखियो, नन्दी के स्वार।।

शिव हमारे गुरु हैं
शिव जन-जन के गुरु हो सकते हैं

सोने से पहले अपने गुनाहों को याद कर।
कहीं यह तेरी ज़िन्दगी की आख़िरी रात न हो।।

आपने लक्ष्य किया होगा कि मुख़्तलिफ़ ख़ित्ता-जवार से दिल्ली में आए ये पुरुषार्थी अपने मन की गाँठ में अपने इष्ट, आराध्य को भी बांध लाए हैं, और बतौर सुरक्षा-कवच उन्हें अपनी गाड़ी की दीवारों पर चिपका कर उसे किसी अनिष्ट की आशंका से बुलेट-प्रूफ़ कर लेते हैं। गाड़ी-छकड़े का क्या ठिकाना। कब बिदक-बिगड़ जाये, कब कोई और ही ग़लती कर बैठे, ख़ुद से ही कोई भूल-चूक हो जाये — यहाँ तो लोग थोड़ा-सा छू जाने पर भी आसमान सर पर उठा लेते हैं। तो समरसता के तमाम शोर-जाप के बावजूद विविधता और आस्था की निजता यथावत बनी है।

न हिंदू बुरा न मुस्लिम बुरा।
जो बुराई पर उतर आए, है वो इंसान बुरा।।

अकाल मृत्यु वो मरे जो काम करे चंडाल का।

उसका काल क्या करे जो भक्त हो महाकाल का।।

हम चिंतन करें उनकी, जिन्हें चिंता हमारी है।
हमारे रथ की रक्षा जो करे, वो सुदर्शन चक्रधारी हैं।।

पर हमारा सर्वप्रिय धार्मिक, ठेठ देहलवी नारा यही है :

मेरे बाबे दी फुल कृपा

कुछ ऑटो: सेंटिमेंट से लदी-फदी

धार्मिक नारों में भक्ति और समर्पण तो है ही, एक अनाम डर का भी तत्त्व है। दुर्घट या अनिष्ट को टालने का आनुष्ठानिक तत्त्व भी है, शैतानी के शमन की दैनिक मजबूरी है। पर अब ज़रा शुद्ध सड़कछाप इश्क़िया शायरी की बात करें। और एक बार फिर हमें यहाँ इश्क़ के तमाम पहलुओं, चरणों, ख़तरों, नाकामियों-सफलताओं, संयोग का उछाह, वियोग का बिछोह, वफ़ा का ऐलान, बेवफ़ाई की सरेआम रुस्वाई, ताने-उपालंभ और लगन के दर्शन होते हैं, उसी चिर-परिचित फ़िल्मी अंदाज़ में:

किसी से प्यार न करो, हो जाए तो इन्कार न करो।
निभा सको तो निभाओ, किसी की ज़िन्दगी बर्बाद न करो॥

घरवाले कहते हैं, घर छोड़ दो,
गर्लफ्रेंड कहती है, मुझे प्यार करना छोड़ दो,
दोस्त कहता है, ज़िन्दगी छोड़ दो।

माना हम ग़ैर हैं, अपने बन सकते नहीं।
ऐसी क्या मजबूरी है कि कभी मिल सकते नहीं॥

दूर से देखा करो, सुंदर गुलाब होते हैं।
हाथ से छूना नहीं, काँटे हज़ार होते हैं॥

इस आख़िरी शे'र पर ना जाएं, यह चाहत महज किताबी नहीं है, दैहिक भी है, और प्रकृति का आलंब तो शास्त्र-सम्मत बहाना है

बुलबुल भी चहचहाने लगती है, सावन में जब छाती है घटा।
तुम्हें चूमने को दिल चाहता है, ज़रा गालों से ज़ुल्फ़ें तो हटा॥

ख़ुशबू फूल से होती है, चमन का नाम होता है।
निगाहें क़त्ल करती हैं, हुस्न बदनाम होता है॥



लेकिन हर आशिक़ की तरह एक मासूम, अदम्य, नैसर्गिक विश्वास भी, कि हमारा मिलना तय है:

पत्ते हिलते नहीं हवा हिला देती है।
सच्चे आशिक़ों को क़ुदरत मिला देती है।।

फिर गहरी प्रतिबद्धता का ऐलान:

फूलों से पूछो भँवरों के लिए शृंगार कितना।
मेरे दिल से पूछो तेरे लिए प्यार कितना।।

मंदिर में जाके यही फ़रियाद करता हूँ।
ख़ुदा उसको सलामत रखे, जिसे मैं प्यार करता हूँ।।

प्यार मिले तो उसे अपना लो।
वफ़ादार कम मिलते हैं।।

पर अकसर जैसा होता है, अंततः उस विश्वास का टूटना:

याद आ जाती है तेरी हर शाम के बाद।
आँसू आ जाते हैं आँखों में तेरे नाम के बाद।।

फिर कोसना इस तरह कि डियर तुम्हारे इन्कार में तुम्हारा ही घाटा है, भूल तो ख़ैर क्या पाओगी मुझे:

माना आपकी नज़रों में हम कुछ नहीं।
ज़रा उनसे पूछो, जिन्हें हम हासिल नहीं।।

रोओगी, तड़पोगी, फ़रियाद करोगी।
वो दिन भी आएगा, जब तुम हमको याद करोगी।।

आम लोग ऐसी स्थितियों में बोतल का सहारा लेते हैं, लेकिन कुछ लोग तो आँखों की लत लगा बैठे हैं:

जीनेवाले तो हर हाल में जी लेते हैं,
सीनेवाले तो हर ज़ख़्म सी लेते हैं।
नहीं पिलानी है तो मत पिला साक़ी,
पीनेवाले तो इन आँखों से भी पी लेते हैं।।

जाम से जाम पीने से क्या फ़ायदा,
रात में ही सारी उतर जाएगी।
उनकी आँखों से पी ले,
सारी उम्र नशे में गुज़र जाएगी।।

जीवन में हँसने की बड़ी महिमा है, ख़ास तौर पर दिल टूटने को जो हँसके टाल जाय, वह इंसान ख़ास तो है:

आपको मिस करना रोज़ की बात है,
अपको याद करना आादत की बात है।
आपसे दूर रहना क़िस्मत की बात है,
आपको झेलना हिम्मत की बात है।।

पेड़ से पत्ते गिरते हैं, उठाता है कोई-कोई।
प्यार सभी करते हैं, निभाता है कोई-कोई।।

तुम बोलो या न बोलो तुम्हारे बोलने का काम नहीं।
तुम्हारी हँसने की अदा भी बोलने से कम नहीं।।

घूँघट में तुझे देखा तो दीवाना हुआ,
संगीत का तराना हुआ,
शमा का परवाना हुआ,
मस्ती का मस्ताना हुआ।
जैसे ही घूँघट उठाई इस दुनिया से रवाना हुआ।।

एक लड़की को देखा तो ऐसा लगा,
दूसरी लड़की को देखा तो वैसा लगा।
जब दोनों के जूते लगे तो एक जैसा लगा।।

कुछ शब्द बदल गये हैं, लेकिन भाव वही हैं:

वो लड़की कितनी प्यारी थी जिसको आँख मारी थी।
वो सैंडल कितनी भारी थी जो उसने मारी थी।।

इस तरह दिलफेंक और जुमलादाग़ आशिक़ों के मानस में महिलाओं की सैंडल का ख़ौफ़ तो है पर उन्हें यह भी लगता है कि वे कॉलेज न जाकर थोड़े वंचित से रहे हैं:

NO NOLEG
WITHOUT KOLEG

ज्ञान तक ऐक्सेस हर किसी के बस की बात नहीं और कॉलेजों में सिर्फ़ ज्ञान ही नहीं मिलता। अगर 'फ़िल्मी कॉलेजों' के दृष्टांतों पर भरोसा किया जाए तो वहाँ ऐसी फ़्री ललनाएँ भी मिलती हैं जो इस दुनिया में महज़ आमोद-प्रमोद और उपभोग की वस्तुएँ हैं:

पढ़ती थी कॉलेज में पहनती थी जूतियाँ।
चलती थी सड़क पे धड़कती थी चूचियाँ।।

ऐसा लगता है कि 'डिज़ायर' और 'क्लास' में टेंशन है, क्लास और जेंडर के बीच मसले हैं, सेक्स और सभ्यता तो विपरीतार्थक शब्द युग्म हैं ही। देवियों और सज्जनो, हमें इस सच से इन्कार नहीं कि हमारा भाड़ागाड़ी का यह जाबांज़ आशिक़ मर्दवादी फ़िल्मी लोक-संस्कृति का ही एक नमूना है। आप में से जिनके कान लाल हो रहे हों उनसे क्षमा याचना सहित उनकी नज़र करते हैं इस तरह के सेंटीमेंट को पंक्चर करता हुआ एक सुपरहिट शे'र:

मत सता लड़की को, ये पाप होगा।
तू भी किसी दिन, किसी लड़की का बाप होगा।।

बुरी नज़र

ऑटो जीविका है। धंधा है। लक्ष्मी है। जब ये घर आता है या कहना चाहिए कि आती है तो इसका शृंगार होता है लेकिन सजे-संवरे रूप को नज़र लग जाने का लोकापवाद तो आम है। इसलिए झट से डिठौना लगा दिया

जाता है। नज़र कौन लगाएगा, वही न जो जलेगा। नज़र की कई काटें हैं और कुछ ख़ास दिनों पर कुछ विशेष टोटके भी किए जाते हैं। जैसे जूते टाँगना, नींबू-मिर्ची लटकाना, शनिवार को रेडलाइट पर सरसों तेल में लोहे के शनि महाराज को दान देना, राह चलते अगर किसी मातबर दरगाह या हनुमान मंदिर के दर्शन हों जायें तो सर झुका देना। लेकिन एक बार फिर रोज़ाना अनिश्चितताओं की इस दुनिया में कुछ न कुछ स्थायी समाधान भी किए जाते हैं। और यह धर्म, पंथ, विश्वास से ऊपर की रूढ़ अंधविश्वासों का चलन है। मान्यता है कि

> इन्सान इतना अपने दुखों से दुखी नहीं है।
> जितना दूसरों के सुखों से दुखी है।।

लिहाज़ा लगभग सौ फ़ीसदी ऑटो वालों को बुरी नज़र का ख़ौफ़ सताता हैः और उसको काटने में वे तरह-तरह की रचनात्मक जुगाड़ लगाते हैं। बुरी नज़र वाले तेरा मुँह काला तो ख़ैर सर्वव्यापी है और सबसे घिसा-पिटा नारा है, लेकिन इस भाव की अन्य भंगिमाएँ भी दिलचस्प हैंः

> बुरी नज़र वालों की तीन दवाई।
> जूता, चप्पल और पिटाई।।

> चलती है गाड़ी, उड़ती है धूल।
> जलते हैं दुश्मन, खिलते हैं फूल।।

या पाठांतर मेंः

> मिलती है सवारी खिलते हैं फूल

इसका एक और रूप चित्रमय है यानी कि जूता लिखा नहीं, चित्रित है, बाक़ायदा काला और भयावह। इससे एक तीर में दो शिकार हो जाते हैं। आप डिठौना भी लगा गए, धमकी तो दे ही रहे हैं... जैसे यहाँः

> बुरी नज़र वाले तेरे लिए तोहफ़ा – (जूते की तस्वीर... आँख की भी...)

पर ऐसा लगता है कि बुरी नज़र वाले कुत्ते की दुम की तरह हैंः

> बुरी नज़र वाले
> तू फिर जूते खा ले।

ओफ़ कितनी हिंसा है हमारी सड़कों पर!

> 35 के फूल 36 की माला
> बुरी नज़र वाले तेरा मुंह काला

> बुरी नज़र वाले तेरा मुँह काला
> तेरा आतंकवादियों से पड़े पाला।

दिल्ली और आतंकवाद का यह पुराना रिश्ता बसों में आपकी सीट के नीचे 'बम्ब' से होता हुआ ऑटो के पिछवाड़े पर बद के लिए बद्दुआ बन चिपक गया...।

> बुरी नज़र वाले तेरे बच्चे जियें

और इसके पहले कि आप ऑटो वाले की मौलिक शराफ़त और सद-दुआ पर झूम उठें

> बड़े होकर तेरा ख़ून पियें...

एक और पाठांतर

बड़े होकर देसी दारू पियें

कुछ तो सीधे-सीधे अपनी बात कहना पसंद करते हैं - बिना किसी लाग-लपेट, हर्रे फिटकिरी के, बिल्कुल कोसने की ठेठ देहाती परंपरा में...

बुरी नज़र वाले तू जल

बुरी नज़र वाले तू पी के 100 जा

बुरी नज़र वाले भगवान तुझे उठा ले

बुरी नज़र वाले, तू ज़हर खा ले

लेकिन कुछ लोग उनसे एक-दो गालियाँ देकर मुक्ति पाना नहीं चाहते बल्कि एक ऐसा स्थायी रिश्ता गढ़ लेते हैं, जो लोक-संस्कृति द्वारा विहित, पोषित और मान्य हो - चाहे जब जी चाहे एक गाली जड़ दो :

बुरी नज़र वाले तेरा मुँह काला।
मैं तेरा जीजा, तू मेरा साला।।

एक भाई साहब को तो ऐसे तत्त्वों से इतनी कोफ़्त है कि वे एक नया भारत छोड़ो आंदोलन छेड़ देना चाहते हैं :

बुरी नज़र वाले लंदन जा...

वैसे और भी रास्ते हैं, नज़रों में अगर खोट है, साहब, तो इलाज कराइए :

BNW आँखें बदल



या इलाज संभव न हो तो हे

बुरी नज़रवाले, नेत्रदान करा ले!

लेकिन सारे लोग आँख के बदले आँख, ख़ून के बदले ख़ून के प्यासे सड़कों पर नहीं घूम रहे हैं, चंद शरीफ़ समाजसुधारवादी क़िस्म के लोग भी हैं:

न किसी की बुरी नज़र, न किसी का मुँह काला
सबका भला चाहता है, 2072 वाला

बुरी नज़र वाले तेरा भी भला

एक तो गांधीवादी भी मिला, बिल्कुल किताबी:

बुरा मत देखो, बुरा मत कहो, बुरा मत सुनो

या इसी को बेहतरीन शायराना अंदाज़ में ऐसे कहा गया है:
बुत को बुत ख़ुदा को ख़ुदा कहते हैं।
हम भी देखें तो उसे देख के क्या कहते हैं।।
जो भले हैं वो बुरों को भी भला कहते हैं।
न बुरा सुनते हैं अच्छे न बुरा कहते हैं।।

तो साहब जलने से भरसक परहेज़ कीजिए और अगर जलना ही है तो:
जलो मगर दिये की तरह।

नेक नीयत, मंज़िल आसान

और इसी पर-उपदेश कुशल बहुतेरे के नोट पर हम भी अपनी ऑटो-यात्रा को विश्राम देना चाहेंगे। चुन्नू ते मुन्नू ते पिंकी ते 100नू की गड्डी को इजाज़त दीजिए, हम फिर मिलेंगे:
नदी किनारे बुलबुल बैठी ओढ़े लाल दुपट्टा।
अगले चक्कर फिर मिलूंगा दिल न करना खट्टा।।

क्योंकि वक़्त के साथ हमारा पहिया तो नहीं रुकनेवाला और न ही रुकेगी सड़कछाप शायरी, ये अलग बात है कि बाज़ार का कुछ असर हमारी दीवारों पर शायद दिखने लगे और मंटो ने जिस आशंका की बात उस लेख के आख़िर में की थी वह सच हो जाये यानी कि हमारी अपनी दीवारों की शायरी भी शायद प्रायोजित हो जाए, मेट्रो की दीवारों की तरह — सपाट, चकाचक और यांत्रिक। चटपटा स्वाद जाने का अफ़सोस तो हम सबको होगा पर दुनिया तो फ़ानी है, आनी-जानी है:
सुबह का बचपन हँसते देखा दोपहर मस्त जवानी।
शाम का बुढ़ापा ढलते देखा, रात को ख़त्म कहानी।।

बुलबुल की ज़िंदगी चमन की बहार पर
ड्राइवर की ज़िंदगी मोटर की रफ़्तार पर

आपके बैठने का धन्यवाद...

उफ़ बाजी, रिक्शा गई!

आभार

यह लेख सराय की आलोचनात्मक शहरी लोक-संस्कृतिप्रियता की साझी उपज है और ख़ासतौर पर शुद्धब्रत सेनगुप्ता को समर्पित है। जिन दोस्तों ने नारे जमा करने में हमारी मदद की उनमें सोहन पाल अग्रणी हैं, जिन्होंने कई मौक़ों पर बस से उतर कर ऑटो के पीछे भागने तक की ज़ेहमत उठायी। दीपू (अवधेन्द्र शरण) और सौम्या गुप्ता ने बारी-बारी से गणेश और कृष्ण यानी लिपिक व सारथी की भूमिकाएँ बख़ूबी अदा कीं। शाहिद अमीन, ऋतु मिश्रा, आदित्य निगम, अविनाश झा, विजय सिंह, सदन झा, संजय शर्मा, नरेश गोस्वामी और योगेन्द्र दत्त ने या तो कई बेजोड़ नारे दिए या कुछ अच्छे सुझाव। करूणाकर को तो यह रोग ऐसा लगा कि वह हमसफ़र हो लिया और यहाँ छपी तस्वीरें उसी के कैमरे के जादुई चमत्कार हैं, ज़्यादातर चलती गाड़ी से उतारे गए।

संदर्भ:

स'आदत हसन मंटो, बलराज मेनरा, शरद दत्त (सं.) *दस्तावेज़ मंटो,* खंड 4, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1993.

रोलाँ बार्थ, *अ लवर्स डिस्कोर्सः फ़्रैग्मेंट्स*. 1977

http://wikipedia.org/wiki/Auto_rickshaw



अड्डेबाज़ शहर

इलाहाबाद का कॉफ़ी हाउस

नीलाभ

जिस तरह एक मनुष्य की, एक परिवार की और एक शहर की दिनचर्या होती है, उसी तरह उस शहर के सम्मिलन-स्थलों या कहा जाय कि लोगों के मिलने-जुने की जगहों की भी दिनचर्या खोजने पर चिन्हित की जा सकती है। मिसाल के तौर पर इलाहाबाद के विख्यात रहे आये कॉफ़ी हाउस को ही लें तो जिन लोगों ने इस कॉफ़ी हाउस नामक 'संस्था' को नज़दीक से देखा है और उसकी दिनचर्या में शरीक भी रहे हैं, वे इस बात की तस्दीक़ कर सकेंगे कि '60 दशक में इलाहाबाद के कॉफ़ी हाउस का एक औसत दिन कुछ इस प्रकार रहा होगाः

सुबह: नौ बजे के क़रीब कॉफ़ी हाउस के खुलते ही वहाँ कुछ ऐसे लोगों की आमद होती है, जो नियम से सुबह के वक़्त ही वहाँ आते हैं। इनमें खिलाड़ी भी हो सकते हैं, दफ़्तरों के कर्मचारी भी, जो दफ़्तर जाने से पहले यहाँ हाज़िरी लगाना अनिवार्य समझते हैं, और कुछ छोटे-मोटे राजनीति-कर्मी और कुछ ऐसे लोग, जिन्हें किसी भी शहर में 'निठल्लों' का ख़िताब मिला हुआ होता है। अलग-अलग मेज़ों पर बैठे ये लोग अपने-अपने काम-धन्धे से ले कर देश-दुनिया तक की बातों-बहसों में मशग़ूल नज़र आते हैं। यह क्रम लगभग एक बजे तक चलता है, जिसमें मेडिकल रेप्रेज़ेंटेटिव्स से ले कर ठेकेदारों तक एक मिला-जुला समुदाय आता-जाता रहता है।

दोपहर: वैसे कॉफ़ी हाउस की कोई ऐसी ख़ानाबन्दी नहीं होती कि उसे सुबह-दोपहर-शाम में बाँटा जा सके। एक मुसलसल प्रवाह लोगों का वहाँ दिखाई देता है, जिसे सुबह-दोपहर-शाम के तीन ख़ानों में बाँटना महज़ इसलिए सम्भव हो पाता है कि आने वाले समुदाय एक-दूसरे से मुख़्तलिफ़ होते हैं और अपने निश्चित समय पर ही आते हैं। लिहाज़ा एक-डेढ़ बजते ही वकीलों का झुण्ड सफ़ेद पतलूनों और काले कोटों में मलबूस, गाउन हाथ में लिये, कॉफ़ी हाउस पर उतरता है और इसी के साथ शहर के कुछ ऐसे व्यवसायी भी नज़र आने लगते हैं, जिनकी दिलचस्पी दोपहर की मन्दी को कॉफ़ी की चुस्कियों के साथ राजनीति-चर्चा में गुज़ारने में होती है। दवा कम्पनियों के प्रतिनिधि अस्पतालों का दौरा ख़त्म करके दूसरी बार कॉफ़ी हाउस में आ जमते हैं। इस बीच छोटे-बड़े राजनीति-कर्मियों और छात्र-नेताओं की मेज़ों पर बैठे चेहरे भले ही घण्टे-दो घण्टे बाद बदल जाते हों, मगर सरगर्म बहसें बदस्तूर जारी रहती हैं। हैरत नहीं कि अचानक कॉफ़ी हाउस के दरवाज़े पर लोहिया जी नमूदार हों और अपने साथ चलने वालों से बोलते-बतियाते चिन्ता की पान की दुकान की तरफ़ बढ़ते दिखायी दें।

शाम: कॉफ़ी हाउस में सन्नाटा, या कहा जाय कि सन्नाटा तो कभी होता नहीं, मगर लोगों की विरलता साढ़े चार से साढ़े पाँच के बीच होती है, जब वकीलों की दूसरी पारी अदालत से घर लौटते समय की हाज़िरी बजा कर कॉफ़ी हाउस से जा चुकी होती है और जब शाम की सरगर्म पारी शुरु होने से पहले कॉफ़ी हाउस एक अँगड़ाई ले कर थोड़ी-सी आराम की साँस लेता है। साढ़े पाँच के क़रीब एक-एक करके साहित्यिक बिरादरी का आना शुरु होता है। इलाचन्द्र जोशी, साही (विजयदेव नारायण), मार्कण्डेय, भैरव प्रसाद गुप्त, नरेश मेहता, अमरकान्त, शेखर जोशी, ज्ञानरंजन, रवीन्द्र कालिया, दूधनाथ सिंह, गाहे-बगाहे फ़िराक़, अश्क, सुमित्रानन्दन पन्त और अगर शहर में आये हुए हों तो भगवती बाबू (भगवती चरण वर्मा), नागर जी (अमृतलाल नागर) या फिर अज्ञेय (सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन) भी कॉफ़ी हाउस में नज़र आ जाते हैं। अलग-अलग मेज़ें क़ब्ज़ा कर ली जाती हैं, महफ़िलें सज जाती हैं — इधर परिमल की, उधर प्रगतिशीलों की, तीसरी तरफ़ युवा साहित्यकारों की — और बहस-मुबाहिसे का बाज़ार कॉफ़ी की चुस्कियों के बीच परवान चढ़ने लगता है। यह तय करना मुश्किल हो जाता है कि ज़्यादा शोर कौन कर रहा है — नेता या साहित्यकार। या फिर यह कोई एक नायाब जुगलबन्दी है, जो कि इस शहर की ख़ासियत है। नौ बजते-बजते महफ़िलें उठने लगती हैं, शम्माएँ अगले दिन के लिए बुझा दी जाती हैं, या अगर बहसों में कोई फ़ैसलाकुन नतीजा न निकला हो, और गुंजाइश बाक़ी हो तो महफ़िल उठ कर किसी चाय की दुकान का रास्ता लेती है। मगर कॉफ़ी हाउस नौ बजते ही एक सार्थक दिन बिताने के

बाद बत्तियाँ गुल कर देता है। हालाँकि बत्ती बुझ जाने के बाद भी मँडराते पतंगों की तरह कुछ लोग बाहर पान की दुकानों या अपने वाहनों के पास खड़े बतियाते रहते हैं और फिर धीरे-धीरे रुख़सत होते हैं।

कमोबेश यही नज़ारा उस दौर के दिल्ली, लखनऊ, पटना और कोलकाता वग़ैरह के कॉफ़ी हाउसों में भी नज़र आता रहा होगा, जैसा कि लोग अब भी याद करते हैं। लेकिन साहित्यकारों के जमावड़े महज़ कॉफ़ी हाउस के मोहताज नहीं रहे। इलाहाबाद की युनिवर्सिटी रोड का विख्यात 'जगाती रेस्त्राँ' हो या फिर दिल्ली में रीगल के पीछे सरदारजी का होटल, जोधपुर के आनन्द सिनेमा के ऊपर चाय की दुकान हो या बीकानेर में 'वातायन' का दफ़्तर या दिल्ली पब्लिक लायब्रेरी की साप्ताहिक मीटिंगें या जैनेन्द्रजी आदि का 'शनिवार समाज' — साहित्यकार अपने समागम के लिए कोई-न-कोई जगह, कोई-न-कोई तरीक़ा और कोई-न-कोई वक़्त निकाल ही लेते रहे हैं।

हिन्दी साहित्य का मौखिक इतिहास, दूसरा खंड

कैफ़े प्राग

सविता सिंह

लगातार बारिश के बाद
पिघलकर पानी ही तो हो गयी थी इतनी सारी बर्फ़
पड़ी महीनों से लदी सड़कों की आत्मा को किये बोझिल
कितने चुम्बनों आलिंगनों टूटे प्यार के
लंबे रिश्तों को महसूस करती
विषाद की उठती-गिरती लहरों में डूबते
मन की भयावह स्थिति को झेलती
सुनती किसी अंतहीन रुदन के स्पंदन में
मरती उम्मीद को कि
अब पुनः प्रेम नहीं किया जा सकता
जो चला गया वह लौट नहीं सकता

यह बर्फ़ साथ होती है उनके
जो कैफ़े प्राग में किसी परिचित के साथ
पीते हैं गुलाश
करते हैं बातें फ़ेलीनी की 'जूलिया और उसकी आत्माएँ' पर
या फिर चुपचाप देखते हैं बारिश
तत्परता से होती है सहमत यह बर्फ़ उनसे जो मानते हैं
कैफ़े प्राग सहज ही अंतरंग हो जाता है
फीकी किसी हँसी से
चरमरा गये विश्वास से
अकेले लोगों की अजीबोग़रीब दुनिया से
और फिर यहीं तो हुई थी मुलाक़ात
प्रेम में पड़ी इज़ेबेला से
जो मिली थी जब दूसरी बार
तो फटी आँखों से देख रही थी खिड़की के बाहर

ज्वर से पीड़ित प्रेम में आहत
खाती सूखी गारलिक ब्रेड

२

कैफ़े प्राग आते हैं सभी
सुखी और दुखी
देखने रोज़ाना कॉनकोर्डिया विश्वविद्यालय की
फ़िल्म दीर्घा में कला फिल्मों के शो
कभी अपने को खोजने कभी खो जाने
इन फ़िल्मी चरित्रों में
भुलाने या करने याद बातें
जिन्होंने जोड़ा था उन्हें
इस शहर से, इसकी ठंड से
संभव किये थे प्रेम या फिर उपजायी थी घुटन
परिचय में इनके ला खड़ा किया था
क्षणिक मोह में बिलखते सच को

कुछ भी नहीं इस शहर में
कैफ़े प्राग जैसा
शब्द और अर्थों की एक सुरंग-सा
एकालाप की विस्थापित दुनिया में पड़ा औंधा
कैफ़े प्राग इज़ेबेला के प्रेम की विफलता पर
दुखी होता है
जूलिया की आत्माओं की मुक्ति की कामना करता है

बाहर बर्फ़ और बारिश धोती रहती हैं अलग से
दिलों के घाव
उनके दाग़

यहाँ एक कॉफ़ी हाउस रहता था

राजकुमार कुम्भज

I

यहाँ एक कॉफ़ी हाउस रहता था
जो बहुत पीछे छूट गया है अब किसी एक पुकार की तरह
कल तक जहाँ कॉफ़ी हाउस था, आज वहाँ मलबा है
कॉफ़ी हाउस के मलबे में दबे हैं कई-कई विचार
मलबे में दबे विचार कभी भी बाहर नहीं निकलते हैं
वे, नींव बन जाते हैं संस्कृति की।

II

कॉफ़ी हाउस के कई कोने थे
किसी कोने में बैठते थे कुछ ठेकेदार क़िस्म के लोग
किसी में गप्पबाज़, किसी में यारबाज़
तो किसी कोने में बैठते थे ज़माने भर के शिकायतकर्ता
किसी कोने में शहर के तथाकथित श्रेष्ठि-भद्र-अभद्र
किसी में दलाल, भवन-निर्माता और अभिभावक
तो किसी कोने में बैठती थीं कुछेक लड़कियाँ
अपने कुछेक मित्रों के साथ घंटों प्रसन्नचित्त
गरम कॉफ़ी हो जाती थी ठंडी
किन्तु तब भी ख़त्म नहीं होती थीं वे बातें जो थी लम्हों की।
कॉफ़ी हाउस के कई-कई कोने थे
किसी कोने में बैठते थे कुछेक बुद्धिजीवी भी
जो एक प्याला कॉफ़ी में समूची बरसात बराबर रोते थे
और खुश होते थे।

III

यह जो एक कॉफ़ी हाउस नहीं रहा
उसमें रहती थी असंख्य असहमतियाँ
और उन असंख्य असहमतियों में
बनी रहती थी यह एक सहमति भी
कि बनी रहे असहमति।

IV

इसी एक कॉफ़ी हाउस की बग़ल से
गुज़रता है इस शहर का सबसे लम्बा महात्मा गांधी मार्ग
यह महात्मा गांधी मार्ग कारों की दौड़ से हाँफ रहा है इन दिनों
इन दिनों कई-कई राजनीति-दलों के लिए ज़रूरी है
महात्मा-गांधी मार्ग का विकल्प
क्या कोई विकल्प हो सकता है महात्मा गांधी मार्ग का?
क्या कोई विकल्प हो सकता है उस एक कॉफ़ी हाउस का?
जो इस महात्मा गांधी मार्ग के किनारे रहता था
और गांधी मार्ग से थोड़ा असहमत था?

V

इलाहाबाद से लौटा
तो दिल्ली-कोलकाता में नहीं था
दिल्ली-कोलकाता से लौटा तो
पटना-भोपाल में नहीं था
पटना-भोपाल से लौटा
तो लखनऊ-बेंगलूर में नहीं था
लखनऊ-बेंगलूर से लौटा
तो जबलपुर-चेन्नई में नहीं था
और जब जबलपुर-चेन्नई से लौटा
तो वह इन्दौर में नही था।
अर्थात कॉफ़ी हाउस ।

VI

कॉफ़ी में झाग मत लाओ
झाग-संस्कार से मेरी असहमति रही है

मैं लौटा देता हूँ झाग भरी कॉफ़ी का वह प्याला
जिसे मेरे ही आग्रह पर अभी-अभी लाया था वेटर
किन्तु अब वहाँ न कॉफ़ी है, न कॉफ़ी हाउस है
न वेटर, न मैं और न ही वे गप्पेबाज़ दोस्त ही यहाँ मौजूद हैं
जो झाग-संस्कार से असहमत।

VII

जिन्होंने युद्ध किया
वे ही जानते है युद्धोन्माद
जिन्होंने प्रेम किया
वे ही जानते हैं वह पीड़ा
जिन्होंने खोया कॉफ़ी हाउस
वे ही जानते हैं विस्थापन।

सामाजिकता का वास्तुशिल्प

दिल्ली का ऐतिहासिक कॉफ़ी हाउस

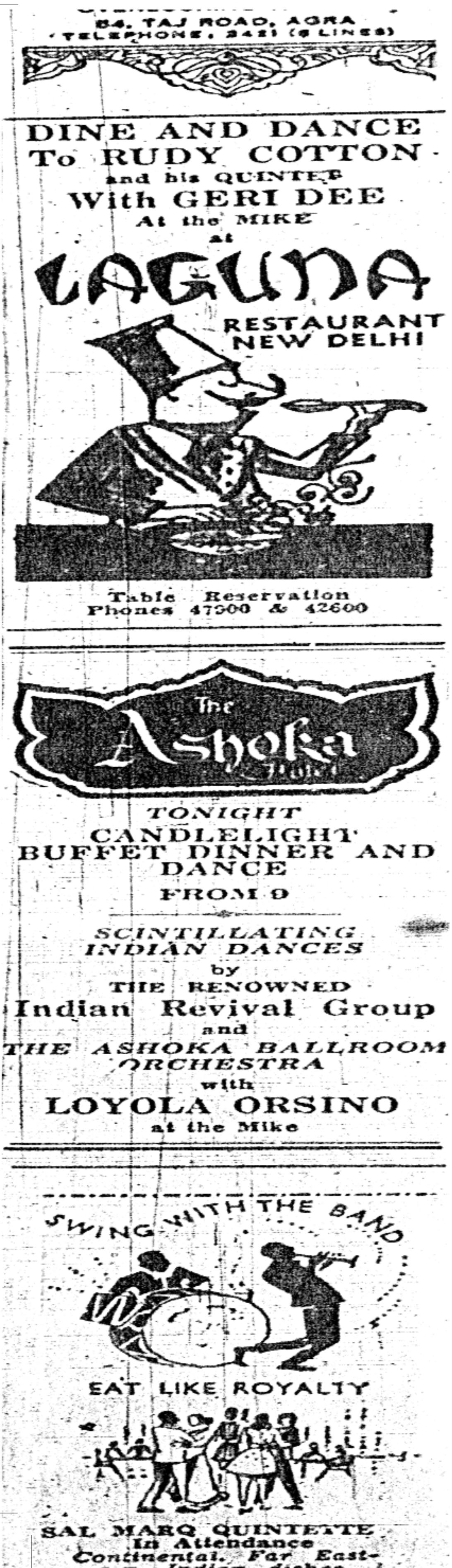
सौम्या बी. वर्मा + सुमित रॉय

अगर आप कॉटेज एम्पोरियम से कनॉट प्लेस के अंदरूनी दायरे की तरफ़ बढ़ते हुए जनपथ से गुज़रें तो अपनी बाईं तरफ़ आपको छोटी-छोटी दुकानों और खोखों की क़तार दिखाई देगी। इन दुकानों पर कथकली मुखौटों, जयपुरी जूतियों, गुजराती झोलों, लखनवी कुर्तों और ऐसी ही हज़ारों चीज़ों की शक्ल में 'भारत' को बेचा जाता है। तमाम रंग-बिरंगे साज़ो-सामान से लैस और बातों-बातों में लोगों के कान काट लेने में उस्ताद दुकानदारों के ज़रिए ये दुकानें दूर-दूर से आए सैलानियों और दिल्ली के बाशिंदों, दोनों को लुभाती हैं। चाहे शाहख़र्च सैलानी हो, चाहे एक-एक पैसे पर जान देने वाला ग्राहक, कोई उनकी पहुँच के बाहर नहीं है।

अब अगर आप अपनी दाईं तरफ़ नज़र डालें तो विशाल बर्गर क्रांति की एक पीली मेहराब सड़क के ख़त्म होने का ऐलान करती दिखाई देती है। दिलचस्प बात यह है कि इस सड़क पर इनर सर्किल तक इस मेहराब के अलावा क़तार-दर-क़तार कारें ही दिखाई पड़ती हैं। अगर आप थोड़ा और आगे बढ़ें तो कुछ बैंक, हीरे-जवाहरात और फैंसी रोशनियों के बड़े-बड़े शोरूम, भारतीय पर्यटन विभाग के दफ़्तर, एअरलाइनों के दफ़्तर, एक-दो रेस्टोरेंट और कुछ फ़ोटोग्राफ़र दिखाई देंगे। अपनी बेदाग़ डिस्प्ले विंडोज़ में भारत को बड़े करीने से सजा कर रखने वाले ये शोरूम और दुकानें शहर के सुसंस्कृत और सम्पन्न बाशिंदों को रह-रहकर अपनी तरफ़ खींचते हैं।

सड़क के ये दो किनारे रुचि और औक़ात के लिहाज़ से एक-दूसरे से ज़ाहिर तौर पर भिन्न हैं। एक तरफ़ आम जनता की दिलचस्पी की सस्ती चीज़ें मिलती हैं तो दूसरी तरफ़ रईसों को लुभाने का पूरा बंदोबस्त किया गया है। बहरहाल, दोनों किनारे एक क़िस्म की बामक़सद मौजूदगी — 'हम धंधे के लिए यहाँ बैठे हैं' का अहसास कराते हैं...। कुल मिलाकर यह पूरा इलाक़ा भीड़-भड़क्के और अफ़रातफ़री के अहसास में खोया दिखाई देता है। एक ऐसी जगह जहाँ आप ख़रीदारी की थकान से निजात पा सकें! यहाँ तो बस इतना ही इंतज़ाम है कि अगर थक गए हैं तो अपनी रोटी-दाल का ऑर्डर दीजिए, चाय-कॉफ़ी पीजिए... पैसा चुकाइए... और चुपचाप चलते बनिये। तमन्नाई और भी हैं जो आपके पीछे क़तार में खड़े हैं... यहाँ हर लम्हा कारोबार का, काम-धंधे का लम्हा होता है!

किसी भी जगह को हम जिस रूप में अनुभव करते हैं वह सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संबंधों के एक विविध इतिहास का भौतिक रूप होता है। हालाँकि इन संबंधों के जाल को पूरी तरह उधेड़ कर किसी जगह का मुकम्मल तौर पर 'पठनीय' बेदाग़ इतिहास हासिल करना नामुमकिन है, फिर भी हर जगह कोई न कोई छोटी सी दरार मुहैया करा देती है जहाँ से आप अतीत की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक काई को खुरच कर उसके उस रंग-रूप में झाँक सकते हैं जो कभी हुआ करता था। इसीलिए, हैरत की बात नहीं है कि जनपथ पर टहलते हुए आप भी इस बात से नावाक़िफ़ हैं कि एक ज़माने में इस सड़क को क्वींस वे कहा जाता था। क्वींस वे यानी 'मलिका मार्ग'। पर, जैसे ही आप सतह को धीरे-धीरे खुरचने लगते हैं, आपके सामने एक बिल्कुल नई दुनिया उजागर होने लगती है; एक बिल्कुल अलग दौर, हालाँकि कहने को यहाँ गुज़रे हुए ज़माने की बहुत कम निशानियाँ दिखाई देती हैं।



'तम्बू' के इतिहास को पकड़ने की अपनी जद्दोजहद में बहुत सारे लोगों के अलग-अलग ब्योरों के सहारे हमें कई बार क्वींस वे की ख़ाक़ छाननी पड़ी। अपनी जुस्तजू में हमने *इंडिया कॉफ़ी हाउस* (आईसीएच) के भी दर्शन किए। यह कॉफ़ी हाउस *टेन्ट* से पहले का है। स्थायी रूप से तालों में बंद *रंगून स्टूडियो* के नज़दीक स्थित *आईसीएच* कई मायनों से हमें एक अनूठी जगह मालूम पड़ा। आज के जनपथ पर गाड़ियों की बदहवास भागमभाग के बीच इस बात की कल्पना करना भी मुश्किल लगता है कि वहाँ *आईसीएच* जैसी कोई जगह भी हो सकती है जहाँ आप वक़्त को क़रीब-क़रीब कॉफ़ी की चम्मचों में माप सकते हैं...।

काश, हमारे पास भी प्यारे हैरी पॉटर की तरह कोई अदृश्य प्लैटफ़ॉर्म नं. 9¾ होता तो हम भी दीवार में बने उस सुराख़ के ज़रिये फटाक से *आईएसएच* में दाख़िल हो जाते।[1] बहरहाल, समय की सुरंग से फिसलते हुए चालीस के दशक में वापस लौटते हुए यदि आप पीछे मुड़कर सड़क के दूसरे किनारे का नज़ारा लेना चाहें तो आपको लगेगा कि आजकल के खोखे और भीड़ भरी दुकानें नज़र से ओझल होती जा रही हैं और जब आप सुरंग के बाहर निकल कर 'शाही मलिका मार्ग' पर पैर रखते हैं तो सड़क की बाईं तरफ़ एक लंबे-चौड़े हरे मैदान के अलावा और कुछ नहीं दिखाई देता। जी हाँ, उस ज़माने में यहाँ जब-तब लगने वाली नुमाइश के अलावा और कुछ नहीं होता था। इस तरह, अब जबकि आप लुटियंस के 'आलीशान अंदाज़' में बनाए गए 1940 के दशक के कनॉट प्लेस में पहुँच चुके हैं तो ख़ुद देख सकते हैं कि शाही हैसियत के मामले में यह 'शाही मलिका मार्ग' सिवाय किंग्सवे (राजपथ) के और किसी से उन्नीस नहीं है...।

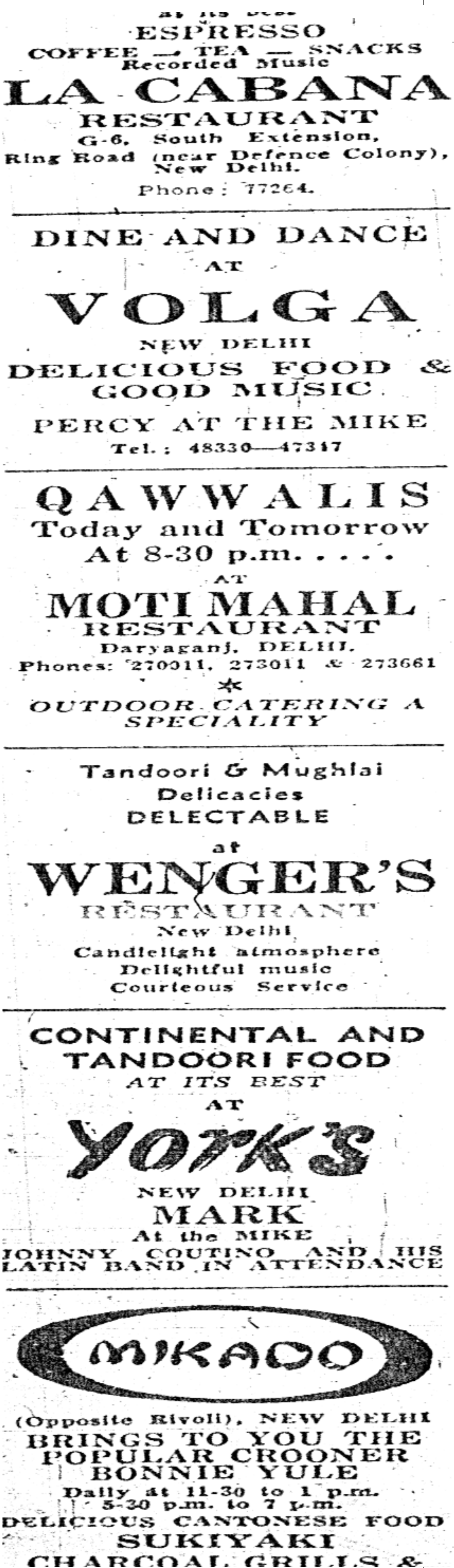
'तंबू कहवा घर' के पहले की चीज़ों की तलाश में एक बार फिर उसी जगह से गुज़रते हुए हम एक बिल्कुल अलग भू-दृश्य का नज़ारा देखते हैं। हम देखते हैं कि हमारी बाईं तरफ़ स्थित संसद मार्ग और क्वींस वे के बीच का पूरा इलाक़ा एक हरे मैदान की शक्ल में पसरा हुआ है। चालीस के शुरुआती सालों में, दूसरे महायुद्ध के दौरान इस जगह की अपनी एक अहमियत थी। अमेरिकी सिपाहियों के लिए बनाई गई कुछ छोटी-छोटी झुग्गीनुमा बैरकें यहाँ अभी भी मौजूद हैं। शहर में और भी कई जगहें हैं जहाँ अमेरिकी प्यादा सैनिकों को ठहराने के लिए इसी तरह के कामचलाऊ झोंपड़े बनाए गए थे। अगर हम सड़क पर आगे बढ़ते जाएँ और आईसीएच पर न रुकें तो कनॉट प्लेस के सेंट्रल पार्क में पहुँच जाते हैं। इस पार्क के बीचोंबीच एक बैंड स्टैंड दिखाई देता है जहाँ कभी-कभी शाम के समय बाजे वालों की एक टोली संगीत की धुनें बिखेरती है।[2] इस पार्क के एक कोने में भी बैरकों और कमरों की कुछ क़तारें

दिखाई देती हैं। ये सब दूसरे विश्व युद्ध के लिए बनाई गई थीं। अब इनमें से कुछ में बेतार के संचार बूथ खुल चुके हैं और उनका नाम भी उन युद्धकालीन थियेटरों के नाम पर पड़ चुका है जिनके साथ वह संचार क़ायम करती हैं, जैसे बर्मा थियेटर। नतीजतन, इन एक मंज़िला इमारतों को *थियेटर कम्युनिकेशन कॉम्प्लेक्स* का नाम मिला है।[3] यहाँ भी कुछ अमेरिकी सिपाही तैनात हैं, जो *आईसीएच* सहित इस कनॉट प्लेस की ज़िंदगी का एक हिस्सा बन चुके हैं।

यहाँ से *इंडिया कॉफ़ी हाउस* की तरफ़ लौटते हुए लॉरेंस ऐण्ड मेयो, प्यारेलाल ऐण्ड कंपनी, रंगून फ़ोटो स्टूडियो आदि के सामने से गुज़रते हुए जश्न का जाम हमारा स्वागत करता है। यह मशहूर जाम भी उसी महाविनाश के साथ 'शाही मालिका मार्ग' पर लाया गया था, जिसने रातोंरात अमेरिकी सिपाहियों को दिल्ली के बीचोंबीच ला खड़ा किया था — वह महाविनाश जिसे दुनिया विश्व युद्ध के नाम से जानती है!

दूसरे महायुद्ध से पहले तक भारत में उगने वाली तक़रीबन सारी कॉफ़ी निर्यात कर दी जाती थी। मगर युद्ध के दौरान विदेशी बाज़ार चौपट होने लगे और कॉफ़ी की बिक्री धराशायी हो गई। कॉफ़ी बाग़ानों के मालिकों में अफ़रातफ़री मच गई। तब कॉफ़ी के व्यापार को सहारा देने के लिए ब्रिटिश सरकार ने फ़ैसला लिया कि इस देश के लोगों में भी कॉफ़ी का ज़ायका पैदा किया जाए। नतीजतन पहली बार मुंबई और कोलकाता में भी कॉफ़ी हाउस खुले। 1940 में इंडियन कॉफ़ी प्रॉमोशन बोर्ड का गठन किया गया। 1944 में उसे इंडिया कॉफ़ी बोर्ड का नया नाम मिला। 1948 तक आते-आते पूरे देश में 48 कॉफ़ी हाउस, एक कॉफ़ी वैन और तीन कॉफ़ी डिपो बन चुके थे।[4] क्वींस वे पर खड़ा *इंडिया कॉफ़ी हाउस* भी इसी फ़ेहरिस्त का हिस्सा था, हालाँकि यह दिल्ली का पहला कॉफ़ी हाउस नहीं था। दिल्ली का पहला *इंडिया कॉफ़ी हाउस* तो 1941-42 में चाँदनी चौक में खुला था। यह कॉफ़ी हाउस शीशगंज गुरुद्वारे के सामने एक दवाख़ाने की बग़ल में स्थित था। फिर भी, क्वींस वे का कॉफ़ी हाउस उम्र के लिहाज़ से दिल्ली के कॉफ़ी हाउसों में दूसरे पर नंबर पर रहा।

शाही दिल्ली में कनॉट प्लेस कारोबार और मौज-मस्ती का नया केन्द्र था, इसलिए यह जगह कॉफ़ी हाउस के लिए ज़्यादा मुफ़ीद थी। लंदन और पेरिस जैसे शहरों के दमकते इतिहास में कॉफ़ी हाउसों की हैसियत ने युरोप की सैर कर चुके और अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीयों में भी कॉफ़ी को संस्कृति और सुघड़ता की निशानी बना दिया था। यह कॉफ़ी हाउस उनके लिए सुकून बन कर आए। कॉफ़ी बोर्ड ने भी कॉफ़ी हाउसों के इर्द-गिर्द एक शाही शानो-शौक़त और रौनक़ बनाए रखने में कोई कसर नहीं छोड़ी। बैरों को बाक़ायदा रस्मी सज-धज वाली पोशाक दी गई और ग्राहकों की ख़िदमत में पश्चिमी व्यंजनों से लदा मेन्यू पेश किया गया।



इसमें डोनट और सैंडविच जैसे व्यंजन भी शामिल थे। 'लेडीज़ ऐण्ड फैमिलीज़' के लिए एक अलग जगह मुक़र्रर थी जहाँ सिगरेट-सिगार की मनाही थी।

हालाँकि कनॉट प्लेस व्यापार एवं वाणिज्य का एक उल्लेखनीय केंद्र बनता जा रहा था और दिल्ली के राजनीतिक केंद्र से नज़दीकी के कारण आधिकारिक रूप से भी ज़्यादा से ज़्यादा अहमियत हासिल करता जा रहा था, मगर अभी भी वहाँ तक आवाजाही के साधन बहुत अच्छे नहीं थे। उस वक़्त यहाँ का भौगोलिक रूप-रंग और आबादी आज से बिल्कुल अलग थी। भौगोलिक रूप से कनॉट प्लेस दिल्ली के केंद्र की बजाय उसका एक कोना ज़्यादा दिखाई देता था। दिल्ली की ज़्यादातर आबादी अभी भी शहर के शाहजहाँनाबाद वाले इलाक़े यानी पुरानी दिल्ली में रहती थी। कनॉट प्लेस के आसपास पड़ने वाले रिहाइशी इलाक़ों में मोटे तौर पर सरकारी अफ़सर रहते थे जिन्हें या तो आवाजाही के लिए सरकारी साधन मिले हुए थे या जिनके पास ख़ुद अपनी गाड़ियाँ मौजूद थीं। ज़्यादातर दिल्लीवालों के लिए कनॉट प्लेस पहुँचना मुश्किल था क्योंकि सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था का अभाव था। कहने को तो यहाँ सार्वजनिक बसों की सुविधा मौजूद थी, मगर ये बसें कब आएँगी और कितनी देर में आपको गंतव्य तक पहुँचाएँगी, इसका कोई ठिकाना नहीं था। ये ग्वालियर के सिंधियाओं की कंपनी, जीएनआईटी (ग्वालियर ऐण्ड नॉर्थ इंडिया ट्रांसपोर्ट कम्पनी), की प्राइवेट बसें थीं।[5] दिल्ली के ज़्यादातर लोग या तो पैदल चलकर या फिर साइकिल व ताँगों से कनॉट प्लेस पहुँचते थे। कनॉट प्लेस में ख़रीद-फ़रोख़्त और मौज-मस्ती के लिए आने वालों में से ज़्यादातर शहर के खाते-पीते रईस थे, जिनके पास या तो ख़ुद अपनी कारें थीं या जो भाड़े की टैक्सी का ख़र्चा उठा सकते थे। यही वह तबक़ा था जिसके लिए यहाँ वेंगर्स जैसी जगहें वजूद में थीं। अपने सैंडविच और ट्रफ़ल्स के लिए मशहूर वेंगर्स में पहली मंज़िल पर एक डाइनिंग हॉल भी था। बेकरी के ऊपर बने इस हॉल को 1975 तक खाना खाने की सबसे आलीशान जगहों में शुमार किया जाता रहा। इसके बाद रीगल के पास अपने ज्यूक बॉक्स से लैस डेवीकोज़ भी था! और चालीस के दशक के मध्य तक आते-आते *युनाइटेड कॉफ़ी हाउस* और *निरूलाज़ पो'पुरी* भी अस्तित्व में आ चुके थे जहाँ का माहौल *इंडिया कॉफ़ी हाउस* से भी ज़्यादा भव्य था।

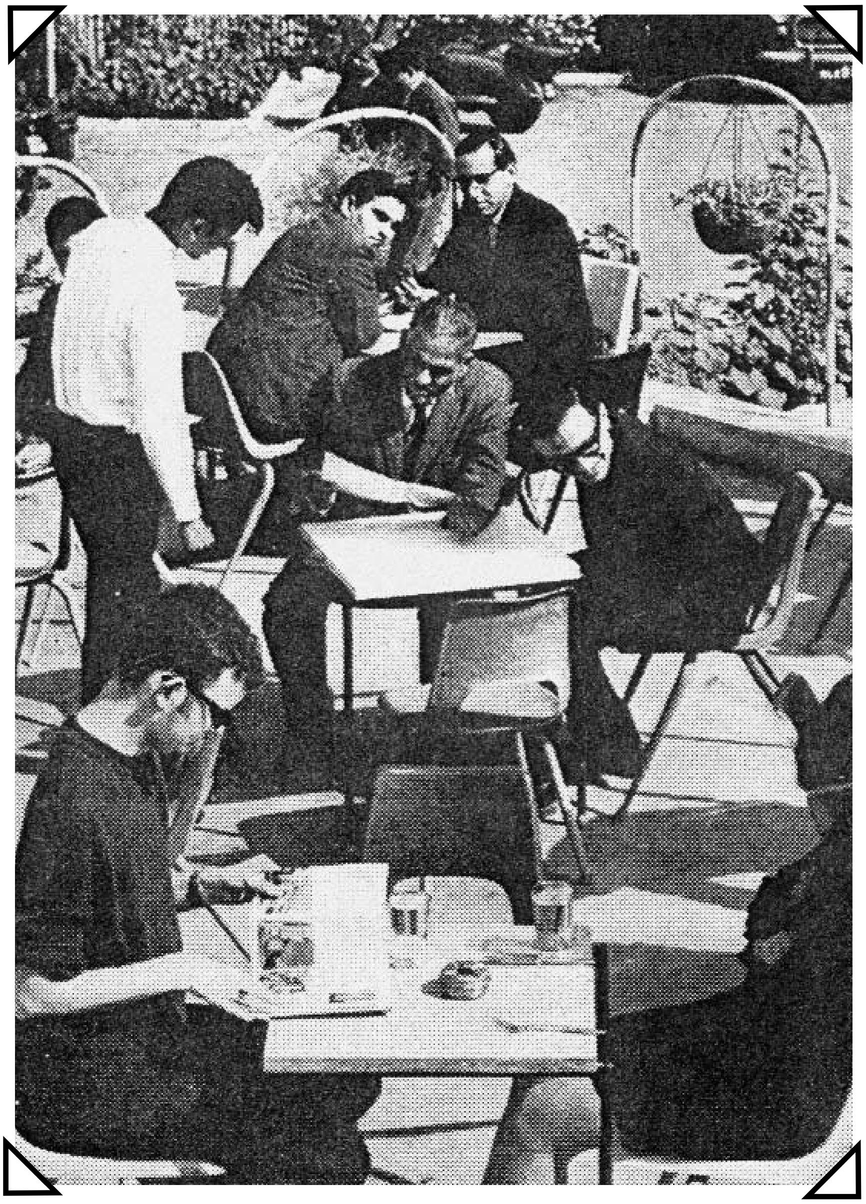
इस ब्योरे से साफ़ हो जाता है कि उस ज़माने में जो लोग *इंडिया कॉफ़ी हाउस* की तरफ़ आकर्षित हो रहे थे वह दिल्ली में खानपान की ज़्यादा मशहूर और जानी-पहचानी जगहों में जाने वाले लोग नहीं थे। ये दोनों अलग दुनियाओं के लोग थे। कॉफ़ी की रियायती दरों के कारण *आईसीएच* को सबसे पहले कनॉट प्लेस के दफ़्तरों में काम करने वाले बाबुओं और साहबों के बीच लोकप्रियता मिली। ये लोग दोपहर बाद ऑफ़िस से निकलकर कनॉट प्लेस की सुनसान गलियों से होते हुए कॉफ़ी हाउस में पहुँचने लगे। काम-धंधे के सिलसिले में कनॉट प्लेस आने वाले छोटे-मोटे व्यापारी और कारोबारी लोग भी यहाँ कॉफ़ी की चुस्कियाँ लेते हुए अपने ग्राहकों की किफ़ायती ख़ातिरदारी करने लगे। लोगों को क़र्ज़े के फ़ायदे समझाने और बीमे की पॉलिसियाँ बेचते बैंक के बाबुओं और बीमा एजेंटों को भी यहाँ अकसर देखा जाने लगा। और इन सबके अलावा कुछ ऐसे लोग तो हमेशा से थे ही जो बस यूँ ही तफ़रीहन तम्बाकू के दो कश मार लेने के लिए यहाँ आ टपकते थे और जिन्हें लगे हाथ कॉफ़ी की चार चुस्कियाँ मार लेने में भी कोई एतराज़ न था!

इस तरह, यह कॉफ़ी हाउस इस इलाक़े की ज़्यादा 'एक्सक्लूसिव' दुकानों के मुक़ाबले पहले ही काफ़ी हद तक 'इनक्लूसिव' यानी समावेशी क़िस्म का केंद्र बन चुका था। यहाँ सस्ते व्यंजन थे, रस्मी पोशाक में सजे बैरे और उनकी जी-हुज़ूरी का अंदाज़ था, पैसा चुका कर भी टेबल पर बैठे रहने की बेफ़िक्री थी और सामाजिक मेलजोल की एक ऐसी संभावना थी जो बाद में एक ज़्यादा तेज़तर्रार और गतिशील 'पब्लिक' अर्थात 'जनता' के उदय का स्रोत बन गई। बाद में इसी 'जनता' ने पीआरआरएम की अगुवाई की जो 1964 में इसी कॉफ़ी हाउस से शुरू हुआ था।

जैसे-जैसे कॉफ़ी हाउस से कॉफ़ी की ख़ुशबू और सिगरेट का धुआँ दूर-दूर तक फैलने लगा, वहाँ आने वाली 'जनता' में भी पहले से ज़्यादा विविधता दिखाई देने लगी। हाल ही में अस्तित्व में आए *दिल्ली ट्रांसपोर्ट यूनियन* (डीटीयू) और फ़ोर-सीटर्स के ज़रिए कनॉट प्लेस तक पहुँचने की सहजता के सहारे *इंडियन कॉफ़ी हाउस* हैबरमास की शहरी 'सामाजिकता के वास्तुशिल्प' की अवधारणा में ढलने लगा। कॉफ़ी हाउस से संचार की जो सुविधा

मिलती थी, उससे यहाँ आने वाले ग्राहकों को तरह-तरह की सामाजिक पृष्ठभूमि के लोगों के बीच मेलजोल और उठ-बैठ की संभावना दिखाई देने लगी। जल्दी ही लोग न केवल कॉफ़ी के लिए बल्कि सामाजिक ताल्लुक़ात के लिए भी कॉफ़ी हाउस में मजमे ज़माने लगे। यह छोटी सी जगह निजी और सार्वजनिक के संगम का एक बढ़िया अवसर मुहैया कराती थी। यहाँ आकर लोग एक ऐसी जगह का तजुर्बा हासिल करने लगे जो अंतरंग और नतीजतन निजी होते हुए भी खुली और सुराख़दार यानी सार्वजनिक थी। अपनी प्रख्यात कृति *द स्ट्रक्चरल ट्रांसफ़ॉर्मेशन ऑफ़ द पब्लिक स्फ़ियर*[6] में हैबरमास ने सार्वजनिक स्थानों के उदय की चर्चा करते हुए ऐसे स्थानों को आधुनिक शहरी भावनाओं/संवेदनाओं को आकार प्रदान करने वाले 'पब्लिक स्फ़ियर (जनपद)' के लिए एक आदर्श जन्मस्थली की संज्ञा दी थी।

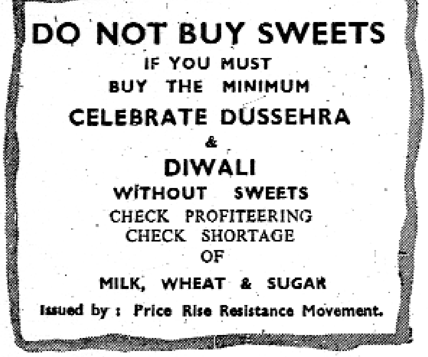
इस तरह *इंडियन कॉफ़ी हाउस* दिनोंदिन इस पब्लिक स्फ़ियर का साकार भौतिक रूप बनता चला गया। यह वह पब्लिक स्फ़ियर था जो दीन-दुनिया की चीज़ों के व्यापारियों से लेकर बेजोड़ भाषायी जादूगरी के सौदागरों तक तमाम तरह के लोगों को अपनी दुनिया में समेटता जा रहा था।



1964 की गर्मियों में केंद्र सरकार अनाज की कमी के एक भारी संकट में फँस गई। चंद महीनों के अंदर बुनियादी खाद्य पदार्थों की क़ीमतें आसमान छूने लगीं और सरकार पर कम्युनिस्ट पार्टी व संघ, दोनों का भारी दबाव पड़ने लगा। विपक्षी दलों ने राष्ट्रव्यापी महँगाई विरोधी आंदोलन छेड़ने का ऐलान कर दिया। इस आंदोलन के तहत जो राजनीतिक गोलबंदी शुरू हुई, अनाज की 'जमाख़ोरी' करने वाले उसका सबसे मुख्य निशाना बने। कई जगह लोगों ने उनके घरों और गोदामों को घेर कर उनके अनाज भण्डारों को केंद्र सरकार के हवाले कर दिया। दिल्ली में यह आंदोलन कुछ कमज़ोर रहा। ऐसा लगता है कि यहाँ यह आंदोलन विपक्षी पार्टियों के धरने-प्रदर्शनों के दायरे से ज़्यादा आगे नहीं जा पाया। मगर इसमें कोई शक नहीं कि संकट गहरा था। इस संकट ने न केवल बहुत सारे परिवारों को पहले से भी ज़्यादा किफ़ायतशारी के लिए मजबूर कर दिया बल्कि देवताओं के दरबार भी उसकी मार से अछूते न रह पाए। भगवान सोमनाथ के सामने हर रोज़ पेश की जाने वाली रस्मी थाली का चलन ख़त्म हो गया और उन्हें केवल भक्तजनों के दर्शन से संतोष करना पड़ा।[7] इस गहराती सार्वजनिक चिंता के माहौल में ही 18 सितम्बर की घटनाओं की ज़मीन भी तैयार हो रही थी।

पत्रकार राजिन्दर कपूर जनपथ कॉफ़ी हाउस के नियमित ग्राहकों में थे। रोज़ाना की तरह उस दिन भी कॉफ़ी हाउस में सुबह की अपनी दबिश देकर वह निकलने ही वाले थे कि तभी दो कॉफ़ी का अपना बिल देखकर उनका माथा ठनक गया। आज का बिल उनकी उम्मीद के मुक़ाबले 10 पैसे ज़्यादा था। जब उन्होंने बैरे से इसकी कैफ़ियत तलब की तो पता चला कि आज से कॉफ़ी की क़ीमत 48 पैसे की जगह 53 पैसे कर दी गई है। ग़ुस्से और अपमान से तिलमिलाते कपूर ने ऊँची आवाज़ में कॉफ़ी के बाक़ी शौक़ीनों को भी इस मूल्य वृद्धि से आगाह किया और पलक झपकते कॉफ़ी हाउस में 'कॉफ़ी हाउस हाय (Et Tu Coffee House)' और शिकायतों का शोर गूँजने लगा। एक आदमी मैनेजर के पास पहुँचा और उससे इस मूल्यवृद्धि की वजह पूछी। मैनेजर ने उसे तसल्ली से समझाया कि मुद्रास्फीति के चलते कॉफ़ी की क़ीमत बढ़ाने के अलावा उनके सामने और कोई चारा नहीं था। उसी समय दूसरे छोर से राजिन्दर कपूर ने भी ऐलान कर दिया कि वह कॉफ़ी का बिल नहीं चुकाएँगे। ऐसा कहकर वह तेज़ी से रेस्त्राँ से जाने लगे। बाक़ी लोगों ने भी उनके फ़ैसले का समर्थन किया और अपनी-अपनी कॉफ़ी ख़त्म करके वह भी निकलने लगे। अगले दिन *स्टेट्समैन* ने बड़े अफ़सोस के साथ दर्ज किया कि 'कॉफ़ी हाउस के दो दशक से ज़्यादा लम्बे इतिहास में शहर के रईसों, व्यवसायियों, नेताओं, अख़बारनवीसों, सेल्समैनों और गपशपबाज़ों के भीड़-भड़क्के व शोर में डूबे रहने वाले कॉफ़ी हाउस में कल पहली बार 'प्लीज़ कीप साइलेंट' की तख़्ती का पूरी वफ़ा के साथ एहतराम किया गया।'[8] उस सुबह कॉफ़ी हाउस की सुनसान मेज़-कुर्सियों की इस अजीब ख़ामोशी ने नई दिल्ली के इतिहास में उपभोक्ता आंदोलन के एक अनूठे युग का सूत्रपात कर दिया।

लगता है कॉफ़ी हाउस के इस बहिष्कार आंदोलन को जल्दी ही एक निश्चित फ़ोकस और सांगठनिक ताक़त हासिल हो गई थी। 18 तारीख़ की दोपहर तक कॉफ़ी हाउस के बाहर ही बहिष्कार का नोटिस लगा दिया गया और उसके प्रायोजकों ने ख़ुद को 'कॉफ़ी ऐडिक्ट' यानी कॉफ़ी का लती बताते हुए उस पर अपने दस्तख़त भी ठोंक दिए।[9] जैसे-जैसे ख़बर कॉफ़ी के बाकी शौक़ीनों तक पहुँची वह भी इस मुहिम में शामिल होते गए और प्रदर्शनकारी शांतिपूर्वक पिकेटिंग के रास्ते पर चलने लगे। कुछ प्रदर्शनकारियों ने आगे की रणनीति पर सलाह-मशविरा किया और सभी लोगों के बीच एक तरह की सहमति सी विकसित होने लगी। साँझ ढलते-ढलते 'ऐडिक्ट्स' के जत्थे दोबारा कॉफ़ी हाउस में पहुँचे और अपनी-अपनी परिचित सीटों पर बैठ गए। फ़र्क़ सिर्फ़ यह था कि अबकी बार उन्होंने उबले हुए पानी के अलावा और किसी चीज़ की फ़रमाइश नहीं की।[10] जब कॉफ़ी हाउस बंद होने का समय आया तो उन्होंने बाहर निकलने से पहले वेटरों के लिए रस्मन टिप रखी और चल दिए।[11]


DO NOT BUY SWEETS
IF YOU MUST
BUY THE MINIMUM
CELEBRATE DUSSEHRA
&
DIWALI
WITHOUT SWEETS
CHECK PROFITEERING
CHECK SHORTAGE
OF
MILK, WHEAT & SUGAR
Issued by : Price Rise Resistance Movement.

प्रदर्शनकारी अगले दिन भी वापस तो आए मगर इस बार वह कॉफ़ी हाउस में नहीं गए। इसकी बजाय उन्होंने एक आला दिमाग़ दुकानदार को बुलाया और कॉफ़ी हाउस के पास ही बने साइकिलों के शेड्स में एक कामचलाऊ कहवा घर खुलवा दिया। प्रदर्शनकारी विरोध का झंडा बुलन्द किए

रहे। फ़ुटपाथ पर खुली इस नई दुकान में कॉफ़ी की क़ीमत प्रति कप केवल 25 पैसे थी। वेटरों के लिए टिप्स इकट्ठा करने के वास्ते सिगार की एक डिब्बी भी लोगों के बीच घुमा दी गई।[12] अगले दिन अख़बारों से पता चला कि कॉफ़ी हाउस के वेटर भी इस मूल्य वृद्धि से दुःखी हैं। यह अचरज की बात नहीं थी क्योंकि वेटरों की कार्य-स्थितियाँ भी काफ़ी दयनीय थीं और इस मूल्य वृद्धि के बावजूद प्रबंधन उनकी तनख़्वाह बढ़ाने के मूड में क़तई दिखाई नहीं देता था।[13] तीसरे दिन राजशाही ने पलटवार किया। प्रबन्धन ने वेटरों को हुक्म सुना दिया कि अगर कोई ग्राहक सिर्फ़ उबले हुए पानी की फ़रमाइश करता है तो उसकी फ़रमाइश पूरी न की जाए। वेटरों को इस बात के लिए भी आगाह कर दिया गया कि अगर उन्होंने प्रदर्शनकारियों से टिप्स ली तो इसके गंभीर परिणाम हो सकते हैं। कॉफ़ी हाउस के मुहाने पर सादा वर्दी में एक पुलिस इंस्पेक्टर व दो हवलदार तैनात कर दिए गए और दोपहर बाद जब राजिन्दर कपूर को उन्होंने रेस्टोरेंट में दाख़िल होने से रोक दिया तो बवाल खड़ा हो गया।[14]

बहरहाल, इन नाकामियों के बावजूद प्रदर्शनकारी एक अहम फ़तह हासिल कर चुके थे। अब जनता उनके हक़ में बोलने लगी थी। प्रदर्शनकारी शुरू से ही कॉफ़ी हाउस के इस बहिष्कार को 'बढ़ती क़ीमतों के ख़िलाफ़ एक व्यापक युद्ध'[15] का प्रस्थानबिंदु मान कर चल रहे थे। उन्होंने अपने अभियान को मूल्य वृद्धि विरोधी आंदोलन (Price Rise Resistance Movement – PRRM) का नाम दिया था। इस नाम में भी उनके इसी इरादे की झलक मिलती थी। अपने सबसे पहले प्रेस वक्तव्य में आंदोलनकारियों ने ऐलान किया कि वह न केवल एक वैकल्पिक उचित मूल्य कॉफ़ी दुकान की स्थापना चाहते हैं बल्कि वह 'उपभोक्ताओं के हित में एक अराजनैतिक आंदोलन का भी सूत्रपात' करना चाहते हैं। आंदोलन के पहले दिन ही तक़रीबन 100 लोगों ने एक रुपये का चन्दा देकर आंदोलन की सदस्यता ले ली थी। लगता है कि मूल्य वृद्धि विरोधी आंदोलन के हाव-भाव इस महँगाई की मार झेल रहे दूसरे तबक़ों के बीच भी प्रतिध्वनित होने लगे थे। कॉफ़ी हाउस के बहिष्कार और उनके अजीबोग़रीब फ़ुटपाथिया कॉफ़ी शॉप कनॉट प्लेट में आने वाले बहुत सारे लोगों के लिए दिलचस्पी का सबब बन चुके थे। बहुत सारे लोग एक कप कॉफ़ी के नाम पर ही सही, इन प्रदर्शनकारियों के पास भी जाकर बैठने लगे। मगर धीरे-धीरे बहुत सारे उत्सुक राहगीर भी *पीआरआरएम* की सदस्यता लेने लगे थे। अगले चंद दिनों के भीतर 400 और लोग आंदोलन में शामिल हो गए और दस दिन के भीतर आंदोलन की सदस्यता 1800 पर पहुँच गई।

इस आंदोलन ने तरह-तरह के लोगों को अपनी तरफ़ आकर्षित किया। हालाँकि *पीआरआरएम* के कर्ताधर्ता अपने आंदोलन के अराजनीतिक स्वरूप की काफ़ी दुहाई देते थे, मगर सच्चाई यह है कि राम मनोहर लोहिया, सुभद्रा जोशी, बी.के.पी. सिन्हा और बी.एम. जोशी जैसे कई बड़े-बड़े राजनेता भी इस आंदोलन की सदस्यता ले चुके थे।[16] राजनीतिक फ़लक के अलग-अलग छोर पर खड़े इन राजनेताओं में संभवतः सबसे महत्वपूर्ण नाम मेहरचन्द खन्ना का था। वह केन्द्र सरकार में आवास एवं आपूर्ति मंत्री थे और उन्होंने *पीआरआरएम* कॉफ़ी हाउस के लिए फ़ौरन ज़मीन के आवंटन का आश्वासन दे दिया।[17] *नॉर्थ इंडिया लाइफ़ इंश्योरेंस सैलरीड फ़ील्डवर्कर्स एसोसिएशन* के अध्यक्ष एम.एम. सदाना ने भी एक बयान जारी करके एक ऐसी अदद जगह की ज़रूरत पर ज़ोर दिया जहाँ एलआईसी एजेंट 'अपने मामूली संसाधनों के बावजूद अपने ग्राहकों और एजेंटों से मिल सकें'।[18] दूसरी तरफ़ *इंडियन कॉफ़ी वर्कर्स को-ऑपरेटिव* ने भी फ़ुटपाथ पर चल रही दुकान में अपनी मदद की पेशकश कर दी।

ज़्यादातर लोग उसी ढंग से इस आंदोलन में शरीक हुए थे जिस स्वतःस्फूर्त अंदाज़ में यह शुरू हुआ था। उन्हीं दिनों शूटिंग के सिलसिले में दिल्ली आए हिंदी फ़िल्मों के कॉमेडियन ओम प्रकाश और उनके चार साथियों ने भी आंदोलन की सदस्यता ले ली। वे कनॉट प्लेस की सैर पर आए हुए थे और लगे हाथ उन्होंने भी एक-एक परची कटवा ली।[19] योजना आयोग के उपाध्यक्ष अशोक मेहता ने भी जनपथ पर अपने बाल कटवाने के साथ-साथ आंदोलन की सदस्यता ले ली।[20] इनके अलावा बहुत सारे और लोगों ने भी प्रदर्शनकारियों के साथ तन-मन-धन से एकजुटता ज़ाहिर की। लखनऊ के एक पत्रकार महोदय आंदोलन की सदस्यता लेने दिल्ली तक आ गए। कॉफ़ी के एक और शौक़ीन सज्जन ने वेल्लोर में स्वास्थ्य लाभ करते हुए डाक से अपनी सदस्यता राशि भेजी।[21]

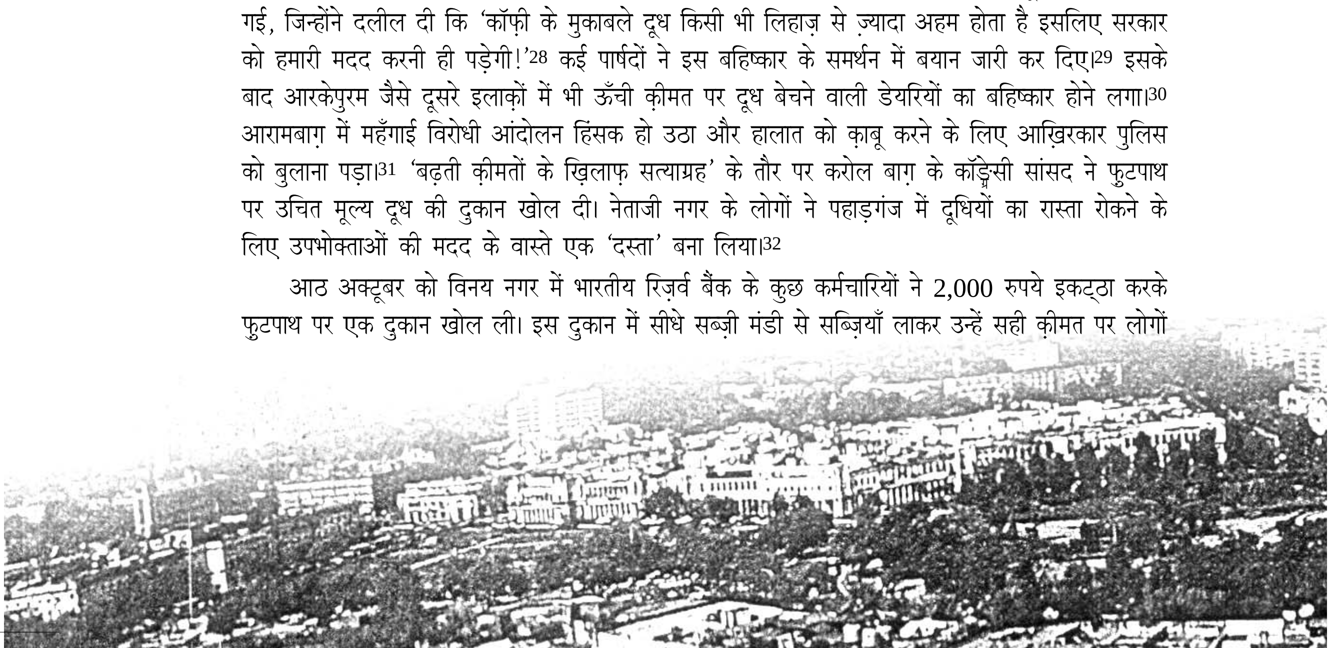
पीआरआरएम में राजनेताओं की बढ़ती मौजूदगी आंदोलन की बढ़ती ताक़त का संकेत थी। 26 तारीख़ को प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने *पीआरआरएम* के छह सदस्यीय प्रतिनिधिमंडल से बात की और दिल्ली में रेस्त्राँ

की दरों के मानकीकरण के लिए एक विस्तृत नोट तैयार करने का आग्रह किया। उसी दिन *ऑल इंडिया फ़ेडरेशन ऑफ़ होटल ऐण्ड रेस्त्राँ* ने कॉफ़ी की बढ़ती क़ीमतों का अध्ययन करने के लिए एक तीन-सदस्यीय समिति का गठन किया और समिति के एक प्रवक्ता ने ऐलान किया कि अगर किसी प्रतिष्ठान में तय दर से ज़्यादा क़ीमत वसूल की जाएगी तो फ़ेडरेशन की उसकी सदस्यता रद्द कर दी जाएगी।[22] *जनपथ कॉफ़ी हाउस* के प्रबंधकों ने अगले दिन घुटने टेक दिए और आश्वासन दिया कि 'जब तक प्रधानमंत्री द्वारा सुझायी गई समिति कॉफ़ी की दरों के मानकीकरण, वर्गीकरण और निर्धारण के बारे में कोई फ़ैसला नहीं ले लेती, तब तक' पुरानी दर पर ही कॉफ़ी मुहैया कराई जाएगी।[23] हालाँकि राजनीतिक दलों के 'निरर्थक प्रदर्शनों' के विपरीत यह घटना 'बढ़ती क़ीमतों के ख़िलाफ़ शहर में उपभोक्ता आंदोलन की पहली' सफलता थी मगर *स्टेट्समैन* के एक पाठक से पता चला कि *पीआरआरएम* अब कहीं ज़्यादा बड़े उद्देश्यों पर निशाना साधने जा रहा था।[24] आंदोलन ने को-ऑपरेटिव बैंक से 50,000 रुपये के ऋण की व्यवस्था कर ली थी। यह पैसा एक वैकल्पिक कॉफ़ी हाउस खोलने के लिए माँगा गया था। यह योजना भी तैयार कर ली गई कि इतना ही पैसा चंदे के रूप में इकट्ठा किया जाएगा। इसी बीच, भारी बरसात के बावजूद फ़ुटपाथ पर चलने वाली कॉफ़ी की दुकान का औपचारिक रूप से उद्घाटन बाक़ायदा पहले 'कॉफ़ी आंदोलनकारी', राजिन्दर कपूर, से करवाया गया।[25]

इसी समय *स्टेट्समैन* की एक पाठिका ने इस आंदोलन की एक दिलचस्प समालोचना पेश की। 29 नवम्बर के अख़बार में सम्पादक के नाम पत्र वाले कॉलम में छपे इस पत्र की प्रेषिका ने ख़ुद को 'औसत साधनों के सहारे गुज़र-बसर करने वाली एक गृहिणी' बताया थाः 'जूता कहाँ काटता है, यह पहनने वाले को ही पता होता है'। चिट्ठी भेजने वाली एस. मखीजानी ने बल्लभगढ़ से लिखा था कि प्रदर्शनकारी पत्रकार इस एक कॉफ़ी हाउस पर इतनी हायतौबा क्यों मचा रहे हैं जबकि कनॉट प्लेस के तो सारे ही रेस्टोरेंट अपनी दरें बढ़ा चुके हैं। उन्होंने सवाल उठाया कि 'जिस दुकान से इस पत्रकार के घर सामान आता है जब उस परचूनिये ने भी बुनियादी ज़रूरत की तमाम चीज़ों, चावल-दाल की क़ीमतें बढ़ा दी हैं तो वह वहाँ से भी सामान ख़रीदना बंद क्यों नहीं कर देता? और क्या उसने दूसरे लोगों को भी इस रास्ते पर चलने के लिए प्रेरित किया है? आख़िर क्यों नहीं किया?'[26] इस आलोचना का व्यावहारिक उत्तर दिया गया। अगले ही दिन *पीआरआरएम* ने ऐलान किया कि अब सब्ज़ियों, वनस्पति घी और अनाज की बढ़ती क़ीमतों को भी निशाना बनाया जाएगा। इसके लिए गृहिणियों और 'आम लोगों' के बीच सदस्यता अभियान चलाने का फ़ैसला लिया गया।[27]

अगले एक माह तक जो कुछ हुआ वह मध्यवर्गीय उपभोक्ता राजनीति का एक बेमिसाल उदाहरण है। 2 अक्टूबर को कुछ औरतों ने विनय नगर में अपने बूते पर आंदोलन शुरू कर दिया और उनके साथ बहुत सारे और लोग भी स्थानीय डेयरियों का घेराव करने निकल पड़े। उन्होंने दूध की क़ीमत में 20 पैसे प्रति किलो की वृद्धि के ख़िलाफ़ यह क़दम उठाया था। जत्थेबंदी जल्दी ही इलाक़े के 200 लोगों के समूह में तब्दील हो गई, जिन्होंने दलील दी कि 'कॉफ़ी के मुकाबले दूध किसी भी लिहाज़ से ज़्यादा अहम होता है इसलिए सरकार को हमारी मदद करनी ही पड़ेगी!'[28] कई पार्षदों ने इस बहिष्कार के समर्थन में बयान जारी कर दिए।[29] इसके बाद आरकेपुरम जैसे दूसरे इलाक़ों में भी ऊँची क़ीमत पर दूध बेचने वाली डेयरियों का बहिष्कार होने लगा।[30] आरामबाग़ में महँगाई विरोधी आंदोलन हिंसक हो उठा और हालात को क़ाबू करने के लिए आख़िरकार पुलिस को बुलाना पड़ा।[31] 'बढ़ती क़ीमतों के ख़िलाफ़ सत्याग्रह' के तौर पर करोल बाग़ के कॉंग्रेसी सांसद ने फ़ुटपाथ पर उचित मूल्य दूध की दुकान खोल दी। नेताजी नगर के लोगों ने पहाड़गंज में दूधियों का रास्ता रोकने के लिए उपभोक्ताओं की मदद के वास्ते एक 'दस्ता' बना लिया।[32]

आठ अक्टूबर को विनय नगर में भारतीय रिज़र्व बैंक के कुछ कर्मचारियों ने 2,000 रुपये इकट्ठा करके फ़ुटपाथ पर एक दुकान खोल ली। इस दुकान में सीधे सब्ज़ी मंडी से सब्ज़ियाँ लाकर उन्हें सही क़ीमत पर लोगों

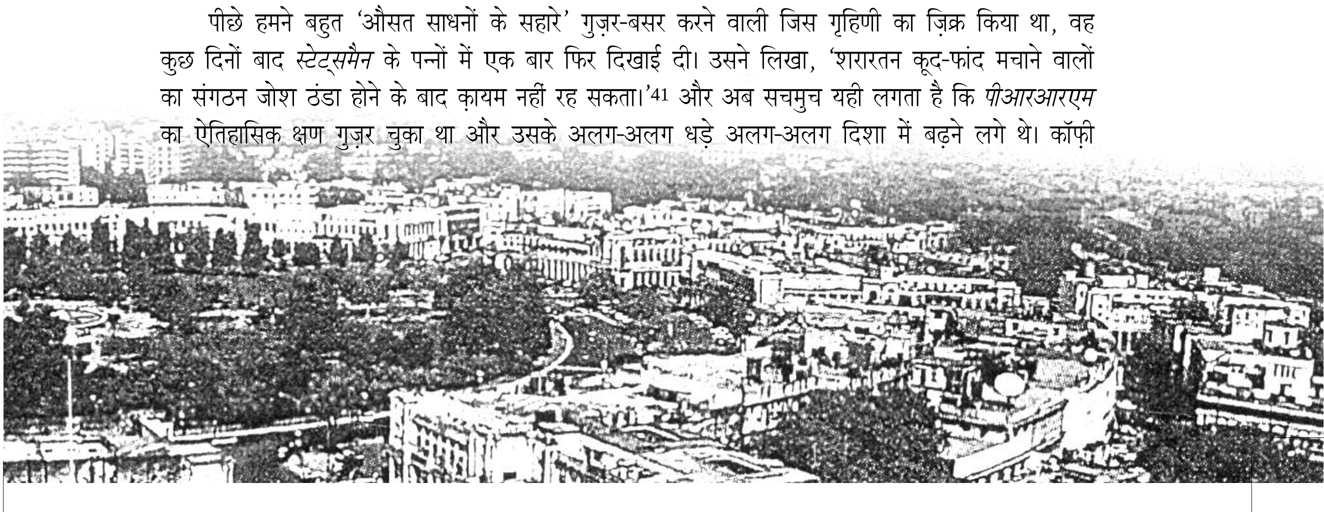


को बेचा जाता था। देखते-देखते कमला नगर, आरकेपुरम और नेताजी नगर में भी इसी तरह की दुकानें खुल गईं। दशहरा और दीवाली नज़दीक आ रहे थे, जिसकी वजह से हलवाई भी लोगों के ग़ुस्से का निशाना बनने लगे। चाँदनी चौक में औरतों ने मिठाई की दुकानों के सामने प्रदर्शन किए और आरोप लगाया कि ये हलवाई ही सारा दूध व चीनी हड़प कर जाते हैं।[33] जल्दी ही राजिन्दर नगर, पंडारा रोड, लोदी कॉलनी और लाजपत नगर में घर की बनी मिठाइयाँ बेचने के लिए फ़ुटपाथ पर दुकानें खोल दी गईं।

यानी, रातोंरात शहर के हर कोने में मूल्य विरोधी सिर उठाने लगे। करोलबाग़ के लोगों ने फ़ोर सीटरों का बहिष्कार कर दिया[34], *प्रोग्रेसिव वीमेन वर्कर्स लीग* की सदस्याओं ने राजिन्दर नगर की डेयरियों में जाकर डेयरी मालिकों को क़ीमत कम करने के लिए समझाया[35], आरकेपुरम में स्थानीय लोगों ने सही क़ीमत पर गोश्त और मछली बेचने के लिए अपने अलग स्टॉल लगा लिए।[36] इस उठापटक में *पीआरआरएम* की भूमिका एक जैसी नहीं रही। कुछ इलाक़ों के निवासियों ने *पीआरआरएम* के सदस्यों को सलाहकारों के तौर पर भी पकड़ लिया। कुछ लोगों ने इस उम्मीद में *पीआरआरएम* के लोगों से मदद माँगी कि आंदोलन शुरू होने पर ये लोग उसका ज़्यादा अच्छी तरह नेतृत्व कर पाएँगे। बहरहाल, इसमें कोई संदेह नहीं कि बहिष्कार और फ़ुटपाथिया दुकानों का यह मॉडल कॉफ़ी हाउस वाले आंदोलन की सफलता से ही प्रेरित था। सरकार की स्वीकृति और सकारात्मक क़दमों से उस आंदोलन की भावना को सार्वजनिक विश्वसनीयता भी मिल चुकी थी।

ऐसा लगता है कि *पीआरआरएम* के लोग ख़ुद भी यह देखकर अवाक थे कि उनकी कोशिशें क्या ग़ुल खिला रही हैं। 6 नवंबर को *पीआरआरएम* की समन्वय समिति की बैठक हुई। बैठक में दो धड़ों की आपसी खींचातानी से बड़ा कोहराम मचा और आख़िरकार *पीआरआरएम* के सचिव ने इस्तीफ़ा दे दिया। दोनों समूहों के बीच यह खींचतान इस बात को लेकर थी कि नया कॉफ़ी हाउस कौन चलाएगा। एक ख़ेमा चाहता था कि कॉफ़ी हाउस *इंडियन कॉफ़ी वर्कर्स यूनियन* के हाथों में सौंप दिया जाए जबकि दूसरा चाहता था कि कॉफ़ी हाउस ख़ुद *पीआरआरएम* को ही चलाना चाहिए।[37] इस आशय की चर्चाएँ बड़े पैमाने पर चल रही थीं कि आंदोलन में निहित स्वार्थी लोगों, नेताओं और प्रचार के भूखे लोगों की तादाद बढ़ती जा रही है और वह दूसरों की मेहनत को अपने फ़ायदे के लिए भुनाना चाहते हैं।[38] इस आंदोलन ने ख़ुद को एक नेताविहीन लोकतांत्रिक पहलक़दमी के रूप में खड़ा कर दिया था। और अब यही बात दिशाहीनता के रूप में दिखाई देने लगी। 10 नवंबर को *स्टेट्समैन* ने लिखा कि 'आम लोग *पीआरआरएम* के आयोजकों से निराश हैं। सोमवार को बहुत सारे लोगों ने इस संवाददाता से कहा कि अब इस आंदोलन की प्रासंगिकता ख़त्म हो चुकी है और फ़ुटपाथ पर शुरू की गई कॉफ़ी की दुकान को जनपथ से हटाकर उसकी पक्की जगह पहुँचा कर आंदोलन को भंग कर देना चाहिए।'[39] अगले दिन किसी अख़बार में राजिन्दर कपूर की चिट्ठी छपी जिसके ज़रिए उन्होंने ख़ुद को *पीआरआरएम* से अलग घोषित कर दिया। अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए उन्होंने आरोप लगाया कि राजनीतिक और व्यावसायिक स्वार्थ इस आंदोलन को संकीर्ण उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल करना चाहते हैं। उन्होंने लिखा कि 'सरकारी सोच में इस संभावना पर काफ़ी विचार किया जा रहा है कि उपभोक्ता ख़ुद विक्रेताओं की भूमिका निभाएँ और वह अपनी सोसाइटियाँ बना लें। कुछ व्यवसायियों ने इस रुझान का फ़ायदा उठाकर अपने कुछ लोगों को इस व्यवसाय में भी उतार दिया है। इस तरह के मंसूबे ही *पीआरआरएम* में बढ़ती दरार का प्रमुख कारण है। आंदोलन की वह उच्चतर भावना निजी महत्वाकांक्षाओं से दूषित हो चुकी है'।[40]

पीछे हमने बहुत 'औसत साधनों के सहारे' गुज़र-बसर करने वाली जिस गृहिणी का ज़िक्र किया था, वह कुछ दिनों बाद *स्टेट्समैन* के पन्नों में एक बार फिर दिखाई दी। उसने लिखा, 'शरारतन कूद-फांद मचाने वालों का संगठन जोश ठंडा होने के बाद क़ायम नहीं रह सकता।'[41] और अब सचमुच यही लगता है कि *पीआरआरएम* का ऐतिहासिक क्षण गुज़र चुका था और उसके अलग-अलग धड़े अलग-अलग दिशा में बढ़ने लगे थे। कॉफ़ी



हाउस आंदोलन के बहुत सारे शुरुआती हिस्सेदार आंदोलन में राजनीतिक और व्यावसायिक तत्त्वों की घुसपैठ के कारण उससे अलग हो चुके थे।

अगले डेढ़ माह तक मूल्य वृद्धि विरोधी पहलक़दमियाँ पूरे शहर में ले-देकर चलती रहीं। और आख़िरकार ये कोशिशें भी दम तोड़ने लगीं क्योंकि बहुत सारे नागरिकों को आंदोलनकारी और उचित दर दुकानदार की भूमिकाएँ निभाते जाना भारी महसूस होने लगा था। ऐसे में अनुमान ही लगाया जा सकता है कि जब सरकार ने फ़ुटपाथिया कॉफ़ी दुकान को कनॉट प्लेस की *थियेटर कम्युनिकेशन बिल्डिंग* में पक्की जगह देने का ऐलान किया था, तो उस वक़्त कॉफ़ी हाउस जाने वालों की कैसी प्रतिक्रिया रही होगी। कॉफ़ी हाउस चलाने की ज़िम्मेदारी *इंडियन कॉफ़ी वर्कर्स को-ऑपरेटिव* के हाथों में सौंपी गई, जिसने इस बात पर अपनी सहमति दी कि उपभोक्ता समिति की रज़ामंदी के बिना क़ीमतें नहीं बढ़ाई जाएँगी। इस समिति को कॉफ़ी की गुणवत्ता, सेवा और साफ़-सफ़ाई पर नज़र रखने का भी अधिकार दिया गया।[42]

अगर 16 नवंबर 1964 के दिन आपके पास करने को कुछ न होता और आप यूँ ही सैर-सपाटे के लिए कनॉट प्लेस पहुँच जाते तो वह आपकी ज़िंदगी का एक यादगार दिन बन जाता। उस रोज़ अगर आप सुबह कनॉट प्लेस पहुँचते तो आपको बहुत सारे दिहाड़ी मज़दूर, दफ़्तरी बाबू और सैलानी दांतों तले उंगली दबाए खड़े मिलते। ये लोग इनर सर्किल के एक सिनेमा हॉल की छत पर कुश्ती लड़ रहे दो पहलवानों को देख रहे थे। यह राज़ थोड़ा नज़दीक जाने पर ही आपके सामने ज़ाहिर होता कि कुश्ती को इस ऊँचाई पर क्यों आयोजित किया गया। यह दारा सिंह और जोगिन्दर सिंह की कुश्ती थी। और वे *टार्ज़न कम्स टू इंडिया* नामक एडवेंचर फ़िल्म की शूटिंग कर रहे थे।[43] शूटिंग की उत्तेजना ख़त्म होने के बाद जब तक आप इस शूटिंग के कारण लगे ट्रैफ़िक जाम के बीच से रास्ता बनाते हुए बाहर आते, तब तक दिल्ली की सर्दियों का शांत सूरज क्षितिज पर पहुँच चुका होता। बहरहाल, गोधूलि वेला में एक और नज़ारा दिखाई देता जो आसमान में नहीं बल्कि ज़मीन पर ही नमूदार था। आप देखते कि दिल्ली विश्वविद्यालय का एक नौजवान विद्यार्थी दो स्कूटरों और चार दूसरे लोगों से घिरा हुआ जनपथ की तरफ़ से दौड़ता चला आ रहा है। उसके हाथों में एक जलती हुई मशाल है। अगर आप भी उसके पीछे दौड़ने लगते तो आप इनर सर्किल का पूरा चक्कर काट कर *थियेटर कम्युनिकेशन बिल्डिंग* के मुहाने पर जा पहुँचते। और यहाँ पहुँचकर आपको पता चलता कि वह नौजवान 'कॉफ़ी ज्वाला' लेकर आया है। उस समय वहाँ इकट्ठा बहुत सारे लोग आपको ख़ुशी से चीख़ते दिखाई देते। हो सकता है ये देखकर आपकी हैरानी और बढ़ जाती कि कॉफ़ी ज्वाला के वहाँ पहुँचते ही बहुत सारी और मशालें भी जल उठी हैं। अगर आप भाषाई जादूगरी के शौक़ीन भी होते तो आपको मेहरचंद खन्ना का उद्घाटन भाषण ख़ासतौर से पसंद आता जिसमें उन्होंने *पीआरआरएम* को शाबाशी देते हुए अपने मिशन पर क़ायम रहने की ताकीद की थी। बीच-बीच में आपको हिंदी, उर्दू और पंजाबी की कविताएँ भी सुनाई दे जातीं। और अगर कुछ भी न मिलता तो कम से कम इतना तो तय है कि जाड़े का मुक़ाबला करने के लिए आपको गर्मागर्म कॉफ़ी, काजू और बिस्कुटों की कोई कमी न पड़ती। आमतौर पर सुनसान रहने वाली *थियेटर कम्युनिकेशन बिल्डिंग* में रंग-बिरंगे शामियाने और इमारतों, दीवारों व पेड़ों पर लगाई गई रोशनियों की शान में आप भी टहलते हुए दो-चार जुमले पटक देते। और इस बात पर भी आप एकाध जुमला ज़रूर कसते कि जनपथ कॉफ़ी हाउस के मालिक जनाब पुरी साहब *पीआरआरएम* के पदाधिकारियों की बग़ल में खड़े होकर पत्रकारों के एक झुण्ड को किस तरह यक़ीन दिला रहे हैं कि इस आंदोलन ने किसी व्यक्ति विशेष पर कभी निशाना नहीं साधा।[44]



अपने दिन भर के कारनामों से थक कर शायद आप भी बैठने के लिए किसी टेबल का

किनारा ढूँढते और टेबल पर पहुँचते ही आपको पता चलता कि दिल्ली विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी पढ़ाने वाले एक शिक्षक, हौज़ ख़ास में रहने वाले एक नामी कलाकार और राजिन्दर नगर के एक व्यापारी महोदय केनेडी की मौत व अमेरिकी सियासत पर तब्सरा फ़रमा रहे हैं। हो सकता है कि आहिस्ता से आप भी उनकी तरफ़ अपनी कुर्सी सरका लेते और आपकी इस दिलचस्पी को देखकर इनमें से कोई साहब शीतयुद्ध के बारे में आपकी राय माँगने लगते। और जब आप अपनी बात कहने के लिए उस चार अल्फ़ाज़ी जुमले के साथ मुँह खोलते तो आपको पता चलता... कि आप इंसानियत के एक भारी हुजूम में खो चुके हैं और उस ऐतिहासिक क्षण, उस ऐतिहासिक जगह का हिस्सा बन चुके हैं।

* * * * * * * * * *

पीआरआरएम और *इंडियन कॉफ़ी वर्कर्स को-ऑपरेटिव* की मिलीजुली कोशिशों से पैदा हुए *इंडिया कॉफ़ी हाउस* ने अपनी ज़िन्दगी लोहे के खम्भों पर तने शामियाने में शुरू की थी। जी हाँ, इसी शामियाने के कारण इस कॉफ़ी हाउस को *टेन्ट* का उपनाम मिला था! यह पूरा ढाँचा बेहद सादा था और उसमें पत्थर की दीवारों या बाक़ायदा दरवाज़ों जैसी चीज़ों का कोई इंतज़ाम नहीं था। बावर्चीख़ाना, एक स्टोव और लेडीज़ रूम के तौर पर *थियेटर कम्युनिकेशन बिल्डिंग* वालों ने कुछ कमरे दे दिए थे, जबकि कॉफ़ी की चुस्कियाँ लेने के लिए बैठने का इंतज़ाम कंकड़ों और कीकरों से भरे अहाते में शामियाने के तले किया गया था। शामियाने के बाहर चार फ़ुट की एक दीवार थी। भीड़ बढ़ने पर ग्राहक खाने-पीने और गपशप के दौरान बैठने के लिए उसका भी सहारा ले लेते थे। वैसे कुर्सियों की कमी अकसर पड़ जाया करती थी। शामियाने के एक कोने में सिगरेट, पान, सॉफ़्ट ड्रिंक आदि के छोटे-छोटे स्टॉल भी आपकी ख़िदमत में तैनात किए गए थे। यहाँ तक कि इनमें से एक स्टॉल पर आपको 'ईवनिंग न्यूज़' की प्रतियाँ भी मिल सकती थीं।

कॉफ़ी हाउस को को-ऑपरेटिव के तक़रीबन 122 सदस्य चला रहे थे। *इंडियन कॉफ़ी वर्कर्स को-ऑपरेटिव* 1959 से ही दिल्ली विश्वविद्यालय में भी एक कॉफ़ी हाउस पहले ही चला रहा था। उसी समय सीपीएम (तब सीपीआई) के सदस्य और *कॉफ़ी वर्कर्स ट्रेड यूनियन* के नेता ए.के. गोपालन के नेतृत्व में इस को-ऑपरेटिव का गठन किया गया था। दिल्ली विश्वविद्यालय का कॉफ़ी हाउस अपने सदस्यों को रोज़गार मुहैया कराने की इस को-ऑपरेटिव की पहली कोशिश था। इस को-ऑपरेटिव में ज़्यादातर वही लोग थे जिन्हें 1956 में *इंडिया कॉफ़ी बोर्ड* ने नौकरी से निकाल दिया था, क्योंकि वाणिज्य मंत्रालय बोर्ड के कॉफ़ी हाउसों को बंद करता जा रहा था। मंत्रालय का कहना था कि ये कॉफ़ी हाउस कॉफ़ी की लोकप्रियता बढ़ाने के अपने बुनियादी काम को पूरा कर चुके हैं, इसलिए अब उनकी कोई ज़रूरत नहीं है। कॉफ़ी बोर्ड के कामगारों ने ए.के. गोपालन के नेतृत्व में मंत्रालय के इस फ़ैसले का जमकर विरोध किया। मगर इस देशव्यापी विरोध के बावजूद अफ़सरशाही अपने रुख़ पर अड़ी रही। अंततः गोपालन ने सुझाव दिया कि इन कामगारों को को-ऑपरेटिव के तौर पर अपने बूते कॉफ़ी हाउस शुरू करना चाहिए। नतीजा, जनवरी 1958 में बंगलोर में पहली *कॉफ़ी वर्कर्स को-ऑपरेटिव सोसायटी* का पंजीकरण कराया गया और देखादेखी पूरे देश में इस तरह के को-ऑपरेटिव बनने लगे। दिल्ली में 29 अक्टूबर 1959 को वर्कर्स को-ऑपरेटिव का पंजीकरण कराया गया।[45] यह को-ऑपरेटिव तभी से कई कॉफ़ी हाउस चला रहा है। उसके कॉफ़ी हाउसों की फ़ेहरिस्त में दिल्ली विश्वविद्यालय, जेएनयू, एनटीपीसी (बदरपुर संयंत्र) के कॉफ़ी हाउस भी शामिल हैं। इनके अलावा निर्माण भवन, जी.बी. पंत अस्पताल, आई.पी. भवन, विकास भवन आदि इमारतों में भी बहुत सारी कैंटीनें यही को-ऑपरेटिव चला रहा है। इस को-ऑपरेटिव की सदस्यता केवल को-ऑपरेटिव के कर्मचारियों को दी जाती थी। सदस्यों का कहना है कि कई लोगों ने तो अपने को-ऑपरेटिव को कामयाब बनाने के लिए अपनी बीवियों के गहने-ज़ेवर तक बेच डाले थे। उनको एक बार फिर रोज़ी-रोटी का ज़रिया मुहैया कराने वाला यह को-ऑपरेटिव उनके लिए परिवार जैसा ही बन चुका था। और इसीलिए आगे चलकर नए सदस्यों की भर्ती भी व्यक्तिगत सिफ़ारिशों और जान-पहचान के आधार पर ही की जाने लगी। सरकार से कोई आर्थिक सहायता न लेते हुए भी न केवल यह को-ऑपरेटिव इतने लंबे समय तक क़ायम रहा बल्कि उसने ख़ासा मुनाफ़ा भी कमाया। 10 बंगलो रोड स्थित दिल्ली युनिट का दफ़्तर बाद में *ऑल इंडिया कॉफ़ी वर्कर्स को-ऑपरेटिव फ़ेडरेशन* का मुख्यालय भी बना।

को-ऑपरेटिव के स्वर्णिम दौर में *टेन्ट* कॉफ़ी हाउस इस को-ऑपरेटिव का शिरोमणि था। कनॉट प्लेस के बीच शहर में होने के कारण कोई उससे बचकर नहीं निकल सकता था जबकि उसकी कामचलाऊ सी शक्ल-सूरत फ़ासलों को तोड़कर दोस्ताने अंदाज़ में लोगों को अपनी तरफ़ बुलाती थी। बिना किसी दरवाज़े और फाटकों के, यह कॉफ़ी हाउस कनॉट प्लेस के बीचोंबीच सेंट्रल पार्क में दूर तक पसरा हुआ था। अब तक दिल्ली में सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था काफ़ी सुधर चुकी थी और लोगों के पास आवाजाही के कई विकल्प खुल गए थे। अब आप डीटीसी की बस में 30 पैसे का टिकट लेकर दिल्ली विश्वविद्यालय से कनॉट प्लेस जा सकते थे। कालकाजी या साउथ एक्सटेंशन से कनॉट प्लेस जाने के लिए 5-10 पैसे का टिकट लगता जबकि सदर बाज़ार की तरफ़ से आने वाले 15 पैसे में वहाँ पहुँच सकते थे। और चाँदनी चौक से कनॉट प्लेस के बीच फ़ोर सीटर चलने लगे थे जिन्हें 'फटफट' कहा जाता है। इन फटफटों का भाड़ा भी तक़रीबन बसों जितना ही था और यह फ़ौजियों की पुरानी मोटरसाइकिलों के संशोधित संस्करण थे। उस समय आम शहरियों के बीच ये फटफट काफ़ी लोकप्रिय थे। जो अपनी पतलून की इस्तरी और चुन्नटों के बारे में ज़्यादा फ़िक्रमंद थे उनके लिए दक्षिण दिल्ली या विश्वविद्यालय से कनॉट प्लेस तक टैक्सी की सुविधा भी मौजूद थी। इस फ़ासले के लिए उसका ख़र्चा 5-7 रुपये के आसपास बैठता था।

अगर आप दिन में किसी समय कनॉट प्लेस से गुज़रें तो थोड़ी सी पेटपूजा करने या हालात-ए-हाज़िरा पर ग़ौर फ़रमाने के लिए लोगों से मिलने के वास्ते *टेन्ट* में दाख़िल होने की इच्छा को नहीं दबा सकते थे। इसीलिए, हालाँकि को-ऑपरेटिव के मौजूदा महाप्रबंधक श्री कुट्टी के मुताबिक़ कॉफ़ी हाउस में उस वक़्त तक़रीबन 150 लोगों के बैठने का इंतज़ाम था जबकि *टेन्ट* के एक बैरे धीरज सिंह का दावा है कि *टेन्ट* के सुनहरे दिनों में यहाँ किसी भी समय हज़ार के आसपास लोग ज़रूर होते थे। अगर हम को-ऑपरेटिव के आधिकारिक वक्तव्यों को मानें, हालाँकि श्री कुट्टी खुद मानते हैं कि कॉफ़ी हाउस में कुर्सियों के मुक़ाबले यहाँ-वहाँ खड़े ग्राहकों की संख्या बहुत ज़्यादा होती थी, तो भी 150 एक अच्छी-ख़ासी तादाद बनती है। कॉफ़ी हाउस जैसे सार्वजनिक स्थान पर एक साथ इतने लोगों का इकट्ठा होना निश्चय ही एक बड़ी बात थी और उस ज़माने में कनॉट प्लेस में *टेन्ट* के किसी भी प्रतिद्वन्द्वी के लिए इस तादाद को छूना नामुमकिन था।

दिहाड़ी मज़दूर, बीमा विक्रेता, पड़ोस के दुकानदार, विश्वविद्यालय के शिक्षक, नेता, कलाकार, चित्रकार और लेखक — तमाम तरह के लोग हर रोज़ *टेन्ट* में इकट्ठा होते थे। उनके यहाँ आने की वजहें भले ही अलग-अलग थीं मगर यह पूरी जगह लोगों की चहल-पहल और गपशप में डूबी रहती थी। धीरज सिंह के मुताबिक़, कॉफ़ी के शौक़ीनों की मेहरबानी से वहाँ कॉफ़ी के कप हर रोज़ कम पड़ जाते थे।

ज़ाहिर है कि इस तरह के भीड़-भड़क्के और अफ़रातफ़री में कोई भी चीज़ कम पड़ सकती है मगर जिस एक चीज़ की वहाँ कोई कमी नहीं थी वह थी—'वक़्त'...। वहाँ आने वाले कॉफ़ी के शौक़ीनों को न तो कप में बची आख़िरी बूंदों को चाटने की जल्दी रहती थी और न ही सिर्फ़ इसलिए अपने मटन-डोसे के टुकड़ों को फटाफट चट कर जाने की कोई मजबूरी थी कि मेज़ साफ़ करने के लिए एक बैरा महोदय आपके इर्दगिर्द मंडराने लगे हैं। वहाँ वक़्त का पैमाना ही अलग था। आप चाहें तो पूरे दिन एक ही टेबल पर बैठे गुज़ार सकते थे और कोई एक बार भी आपको टोकने वाला नहीं होगा कि साहब, अब आप चलते बनिए क्योंकि किन्हीं और सज्जन को कॉफ़ी पीनी है। जिन्हें अलग टेबल नहीं मिल पाती थी, वह औरों की टेबल के इर्द-गिर्द जा बैठते थे और जिनकी क़िस्मत में यह भी नहीं था वह चौहद्दी की दीवार पर बैठ जाते थे। ...कुछ लोग यूँ ही खड़े-खड़े कॉफ़ी पीते रहते थे जबकि कुछ लोग खाने का ऑर्डर देकर *टेन्ट* के चारों तरफ़ टहलने लगते थे। इस तरह की लासिलसिला बेतक़ल्लुफ़ जगह और 'वक़्त की कमी' किसे खल सकती थी...

...कॉफ़ी की फलियों के झकोलो में, कॉफ़ी हाउस से उड़ते वक़्त के इन ग़ुब्बारों में, कॉफ़ी हाउस के अनगिनत मेहमानों की ज़िन्दगियाँ भी लिपटी हुई थीं।

देशबंधु (सांध्य) कॉलेज में अभी-अभी राजनीति शास्त्र के लेक्चरर बने छतर सिंह का दिन *टेन्ट* में कॉफ़ी के एक प्याले के बिना शुरू नहीं होता था। अपने शोध के दिनों में, जब वह आपातकाल के दौरान राजसत्ता के निर्मम प्रदर्शन पर अपना शोध पत्र लिख रहे थे, उसी ज़माने में दिल्ली विश्वविद्यालय के कॉफ़ी हाउस में कॉफ़ी की चुस्कियों के आदी हो चुके छतर सिंह ने नौकरी पकड़ने के बाद स्वाभाविक रूप से *टेन्ट* का रास्ता पकड़

लिया। अपने कॉलेज और घर के बीच, रास्ते में पड़ने वाला टेन्ट उनकी रोज़ाना की ज़िन्दगी का हिस्सा बन चुका था। शादी से पहले के अपने शानदार दिनों को याद करते हुए वह सदर बाज़ार के अपने घर से कनॉट प्लेस तक की आधे घंटे की पैदल यात्रा का हाल बड़े मज़े से बताते हैं। वह आमतौर पर अपने दोस्त सुधीर भटनागर के साथ बस या ताँगे से बारह बजे के आसपास टेन्ट जा पहुँचते थे। यहाँ पहुँचने के बाद वह सिगरेट जलाकर किसी ख़ाली टेबल पर जम जाते थे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के एक प्रोफ़ेसर साहब के बेटे सुधीर भटनागर के पास माल-मत्ते और नौकरशाही रसूख़ की कोई कमी नहीं थी। छतर सिंह को तारकेश्वर सिन्हा, जनेश्वर मिश्र, बलराज मधोक और शशि भूषण जैसे उस ज़माने के बड़े-बड़े नेताओं को यहाँ अपनी बग़ल में बैठे देखकर कोई हैरानी नहीं होती थी। इनमें से कुछ लोग बाद में उनके बढ़िया दोस्त भी बने।

छतर सिंह और उनका दोस्त राजनीतिक बहस-मुबाहिसे और तरह-तरह की गपशप में दो-तीन घंटे यहाँ गुज़ार देते थे। दो बजे के आसपास वह जंतरमंतर की तरफ़ निकल जाते। कभी खगोलीय प्रयोगशाला के बुलंद ओहदे पर रह चुका जंतरमंतर उस ज़माने में हिप्पियों की अलग ही क़िस्म की आज़माइशों का केंद्र बना हुआ था। यह दिल्ली में सबसे लोकप्रिय 'स्कोरिंग' केंद्र था। जंतरमंतर के पीछे कुछ ख़ाली बैरकें थी जिन्हें ऐसे ही कुछ हिप्पियों ने सस्ते में रहने के लिए ले लिया था। बारी-बारी से यथार्थ और मुक्ति की इस वैकल्पिक माँद में बैठकर छतर सिंह सांध्य कॉलेज के लेक्चर की तैयारी करते थे! अपनी इस बौद्धिक क़वायद के बीच में चार बजे के आसपास वह एक बार फिर कॉफ़ी हाउस जाते और वहाँ से कॉलेज के लिए रवाना हो जाते। ऐसी ही एक शाम को जब छतर सिंह दोबारा कॉफ़ी हाउस पहुँचे तो एकाएक कुछ आज़ाद-ख़याल औरतों के अपेक्षाकृत 'बिंदास उन्मुक्त' ठहाके उन्हें सुनाई दिए। अपनी दिलचस्पी के चलते वह अजीबोग़रीब कपड़े पहने एक हिप्पी औरत की बग़ल वाली मेज़ पर जा बैठे। औरत बड़ी बेफ़िक्री से सिगरेट का धुआँ उड़ा रही थी। कुछ साहेबान पहले ही उसकी टेबल पर जमा हो चुके थे। यह 1964 की बात है जब औरतों, और वह भी किसी अकेली औरत का सार्वजनिक स्थानों पर दिखाई देना एक अजीब बात थी। ज़ाहिर है उस औरत की तरफ़ भी बहुतों का ध्यान खिंचा। उसे कॉफ़ी की पेशकश करते हुए एक आदमी उसके साथ बातचीत का सिलसिला पहले ही शुरू कर चुका था। मुलायम अंदाज़ में बात करती हुई और लोगों के लिए वह किस तरह के आकर्षण का केंद्र बनी हुई है, इस बात से बेफ़िक्र वह कॉफ़ी की चुसकियाँ लेती हुए गप लड़ाती रही। यह सिलसिला अगले कई दिन तक ऐसे ही चलता रहा। वह आती, ये लोग भी आते। ये लोग कॉफ़ी मंगाते, वह कॉफ़ी पीती और बात करती। ये साहब पैसा चुकाते। और समय गुज़र जाता।

तक़रीबन एकाध हफ़्ते बाद लोगों की हैरानी का ठिकाना नहीं रहा। उसने लोगों को खुला न्यौता दिया और दक्षिण दिल्ली की एक आलीशान बस्ती के एक पते पर बुलाया। पते को देखकर हैरान मगर जानने की इच्छा से ये लोग उसके बताए पते पर जा पहुँचे। हालाँकि स्मृति की सारी गाँठों को खोलकर किसी घटना का 'असली' ब्योरा हासिल करना नामुमकिन है मगर छतर सिंह ने जो ब्योरा दिया है उसके मुताबिक़, जब ये लोग उस औरत के पते पर पहुँचे तो अपने उसी बेफ़िक्र पहनावे और अंदाज़ के साथ उसने इन लोगों का इस्तक़बाल किया और अमेरिका के तीन रिटर्न टिकट तथा फ़्लोरिडा के एक रिज़ॉर्ट में रहने की पेशकश की। इत्तेफ़ाक़ की बात देखिए, यह फटेहाल और अजीबोग़रीब सी औरत अमेरिकी रिज़ॉर्ट्स के एक अच्छे-ख़ासे ग्रुप की अकेली मालकिन थी। उसने तो अपने इर्द-गिर्द इकट्ठा हुए पैसे के लोभी और स्वार्थी मर्दों से तंग आ कर हिप्पी आंदोलन से जुड़ने का फ़ैसला लिया था और शांति व अफ़ीम की तलाश में वह भारत तक आ पहुँची थी!

इस तरह टेन्ट में सिर्फ़ समय की ही इफ़रात नहीं थी बल्कि इस तरह की इत्तेफ़ाक़न मुलाक़ातों की संभावना भी हर टेबल पर मौजूद थी जिससे इस उदार जगह पर कहीं के तार कहीं जुड़ जाते थे! कभी-कभी इस तरह के इत्तेफ़ाक़ बहुत अनपेक्षित होते थे और कभी-कभी वह भयानक परिणामों में भी तब्दील हो जाते थे। मिसाल के तौर पर, आपातकाल के ज़माने में कोई नहीं जानता था कि आपकी बग़ल में बैठा भोला-भाला मानस आपकी जासूसी के लिए यहाँ तैनात सरकारी मुख़बिर भी हो सकता है।

इस हिप्पी औरत के साथ इत्तेफ़ाक़िया मुलाक़ात के बारे में बताते हुए छतर सिंह कॉफ़ी हाउस के पास स्थित अंतर्राष्ट्रीय बस डिपो का भी ज़िक्र करते हैं जो इन हिप्पियों के जत्थों का दिल्ली में पहला पड़ाव होता था। यह

अंतर्राष्ट्रीय रूटों पर चलने वाली बसों का कोई मामूली अड्डा नहीं था। यहाँ बरास्ते पाकिस्तान, इस्ताम्बुल और काबुल से भी बसें आती थीं। यहीं से बसें नेपाल को रवाना हो जाती थीं और इत्तेफ़ाक़ से यही रास्ता नशीली दवाओं की तस्करी का भी रास्ता बना हुआ था। शहर की बाक़ी बसों के विपरीत ये विशालकाय कारवाँनुमा बसें थीं जिनमें रहने-खाने के पूरे इंतज़ाम किए गए थे। इनमें से कुछ बसें औरतें भी चलाती थीं।

टेन्ट को याद करते हुए जब कॉफ़ी हाउस के हेड वेटर हुकुम सिंह का ज़िक्र आता है तो छतर सिंह के चेहरे पर एक हल्की-सी मुस्कान तैर जाती है। 50-55 की लपेट में पहुँच चुके औसत कद-काठी के शौक़िया दारूबाज़ हुकुम सिंह अपनी ही क़िस्म की हँसी-ठिठोली के साथ 'टेन्टार्थियों' के मुताबिक़ *'टेन्ट* की जान' के तौर पर सामने आते हैं। मज़े की बात ये है कि उस समय के लोकसभा अध्यक्ष भी हुकुम सिंह के हमनाम थे। इसीलिए शाम को लोगों से बिल वसूल करते हुए हुकुम सिंह अपने एक ख़ास अंदाज़ में ऐलान किया करते थे, 'कृपया अपने बिल जमा करा दीजिए, सदन की कार्रवाई स्थगित होने वाली है!'[46]

उन्हीं दिनों एक कश्मीरी पत्रकार भी कॉफ़ी हाउस में आया करता था। वह *टाइम्स ऑफ़ इंडिया* में नौकरी करता था और हुकुम सिंह की उससे कुछ ज़्यादा ही यारी थी। काम ख़त्म होने के बाद कभी-कभी वह साथ बैठ कर दो-चार घूँट भी लगा लिया करते थे। एक शाम की बात है। यह पत्रकार भागता-दौड़ता सा *टेन्ट* में पहुँचा और उसने ज़ोर से चिल्लाकर हुकुम सिंह को कॉफ़ी का हुक्म दिया। हँसी-मज़ाक में माहिर और हाज़िरजवाबी के उस्ताद हुकुम सिंह ने भी पलटवार किया... "शोर मत मचाओ! पिछले कश्मीरी ने शोर मचाया था तो उसे दिल्ली में 12 साल तक जेल में रखा था! ज़रा संभल के!"[47] 'पिछले कश्मीरी' से हुकुम सिंह की मुराद शेख़ अब्दुल्ला से थी जिन्हें लम्बे समय तक जेल में रखा गया था। हुकुम सिंह के इस वार ने पत्रकार महोदय को बेआवाज़ कर दिया।

यह *टेन्ट* दिल्ली में कॉफ़ी हाउसिंग के इतिहास के कुछ निहायत अजीबोग़रीब लम्हों का भी गवाह रहा है। छतर सिंह को याद पड़ता है कि 1965 में पाकिस्तानी हमले के दिनों में एक बार जब वह रात को 8 बजे के आसपास कॉलेज से निकलने की तैयारी कर रहे थे तभी उन्हें सेना का सायरन सुनाई पड़ा। अफ़वाह थी कि एक पाकिस्तानी जहाज़ दिल्ली की हवाई सीमा में घुस चुका है। कुछ अफ़वाहों के मुताबिक़ भारतीय वायुसेना ने उसका पीछा करके ग़ाज़ियाबाद के पास उसे मार गिराया है। कॉलेज से लौटते हुए ये सारी बातें सुनकर, और ब्लैक आउट के बावजूद उस रात को भी छतर सिंह *टेन्ट* में चक्कर लगाने का लोभ संवरण नहीं कर पाए। वह वेलिंगटन हॉस्पिटल में काम करने वाले अपने डॉक्टर दोस्त श्री कोहली के साथ *टेन्ट* गए, दोनों ने मोमबत्ती की रोशनी में कॉफ़ी पी और एक दूसरे को भारत-पाक युद्ध की ताज़ा ख़बरों से वाक़िफ़ कराया। इसके बाद किसी भी और दिन की तरह छतर सिंह ने सदर बाज़ार जाने वाली 10 नम्बर बस पकड़ी और घर के लिए रवाना हो गए।

आख़िरकार युद्ध ख़त्म हो गया और छतर सिंह ने शादी कर ली। मगर घरेलू ज़िम्मेदारियाँ और नौजवान बीवी भी छतर सिंह को *टेन्ट* जाने से नहीं रोक पाईं। *टेन्ट* के 'पक्के' मेहमानों में से सबसे पक्के छतर सिंह मुसलसल, बिला नागा *टेन्ट* जाते हैं। लेकिन इतना ज़रूर है कि जब वह पत्नी के साथ घूमने निकलते तो *टेन्ट* की बजाय स्टैंडर्ड में जाते जहाँ ज़्यादा एकांत मिलता था और 25 पैसे ज़्यादा देने पर एक ज्यूक बॉक्स की सुविधा भी मिल जाती थी! हालाँकि उनकी पत्नी भी दो-चार बार *टेन्ट* जा चुकी थीं मगर जब उनसे इस बारे में पूछा गया तो उन्होंने बिना किसी हील-हुज्जत के कहा कि उन्हें वह जगह रास नहीं आती थी क्योंकि वहाँ जाकर उनका शौहर उनका नहीं रह जाता था!

अब छतर सिंह सत्तर के नज़दीक पहुँच चुके हैं। उनके आधे दांत वक़्त की मार में शहीद हो चुके हैं। मगर नौकरी से रिटायर होने के बावजूद आज भी वह मोहन सिंह प्लेस में बने *इंडियन कॉफ़ी हाउस* के सबसे नियमित मेहमानों में शुमार किए जाते हैं। *टेन्ट* के टूटने के बाद मोहन सिंह प्लेस ने ही कॉफ़ी हाउस की उस विरासत को संभाला था। छतर सिंह तक़रीबन हर रोज़ मयूर विहार फ़ेज़-1 स्थित अपने घर से बस पकड़कर कनॉट प्लेस जाते हैं और आर.एस. यादव जैसे कॉफ़ी हाउस के कुछ पुराने शैदाइयों से मिलते हैं। कनॉट प्लेस स्थित धूमीमल आर्ट गैलरी में कला समीक्षक का काम करने वाले यादव साहब का *इंडियन कॉफ़ी हाउस* से ताल्लुक़ मोहन सिंह प्लेस की ईंट-गारा से भी ज़्यादा पुराना है। जनपथ के शुरुआती कॉफ़ी हाउस के ज़माने से कॉफ़ी पी रहे आर.एस.यादव

टेन्ट के भी नियमित मेहमान थे और कॉफ़ी हाउस के साथ अपने ताल्लुक़ को क़ायम रखते हुए अब वह मोहन सिंह प्लेस का भी हिस्सा सा बन चुके हैं। किमाश्चर्यम् उन्होंने अपनी सारी उम्र बिना शादी किए ही काट दी!

टेन्ट के टूटने के बाद *इंडियन कॉफ़ी हाउस* के साथ बहुतों की वफ़ादारी भी टूट गई। ज़ाकिर हुसैन कॉलेज (सांध्य) में अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ाने वाले और अब रिटायर हो चुके सोमनाथ[48] को मोहन सिंह प्लेस कॉफ़ी हाउस रास नहीं आया। उनकी नज़र में यह कॉफ़ी हाउस उतना साफ़-सुथरा और व्यवस्थित नहीं है। वैसे भी, अब उन्हें लगता है कि जब वह ख़र्चा उठा सकते हैं तो कनॉट प्लेस में ही मोहन सिंह प्लेस की बजाय बेहतर ठिकानों पर क्यों न जाएँ!

मगर *टेन्ट* का ज़िक्र आते ही वह फ़ौरन कमला मार्किट की उस सुनसान सड़क पर जा पहुँचते हैं जहाँ पंजाब से दिल्ली आने पर पहली बार उन्होंने मकान किराए पर लिया था। होशियारपुर स्थित पंजाब विश्वविद्यालय में प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह के सहपाठी रह चुके सोमनाथ ज़ाकिर हुसैन में नौकरी पाने से पहले गुरदासपुर में साहित्य पढ़ाते थे। उन्हें ज़ाकिर हुसैन कॉलेज की नौकरी 1964 में मिली थी। नौकरी की पेशकश मिलते ही वह फ़ौरन दिल्ली के लिए रवाना हो गए। उस ज़माने में ज़ाकिर हुसैन कॉलेज को दिल्ली कॉलेज कहा जाता था और यह अजमेरी गेट पर हुआ करता था। दिल्ली आने के कुछ ही समय बाद अंग्रेज़ी विभाग के अपने साथियों के साथ जल्दी ही वह भी *टेन्ट* जाने लगे।

एक छोटे से क़स्बे से आए सोमनाथ के लिए दिल्ली ऐश्वर्य और भव्यता का शहर था। होशियारपुर में रह कर तो उसके बारे में सिर्फ़ बातें ही की जा सकती थीं। मगर सोमनाथ तो पहली ही नज़र में दिल्ली के होकर रह गए, यहाँ के महानगरीय जीवन का एक स्वाभाविक हिस्सा बनते चले गए। उनके लिए कॉफ़ी हाउस एक ऐसी जगह थी जहाँ उनके सहकर्मियों का यह कुँवारा गिरोह फ़ुर्सत से बैठ सकता था। *टेन्ट* एक ऐसी जगह थी जहाँ वह सुबह इकट्ठा होकर, खा-पीकर, बतियाकर और लगे हाथ *प्लाज़ा* या *रिवोली* में एक पिक्चर देखकर शाम को कॉलेज के लिए निकलते थे। सांध्य कॉलेज में उनके सारे विद्यार्थी भी कामकाजी लोग थे, बल्कि उनमें से कुछ तो अपने-अपने दूतावासों में काम करने वाले विदेशी नागरिक थे। इस सान्निध्य का फ़ायदा यह हुआ कि उन्हें दूतावासों की पार्टियों से भी दावतनामे आने लगे और ज़ाहिर है कि यह उनकी पूरी टोली के लिए ज़बरदस्त बात थी। वहाँ के लज़ीज़ खाने, मुफ़्त की दारू, और जी हाँ, औरतों का संग उन्हें किसी भी क़ीमत पर पसंद था!

मेलजोल का इतना बढ़िया ठिकाना होने के कारण *टेन्ट* दिल्ली आने वाले सैलानियों के बीच भी लोकप्रिय होने लगा। इन सैलानियों में बहुत सारी फ़िरंगी औरतें भी थीं। सोमनाथ बिना किसी बेतकल्लुफ़ी के बताते हैं कि बहुत सारे भोले बालम इस वजह से भी *टेन्ट* की ओर खिंचे चले आते थे। उनके मुताबिक़ सह-शिक्षा और नए ज़माने की तमाम चीज़ों के बावजूद उनकी पीढ़ी के लोगों के लिए लड़कियाँ उत्सुकता का ही सबब होती थीं (हालाँकि उन्हें लगता है कि दुनिया अभी भी बदली नहीं है)। उन्हें यह मानने में कोई हिचक नहीं है कि बहुत सारी ललचाई नज़रें इन औरतों का पीछा किया करती थीं और कभी-कभी नैनों के बैन निशाने पर लग भी जाते थे!

अचरज की बात नहीं कि बहुत सारी महिलाओं को अकेले कॉफ़ी हाउस में आना सहज नहीं लगता था और अगर वह आती भी थीं तो लेडीज़ सेक्शन में ही अपना वक़्त गुज़ारती थीं। जो औरतें इस तरह के सार्वजनिक स्थानों पर आती थीं, मसलन सुभद्रा जोशी, वह बक़ौल कॉफ़ी हाउस के एक पेट्रन के, 'चुम्बक' का-सा काम करती थीं। सोमनाथ दिल्ली विश्वविद्यालय में राजनीति शास्त्र पढ़ाने वाली एक लेक्चरर का भी ज़िक्र करते हैं जो अकेले कॉफ़ी हाउस आया करती थीं। सोमनाथ की नज़र में यह बड़ी 'हिम्मत' की बात थी कि वह अकेले आती थीं और मर्दों के साथ उठती-बैठती थीं। और तो और, वह उनके क़िस्से-कहानियों और चुटकलों पर भी या तो पलटवार करती थी या उनको अनदेखा कर देती थी जबकि उनमें से ज़्यादातर चुटकुले निहायत मर्दवादी और औरतों का मज़ाक उड़ाने वाले होते थे। उन्होंने हमसे गुज़ारिश की कि हम उस महिला लेक्चरर का नाम उजागर न करें क्योंकि उसके परिवार वाले अभी भी कॉफ़ी हाउस के साथ उसका नाम जोड़कर नहीं देखना चाहते। *टेन्ट* की कुछ महिला ग्राहकों के ब्योरों से भी इस तरह के अनुभवों की तस्दीक़ होती है। श्रीराम कॉलेज समूह से संबद्ध एक प्रख्यात शिक्षाशास्त्री की बेटी सत्यवती वर्मा चालीस के दशक में हिंदू कॉलेज की छात्रा थी। विज्ञान के

स्नातक पाठ्यक्रम में अपनी कक्षा में वह एकमात्र लड़की थी। विवाह के बाद यही सत्यवती वर्मा श्रीमती केकर बन गईं और एक स्कूल में पढ़ाने लगीं। अब अस्सी का आँकड़ा पार कर चुकीं सत्यवती को *टेन्ट* के अपने दिन अभी भी याद हैं। वह या तो अपने स्कूल के प्रिंसिपल के साथ या सहकर्मियों के साथ वहाँ जाया करती थीं। अकेले कभी *टेन्ट* नहीं गईं।[49]

इन सारे ब्योरों से कॉफ़ी हाउस पुरुषों की एक निजी दुनिया के रूप में सामने आता है जहाँ महिलाएँ या तो लेडीज़ सेक्शन तक महदूद रहती थीं या अगर वह मुख्य हॉल में पुरुषों के साथ जा कर बैठने का दुस्साहस करती थीं तो अपने आपको पुरुषों की कामनाभरी नज़रों से घिरा पाती थीं। हमारे इस अनुसंधान के दौरान हमने जिन पुरुषों से बात की उनमें से कुछ ने *टेन्ट* की इन महिला मेहमानों का हल्के-फुल्के सेक्सिस्ट या खुले आम अश्लील जुमलों के साथ ज़िक्र किया। उनका अंदाज़ उस ख़ास मर्दाना हँसी-मसख़री में डूबा हुआ था जो औरत की देह को एक वस्तु की तरह देखती है। और तो और, सुभद्रा जोशी जैसी राजनीतिक शख़्सियतों को भी उन्होंने नहीं बख़्शा। इंदिरा गांधी की जीवनी लिखने वाली प्रसिद्ध लेखिका उमा वासुदेव जैसी महिलाओं की इस बात के लिए तारीफ़ हुई कि उनमें एक तरह की 'अदा' और गरिमा थी। इस गरिमा का एक स्वाभाविक आशय यह है कि वह 'लेडीज़ सेक्शन' के बाहर नहीं उठती-बैठती थीं।

1966 में शादी होने पर ख़ुद सोमनाथ भी अपनी पत्नी को स्टैंडर्ड और वेंगर्स जैसी महँगी और प्रतिष्ठित जगहों पर ले जाने लगे। उनकी नज़र में इन दुकानों का माहौल ज़्यादा शालीन और अंतरंग था। उस समय वह पटेल नगर में रहते थे। कनॉट प्लेस तक जाने के लिए दो रुपये की टैक्सी ले लेते थे। मियाँ-बीवी वेंगर्स में पहुँचने पर झींगे के अपने पसंदीदा नूडल्स मंगवाते थे। लगे हाथ पीने के लिए भी कुछ मंगा लेते थे। वह बताते हैं कि वहाँ नूडल्स की जो तश्तरी मिलती थी वह दो आदमियों के लिए भी आराम से काफ़ी पड़ जाती थी। वेटर को टिप देने के बावजूद उनका पूरा खाना-पीना छह रुपये के भीतर सिमट जाता था। कॉफ़ी हाउस में अभी भी एक कॉफ़ी की क़ीमत सिर्फ़ 25 पैसे और एक वड़े की क़ीमत 30 पैसे थी, जिसके हिसाब से वेंगर्स का बिल वाक़ई शाही दिखाई देता था, मगर सोमनाथ की राय में वेंगर्स में पैसा वसूल हो जाता था क्योंकि वहाँ जो माहौल और प्राइवेसी मिलती थी उसका कोई जवाब नहीं था।

उन्होंने यह भी बताया कि सत्तर के दशक में जब इंडिया इंटरनैशनल सेंटर बन गया तो *टेन्ट* के ग्राहक छँटने लगे थे। इधर मुफ़्त की दारू पार्टियों के लिए मशहूर प्रेस क्लब भी बहुत सारे लोगों को अपनी तरफ़ खींचने लगा था। इनमें से बहुत सारे पत्रकार थे — कुछ तो ज़बर्दस्त टंकी थे! उन्हें याद पड़ता है कि जिन्हें पैसा ख़र्च करने में ज़्यादा एतराज़ नहीं था उनके लिए जनपथ पर बना कॉटेज एम्पोरियम भी एक अच्छा ठिकाना था। वहाँ 'बाँकुरा' के नाम से रेस्त्राँ के साथ-साथ किताबों की एक दुकान भी थी। आजकल की बहुमंज़िला इमारतों के विपरीत उस ज़माने में यह एम्पोरियम एकमंज़िला इमारत में चलता था। इसके बावजूद यह एम्पोरियम आधुनिक शॉपिंग कॉम्प्लेक्स जैसा माहौल मुहैया करा देता था। वहाँ किताबें भी थीं और पीने-पिलाने का इंतज़ाम भी था बशर्ते आप पैसा ख़र्चने को तैयार हों। एम्पोरियम के अपने दौरों के बारे में बताते हुए उनकी बातचीत में भी एम्पोरियम स्थित किताबों की दुकान पर काम करने वाली एक ख़ास सेल्सविमेन का बार-बार ज़िक्र आता है। उनकी राय में दुकान की सारी किताबों के मुक़ाबले उस औरत से आँखें चार करने के लिए कहीं ज़्यादा लोग आते थे!

हालाँकि *टेन्ट* धीरे-धीरे सोमनाथ की ज़िंदगी के हाशिये पर भले ही खिसकता चला गया, और उसके घरेलू या पेशेवर, चाहे जो भी कारण रहे हों, पर कुछ लोगों के लिए दिल्ली में यह ज़िन्दगी का एक अहम हिस्सा बना रहा। सोमनाथ के सहकर्मी राजेंद्र नाथ *टेन्ट* के आख़िरी दिनों तक वहाँ जाते रहे। राजेंद्रनाथ *अभियान*[50] नाम से एक देसी नाटक आंदोलन शुरू करने वाले प्रमुख लोगों में थे। शहर में थियेटर में काम करने वाले बहुत सारे लोगों के अलावा कुलभूषण खरबंदा जैसे लोग भी उनके इस आंदोलन की तरफ़ गहरे तौर पर आकर्षित हुए थे। राजेंद्रनाथ और *अभियान* के मेम्बर अपने नाटकों की चीरफाड़ के लिए कॉफ़ी हाउस में ही इकट्ठा हुआ करते थे। *टेन्ट* जिस *थियेटर कम्युनिकेशन बिल्डिंग* में चलता था उसमें *दिल्ली फ़िल्म सोसायटी*, *हिंदी भवन* और *कैमरा सोसायटी ऑफ़ इंडिया* जैसे दफ़्तर भी मौजूद थे। ज़ाहिर है कि जिनका इन संस्थाओं से साबक़ा पड़ता था उनके लिए भी यह कॉफ़ी

हाउस एक स्वाभाविक अड्डा बन जाता था। इसी इमारत से *दिल्ली डेटलाइन* नामक एक स्थानीय साप्ताहिक अख़बार छपता था और भूतपूर्व प्रधानमंत्री चन्द्रशेखर का एक प्रकाशन भी यहीं से निकलता था।

टेन्ट में आने वाले लोगों में दिल्ली के बुद्धिजीवी वर्ग के तमाम लोग शामिल थे। यहाँ आने वाले कुछ 'मशहूर', नियमित आगंतुकों में समाजवादी नेता राम मनोहर लोहिया, भूतपूर्व प्रधानमंत्री चन्द्रशेखर, लेखक व पत्रकार कुलदीप नैयर, लेखक अज्ञेय, प्रोफ़ेसर बलराज मधोक, लेखक भीष्म साहनी, कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, उपन्यासकार एवं नाटककार मोहन राकेश, लेखक कमलेश्वर आदि शामिल थे।

* * * * * * * * * *

लेखिका और पत्रकार मधु जैन बताती हैं, 'मेरे लड़कपन से लेकर हाल ही में कुछ साल पहले तक मेरे लिए कनॉट सर्कस ही दुनिया का केन्द्र था। मेरी नज़र में तो सारी सड़कें उसी तरफ़ जाती थीं। वहाँ आप फ़िल्में देखने जाते थे, खाना खाने जाते थे, ख़रीदारी करने जाते थे। आप कपड़े ख़रीदने के लिए, किताबें ख़रीदने के लिए, ज़रूरी और ग़ैरज़रूरी चीज़ें ख़रीदने के लिए वहीं जाते थे। फ़्लर्ट करने या अगर किसी से चाहें तो आँखें चार करने के लिए भी आप वहीं का रुख़ करते थे। दिल्ली वालों के लिए जनपथ मसूरी और शिमला के मॉल की तरह था : मतलब यह कि अगर आपने यहाँ मौजूदगी दर्ज नहीं की तो आपकी हस्ती क्या रही। यहीं बहुतों के दिल डोले और यहीं बहुतों के दिल टूटे। या कुछ के मोहब्बत और शादी तक पहुँचे या जो भी समझ लीजिए। कनॉट प्लेस और जनपथ घेरे के दो छोर जैसे थे। आप कहीं जाइए और कितनी भी दूर चले जाइए -- आप हर बार लौट कर वहीं आ जाते हैं।'[51] कनॉट प्लेस की उनकी छवि ऐसी है जिसमें अभी भी कनॉट सर्कस के ट्रैफ़िक का हेर-फेर और शोर-शराबा कहीं हाशिये पर चला जाता है। सत्तर के दशक में जब दिल्ली की पहचान अभी भी शक्ल ले ही रही थी और उसमें वैसा पागलपन पैदा नहीं हुआ था जो अब दिखाई देता है, उस समय कनॉट प्लेस राजधानी में मौज-मस्ती का केन्द्र बना हुआ था।

लुटियन ने इस इलाक़े की नींव रखते हुए राज के अफ़सरों और सिपाहियों के लिए एक शांत, नफ़ासत भरे नक़्शे की कल्पना की होगी। शायद यही सोचकर राज के उन अफ़सरों और सिपाहियों को कनॉट प्लेस के इर्द-गिर्द ओहदे के हिसाब से व्यवस्थित छोटे-बड़े बंगलों में जगह दी गई थी। ब्रॉडकास्टर और कॉफ़ी हाउस की मेहमान रह चुकी मीनाक्षी शास्त्री की यादों में उस विशाल बाज़ार की ख़ामोशी अभी भी बिल्कुल साफ़ सुनाई देती है, जहाँ आज पार्क होटल खड़ा है वहाँ कभी नरेंद्र पैलेस नाम की जगह हुआ करती थी और मीनाक्षी ने चालीस के दशक में अपना बचपन यहीं गुज़ारा था। वह बताती हैं, 'कनॉट प्लेस में उस ज़माने में घोड़ों की टाप और ताँगों की घंटियों के अलावा कुछ सुनाई नहीं पड़ता था। सवेरे 9:30 पर अपने कामकाज की तरफ़ जाते हुए और शाम को लौटते हुए साइकिल वालों का हुजूम यहाँ का एक दैनिक नज़ारा होता था। बाक़ी पूरे दिन यहाँ मुकम्मल ख़ामोशी रहती थी।'[52] बहरहाल, पाकिस्तान से आए पंजाबी शरणार्थियों की भारी आमद से इस इलाक़े की यह ख़ामोशी अचानक टूट गई। 1951 तक पहुँचते-पहुँचते शहर की आबादी में इन शरणार्थियों की तादाद 28.4 प्रतिशत हो चुकी थी।[53] मीनाक्षी के शब्दों में, पचास के दशक में कनॉट प्लेस 'चौबीसों घंटे चलने वाली बारात'[54] बन गया था।

जयपाल नांगिया उन युवा शरणार्थियों में से थे जो बाद में हर रोज़ कॉफ़ी हाउस के इर्द-गिर्द मंडराते पाए जाने लगे। उनके जैसे कई नौजवान शरणार्थी टोली बनाकर कनॉट प्लेस के गलियारों में आवारागर्दी करते रहते थे और उनमें जो थोड़ा दिलेर थे वह कभी-कभार अकेले दिख जाने वाली औरतों पर हाथ भी साफ़ कर लेते थे। जयपाल नांगिया की दिन भर की आवारागर्दी आमतौर पर उस ज़माने के सिनेमा थियेटरों में चलने वाले बार में जा कर ख़त्म होती थी। शाम ढलने के बाद सेंट्रल पार्क से गुज़रने का मतलब था कि आप जवानी के जोश में डूबे लड़के-लड़कियों और कई बार तो लड़कों से चिपटे लड़कों से ही टकरा सकते हैं।[55] इन गहरी कामनाओं की लकीर लगता है कि बाज़ार के बेतरतीब विकास के बावजूद क़ायम रही और साठ व सत्तर के दशकों तक कमोबेश यूँ ही चलती रही। नाम ज़ाहिर न करने की शर्त पर एक सिक्ख व्यवसायी ने बताया कि कॉलेज के दिनों में उनके और उनके संगी-साथियों के दिल कनॉट प्लेस जाने और अगर क़िस्मत ने साथ दिया तो 'गोरी

A group of young men with a hunger-striker squatting under a Connaught Place tree on Sunday demanding a site for the old coffee house demolished during the emergency.—HT photo.

हिप्पियों पर हाथ साफ़ कर लेने'[56] की उत्तेजना से बल्लियों उछलने लगते थे। रीता मल्होत्रा भी उस ज़माने में दिल्ली विश्वविद्यालय की छात्रा थीं। अब वह विश्वविद्यालय में पढ़ाती हैं। अकसर कनॉट प्लेस जाने वाली सुश्री मल्होत्रा ने बताया कि यह जगह उनके लिए ज़बर्दस्त आकर्षण का केंद्र थी क्योंकि यहाँ सिनेमाघरों में उन्हें कुछ निजी लम्हे मिल जाते थे। उसके बाद हाल ही में खुले *मोहन सिंह प्लेस* कॉफ़ी हाउस में मोहब्बत की पींगे और परवान चढ़ती थीं क्योंकि कनॉट प्लेस में यही एकमात्र ठिकाना था जहाँ वह अपने सीमित बजट में काम चला सकती थीं। वह और उनका साथी यहाँ के खुले माहौल में जमकर वड़े खाते थे। ऐसा कम ही होता था जब इस ठिकाने को छोड़कर बड़ी हिम्मत जुटाते हुए वह दोनों सिर्फ़ एक बर्गर से पेटपूजा करने के लिए *गेलॉर्ड* का रुख़ कर पाते हों।[57]

अब तक खुद *टेन्ट* भी मध्यम दर्जे की क़ीमतों वाले रेस्त्राँओं की क़तार में शामिल हो चुका था। *रीगल* बिल्डिंग के कोने पर संसद मार्ग स्थित टी हाउस, इनर सर्किल में पड़ने वाला *युनाइटेड कॉफ़ी हाउस* और *मोहन सिंह प्लेस* स्थित *इंडिया कॉफ़ी हाउस* (जो 1969 में शुरू हुआ) कॉफ़ी के शौक़ीनों के लिए दूसरे अलसाए ठिकाने थे। समय बीतने के साथ इन शौक़ीनों ने *टेन्ट* कॉफ़ी हाउस में आने वाले नौजवान जोड़ों के इर्द-गिर्द अनगिनत क़िस्से-कहानियों को जन्म दिया। यहाँ इत्तेफ़ाक़न नज़रें चार करने वाले बहुत सारे युवा जोड़े आगे चलकर जन्म-जन्मान्तर के रिश्तों में भी बँधे। ऐसे लोगों के अलावा एक और भी तबक़ा था जो *टेन्ट* पर नज़रें इनायत फ़रमाता रहा। यह इससे पिछली पीढ़ी के जोड़े थे, मीनाक्षी शास्त्री और रक्षितपुरी जैसे लोग, जिन्होंने जनपथ कॉफ़ी हाउस में ही मोहब्बत के फूल खिलाए थे। अब ये लोग अपने दिन भर के कामकाज के बाद लौटकर कॉफ़ी और गपशप की दैनिक ख़ुराक लेने के लिए यहाँ जाते थे।[58]

बहरहाल, 1975 की उथल-पुथल से कनॉट प्लेस की ज़िन्दगी में मोहब्बत और अलस-भरी कल्पनाएँ भी अछूती नहीं रहीं। नागरिकता के दमन की बुनियाद पर खड़ी परियोजना की दीवारों पर 'काम ज़्यादा, बातें कम' और 'तरक़्क़ी के वास्ते ज़्यादा पैदावार'[59] जैसे नारे दिखाई देने लगे। कॉफ़ी हाउस के सदा गर्मागर्म राजनीतिक माहौल में इन्दिरा सरकार की नीतियों पर और भी ज़्यादा बहस होने लगी। बहरहाल, आपातकाल के दिनों में यह उन कुछ सार्वजनिक स्थानों में से एक था जहाँ सरकार विरोधी नज़रियों पर कोई रोक नहीं थी। इससे यहाँ ग्राहकों की एक नई खेप पैदा हो गई। सरकारी जासूस भी *टेन्ट* की तरफ़ खिंचने लगे। आर.एस. यादव को अच्छी तरह याद है कि गुप्तचर ब्यूरो के एजेन्ट उस माहौल से अनजान होने के कारण कितने अलग-थलग से रहते थे। उन्हें देखकर अकसर ऐसा लगता था कि वह यहाँ के माहौल में सहज नहीं महसूस कर रहे हैं। *टेन्ट* के नियमित मेहमानों के साथ चिपकने की उनकी कोशिशें उनकी पहचान पर पड़े सारे पर्दे उघाड़ देती थी। जो लोग खुलेआम सरकार विरोधी नज़रिया रखते थे उनको वह कुछ ज़्यादा ही तवज्जो देते थे। मगर सियासी गुफ़्तगू की उनकी ज़्यादातर कोशिशें या तो चंद मिनटों में धराशायी हो जाती थीं या वह यहाँ के नियमित ग्राहकों के हँसी-मज़ाक का शिकार बन जाते थे।[60]

और तभी अचानक एक दिन *टेन्ट* तोड़ दिया गया। 15 मई 1976 की सुबह एक नोटिस ज़ारी करके *टेन्ट* के कर्ता-धर्ताओं को कॉफ़ी हाउस तत्काल बंद करने का आदेश दे दिया गया क्योंकि दिल्ली मास्टर प्लान के मुताबिक़ यह जगह हरित पट्टी के लिए आरक्षित जगह के भीतर आती थी।[61] दो घंटे बाद बुलडोज़रों और आपातकाल की बदनाम 'वक़्त की पाबंद रेलगाड़ियों' ने समूची *थियेटर कम्युनिकेशन बिल्डिंग* को मिट्टी में मिलाने का काम शुरू कर दिया। वोगोंस[62] के मनमानेपन की याद दिलाने वाले अपने निर्मम अंदाज़ में बुलडोज़रों ने शाम होते-होते *टेन्ट* को मलबे में तब्दील कर दिया।

किसी ने इस बात की सपने में भी उम्मीद नहीं की थी। न तो प्रबंधकों और न ही ग्राहकों में से किसी ने इस बारे में पहले कभी सुना था। मगर इन सबकी राय में कॉफ़ी हाउस के टूटने का एक ही कारण था — संजय गांधी को ऐसी जगह बर्दाश्त नहीं थी जो 'उठापटक मचाने वालों और शरारती लोगों'[63] से भरी हुई हो। आर. एस. यादव का कहना है कि *टेन्ट* की लोकप्रियता ने कनॉट प्लेस के कुछ नामी रेस्त्राँ मालिकों को भी परेशान कर दिया था और *टेन्ट* के टूटने से उनका भी फ़ायदा सधता था।[64] मगर कॉफ़ी हाउस टूटने के फ़ौरन बाद साज़िश का कोई

सिद्धान्त सार्वजनिक रूप से सुना नहीं गया। 1964 में *जनपथ कॉफ़ी हाउस* में महज़ 5 पैसे की वृद्धि एक ऐसे आंदोलन का कारण बन गई थी जो राष्ट्रीय स्तर पर सुर्ख़ियों में छा गया था जबकि 16 मई 1976 को *टेन्ट* के ध्वस्त किए जाने की ख़बर तक दिल्ली के ज़्यादातर अख़बारों के नहीं आ पाई। इस ख़बर का न छपना निश्चित रूप से शक की गुंजाइश पैदा करता है और इसकी एक वजह ये हो सकती है कि उस समय अख़बारों पर जिस तरह की पाबंदियाँ लगाई गई थीं उनके चलते सरकार विरोधी ख़बरों का छपना संभव नहीं था। बहरहाल, दूसरा कारण यह हो सकता है कि जब सरकार शहर के समूचे भौगोलिक चेहरे-मोहरे को बदलने का फ़ैसला ले चुकी थी तो कॉफ़ी हाउस के टूटने की ख़बर भी एक मामूली ख़बर से ज़्यादा हैसियत नहीं पा सकती थी।

अप्रैल 1976 में दिल्ली में निरंकुश सत्ता की बुनियाद पर चलने वाले सफ़ाए और पुनर्निर्माण के भयानक अभियान अंजाम दिए जा चुके थे। *तुर्कमान गेट* की झुग्गियों को तोड़ने से हज़ारों लोग रातों-रात बेघर हो गए और बहुत सारे प्रदर्शनकारी पुलिस की गोलियों का निशाना बन गए। तुर्कमान गेट की 'झुग्गियों' की जगह एक शानदार पचास मंज़िला व्यावसायिक इमारत बनाने का फ़ैसला लिया जा चुका था और उसकी शुरुआती योजना भी तैयार हो चुकी थी।[65] इसके बाद *टेन्ट* की जगह *पालिका बाज़ार* बनाने का फ़ैसला लिया गया। संजय गांधी को इस कारनामे में भी निजी तौर पर गहरी दिलचस्पी थी। अपने निर्माण के समय *पालिका बाज़ार* एशिया का सबसे बड़ा भूमिगत वातानुकूलित बाज़ार था। उसकी हाँगकांग के विशालकाय एम्पोरियमों और बाज़ारों से तुलना की जाती थी और लंबे समय तक वह सैलानियों के आकर्षण का केंद्र बना रहा। ज़ाहिर है कि यह एक ऐसी कल्पना का नतीजा था जो प्रतीकों और स्मारकीयता की बुनियाद पर खड़ी थी — एक ऐसी कल्पना जो शहर के रोज़-ब-रोज़ नज़ारे और अहसासों को मिटाकर एक नई इबारत लिखने पर आमादा थी।

1912 में शाही नई दिल्ली का नक़्शा तैयार करने के लिए बनाई गई तीन सदस्यीय समिति के सलाहकार की हैसियत से हेनरी लैंकास्टर ने अपना शुरुआती ले-आउट तैयार किया जिसका केंद्रीय बिंदु एक मुख्य एवेन्यू — एबी एवेन्यू — था जो प्रस्तावित गवर्मेंट हाउस से उत्तर-पूर्व में सीधे जामा मस्जिद तक जाता था। इस रास्ते के ज़रिए पुराने शहर की सबसे अहम निशानी को प्रतीकात्मक रूप से ब्रिटिश ताक़त की ज़द में खींच लेने का मंसूबा बाँधा गया था। बाद में इस योजना को ठंडे बस्ते में डाल दिया गया क्योंकि इस काम के लिए पहाड़गंज की दुकानों का अधिग्रहण एक महँगा सौदा साबित हो रहा था।[66] वैसे भी, 1913 में ब्रिटिश सरकार ने कानपुर मस्जिद के एक हिस्से को तोड़ने की कोशिश की थी जिसके चलते लोग दंगे पर उतारू हो गए थे। नतीजतन सरकार को अपनी यह योजना भी रद्द करनी पड़ी और इस तरह सरकार धार्मिक स्थलों के साथ छेड़छाड़ के मामले में कुछ ज़्यादा ही एहतियात बरतने लगी।[67] लैंकास्टर के एबी एवेन्यू को आख़िरकार लुटियंस की योजना में संसद मार्ग के रूप में अभिव्यक्ति मिली। यह सड़क कनॉट प्लेस से होते हुए संसद से सीधे वर्तमान अरुणा आसफ़ अली मार्ग पर जा कर ख़त्म होती थी जहाँ से जामा मस्जिद महज़ कुछ किलोमीटर दूर रह जाती थी।



फिर भी, तुर्कमान गेट पर बने मकानों के कारण शाही नज़र सीधे जामा मस्जिद तक पहुँचने में नाकाम रही। अब संजय गांधी इस नज़र के रास्ते में आने वाली रुकावटों को दूर करना चाहते थे। उन्होंने तुर्कमान गेट के मकानों को तोड़ने का आदेश दे दिया। यह एक ऐतिहासिक संयोग है कि *टेन्ट* भी उसी एवेन्यू की बग़ल में पड़ता था जहाँ से संसद मार्ग सेंट्रल पार्क में दाख़िल होता था। *टेन्ट* का यही दोष था — वह उस नज़र के रास्ते में रुकावट बन रहा था जो उसके पार देखना चाहती थी। नतीजा, उसे भी नज़र से हटा दिया गया।

विराट प्रतीकों की महत्वाकांक्षा संजय गांधी और आपातकाल से भी ज़्यादा स्थायी साबित हुई। सत्तर के दशक के आख़िर तक आते-आते कनॉट प्लेस की आसमानी सरहद गगनचुम्बी अट्टालिकाओं से आछन्न होने लगी। ऐसी हर नई इमारत का निर्माण इस बात की पुष्टि करता था कि शहर को नए तामीरी साँचे में ढालने वाले अभिजन नगर नियोजन के मौजूदा नियम-क़ायदों से आज़ाद थे, वह अपनी कल्पना को औरों की कल्पना से ऊपर रखने की महत्वाकांक्षा में जी रहे थे। *जीवन भारती बिल्डिंग* जिसका डिज़ाइन चार्ल्स कोरिया ने तैयार किया था, और *स्टेट कॉर्पोरेशन बिल्डिंग* तथा *न्यू टाउन हॉल* जिनका डिज़ाइन क्रमशः राज रवेल और कुलदीप सिंह ने तैयार किया था, ने बेहिसाब आर्थिक ताक़तों को अपनी तरफ़ खींचा और उनकी इस गतिशीलता ने कनॉट प्लेस के पुराने रफ़्ता-रफ़्ता चलने वाले दिनों की यादों को और धुंधला बना दिया। अब कनॉट प्लेस के लिए अपनी यादों से पीछा छुड़ाने का वक़्त आ चुका था और अपने अस्थायित्व के कारण *टेन्ट* को इतिहास के कूड़ेदान में ठेल देना तो और भी आसान हो गया था।

टेन्ट के टूटने के ख़िलाफ़ विरोध प्रदर्शन और जलसे-जुलूसों का सिलसिला साल भर बाद तब शुरू हुआ जब आपातकाल ख़त्म हो चुका था। इनमें से ज़्यादातर विरोध कार्यक्रम राजनीतिक अभियान का हिस्सा थे और वह दो-चार दिन से ज़्यादा नहीं चल पाए। *टेन्ट* के ज़्यादातर ग्राहक पहले ही *मोहन सिंह प्लेस* की तीसरी मंज़िल पर स्थित *इंडियन कॉफ़ी हाउस* की पनाह में जा चुके थे। कुछ पुराने शौक़ीनों को तीन मंज़िल ऊपर तक चढ़ना मुश्किल मालूम होता था इसलिए वह भी दूसरे ठिकानों की तरफ़ रुख़ करने लगे। क्योंकि दिल्ली दिनोंदिन फैलती जा रही थी इसलिए बहुत सारे लोग रोज़ाना लंबे सफ़र से बचने के लिए कनॉट प्लेस की बजाय दूसरे इलाक़ों में भी ठिकाने ढूँढने लगे। चार लाख का नुक़सान उठा चुके *इंडियन कॉफ़ी वर्कर्स को-ऑपरेटिव* को भी अपनी मिल्कियत वापस पाने की कोई उम्मीद बाक़ी नहीं बची थी क्योंकि *टेन्ट* की जगह अब एक विशालकाय पालिका परियोजना ने ले ली थी। *को-ऑपरेटिव* ने *टेन्ट* के सवाल पर जो लड़ाइयाँ लड़ीं, वह भी अपनी ज़मीन वापस पाने के लिए नहीं बल्कि कॉफ़ी हाउस के लिए एक वैकल्पिक जगह के आवंटन और नुक़सान की भरपाई के लिए हर्ज़ाने के भुगतान की माँग तक ही सीमित थी। नई सरकार ने उसकी इन दोनों माँगों को पूरा करने का भरोसा तो दिया मगर प्रधानमंत्री के व्यक्तिगत आश्वासनों के बावजूद उसकी दोनों माँगें अधूरी ही रह गईं। प्रधानमंत्री अपने आश्वासनों को पूरा कर पाते, इससे पहले ही उनकी सरकार गिर गई।



मोहन सिंह प्लेस एक बढ़िया स्कोरिंग प्वॉइंट और सस्ते डेनिम कपड़ों के लिए ख्याति पाने लगा। पिछले दो दशक के दौरान इस कॉफ़ी हाउस में आने वाले मेहमानों की संख्या लगातार गिरती ही गई है। अब कॉफ़ी हाउस में जाने पर वहाँ क्षरण की बाहरी निशानियाँ साफ़ दिखाई देती हैं — मरम्मत का इंतज़ार करती सजावटी चीज़ें, फटे सोफ़े, लकड़ी की गलती मेज-कुर्सियाँ। इसकी लंबी-चौड़ी खुली बालकनी में बंदर उत्पात मचाते हैं, सो अलग। यहाँ टेन्ट के ज़माने जैसी गहमागहमी नहीं है। बल्कि यहाँ तो मेडिकल रेप्रेज़ेंटेटिव्ज़ की टोलियों के साथ मुठभेड़ की संभावना ज़्यादा रहती है जो चुपचाप बैठे अपनी प्रोजेक्ट रिपोर्टें ख़त्म करने में तल्लीन रहते हैं। पाँच महीने पहले कॉफ़ी हाउस के बंद होने की चर्चा भी ज़ोरों पर रही क्योंकि रेस्टोरेंट का घाटा बढ़ता जा रहा था। मगर आजकल यहाँ इस बात की चर्चा ज़्यादा है कि रेस्टोरेंट के बंद होने की धमकी को-ऑपरेटिव के कुछ सदस्यों और मुट्ठी भर ग्राहकों की एक चाल है। वह कॉफ़ी हाउस बंद करके अपनी जेबें गरम करना चाहते हैं। बहरहाल, इससे पहले कि आप हालात में दख़ल दें, आप कॉफ़ी हाउस का श्रद्धांजलि संदेश लिखने के मुक़ाम पर पहुँच चुके हैं।

संभवतः हताशा का वृत्तांत आशा का वृत्तांत भी हो सकता है। सवाल सिर्फ़ इस बात का है कि आप किस तरह देखते हैं और कहाँ खड़े होकर देखते हैं। मिसाल के तौर पर, अगर आप शनिवार की सुबह कॉफ़ी हाउस के फ़ैमिली सेक्शन की तरफ़ नज़र डालें तो वहाँ आपको एक टेबल पर पाँच-छह आदमी-औरत एक दूसरे से चिपके बैठे और काग़ज़ में से कुछ पढ़कर सुनाते दिखाई देंगे। अगर सुनने को तैयार हों तो आपका भी बेखटके स्वागत किया जाएगा, आपसे भी अपनी कुछ कहने-सुनने को कहा जाएगा। जी हाँ, इस कॉफ़ी हाउस में पोएट्री (कविता) क्लब की बैठक चल रही है। इस कॉफ़ी हाउस में 1994 में शुरू हुआ यह क्लब हर हफ़्ते यहाँ जमता है। इस क्लब के कुछ लोग तो उस ज़माने से लिख रहे हैं जब *जनपथ कॉफ़ी हाउस* की तबोताब क़ायम थी। इनमें से कई लोग ख़ासा फ़ासला तय करके यहाँ पहुँचते हैं। एक ज़माने में एक और कॉफ़ी हाउस में वक़्त-बेवक़्त मुशायरे हो जाया करते थे[68] और इस क्लब की बैठकें उस अहसास के सबसे नज़दीक दिखाई देती हैं। अपनी पसंदीदा कॉफ़ी का एक-एक कप क़ब्ज़े में ले लेने के बाद और पारले-जी का पैकेट खुल जाने के बाद शब्दों के ये जादूगर शुरू हो जाते हैं। यहाँ अंग्रेज़ी, हिंदी, पंजाबी, उर्दू — कई भाषाओं में कविताएँ होती हैं। साथ बैठे सदस्यों की प्रतिक्रियाएँ हर शब्द का एहतियात से पीछा करती मालूम देती हैं। बेशक, लय-ताल और मीटर की अहमियत है, ख़याल की ख़ूबसूरती भी अहम है — मगर कई बार यह बातचीत घर-परिवार और बाल-बच्चों के झमेले में भी खो जाती है। फिर भी, कुल मिलाकर इस टेबल पर शायरी की अहमियत बरक़रार है।

कभी-कभी वृत्तांत में निहित पात्रों को खुद अपने आप भी बोलना चाहिए। आइए आज उन्हें ही बोलने दें...

चार-पांच धुंधली सी तस्वीरें
कुछ चमकती हुईं भी
भाप उड़ाते कॉफ़ी के कपों पर झुकी हुई
हवा में अशआर उछालतीं
कविताएँ, कुछ न जाने कब की
नाकामयाब और कामयाब मोहब्बत की नज़्में
हासिल-बेहासिल उम्मीदों की नज़्में
अभी कल रात को उतरी कविता
बेचैन छाती में पैदा हुई
या हड्डियों को कँपा कर निकली
लम्हा-लम्हा सच्चाई से भरी
हमारी ऊबड़-खाबड़ ज़िन्दगी में गेंदे की बास भरने के लिए
उसे लगाव, अनुभूति सी कोमलता देने को

चार-पाँच धुंधली-सी तस्वीरें
कुछ चमकती हुई भी
भाप उड़ाते कॉफ़ी के कपों पर झुकी हुई69

अनुवादः योगेन्द्र दत्त

संदर्भ

1. जे.के. राउलिंग की लोकप्रिय *हैरी पॉटर* सीरीज़ में औघड़ विद्या और जादूगरी के हॉगवॉर्ट्स स्कूल में पढ़ने वाले विद्यार्थी लंदन रेलवे स्टेशन पर अदृश्य प्लेटफॉर्म नंबर 9¾ से ट्रेन पकड़ते हैं.
2. ए. बोपेनगेमेज, *डेल्हीः ए केस स्टडी इन अरबन सोशियोलॉजी*, बम्बईः बम्बई युनिवर्सिटी प्रेस, 1957.
3. ध्रुव एन. चौधरी, *ऐण्ड सो टू डेल्हीः ए क्रॉनिकल फ्रॉम दि फॉर्टीज़* (प्रकाशनाधीन).
4. सुरेश माय्या, केरल की कन्नूर इकाई पर विशेष फ़ोकस के साथ सामाजिक पूँजी और श्रमिक सशक्तिकरण में *इंडियन कॉफ़ी हाउस* की भूमिका पर अनुसंधान. वाणिज्य विभाग, एमजीएम कॉलेज, मणिपाल विश्वविद्यालय, उडिपी, 2001.
5. चौधरी, *ऐण्ड सो टू डेल्हीः ए क्रॉनिकल फ्रॉम दि फ़ॉर्टीज़.*
6. युर्गन हैबरमास, *द स्ट्रक्चरल ट्रांसफ़ॉर्मेशन ऑफ़ द पब्लिक स्फ़ियर : ऐन इंक्वायरी इन्टू ए कैटेगरी ऑफ़ बुर्जुआ सोसायटी*, अनुवाद थॉमस बर्गर, केम्ब्रिजः पॉलिटी, 1992.
7. 'राइज़िंग प्राइसेज़ हिट गॉड्स ऐज़ वैल' *स्टेट्समैन*, 3 अगस्त 1964.
8. 'दि कस्टमर टर्न्स इन डेल्ही', *स्टेट्समैन*, 19 सितंबर 1964.
9. 'पापुलर डेल्ही रेस्टोरेंट बॉयकॉटेड', *स्टेट्समैन*, 19 सितंबर 1964.
10. शहर में पानी का भारी संकट था क्योंकि एमसीडी के पानी में क्लोरीन की भारी मात्रा के कारण उसे पीने के लायक़ नहीं समझा जाता था.
11. 'दि कस्टमर टर्न्स इन डेल्ही', *स्टेट्समैन*, 19 सितंबर 1964.
12. 'इट्स कॉफ़ी ऑन द पेवमेंट नाऊ', *स्टेट्समैन*, 20 सितंबर 1964.
13. 'कॉफ़ी हाउस बॉयकॉट गोज़ ऑन', *इंडियन एक्सप्रेस*, 20 सितंबर 1964.
14. 'मच कॉफ़ी — बट लिटिल गॉसिप', *स्टेट्समैन*, 21 सितंबर 1964.
15. वही.
16. 'वीआईपीज़ ज्वॉइन प्राइस रेज़िस्टेंस बॉडी', *स्टेट्समैन*, 22 सितंबर 1964.
17. 'कंज्यूमर कॉफ़ी हाउस लाइकली', *स्टेट्समैन*, 29 सितंबर 1964.
18. 'को-ऑपरेटिव कॉफ़ी हाउस टेक्स शेप', *स्टेट्समैन*, 23 सितंबर 1964.
19. वही.
20. 'मेहता ज्वॉइंस ऐंटी प्राइस राईज़ मूवमेंट', *हिंदुस्तान टाइम्स*, 26 सितंबर 1964.
21. 'कंज्यूमर कॉफ़ी हाउस लाइकली', *स्टेट्समैन*, 29 सितंबर 1964.
22. 'पीएम फ़ॉर स्टैंडर्डाइज़ेशन ऑफ़ डेल्ही रेस्टोरेंट्स' *हिंदुस्तान टाइम्स*, 27 सितंबर 1964.
23. 'कॉफ़ी हाउस रिवर्ट्स टू ओल्ड रेट्स', *स्टेट्समैन*, 28 सितंबर 1964.
24. अशोक कुमार, 'कॉफ़ी हाउस एजिटेशन', *स्टेट्समैन*, 3 अक्टूबर 1964.
25. 'ओपन एअर कॉफ़ी हाउस इनॉग्युरेटेड', *इंडियन एक्सप्रेस*, 27 सितंबर 1964.
26. एस. मखीजानी, 'कॉफ़ी हाउस एजिटेशन', *स्टेट्समैन*, 29 सितंबर 1964.
27. '*पीआरआरएम* टू बी एक्सटेंडेड', *स्टेट्समैन*, 1 अक्टूबर 1964.
28. 'कंज्यूमर्स स्ट्राइक अगेन', *हिंदुस्तान टाइम्स*, 3 अक्टूबर 1964.
29. 'काउंसलर्स ग्रीट प्राइस रेज़िस्टर्स', *स्टेट्समैन*, 6 अक्टूबर 1964.
30. 'मिल्कमैन ऐण्ड कंज़्यूमर्स स्टिल एट लॉगरहेड्स', *स्टेट्समैन*, 8 अक्टूबर 1964.
31. 'प्राइस स्पायरल रीक्वॉयल्स ऑन मिल्क सेलर्स', *स्टेट्समैन*, 7 अक्टूबर 1964.
32. 'मिल्कमैन ऐण्ड कंज़्यूमर्स स्टिल ऐट लॉगरहेड्स', *स्टेट्समैन*, 8 अक्टूबर 1964.
33. 'ए वेजिटेबल फ्रन्ट इन विनय नगर', *स्टेट्समैन*, 9 अक्टूबर 1964.

34. 'प्राइस वॉर स्प्रेड्स', *स्टेट्समैन*, 13 अक्टूबर 1964.
35. 'वेजिटेबल फ़्रन्ट कट्स प्राइसेज़', *स्टेट्समैन*, 10 अक्टूबर 1964.
36. 'नाऊ दे टर्न टू फ़िश ऐण्ड मीट', *स्टेट्समैन*, 8 नवंबर 1964.
37. '*पीआरआरएम* सेक्रेटरी सस्पेंडेड', *स्टेट्समैन*, 7 नवंबर 1964.
38. 'प्राइस मूवमेंट मे लैग', *स्टेट्समैन*, 22 अक्टूबर 1964.
39. 'जनपथ प्राइस रेज़िस्टर्स रिमेन डिवाइडेड', *स्टेट्समैन*, 10 नवंबर 1964.
40. राजिन्दर कपूर 'पेरिल्स ऑफ़ *पीआरआरएम*', *स्टेट्समैन*, 11 नवंबर 1964.
41. एस. मखीजानी (संपादक के नाम पत्र), *स्टेट्समैन*, 13 नवंबर 1964.
42. '*पीआरआरएम* कॉफ़ी हाउस टू मूव ऑन मंडे', *स्टेट्समैन*, 14 नवंबर 1964.
43. 'टार्ज़न कम्स टू डेल्ही', *इंडियन एक्सप्रेस*, 17 नवंबर 1964.
44. 'पोएट्री अशर्स कंज़्यूमर्स कॉफ़ी इन्डोर्स', *स्टेट्समैन*, 17 नवंबर 1964.
45. के. एन. कुट्टी, इंडिया कॉफ़ी वर्कर्स को-ऑपरेटिव सोसायटी कार्यालय, कमला नगर में शोधकर्ताओं के साथ बातचीत (*इंडिया कॉफ़ी हाउस वर्कर्स को-ऑपरेटिव*) के वर्तमान महाप्रबंधक के. एन. कुट्टी 1976 में *टेन्ट* के कर्मचारी थे), 14 जुलाई 2004.
46. छतर सिंह, उनके आवास पर शोधकर्ताओं से हुई बातचीत, 18 जुलाई 2004.
47. वही.
48. सोमनाथ, उनके आवास पर शोधकर्ताओं के साथ हुई बातचीत, 18 जुलाई 2004.
49. सत्यवती केकर, शोधकर्ताओं के साथ टेलीफ़ोन पर हुई बातचीत, 20 जुलाई 2004.
50. सोमनाथ, उनके आवास पर शोधकर्ताओं के साथ हुई बातचीत, 18 जुलाई 2004.
51. मधु जैन, 'टिरैनीज़ ऐट वर्क', *सेमिनारः* ए सिम्पोज़ियम ऑन रिमेंम्बरिंग डेल्ही, जुलाई 2001.
52. मीनाक्षी शास्त्री, उनके आवास पर शोधकर्ताओं के साथ हुई बातचीत, 20 जुलाई 2004.
53. वी. एन. दत्ता, 'पंजाबी रेफ़्यूजीज़ ऐण्ड द बिल्डिंग ऑफ़ ग्रेटर डेल्ही', आर. ई. फ़्रिकेनबर्ग, *डेल्ही थ्रू दि ऐजेज़ – सेलेक्टेड एसेज़ इन अर्बन हिस्ट्री, कल्चर ऐण्ड सोसायटी*, नई दिल्ली, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 2002, पुनर्प्रकाशित.
54. मीनाक्षी शास्त्री के साथ हुई बातचीत, 20 जुलाई 2004.
55. जयपाल नांगिया, मोहन सिंह प्लेस स्थित *इंडिया कॉफ़ी हाउस* में शोधकर्ताओं के साथ बातचीत, 24 जुलाई 2004.
56. अज्ञात, मोहन सिंह प्लेस स्थित *इंडिया कॉफ़ी हाउस* में शोधकर्ताओं के साथ बातचीत, 12 जुलाई 2004.
57. रीता मल्होत्रा, भीकाजी कामा पैलेस स्थित कॉफ़ी होम में शोधकर्ताओं के साथ बातचीत, 22 जुलाई 2004.
58. मीनाक्षी शास्त्री के साथ हुई बातचीत, 20 जुलाई 2004.
59. आपातकाल के दिनों के पोस्टर, सराय अभिलेखागार.
60. आर. एस. यादव, मोहन सिंह प्लेस स्थित *इंडिया कॉफ़ी हाउस* में शोधकर्ताओं के साथ हुई बातचीत, 25 जून 2004.
61. कुट्टी, के. एन., इंडिया कॉफ़ी वर्कर्स को-ऑपरेटिव सोसायटी कार्यालय, कमला नगर, में शोधकर्ताओं के साथ हुई बातचीत (*इंडिया कॉफ़ी हाउस* वर्कर्स को-ऑपरेटिव के वर्तमान महाप्रबंधक के. एन. कुट्टी 1976 में *टेन्ट* के कर्मचारी थे) 14 जुलाई 2004.
62. डगलस ऐडम्स, द हिचहाइकर्स गाइड टू द गैलेक्सी (वोगोंस वह अंतरिक्षीय प्रजाति है जिसे अंतरिक्षीय पिंडों के बीच स्वतंत्र आवाजाही के लिए धरती को रास्ते से हटाने का काम सौंपा गया है. उपन्यास में ये पात्र भयानक निर्ममता और बेजोड़ नौकरशाहना निस्संगता का व्यवहार करते दिखाई देते हैं), लंदन, बेलेन्टाइन बुक्स, 1997, पुनर्प्रकाशित.
63. एस. पी. चौधरी एवं एम. सी. शर्मा, मोहन सिंह प्लेस स्थित *इंडिया कॉफ़ी हाउस* में शोधकर्ताओं के साथ हुई बातचीत, 25 जून 2004.
64. आर. एस. यादव, मोहन सिंह प्लेस स्थित *इंडिया कॉफ़ी हाउस* में शोधकर्ताओं के साथ बातचीत, 25 जून 2004.
65. के. टी. रवींद्रन, *स्कूल ऑफ़ प्लैनिंग ऐण्ड आर्किटेक्चर*, आईटीओ में शोधकर्ताओं के साथ बातचीत (के. टी. रवींद्रन इस संस्थान में अर्बन डिज़ाइन विषय के प्रोफ़ेसर हैं), 28 जून 2004.
66. क्रिस जॉनसन, *ज्योमेट्रीज़ ऑफ़ पॉवरः इम्पीरियल सिटीज़ ऑफ़ डेल्ही*, सिडनी, सिडनी विश्वविद्यालय 2002.
67. एल. कार्ल ब्राउन, *रिलीजन ऐण्ड द स्टेट – द मुस्लिम एप्रोच टू पॉलिटिक्स* (1913 में कानपुर, म्युनिसिपल काउंसिल ने सड़क बनाने के लिए एक मस्जिद के प्रक्षालन गृह को तोड़ने का फ़ैसला लिया था. इसके जवाब में स्थानीय उलेमाओं ने फ़तवा जारी करके कहा कि प्रक्षालन गृह को तोड़ना खुद मस्जिद को तोड़ने के समान है. आधुनिक युग में मुस्लिम विश्व के विभिन्न हिस्सों में इस तरह के हालात कई बार पैदा हुए हैं। यहाँ भी इस फ़ैसले का विरोध हुआ फलस्वरूप दंगे होने लगे, जिन्हें कुचलने के लिए पुलिस का सहारा लेना पड़ा और उसमें कुछ

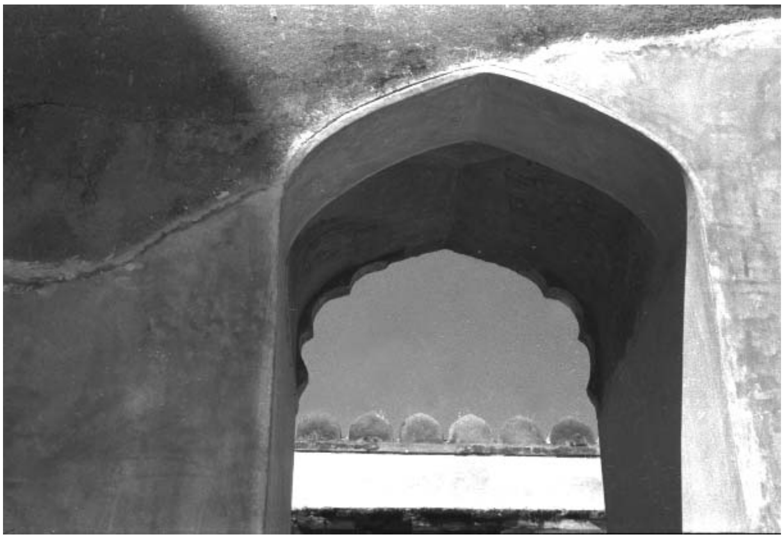
लोगों की जान भी गई. बाद में ब्रिटिश वायसराय लॉर्ड हार्डिंग के फ़ैसले के बाद इस विवाद का अंत हुआ. हार्डिंग खुद कानपुर आए और उन्होंने नगर पालिका के फ़ैसले को रद्द कर दिया), कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, 2000.

68. *जनपथ* और *टेन्ट*, दोनों कॉफ़ी हाउसों में तयशुदा और ग़ैर-तयशुदा मुशायरे और कविता पाठ का आयोजन एक सामान्य घटना थी. इस तरह का एक मशहूर स्वतःस्फूर्त मुशायरा पचास के दशक की शुरुआत में उस समय हुआ था जब पाकिस्तानी कवियों के एक समूह ने जनपथ कॉफ़ी हाउस में खुद कविताएँ शुरू कर दीं. फिर तो घंटों तक दोनों देशों के कवि कविताएँ सुनाते रहे.

69. नांगिया, जयपाल, *'कॉफ़ी एनीवन'*, अप्रकाशित.

कुछ सराय/की

रवीन्द्र कुमार



दिल्ली के चाँदनी चौक में फ्रांसीसी यात्री बर्नियर खड़ा था और सामने बनी हुई बेगम की सराय को कुछ विस्मय की दृष्टि से देख रहा था। दोमंज़िला सराय एक विशालकाय भवन के रूप में उसे चकित भी कर रही थी और मन ही मन वह अपने देश की राजधानी पेरिस से इस भवन की तुलना भी कर रहा था। हर दिन की तरह रात में जब थक कर वह सोने के लिए जाता था तब दिन भर घटी हुई घटनाओं को जल्दी-जल्दी याद कर दोहराता था। जो उसे महत्व की बात लगती थी उसे अपनी डायरी में दर्ज भी कर लेता था। लगता था बेगम की सराय ने उसके मन पर गहरा असर छोड़ा था। 1663 में हिन्दुस्तान के अपने संस्मरण बर्नियर ने एक पत्र के रूप में अपने मित्र वाएर के लिए दर्ज किए थे। पहली जुलाई को लिखे गए इस पत्र में उसने हिन्दुस्तान की दो राजधानियों, दिल्ली और आगरा के विषय में विस्तार से विवरण दिया था। शहंशाह के दरबार और उससे संबंधित रोचक वृत्तांत के साथ ही बर्नियर ने बेगम की सराय के विषय में भी विस्तार से लिखा थाः "नगर के दो भवनों का मैं विशेष रूप से उल्लेख करना चाहूँगा। एक है नगर की सबसे प्रमुख मस्जिद जो आबादी के बीच एक ऊँची चट्टान पर बनाई गई है और दूर से भी किसी को स्पष्ट नज़र आती है। दिल्ली नगर निगम का दूसरा क़ाबिलेग़ौर भवन कारवाँसराय कहलाता है — शहज़ादी की कारवाँसराय। इसकी तामीर शाहजहाँ बादशाह की बड़ी बेटी ने करवाई थी, जिनको दिल्ली के मुग़ल साम्राज्य के दीगर बाशिन्दे बेगम साहब के अदबी तख़ल्लुस से नवाज़ते हैं। यह कारवाँसराय एक विशालकाय चौकोर भवन के रूप में है जिसके चारों ओर मेहराबदार बरामदे फैले हुए हैं। ये दूर तक फैली मेहराबें हमारे राजमहल की तरह ही हैं। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि इस कारवाँसराय की हर मेहराब एक-दूसरे से एक दरम्यानी दीवार से अलग कर दी गई है ताकि इनको कमरे की शक्ल में आसानी से इस्तेमाल किया जा सके। दरअसल हर मेहराब के पीछे अन्दर की तरफ़ एक कमरा खुलता है जिसको सामने की मेहराब के सामने जोड़कर पूरी तरह रिहायशी इकाई बन जाती है। इन मेहराबों के ऊपर, दूसरी मंज़िल पर भी, इसी शक्ल की लम्बी गैलरी बनी हुई है जो भवन के चारों ओर फैल जाती है। जैसे नीचे की मंज़िल में कमरे हैं ठीक उसी तरह ऊपर की मंज़िल में भी कमरे बने हुए हैं।" बर्नियर आगे लिखता है : "यह कारवाँसराय

उन अमीर व्यापारियों के ठहरने की जगह है जो दिल्ली में ईरान, उज़्बेकिस्तान जैसे सुदूर प्रदेशों से व्यापार के मक़सद से आते हैं। आम तौर पर इस कारवाँसराय के ख़ाली कमरे ये व्यापारी किराए पर ले लेते हैं और अपनी ज़रूरतों के अनुसार कमरों को सजा लेते हैं। यहाँ अपना क़ीमती सामान ये लोग पूरी हिफ़ाज़त से रख सकते हैं और रात के समय कारवाँसराय का दरवाज़ा बन्द हो जाने के बाद भयरहित निद्रा का आनन्द ले सकते हैं। यदि पेरिस में भी इसी प्रकार के कई भवन होते, जो कि नगर के विभिन्न भागों में बने होते, तो नगर में बाहर से आने वाले अजनबियों को आज के मुक़ाबले कहीं कम मुसीबतों का सामना करना पड़ता। नगर में अपने प्रथम आगमन के साथ ऐसे लोग कुछ दिनों के लिए सुगमतापूर्वक, ऐसे भवनों में रुक सकते और लम्बे प्रवास के लिए अपने परिचितों का पता-ठिकाना आसानी से तलाश कर सकते। इस तरह के भवन विदेशी व्यापारियों को अपना सामान सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक भंडारण की सुविधा भी देते तथा अनेक प्रकार की सामग्री पेरिस के नगरवासियों के लिए उपलब्ध कराने की पहल भी करते।"

दिल्ली की बेगम साहब की कारवाँसराय की यह छवि बर्नियर के मन पर काफ़ी गहरे में अंकित हो गई थी। आगरा नगर का वृत्तांत लिखते समय भी वह हिन्दुस्तान के कारवाँसरायों का महत्व अंकित करना नहीं भूला। उसने लिखाः "हिन्दुस्तान के बादशाहों का आगरा प्रिय निवास-स्थल था और यहाँ वे लोग (दिल्ली की तुलना में) अधिक समय तक टिके रहे थे। अकबर के समय से आगरा की काफ़ी उन्नति हुई थी और अकबराबाद के नए नाम से संबोधित यह नगर दिल्ली की तुलना में निश्चित रूप से अधिक बड़े क्षेत्रफल में बसा हुआ था। यहाँ उमराओं और राजाओं के भव्य निवास भवन थे और व्यक्तिगत तौर पर भी बनने वाले निवास-स्थान उत्तम क़िस्म के पत्थरों और पक्की ईंटों से बनाए गए थे। यहाँ की कारवाँसराएँ भी सुविधा तथा संख्या, दोनों दृष्टि से, दिल्ली से बेहतर थीं।" शायद कुछ दिनों पहले लिखे गए एक अन्य पत्र में कारवाँसरायों के विषय में दिए गए अपने मंतव्य से बर्नियर अब सहमत नहीं था — विशेषकर दिल्ली की बेगम साहब की कारवाँसराय और आगरा नगर की कारवाँसरायों को देखने के बाद उसकी मनःस्थिति बदल गई थी। यह पहले का पत्र फ्रांस के वित्त मंत्री कोलबर्ट को हिन्दुस्तान का जायज़ा देने के लिए बर्नियर द्वारा कुछ समय पूर्व लिखा गया था और पूरब की इन इमारतों के लिए हिक़ारत-पूर्ण शब्दों का प्रयोग किया गया था। कारवाँसरायों को खलिहानों के साथ बनी भुसौरियों जैसा तंग और घुटन वाले स्थान के रूप में बयान किया गया था। बर्नियर के नज़रिए में यह बदलाव, ख़ासकर सराय की इमारतों के विषय में, बेबुनियाद और क्षणिक भावावेश की देन के रूप में नहीं देखा जा सकता। चाँदनी चौक की ख़ूबसूरत कारवाँसराय को देखकर ही बर्नियर ने अपनी राय बदली थी। वहाँ की चहल-पहल, रौनक़, अमीर ईरानी, उज़्बेकी व्यापारियों के वैभव ने ही उसे यह लिखने के लिए प्रेरित किया था कि काश ऐसी कारवाँसराएँ पेरिस में भी होतीं। हिन्दुस्तान के बड़े शहरों में लगभग चाँदनी चौक जैसी ही सराएँ बनने लगी थीं और मुग़ल काल का बीच का समय हिन्दुस्तान के अलग-अलग हिस्सों से यात्रा करने वाले व्यापारियों तथा विदेशी व्यापारियों की सुविधा के लिए ऐसी सरायों के तामीर का एक अहम समय था।

एक संस्था के रूप में सराएँ असल में मध्य एशिया तथा तुर्की सुल्तानों की हुकूमत क़ायम होने के साथ यहाँ भी प्रवेश कर चुकी थीं। इस आरंभिक काल में — सरायों के हिन्दुस्तान में इतिहास के संदर्भ में — हमें दिल्ली नगर के मुहानों पर बनी हुई सरायों के मेवाती लुटेरों द्वारा बलबन के शासन काल में लूटे जाने के उल्लेख मिलते हैं। ज़ाहिर है कि शहर की सीमाओं पर बनी हुई इन सरायों में हिफ़ाज़त के इतने इन्तज़ाम करना आसान नहीं था जिससे मेवातियों की लूटपाट से इन्हें बचाया जा सके। ज़ियाउद्दीन बरनी, जिसने चौदहवीं शताब्दी में मुहम्मद तुग़लक के शासन काल में दिल्ली सल्तनत का ऐतिहासिक वृत्तांत लिखा है, मेवातियों की इस लूटपाट का ज़िक्र करते समय लिखता है कि उसे अपने पूर्वजों से पता चला था कि सुलतान बलबन ने बहुत कड़ाई से मेवातियों का दमन किया था। नतीजा यह हुआ था कि फिर कभी दिल्ली शहर की सरहद पर इस तरह के हमले मेवातियों ने नहीं किए।

सरायें यात्रा करने वाले मुसाफ़िरों के रास्ते में ठहरने के लिए समुचित प्रावधान करने के उद्देश्य से बनवाई जाती थीं। हिन्दुस्तान में जिस शक्ल में यह संस्था तुर्कों के शासन के साथ आई उसकी इमारती तफ़्सील और बन्दोबस्त के बारे में सबसे अधिक जानकारी शेरशाह सूरी के शासनकाल से संबंधित इतिहास में और फिर मुग़ल

बादशाहों से संबंधित इतिहास में पायी जाती है। सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध आते-आते सरायें एक सुव्यवस्थित संस्था के रूप में पूरी तरह विकसित हो चुकी थीं और स्थान तथा आवश्यकता के अनुसार इनके संरचनात्मक स्वरूप में परिवर्तन भी परिलक्षित होने लगे थे। हिन्दुस्तान के बड़े शहरों में बनने वाली सराएँ आमतौर पर सुदूर प्रांतों अथवा देशों से आने वाले यात्रियों की तात्कालिक आवास व्यवस्था की आवश्यकता की पूर्ति को ध्यान में रखकर बनाई जाती थीं। बर्नियर के वृत्तांत से हमें इनके विन्यास तथा इनके अन्दर उपलब्ध आवासीय स्थान एवं भंडारण व्यवस्था का स्पष्ट संकेत मिलता है। सराय विन्यास में प्रायः चौकोर रूपरेखा का प्रयोग किया जाता था जो स्थान विशेष की ज़रूरतों के अनुसार वर्गाकार अथवा आयताकार हो सकता था। सराय की इमारत चारों ओर से एक परकोटे से घिरी होती थी। इस परकोटे की किसी एक अथवा दो दीवारों में प्रवेश-द्वार बनाया जाता था। यदि प्रवेश-द्वार दो दीवारों में होता था तो आमतौर पर आमने-सामने की दीवारों का प्रयोग होता था। सराय के यह प्रवेश-द्वार काफ़ी बड़े आकार के दो-मंज़िला भवन के रूप में बनाए जाते थे जिससे सराय में आने-जाने वाले सामान इत्यादि का विस्तृत विवरण अंकित करने वाले कार्यालय को इसी भवन में सुचारू रूप से चलाया जा सके। प्रवेश-द्वार की ऊपरी मंज़िल पर बने हुए कमरे तथा अन्य स्थान सराय की व्यवस्था संभालने वाले कार्यकर्त्ताओं की आवासीय आवश्यकता की पूर्ति करते थे। प्रवेश-द्वार के मध्य से होकर गुज़रने वाला रास्ता सराय के परकोटे के अंदर अवस्थित विस्तृत खुले स्थान में आगन्तुकों को ला खड़ा करता था। परकोटे की भीतरी दीवारों के साथ लगकर कमरों की शृंखला बनाई जाती थी जो स्थान की उपलब्धता के अनुसार एक अथवा दो इकाइयों से जुड़कर तैयार होती थी। कभी-कभी दो इकाइयों के अतिरिक्त एक लम्बी गैलरी भी इन कमरों के सामने से होकर चारों ओर गुज़रती थी। जिन दीवारों में प्रवेश-द्वार होते थे उनमें भी बची हुई जगह में कमरे बनाए जाते थे।

सराय के बीच में छोड़ा गया खुला आंगन विविध प्रयोग में लाया जाता था। गरमी के दिनों में मुसाफ़िरों के सोने के लिए, समृद्ध यात्रियों के साथ आयी गाड़ियाँ रखने के लिए, उनकी सवारी के जानवरों को बाँधने के लिए और कभी-कभी जब सराय का प्रयोग राज्य के बड़े अधिकारियों एवं कुलीन वर्ग के सदस्यों द्वारा किया जाता था, तब उनके आवास के लिए समुचित शिविर लगाने के लिए आंगन का प्रयोग होता था। बड़े आकार के सराय भवनों में सौ-डेढ़ सौ तक कमरे होते थे एवं यह कमरे दो-मंज़िला भी होते थे। पटना नगर में बनी हुई सराय के दो-मंज़िला कमरों में ठहरने वाले ईरानी यात्रियों का विस्तार से उल्लेख पीटर मुंडी नामक यात्री करता है। पीटर मुंडी इटली का मूल निवासी था तथा शाहजहाँ के शासन काल में भारत यात्रा पर आया था। सराय के खुले आंगन में पानी के लिए एक या दो पक्के कुएँ होते थे तथा कभी-कभी एक छोटे आकार की मस्जिद भी यहीं बना दी जाती थी जिसका प्रयोग सराय में स्थायी रूप से रहने वाले कर्मचारी तथा सराय में ठहरने वाले यात्री समान रूप से इबादत के लिए करते थे। बड़े नगरों के अन्दर बनने वाली सरायों में कभी-कभी इस खुले स्थान का उपयोग साप्ताहिक अथवा दैनिक बाज़ार के लिए भी किया जाता था। यहाँ विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ जिनके सराय में ठहरे हुए मुसाफ़िर ख़रीदार हो सकते थे, विक्रय के लिए दिन में लायी जाती थीं तथा शाम होते-होते बाज़ार समेट दिया जाता था। पंजाब में लुधियाना के निकट बनी हुई सराय दोराहा में तो दुकानों को निर्धारित करने के लिए पक्के चबूतरे इस खुले स्थान में बना दिए गए थे जिन पर अपने सामान के साथ विक्रेता सुगमतापूर्वक बैठ सकता था।

सराय की इमारतों में व्यापारियों का सामान सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक भंडारण-व्यवस्था प्रायः सराय के चारों कोनों पर उपलब्ध स्थान में की जाती थी। बाहर से कोनों के यह स्थान गोलाकार अथवा अष्टभुजी बुर्ज़ के रूप में बनाए जाते थे। इन बुर्ज़ों के अन्दर की जगह भंडार गृह के रूप में प्रयुक्त होती थी। बड़े आकार के सराय भवनों में किसी एक कोने में स्थित यह स्थान हम्माम बनाने के लिए भी प्रयोग में लाया जाता था। सराय दोराहा, जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है तथा आगरा नगर के अन्दर स्थित छीपीटोला मुहल्ले में बनी



हुई सराय में हम्माम आज भी बना हुआ है। महाराष्ट्र तथा गुजरात की सीमा पर स्थित नवानगार नामक मंझोले नगर में बनाई गई सराय में हम्माम की संरचना खुले आंगन में स्थित मस्जिद के साथ जोड़कर की गई है।

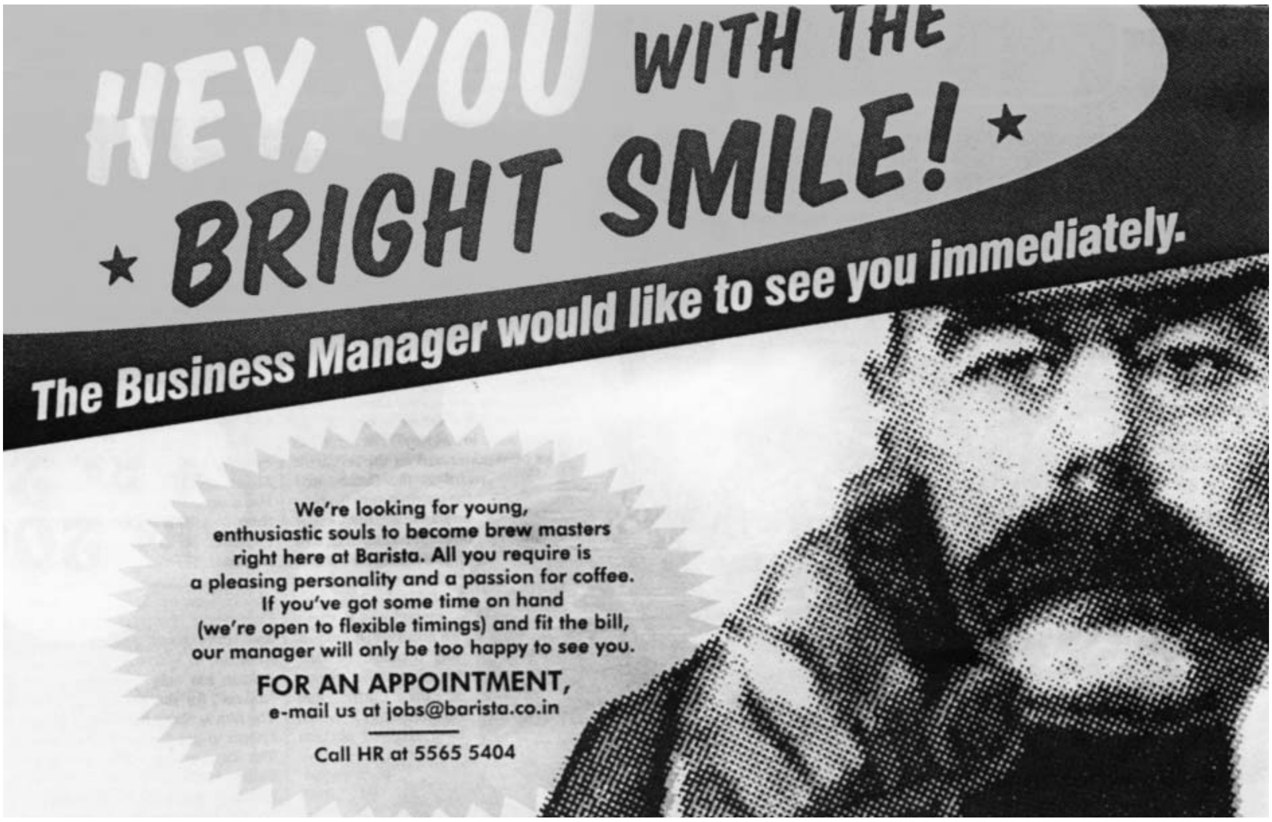
मध्यकालीन भारत में, विशेषकर सत्रहवीं शताब्दी में, हमें छोटे-बड़े सराय भवनों का एक विस्तृत रूप में फैला हुआ तंत्र देखने को मिलता है। प्रायः यह सराय भवन चारों ओर विस्तृत राजमार्गों पर अवस्थित थे तथा इस बात को ध्यान में रखकर बनाए गए थे कि एक अथवा दो दिनों की यात्रा करने के बाद यात्री सुगमता से किसी न किसी सराय में डेरा डाल सकें। मध्यकालीन भारत के, विशेषकर मुग़ल सीमा में आने वाले, बड़े नगरों में सरायों की इमारतें विशालकाय होती थीं तथा नगर के प्रवेश स्थान एवं नगर के मध्य कहीं, स्थित होती थीं। दिल्ली जैसे बड़े नगर में आने वाले तमाम तरह के यात्रियों के लिए कई ऐसी बड़ी सरायों की आवश्यकता थी। अलग-अलग शासनकालों में बनने वाली यह बड़ी सराएँ दिल्ली में प्रत्येक दिशा में प्रवेश करने वाले द्वारों पर अवस्थित थीं। उत्तर दिशा से आने वाले राजमार्ग के नगर प्रवेश स्थल के समीप ही बादली की विशाल सराय स्थित थी। इस विशालकाय भवन के बादली गाँव में स्थित होने के कारण ही यह सराय "बादली की सराय" नाम से जानी जाती थी। अठारह सौ सत्तावन के विप्लव में बादली की सराय का प्रयोग विप्लवकारियों द्वारा एक क़िले के रूप में किया गया था। चारों ओर से ऊँचे परकोटे से घिरे होने के कारण तथा मज़बूत प्रवेश भवनों के कारण इसके अन्दर पर्याप्त सुरक्षा उपलब्ध थी। विप्लव के असफल होने के बाद इस सराय को अंग्रेज़ी सेना ने तोपों से उड़ाने का प्रयत्न किया। परिणाम के रूप में परकोटे की दीवार तथा उसके साथ बने हुए कमरे ध्वस्त हो गए। परन्तु दोनों ऊँचे प्रवेश-द्वार भवनों को पूरी तरह गिराना संभव नहीं हो पाया। आज भी आज़ादपुर से थोड़ा आगे बादली की सराय के दोनों प्रवेश-द्वार खड़े हुए हैं।

पूर्व से दिल्ली में प्रवेश के लिए शाहदरा में बड़ी सराय बनाई गई थी। इसी प्रकार पश्चिम दिशा से नगर के प्रवेश स्थल पर पालम के समीप एक विशालकाय सराय स्थित थी। इसी सराय के दोनों प्रवेश-द्वार अब भी कमोबेश अपने मूल स्वरूप में देखे जा सकते हैं। सराय के कमरों का अब रिहायश के लिए इस प्रकार प्रयोग कर लिया गया है कि उनकी मूल पहचान उपलब्ध नहीं है। महरमनगर बस्ती की इस सराय के साथ ही लगा हुआ एक अन्य आयताकार स्थान था जिसके अन्दर कुछेक भवन बने हुए थे। इस स्थान का प्रयोग बाज़ार के लिए किए जाने का वृत्तांत मिलता है। ऐसा लगता है कि इस स्थान पर दैनिक बाज़ार के बजाय अधिक स्थायी रूप से विक्रेता अपना सामान व्यवस्थित करते थे तथा सराय के यात्रियों के साथ-साथ आसपास की आबादी के लिए भी इस बाज़ार से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ ख़रीदने की सुविधा थी।

दिल्ली के दक्षिणी प्रवेश-द्वार के पास औरंगज़ेब के बड़े मनसबदार बख़्तावर ख़ाँ द्वारा बहुत बड़ी सराय का निर्माण करवाया गया था। यह सराय दो बड़े प्रांगणों को जोड़कर बनाई गई थी। दोनों प्रांगण समान रूप से सुविधासंपन्न होने के साथ ही स्वतंत्र इमारतों के रूप में भी प्रयोग में लाए जा सकते थे। आवश्यकतानुसार दोनों भागों को, बीच में बने प्रवेश द्वार को खोलकर एक साथ प्रयोग में लाया जा सकता था। इसके अतिरिक्त दोनों भागों को, बीच में बने प्रवेश द्वार को खोलकर एक साथ प्रयोग में लाया जा सकता था। इसके अतिरिक्त दोनों भागों में अपने-अपने अलग प्रवेश द्वार के पास ही एक ऊँचे चबूतरे पर बड़ी मस्जिद भी बनाई गई थी। स्पष्ट है कि यह मस्जिद प्रवेश द्वार के पास होने के कारण, सराय में रुकने वाले यात्रियों तथा सराय कर्मचारियों के साथ-साथ आसपास की बस्तियों में रहने वाले लोगों के लिए भी सुविधाजनक थी। बख़्तावर ख़ाँ की यह सराय आज भी अच्छी हालत में खड़ी हुई है और महरमनगर की सराय की भाँति ही एक बड़ी बस्ती को समाए हुए है जो बख़्तावर नगर कहलाती है। दिल्ली से आगरा जाने वाले राजमार्ग पर बदरपुर के पास सड़क के बायीं ओर ही यह इमारत देखी जा सकती है। इसकी मस्जिद इतनी ऊँची बनाई गई है कि दूर से ही नज़र आ जाती है। पहले यह राजमार्ग इस सराय के बीच से होकर ही गुज़रता था, पर आबादी बढ़ते जाने के कारण इसे हटाकर मौजूदा स्थान पर ला दिया गया है। दिल्ली के चारों प्रवेश स्थलों पर बनी हुई इन सरायों में तत्कालीन समय की बहुत सी पहचानें समाई हुई हैं। यहाँ की चहल-पहल, सराय के यात्रियों की अनेकरूपता तथा कर्मचारियों के साथ उनके संबंध, इन सबसे उपजा एक अलग प्रकार का समाज — कितने ही ऐसे पहलू हैं जो *दीवान-ए-सराय* के अलग-अलग अध्याय बनने की संभावना रखते हैं। पर वह सब फिर कभी।

हैमबर्गरियों का बेमुरव्वत श्रमशास्त्र

सैयद ख़ालिद जमाल



रिसर्च का अपना ही एक लुत्फ़ होता है। यह एक ऐसा तजुर्बा है जिसकी गहराई अकसर टॉपिक की हदों से कहीं ज़्यादा होती है।

मैंने अपनी रिसर्च फ़ास्ट फूड श्रृंखलाओं पर की है। उनमें काम करने वालों, उनके काम करने के ढंग, उनके रहन-सहन, उनकी तकलीफ़ों और उनके ख़्वाबों पर।

इस रिसर्च के लिए मैंने ख़ुद अपने आपको उनसे जोड़ लिया – उनका सहकर्मी बनकर। कहने का मतलब ये कि मैंने पार्टिसिपेटरी ऑब्ज़र्वेशन रिसर्च मेथड का सहारा लिया। असल में मेरे पास यही एक तरीक़ा था 'इस जगह' और 'यहाँ' काम करने वाले लोगों को जानने का। इस बात को समझने में मुझे लगभग पंद्रह दिन लग गए। पंद्रह दिन तक मैं इन चेन्स में जाता रहा और वहाँ काम करने वालों को हल्के-फुल्के अंदाज़ में 'टटोलता' रहा। मगर धीरे-धीरे मैं अच्छी तरह समझ गया कि ये लोग जो भी बात करते हैं, चाहे वह उनकी 'राय' हो या फिर कोई बहस, सब कुछ एक रटी-रटायी 'स्क्रिप्ट' सी होती है। यह स्क्रिप्ट उन्हें हर घंटे, दो घंटे बाद उनके

मैनेजर से मिलती रहती है। एक बात जो मैंने महसूस की वह यह थी कि जैसे ही मैं उनसे 'काम' के बारे में पूछता हूँ तो वह 'कटने' की कोशिश करने लगते हैं। कभी-कभी ऐसा लगता जैसे ये लोग मुझे अपने प्रतिद्वंद्वी का जासूस समझ रहे हों और इसलिए मुझे प्यार से 'शिव शिव' कहते हुए अपने आपको मुझसे दूर खींचते।

बहरहाल, मैंने उनके साथ काम किया और डट कर काम किया। यहाँ ज़्यादातर लोग मेरी ही उम्र के थे — 20-25 साल के। मेरी ही तरह मध्यवर्गीय परिवारों से ताल्लुक़ रखने वाले। उनके शौक़ भी फ़िल्मों, अच्छे कपड़ों और ज़्यादा से ज़्यादा पैसा कमाने की चाहत तक ही थे। दो गाहकों के बीच अकसर मिल जाने वाले ख़ाली वक़्त में वह भी अपनी उम्र के बाक़ी लड़के-लड़कियों की तरह छोटी-छोटी बातें कर लेते थे। उनकी दुनिया का दायरा भी ज़िंदगी की रोज़-ब-रोज़ जद्दोजहद, माँ-बाप की उम्मीदों के दबाव, सुन्दर लड़कियों की चाहत और फ़र्राटेदार अंग्रेज़ी, जो उनके कपड़ों से कहीं अधिक 'भारी' और 'बड़ी' लगती थी, तक ही सीमित था।

मगर, उन्हें अपनी यह ज़िन्दगी, जो 'अपनी मर्ज़ी' और 'अपनी आज़ादी' का नाम है, मिलती थी दो ऑर्डर्स के बीच, कभी दो पिज़्ज़ा के बीच, तो कभी दो कॉफ़ी के बीच और कभी-कभी दो सैंडविच के बीच।

दो सैंडविच के बीच ज़िन्दगी, कितना अजीब है — 'ज़िन्दगी' ख़ुद सैंडविच हो गई है — दो सैंडविच के बीच। ख़ैर काम जारी रहा।

'काम', इन फ़ॉस्ट फ़ूड चेन्स में लगभग एक जैसा है। पिज़्ज़ा हट हो, पिज़्ज़ा कॉर्नर हो या बरिस्ता हो — बस मेन्यू बदलता रहता है, 'काम' का 'ज़ायका' वही रहता है। वही 8-9 घंटे की शिफ़्ट, जो अकसर 12 घंटे तक खिंच जाती है, 2000 से 3000 रुपये की पगार, रंगीन दीवारें, अंग्रेज़ी गाने और उन्हें गुनगुनाने वाले लोग, अपने रंगीन कपड़ों में लिपटे अपने एक अलग 'ऐक्सेंट' के साथ महँगे-महँगे फ़र्नीचरों पर विराजमान।

इस पूरी जगह का हिस्सा बने रहना वाक़ई एक तजुर्बा रहा, जिसने यहाँ काम करने वालों के लिए मेरे दिल में सदा के लिए एक अहम जगह बना दी है।

अपनी इस नई ज़िन्दगी में मैं एक रिसर्चर भी था और एक एम्प्लॉयी भी। यह मैं पहले दिन से जानता था और मेरा पूरा नज़रिया इन्हीं दो पैमानों से गुज़रता है। ऐसी बहुत सी चीज़ें थीं जो मैं बारीकी से इसलिए समझ पाता था, या समझ पाने की कोशिश करता था, क्योंकि मैं एक रिसर्चर था और बहुत सी चीज़ें थीं जो मैं इसलिए जान पाता था क्योंकि मैं वहाँ का कर्मचारी था, एक सहकर्मी था, कुछ लोगों की नज़रों में अच्छी अंग्रेज़ी बोलता था तो कुछ औरों के लिए मैं 'ज़िन्दगी' में आगे बढ़ रहा था क्योंकि मैं साथ में पढ़ाई भी कर रहा था।

पूरी रिसर्च में मैंने कोशिश की कि एक रिसर्चर और एक एम्प्लॉयी के बीच सदा संतुलन बनाए रखूँ। और मैं अपनी इस कोशिश में ख़ासा कामयाब भी हुआ — हालाँकि हमेशा नहीं। कभी-कभी किंकर्तव्यविमूढ़ता की सी स्थिति भी आई। जैसे कि ये —

काम करते हुए बहुत से हमउम्र कस्टमर्स से दोस्ती हुई। वो भी पढ़ते थे, मैं भी और कुछ एक जैसे शौक़ भी थे। अकसर मेरे ये दोस्त मुझे एक बेहतर नौकरी देने की बात करते थे। मेरा सी.वी. माँगते थे। बातें आगे बढ़ती थीं और ख़त्म हो जाती थीं। एक रविवार की शाम, जब दुकान खचाखच भरी थी, मेरे ऐसे ही कुछ दोस्त आए और बैठ गए। मैं अपना काम कर रहा था, और वो मुझे देख रहे थे। मैं इसलिए कह सकता हूँ क्योंकि मैं भी उन्हें देख रहा था, बिना उनके जाने। एक रिसर्चर की नज़र से। कुछ देर बाद मैं फ़्री हुआ और उनसे मिल गया। कुछ कॉलेज की बातें हुईं और फिर अचानक, मेरा एक दोस्त... मुझसे पूछ पड़ा कि 'मुझे' कैसा लगता है यहाँ काम करते हुए। उसके लिए यह एक सीधा-सादा सवाल था। लेकिन उसके इस सीधे-सादे सवाल ने हिलाकर रख दिया मुझे। अपनी रिसर्च शुरू करने से पहले जब मैं इन फ़ास्ट फ़ूड चेन्स में जाता था तो मेरे दिमाग़ में भी यह सवाल आता था — 'कैसा लगता है इन्हें, यहाँ काम करते हुए?' आज मैं 'इनमें' से एक था और मुझे सवाल नहीं जवाब देना था। मैं नहीं समझ पा रहा था कि जिस सवाल को ढूँढने मैं यहाँ आया हूँ, उसका सवाल मैं ख़ुद कैसे दूँ और अगर दूँ भी तो किस हैसियत से — एक दोस्त की हैसियत से या एक रिसर्चर होने के नाते या फिर एक एम्प्लॉयी होने के नाते। रविवार की शाम को उस सीधे-सादे सवाल ने मानो मुझे कई इन्सानों में बाँट दिया। मेरा दिमाग़ अब सिर्फ़ एक आदमी की तरह नहीं सोच रहा था। अब कई प्वाइंट

ऑफ़ व्यू पैदा हो गए थे। फ़िलॉसफ़ी की भाषा में कहूँ तो कई वैंटेज प्वाइंट मिल गए थे, एक ही चीज़ को देखने के।

और मैं समझता हूँ कि अगर आप एक ही चीज़ को कई तरह से देखने की क्षमता रखते हैं तो आप तजुर्बेकार हैं वरना नहीं। इसलिए मैं कहता हूँ कि रिसर्च एक तजुरबा है जो मैंने महसूस किया और जो मैं आपसे अगले कुछ पन्नों में शेयर कर रहा हूँ। मैंने बहुत सी ऐसी चीज़ें महसूस कीं जो मैं लिख पाया लेकिन बहुत कुछ नहीं भी लिख पाया।

न लिखने के बस दो ही कारण हैं — पहला ये कि शायद मेरे पास उन अनुभवों को शब्दों में तब्दील करने की क्षमता नहीं है (कम से कम अभी तक तो नहीं है) या फिर मैं ख़ुद को.... अभी ये नहीं समझ पाया हूँ कि मुझे 'किसी' चीज़ का अहसास हुआ है और मुझे उसके बारे में लिखना चाहिए।

ख़ैर, मेरा 'काम' जारी है और मुझे उम्मीद है कि मैं अपने नए अहसासों के बारे में आगे भी लिख पाऊँगा और उन 'अनजाने' अहसासों की भी शिनाख़्त कर पाऊँगा और उन्हें लफ़्ज़ों में तब्दील भी कर पाऊंगा, जिन्हें मैं अभी नहीं पकड़ पा रहा हूँ।

परिचय

बहरहाल, अपने अध्ययन के दौरान मैंने सहभागी प्रेक्षण का तरीक़ा अपनाने का फैसला किया। अपने शोध के शुरुआती दौर में ही मैंने महसूस कर लिया था कि फ़ास्ट फूड चेन में काम करने वाले अपनी नौकरी-चाकरी और अपने काम के माहौल के बारे में बात करते हुए शंकालु और भयभीत रहते हैं। कई बार ऐसा लगता था मानो मैं किसी प्रतिस्पर्धी दुकान के लिए जासूसी कर रहा हूँ। जब ऐसी स्थिति पैदा हो जाती तो वह अपनी ज़िंदगी और कामकाज के बारे में बहुत सारे तथ्यों को या तो बढ़ा-चढ़ाकर पेश करने लगते या छिपाने की कोशिश करते।

इन लोगों के साथ अनौपचारिक तौर पर बातचीत का सिलसिला शुरू करने में दो मुश्किलें पेश आ रही थीं। एक तो उनकी शंकाएँ और दूसरे, उन पर काम का बोझ।

इन बातों को देखते हुए मैंने उनकी दुनिया में दाख़िल होकर, यानी उनके साथ काम करते हुए अपने लिए जगह बनाने की कोशिश की।

इस तरह मैंने भी नोएडा के पिज़्ज़ा हट में क्रू मेंबर की नौकरी के लिए अर्ज़ी भेज दी। मुझे भर्ती की पूरी क़वायद से गुज़रना पड़ा। नौकरी के लिए न केवल मैंने एक लिखित परीक्षा दी (जिसकी एक प्रति अभी भी मेरे पास है) बल्कि इंटरव्यू भी हुआ। अंततः मुझे नौकरी के लिए चुन लिया गया और मेरी पगार 3,100 रुपये माहवार तय की गई। यह पगार छः माह की प्रोबेशन यानी आज़माइश की अवधि के लिए थी। मेरी पाली सुबह 11 बजे से रात 8 बजे तक तय की गई। हफ़्ते में एक दिन छुट्टी का था और छः दिन काम के।

CHAMPS

सी	(C)	— सफ़ाई (Cleanliness)
एच	(H)	— मेज़बानी (Hospitality)
ए	(A)	— सटीकता (Accuracy)
एम	(M)	— रखरखाव (Maintenance)
पी	(P)	— उत्पाद गुणवत्ता (Product Quality)
एस	(S)	— सेवा में फुर्ती (Speed of Service)

मैंने 11 दिन तक काम किया और इस दौरान जो देखा-जाना वही मैं यहाँ पेश कर रहा हूँ।

इन फ़ास्ट फ़ूड दुकानों में मोटे तौर पर चार महकमे होते हैं और इन चारों महकमों के नीचे कुछ और छोटे महकमे भी होते हैं। सभी कामगारों को इन्हीं में से किसी एक के तहत काम दिया जाता है। ये महकमे हैंः

1. किचनः यह तीन हिस्सों में बँटा हुआ है — मेक टेबल, कट टेबल और पास्ता स्टेशन।
2. सर्विसः ऑर्डर लेने, व्यंजन परोसने और टेबल साफ़ करने का काम इसी विभाग के ज़िम्मे रहता है।
3. नक़दी
4. डिलिवरीः यह विभाग फ़ोन पर आए ऑर्डरों का हिसाब रखता है और माँग के हिसाब से चीज़ें घर भिजवाता है।

हरेक कर्मचारी को इन चारों विभागों से गुज़रना होता है ताकि वह पूरी दुकान की ज़रूरतों और अपेक्षाओं को समझ जाए। कोई आदमी कितने दिन काम करेगा इसकी कोई निश्चित अवधि नहीं होती। यह अलग-अलग कर्मचारियों के हिसाब से तय होता है। मेरी समझ यह है कि जो लोग अंग्रेज़ी फ़र्राटे से बोलना जानते हैं और जो 'मुस्कुराने' के फ़न में माहिर हो चुके हैं उन्हें सर्विसिंग का काम सौंपा जाता है क्योंकि वह ग्राहकों को आसानी से ख़ुश रख सकते हैं। जो लोग किचन के कामों में बेहतर दिखाई देते हैं वह महीनों तक वहीं बंधे रहते हैं जबकि इस काम को सबसे ज़्यादा मुश्किल माना जाता है। ये सारी बातें शिफ़्ट मैनेजर तय करता है।

ओहदे में तरक़्क़ी की क़ाबिलियत हासिल करने के लिए इन चारों 'स्टेशनों' से सफलतापूर्वक गुज़रते हुए आपको एक चैंप्स कार्ड हासिल करना पड़ता है। चैंप्स (CHAMPS) शब्द निम्नलिखित गुणों के आदि अक्षरों को लेकर बना हैः

चैंप्स बैज जारी करने वाले इंस्पेक्टर अलग होते हैं। वे महीने में दो बार दुकान का निरीक्षण करने आते हैं। ग्राहक की माफ़िक़ आकर दुकान में बैठ जाते हैं, अपना ऑर्डर देते हैं और तमाम विभागों के कामकाज को बारीकी से देखते रहते हैं। वह छोटे-छोटे नोट्स बनाते रहते हैं और कर्मचारियों को भनक भी नहीं लगने देते कि उनका मूल्यांकन हो रहा है।

इसके बाद, एक सप्ताह के भीतर संबंधित फ़ास्ट फ़ूड चेन के व्यावसायिक कार्यालय से सभी कर्मचारियों के मूल्यांकन की जानकारी भेज दी जाती है। उप-विभागों में काम करने वाले कर्मचारियों को एक्सपर्ट बिल्ले दिए जाते हैं। पिज़्ज़ा हट में एक सीएसएल — चैंप्स स्टैंडर्ड लायब्रेरी भी है।

गुणवत्ता नियंत्रण का यह काम ट्राइकॉन्स नामक कंपनी करती है। पिज़्ज़ा हट में काम करने वाले कर्मचारियों की तनख़्वाह 2,915 रुपये माहवार से शुरू होती है। इसी वेतन में से कर्मचारियों के ईएसआई और पीएफ़ का पैसा भी कट जाता है। इस तरह कुल मिलाकर 2,719 रुपये कर्मचारी के हाथ में आते हैं। यह रक़म कर्मचारी के बचत बैंक खाते में भेज दी जाती है जहाँ से कर्मचारी इस पैसे को निकाल सकता है। तनख़्वाह के भुगतान में अकसर देरी हो जाती है। काम शुरू करने से पहले कर्मचारी को दो दिन का प्रशिक्षण दिया जाता है। इस प्रशिक्षण में खानपान उद्योग और ग्राहक सेवा के बारे में लेक्चर दिए जाते हैं। दो दिन बाद आने वाली असली ज़िम्मेदारियों के बारे में व्यावहारिक प्रशिक्षण नहीं दिया जाता।

कर्मचारियों की शैक्षणिक योग्यता में काफ़ी फ़र्क़ रहता है। कुछ लोग दसवीं पास हैं तो कुछ स्नातकोत्तर तक पढ़े हुए। ज़्यादातर ऐसे हैं जो विभिन्न दूर शिक्षा कार्यक्रमों के तहत स्नातक की डिग्री ले रहे हैं।

कर्मचारियों में यह विविधता इस बात का सबूत है कि लोग तरह-तरह की वजहों से इस काम की तरफ़ आकर्षित हुए हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो सिर्फ़ थोड़ा और पैसा बनाने के लिए यहाँ काम कर रहे हैं। कई लोग इसलिए यहाँ आए हैं क्योंकि वह इस उद्योग में अपना एक करियर बनाना चाहते हैं। वह अनुभव हासिल करने के लिए यहाँ आए हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो इस कारोबार को अच्छी तरह सीख कर अपने घरेलू व्यवसाय में हाथ बँटाना चाहते हैं।

मोटे तौर पर इन दुकानों में दो तरह के कामगार हैं। अंशकालिक और पूर्णकालिक — यानी पार्ट टाइम और फ़ुल टाइम। अंशकालिक कामगार रोज़ाना चार घंटे काम करते हैं जबकि पूर्णकालिक कामगारों की पाली नौ घंटे

की होती है। अंशकालिक कामगारों को अतिरिक्त काम के लिए प्रति घंटे के हिसाब से भुगतान किया जाता है मगर पूर्णकालिक कर्मचारियों को ऐसा कोई भुगतान नहीं किया जाता।

सभी कर्मचारियों को माहवार वेतन दिया जाता है। अंशकालिक कामगारों को प्रति घंटा 17.50 रुपये (सकल 22 रुपये प्रति घंटा) मिलते हैं।

कर्मचारियों को अपनी तनख़्वाह उम्मीद से बहुत कम लगती है। आम तौर पर पूर्णकालिक कर्मचारी औसतन 7,500 रुपये माहवार की उम्मीद करते हैं जबकि अंशकालिक कामगार 50 रुपये प्रति घंटा तथा आने-जाने के भाड़े की उम्मीद करते हैं।

अपने कामकाज को लेकर कर्मचारियों में भारी असंतोष और चिढ़ रहती है मगर कोई और ज़रिया न होने के कारण वह नौकरी छोड़कर नहीं जा पाते।

इनमें से बहुत सारे कर्मचारी कॉल सेंटरों या डीएसआर संस्थानों में नौकरी के लिए हाथ-पैर मारते रहते हैं। उनमें से कुछ को इस मक़सद में कामयाबी मिल जाती है। जिन्हें कोई और नौकरी नहीं मिल पाती वह यहीं टिके रहते हैं और जो कुछ मिलता है उसी से काम चलाते रहते हैं।

इसके बावजूद फ़ास्ट फूड चेन्स में टर्नओवर (आयाराम-गयाराम) अनुपात औसतन 40 प्रतिशत से 50 प्रतिशत के आसपास रहता है।

बरिस्ता और कैफ़े कॉफ़ी डे जैसी दुकानों में भर्ती के क़ायदे-क़ानून ज़्यादा सख़्त हैं। यहाँ ऐसे उम्मीदवारों को ज़्यादा पसंद किया जाता है जो स्नातक हैं और खान-पान उद्योग में पहले से ही थोड़ा-बहुत तजुर्बा रखते हैं। वह चाहते हैं कि उनके कर्मचारी जल्दी नौकरी न छोड़ें बल्कि वहीं रहकर अपने कामकाज और प्रदर्शन में सुधार लाने की कोशिश करें। इसीलिए, इन दुकानों में सबकी ज़िम्मेदारियाँ साफ़ तौर पर बँटी हुई हैं ताकि काम के बोझ और आपसी तनावों की वजह से कोई दिक़्क़त न हो।

इन दो कॉफ़ी श्रृंखलाओं में ऐसे लोग सबसे ज़्यादा तादाद में दिखाई दिए जो होटल मैनेजमेंट की डिग्री ले चुके हैं और इसी कारोबार में टिक कर काम करना चाहते हैं।

अपनी लंबी और बोझिल पाली के कारण आम तौर पर ये युवा कर्मचारी अपने जैसे दूसरे कामकाजी समूहों से अच्छे संबंध विकसित कर लेते हैं। बार या क्लब के दरवाज़े पर तैनात किए गए चौकीदारों या गार्डों से भी उनके अच्छे संबंध बन जाते हैं। हालाँकि इन चौकीदारों और बाक़ी कर्मचारियों का काम बिल्कुल अलग-अलग होता है मगर काम की पाली एक ही होने की वजह से वह एक-दूसरे के संपर्क में आ जाते हैं। पाली ख़त्म होने के बाद दोनों साथ बैठकर अपने दुःख-दर्द बांटते हैं। मगर इन समानताओं के बावजूद उनके व्यवहार और रवैये में फ़र्क़ बना रहता है। इस फ़र्क़ के बारे में ज़्यादा विस्तार से मैं बाद में बात करूँगा।

फ़िलहाल मैं बरिस्ता में काम कर रहा हूँ जहाँ किताबों की एक दुकान भी खुली हुई है। किताबों की यह दुकान एक बड़ी पुस्तक विक्रेता कंपनी की दुकान है। दोनों ने साझा फ़ायदे के लिए एक-दूसरे का दामन थामा है।

बरिस्ता के कर्मचारियों की नज़र में मैं उन्हीं के बीच का एक आदमी हूँ। हम दिल खोल कर एक दूसरे से बात करते हैं, अपनी इच्छाओं, अनिच्छाओं, शिकायतों, उम्मीदों — हर चीज़ के बारे में एक-दूसरे को बताते हैं। हमारी परेशानियों, भविष्य की योजनाओं, घर-परिवार और बॉस से लेकर गर्ल फ्रेंड्स तक — हमारे बीच कोई चीज़ पोशीदा नहीं है।

उनके साथ काम करते हुए जो कुछ भी अनुभव मुझे हासिल हो रहे हैं, उन्हें मैं लिखता जा रहा हूँ।

आधिकारिक झूठ

9 घंटे की पाली — ज़्यादातर कर्मचारियों को अकसर शिफ़्ट शुरू होने से 2 घंटे पहले ही बुला लिया जाता है और वह शिफ़्ट ख़त्म होने के बाद भी 2-3 घंटे रुके रहते हैं। इस तरह उनकी 9 घंटे की पाली अकसर 13 घंटे की बन जाती है। इसका मतलब यह हुआ कि पूर्णकालिक कामगार हर रोज़ 4-5 घंटे की बेगारी करते हैं।
रोज़ाना पढ़ने का समय — व्यक्तित्व विकास के लिए इस उद्योग के बारे में पढ़ना और उसे समझना बहुत

ज़रूरी है। कहने को तो वहाँ एक पुस्तकालय की भी व्यवस्था है मगर कर्मचारियों को इस सुविधा का लाभ विरले ही मिल पाता है।

30 मिनट का ब्रेक — पाली के बीच में अवकाश के लिए कोई निर्धारित समय नहीं होता। अकसर ऐसा होता है कि कई कर्मचारी बिना खाये-पिये लगातार 12-12 घंटे तक काम करते रहते हैं।

नौकरी के ज़रिए एक दोस्ताना और गर्म माहौल मिलता है — अपनी पाली में कर्मचारियों को एक-दूसरे से बात करने की छूट नहीं मिलती। चाहे ग्राहक हों या न हों, वह न तो एक-दूसरे से बात कर सकते हैं और न बैठ सकते हैं।

नौकरी से उन्हें अपने व्यक्तित्व को निखारने का मौक़ा मिलता है — पदोन्नति या तनख़्वाह में इज़ाफ़े का कोई तय फ़ॉर्मूला नहीं है। सब कुछ मैनेजर की पसंद-नापसंद पर निर्भर करता है।

कर्मचारी अपनी संचार क्षमता और व्यक्तित्व में सुधार लाते है — मैनेजरों की भाषा अकसर बहुत बदतमीज़ी और गाली-गलौज भरी होती है। उनके रवैये में एक बेरहमी दिखाई देती है। वह कर्मचारियों की शिकायतों को सुनना पसंद नहीं करते।

नौकरी के लिए प्रशिक्षण — ऐसा कुछ नहीं होता!! कर्मचारियों को बस कुछ चीज़ें 'बता' दी जाती हैं और इसके बाद उन्हें काम पर झोंक दिया जाता है। वह जो कुछ सीखते हैं, काम करते हुए सीखते हैं, और अपनी शुरुआती ग़लतियों के लिए नुक़सान भी ख़ुद उठाते हैं।

साप्ताहिक छुट्टी — कर्मचारियों को छुट्टी जैसी कोई चीज़ नहीं मिलती। उन्हें कहा जाता है, "जीवन में आगे बढ़ने के लिए तुम्हें छुट्टियों की आदत छोड़नी पड़ेगी।" छुट्टी विलासिता है। लेकिन, अगर अचानक कोई ज़रूरत आ पड़े तो? इस बारे में भी मैनेजर का नज़रिया बिल्कुल साफ़ रहता है : आज की अचानक ज़रूरत कल से हर रोज़ की बात बन जाएगी। उनके कामकाज का मक़सद सिर्फ़ एक ही है... काम न करने के लिए कोई 'बहाना' नहीं होना चाहिए।

ज़्यादा काम करो, ज़्यादा कमाओ — बिल्कुल सही!! पर सिर्फ़ अंशकालिक कामगारों के लिए। पूर्णकालिक कामगारों के लिए इस बात का कोई मतलब नहीं।

प्रबंधकीय फुसलाहट — प्रलोभन के माहिर प्रबंधकों का एकमात्र उद्देश्य कर्मचारियों को राज़ी करना और उन्हें इस बात का यक़ीन दिलाना होता है कि:

>> इस काम का मक़सद उनकी ज़िंदगी को और बेहतर बनाना है,

>> इस काम का मक़सद ये है कि उनकी दुनिया और ज़्यादा सुंदर हो जाए,

>> इस काम का बोझ कम करने के लिए तकनीकी अनुसंधान किए जा रहे हैं,

>> पैसा ही सामाजिक मेल-जोल में सहजता पैदा करता है,

>> रोज़ी के लिए रोज़गार के बिना ज़िंदा रहना पाप है/निठल्ले, बैठकर खाना हराम है,

>> उनका वेतन उत्पादन में उनके योगदान के बराबर होता है,

>> सरकार, प्रबंधन और नेता — सब उन्हीं की भलाई के लिए हैं।

कर्मचारी कहता है...

>> हमें फुसलाया जा रहा है ताकि हम ख़ुद अपनी आवाज़ दबा दें।

>> हमें फुसलाया जा रहा है ताकि हम अनुशासन और मातहती में जीने के आदी और इच्छुक बन जाएँ।

>> हमें फुसलाया जा रहा है ताकि हम यक़ीन कर लें कि ग्राहक की ख़ुशी में ही हमारी ख़ुशी है।

>> हमें फुसलाया जा रहा है ताकि हम अपनी दुनिया, अपनी आज़ादी, अपने सपने भूलने के लिए तैयार हो जाएँ।

और अपने 'मौजूदा' काम में डूब जाएँ।

बेमक़सद गपबाज़ी का सफ़ाया और 'मुस्कान' की स्थापना

योगी, तरुण, नौशाद, अमित और शमीम स्कूल के ज़माने में गप्पें हाँकने में उस्ताद थे। चाहे घर हो, बस हो, ट्रेन हो या कोई सामाजिक जमावड़ा हो — उनकी बातें ख़त्म होने का नाम ही नहीं लेती थीं।

अब, काम की पाली में उन्हें अपने साथियों से बात करने की छूट नहीं है। उन्हें बता दिया गया है, "सिर्फ़ ग्राहकों से बात करो। उसके बाद मुँह पर ताला लगा लो। अगर ग्राहक नहीं है तो रेस्त्राँ में बस जमे रहो और माहौल को महसूसो, मगर बोलो कुछ मत... कुछ भी नहीं।"

योगी का कहना है, "जब से हम यहाँ आए हैं, बेहतरीन श्रोता बन गए हैं। हमें पूरे धीरज से सबकी सुनने की आदत पड़ चुकी है, या यूँ कहें कि हमें ज़बरन श्रोता बना दिया गया है।"

विज्ञान में स्नातक तरुण कहता है, "जब भी हम ज़्यादा बोलते हैं — चाहे हमारा काम ख़त्म हो चुका हो — हमें फ़ौरन अहसास हो जाता है, लगता है कि हम कोई पाप कर रहे हैं।"

इस सबके बावजूद उन्हें हमेशा अपने होंठों पर एक मुस्कान चिपकाए रखनी होती है।

... ऑर्डर लेते हुए मुस्कुराते रहो। इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि यह तुम्हारी पाली का पहला घंटा है या दसवाँ।

... ग्राहक को खाना परोसते हुए मुस्कुराते रहो। इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि तुमने अब तक नाश्ता किया है या नहीं!

... मुस्कुराते रहो और जब ग्राहक जाने लगे तो बड़ी सी मुस्कुराहट के साथ उसे थैंक्यू बोलो। इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि आज पाली के बाद भी जाने से मना कर दिया गया है, आपको दूसरी पाली के लिए रुकने का आदेश दिया जा चुका है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय से बीसीए के पहले साल की पढ़ाई कर रहे अमित का कहना है, "मुस्कुराओ ...!!! मानो हमारे चेहरे पर कोई सॉफ़्टवेयर लगा दिया गया हो, मानो हम कोई मशीन हों।"

काम का बेइंतहा बोझ

काम का भारी बोझ और समय का दबाव जल्दबाज़ी की बीमारी सी पैदा करता जा रहा है। अब ख़ाली समय एक सपना बन चुका है। ये सारे लोग सोना चाहते हैं। वह रेस्त्राँ में नहीं बल्कि घर में सोना चाहते हैं। वह कुर्सी-मेज़ पर नहीं बल्कि बिस्तर और गद्दे पर सोना चाहते हैं।

कुछ कर्मचारी पहले हर रोज़ अख़बार पढ़ते थे और सिनेमा जाते थे। अब उन्हें जो भी समय मिलता है उसमें वह सोते हैं, और जब जागते हैं ... उनकी अगली पाली का समय हो चुका होता है।

मैं सोचता हूँ कि अगर उनमें से कोई कवि होता तो क्या कविता लिखता...

मैंने सीटी सुनी है
अब मुझे भागना है
मैंने पाँच मिनट की सीटी सुनी है
समय हो चुका है
मैं काम शुरू करता हूँ
कपड़े बदलता हूँ
काम के लिए तैयार होने के वास्ते
मैं फिर कपड़े बदलता हूँ।
मुझे अपनी 'काम की वर्दी' में पेशेवर दिखना है
मैं काम करता हूँ... मैं काम करता हूँ और काम करता हूँ
जब तक ग्राहक महाराज नहीं जाते,
और जब वह चले जाते हैं, मैं भी अपना काम छोड़ देता हूँ

... मगर अपना काम ख़त्म करने से पहले...
मैं अपने काम की जगह को साफ़ और सुंदर बनाकर जाता हूँ
क्योंकि ये मेरी फ़ितरत है...
क्योंकि ये मेरी फ़ितरत है...
क्योंकि ये मेरी फ़ितरत है...। यही मेरी आदत है!

तयशुदा उलझनें

तमाम कामगारों के लिए...
आने का वक़्त तय है!
जाने का नहीं!!
ग्राहकों के उपहार तय हैं!
कर्मचारियों के नहीं!!

काम की पाली तय है!
ब्रेक नहीं!!

तनख़्वाह तय है!
वेतन वृद्धि और पदोन्नति नहीं!!

एकमात्र आदर्श वाक्य शायद यही है :
"इन छोकरों को निचोड़ कर रख दो, ये छोकरे जो पता नहीं क्यों, अब भी अपनी उम्र के सबसे ख़ूबसूरत दौर में हैं।"

ग्राहक महाराज अमर रहें

अपने ऑर्डर के इंतज़ार में बैठा ग्राहक ही तमाम कर्मचारियों के लिए सबसे बड़ी इमरजेंसी है। और कोई भी चीज़ इससे ज़्यादा अहम और ज़्यादा फ़ौरी नहीं हो सकती। पूरा माहौल, पूरा तंत्र इस 'करो या मरो' की स्थिति को समर्पित है। कर्मचारियों के भीतर भय पैदा करने के लिए भारी दंड की ज़रूरत पड़ती है। कोई छुट्टी नहीं, कोई त्यौहार नहीं, सेहत की कोई समस्या नहीं और न परिवार का कोई झंझट...। यह इन युवा कर्मचारियों को ज़्यादा से ज़्यादा निचोड़ लेने के लिए प्रबंधकों की बुनियादी मान्यताएँ हैं। यहाँ ज़िंदा रहने का एकमात्र मंत्र ग्राहक (जो भगवान से कम नहीं होता) की संतुष्टि है। अगर ग्राहक कभी-कभार गाली-गलौज कर दे तो भी पेशेवर बने रहो – दिल पर मत ले यार!!

मैनेजर तब तक ग्राहक के सामने नहीं पड़ना चाहता जब तक कोई समस्या खड़ी न हो जाए।

देर होने पर नौकरी से छुट्टी की धमकी एक आम चीज़ है।

WMDs

(With Minute Details)

इस दुनिया में हर चीज़ के मानक तय हैं ...

सब्ज़ी काटने से लेकर ऑर्डर परोसने तक हर मुमकिन चीज़ के लिए तय मानदंडों का पालन किया जाता है। मिसाल के तौर परः

सब्ज़ी	**मानक आकार**
प्याज़	8 x 24 सेंटीमीटर
टमाटर	12 x 12 सेंटीमीटर
शिमला मिर्च	8 x 24 सेंटीमीटर
मशरूम (कुकुरमुत्ता)	3 मिलीमीटर

इन मानकों को बनाए रखने के लिए कपों, क्वालिटी छल्लों, स्पूडल्स और रॉकर चाकू का कड़ाई से इस्तेमाल किया जाता है।

डिलीवरी	**टाइम**
पिज़्ज़ा	17½ मिनट
गार्लिक ब्रेड	9 मिनट
पेय पदार्थ	3 मिनट

खाना पकाने से संबंधित मानक

बेक करने के पिज़्ज़ा की ऊँचाई	15-25 सेंटीमीटर
चटनी की परत	½ इंच
रंग	सुनहरा भूरा

और अंत में पिज़्ज़ा ... "बाहर से कुरकुरा और अंदर से फुलफुला होना चाहिए।"

यदि ऑर्डर पूरा होने में देरी होती है या ग्राहकों को कोई एक उपहार (एक पिज़्ज़ा के साथ एक फ़्री या एक कप कॉफ़ी या क़ीमतों में छूट) दिया जा रहा है तो इस बारे में ग्राहकों को समय रहते बताना ज़रूरी होता है।

मानक आकार से अलग पाये जाने पर कोई भी खाद्य पदार्थ फेंक दिया जाता है।

शाकाहारी और मांसाहारी खाद्य पदार्थों के लिए टॉपिंग कप अलग-अलग होते हैं।

फल-सब्ज़ी जैसे कच्चे खाद्य पदार्थों को स्वच्छ करने के लिए 'सूमा टैप' नामक रसायन का प्रयोग किया जाता है। खाद्य पदार्थों के संपर्क में आने वाली किसी भी जगह को साफ़ करने के लिए 'सूमा बैग' का इस्तेमाल किया जाता है।

किचेन में काम करने वाले कामगारों को हर तीस मिनट में हाथ धोने की हिदायत दी जाती है।

सभी बर्तनों को प्रत्येक आधे घंटे या तीस पिज़्ज़ा – जो भी पहले हो – के बाद धो दिया जाता है।

प्रत्येक ऑर्डर के साथ एमआरडी (मेक, रेडी, डिस्काड) दस्तावेज़ चस्पाँ रहता है और उसका सख़्ती से पालन किया जाता है।

हर रोज़ 15 किलो सब्ज़ियाँ कटती हैं।

अगर कटी हुई सब्जियों का 24 घंटे में इस्तेमाल नहीं हुआ तो उन्हें फेंक दिया जाता है।

उन्हें 'वॉक-इन फ़्रिज़' में रखा जाता है जिसका तापमान 1 से 5 डिग्री सेंटीग्रेड के बीच रहता है।

चिकेन के लिए डीप फ़्रिज का इस्तेमाल किया जाता है और उसका तापमान 16 से 25 डिग्री सेंटीग्रेड के बीच रहता है।

22 जून 2004

बरिस्ता, न्यू फ्रेंड्स कॉलनी

मंगलवार, सुबह 9:40 बजे

बीस वर्षीय अरुण फ़र्श साफ़ कर रहा है। उसका यही काम है। वह पटना का है। भारत नगर, ओखला में रहता है। एक कमरे के मकान में। उसका बड़ा भाई मोटर मेकैनिक है। यही उसका पूरा परिवार है। उसके माँ-बाप तीन साल पहले गुज़र चुके हैं।

बरिस्ता अभी-अभी खुला है। टीवी चालू है। वी चैनल चल रहा है। हवा में कॉफ़ी की मशीन की आवाज़ गूँजने लगी है।

अरुण ने गहरे नीले रंग की कमीज़ और उसी रंग की पैंट व टोपी पहनी है। वह 'कॉलिन' डोर क्लीनर को बड़ी एहतियात से इस्तेमाल कर रहा है।

मेज़-कुर्सी क़रीने से लगाई जा चुकी हैं। गोल मेज़ों के इर्द-गिर्द तिकोनी कुर्सियाँ सज गई हैं। टेबल पर सीएनएन के इश्तहारी कार्ड पड़े हैं जिनमें 'गर्मागर्म कॉफ़ी के साथ रिश्ता क़ायम करने' की दावत दी गई है।

रेस्त्राँ के भीतर ही मौजूद 'द कॉर्नर बुक स्टोर' अभी खुला नहीं है। उसके काउंटर पर 6 बड़े-बड़े ताले लटक रहे हैं।

बरिस्ता के ठीक बाहर एक अख़बार वाला अपने काम पर मुस्तैद है। आते-जाते लोग अपनी ज़रूरत और पसंद की पत्र-पत्रिकाएँ या अख़बार उठाकर निकलते जा रहे हैं।

दिलजले का गाना "किसी के इश्क़ में खुद को मिटा दो... हो नहीं सकता...!!" बरिस्ता की हवा में रस घोल रहा है।

यह बड़ी असामान्य बात है। बरिस्ता में हिंदी के गाने प्रायः सुनाई नहीं देते। हाँ बरिस्ता के दो 'अधिकृत चैनल' – एमटीवी या वी चैनल – अगर कभी-कभार हिंदी गाने चला दें तो अलग बात है। महत्वपूर्ण खेल कार्यक्रम इस नियम का अपवाद हैं।

ट्रे और डेसर्ट (मीठे व्यंजन) अपनी जगह पहुँच चुके हैं। मुँह में पानी आ रहा है। अब अरुण मेज़ों पर *'ब्रू टुडे'* नामक साप्ताहिक अख़बार रख रहा है। यह बरिस्ता का अपना अख़बार है। उसके साथ एक और भी अख़बार है। यह सबके लिए मुफ़्त है। सोच कर देखिए, अगर आप बरिस्ता में न आएँ तो यही अख़बार आपको पूरे 2 रुपये का पड़ेगा!! जी हाँ, यह तोहफ़ा है।

बरिस्ता में कुल तीन कर्मचारी हैं। तीनों काउंटर पर मौजूद हैं। उम्र 21 से 25 साल के बीच। एक ट्रे सजा रहा है, दूसरा अलग-अलग जारों में कॉफ़ी बनाने का सामान भर रहा है और तीसरा कॉफ़ी की मशीन पर काम कर रहा है।

रेस्त्राँ की दीवारें बड़ी रंगीन और शोख़ हैं। यहाँ काम को "एक ऐसी चीज़ जो हम कॉफ़ी ब्रेक्स के बीच करते हैं" के रूप में परिभाषित किया गया है। मैं सोचता हूँ, क्या यहाँ के कर्मचारी भी इस परिभाषा से सहमत हैं?

शतरंज की बिसात बिछी हुई है।

चौथा कर्मचारी दाख़िल होता है। अपना थैला सही जगह पर रख देने के बाद वह कॉफ़ी शॉप के भीतर रखे पौधों में पानी डालने लगता है।

अब "सपने में मिलती है कुड़ी मेरी ..." की लय हवा में गूँजने लगी है!!

बरिस्ता के भीतर का माहौल ठंडा और तड़क-भड़क वाला है। पीच (आड़ू) के रंग का फ़र्नीचर, चमकीली रोशनियाँ, नारंगी रंग का काउंटर, पीली दीवारें, टाइलों का चिकना फ़र्श, दीवारों पर बरिस्ता (ट्रेडमार्क युक्त) पेंटिंग्स, तेज़ रोशनी में कैश काउंटर के ठीक ऊपर सुगंधित हवा में दीवार पर लगा

स्वादिष्ट कॉफ़ी मेन्यू।

काम करने वाले लड़के सिर्फ़ काम कर रहे हैं। उन्होंने आपस में अब तक कुछ नहीं कहा है। पहला फ़ोन बजता है... 9.55 बजे!!

नौशाद फ़ोन उठाता है... वह बात करते हुए लगातार दीवार पर देख रहा है, जो बता रही है कि "अब कैफ़े के मुक़ाबले धर्म बदलना ज़्यादा आसान है!"

बरिस्ता का पहला ग्राहक सुबह 9:57 बजे नमूदार होता है। और ये लीजिए दूसरा भी आ गया... महज़ 30 सेकेंड बाद।

दोनों ग्राहक अख़बार उठाकर उन पर यहाँ-वहाँ नजर डालते हैं।

ये अख़बार अरुण ने अख़बार वाले से खरीदकर यहाँ रखे हैं। इसमें भी कोई राज़ है। यहाँ सिर्फ़ *इकॉनॉमिक टाइम्स, टाइम्स ऑफ़ इंडिया* और *हिंदुस्तान टाइम्स* हैं।

मुझे बच्चों के खेल ज़्यादा दिखाई देते हैं — डम्ब शराड और द नैविगेटर।

अब टीवी म्यूट पर है यानी मूक है। ज़्यादातर समय वह इसी तरह रहता है। ऑडियो सिस्टम चालू हो चुका है। ब्रायन ऐडम्स बज रहा है।

टीवी पर अनिल कपूर है, फ़िल्म *ताल* में... 10:01 बजे हैं।

बरिस्ता की रोशनी में सम्मोहन है। यहाँ तमाम तरह की रोशनियाँ हैं। पीली, नीली, सफ़ेद, सब। ये रंगीन रोशनियाँ पूरे माहौल को और ज़्यादा 'पुरसुकून' बनाती हैं। वह इस जगह को 'शांति' से भर रही हैं।

काउंटर पर काम कर रहे लड़के ब्रू मास्टर कहलाते हैं। वह नारंगी रंग की टी-शर्ट, काली पैंट और काला एप्रन पहने हुए हैं। उनकी वर्दी का रंग रेस्त्राँ की भीतरी बनावट और साज-सज्जा से मेल खाता है।

पाँचवाँ ग्राहक आता है। सुबह के 10:21 बजे हैं।

पहला ग्राहक अभी गया नहीं है। अख़बार ही पढ़ रहा है। *टाइम्स ऑफ़ इंडिया* । संतरे का जूस पी रहा है। वह सफ़ेद कमीज़ और स्लेटी पैंट पहने हुए है। अफ़सरनुमा आदमी लगता है। किसी के इंतज़ार में है ... शायद ... उसने मिलने के लिए बरिस्ता ही तय किया है।

सुबह 11:55 बजे:

नौजवान आने लगे हैं। जोड़ों में।

तीन अधेड़ भी आ पहुँचे हैं। वह कुछ पढ़ रहे हैं। लोग खाने से ज़्यादा पढ़ते हैं। ऐसा लगता है कि ये खाने-पीने की नहीं बल्कि पढ़ने की जगह है। रंग, संगीत, एयर कंडीशनिंग, रोशनी और खिड़की से सटी कुर्सियाँ — ये वाक़ई एक रूमानी जगह है जहाँ थोड़ा सा और वक़्त गुज़ारने के लालच में आप कॉफ़ी का एक और कप मँगाने पर विवश हो जाते हैं।

1:10 बजे हैं। अब ऑडियो सिस्टम की आवाज़ लोगों की आवाज़ों में दबने लगी है। अब संगीत की बजाय लोगों की बातचीत ज़्यादा बुलंद है।

बरिस्ता के कर्मचारी अब ज़्यादा खुल गए हैं। वह ऑर्डर लेते हुए, कंप्यूटर पर काम करते हुए, टेलीफ़ोन पर बात करते हुए और ऑर्डर सर्व करते हुए एक-दूसरे से बात कर रहे हैं।

1:35 बजे। एक जोड़ा। एक जगह दो और एक जगह तीन अधेड़।

अब यहाँ सिर्फ़ इतनी ही भीड़ है।

तीन आदमियों का समूह खाते-पीते किसी ठेके के बारे में बात कर रहा है। अलग बैठे दो आदमियों को देखकर लगता है कि उनमें से एक ग्राहक है और एक सेवा प्रदाता। एक लगातार बोलता जा रहा है, दूसरा सक्रिय श्रोता की भूमिका में है।

3:30 बजे।

बाहर हल्की बूँदाबाँदी होने लगी है। ये धंधे के लिए बेहतरीन समय है। अब बहुत सारे लोग गर्मागर्म कॉफ़ी माँगेंगे। काउंटर पर खड़े लड़के मुस्कुरा रहे हैं... उनका भाग्य जाग गया है।

बारिशकर, बारिशकर!

I

दिनेश, 20 साल। स्नातक, दूसरा साल, पत्राचार... घर मेरठ में... सेवानिवृत्त सरकारी स्कूल मास्टर का बेटा... दो बहनें, शादी के लायक़... माँ घरेलू औरत..., मधुमेह ग्रस्त... गुर्दे की रोगी..., डायलिसिस पर..., हर महीने 18,000 का ख़र्चा चाहिए... बाप को पेंशन मिलती है... 2,000 रुपये। दिनेश पिज़्ज़ा हट नोएडा में काम कर रहा है..., किराए के कमरे में रहता है..., ग़ाज़ियाबाद... सुबह 6 बजे उठता है, पानी भरता है, कपड़े धोता है, नहाता है..., काम पर निकल पड़ता है..., 2 घंटे का सफ़र... डीटीसी बस... '11 से 8' की पाली के लिए 8:30 बजे घर से निकलना पड़ता है। दिनेश का सपना... मॉडल बनना... अंग्रेज़ी फिल्में देखना और अंग्रेज़ी पढ़ना पसंद करता है... अंग्रेज़ी में बोलने का अभ्यास कर रहा है... अपनी इच्छा पूरी नहीं कर पाता... सारा दिन काम में ही निकल जाता है... काम के दौरान ज़्यादा बोलने की छूट नहीं... सिर्फ़ ऑर्डर लेना और सर्व करना... मैनेजर पढ़ाई-लिखाई से ध्यान बँटाने की कोशिश करता है... हफ़्ते के आख़िर में होने वाली कक्षाएँ अकसर छूट जाती हैं... पढ़ना चाहता है... मगर काम 'करना है'... माहवार 2,915 रुपये कमाता है... हाथ में 2,719 आते हैं... पिछले 2.5 साल से... बचत एक पैसे की नहीं... घर भी कुछ नहीं भेज पाता... किराया 700 रुपये... पानी और बिजली सहित... खाने-पीने पर पैसा चला जाता है... एक प्रोफ़ेशनल मॉडलिंग पोर्टफ़ोलियो बनवाना चाहता है... 10,000 रुपये का ख़र्चा आएगा... उससे पहले... उसे 'सही शेप' में आना है... जिम जाना चाहता है... काम के घंटे और तनाव की वजह से नहीं जा सकता... पिछले 2.5 साल से लगातार काम कर रहा है मगर... 'टेम्परेरी है... जिस दिन मैं 'अपनी' लाइन में चला जाऊँगा, मैं ये काम छोड़ दूँगा।'

उसकी लाइन — मॉडलिंग। चमक-दमक की दुनिया।

II

शमीम, 24 साल, बीए, भूगोल,... अलीगढ़..., घर वाले आज़मगढ़ में हैं..., रिहाइश, न्यू फ्रेंड्स कॉलनी... पिज़्ज़ा हट में पिछले छह माह से...पहले हरियाणा सरकार में 'सर्वे ऑफ़िसर' के तौर पर काम... डीएमआरसी और दिल्ली आम चुनावों के लिए भी अनुसंधान सर्वेक्षण कर चुका है,... सुबह की शिफ़्ट में हाज़िर रहने के लिए रात को अकसर रेस्त्राँ में ही रुक जाता है... बस का भाड़ा बचता है... रेस्त्राँ में उसे वातानुकूलित कमरा मिलता है... वह एक छोटे से कमरे में रहता है... 8x8 फुट... एक दोस्त के साथ... पंखा नहीं... कूलर नहीं... छत पर सोता है... मच्छर... मक्खियाँ... गर्मी... कभी-कभी नोएडा से न्यू फ्रेंड्स कॉलनी तक पैदल ही जाता है... रात की पाली के बाद... अकसर बस नहीं मिलती... कहता है उसे पैदल चलना पसंद है... पुराना स्कूटर ख़रीदना चाहता है... नौकरी छोड़ने के चक्कर में है... एक प्राइवेट बैंक में कोशिश की थी... उन्होंने क्रेडिट कार्ड बेचने के लिए व्यक्तिगत वाहन की माँग की थी..., शमीम के घर वाले आज़मगढ़ में... उन्हें इस काम के बारे में नहीं पता... वह बताता नहीं... उन्हें लगेगा लड़का 'बैरा' है... उनकी नज़र में तो लड़का होटल में काम करता है... पिता होटल मैनेजमेंट करने के लिए कहते हैं... शमीम को अपना काम पसंद नहीं मगर और किसी चीज़ के बारे में नहीं सोच सकता... कुछ न कुछ करते रहना भी ज़रूरी है।

III

मैं बहुत बातूनी था। हमेशा हँसता और चुटकुले सुनाता रहता था। मैं दोस्तों से मिले बिना नहीं रह सकता था। अगर मुलाक़ात न होती तो फ़ोन पर उनसे बात किया करता था।

ये तब की बात है जब मुस्कुराना मेरी 'नौकरी' नहीं था।

मेरी नौकरी ने तो मेरी 'मस्तमौला' छवि ही ख़त्म कर दी। अब मेरे दोस्त मुझे 'कूल और मस्त' नहीं कहते। अब मैं उनकी नज़र में बहुत संजीदा और मेहनती आदमी बन गया हूँ।

मैं काम पर जाता हूँ और वापस लौट आता हूँ। रोज़ के काम निपटाता हूँ, सो जाता हूँ। नींद की अहमियत क्या होती है ये कोई मुझसे पूछे। अब तो लगता है यही ऑक्सीजन है। सही ढंग से काम करने के लिए मुझे रोज़ नींद का एक तय कोटा लेना पड़ता है।

...**आनंद, 21 साल,** स्नातक द्वितीय वर्ष

IV

संगीत, रंग-बिरंगी दीवारें, चमचमाता फ़र्श, ठंडा माहौल, अमीर-से लोग, महँगी-महँगी इत्र की ख़ुशबू, यह मेरे कार्यस्थल की निहित ख़ासियतें हैं।

ये लोग मेरे ग्राहक हैं। उनमें से ज़्यादातर बड़े विनम्र, मगर उतने ही मुख़्तसर, होते हैं।

वे उन तमाम बेहतरीन ब्रैंड के कपड़े पहनते हैं, जिनके मैं सपने देखता हूँ। उनका बटुआ, उनकी चाबी का गुच्छा, यहाँ तक कि उनकी सिगरेट भी... उनकी हर चीज़ मुझे कितना लुभाती है!

वे भले भी हैं। वे मुस्कुरा कर मुझसे बात करते हैं। जवाब में मैं भी मुस्कुराता हूँ। वही तो हैं जो मुस्कुराते हैं और जिनके लिए हम मुस्कुराते हैं।

उनमें से कुछ बहुत बदतमीज़ और 'हुकुमबाज़' होते हैं। मगर मुझे फ़र्क़ नहीं पड़ता।

यहाँ कपड़ों की माफ़िक अमीरी तरह-तरह के रंग-रूप में आती है। हर रोज़।

...**रोहित, 25 साल,** पूर्णकालिक, पिज़्ज़ा हट

V

जब मैं काम पर होता हूँ तो मैं भी वही पिज़्ज़ा खाता हूँ जिसे मैं और कहीं नहीं खा सकता। फिर भी मुझे मज़ा नहीं आता। जब मैं किसी दुकान पर जाता हूँ, और उसे 'ख़रीदता' हूँ, वह ज़्यादा स्वादिष्ट लगता है। ये बड़ी अजीब बात है। पता नहीं ऐसा क्यों होता है...!

सिर्फ़ कुछ घंटे बाद मैं काम पर लौटता हूँ और फिर वही पिज़्ज़ा खाता हूँ। इस बार और भी ज़्यादा चीज़ व सॉस के साथ... मगर कितनी भी 'टॉपिंग्स' लगी हों, वह स्वादिष्ट नहीं लगता — मैं यहाँ मज़दूर जो ठहरा।

स्वाद तब आता है, जब मैं ग्राहक होता हूँ।

कई बार मुझे लगता है कि ये सब कुछ मेरी दिमाग़ी सोच है, यह सच नहीं है। मगर मेरे हाथ में कुछ नहीं है। यह अहसास जाता ही नहीं।

मेरे दिमाग़ में हमेशा काम ही छाया रहता है।

...**रतन, 19 साल,** पिज़्ज़ा कॉर्नर

VI

जब मैं अपनी माँ को बताता हूँ कि वह जो सब्ज़ी या फल लेकर आई है, वह अच्छे नहीं हैं तो वो अजीब सी नज़रों से मुझे देखती हैं या जब मैं उसे बताता हूँ कि अपने काम पर मैं 8 X 24 मिलीमीटर

त्रिकोण या 8 X 8 वर्ग सेंटीमीटर जैसी सटीक आकृतियों में सब्ज़ी काटता हूँ तो उन्हें बड़ी हैरत होती है।

वह बड़ी उलझन और बहुत सारे '????' के साथ मुझे देखती है।

"मैं कर क्या रहा हूँ??"

मेरी माँ मेरी स्थिति पर दयनीय हो जाती है।

ये सब मेरी नौकरी की मेहरबानी है।

...**दिनेश, 27 साल,** मैक्डॉनल्ड्स

अनूप की कहानी...

बारहवीं करने के बाद अनूप ने कॉलेज में पढ़ाई के नाम पर 'आवारागर्दी' की बजाय काम करने का फ़ैसला किया।

अनूप के ज़्यादातर दोस्त अब अपनी ग्रैजुएशन पूरी करने वाले हैं। मगर अनूप को कोई पछतावा नहीं है, उसके दोस्तों को है। अनूप पूरे आत्मविश्वास से कहता है, "मुझे लगता है कि मैं अपने दोस्तों के मुक़ाबले ज़्यादा समझदार और स्मार्ट हूँ। आख़िर इन डिग्रियों से क्या मिलेगा? मुझे लगता है कि मेरे पास 2.5 साल का ये जो तजुर्बा है, यह दुनिया की सारी डिग्रियों से ज़्यादा क़ीमती है।"

पिज़्ज़ा हट में काम करते हुए अनूप को माहवार 2,600 रुपये मिलते हैं। वह 9 घंटे की पूरी दिहाड़ी करने की बजाय छोटी-छोटी पालियों में काम करना ज़्यादा पसंद करता है।

वह पहले सुबह 10 बजे से दोपहर 2 बजे तक और शाम को 5 बजे से 10 बजे तक काम करता है। दोनों पालियों के बीच वह अपने इंग्लिश स्पीकिंग कोर्स के लिए कुछ समय निकालता है और अपने पिता के कारोबार में हाथ बँटाता है।

मेहनती लड़का, वाक़ई!!

अनूप का मानना है कि कारोबार की कला सीखने के लिए आपको हर मुश्किल काम करने में माहिर होना चाहिए। उसकी नज़र में मैनेजर ही भगवान है, भले ही वह 'पेशेवराना' तौर पर बदतमीज़ क्यों न हो।

अनूप के पिता का टिफ़िन का धंधा है। वह इस बात को लेकर बहुत ख़ुश नहीं हैं कि उनका लड़का किसी फ़ास्ट फूड रेस्त्राँ में काम करता है। मगर वह चुप रहते हैं। उन्होंने अनूप को अपने हिसाब से जीने की आज़ादी दे दी है। वह भी अनूप की समझदारी की क़द्र तो करते ही हैं।

अनूप का सपना है कि काश एक दिन उसका भी रेस्त्राँ हो। वह उसे पिज़्ज़ा हट की तर्ज़ पर चलाना चाहता है। उसे यह मानने में भी कोई उज्र नहीं है कि उसका बॉस अपनी जगह बिल्कुल सही है और आगे चलकर वह भी उतनी ही सख़्ती से काम निकलवाया करेगा। अनूप को अपनी काम की जगह पसंद है।

"यहाँ सदा चहल-पहल रहती है। मुझे भीड़ पसंद है। मेरी उम्र के लड़के गर्ल फ्रेंड्स को लेकर यहाँ आते हैं और हाथों में हाथ डाले घंटों बैठे रहते हैं। कई बार ये लोग अपना गिटार लाते हैं और यहीं गाने-बजाने लगते हैं। मेरी भी एक गर्ल फ्रेंड है। गीतिमा बनर्जी। कई बार वह मुझसे मिलने यहाँ आती है। मैं थोड़ी देर उससे बात करता हूँ। मगर सिर्फ़ 'थोड़ी देर', ज़्यादा देर नहीं!!"

"मेरा मैनेजर मुझ पर लगातार नज़र रखता है। ठीक भी है, यही तो उसका काम है!"

"गीतिमा को मेरी नौकरी बड़ी अच्छी लगती है। वह हमेशा मुझे कहती रहती है कि यहाँ अच्छी तरह सीख लो। ख़ास तौर से वह ग्राहकों से अच्छी तरह पेश आने की नसीहत देती रहती है क्योंकि ये लोग पढ़े-लिखे और समझदार लोग हैं।"

"मेरी नौकरी बहुत अच्छी है क्योंकि इस दौरान मैंने ऐसे-ऐसे व्यंजनों के बारे में जाना है जिनके बारे में पहले मैंने कभी सुना भी नहीं था।"

"और यहाँ दिन भर संगीत तो है ही। यहाँ ज़्यादातर अंग्रेज़ी गाने बजते हैं जो मेरी समझ में नहीं आते। पर उनकी थाप मुझे अच्छी लगती है।"

"एक दिन मैं भी अपना रेस्त्राँ खोलूँगा। मेरा रेस्त्राँ भी इतना ही रंग-बिरंगा, साफ़-सुथरा, संगीतमय और शांत होगा।"

और उस वक़्त जब मैं गीतिमा से बात करूँगा तो न कोई मुझे रोकेगा और न कोई मुझे घूर कर देखने की हिम्मत करेगा।

अनुवादः योगेन्द्र दत्त


Coca-Cola
ठंडा मतलब
Coca-Cola
Coca-Cola

मॉडल टाउन का मेला : 'दौरे बेकली'

के. जी. वर्मा

प्रायः बाहर से आने वालों को 1961-62 के आसपास दिल्ली विश्वविद्यालय परिसर के लिए क़दीमी कश्मीरी गेट से गुज़रना होता था। जहाँ-तहाँ दीवारों पर 1857 की विप्लवी मुठभेड़ों में प्रयुक्त गोले बारूद के निशान चिनाई पर दर्ज थे। यदि सवारी टकर गई तो इंद्रस्थ महिला कॉलेज, जिसे एक तरह से सरहद कह सकते हैं, लाँघने पर आध-घंटे में गंतव्य तय हो जाता। ऐसा कहा-सुना गया कि नेहरू-युग की सरगर्मियों में चौधरी ब्रह्मप्रकाश के हाथों एक कॉलनी का बाक़ायदा उद्घाटन हुआ। यहाँ पर पहले बरसाती बौछारों और जमुना की छोड़ी सिल्ट का दलदल था, इसे घूरे से पाटने में वर्षों लगे। समतल ज़मीन पर प्लॉट काटने का क्रम जब आरंभ हुआ तो भी रिस्पॉन्स उत्साहजनक नहीं रहा। आवास के लिए फ़ॉलो-अप लंबे समय तक ठप्प रहे। तीन एन्ट्री-प्वाइंट तय हुए, तब कहीं पुरानी दिल्ली से लगे व्यापारियों के अलावा पश्चिमी पाकिस्तान के विस्थापितों ने थोड़ी-बहुत दिलचस्पी ली। छितरे-छितरे मकानों का बेतरतीब सिलसिला। आरिज़ी तो कहीं अधूरा ब्रिक-वर्क — विकासीय एकरसता का अभिशाप। आधुनिकता का अहसास पुष्ट करने वाला तंत्र — शॉपिंग कॉम्प्लेक्स, क्लब, सिनेमा हाउस, रेस्त्राँ आदि वक़्त से लड़कर उपजा, चौराहे थे ले-दे के, जिन पर भाँति-भाँति का प्राणी क़स्बाई ढर्रे पर हिलने-मिलने निकल पड़ता था, इस आशा से कि थोड़ी देर को ही सही अपने कष्टों के लिए किसी और को दोषी कह सके। जी.टी. करनाल से संगम बनाती मुख्य सड़क के दोनों तरफ़ गुज़रे वक़्तों के बरगद-पीपल, जामुन-नीम की शाखाओं-प्रशाखाओं की झूम — आत्म विभोर तृप्त सनसनाहट में घना-घना साया। जाने कब-कब का झाड़-झंखाड़ समेटे टूटे-फूटे कुएँ की हिफ़ाज़त करी हुई अनपहचानी शाहजहाँनी फ़सील। इसी इलाक़े को लोग तब मॉडल-टाउन कहा करते थे।

इन्हीं दिनों विभागों और कॉलेजों में बेशुमार नियुक्तियाँ हुईं। निकटता के कारण आगंतुकों का अधिसंख्यक प्राध्यापक था। अस्सी से सौ रुपये में टू-रूम-सेट तय करने में विशेष दिक़्क़त पेश आए ऐसे उदाहरण कम होंगे। और दिल्ली ने तब पसरना शुरू ही किया था। यद्यपि, पुरानों के मुताबिक़ शहर के विरसे का मूल्यवान अवांछनीय विभाजन की भेंट हो चुका था, फिर भी विगत को भूले, विकेंद्रित उपनगरों में मॉडल टाउन की शुमार होने लगी थी। एक दशक की अवधि में अकादमिक, अख़बार नवीस, कवि, विद्रोही, राजनैतिक कार्यकर्ता, कथाकार सब थे यहाँ। जो भी आया पंचमेल का हो गया, धीमे-धीमे तरन्नुम ने देर सवेर प्रत्येक को बाँध लिया। अड्डे विकसित हुए, पसंदीदा हों तो बेहतर, वरना अपरिचितों के बीच बैठ बहस में शिरकत दिनचर्या की बुनियादी ज़रूरतों में मान ली गई। हिंदी गद्य की विश्लेषण क्षमता में बढ़ोत्तरी पर भविष्य में मूल्याँकन करते हुए, इन दिनों को याद करना होगा। ऐसा कहते ही शिद्दत से नाचने लगती है बैठकी मुद्राओं में जुड़े अनेक प्रसंगों की तस्वीरें, जिनमें प्रमुख है संवेदनशील आलोचक स्व. देवीशंकर अवस्थी। उनके मिलनसार स्वभाव की कोशिश से स्थानीय लेखक की सोच में नाटकीय मोड़ आया। उन्होने विभिन्न क्षेत्रों के रचनाकारों को भी अपने परिवेश की खोज के रास्ते प्रासंगिक पाया। जल्दी ही पश्चिमी आधुनिकता के सिद्धांत पक्ष पर बाक़ायदा विवादों-प्रतिवादों की झड़ी लग गई।

ग्राउंड-फ़्लोर पर जिस सेट में अवस्थी जी रहते थे वह निमित्त बना उन अनेक स्थापनाओं का जो 'आधुनिकता की आँधी' के तहत बौद्धिक चिंतन का हिस्सा बनीं और जिनके दबाव पर सर्वमान्य कही जाने वाली शास्त्रीयता पर प्रश्न चिह्न लगे। सैद्धांतिक हो या दार्शनिक किसी भी क़ीमत पर साहित्येतर को हावी होने से रोकने के लिए पूरी ताक़त सर्फ़ की गई। भरपूर तैयारी के साथ नये व नवजात लेखक, समसामयिक लिटरेरीनॉस्त को समझने के लिए आवश्यक शब्दावली के निर्माण में जुट गए। इस दिशा में अवस्थी जी के सक्रिय सहयोगी थे यंग अशोक वाजपेयी, तत्कालीन हिंदी बेल्ट के सांस्कृतिक परिदृश्य की सर्वाधिक मुखर उपस्थिति।

पीछे देखने पर कुछ बातें आज हमारे लिए साफ़ हो जाती है। यह मानने में अब विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि आज़ादी के बाद हमारे परिवेश में पश्चिमीकरण की, दूसरे लफ़्ज़ों में, सामाजिक-सांस्कृतिक संघटन की यह पहली पारी थी। इसलिए पिछले तीस वर्षों की चिंतन-पद्धतियों के विभिन्न खंड हमें आज कम भयावह लगते हैं। पहले हल्ले के शॉक से तनाव बढ़े, बिखराव आया, संप्रेषण अधिकतर मानसिक ऊहापोह से उबरने का माध्यम बना। जिस तेज़ी से गुट बने, घोषणा-पत्र छपे, पूरी सजधज के साथ विशेषांक आए, पत्रिकाओं में होड़ लगी, वे संवेगात्मक आधिक्य की रिलीज़ के लिए वक़्ती ज़रूरत थी।

मुख्य दिल्ली और मुफ़स्सिल में आए परिवर्तन से सामाजिक स्थितियों कार्य-व्यापरों में आमूल, आधारभूत आर्थिक विकास के लक्षण झलकते मिलते हैं, इससे बहुतों को इंकार होगा। स्वतंत्र-चेता राष्ट्र के मूल ढाँचे की रूप-रेखाएँ थोड़े समय के भीतर ही चरमराने लगीं। अन्याय, असमता, शोषण, पाखंड आदि से लड़ने के बजाए संस्थानीकरण में शक्ति-संचय होने लगा, वैचारिक नव-जीवन परिकल्पनाओं तक सीमित रहा। व्यवस्था और व्यक्ति से अंतर्संबंधों पर टीका करते हुए अथवा रीडिंग-मैप के वैविध्य पर दृष्टि डालते हुए हमें यह भूलना होगा कि राजनीति और साहित्य दोनों में अभिव्यक्ति के लिए नये संकट पैदा हो गए।

1961 में कानपुर डी.ए.वी कॉलेज से दिल्ली आने का सबब अवस्थी जी के लिए क्या था, एक पत्र में लिखा : 'पुरानी संस्थाओं की संकीर्णताओं से खीज थी। खुले, स्वतंत्र वातावरण में साँस लेने की चाह, जिसमें लिखने-पढ़ने-सोचने का अवसर मिले।' छोटे शहरों का तिरस्कार, उपरोक्त कारणों से करने वाली प्रवृत्ति सामान्य बात थी। महानगर का आकर्षण अपनी जगह है ही। देवीशंकर के लिए राजधानी का चुनाव मात्र करियरिज़्म से बेहतर आजीविका संबद्ध स्टेटस से कुछ दूर जा पड़ता है। उनके दिल्ली निवास के पाँच सक्रिय वर्ष प्रमाण हैं कि उन्होंने अपना मोर्चा सही बिन्दु पर जा खोजा। ज्ञानार्जन के अलावा उस समय महानगर में विभिन्न पीढ़ियाँ-शैलियाँ-रुचियाँ-प्रविधियाँ बदलाव की प्रक्रिया में युद्धरत थीं। साहित्य, कला, रंगमंच, विधि, विज्ञान, व्यापार, योजना-दर्शन, नीति, इतिहास में अभूतपूर्व सक्रियता से उपजे संघर्ष को मिलन-स्थली मिली। यहाँ स्थितियों का सच कठिन से कठिनतर हो चुका था।

इस दौर की लघु पत्रिकाओं में दर्ज है अवाँगार्द की कहानी। अवाँगार्द जिसने देखते ही देखते क्रांतिकारी आंदोलन का रूप ले लिया। 'मुक्ति प्रसंग' में कवि-कथाकार राजकमल चौधरी की यह उक्ति : 'वर्तमान के अग्नि जर्जर शव को अपने कंधों पर मैं शिव की तरह, धारण करता हूँ। मैं इस शव के गर्भ में हूँ और यह शव मेरे कंधों पर है। इसकी विकृति, वीभत्सता और दुर्गंधियों में मुझे जीवित रहना पड़ेगा।' पश्चिमी पूंजीवादी ढाँचों के अंतर्विरोध अवाँगार्द में रिफ़्लेक्ट होते हैं, एक प्रकार से यही उपलब्ध तैयार माल था, सो इसका ख़ूब आयात हुआ। फ़ेडेड जीन्स, लंबे उलझे बाल, बीड़ी, गंदे दाँत, मुक्त यौन संबंध की लपेट में रफ़्ता-रफ़्ता मध्यवर्गीय युवाओं का आकर्षण बढ़ा, सहसा साइट शिफ़्ट कर गयी।

इस सर्वव्यापी आक्रोश को संकेतित करते हैं परिवार, अख़बार और सरकार। राजधानी का प्रशासनिक, कुलीन, शिष्ट तंत्र तेज़ी से उन्नत देशों की मेट्रोपॉलिस कल्चर की विशिष्टताओं को अपनाता जा रहा था। एक ऐसे दर्शक-श्रोता समूह का आविर्भाव हो चुका था जो सोवियत संघ से ईव्तेशेंको, अमरीकी बीटनिक गिन्सबर्ग, इंग्लैंड व युरोप के स्टीफ़ेन स्पेंडर और ऐन्त्सेस्बर्गर को ज़हे नसीब कह सके। अलग-अलग जगहों पर गोष्ठियों की अटूट

शृंखला — सार्त्र और नोम चोम्स्की तक रोज़मर्रा की 'इन्वॉल्वमेंट'। विश्व की सबसे बड़ी लोकतांत्रिक व्यवस्था खुद को उद्घाटित कर रही थी — मॉडर्निस्ट मुहावरे में। और बेहाली में यारों का यह हाल कि होश ही नहीं था कि वे क्या पी रहे हैं कि वे 'रिसीविंग एंड' पर हैं । न जाने कितने गुमराह हुए तो कई गुनाहगार बने।

समकालीन समाज में सांस्कृतिक संकट के स्रोत क्या हैं, प्रमुख जीवन दृष्टियों में लड़ाकूपन के कारण भारत जैसे विकासोन्मुख देशों के लिए ग्राह्यता का प्रश्न कितना जटिल है, यह एक विचारणीय मुद्दा था और अवस्थी जी के घर पर तेज़ी से बदलते परिदृश्य से उत्पन्न होने वाले कुहासों को समझने के प्रयत्न जारी थे। पर एक फ़र्क़ के साथ। यूँ मॉडल टाउन के अलावा महानगर में घरानों की नक़ल पर ठिकाने जमने लगे थे। सामरिक स्तर पर अभियान चले, कह सकते हैं कि अत्यंत योजनाबद्धता के साथ नयी अराजकता को, दिशाहीनता को, राह पर लाने के संकल्प हुए, बहुधा उतावली में ज़्यादतियाँ करने का ख़तरा पैदा हो जाता है, जो कि अनेक बार हुआ। हर ख़ेमे से किए गए दावों में 'टोटलाइज़िंग' प्रवृत्ति थी। रचना का मूल्यांकन वस्तुगत आधार पर, पूर्वाग्रहरहित होकर किया गया है, ऐसे उदाहरण कम होंगे। सांस्कृतिक वर्चस्व अख़्तियार करने के कारण बाहर से आने वाले सर्जकों की साहचर्य, संसर्ग की बलवती कामनाएँ मजलिसों की वस्तुस्थितियों से अवगत होते ही बुझ जाती थीं। पहुँचते ही प्रायः लेखक की स्थिति लखनऊ में 'पूरब के साकिनों' के बीच मीर तक़ी मीर से भिन्न नहीं पायी जाती थी। अकसर दूरियाँ बढ़ीं। परस्पर वैमनस्य, अमैत्री और असंजीदगी न बढ़ने पाए इसके लिए अवस्थी जी जितने दिन रहे, सतत प्रयत्नशील रहे। उन्होंने बड़े सवालों के संदर्भ में व्यक्तिगत को कम आने दिया। फिर भी कुछेक क्लासिक प्रसंग हैं, आधुनिकबोध से जुड़े हुए, जिन्हें भुलाना मुश्किल है।

आज भी बड़ी संख्या में ऐसे लेखक हैं, जिनके कानों में कनॉट प्लेस के टी-हाउस की चुहल, क़हक़हे और फब्तियों, चुटकियों की अनुगूँजें हैं, जो अपनी मार में जिगर के पार न जा पायें, ऐसा कम होता था। फिर भी लोग जाते थे, एक-दूसरे से मिलते थे, कभी-कभी आहत होकर अगले दिन उसी टेबल पर दुबारा उलझने के लिए। देवीशंकर भी जल्द ही यहाँ से जुड़ गए। सातवें दशक की फ़िक्र करने वालों को जब भी अवाँगार्द आंदोलन को अपने समय के लिए स्पष्ट करने की ज़रूरत होगी 'टी-हाउस' को ढूँढ़ना होगा। उन दिनों कुछ हल्के-फुल्के अंदाज में, 'टी-हाउस' के उपरांत, 'ला-बोहीम', 'एंबैसी' और 'लिंक-हाउस' पर मनमाफ़िक़ के लिए बीच-बीच में निकल पड़ना, सर्जनात्मक ऊर्जा प्राप्ति की पहली सीढ़ी हैं, अनौपचारिक स्तर पर मान लिया गया था कि यहाँ पर क्रमानुसार पत्रिकाएँ, प्रेमिकाएँ, पार्टियाँ और परिचर्चाएँ अहम् मुद्दों का स्थान ले लेती थी।

आधुनिकता के परंपरा-विरोधी तथा वस्तुवादी रवैयों के प्रति यदि मोटे तौर पर कहें तो उसे पश्चिम आयातित, मानकर, बाहरी ज्ञानात्मक दावों, प्रत्ययों को संदेह से देखना एक प्रमुख पहलू रहा है। देवीशंकर अवस्थी ने इसी बिन्दु पर अपनी ओर से ऐलान किया, 'वर्तमान समाज में सबसे बड़ी समस्या यही होती जा रही है कि कैसे व्यक्ति को उसके समाज के साथ सामयिक रूप से पुनर्संगठित किया जाए। समसामयिक साहित्य का बोध उसे भयावह न लगेगा।' शीघ्र ही उनकी सोच में युग-प्रवर्तक मूल्य चेतना तथा समसामयिक भावबोध को संगति का प्रश्न साहित्य के परीक्षण तक सीमित न रह कर हिन्दी विभागों के रूढ़िवादी संस्कारों को यत्किंचित झकझोरने की दिशा में अग्रसर दिखलाई देती है। उद्देश्य सिद्धि में वे अकेले, व्यक्ति रूप में न बढ़कर तरुण अध्यापक के अतिरिक्त 'विश्वविद्यालयों से पृथक लिखने-पढ़ने वाले लोगों को दरख़्वास्त करते हैं, जिनकी मदद से इस 'दुष्चक्र' को तोड़ा जा सके। ज़रूरत पड़ने पर 'इन शीर्षस्थ व्यक्तियों के लेखन की मूल धारणाओं, प्रतिपदियों तथा उपयोगिताओं को निर्भीकता-पूर्वक चुनौती दी जानी चाहिए।'

संस्थागत जकड़न टूटे, साहित्य के पठन-पाठन में तब्दीलियाँ लायी जाएँ, इसके लिए ज़रूरी है कि 'जड़ीभूत सौंदर्यानुभूति पर हमले हों। प्रचलित और अपर्याप्त लगने वाले पुराने प्रभाववादी स्कूल की अनेक कोटियों से मुक्त होना होगा। अवस्थी जी में यह निश्चय उत्तरोत्तर दृढ़ होता चला जाता है उनके सामने तैयारशुदा औज़ार नहीं थे, इसलिए सर्वत्र उनमें संपर्क के लिए व्यग्रता मिलती है। जिससे संवाद संभव बना सके। बौद्धिक आदान-प्रदान का

सिलसिला निखार पर आया, जब देश-विदेश के सरोकारों की जानकारी के महत्वपूर्ण पहलुओं पर खुली बहसें शुरू हुईं।

यह कठिन काम है और अकेले संभव न होगा, इसलिए मध्यवगीय मानसिकता की सीमाओं में प्रैक्सिस को परिभाषित करने की सार्थकता के प्रति सचेत हैं, लगभग शुरू से ही। तरह-तरह के प्रतिरोध, प्रतिवाद का बहुलाँश आक्रामक रूमानियत है अथवा समृद्धि व आकाँक्षा पूर्ति की दौड़, यह तय करने की ज़रूरत महसूस होने लगी थी। क्या जिधर सत्ता, प्रतिष्ठा, प्रतिष्ठान इशारा करेंगे वही टारगेट होगी? पूरी युवा पीढ़ी का श्रम-शक्ति-चेतना का उपयोग किस प्रकार हो, यह दीगर प्रश्न था, इसलिए गौण भी। कुलीनता, व्यक्तिवादिता आयातित धारणाओं के सहारे स्पेस बना पायी जहाँ से अवास्तविक मसौदों की कृत्रिम सोच थोड़े बहुत असंगत विवेचन के बल पर समाज की जेनुइन ज़रूरतों को पार्श्व में ढकेल सकने में सफल हो गई। जनभाषा जन माध्यमों का आज़ादी के पहले दौर में जो ह्रस्र हुआ उसका निक्षेप यह था कि अंग्रेज़ी का प्रयोग बढ़ा, अंग्रेज़ियत हावी होने लगी। प्रसंगवश याद आ रहा है अशोक का उलाहना कि एम.ए. करते समय सेंट स्टीफ़ेंस कॉलेज छात्रावास में वे 'चिट्ठियाँ' जिन पर 'पते' हिन्दी में हो, रद्दी के कोने में डाल दी जाती हैं।

पश्चिमी सांस्कृतिक संकट ने प्रश्नाकुलता को कोरे सैद्धांतिक विरोधों की अकादमिक नोक-झोंक से मुक्त किया। फलतः व्यक्तिगत स्तर पर ही प्रतिरोधात्मकता का जन्म हुआ। अस्वीकार की भाषा में निषेध के दर्शन के प्रभाव में व्यक्ति-मनुष्य और सामाजिक-मनुष्य की पहचान ही गड्ड-मड्ड हो गई। अकेलापन, फ़ालतूपन, निर्वासिन, दिशाहीनता-सी पर्यायवाचिता उस दौर का मूल्य निर्धारण करती है, जिसकी जड़ें गहरी नहीं थीं, 'वह वैयक्तिकता के एकाधिपत्य और अद्वितीयता के संप्रदाय का अतिरंजित संस्करण है'। (*फ़िलहाल/47*)

मोह भंग की मानसिकता — आंतरिक व्यक्तिनिष्ठ यातना बोध, जो अलगाववादिता से उपजे और संत्रास, हताशा, अनिश्चय आदि अनास्था दर्शन की अनिवार्य पारिभाषिकी बने तब तेज़ी से पुराने/पिछले सौंदर्यशास्त्र को पिछड़ा क़रार करने में जुटी हुई थी। दूसरी ओर बेकारी, बेरोज़गारी, बदहाली से गुज़रने वाला युवा-वर्ग था जिसने आर्थिक-सामाजिक विषमता को पोषित करने वाले सामाजिक आधार को ही ललकारना शुरू कर दिया। स्वतः ही आक्रामक सामाजिक जागरूकता ने मोह भंग की प्रति-संस्कृति से अपने को अलग कर लिया। संपूर्णता में देखने पर वे चेहरे काफ़ी साफ़ दिखलाई पड़ते हैं जिन्होंने बीच का रास्ता अपनाया। यह थी तीसरे आयाम (डायमेंशन) की स्थितियों की पकड़ जो इन अतिवादिताओं को अलग करके विभिन्न रूपाकारों में विकल्प की संकल्प शक्ति को क्षीण करने में लगी हुई थी। संगोग ही रहा होगा कि अविलंब व्यवस्था में, मुँहफट और असुविधाजनक समझे जाने वाले अनेक प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व हाथ बँटाने चले गये।

लेकिन विरोध कहीं-कहीं समुचित राजनीतिक समझ और पर्याप्त साहस के साथ संगठित रूप में प्रकट हुआ। और इसका प्रभाव भी पड़ा। यहाँ अवस्थी जी के निधन के तीन-चार वर्ष बाद हिंदी-विभाग की कार्य-पद्धति, नीति-नियमों के ख़िलाफ़ छेड़ा गया अभियान उस सोच का सक्रिय पक्ष था जिसकी ओर ऊपर उन्हीं के संदर्भ में ज़िक्र किया जा चुका है। यदि 'आवाँगार्द में नवोदित, विश्वविद्यालय में पृथक लिखने-पढ़ने वाले' लेखक-कवि थे तो इस अभियान की बागडोर जो शीघ्र ही एक आंदोलन के रूप में फैल गया, 'तरूण अध्यापक' बनने के लिए क़तार में खड़े व्यग्र नौकरी-विहीनों के हाथ में थी। हाशिये पर रहने के लिए अभिशप्त युवाओं ने प्रतिभा और क्षमता के बल पर उस मुख्य धारा को चैलेंज किया जहाँ इन गुणों का सतत तिरस्कार होता रहा। शीघ्र ही विभाग और विभागाध्यक्ष डॉ० नगेंद्र की नाकेबंदी शुरू हो गई जिसमें मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, रमेश गौड़, कांतिमोहन, कर्णसिंह चौहान तथा सुधीश पचौरी के अलावा शिक्षक संघ के अनेक वरिष्ठ प्राध्यापकों ने भागीदारी देकर संबंधित मसलों को पुनर्विचार द्वारा बाक़ायदा 'मंच' की शक्ल दे दी। इसमें कोई शक नहीं है कि युवाओं की स्थितियों में वस्तुगत प्राथमिकताओं तथा संवेदनात्मक व्यग्रताओं को बृहत्तर संदर्भों से जोड़ने में इस प्रसंग का बहुत बड़ा हाथ रहा है। कई कोनों से कुछ हद तक कुहासा छँटा, व्यक्तिगत असंतोष जो अब तक कानाफूसी

और कुत्सित दुर्भावनाओं का दलदल बना हुआ था व्यापक आधार पर आ गया — मुसाहिबी और व्यक्तिगत ज़ारवाद से खरे प्रतिरोध का यह प्रथम परिचय था, इसके बाक़ी इतिहास में जाना यहाँ प्रासंगिक न होगा।

देवीशंकर जी का जीवन-वृत्त (1930-66) हमें यह बताता है कि पाँच वर्ष की अल्पावधि में ही सिमटे हुए हैं उनकी बौद्धिक सक्रियताओं से जुड़े साहित्यालोचन के अहम् प्रश्न उनकी परिधि में हैं, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में मध्यकाल ब्रज काव्य पर शोधपरक प्रबंध से लेकर मुक्तिबोध की काव्यानुभूति की बीहड़ संरचनाएँ। अध्यवसाय और आलोचनात्मक आग्रहशीलता तक सीमित न रहकर अपने समय से प्रसूत मूलगामी प्रवृत्तियों, वैचारिक विवादों, सांस्कृतिक अभिरुचियों से उद्वेलित होते हुए, उनमें बीच बहस में अपने लिए अर्थात् लिखे जा रहे के प्रति, नयी तार्किकता की तलाश थी। उस भाषा को समझने के लिए जिसे एक पूरी पीढ़ी ने प्रयोग द्वारा (जिसमें आधुनिकता बोध के प्रचुर दावे थे) चेतना और सामाजिकता के अनजाने विरोधाभासों, अपरिचित पगडंडियों, तलहटियों में जा-जाकर खोजा था।

अवस्थी जी बेवक़्त ही नहीं बेवजह चले गये। 13 जनवरी की सुबह 9:15 पर उनका सड़क दुर्घटना के कारण दो रोज़ पहले ब्रेन-हैमरेज से आकस्मिक निधन हो गया। और वह संसार जो उनका अभिन्न था, छिन्न-भिन्न हो गया। इसके बाद की 'कहानी' सुनने समझने में अत्यंत कष्टकर, तरतीबहीन और बहुत हद तक निजी हो गई।

दिमाग़ में एक मुरक़्क़ा जिसमें जस का तस है, आज भी हर एक पोर्ट्रेट चेहरे-मोहरे पर नाक-नक़्शा की तेज़ी तुर्शी में जीवंत। नित्यक्रम अटपटा जाता है, आँखों में कहीं आ जाए लैंडस्केप जादू-सा करता हुआ — परिसर में उन दिनों के वेंगर्स चायघर से उठकर सेंट स्टीफ़ेंस हॉस्टल में अशोक के कमरे की ओर बढ़ते हुए शाम को निर्वाक, असंग चैपल को घेरे दरख़्तों पर चिड़ियों का अपनी-अपनी जगह के लिए तक़रार।

मॉल रोड पर जुबली हॉल के लॉन पर अद्‌भुत उत्तेजना एवं अनिर्णय की दशाओं में नामवर सिंह को घेरे युवा लेखकों का जमघट — 'तुझको सुनूँ कि तुझसे बात करूँ'।

सड़क के उस पार डॉ० निर्मला जैन का ड्रॉइंग-रूम नाना व्यंजनों पर 'आधुनिकता' की लेटेस्ट छाप। और नहीं तो बनारसीदास एस्टेट में इंद्रनाथ चौधरी के कोज़ी कॉर्नर की बेतक़ल्लुफ़ी।

सी-ब्लॉक में अजित दा के यहाँ की अनूठी बैठकें 'सारे जहाँ से मिलता' था — सुकूनो-सुख़न, सब कुछ, संस्कार और स्वागत में पगा — स्नेहमयी जी का 'पर्सनल टच' लिए हुए।

इन्हीं दिनों की बात है बीमारी की गंभीर हालत में दिल्ली लाए जाने से पहले आख़िर तक संघर्षरत मुक्तिबोध का अविस्मरणीय ख़ाका अशोक ने भेजाः "मैं अभी दो दिन भोपाल रहकर लौटा हूँ जहाँ मैं मुक्तिबोध को देखने गया था। एक जीर्ण और क्रियाहीन शरीर है, बिस्तर पर पड़ा हुआ एक पिचका हुआ हड्डी-हड्डी चेहरा है, दो शून्य को ताक़ती-सी आँखें हैं, जिनसे रह-रह कर एक आँसू छलक आता है, ऊपर निरंतर चक्कर मारता पंखा है, एक पत्नी है जो बार-बार आकर पानी या दवाई पिलाती है या सिगरेट मुँह से लगाती है और बहुत प्यार और चिंता से मराठी में पूछती है कि कल से अच्छा लग रहा है, थोड़ा बहुत। आसपास खेलते कई बच्चे हैं। मेरे कुछ कहने पर होंठ दो-तीन बार नीरव हिलते हैं और फिर कहते हैं — ईश्वर की कृपा है।"

यह सच है कि ध्यान बँट जाता है जब तमाम व्यवस्तताओं को ठेलते हुए अचानक दिवंगत श्रीकांत वर्मा घने काले बालों को ब्रिल्क्रीम में बांधे हाथ में कैप्स्टन का पैकेट लिए याद आ जायें — युनिवर्सिटी टैक्सी स्टैंड से मित्रों के साथ मॉडल टाउन की ओर जून की भरी दोपहर में — सड़क की गतिशीलता से ऊबे हुए, तनावग्रस्त 'अनवरत प्रश्नकर्ता' —

राह नहीं कटती अब / किसी के भी संग
फीका पड़ने लगा / टेसू का रंग (दिनारंभ)

वहाँ का जुगराफ़िया, जिस मकान में स्व० मलयज के साथ गर्मी-सर्दी-बरसात फ़्योदोर दोस्तोयेव्स्की के मर्ज़ेमिर्गी और युरोपीय उपन्यास के रहस्य खोले जाते थे, वैसा नहीं है।

अगर कभी इन दिनों जाना हो जाये, संयोगवश तो हज़ार बातूनियों में एक भी सामने नहीं पड़ता। अलबत्ता ऐसा कई बार हुआ कि मैंने बाई-लेन ख़त्म होते ही उस निशानी के रू-ब-रू अपने को पाया, जहाँ डॉ० रामदरश मिश्र रहते थे और इसीलिए 'वहाँ छाँव घनी होती थी।' वहीं, फिर मन चाहता है कि बैठा जाए — चाय-पकौड़ी पर पूरब अंग के साहित्यकारों, रचनामर्मियों की अंतरंग विचित्रताओं पर तज़किरा हो।

रास्ते में पड़ता है पहले ऐंट्री पॉइंट के मुहाने पर अभ्यर्थियों से आक्रांत एक विशालकाय, अकलात्मक, असंगत भवन जो वर्षों पहले सघन एकांत से आच्छादित एक छोटी-सी नीरव खोह था, जिसके प्रवेश द्वार पर यदाकदा कोई दिया जलता दिखलाई देता था। तर्क अनेक हो सकते हैं, पर जुटाने की इच्छा नहीं होती कि खोह की पृष्ठभूमि में एक भीमकाय थाना क्यों इतना विकास कर गया और यह भी कि ठीक सामने सिनेमा हाउस के पोर्च तले क्षेत्र-भर का असामाजिक तत्त्व कहाँ का है। सड़कों पर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर कौतुक-क्रीड़ा में मग्न लुम्पेन, तफ़रीह को निकले कामकाजी नागरिकों को डराता-धमकाता हुआ, दो किलोमीटर के फ़ासले पर आज़ादपुर सब्ज़ी मंडी, बेख़बर करोड़ों के हेर-फेर में। फ़सील का कहीं नामों निशान नहीं है।

लौटते हुए हाई-वे अंदाज़ में दोनों ओर सोडियम की अधुनातन पोल लाइटों से छनते प्रकाश में शिनाख़्त नहीं हो पाती — सब कुछ हरकत में हाँफता मायावी, मादक है या उन्मादी। वाहन इंतज़ार में लगता है, कुछ ठीक नहीं हैं, कहीं भीतर बेचैनी ज़रा आगे बढ़कर कहती है, निकला जाये यहाँ से जल्दी।





बेचैन शहर

वाक़्या शहर में कल तो कोई ऐसा न हुआ
ये तो अख़बार के दफ़्तर की ख़बर लगती है
- जाँ निसार अख़्तर

निजी अनुभवों और रुटीनी ज़िन्दगी में शहर वैसे तो बेचैन, उनींदी बदहवासी का पर्याय ही है, पर पूरा शहर कब बेचैन हो उठता है, भला! अपराध चैनलों की रोज़ाना की बेज़ायक़ा प्रस्तुतियों की गवाही न भी लें, तो भी, एक जुमले में, जब उसकी नींद मीडिया की सुर्ख़ियाँ उड़ा ले जाती हैं। पर मीडिया का सुरमा चंद्र-ग्रहण कब बनता है? जब महानगर में बाढ़ जैसा अनपेक्षित हो जाए, जिससे निबटने में वहाँ के भूमिपुत्र निहायत निस्सहाय हो जायें, जब अधुनातन औज़ारों और लक़दक़ से लैस शहर को मध्यकाल की याद दिलाती हुई प्लेग या सार्स जैसी महामारी लपेट ले, और जिससे लड़ते हुए सरकार राष्ट्र का परम विशिष्ट पदक पाने की चेष्टा करने लगे? जब शहर की झुग्गी-झोपड़ियाँ चंद नज़रों को खटकने लगें, जब पानी और बिजली की क़िल्लत आदत में तब्दील होने लगे, जब आलू-प्याज़ पेड़ की डालियों पर बैताल की मानिंद जा लटकें, जब दूर-दराज़ से सत्ता-केन्द्र पर दस्तक देने आनेवाले रैलार्थी या फिर स्थानीय श्रद्धालु जुलूसार्थी दैनंदिन यातायात को ठप कर दें, और रहगुज़ारी की दिक़्क़तें एहतियाती जानकारियों के रूप में एफ़ एम चैनलों से रिले होने लगें। जब दिल्ली का चोर-बाज़ार या बुक मार्केट दरियागंज के अगवाड़े से राजघाट के पिछवाड़े में ठेल दिए जाने की आशंकाओं से घिर जाये, जब सिनेमा हॉल में आग लग जाये या बम फट पड़े, सड़क पर सोनेवालों या राह चलती महिलाओं की तो बात ही क्या करना, जब पार्लियामेंट ही असुरक्षित लगने लगे, जब उस असुरक्षा का निदान अँधेरे में तीर चलाकर ढूँढा जाये, जब प्रधानमंत्री की हत्या का सबक़ पूरी क़ौम को सिखाने की मुहिम चला कर दी जाए, कर्फ़्यू लग जाये और पीढ़ियाँ इंसाफ़ की गुहार करती रह जायें और उनसे माफ़ी माँगने में प्रधानमंत्री को बरसों लग जायें...

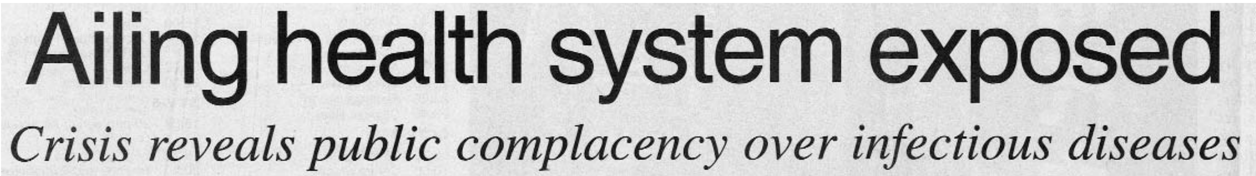
यह ज़ंजीर ज़ाहिरा तौर पर अपूर्ण और असमाप्त है। इसको माज़ी और मुस्तक़बिल के लघु या महासंकटों के ज़िक्र से पूरा किया जाता रहेगा, लेकिन शहर का सर्वव्यापी जैसा लगता संकट भी सब को एक जैसा प्रभावित नहीं करता, न ही हर विपत्ति सभी शहरियों को यकसाँ बेचैन करती है। विषम शहर की बेचैनियाँ भी ज़रूरी तौर पर विषम होंगी। मिसाल के तौर पर मंकीमैन को ही लें। निजी गार्ड-रक्षित दैत्याकार लौहद्वारों और अलंघ्य चौहद्दियों से महफ़ूज़ मध्यवर्गीय बाशिंदों को शायद मंकीमैन की घटना पर हँसी भी आई हो, लेकिन गर्दो-ग़ुबार हटाकर देखें तो इस शहरी किंवदंती पर हुई तमाम चर्चा-परिचर्चा में शहर की इसी विविधता-विषमता की दबी-ढँकी परतें मिलेंगी हमें। शहर में उजाले के विषम बँटवारे से लड़ने के सबॉल्टर्न हथियार भी कितने उर्वर, और रचना-वैचित्र्य के कैसे नमूने हैं। वैसे ही, जैसे स्वच्छता की दावेदारी ठोकनेवालों के सामने 'प्रदूषकों' की रोज़ी-रोटी का मसला मुश्किल नैतिक सवाल और बहस छोड़ जाता है, भले ही बाद में साफ़ हवा में साँस लेना सबको अच्छा लगने लगा हो। हिंसा पर वैसे तो शहर की कोई इजारेदारी नहीं है, पर हिन्दुस्तानी फ़िल्में देखें तो हालिया दौर में एक तरफ़ अंडरवर्ल्ड तो दूसरी तरफ़ सामाजिक हिंसा व आक्रोश की कथा-छवियों की आवृत्ति व संश्लिष्टता बढ़ी है। सामाजिक ग़ुस्से की ऐंग्री यंग मैन वाली व्यक्तिपरक व निजी अभिव्यक्ति उसी तरह नाकाफ़ी हो गई है, जैसे नैतिकता के गुज़रे ज़माने के सफ़ेद-स्याह मानदंड। डी-कंपनी कन्हैयालाल तो नहीं चला सकते न! न ही सत्या पहले हो सकता था। सत्या जो अपनी जड़ों से, सामाजिक सरोकारों से आज़ाद है, सत्या, हिंसा जिसके लिए ज़िन्दगी की शर्त और काम है, बस। ख़बरी मुखपृष्ठ से हमेशा बाहर रहनेवालों की नज़रों से शहर के अदृश्य पड़ोस का क्या सब, और कैसा दिखता है, पता करना हो, तो सायबारमोहल्ला डायरियाँ पलटें।

रविकांत + संजय शर्मा

बेजिंग में महामारी

सार्स के आईने में चीनी राष्ट्रवाद और आधुनिकता का अक्स

संजय शर्मा



Ailing health system exposed

Crisis reveals public complacency over infectious diseases

सन् 2003 में चीन में बसन्त और गर्मी के महीनों में एक बीमारी फैली जिसे एक लम्बा नाम दिया गया — सिवियर अक्यूट रेस्पिरेटरी सिन्ड्रोम — जो अपने संक्षिप्त रूप सार्स से जानी गयी। मगर तब तक यह बीमारी जानी-पहचानी नहीं थी। मालूम हुआ कि इस रोग का कारण एक वायरस था। यह जानकारी भी बीमारी को ख़ासियत प्रदान करने में असमर्थ थी। आख़िर दुनिया में ज़्यादातर बीमारियाँ किसी वायरस या बैक्टीरिया की वजह से ही होती हैं। लेकिन चन्द हफ़्तों में सार्स एक बीमारी से महामारी बन गयी जिसे चीन के वर्तमान वैचारिक और सांस्कृतिक संदर्भ ने नये अर्थों से नवाज़ा। सार्स से मरने वालों की संख्या तो ज़्यादा नहीं थी किन्तु उसने चीनी समाज में गहरी चिन्ताएँ पैदा कर दीं, उसे बहुत उद्वेलित कर दिया। सार्स के प्रति चीनी राज्य और समाज की प्रतिक्रियाओं में राष्ट्रवाद, आधुनिकता और विकास की अवधारणाओं पर लगे प्रश्नचिन्हों की तलाश करना इस स्मृति लेख का मक़सद है।

बात सन् 2003 के मार्च महीने की है। मैं दिल्ली से बेजिंग जा रहा था बैंकॉक हो कर। उन्हीं दिनों अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का एक अधिकारी भी बैंकॉक से बेजिंग पहुँचा और थोड़े समय बाद उसकी मौत एक विचित्र बीमारी से हो गई जो फ़्लू जैसी थी। अभी तक इस बीमारी का आधिकारिक नाम लोगों की ज़बान पर चढ़ा नहीं था। बेजिंग में फुसफुसाहट थी — एक फ़्लूनुमा वायरल बुख़ार या न्यूमोनिया जैसी बीमारी के फैलने की। लेकिन रोग से कोई घबराने वाली बात नहीं थी, इसलिए भी क्योंकि उसका प्रकोप सुदूर दक्षिण के गुआदोंग प्रांत तक सीमित था। वहाँ रोग के कुछ मामले सन् 2002 के अन्त से सामने आये थे। लेकिन सरकार ने आश्वासन दे दिया था — चिन्ता की कोई बात नहीं थी। मीडिया के लिए यह एक सॉफ़्ट स्टोरी थी; अख़बारों के अन्दर के पन्नों की ख़बर!

भयंकर जाड़े के बाद बसन्त की आहट थी। हवा में कटकटुआ ठंड की जगह अब मीठी चुभन थी। फ़रवरी 2003 से नया चीनी वर्ष शुरू हो चुका था जिसका प्रतीक था मेंढ़ा या भेड़। चारों तरफ़ लाल क़ंदीलें ओर भेड़ें नज़र आ रही थीं — खिलौनों, चमकते बल्बों और फूलों को भेड़ की शक्ल दे दी गयी थी। बसन्त ऋतु के राष्ट्रीय पर्व पर मिली छुट्टी में लाखों लोग (बल्कि करोड़ों कहना बेहतर होगा क्योंकि बात चीन की हो रही है) घूमने-फिरने और बिछड़े रिश्तेदारों से मिलने जा रहे थे। इस त्यौहारी उन्माद में चीनी राष्ट्रवाद और उसकी कामयाबी की गंध महसूस की जा सकती थी।

मीडिया, चीन के आर्थिक करिश्मे का ज़िक्र करने का कोई मौक़ा नहीं छोड़ता था। बरसों से दस फ़ीसदी सालाना की सकल घरेलू उत्पाद दर, प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश में दुनिया का नंबर एक देश बन जाना आदि। चीनी जनता को यह बताया जा रहा था कि दुनिया भर में बच्चे आज जिन खिलौनों से खेलते हैं उनमें से अस्सी प्रतिशत चीन में बने हैं। हालाँकि चीनी उत्पादकों को इस बात का मलाल है कि उनके खिलौने बार्बी गुड़िया की माफ़िक़ कोई ब्रैण्ड नहीं बन पाये हैं। सरकारी टीवी (चाइना सेन्ट्रल टेलीविज़न) पर नाच-गानों के रंगारंग कार्यक्रम प्रसारित हो रहे थे। चीनी लोगों की ख़ुशहाली के प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे थे — 'लोग पहले की तुलना में

अधिक हवाई यात्राएँ कर रहे हैं, आज के बच्चे ज़्यादा लम्बे हैं — सड़कें चौड़ी होती जा रही हैं, हवा ज़्यादा साफ़ है' — उपलब्धियों की यह फ़ेहरिस्त अनन्त थी। माहौल वाक़ई ख़ुशनुमा था। बहुत सारे लोग पारंपरिक ड्रैगन नृत्य देखने में मशग़ूल थे, अन्य लोग प्रसिद्ध फ़िल्मकार ज़ैंग यीमो को धूम मचा देने वाली ताज़ा फ़िल्म 'हीरो' का मज़ा ले रहे थे और सभी तरह-तरह के चीनी व्यंजनों ख़ास कर 'डंपलिंग्स' (मैदे से बना, समोसे जैसा) का लुत्फ़ उठा रहे थे। हवा में यौवन की बहार थी। नये चीनी प्रशासक — राष्ट्रपति हु जिनताओ और प्रधानमंत्री वेन जिआबाओ साठ साल के आस-पास थे। चन्द महीने में एक चीनी यान अंतरिक्ष में जाने वाला था। दुनिया का सबसे अमीर आदमी बिल गेट्स मार्च 2003 में चीन की आठवीं यात्रा पर था।

लेकिन कितने लोग यह जानते थे कि हवा में एक ख़तरनाक वायरस पनप रहा था। मार्च के महीने में एक फ़्लूनुमा बीमारी की चर्चा तो थी जिससे तेज़ बुख़ार और साँस लेने में तकलीफ़ हो रही थी। मगर तब भी यही माना जा रहा था कि यह साँस की एक और बीमारी है जो अन्य रोगों की तरह आगे-पीछे ठीक हो जाएगी। आखिर चीन में साँस संबंधी बीमारियाँ जैसे न्यूमोनिया, टीबी और फेफड़े का कैंसर आम बीमारियाँ हैं। यह माना जा रहा था कि नये वायरस का प्रकोप दक्षिणी इलाक़ों तक ही सीमित है। उत्तर के बड़े शहर जैसे शंघाई, बेजिंग या तिआन्जिन सुरक्षित थे। अफ़वाहें फैलने लगीं। चारों ओर यह खुसुर-फुसर होने लगी कि नये वायरस की गिरफ़्त में बहुत लोग आ गये हैं। मगर कितने? बीमारी के बारे में अटकलों का बाज़ार गर्म होने लगा। अचानक लोगों के चेहरों पर मास्क दिखने शुरू हो गये। छः अप्रैल को एक विदेशी व्यक्ति पेक्का आरो की बेजिंग के एक अस्पताल में उस रहस्यमयी बीमारी से मौत हो गयी। फ़िनलैंड का यह व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की ओर से मार्च में बैंकॉक हो कर चीन आया था, उन्हीं दिनों जब मैं भी बेजिंग पहुँचा था। लेकिन चीनी मीडिया पर सरकारी मुहावरों की छाप थी। बेजिंग में स्थिति को नियंत्रण में बताया जा रहा था — सब कुछ 'सामान्य' और 'सुरक्षित' था। लेकिन नौ अप्रैल को प्रधानमंत्री वेन जिआबाओ ने स्वीकार किया कि बीमारी की स्थिति 'गंभीर' थी। मीडिया के लिए यह स्वीकारोक्ति भले ही बड़ी ख़बर थी मगर आम लोग इससे ख़ास चौंके नहीं — उन्हें तो पहले से ही शक था कि बीमारी अपने पैर पसार चुकी है। सरकारी बयानों से रोग से संक्रमित लोगों तथा मरने वालों की संख्या में आम नागरिकों का विश्वास और घट गया। यक़ीन कम हुआ और घबराहट बढ़ी। चारों ओर बदहवासी और आपाधापी मच गयी। लोग बाज़ारों पर टूट पड़े और रोज़मर्रा जीवन की ज़रूरतों के लिए जम कर ख़रीदारी करने लगे। विशालकाय सुपरमार्केट और मॉल में ख़रीदारों की अप्रत्याशित भीड़ चीज़ें ख़रीद कर अपने घरों में सिमटने लगी। लोग सामाजिक संपर्क और सार्वजनिक स्थलों से कन्नी काटने लगे। घरों की खिड़कियाँ बंद हो गयीं और लोग दूसरों से हाथ मिलाने से कतराने लगे। सब कुछ वाक़ई अजीब था। लोगों के देह की भाषा ही बदल गयी। दुनिया से कटे चिन्ताग्रस्त लोग घरों में सार्स से बचने के लिए तरह-तरह के चीनी



नुस्ख़े आज़माने लगे। घरों में सिरका उबाला जाने लगा और विभिन्न जड़ी-बूटियों के सेवन से वायरस को दूर भगाने का प्रयास किया जाने लगा। चीनी स्वास्थ्य अधिकारियों से ये सब बातें छिपी नहीं थीं और शायद उन्होंने यह महसूस किया कि बीमारी के बारे में लोगों को जितना कम बताया जायेगा वे अफ़वाहों और घरेलू इलाज पर उतना ज़्यादा यक़ीन करेंगे। पारदर्शिता मजबूरी भी बन गयी और ज़रूरत भी। 20 अप्रैल को एक संवाददाता सम्मेलन हुआ जिसका सीधा प्रसारण किया गया। संवाददाता सम्मेलन में एक मंत्री गाओ छिआँग ने स्वीकारा कि बीमारी के बारे में तब तक दिये गये सरकारी आँकड़े असलियत को छुपाने वाले थे। इसका ख़मियाज़ा भुगतना पड़ा स्वास्थ्य मंत्री ज़ैंग वेनकाँग और बेजिंग के मेयर मेंग शुएनाँग को जिन्हें पार्टी पदों से हटा दिया गया। उसके बाद रोज़ एक 'लाइव' प्रेस कॉंफ्रेंस होने लगी। 23 अप्रैल 2003 को *पीपुल्स डेली* ने लिखाः

'आम जनता को सही तथ्य और सही समय पर जानकारी उपलब्ध करवाना उन्हें बीमारी का ज्ञान कराने के साथ एकजुट भी करेगा। बदहवासी का आतंक तभी रुकता है जब लोगों को पूरी तरह से सूचित किया जाये।'

अब चीनी उप-प्रधानमंत्री वू यी को स्वास्थ्य मंत्रालय सौंप दिया गया। उनकी छवि एक कड़क किन्तु स्नेहमयी महिला की थी – जो देश में बीमारों की माँ-समान देखभाल कर सकती थी। उन्होंने और कम्युनिस्ट पार्टी ने सार्स को जनता और राष्ट्र का जानी-दुश्मन घोषित कर दिया। देश के नये नेतृत्व के सामने उसे गंभीर चुनौती के रूप में देखा जाने लगा – कहीं ऐसा तो नहीं कि नये शासकों पर से जुमा-जुमा आठ दिन बाद ही 'स्वर्ग का साया' उठ गया? आख़िर चीन में व्यवस्था विरोध के लिए इसी विचार का सदियों से सहारा लिया जाता रहा है। सरकारी मीडिया नये नेताओं – हू जिनताओ, वेन जिआबाओ और वू यी को आम लोगों से घुलते-मिलते दिखाने में जुट गया। माहौल में गंभीरता पसरती जा रही थी। स्कूल, कॉलेज, सिनेमाघर, थियेटर, इंटरनेट कैफ़े और अनेक बाज़ारों पर ताले लग गये। पर्यटन डूबने लगा और विदेशी पर्यटक तो ऐसे ग़ायब हुए जैसे गधे के सिर से सींग। अर्थव्यवस्था को होने वाले संभावित नुक़सान की चर्चा गर्म हो गई और उससे भी ज़्यादा चिन्ता चीन की अन्तर्राष्ट्रीय छवि को लेकर थी। अब भी यही कहा जा रहा था कि बीमारी की शुरुआत के लिए 'विदेशी' तत्त्व ज़िम्मेदार थे। मगर बीमारी बाहर से आयी या अन्दर से – वास्तव में इससे किसी को क्या लेना-देना था? क्या चीनी व्यवस्था को अपने गरेबान में झाँक कर नहीं देखना चाहिए था? वायरस चीनी था या विदेशी, मरने वाले को इससे क्या फ़र्क़ पड़ता था? एक पुरानी चीनी कहावत है – 'हज़ार दिनों तक सेना इसलिए पालो-पोसो ताकि एक घंटे उसका इस्तेमाल किया जा सके।' सवाल यह उठ रहा था कि क्या वह सेना संकट की घड़ी में घंटे भर लड़ने की ताक़त रखती थी? चीनी राज्य ने सार्स रूपी दुश्मन के विरुद्ध प्रचार में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। जगह-जगह पोस्टर लगाये गये जिनमें तनी हुई मुट्ठी के साथ वादा किया गया – "चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में हमारी सरकार द्वारा सार्स को निश्चित रूप से जीता जायेगा।"

सार्स ने चीन की स्वास्थ्य व्यवस्था में अचानक सेंध लगा दी। उन दिनों वहाँ यह महसूस हुआ जैसे चीनी निज़ाम बीमारी के ज़रिये सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली में ख़ामियाँ देखने की बजाय उससे शर्मसार ज़्यादा था। लेकिन फिर कुछ दीगर आवाज़ें भी सुनायी पड़ने लगीं जिससे स्वास्थ्य संबंधी मसलों पर बहस का आभास हुआ। कुछ जाने-माने बुद्धिजीवियों ने सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं पर आर्थिक सुधारों के असर की आलोचनात्मक समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं। अख़बारों में इस आशय के लेख छपने लगे। *चाइना डेली* नामक अँग्रेज़ी अख़बार में 24 अप्रैल, 2003 को छपे एक लेख में हू अनगाँग और हू लिनलिन ने तीखी टिप्पणी की कि स्वास्थ्य सुविधाएँ पाना हर नागरिक का बुनियादी हक़ है और इस क्षेत्र से राज्य का धीरे-धीरे हाथ खींचना अनुचित है। लेख में यह भी कहा गया कि सरकार और बाज़ार के बीच संतुलन गड़बड़ा गया है और लोगों की सेहत बाज़ार भरोसे नहीं छोड़ी जा सकती क्योंकि यह सरकार का उत्तरदायित्व है। *चाइना डेली* के 29 मई अंक ने पहले पन्ने पर सुर्खी लगाई : "बीमार स्वास्थ्य व्यवस्था पर से पर्दा उठा : संकट ने संक्रामक रोगों पर हाथ-पर-हाथ धरे रहने की नीति की पोल खोली।"

'आम जनता को सही तथ्य और सही समय पर जानकारी उपलब्ध करवाना उन्हें बीमारी का ज्ञान कराने के साथ एकजुट भी करेगा। बदहवासी का आतंक तभी रुकता है जब लोगों को पूरी तरह से सूचित किया जाये।'

सार्वजनिक स्वास्थ्य पर उठ रहे इन सवालों में दम तो था ही। अनेक शोधकर्त्ताओं ने इस तथ्य की पुष्टि की है कि हाल के वर्षों में चीन के ग़रीब इलाक़ों के निर्धन तबक़ों में संक्रामक रोगों ने पुनः सर उठाया है। चीनी मीडिया खासकर अख़बारों में स्वास्थ्य-संबंधी आँकड़े अफ़सोस प्रकट करने लगे कि चीन अपने कुल वित्तीय ख़र्च का केवल 1.7 प्रतिशत स्वास्थ्य पर ख़र्च करता है जबकि अमरीका और ब्रिटेन में यह आँकड़ा 14 प्रतिशत के आस-पास है। सबसे ज़्यादा चिन्ता तो बीमारी के ग्रामीण इलाक़ों में फैलने की संभावना से थी। चीन के बड़े शहरों में आज बड़ी तादाद उन श्रमिकों की है जो गत बीस-पच्चीस सालों से रोज़गार की तलाश में गाँवों से शहरों में आते रहे हैं। नये चीनी आर्थिक मॉडल में पिछड़े इलाक़ों से ग़रीब ग्रामीण जनों को बाक़ायदा एक सुनियोजित तरीक़े से शहर पलायन कराने की रणनीति अपनायी गई है। शहरों में इसे 'तैरती जनसंख्या' (लिउदौंग रेन्कोउ) माना जाता है जो उद्योग-धंधों और सम्पन्न लोगों के लिए सस्ते श्रम का स्रोत है।

यह तैरता जनसमूह अपने मूल स्वभाव के अनुरूप जड़विहीन है — आज यहाँ तो कल कहीं और। डर इस बात का था कि अगर उनमें से सार्स पीड़ित लोग घबरा कर अपने गाँव लौट गये तो वे क़हर ढा देंगे। वो इसलिए क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों में 1949 की क्रांति के बाद समतावादी माहौल में पनपी मशहूर स्वास्थ्य व्यवस्था आज छिन्न-भिन्न हो चुकी है। उस ज़माने के bare-foot doctors जिन्होंने पैदल घूम-घूम कर लोक-इलाज और स्वास्थ्य जागरूकता की अनूठी घुट्टी ईजाद की थी आज बाज़ारवाद की गोद में जा बैठे हैं। सार्स जैसी अभूतपूर्व और गंभीर बीमारी से निपटने की औक़ात ग्रामीण स्वास्थ्य सेवाओं के पास अब नहीं थी। अचानक चीन के विकसित शहरी और पिछड़े ग्रामीण इलाक़ों के बीच गहरी होती खाई, क्षेत्रीय असमानताएँ और ग़ैर-बराबरी के नये लक्षण उसके अद्‌भुत विकास और आधुनिकता की चमक फीकी करने लगे। भला इसे कैसे बर्दाश्त किया जा सकता था।?



सार्स के विरुद्ध दुंदुभि बजा दी गई। चीनी राज्य की अकूत शक्ति और समाज को लामबंद करने की क्षमता प्रकट हुई। संदिग्ध सार्स रोगियों को पकड़ कर विशेष अस्पतालों में भर्ती कर समाज से काट दिया गया। उस समय तक बीमारी को जितना समझा गया था उसके हिसाब से यह ज़रूरी माना गया। प्रभावित इलाक़ों की नाकाबंदी कर दी गयी। अफ़वाह गर्म थी कि बेजिंग में कर्फ़्यू लगा कर शहर की सीमा सील कर दी जायेगी मगर ऐसा हुआ नहीं और फिर सब कुछ उल्टा होने लगा। डॉक्टरों ने ये बताया कि बन्द कमरों में रहने से रोग से बचाव नहीं होगा। लोगों से अब यह आग्रह किया जाने लगा कि वे खिड़कियाँ खोलें और खुले स्थानों में घूमें-फिरें और व्यायाम करें। नतीजतन सारे पार्क लोगों से भर गये। बाग़ों, झीलों और मोहल्ले के पार्कों में लगे झूलों पर लोग अपने परिवारों के साथ खेलन-कूदने लगे। दुकानों से बैडमिंटन रैकेट ग़ायब हो गये क्योंकि जगह-जगह लोग खेल में हाथ आज़माने लगे। चीन में वृद्ध लोग अकसर धीरे-धीरे उल्टा चलते दिखायी पड़ते हैं क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि उल्टे क़दम चलना पीठ दर्द दूर करता है और ध्यान केन्द्रित करने में मदद करता है। सार्स ने अब पूरे समाज की जैसे दिशा ही उलट दी। जो ख़ोमचे वाले पहले मौसमी फल और शकरकंद बेचते थे, अब नाक-मुँह पर लगाने वाले नक़ाब (mask) बेचने लगे। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भी भला कैसे पीछे रहतीं: 'मैक्डॉनल्ड जाओ और बर्गर के साथ एक मास्क मुफ़्त पाओ।' सड़कों पर थर्मामीटर यूँ बिकने लगे जैसे भारत में चुरमुरा और पान मिलता है। पूरे शहर से कीटनाशक दवाई की गंध आने लगी और अनेक इमारतों में प्रवेश से पहले एक कैमरानुमा यंत्र शरीर का तापमान नापने लगा कि कहीं बुख़ार तो नहीं।

यह सब कुछ शायद बीमारी को क़ाबू में लाने के लिए ज़रूरी था। लेकिन ये सवाल भी महत्वपूर्ण है कि इसके बहाने क्या हुआ और चीनी समाज को सार्स के दर्पण में अपना चेहरा कैसा नज़र आया? जहाँ पहले बीमारी के लिये बाहरी तत्त्वों को ज़िम्मेदार ठहराने की कोशिश की गयी थी, अब उसके फैलने के लिए आम चीनी की बुरी आदतों को दोष दिया जाने लगा। लोगों की अस्वच्छ आदतों पर हल्ला बोला गया। कहा जाने लगा कि आम लोग सड़कों पर थूकते हैं, ठीक से हाथ नहीं धोते, दाँत साफ़ नहीं करते और नहाने से जी चुराते हैं। और बाज़ारों का यह हाल था कि वे व्यक्तिगत सफ़ाई के लिए सैकड़ों साबुन, मंजन, शैम्पू, लोशन से पटे पड़े थे। कहाँ एक ओर आधुनिक तकनीक से बनी ढेरों चीज़ें और लोग जाहिल! वो समाज भला आधुनिक कहलाने लायक़ कैसे हो सकता है जहाँ लोगों की आदतें गंदी हों और जहाँ कीटाणु हों! आख़िर एक कीटाणु मुक्त समाज ही आधुनिकता का दावा ठोंक सकता है। चीन की बरसों की मेहनत पानी में जाती दिखायी पड़ने लगी। ये तो अच्छा हुआ कि सार्स कैनेडा जैसे विकसित देश में भी फैला जिससे चीनी आधुनिकता की लज्जा बचाने में मदद मिली।

चूँकि रोग का कोई कारगर इलाज किसी भी चिकित्सा पद्धति में नहीं मिल पा रहा था इसलिए चीन में लोग पारंपरिक चीनी इलाज की ओर मुड़े। पश्चिमी दवाओं की बजाय तरह-तरह के चीनी नुस्ख़े आज़माये जाने लगे। लेकिन परंपरा की ओर यह झुकाव भी एक अति-राष्ट्रवादी एजेण्डे का शिकार होता नज़र आया। यह भावना तीव्र होने लगी कि चीनी चिकित्सा पद्धति में सार्स का कुछ न कुछ निदान अवश्य है और इस तरह से वह पश्चिमी इलाज विधि से बेहतर है। यहाँ अहम सवाल ये नहीं है कि सार्स का इलाज कौन ढूँढेगा? महत्वपूर्ण मुद्दा ये है कि सार्स को जीतने की मुद्रा अपनाने वाला समाज जीतने के लिए किस वैचारिक ऊर्जा का प्रयोग कर रहा है? सब कुछ जीत लेने की अदम्य आकांक्षा — चाहे वो विश्व बाज़ार हो, प्रकृति हो या बीमारी — क्या डरावनी नहीं है?

सार्स के बहाने चीन की आधुनिकता को उलाहने

1949 की क्रांति के बाद चीनी समाज में हैरतअंगेज़ बदलाव आया है। 1976 तक माओ और चाउ एन लाई का युग रहा जिसमें ग्रेट लीप फ़ॉर्वर्ड (लंबी या महान छलाँग, 1958) तथा सांस्कृतिक क्रांति (1966-76) जैसे उथल-पुथल भरे किन्तु अनूठे दौर रहे। 1978 के बाद देंग शिआओ पिंग के नेतृत्व में चीन में आर्थिक सुधारों का जो सिलसिला शुरू हुआ वो आज भी अनवरत जारी है। गत पच्चीस वर्ष में चीन ने अभूतपूर्व आर्थिक विकास दर हासिल की है। आँकड़े करिश्माई हैं — सकल घरेलू उत्पाद दर में नौ से दस प्रतिशत की सालाना बढ़ोत्तरी हुई है और ग़रीबी में ज़बर्दस्त कमी आयी है। सन् 2002 में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश 52 अरब डॉलर हो गया और चीन ने इसमें अमरीका को दूसरे स्थान पर ढकेल दिया। यह आँकड़े हवाई नहीं हैं बल्कि आँखों को चुँधियाते हैं। आज बेजिंग और शंघाई ही नहीं, चीन के अपेक्षाकृत छोटे शहरों में भी ठोस समृद्धि दिखाई पड़ती है। बेजिंग का गौरवशाली अतीत और उसके अवशेष आज आधुनिक ढाँचों के बीच कसमसा रहे हैं।

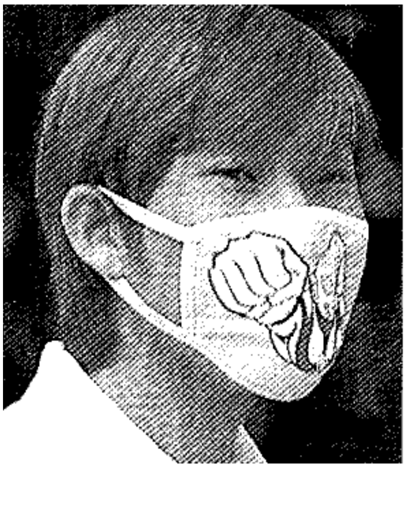
विदेशी पर्यटक यह नहीं तय कर पाते कि चीन के महान अतीत से अभिभूत हुआ जाये या वर्तमान की उपलब्धियों से। जिधर देखो चौड़ी सड़कें, फ़्लाईओवर, चमकदार मॉल, रेस्त्राँ, रिहायशी गगनचुंबी अट्टालिकाएँ, बैंक — ग़ज़ब का 'समाजवादी' वैभव! निश्चित रूप से पिछड़े इलाक़े भी हैं लेकिन समृद्धि केवल मरीचिका नहीं है — पुराने बर्तनों पर की गयी कोरी क़लई नहीं है। दुनिया भर में बिकने वाला सस्ता चीनी सामान इसका अहसास तो कराता ही है। आख़िर यह चीन में बन रहा है, बिक रहा है, मुनाफ़ा दे रहा है। आज विशेषज्ञ सहमत हैं कि चीनी आर्थिक करिश्मा पहले हुए 'पूर्वी एशियाई करिश्मे' से भी बड़ा है। याद रहे कि दक्षिण कोरिया, सिंगापुर, हाँग-काँग और ताइवान की आर्थिक उपलब्धियाँ अपेक्षाकृत कम लोगों को हासिल हुईं। चीन तो 130 करोड़ लोगों का देश है।

आज चीन में ग़ैर-बराबरी उभरी है लेकिन विशेषज्ञ मानते हैं कि आर्थिक विकास आज भले ही समता पर आधारित न हो किन्तु उसमें बहुसंख्यक चीनियों की भागीदारी है। चीन का वर्तमान आर्थिक विकास क्रांति के बाद की सामाजिक उपलब्धियों के दम पर हो रहा है। समाजवादी दौर में शिक्षा, स्वास्थ्य और महिलाओं के प्रति अधिक बराबरी से युक्त नज़रिये जैसी उपलब्धियों को समाजवाद के कट्टर आलोचकों को भी मन मार कर स्वीकार

करना पड़ता है। वे समाजवाद की विफलता और पूँजीवाद की कामयाबी का राग चाहें तो अलाप लें किन्तु अधिकांश चीनियों को आज इससे मतलब नहीं है कि उनके समाज को समाजवादी, पूँजीवादी या 'समाजवादी बाज़ार अर्थव्यवस्था' का नाम दिया जाये। ऐसा लगता है कि यह गुत्थी सुधारवाद के जनक देंग शिआओ पिंग ने सुलझा दी है। उनकी इस प्रसिद्ध उक्ति ने व्यावहारिक होने को फ़लसफ़े का दर्जा दियाः "बिल्ली का रंग काला हो या सफ़ेद अगर वह चूहा पकड़ सकती है तो रंग से क्या फ़र्क़ पड़ता है।"

व्यवहार कुशल चीन में आज वर्ग संघर्ष और अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद की गूँज नहीं सुनायी पड़ती। ये नारे वहाँ की विचारधारा से उसी तरह ग़ायब हो गये हैं जैसे वो 'लाल किताब' जो सांस्कृतिक क्रांति (1966-76) की प्रतीक बन गई थी। अब 'लाल किताब' थियानन्मेन चौक पर माओ की तस्वीरों और चाबी के गुच्छों के साथ पर्यटकों को लुभाने के लिए बेची जाती है। इस चौक पर 1989 में छात्रों पर टैंक चढ़ाये जाने की दर्दनाक घटना को चीनी प्रशासन स्मृति से मिटा देना चाहता है या ज़्यादा से ज़्यादा थोड़ा खेद प्रकट कर पुरानी बातों को भूल जाने का आग्रह करता है। जनतंत्र की माँग करने वाले छात्रों की जान फिर भी शायद पूरी तरह व्यर्थ नहीं गयी। आज चीन में पहले की तुलना में ज़्यादा आज़ादी है हालाँकि राजनीतिक सुधारों की गति आर्थिक सुधारों की अपेक्षा काफ़ी धीमी है। लोगों से जब प्रजातंत्र के बारे में पूछो तो थोड़ा रक्षात्मक हो कर कहते हैं — 'लोकतंत्र का केवल पश्चिमी रूप ही सब कुछ नहीं है। हमारे यहाँ चीनी संस्कृति के अनुरूप लोकतंत्र है और सांस्कृतिक क्रांति के ज़माने की तुलना में आज कहीं ज़्यादा स्वतंत्रता है जिसकी कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।'

यक़ीनन आज चीन में पहले की तरह पाबंदिया नहीं रहीं और यह ग्लोबल होते चीन में उतनी संभव भी नहीं हैं। आज तो वहाँ अमीर होने का भूत सवार है। देंग शिआओ पिंग ने तो यहाँ तक कहा कि अमीर होना गौरव की बात है यानी 'गर्व से कहो हम अमीर हैं'! चीन आज दुनिया की छठी बड़ी अर्थव्यवस्था है और उसकी मंशा है कि सन् 2020 तक जापान और सन् 2050 तक अमरीका को पछाड़ कर नंबर एक दर्जा हासिल करे। यह एक महत्वाकांक्षी राष्ट्रीय कामना है — विशालकाय और दैत्याकार। यह राष्ट्रवादी तमन्ना सुरसा की तरह सब कुछ निगल जाना चाहती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रौद्योगिकी और संस्कृति का धुआँधार इस्तेमाल किया जा रहा है। हर योजना बड़ी और राष्ट्र पर चार चाँद लगाने वाली होनी चाहिये। दुनिया में बड़ी बाँध परियोजनाएँ पर्यावरण की दृष्टि से संदिग्ध हो चली हैं परन्तु चीन में विशालकाय *थ्री गॉर्जेज़* प्रॉजेक्ट पर काम ज़ोरों से चालू है और जब यह परियोजना पूरी होगी तो विश्व की सबसे बड़ी होगी। अमरीकी कार कंपनी जनरल मोटर्स का आकलन है कि सन् 2025 तक चीनी कार बाज़ार अमरीका के कार बाज़ार से बड़ा हो जायेगा। ऐसे अनुमान आज बहुत सारे चीनी लोगों को गुदगुदाते हैं और गर्व महसूस कराते हैं। राजधानी बेजिंग में इस समय 121 संग्रहालय हैं। सिर्फ़ पेरिस में इससे ज़्यादा हैं, मगर बस कुछ वर्षों की बात है। सन् 2008 तक बेजिंग 130 संग्रहालयों के साथ पहले स्थान पर होगा। सन् 2008 वो रोमांचक वर्ष है जब बेजिंग शहर में ओलम्पिक खेलों का आयोजन होगा। कहना न होगा कि तब पदक तालिका में चीन अव्वल दर्जा हासिल करने की जी-तोड़ कोशिश करेगा। ओलम्पिक के लिए बेजिंग में तैयारियों का जुनून ग़ज़ब का है। पुराने ऐतिहासिक मकानों और गलियों (हुतौंग) का नवीनीकरण किया जा रहा है। उनकी जगह ले रहे हैं शॉपिंग मॉल, बैंक, भव्य इमारतें — यानी कंक्रीट ही कंक्रीट। शहर को साफ़ कर उसे ऐसा शानदार बनाने की कोशिश की जा रही है जिससे सन् 2008 में आने





वाले खिलाड़ी और दर्शक दाँतों तले उंगलियाँ दबा लें। बेजिंग ओलम्पिक आधुनिकता की वह फ़र्राटा दौड़ है जो चीन जीतने के लिए बेताब है।

प्रेक्षक लगातार कह रहे हैं कि चीन में महत्वपूर्ण नीतिगत निर्णय सरकारी और उद्योग-व्यापार जगत का अभिजात वर्ग लेता है। ग़ौरतलब है कि वर्तमान चीन के सभी शीर्ष नेता इंजीनियर या प्रौद्योगिकी में प्रशिक्षित हैं। यह वर्ग पश्चिमी तकनीकी विकास के तरीक़ों में महारत हासिल कर पश्चिम से आगे निकलना चाहता है। चूँकि फ़िलहाल यह विकास फल दे रहा है इसलिए पेड़ गिनने में उसकी दिलचस्पी कम है। आर्थिक विकास के केन्द्र में है आधुनिक प्रौद्योगिकी जो सामाजिक जीवन में रचती-बसती जा रही है। हालाँकि चीन में स्थानीय ज्ञान-विज्ञान के योगदान का लम्बा इतिहास रहा है लेकिन आज लगता है यह लोक-ज्ञान हाशिये पर चला गया है। वर्तमान चीन की विकास रणनीति की तकनीकी महत्वाकांक्षा भीमकाय है परन्तु उसकी परिकल्पना की जड़ें पश्चिमी चिन्तन और इतिहास में हैं। पश्चिम में आधुनिक प्रौद्योगिकी-केन्द्रित विकास क्रम के साथ आलोचनात्मक विमर्श भी उभरे हैं। चीनी शासक समूहों ने पश्चिमी मॉडल तो अपना लिए हैं मगर उनके आलोचनात्मक पहलुओं की अनदेखी की है। अधीनस्थ वर्गों का ज्ञान जो अनेक विकल्प प्रस्तुत कर सकता है — जिसे चिन्तक मिशेल फ़ूको ने 'दमित ज्ञान' कहा है — चीनी हुक्मरानों ने उसे नीतियों में शामिल करने में हिचक दिखायी है। ऐसा क्यों?

ऐसा इसलिए हो रहा है क्योंकि वर्तमान चीन आधुनिकतावादी महानता की तलाश में है। उसका कामयाब आर्थिक विकास राष्ट्रवाद की चाशनी में डूबा हुआ है। यह तरह-तरह के अन्तर्विरोध पैदा कर रहा है। आज का चीन आर्थिक रूप से अदम्य उपभोक्तावाद के दम पर पश्चिमी समाजों की तरह आधुनिक दिखना चाहता है। महान आधुनिक राष्ट्र बनने के सपने को पूरा करने के लिए प्राचीन सभ्यता की सांस्कृतिक पूँजी का भी भरपूर इस्तेमाल किया जा रहा है। चीन में यह भाव ज़ोर पकड़ता जा रहा है कि इक्कीसवीं सदी 'उसकी' होगी। वहाँ यह मान्यता मज़बूत होती जा रही है कि चीन कभी विश्व के मध्य में था मगर औपनिवेशिक षडयंत्र की वजह से केन्द्र से खिसक गया किन्तु अब पूरी दुनिया का ताना-बाना उसके इर्द-गिर्द बुना जायेगा। यह एक क़िस्म की आहत या जकड़ी हुई मानसिकता है। जकड़न से मुक्त होने की उसकी इच्छा से शायद सहानुभूति हो सकती है किन्तु चीन के एक घायल शेर बन जाने का डर भी है — वो जो बदला लेने पर उतारू हो। खिड़की-दरवाज़े खोल देने के बावजूद चीन में विदेशियों के खिलाफ़ काफ़ी तल्ख़ी और अविश्वास मौजूद है। इसकी जड़ें पश्चिमी ताक़तों और जापान के सामने झुक जाने के इतिहास में धँसी हुयी हैं। मगर आज विश्व बाज़ार और कूटनीति के अखाड़े में चीन को अमरीका और जापान से हाथ मिलाना पड़ रहा है। कहीं न कहीं चीन को इससे भारी बेचैनी होती है। लेकिन क्या यह बेचैनी अकेले चीन की है? यह तो उन तमाम राष्ट्रों में महसूस की जा सकती है जो उपनिवेशवाद की गिरफ़्त से बाहर आ कर वैश्वीकरण की चपेट में आ गये हैं।

आज के दौर के अनेक प्रखर चिन्तकों का आग्रह है कि ऐसे देशों को अपनी आधुनिकता और राष्ट्रवाद की विसंगतियों की जाँच-पड़ताल करनी होगी। आधुनिकता पर चल रही विश्वव्यापी सैद्धांतिक चर्चा से उसके बहुआयामी पक्ष उभरे हैं। अठारहवीं सदी के बाद प्रबुद्धवाद, जनतंत्र, तर्कवाद, विज्ञान और पूँजीवाद के साथ जो पश्चिमी आधुनिकता अपना प्रभुत्व जमाने में कामयाब हुयी है, अब यह मानना मुश्किल है कि आधुनिकता का वही सर्वव्यापी और एकमात्र रूप है। आधुनिकता के कई संस्करण संभव हैं और यह ज़रूरी नहीं कि वे किसी पूर्वनिर्धारित मानक मापदंडों पर खरे उतरें। आधुनिकताएँ तरह-तरह की हो सकती हैं जो किसी संस्कृति और इतिहास के अनुरूप गढ़ी जाती हैं और पश्चिमी आधुनिकता की मूल अवधारणा की साझेदार होते हुए भी उसकी फ़ोटोकॉपी नहीं होतीं। वे आचार-विचार में आलोचना से परे नहीं हैं और बहस से बच नहीं सकतीं। भारतीय आधुनिकता के स्वरूप पर बहस उन्नीसवीं सदी से शुरू हो कर हाल के वर्षों में तेज़ हुयी है। चीन में भी यह बहस रही है किन्तु आधुनिकता और राष्ट्रवाद के पर्याप्त आलोचनात्मक स्वर वहाँ सुनायी नहीं पड़ रहे हैं।



सुधारों के बाद अपनी आर्थिक सफलता के नशे में चूर चीनी नेता अपने राष्ट्र को महानतम बनाने का आह्वान करते रहते हैं। सन् 2002 में हुयी सोलहवीं पार्टी कॉङ्ग्रेस में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में पूर्व राष्ट्रपति जिआँग ज़ेमिन ने स्पष्ट कहा कि चीन में सभी ताक़तों को एकजुट करना चाहिये ताकि "राष्ट्रीय एकता के महान उद्देश्य और चीनी राष्ट्र के महान पुनरुत्थान" को संभव बनाया जा सके। ज़ाहिर है इससे चीन के पड़ोसी देश चिन्तित हैं क्योंकि ड्रैगन का कुम्भकरणीय नींद से जगना न जाने क्या गुल खिलायेगा?

कुल मिला कर 1978 के बाद, सुधारों के चक्कों पर सवार चीनी रथ जिस अभियान पर निकला है उसका एकमात्र ध्येय है विजय। इस धुन में चीन, पश्चिमी आधुनिकता, विकास मॉडल और प्रौद्योगिकी का उपभोक्ता बन अग्रणी राष्ट्र बनने पर आमादा है। इसमें सब कुछ जीत लेने की तमन्ना है और यह 'ग्रेट वॉल' मानसिकता से लबरेज़ है। इसमें सामाजिक डार्विनवाद का भी ख़तरा है। सार्स ने चीन के विजय अभियान के पथ में रोड़े अटकाये। हालाँकि बीमारी होने की वजह से उसे कुचल देने में किसे शिकायत होगी किन्तु सार्स ने आर्थिक विकास केन्द्रित राष्ट्रवाद और आधुनिकता में मौजूद दरारों के प्रति आगाह किया। चीन की 'महानता' शायद तभी ज़ाहिर होगी जब वह राष्ट्र-राज्य की वैचारिक परिधि के परे वैकल्पिक आधुनिकताओं के निर्माण में योगदान देगा। ऐसा होने की कितनी उम्मीद है? फिलहाल तो....

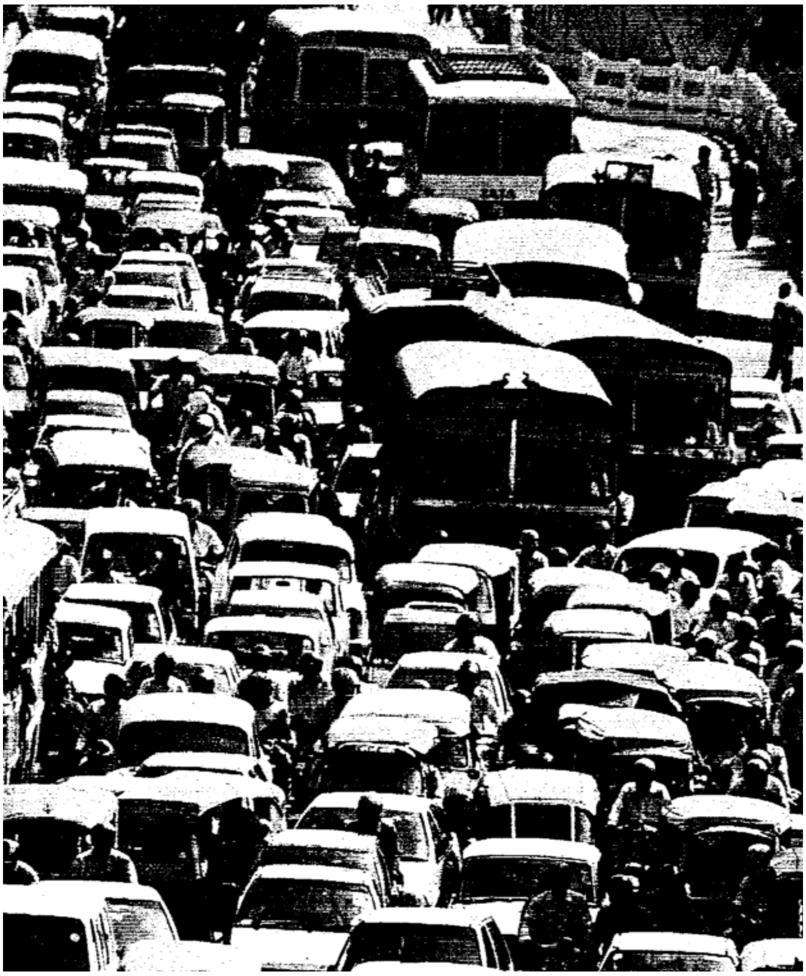
यहाँ जनवरी 1836 का एक क़िस्सा प्रासंगिक है। औपनिवेशिक भारत में कलकत्ता मेडिकल कॉलेज में पंडित मधुसूदन गुप्त और उनके चार भारतीय छात्रों ने पहली बार एक मुर्दे की चीर-फाड़ की। तब भारत में ब्रितानी शासन का सूरज उग रहा था। अंग्रेज़ी हुकूमत ने उसे पश्चिमी विज्ञान और चिकित्सा पद्धति के साथ अपनी सभ्यता की विजय का प्रमाण माना। हिंदुस्तानियों के इस कारनामे की शाबाशी के लिए कलकत्ता के फ़ोर्ट विलियम की तोपों से पचास-राउण्ड गोलों की सलामी दी गयी। कोई आश्चर्य नहीं होगा अगर सार्स विजय के बाद चीन से ऐसी सलामी के धमाके सुनाई पड़ें।



स्वच्छता के दावेदार

समकालीन दिल्ली में पर्यावरण और इंसाफ़

अवधेन्द्र शरण



"नई दिल्ली गराज मालिकों का स्वर्ग होगी। यहाँ पेट्रोल के बिना ज़िंदगी ग़ैर-मुमकिन होगी... शहर की योजना सबसे बड़े नौकरशाह की दफ़्तरी मेज़ के इर्द-गिर्द बुनी जाएगी, जहाँ हमारे साम्राज्य की तमाम रेलवे लाइनों, तार व सड़कों का संगम तो हो जाएगा लेकिन यहाँ इसकी आत्मा को ठिकाना नही मिल पाएगा।"[1]

"सार्वजनिक स्वास्थ्य का ताल्लुक़ जनता से है... उन्नीसवी शताब्दी के सार्वजनिक स्वास्थ्य... को इस काल की जनता की अवधारणा (जनमत, जनहित आदि) के स्तुतिगान के संदर्भ में ही समझा जाना चाहिए।"[2]

आज की दिल्ली काम करने और रहने की चाह के बीच बेचैनी से झूलती दिखती है। जहाँ नज़र डालिए, शहर में एक क़िस्म की जल्दबाज़ी और अफ़रा-तफ़री दिखाई देती है। यह अफ़रा-तफ़री ज़िंदगी और काम के बीच चलने वाली इस जद्दोजहद में उलझे आदमी को एक हानि-लाभ के अजीब दुष्चक्र में डाल देती है — 'जनता' के लिए साफ़ और तरोताज़ा हवा का इंतज़ाम करना ज़रूरी है, फिर भले ही इसके लिए लोगों की नौकरियाँ चली जाएँ, शहर के हित में साफ़ ईंधन का भी इंतज़ाम करना है भले ही उसकी वजह से ऑटोवालों को रात-दर-रात पेट्रोल पम्प के सामने क़तार में गुज़ारनी पड़े। (लब्बोलुआब ये कि जिनके लिए इतने इंतज़ामात हो रहे हैं उन्हीं की ज़िंदगी बेआराम हुई जा रही है।) भारी ऊँच-नीच वाले इस शहर की आधुनिक बुनियाद इस सिद्धांत पर रखी गई थी कि लोगों की हैसियत को आवासीय श्रेणियों और 'केंद्र' से दूरी के आधार पर कूटबद्ध किया जाएगा। ज़ाहिर है ऐसे शहर में साफ़ आबो-हवा की चाह में टकराहट की पूरी गुंजाइश है। आदर्श स्थिति में ऐसा होना ज़रूरी नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 21 की रचनात्मक व्याख्या की है। व्याख्या में कहा गया है कि राज्य को हर लिहाज़ से इंसाफ़ और निष्पक्षता का ख़याल रखना चाहिए। अपनी व्याख्या में न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर कहते हैं, "जीवन के अधिकार का मतलब है आजीविका का अधिकार, सम्मानजनक ज़िंदगी का अधिकार। इसका मतलब है प्रत्येक नागरिक को स्वास्थ्य, पीने के पानी, प्रदूषण मुक्त वातावरण और जीने लायक़ जैवमंडल का अधिकार मिले। ये सभी जीवन के अधिकार का हिस्सा हैं।"

आज दिल्ली और बाक़ी शहरी भारत की सबसे बड़ी दुविधा 'जीवन के अधिकार' की परिभाषा या उसके आशय को लेकर नहीं है। यह दुविधा इस शहर में निहित अंतर्विरोधों को ही लेकर है — एक तरफ़ मेहनतकशों की आजीविका का सवाल है और दूसरी तरफ़ सार्वजनिक स्वास्थ्य का, एक तरफ़ इज़्ज़तदार ज़िंदगी का सवाल है तो दूसरी तरफ़ एक 'साफ़' शहर की चाह है।

यह दिल्ली का पहला सफ़ाया अभियान नहीं है। दिल्ली में घिच-पिच बसाव, हवा की आवाजाही, गंदगी की निकासी, हरियाली के पोषण और हानिकारक व्यवसायों को लेकर उठने वाली चिंताएँ उन्नीसवीं सदी के मध्य से ही दिखाई देने लगी थीं। कुछ दशक पहले शहर की स्वच्छता की ख़ातिर झोंपड़पट्टियों और दूधियों को शहर से बेदख़ल किया गया था। इस प्रसंग में एक ध्यान रखने वाली बात यह है कि औपनिवेशिक काल के नगर नियोजन का मक़सद एक नस्ली फ़र्क़ को रेखांकित करना था। यह आश्चर्य की तो नहीं परंतु दिलचस्प बात ज़रूर है कि औपनिवेशिक नियोजन को भी जनहित में ही वाजिब ठहराया जाता था। शहर से झोंपड़पट्टियों को यह मानकर हटाया गया था कि "शहर में अनगिनत घटिया झोंपड़पट्टियाँ पैदा हो चुकी हैं जहाँ की गंदी गलियाँ और दरबे जैसे मकान दिल्ली के समूचे शहरी इलाक़े में जनता की सेहत के लिए एक भयानक ख़तरा हैं।"[3] आज़ादी के बाद लोकतांत्रिक तौर-तरीक़ों की हवा बहने लगी। इन नए तौर-तरीक़ों की माँग थी कि अब तक ऊपर से सुधार का जो तरीक़ा अपनाया जाता था उस पर अंकुश लगाया जाए। सार्वजनिक स्वास्थ्य की देखभाल में स्थानीय आकांक्षाओं के प्रति संवेदनशीलता और सामुदायिक सहभागिता की ज़रूरत महसूस की जाने लगी। परंतु इमरजेंसी के दौरान झोंपड़पट्टियों के सफ़ाये की मुहिम में ये सारी अच्छी-अच्छी बातें तार-तार हो गईं। शहर के इर्द-गिर्द पुनर्वास बस्तियाँ अस्तित्व में आने लगीं। इन बस्तियों में सड़क, जलापूर्ति, साफ़-सफ़ाई और पार्कों के साथ-साथ छोटे-छोटे उद्योग-धंधे भी चलने लगे जहाँ लोगों को रोज़गार मिल सकता था। ज़ाहिरा तौर पर "यह सामाजिक क्रांति की दिशा में उठाया गया एक ऐतिहासिक क़दम था, एक ऐसा रुझान जो निकट भविष्य में शहरी ग़रीबों के लिए सामाजिक न्याय का रास्ता खोल देगा।"[4] बहरहाल, यह निकट भविष्य दूर ही होता गया, नज़दीक से देखने पर ऐसा लगता है कि ये बस्तियाँ भी "नियोजित झोंपड़पट्टियों"[5] से बेहतर नहीं हैं। संक्षेप में, हालाँकि शहरी पर्यावरण से संबंधित विमर्श एक औपनिवेशिक पुलिसिया राज की छत्र-छाया से निकल कर लोकतांत्रिक राजनीति के दायरे में आ चुका है परंतु इस विमर्श में ग़रीब-विरोधी भेदभाव यथावत क़ायम दिखाई देता है। और सामाजिक न्याय की लफ़्फ़ाज़ी भी शहर के ज़्यादातर बाशिंदों के लिए न तो इज़्ज़त की ज़िंदगी बख़्श पायी है और न ही साफ़ पर्यावरण का इंतज़ाम कर पायी है।

समकालीन पर्यावरणवाद

दिल्ली के पर्यावरण को लेकर चलने वाली समकालीन बहसों में लंबे समय से क़ायम इन रुझानों को एक तरफ़ तो हवा दी जा रही है और दूसरी तरफ़ उनसे फ़ासला बरता जा रहा है। एक बदलाव ये आया है कि इस विमर्श का दायरा अब ख़ूब फैल गया है। अब यह विमर्श सिर्फ़ झोंपड़पट्टियों की चिंता या किसी महामारी के भय या कल-कारख़ानों के लिए जगह के चुनाव तक सीमित नहीं है। अब इस विमर्श की ज़द में ये सभी (और कई नए) तत्त्व शामिल हैं। इस समुच्चय के चलते ही शहर के क्षैतिज बदलावों की प्रक्रिया में पहले से ज़्यादा गति और निर्ममता पैदा हुई है। नतीजा, इस शहर में रहना रोज़ाना एक नई शुरुआत बन गया है। आप रात को बैठ कर यक़ीन से नहीं कह सकते कि कल आप कहाँ से सब्ज़ियाँ ख़रीदेंगे/बेचेंगे, आवाजाही का समय/साधन क्या होगा, कूड़ा फेंकने के साधन/ज़रिए क्या होंगे या कल घर में पानी आएगा अथवा नहीं। 1994 में प्लेग का ख़ौफ़, 1996 में डेंगू, उसी साल ख़तरनाक उद्योगों को बंद करने के लिए जारी किए गए अंतरिम आदेश, सन् 2000 में कारख़ानों के स्थानांतरण का दूसरा दौर, हाल के वर्षों में सीएनजी की मुहिम और इन तमाम सालों के दौरान झोंपड़पट्टियों (जहाँ के लोग दिल्ली के नागरिकों को मिलने वाले पानी और बिजली पर कथित रूप से 'डाका' डालते रहते हैं और जो दिल्ली के मध्यवर्गीय शहरियों को एक आँख नहीं सुहाते) का लगातार सफ़ाया — इन सारी बातों ने पर्यावरणीय ख़तरों के मुद्दे पर एक क़िस्म की जल्दबाज़ी का अहसास तारी कर दिया है। इन घटनाक्रमों के चलते अब यह एक बेइंतहा सार्वजनिक मुद्दा बन गया है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि दिल्ली की शक्लो-सूरत और सामाजिक ज़िंदगी को तय करने में पर्यावरण का मुद्दा सबसे अहम भूमिका निभा रहा है। अब यह 'विकास' की राह पर नाक की सीध में आगे बढ़ते हुए साफ़-सफ़ाई करते रहने भर का मुद्दा नहीं है। हालाँकि यह रवैया भी अभी क़ायम है लेकिन दूसरी तरफ़ अब यह सोच भी जड़ें जमाने लगी है "कि बिजली, सड़कों, तरक़्क़ी, और संपन्नता के साथ-साथ एक साफ़-सुथरे पर्यावरण का भी इंतज़ाम कर लेने में क्या बुराई है।"[6] अब ख़ुद विकास का समूचा मॉडल ही दाँव पर है। इस बात का दबाव बढ़ता जा रहा है कि इस "ग़ैर-टिकाऊ, अवांछित, पारिस्थितिकीय दृष्टि से विनाशकारी और ग़ैर-बराबरी को बढ़ावा देने वाले मॉडल"[7] को रद्द किए बिना काम चलने वाला नहीं हैं।

दूसरे, पर्यावरणीय मुद्दों का रूप-रंग तय करने वाली भाषा में भी बदलाव आया है। यह बदलाव दो स्तरों पर दिखाई देता है। सूत्रीकरण के लिहाज़ से पहला बदलाव यह है कि अब प्रतीकों की जगह वैज्ञानिकता ने ले ली है। शहर के कचरे को रातोंरात बुहार कर बाहर फेंक देने का इरादा रखने वाले झाड़ूधारी स्थानीय भद्रजन — यह छवि अब अतीत का हिस्सा बन चुकी है। तस्वीरें खिंचवाने के लिए इस तरह की छवियों का महत्व भले ही बना रहे मगर अब ये तस्वीरें भी उबाऊ दिखती हैं। कोई उन्हें पहले वाली निगाहों से नहीं देखता। इनकी जगह अब हमें एक बिल्कुल नई शब्दावली दिखाई देती है — pH लेवल, साफ़ ईंधन, सस्पेंडेड (हवा में लटके हुए) पार्टिक्युलेट मैटर, कॉमन एफ़्ल्युएँट ट्रीटमेंट प्लांट्स वग़ैरह। अब मीडिया में और हमारे इर्द-गिर्द इन शब्दों की भरमार दिखाई देती है। SO_2 स्तर की जानकारी देने वाले इश्तहारी बोर्डों से लेकर शहर के प्रदूषण का ब्यौरा देने वाली मौसम संबंधी रिपोर्टों और तकनीकी मामलों की विशेषज्ञ समितियों पर आश्रित क़ानूनविदों तक, हर कहीं इन्हीं का बोलबाला है।[8] मेरी राय में, एक अस्पष्ट से राजनीतिक शब्दजाल की जगह वस्तुपरक विज्ञान की स्थापना पर्यावरण से जुड़े मुद्दों पर हमारे अवधारणात्मक तरकश में एक अहम बदलाव का संकेत है।

एक दूसरे स्तर पर 'सार्वजनिक' भाषा और व्यक्तिगत व्यवहार के विमर्श के बीच सहज तालमेल नहीं बैठ पा रहा है। प्लास्टिक के इस्तेमाल पर रोक, पटाखों से परहेज़ के बारे में विद्यार्थियों को दिए जाने वाले उपदेशों और यमुना की सफ़ाई के लिए चलाए गए स्वैच्छिक अभियानों आदि के स्थान पर अब इस बात की उम्मीद सी पैदा होने लगी है कि पर्यावरण के रखरखाव को एक ज़ाती ज़िम्मेदारी भी बनाया जा सकता है। अभी यह एक छोटा सा रुझान है जो नियमन से जुड़े मुद्दों के इर्द-गिर्द होने वाली बहसों की चकाचौंध में बहुधा फीका पड़ जाता है। परंतु मेरा ख़याल है कि इस सोच की अहमियत कहीं और है। इस बात की अहमियत शायद पर्यावरणीय आत्मसहजता और 'अपनी देखभाल ख़ुद' की सोच पर पर एक नए आग्रह के बीच पैदा हो रहे तारतम्य और तालमेल में है। रेकी/योग, धूम्रपान-निषेध, सुरक्षित पानी, व्यायाम और संतुलित आहार आदि 'अपनी देखभाल

ख़ुद' की इसी सोच को प्रतिबिंबित करते हैं। यद्यपि यह आग्रह मध्य वर्ग की स्वास्थ्य संबंधी ज़रूरतों को संबोधित करता है लेकिन इसके लिए वृहत्तर शहरी समाज की भाषा का सहारा लिया जा रहा है। तर्क दिया जाता है कि पश्चिम में सार्वजनिक स्वास्थ्य का नया विमर्श व्यक्तिवाद, उपभोक्तावाद, पीड़ितों पर दोषमंडन, और उससे भी कहीं ज़्यादा बुनियादी तौर पर 'अधिकारों में निहित दायित्वों पर भी ज़ोर देने वाली नई नागरिक राजनीति'[9] से जुड़ा हुआ है। दिल्ली के मामले में यह कहना थोड़ी जल्दबाज़ी हो सकता है मगर इसमें कोई शक नहीं कि यहाँ 'स्व' और 'सर्व' की भाषाएँ एक-दूसरे में बुरी तरह उलझती जा रही हैं और यह तय है कि इस उलझाव से शहर की भावी शक्ल पर दूरगामी असर पड़ेंगे।

भाषा में आए बदलावों के साथ ही आज के शहरी पर्यावरणवाद का एक और ग़ौरतलब पहलू भी है। व्यवस्था तंत्र की संस्थागत संरचना में बदलाव आए हैं और इस नई व्यवस्था में अदालतें अहम भूमिका निभाने लगी हैं।[10] इस सिलसिले में दो मुद्दे एक-दूसरे से जुड़े हुए दिखाई देते हैं। पहला, वैधानिक सिद्धांतों में संशोधन, और दूसरा, (जैसा कि पीछे ज़िक्र किया जा चुका है) पर्यावरण से जुड़े मुद्दों पर विशेषज्ञ समितियों का बढ़ता दख़ल। जनहित याचिकाएँ न्याय का एक नया साधन बनी हैं और इस नई स्थिति से कई अहम बदलाव आए हैं। नतीजतन, 'न्याय का गुरुत्वाकर्षण केंद्र' 'परंपरागत व्यक्तिवाद' (अधिकारिता या *locus standi* एवं क्षति या tort) से हट कर 'समुदायोन्मुख' हो गया है। बुनियादी अधिकारों की व्याख्या में मार्गदर्शक सिद्धांतों का हवाला दिया जाने लगा है[11], 'एहतियाती उसूलों' को अपनाया जाने लगा है ताकि सुनिश्चित किया जा सके कि 'प्रदूषक ही हर्जाना भरे।' 'सच को साबित करने का भार' नए कंधों पर चला गया है और पीढ़ियों के बीच समता की सोच मान्यता पाने लगी है।[12] पर्यावरण को लेकर अस्तित्व में आए ताज़ा क़ानूनों के पीछे इन सभी पहलुओं की अहम भूमिका रही चाहे इन सबका असर एक जैसा न रहा हो। बहरहाल, यहाँ हम फ़ौरी तौर पर जो सवाल उठाना चाहते हैं वह पर्यावरणीय न्याय के क्षेत्र में न्यायालयों की सफलता और विफलता से नहीं बल्कि इस तथ्य से संबंधित है कि इन वैधानिक बदलावों पर भारी विवाद रहा है। इन बदलावों को संवैधानिक सिद्धांतों, लोकतांत्रिक तौर-तरीक़ों और नैतिकता के आधार पर चुनौतियाँ दी गई हैं। कहने का मतलब यह है कि क़ानून 'सार्वजनिक रूप से' काम करता है, जिसका आशय यह है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य/सार्वजनिक हित के मुद्दों को अपनी सार्वजनिकता 'सार्वजनिक' के अन्य आयामों, सबसे ख़ासतौर से जनमत, के साथ संतुलन में आने पर ही प्राप्त होती है।

इसके विपरीत, विज्ञान व वैज्ञानिक प्रबंधन की भाषा तथा विशेषज्ञों की भूमिका पर ख़ास टीका-टिप्पणी नहीं हुई है। उन सिद्धांतों के बारे में हमें ज़्यादा सुनने को नहीं मिलता जिनके सहारे जोखिमों का वैज्ञानिक आकलन लगाया जाता है या उनके वैज्ञानिक समाधान सुझाए जाते हैं। न ही उन प्रसंगों और संदर्भों के बारे में ज़्यादा चर्चा होती है जिनके ज़रिए पर्यावरणीय 'भले' और 'बुरे' का आकलन किया जाता है। इस मुद्दे पर जो भी थोड़ी-बहुत सार्वजनिक बहस दिखाई देती है वह बेमतलब की छींटाकशी तक ही सीमित है। साफ़ ईंधन के मुद्दे पर बहस में उलझे विशेषज्ञों की नीयत को लेकर उनके बीच चल रही खींचातानी और दुराग्रह भरे आरोप-प्रत्यारोपों में यह बात साफ़ दिखाई देती है। कहने की ज़रूरत नहीं कि विशेषज्ञों के दृष्टिकोणों का भी आलोचनात्मक मूल्याँकन होना चाहिए। पर्यावरणीय जोखिम और उपचारक मानकों का मूल्याँकन एक वैज्ञानिक अनिश्चितता के संदर्भ में किया जाता है। इनके प्रभाव भी पूरे समाज में में पीढ़ी-दर-पीढ़ी महसूस किए जाते हैं। स्वाभाविक है कि इस आकलन में स्वायत्तता और एजेंसी जैसे बुनियादी सवाल भी निहित रहते हैं। पर्यावरणीय जोखिम का मतलब क्या होता है, कौन से जोखिमों को बर्दाश्त किया जा सकता है और कौन से जोखिमों को बर्दाश्त नहीं किया जा सकता है, या पर्यावरणीय विनाश के 'स्वीकार्य' स्तर का मतलब क्या है — हमारे पास इन बातों पर फ़ैसला करने का कोई प्रदत्त पैमाना नहीं है। बल्कि इस हक़ीक़त को स्वीकार कर लेना ज़्यादा तर्कसंगत होगा कि अधिकांश पर्यावरणीय मुद्दों पर अलग-अलग वर्ग, लिंग, उम्र, सामाजिक हैसियत और भौगोलिक दूरी पर खड़े लोगों के बीच (प्रभाव, प्राथमिकताओं आदि के हिसाब से) भिन्नता ज़रूर रहेगी।

'भिन्नता' और पर्यावरणीय न्याय

'भिन्नता' और 'विशेषज्ञ ज्ञान' के बारे में विचार करते हुए हम दिल्ली में पर्यावरण संबंधी पुरानी और नई चिंताओं

के बीच दिखाई देने वाली निरंतरता पर पहुँच जाते हैं। निरंतरता इस बात में है कि पहले भी और अब भी पर्यावरण को लेकर उठने वाली चिंताओं में ग़रीब-विरोधी पूर्वाग्रह यथावत बना हुआ है। विडंबना यह है कि पर्यावरण से जुड़े मुद्दों के 'लोकतांत्रीकरण' के प्रभाव और उसकी वृहत्तर सार्वजनिक उपस्थिति से बहुत सारे हितों पर मानो पर्दा पड़ गया है। दिल्ली के पर्यावरण को लेकर होने वाली बहसों में दोनों ही पहलू दिखाई देते हैं — एक लिहाज़ से यह बहस बेहद व्यापक है तो दूसरी तरफ़ बेहद सीमित भी है। जब आज एक अमूर्त शहरी समाज की सेहत और पर्यावरणीय आवश्यकताओं को सामने रखा जाता है तो उस वक़्त भी इस बारे में समझ बहुत सीमित होती है कि अलग-अलग समुदायों की ज़रूरतों को कैसे पूरा किया जा सकता है या अलग-अलग समुदायों की पर्यावरणीय आवश्यकताओं के बीच पैदा हो रहे टकराव को कैसे हल किया जा सकता है।[13] यानी इस बात को बहुत कम मान्यता दी जा रही है कि पर्यावरण कोई अकेली इकाई नहीं है बल्कि वह बहुत सारे 'पर्यावरणों' में बँटा हुआ है। इसी से यह भी तय होता है कि पर्यावरण संबंधी जोखिमों को परिभाषित करने और उनका चुनाव करने के लिए सामुदायिक पात्रों के लिए अलग-अलग दायरे गढ़े जाएँ।

पर्यावरणवादी समाजशास्त्री बेक स्मॉग (धुआँसा : धुआँ जोड़ कुहासा) को लोकतांत्रिक मानते हैं।[14] संभवतः उनकी बात सही है। हमारे यहाँ, स्वास्थ्य और पर्यावरण पर केंद्रित सीएसई के न्यूज़लेटर में बताया गया है कि "तीव्र पर्यावरणीय बदलावों से पैदा हो रही आधुनिक बीमारियों की उभरती चुनौती व्यापक है और इससे ग़रीब व अमीर, दोनों समान रूप से प्रभावित होते हैं।"[15] इन नज़रियों का मक़सद 'क्षरण में समता' स्थापित करना नहीं है। इसीलिए ये दोनों प्रेक्षक अपनी राय के पक्ष में अतिरिक्त साक्ष्य देना नहीं भूलते। बेक की राय में, "ऐसा लगता है कि जोखिमों से वर्ग आधारित समाज का उन्मूलन नहीं होता बल्कि उसको और बल मिलता है।" दूसरी तरफ़ सीएसई का कहना है कि "ऐसी स्थितियों में सबसे बुरी मार ग़रीबों को झेलनी पड़ती है क्योंकि उन्हें औद्योगीकरण से पैदा हो रही बीमारियों और संसाधनों के तेज़ क्षरण, दोनों का सामना करना पड़ता है।" इसका मतलब है कि दिल्ली के पर्यावरण-सुधार अभियानों ने पहले से ही ग़रीबी की गर्त में पड़े लोगों को और हाशिए पर धकेला है। दिल्ली एक पुराना, प्राक्-औपनिवेशिक शहर है। यहाँ 'पुरानी दिल्ली' और लुटियंस के औपनिवेशिक लैंडस्केप से लेकर पचास-साठ के दशकों में बसी शरणार्थी बस्तियाँ, यमुना के दोनों तरफ़ बनी पुनर्वास बस्तियाँ, सम्पन्न हाउज़िंग सोसायटीज़ तथा जहाँ-तहाँ पैदा हो रही झोंपड़पट्टियों तक-सभी तरह की आवासीय श्रेणियाँ मौजूद हैं। औपचारिक और अनौपचारिक शहरी वातावरण के इस जटिल ताने-बाने में ग़रीब तबक़े के लोग मिश्रित आबादी और नितांत ग़रीब बस्तियों, दोनों जगहों में दिखायी देते हैं। दिल्ली की नौकरशाही और राजनीतिक अहलकारों ने जो पर्यावरणीय हल सुझाए हैं वह इस सिद्धांत पर आधारित हैं कि ये ग़रीब समुदाय, ख़ासतौर से सरकारी ज़मीन पर जबरन क़ब्ज़ा करके बैठ जाने वाले समुदाय, ही प्रदूषण के सबसे बुनियादी स्रोत हैं। विस्तृत पड़ताल करने पर यह मान्यता खोखली दिखाई देने लगती है। अगर पानी या साफ़-सफ़ाई सुविधाओं का सवाल उठाया जाए तो सच्चाई यह है कि सबसे ज़्यादा सब्सिडी शहरी अमीरों को मिल रही है और ग़रीबों को इन सुविधाओं का तुलनात्मक रूप से ज़्यादा बोझ उठाना पड़ रहा है।[16] ख़ासतौर से दिल्ली के प्रसंग में इस बात को साफ़ देखा जा सकता है कि शहर के 60 प्रतिशत से अधिक ग़रीब गंदे नालों और यमुना नदी के आसपास रहते हैं, जहाँ उन्हें गंदे नाले से ही काम चलाना पड़ता है। साफ़ पानी और सफ़ाई की उनके पास कोई सुविधा नहीं है। अगर कभी बाढ़ आती है या जलभराव की समस्या पैदा होती है तो बीमारियों का सबसे पहला हमला शहर के इन्हीं बाशिंदों को झेलना पड़ता है। ख़तरा सिर्फ़ इतना ही नहीं है — इन्हीं झोंपड़पट्टियों में छोटे स्तर की ऐसी प्रदूषक औद्योगिक इकाइयाँ भी चल रही हैं जो यहाँ के बाशिन्दों के स्वास्थ्य को गंभीर ख़तरा पैदा करती हैं।[17] ऐसे में किसी सामाजिक रूप से न्यायसंगत पर्यावरणीय एजेंडा के लिए ज़रूरी है कि हम उन तौर-तरीक़ों पर ध्यान दें जिनमें प्रदूषण, ग़रीबी और शहरी परिक्षेत्र एक दूसरे से जुड़ते हैं।

पर्यावरण के सवाल पर बहुलतावादी नज़रिए से विचार करने का एक तरीक़ा यह भी है कि मेहनतकशों और शहर के कबाड़कर्मियों एवं स्वास्थ्यकर्मियों के अंतर्संबंधों और विभेदों पर ध्यान दिया जाए। ऐतिहासिक रूप से श्रम और पर्यावरण को परस्पर जोड़ने वाले विमर्श दो क़िस्म के रहे हैं। एक विमर्श 'हानिकारक' व्यवसायों पर केंद्रित रहा है जिसमें बताया जाता है कि ये व्यवसाय अपने आसपास के क्षेत्र को नकारात्मक रूप से प्रभावित

करते हैं। दूसरा विमर्श 'ख़तरनाक' व्यवसायों से संबंधित रहा है और ऐसे व्यवसायों की बात करता है जहाँ की आंतरिक परिस्थितियों से उनमें काम करने वाले मेहनतकशों की सेहत पर बुरा असर पड़ता है। ज़ाहिर है कि आज हम जिस पर्यावरणीय संकट का सामना कर रहे हैं उसमें पहले वाले विमर्श पर ज़रूरत से ज़्यादा ध्यान देते चले जाने के कारण विमर्श की दूसरी धारा पूरी तरह हाशिए पर चली गई है। यह स्थिति तब है जबकि उड़ती सी नज़र डालने से भी साफ़ पता चल जाता है कि प्रदूषण फैलाने के नाम पर जिन उद्योगों को दोषी ठहराया गया है उनमें से बहुत सारी ऐसी छोटी इकाइयाँ हैं जिनमें कार्य-सुरक्षा के लिए कोई जगह नहीं होती।[18] इसी तरह, दिल्ली में अस्पतालों का कचरा भी एक गंभीर समस्या के रूप में सामने आया है। इस कचरे के बारे में अब तक किसी ने गंभीर चिंता नहीं जताई है। झुग्गी बस्तियों में इस कचरे के साथ 'खेलने' वाले बच्चे, कचरा बीनने वाले और सफ़ाई कर्मचारी — इनमें से किसी के पास भी इस कचरे के ख़तरनाक प्रभावों से बचने का रास्ता नहीं है। ये लोग मामूली सी चोट या संक्रमण की दशा में भी इस कचरे के नकारात्मक प्रभावों की चपेट में आ सकते हैं। इसके अलावा रोगी — ख़ासतौर से ग़रीब रोगी — भी रीसाइकिल्ड (पुनर्चक्रित) कचरे से बनी सुइयों, पट्टियों और नस में लगने वाली नलियों आदि का इस्तेमाल करने के कारण इस ख़तरे की ज़द में आ जाते हैं। हम कहना ये चाहते हैं कि शहरी स्वास्थ्य को किसी अमूर्त 'जनता' के नाम पर नहीं देखा जा सकता बल्कि इसे जन समाज के अलग-अलग दायरों के नज़रिए से देखा जाना चाहिए। तभी पता चलेगा कि पर्यावरणीय सुधार की चिंता किसको फ़ायदा पहुँचा रही है और किसको नुक़सान।

और अंत में, सीमाओं का सवाल। हरियाणा में स्थानांतरित की गई फैक्ट्रियाँ दिल्ली के वातावरण को प्रदूषित करती हैं। इससे क्रमशः यमुना भी दूषित होती है। यमुना का प्रदूषण उसके बहाव के रास्ते में आने वाले तमाम लोगों की सेहत को प्रभावित करता है। परंतु ऐसा लगता है कि इन तथ्यों के बावजूद पर्यावरण के बारे में क्षेत्रीय लिहाज़ से सोचने का तरीक़ा अब तक अस्तित्व में नहीं आया है और न ही दिल्ली की नियति को उसके नितांत पड़ोसी, मगर अपेक्षाकृत महत्वहीन माने जाने वाले इलाक़ों, से जोड़कर देखने की समझ पैदा हुई है। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि पर्यावरण से जुड़ी चिंताओं को केवल कचरे के निपटारे की बजाय इन बातों पर भी ध्यान देना चाहिए कि संसाधनों की व्यवस्था किस प्रकार की जा रही है। दिल्ली के निवासियों की पानी, भोजन, ऊर्जा और आमोद-प्रमोद संबंधी ज़रूरतों से आसपास के इलाक़ों पर भारी असर पड़ता है। पर्यावरणीय न्याय के बारे में चर्चा के लिए ज़रूरी है कि शहर के प्रदूषण और कचरे के मुद्दे के साथ-साथ इन संबंधों और उनके परिणामों पर भी विचार कर लिया जाए।

अनुवादः योगेंद्र दत्त

संदर्भ

1. *गार्डन सिटीज़ ऐण्ड टाउन प्लैनिंग* (खंड 14, 1924) में एक अज्ञात टिप्पणीकार। इसे *रॉबर्ट होम, ऑफ़ प्लांटिंग ऐण्ड प्लैनिंग, द मेकिंग ऑफ़ ब्रिटिश कॉलोनियल सिटीज़* (लंदनः ई ऐण्ड एफएन स्पॉन), पृ. 145 पर उद्धृत किया गया है.
2. थॉमस ऑस्बॉर्न, "सिक्योरिटी ऐण्ड वाइटेलिटीः ड्रेंसः लिबरलिज़्म ऐण्ड पावर इन द नाइन्टींथ सेंचुरी", ऐंड्रयू बेरी एवं अन्य (संपादित) *फूको ऐण्ड पॉलिटिकल रीज़न* (रटलेज, 1996) में.
3. नारायणी गुप्ता, *डेल्ही बिटवीन टू एम्पायर्स* (ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1981) एवं ऋतु प्रिया, "टाउन प्लैनिंग, पब्लिक हेल्थ ऐण्ड दि अर्बन पुअर", *इकनॉमिक ऐण्ड पॉलिटिकल वीकली*, 24 अप्रैल 1993. यह उद्धरण *रिपोर्ट ऑन रिलीफ़ ऑफ़ कंजेशन इन डेल्ही* (1936) से लिया गया है.
4. जगमोहन, *आईलैंड ऑफ़ ट्रुथ,* विकास पब्लिशिंग हाउस, 1978, 177.
5. ऋतुप्रिया, "टाउन प्लैनिंग".
6. तवलीन सिंह, *इंडिया टुडे*, 17 नवंबर, 1997.
7. प्रफुल्ल बिदवई, *फ्रंटलाइन*, 29 नवंबर 1996.
8. यह सिद्धांत श्रीराम फूड्स ऐण्ड फ़र्टिलाईज़र इंडस्ट्रीज़ से ओलियम गैस के रिसाव के प्रसंग में 1986 में स्थापित किया गया था जिसके अंतर्गत न्यायालय ने कहा था कि "क्योंकि पर्यावरणीय प्रदूषण, पारिस्थितिकीय विनाश और राष्ट्रीय संसाधनों को लेकर टकराव से संबंधित मामले बड़ी संख्या में न्यायालयों के सामने आने लगे हैं और क्योंकि इन मामलों में वैज्ञानिक एवं तकनीकी

आँकड़ों के आकलन व मूल्याँकन की ज़रूरत पड़ती है, इसलिए बेहतर होगा कि क्षेत्रीय आधार पर पर्यावरणीय न्यायालयों का गठन किया जाए और इन न्यायालयों में एक पेशेवर न्यायाधीश तथा दो पर्यावरण एवं पारिस्थितिकीय विज्ञान अनुसंधान समूहों के विशेषज्ञों को रखा जाए ताकि पर्यावरण से जुड़े मामलों पर फ़ैसलों के लिए विशेषज्ञता की आवश्यकता पूरी की जा सके".

9. एलेन पीटर्सन, "रिस्क, गवर्नेंस ऐण्ड द न्यू पब्लिक हेल्थ", *फूको, हेल्थ ऐण्ड मेडिसिन,* रटलेज, 1997, पृ. 204 में.
10. इस वक्तव्य का आशय टॉक्सिक लिंक्स एवं सृष्टि जैसे दिल्ली स्थित स्वैच्छिक संगठनों द्वारा कचरे, ख़तरों और प्रदूषण के बारे में फैलाई गई सूचनाओं और अभियानों की अहमियत को कम करना नहीं है बल्कि हम सिर्फ़ इतना कहना चाहते हैं कि इस विषय में न्यायालयों और सीएसई एवं टेरी जैसी वैज्ञानिक संस्थाओं और सीएसआईआर व आईआईटी के विशेषज्ञों की तुलना में उनका प्रभाव सीमित रहा है.
11. न्यायमूर्ति ए.एस. आनंद, एन. सी. भंडारी स्मारक व्याख्यान माला, "पब्लिक इंट्रेस्ट लिटिगेशन ऐज़ एड टू प्रोटेक्शन ऑफ़ ह्यूमन राइट्स", 2001.
12. सावधानी का सिद्धांतः गंभीर या अपूरणीय क्षति की स्थिति में पूर्ण वैज्ञानिक निश्चय का अभाव भी पर्यावरणीय सुधार की दिशा में क़दम उठाने से नहीं रोक सकता। प्रदूषक ही हर्जाना भरेः जिनकी वजह से पर्यावरण को क्षति पहुँच रही है उसे ही इस क्षति से निपटने या उसका हर्जाना भरने की ज़िम्मेदारी भी लेनी चाहिए. सच को साबित करने का दायित्वः यह दायित्व उस व्यक्ति या निकाय के ऊपर आता है जो एक ऐसी गतिविधि शुरू करने जा रहा है जो पर्यावरण के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती है. इस सिद्धांत में निहित है कि जो लोग नकारात्मक रूप से प्रभावित होने जा रहे हैं उन्हें प्रस्तावित गतिविधियों के विषय में अपनी चिंताओं को साबित करने की ज़रूरत नहीं है. इनमें से कुछ सिद्धांतों पर चर्चा के लिए देखें, राजीव धवन, "द वेल्थ ऑफ़ नेशंस रिविज़िटेड", *सेमिनार*, अगस्त, 2000.
13. दिल्ली में एक-दूसरे को चुनौती देते पर्यावरणीय हितों के बीच टकराव की गंभीरता साफ़ दिखाई देती है. इस बात का सबसे बड़ा उदाहरण सुखदेव नगर झुग्गी-झोंपड़ी बस्ती के निवासियों के बीच सार्वजनिक पार्क में टट्टी-पेशाब को लेकर चल रहे झगड़े में सामने आया है. बस्ती के लोग इस पार्क को टट्टी-पेशाब के लिए इस्तेमाल कर रहे थे जबकि अशोक विहार के निवासियों की राय में उनके पार्क का इस तरह इस्तेमाल करना ग़लत है. इस टकराव में आख़िरकार पुलिस द्वारा गोलीबारी की नौबत भी आ पहुँची.
14. उर्लिक बेक, *रिस्क सोसायटी,* सेज, 1992, पृ. 36.
15. सीएसई, *हेल्थ ऐण्ड एनवायर्नमेंट न्यूज़लेटर*, नवंबर 2001.
16. अमिताभ कुंडू, *इन द नेम ऑफ़ दि अर्बन पुअर,* सेज पब्लिकेशंस, 1993.
17. ग़रीबी और पर्यावरणीय क्षय के बीच इस संबंध को कई ट्रेड यूनियनों और साझा मंच जैसे संगठनों ने भी रेखांकित किया है.
18. उदाहरण के लिए देखें, "हाउ मेनी एरर्स डज़ टाइम हैव पेशेंस फ़ॉर?", जनवादी अधिकार मंच, अप्रैल, 2001.

मंकीमैन: दिल्ली का पहला सायबॉर्ग?

शुद्धब्रत सेनगुप्ता

द्वारा: Shuddhabrata Sengupta <shuddha@sarai.net>

मिले: reader-list@sarai.net

तिथि: 21/05/2001 11:24:17

मंकीमैन ने पिछले कुछ दिनों से पूर्वी दिल्ली में घमासान मचा रखा है। पेश हैं इस परिघटना पर कुछ बेतरतीब ख़यालात।

लेकिन जो इस लिस्ट पर नहीं हैं, उनके लिए पहले कुछ ज़रूरी जानकारियाँ: पिछले क़रीब दो हफ़्ते से पूर्वी दिल्ली और पड़ोसी उत्तर प्रदेश के औद्योगिक इलाक़ों में एक अजीबोग़रीब जीव को लोगों ने उत्पात मचाते देखा है। कुछ का कहना है कि वह आदिमानव है तो कुछ उसे आदिबंदर मानते हैं, कई और की निगाह में वह 'नक़ाबपोश' है, बाक़ायदा हेल्मेटशुदा और रोएँदार, ज़्यादा बड़ा नहीं (तक़रीबन 5 फ़ुट)। उसकी चमकदार लाल-हरी आँखें हैं, और बिजली की गति से चलता है, इमारतों के बीच छलाँग मार सकता है और उड़ भी सकता है, आदि-आदि। 'मंकीमैन' या 'नक़ाबपोश' नाम से मशहूर यह जीव छतों पर सोते लोगों पर हमला करता है। वर्णनों से लगता है कि वह काफ़ी ताक़तवर है और अपने शिकार पर धातुई पंजों से खरोंच छोड़ जाता है। टीवी पर एक इंटरव्यू में पूर्वी दिल्ली के एक भयभीत नागरिक ने मंकीमैन की शक्ति का स्रोत एक 'कंप्यूटरीकृत तंत्र' को बताया, जिसमें कई टिमटिमाते बल्ब और बटन लगे हैं, जिन्हें दबाकर वह उड़ चलता है। तो क्या 'नरवानर' या 'नक़ाबपोश' दिल्ली का पहला सायबॉर्ग (सायबरी जीव) है?

अभी तक रोज़ाना होने वाली रातों की इन भगदड़ों में तीन लोग मारे जा चुके हैं, जिनमें एक गर्भवती महिला भी शामिल है। किसी ने 'बंदर-आया' का शोर मचाया और भगदड़ मच गई। कुछ स्वनामधन्य पहरेदारों ने तो चौराहों की चौकसी करते हुए कार चलाते एक व्यक्ति पर हमला करके उसे गंभीर रूप से घायल कर दिया क्योंकि उसकी कार की पिछली सीट पर एक हेल्मेट रखा था। कई लोग खरोंचें लिए क्लीनिक और अस्पतालों में आ चुके हैं और काफ़ी सारे लोगों को अफ़वाह फैलाने के आरोप में गिरफ़्तार कर लिया गया है। पूर्वी दिल्ली के मुख़्तलिफ़ इलाक़ों में 3000 सशस्त्र पुलिसकर्मी और रैपिड ऐक्शन फ़ोर्स के जवान गश्त लगा रहे हैं। मोहल्लों के अलावा पीसीओ पर भी नज़र रखी जा रही है, जहाँ से लोगों द्वारा पुलिस नियंत्रण कक्ष में फ़ोन करके मंकीमैन को देखने का दावा करने की आशंका है। दिल्ली के कई हिस्सों में एक अजीब सा ख़ौफ़ तारी है...

मुझे जो बात हैरत में डालती है, वह यह कि मंकीमैन पर हो रही इस पूरी चर्चा में कोई उस ठोस भय की बात नहीं कर रहा है, जिसकी अनुभूति हमारे शहर में बहुत सारे लोगों को होती है। मंकीमैन का ख़तरा दरहक़ीक़त हो या न हो, लेकिन आदिम कल्पनाओं की बारम्बारता, हाइ-टेक उपकरणों की मौजूदगी, और बिजली गुल होने से शहर पर छा जाने वाली स्याही — इन सारी चीज़ों का अजीब घालमेल ज़रूर है।

लोगों ने पहले तो एक विचित्र पारलौकिक जंतु की कल्पना कर ली और फिर उसकी ताक़त से ख़ौफ़ज़दा होकर एक तरफ़ भगदड़ मचाकर एक-दूसरे को कुचल रहे हैं और दूसरी तरफ़ अपने इलाक़े में पुलिस चौकसी की माँग कर रहे हैं।

हमारे शहरों में हिंसा — सिनेमाघरों में बम, सार्वजनिक स्थलों पर नक़ाबपोश और रहस्यमय आतंकवादी, पुलिस द्वारा अकारण और अचानक किए गए हमले — इतनी निर्वैयक्तिक होते हुए भी इतनी अंतरंग है, इतनी दैनंदिन होते हुए भी इतनी व्यापक है कि लगता है कि उसे भय के लिए बस देह की दरकार है।

कहानियों में कंप्यूटरीकृत तकनीक के चमत्कार की मौजूदगी इस बात का द्योतक है कि दिल्ली के अवचेतन में तकनीकी कल्पना ने गहरी जड़ें जमा ली हैं। जैसा कि समाजशास्त्री राधिका चोपड़ा ने कहा है, "बिजली की कटौती से ग्रस्त यमुना-पार के अँधेरे, गलीज़ 'अदृश्य' मच्छर-विहारों ने ख़ुद को दृश्य और श्रव्य बनाने के लिए मंकीमैन का सहारा लिया है।"

शायद मंकीमैन की हक़ीक़त यही है। रोज़ाना की हिंसा की पर्दादारी, और अदृश्य का ख़ुद को दृश्य करना। झुग्गियों में टीवी धारावाहिकों, बी-ग्रेड ख़ौफ़नाक फ़िल्मों, कॉमिक्स और लोक संस्कृति के अन्य रूपों से जोड़-तोड़ करके एक ऐसा काल्पनिक संसार बनता है जिसमें एक साथ किंवदंतियों, मिथकों, और विज्ञान कथाओं के तत्त्व मौजूद हैं। और ये कहानियाँ अफ़वाहों और पुलिस को परेशान करने के लिए की गई अज्ञात टेलीफ़ोन कॉलों के कंधे पर सवार होकर विचर रही हैं। सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का यह एक ऐसा समकालीन शहरी रूप है, जिसके ज़रिए लोग रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में फैली हिंसा को समझने की कोशिश कर रहे हैं।

मेरे ख़याल से हमें भी इसे संजीदगी से समझने की ज़रूरत है। मुख्यधारा के मीडिया ने इसे जिस तरह पहले मख़ौल उड़ाते हुए, फिर हेय दृष्टि से, देखा और अंततः कड़ी पुलिस कार्रवाई की माँग की, उससे यही ज़ाहिर होता है कि इसका आतंक शहर के अभिजात वर्ग में नहीं है। मंकीमैन उनकी बाड़ाबंद कॉलनियों में तो क़तई नहीं घुस पाएगा। भय तो जैसे दिल्ली के सीमावर्ती इलाक़ों का हमसाया है।

कड़कड़डूमा मोड़ से पटपड़गंज डिपो की ओर जाते हुए मुझे हनुमान की चालीस फ़ुट ऊँची सशस्त्र और सजग प्रतिमा के दर्शन होते हैं। इन्हें संकटमोचन कहा जाता हैः

भूत पिशाच निकट नहीं आवे। महावीर जब नाम सुनावे।।

लेकिन ऐसा लगता है कि महावीर का महात्म्य भी इस हेल्मेटधारी बौने वानर के आगे फीका पड़ गया है। तभी तो वह उनके ऐन पड़ोस — मंडावली नामक गाँव में इतना कुछ कर गया।

सोचता हूँ कि शहर के गर्भ में न जाने कितने और किस क़िस्म के भय व्याप्त हैंः रात के अँधेरे में कोई रहस्यमयी कार फ़ुटपाथ पर सोनेवालों को कुचलकर चली जाती है, आदमीनुमा जंतु जो झुग्गी-झोपड़ियों को जला डालते हैं, टेलीफ़ोन की आत्माएँ जो खुसर-फुसर करके डर फैलाती हैं, रैन बसेरों में बसे पिशाच और पुरानी दिल्ली में रेलवे पुलिस से दो-दो हाथ करते हुए सायबॉर्ग आतंकवादी। दिल्ली की रातों में कैसी अजीबोग़रीब संभावनाएँ दफ़्न हैं!

ताज़ा समाचारों तक, सशस्त्र, हेल्मेटधारी, नक़ाबपोश अर्द्धसैनिक बलों — सरकारी मंकीमैन — की तैनाती जारी है। तलाशियाँ और छापे भी। पुलिस बल से मुठभेड़ों में मिले ज़ख़्मों की तादाद मंकीमैन से मिले खरोंचों से कहीं ज़्यादा है।

अनुवादः रविकान्त

आयो कहाँ से मंकीमैन

आदित्य निगम



सन् 2001 के अप्रैल-मई में पूर्वी दिल्ली के बाहरी इलाक़ों को एक अजीब-से डर ने जकड़ लिया। चारों तरफ़ यह ख़बर फैल गई कि एक भयानक जीव निम्नवर्गीय इलाक़ों में चुपके से हमला करता है। दरअसल किसी ने इसे देखा नहीं था — इतना भी नहीं कि इसके बारे में कुछ ठोस बता सके, हालाँकि कुछ लोग इसकी मार से घायल होने का दावा कर रहे थे। बस, अलग-अलग लोग इसे अलग-अलग ढंग से बयान कर रहे थे। लोकभाषा में इस 'नरवानर' को 'काला बंदर' या 'मंकीमैन' कहा गया।

तक़रीबन डेढ़ महीनों के अंदर ही इसके इर्द-गिर्द एक शहरी किंवदंती बन गई, और इसके कारनामों की मुख़्तलिफ़ क़िस्सागोइयों में तरह-तरह की तब्दीलियाँ देखी गईं। इस जन्तु को कभी आधा बानर या आधा मानुस कहा गया तो कभी इसे 'अनोखा जीव जो मशीन की तरह प्रकाशमान है' कहा गया तथा कभी इसे 'नक़ाबपोश' कहा गया। एक अख़बार के अनुसार, हालाँकि पहली शिकायतें ग़ाज़ियाबाद के विजय नगर थाने में दर्ज की गईं मगर इनमें किसी (मुखौटे वाले आदमी) का ज़िक्र नहीं था। एक को छोड़कर लगभग सारी शिकायतों में एक निशाचर बंदर के हमले की बात लिखायी गई, जो घर के छज्जों पर सोये लोगों पर होते थे। ऐसी शिकायत, जिससे कुछ ख़ास ज़ाहिर होता हो, पहले-पहल 30 अप्रैल को दर्ज कराई गयी, जिसमें अनिल उर्फ़ कपिल ने ये दावा किया कि उसके पेट पर जिस काले साये जैसे जीव ने वार किया वो बंदरनुमा था। रिपोर्ट में कहा गया कि उसके घाव उसकी कहानी से मेल खाते हैं।

हालाँकि पुलिस ने दावा किया कि अनिल ने अपने भाई से हिंसक मारपीट करके शांति भंग की थी और गिरफ़्तारी से बचने के लिए उसने ग़लत बयान दिया था। पुलिस को गुमराह करने के लिए उसने मंकीमैन की कहानी गढ़ डाली। रिपोर्ट के मुताबिक़ इस बात का पता बाद में चला। तब तक मंकीमैन की अफ़वाह चल निकली थी। ख़बर के अनुसार, "जब कहानी अख़बार में छपी तो लोग ख़ासे बेचैन हो गए, हालाँकि हमले के शिकार लोगों ने, जैसे ग़ाज़ियाबाद की गुड्डी के पिता ने, हमलावर की 'पक्की पहचान' कर ली थी कि वह बंदर ही था, और उसके बाल काले थे"।

जैसे-जैसे कहानियाँ फैलीं इनमें नई बातें जुड़ती गईं तथा मंकीमैन लोक-कल्पना में एक शक्ल अख़्तियार करने लगा। हिन्दी अख़बार *अमर उजाला* की रिपोर्ट के अनुसार 2 मई को लोग विजय नगर के एक खुले मैदान में जमा हो गए, जब किसी ने एक बंदर जैसी छाया को देखने का दावा किया। धीरे-धीरे इस जीव का आतंक भी बनता गया। इतना कि 10 मई को ज़िला प्रशासन ने देखते ही गोली मारने के आदेश दिए, ताकि स्थिति नियंत्रित हो सके।

13 मई के बाद से मंकीमैन ने ग़ाज़ियाबाद की सीमा से लगे दिल्ली के पूर्वी हिस्सों में अपने कारनामे शुरू कर दिए। इस समय तक इसकी तब्दीली एक 'सायबॉर्ग' के रूप में हो चुकी थी। अप्राकृतिक शक्तियों से युक्त एक कम्प्यूटरीकृत छवि के रूप में। यह दावा किया गया कि इसकी आँखें हरी थीं तथा इसके पाँवों में स्प्रिंगबोर्ड लगे थे तथा विचरण के लिए बटनों से युक्त एक हरी बेल्ट भी थी। हालाँकि कुछ दीगर रिपोर्टों में कहा गया कि मंकीमैन द्वारा इनमें से कुछ लक्षण दिल्ली पहुँचने तक अपना लिए गए थे। ग़ाज़ियाबाद के पुलिस अधीक्षक श्री आर.के. चतुर्वेदी ने *हिन्दू* के रिपोर्टर को बतलाया कि शुरू के बयान अधिकांशतः विजय नगर, राज नगर और संजय नगर से आए, जहाँ बंदरों की आबादी भी थी तथा लोगों ने कटे हुए होठों वाले एक काले बंदर के हमले की बात की, लेकिन इन बयानों में तुरंत बदलाव आया और लोगों ने किसी मुखौटेवाली छवि की बात करनी शुरू की। चतुर्वेदी के अनुसार बहुत जल्दी लोगों ने ये बताना शुरू किया कि कैसे यह ऊँची इमारतों से कूद सकता था और अत्यंत तेज़ गति से दौड़ सकता था, जबकि कोई इसका चश्मदीद गवाह नहीं था।

मंकीमैन में ये लक्षण बेशक किसी भी मुक़ाम पर जुड़े हों, इसमें कोई शक नहीं रहा कि जिस समय तक इसका भय दिल्ली में व्याप्त हुआ, यह बहरूपिया सायबॉर्ग वजूद में आ चुका था। बातचीत के दौरान कुछ लोगों ने तो निगमन तर्कशास्त्र का सहारा लेकर निष्कर्ष दिया कि इस मंकीमैन के पास एक पेचीदा कम्प्यूटरीकृत तंत्र था जिसके सहारे यह विचरण करता था। एक घटना के आधार पर उन्होंने यह दावा किया कि मंकीमैन ने जब एक घर पर हमला किया तो वहाँ एक पानी का घड़ा फूट गया और मंकीमैन को वहाँ से भागना पड़ा। उनका दावा था कि पानी उसके इलेक्ट्रॉनिक सिस्टम को नष्ट कर सकता था, इसीलिए वह वहाँ से भाग गया। एक अन्य तरीक़े से भी इसकी व्याख्या की गईः आजकल हर अजीबो-ग़रीब चीज़ की व्याख्या के लिए 'पाकिस्तानी दुश्मन' का क़िस्सा अनायास ही हरकत में आ जाता है। इस तरह मंकीमैन प्रसंग ने कुछ लोगों के दिमाग़ में अरसे से दबे भय को अभिव्यक्ति दी — उनके रुग्ण मानस को खुले में आने का मौक़ा प्रदान किया। ये सारी की सारी अभिव्यक्तियाँ मासूम रही हों, ऐसा नहीं है। उदाहरण के तौर पर शिवसेना का यह दावा करना कि इसके पीछे पाकिस्तानी ख़ुफ़िया एजेन्सी आई.एस.आई. का हाथ था जिसने 131 बंदरों को आतंक मचाने के लिए सीमा पार करवाया। आतंक इस क़दर था कि लोगों ने छतों पर सोना छोड़ दिया तथा मोहल्लों के नौजवानों द्वारा पुलिस के साथ मिलकर रात की पहरेदारी ज़्यादा चौकस कर दी गई। कुछ हिन्दुओं द्वारा हवन तथा यज्ञ भी किए गए ताकि शैतान का नाश हो सके।

निस्संदेह, इस मंकीमैन की दंतकथा ने जब जीवंत रूप ले लिया तो कई मुख़्तलिफ़, मासूम क़िस्म की घटनाएँ मंकीमैन के कारनामे की बड़ी कहानी में शामिल होने लगी। इसके क़द के बारे में जब बातें होतीं तो लगता कि या तो किसी ने इसे देखा नहीं होगा या उसे किसी दूसरे जानवरों के बदले में समझ लिया गया। नोएडा के एक आदमी का यह कहना था कि जब उसने उसे पकड़ने की कोशिश की तो वह ऐसी बिल्ली के रूप में परिणत हो गया जिसकी चमकदार आँखें थीं। मध्यवर्गीय मोहल्लों में मंकीमैन के दर्शन विरले हुए। ऐसे ही एक सम्पन्न मोहल्ले में किसी सज्जन को सुबह साढ़े पाँच बजे अपने छत की बालकनी से एक अनोखा नज़ारा दिखा, "एक आदमी काले बंदर के वेश में मारुति ज़ेन से उतरा और कार अचानक धड़धड़ाती हुई चली गई।" लोग चाहे किसी भी वजह से ज़ख़्मी हुए हों, वे अकसर उसका कारण मंकीमैन को बताते पाए गए।

हिन्दू से बात करते समय ग़ाज़ियाबाद के पुलिस अधीक्षक चतुर्वेदी ने कुछ कुशाग्र टिप्पणियाँ प्रस्तुत कीं। श्री चतुर्वेदी का दावा था कि कुछ चीज़ें उन बदलते विवरणों के दौरान भी अपरिवर्तित रहीं। "पहले सारी घटनाओं की रिपोर्टें सामान्यतया निम्नवर्गीय मुहल्लों तथा झुग्गियों से आई, जहाँ आबादी का घनत्व ज़्यादा था। सारी घटनाओं में बिजली गुल होने की बात थी तथा इसके एकाध घंटे के अंदर रात में ही हमले होने की बात होती थी। उन्होंने आगे कहा कि सारी घटनाएँ रिहायशी इलाक़ों में होती थी तथा कोई भी घटना किसी आदमी के साथ रात में अकेले सड़क पर चलते समय नहीं हुई।" मंकीमैन के कारनामों की ये अंतिम ख़ासियत दिल्ली में इसके अभियानों के दौरान बदली नहीं। ग़रीब, मुख्यतः मज़दूर बस्तियों में, जहाँ घर एक-दूसरे से सटे होते हैं, और जहाँ अंधेरा और बिजली गुल होने का लम्बा समय, लोग अपनी छतों पर गुज़ारते हैं — ये सारी चीज़ें मंकीमैन की कारस्तानियों का रंगमंच थी।

The monkeyman mystery deepens

ऐसा पहले भी हुआ है कि अचानक अफ़वाहों के कारण दिल्ली में हलचल मच गई हो तथा शहर में बेचैनी तथा उत्तेजना घर कर गई हो। हालिया घटनाओं में 1995 में गणेश की मूर्ति द्वारा दूध पीये जाने की बात सबसे प्रमुख है। हालाँकि इस अफ़वाह का प्रभाव शहर के लगभग सभी स्तरों में देखा गया तथा शहर के बाहर यहाँ तक कि विदेशों में रहने वाले हिन्दुओं तक भी यह बात पहुँची थी। इसके विपरीत, मंकीमैन ने अपना प्रभाव सबॉल्टर्न बस्तियों तक ही सीमित रखा।

सबॉल्टर्न अस्तित्व का 'स्पेस'

मंकीमैन की इस घटना में एक दिलचस्प और ख़ास बात रही कि इसकी गतिविधियों का एक निश्चित इलाक़ा था। यानी उसकी गतिविधियाँ निम्नवर्ग तथा निम्न मध्यमवर्गीय क्षेत्रों में ही सीमित रहीं। सबॉल्टर्न की कल्पना तथा अस्तित्व से इस घटना का नज़दीकी संबंध है। इन विवरणों में किन जगहों का नाम आया है? दिल्ली की सबॉल्टर्न ज़िन्दगी के बारे में ये हमें क्या बताते हैं? आम तौर पर श्रमिक वर्गों की घनी आबादी वाली बस्तियाँ पूर्वी दिल्ली में हैं। यही इलाक़े मंकीमैन के नाटक का रंगमंच रहे। ग़ाज़ियाबाद के पुलिस अधीक्षक बताते हैं कि किसी भी हालत में कोई घर लौटते समय रास्ते में इसके हमले का शिकार नहीं हुआ यानी मुख्य सड़कों पर और खुले स्थानों पर जो इन बस्तियों की तरफ़ जाते थे कोई ऐसी घटना नहीं हुई।

मंकीमैन वहाँ प्रकट हुआ जहाँ घर की छतों पर, घर के बाहर, अंधेरी गलियों में, गर्मी की रातों में लोग सोते थे, और जहाँ की गलियों से होकर मंकीमैन विलुप्त भी हो जाता था। हम आसपास के खुले हुए और छोटे-छोटे मैदानों के बारे में सुनते हैं, जो अर्द्धशहरी तथा अपेक्षाकृत अविकसित क्षेत्रों की पहचान होती है, वहाँ लोग जमा होकर मंकीमैन के हमलों की बातें करते थे। ऊँची इमारतों से इसके छलाँग लगाने की बात भी सुनी गई। इसका मतलब इस संदर्भ में दिल्ली के शहरी गाँवों की अनाधिकृत तथा पुनर्वास बस्तियों से है जो अकसर तीन या चार मंज़िला होती हैं। ये नज़ारे उपाश्रित शहरी अस्तित्व के एक हिस्से की झलक देते हैं। ये जगहें सम्पन्न बस्तियों से पूरी तरह अलग भी दिखती है। अगर कुछ सम्पन्न बस्तियाँ होती भी हैं तो वे लोहे के फाटकों व अन्य सामाजिक आचारों के ज़रिए आम अवाम के साथ एक ख़ास क़िस्म की दूरी बनाए रखती हैं। पिछले दो दशकों में शहरों में क्षेत्रीय पुनर्व्यवस्था के बाद यह अलगाव पूरा हो गया है। परिणामतः मध्यवर्गीय मोहल्ले से घटना की एकमात्र रिपोर्ट आती है जिसमें एक आदमी बालकनी से मुखौटा पहने किसी आदमी को देखता है। ग़ौरतलब है कि उसे यह आदमी एक सुरक्षित दूरी से देखता है।

इन बस्तियों के वर्षों के अपने तजुर्बे से मैंने यह पाया है कि यहाँ सबॉल्टर्न ज़िन्दगी आम तौर पर क़स्बाई जीवन के ढर्रे को नए सिरे से पैदा करती रहती है। इन इलाक़ों की आंतरिक संरचना कुछ ऐसी होती है कि हमें महानगरीय ज़िन्दगी के समय, उसकी गति से इसका अंतर साफ़ दिखता है। ये बस्तियाँ अपने बाशिंदों, ख़ासकर फ़ैक्टरी मज़दूरों को दिन भर के काम के बाद शहर की भागमभाग से एक क़िस्म की पनाह देती हैं। इन बस्तियों की भौगोलिक बुनावट व इनके ख़ास इतिहास इनकी रोज़ाना की ज़िन्दगी को सामुदायिक माहौल मुहैया कराते हैं, जो महानगरों के मध्यवर्ग व सम्पन्न तबक़ों की कटी हुई ज़िन्दगियों से काफ़ी अलग है। यहाँ संचार के स्थानीय नेटवर्क वस्तुतः निहायत सक्रिय व जीवंत होते हैं। चूँकि यहाँ सामाजिकता चाय और पान की दुकानों के इर्द-गिर्द बुनी जाती है। लोग गली-कूचों में खाटों पर बैठे-लेटे गप्प, अफ़वाहों, बतकही के ज़रिए सूचनाओं का आदान-प्रदान करते हैं। सम्पन्न हलक़ों से फ़र्क़ साफ़ है — जहाँ मोहल्ले के रिश्ते न के बराबर होते हैं और जहाँ बाज़ार जाना भी महज़ ज़रूरत प्रेरित है, और जहाँ ख़रीदारी के वक़्त भी न्यूनतम इंसानी सम्पर्क कर काम चल जाता है।

यह बता पाना वाक़ई बड़ा कठिन है कि मंकीमैन जैसी कोई चीज़ थी या कुछ लोगों ने ऐसी शरारत की। इस घटना में मंकीमैन का होना या न होना इतना दिलचस्प नहीं है जितना यह कि इससे हमें सबॉल्टर्न दिल्ली की रोज़ाना ज़िन्दगी की एक झलक मिलती है। मिसाल के तौर पर इस घटना के निम्नलिखित पाठ को देखें। छोटे शहरों की ज़िन्दगी को आधार बनाकर — जहाँ घरों की मिली हुई दूर तक जाती छतें, लोगों के सपाट जीवन में ऐसे रंगमंच के रूप में उभरती हैं जहाँ उनकी कामेच्छाएँ अभिव्यक्ति पाती हैं। सुधीश पचौरी ने भी इस घटना के यौन पहलू को रेखांकित किया। पचौरी इन छतों को अतृप्त कामना की अभिव्यक्ति का स्थान मानते हैं। छत —

बाम, अटरिया या छज्जा — ऐसी जगह है जहाँ चोरी-छुपे नज़रें मिलाई जाती हैं, फिर संदेशों का आदान-प्रदान होता है और विसाल-ए-यार के मुक़ाम तय किए जाते हैं। यानी कि बड़े एहतियात से पहरेदारी में सुरक्षित सेक्शुअॅलिटी को छज्जों के निरंतर विस्तार में टूटने का ख़तरा पैदा हो जाता है। इसलिए बक़ौल पचौरी, सामाजिक मर्यादाओं का ऐसा अतिक्रमण अकसरहाँ गर्मी की अंधेरी रातों में होता है, जब गुपचुप ढंग से कोई भटककर अचानक 'ग़लती से' किसी और की छत पर पाया जाता है। पचौरी की राय में शुरुआती घटनाओं में एक कोण ज़रूर ऐसा था, जिसके बाद इस रहस्यमय जीव ने अपने शिकार — ख़ासकर महिलाओं — को हल्के से 'खरोंच' भर दिया। चाहे जो हो, यह तय है कि मंकीमैन के कारनामों को निम्नवर्गीय बस्तियों और स्थानीय भौगोलिक संरचनाओं से अलहदा करके नहीं देखा जा सकता। मंकीमैन मध्य या उच्चवर्गीय कल्पना को उस तरह नहीं गुदगुदा सका था जिस तरह गणेश द्वारा दूध पीने की आत्मतुष्ट कहानियों में हुआ था। गणेश मंदिरों में स्थापित थे और लोगों को उन्हें दूध पीते देखने के लिए वहाँ जाना पड़ता था। तब घटनास्थल मंदिर थे न कि अमीरों के कटे हुए घर, जहां सबॉल्टर्न अवाम के नेटवर्क सिरे से ग़ायब हों। गणेश परिघटना में संचार के जिन नेटवर्कों का सहारा लिया गया, वे थे एसटीडी और शुरुआती दौर के ई-मेल। इसके बरक्स मंकीमैन परिघटना में बस्तियों के अंदर और उनके बीच स्थित नेटवर्क का इस्तेमाल हुआ।

एक और 'स्पेस'

एक दूसरा क्षेत्र भी है जिसकी तरफ़ यह प्रकरण हमारा ध्यान दिलाता है। इस क्षेत्र की बात हम इस घटना पर दी गई बुद्धिवादी प्रतिक्रिया को देखकर शुरू कर सकते हैं। 'इंडियन रैशनलिस्ट एसोसिएशन' के मुख्य प्रवक्ता सनल इडामारुकू ने इस पूरी घटना को 'जनभ्रम' कहा। ऐसा ही विचार अन्य कई लोगो ंने भी दिया। *हिन्दू* ने भी इस पर सम्पादकीय टिप्पणी की, जैसा कि अन्य अख़बारों ने किया। इस सम्पादकीय ने इस मुद्दे पर, एक तरीक़े से, बुद्धिवादी आम सहमति के साथ यह कहा कि "ऐसा हमारी याद में पहली बार नहीं हो रहा है" तथा आग्रहपूर्ण तरीक़े से यह भी कहा कि "दिल्ली के 'सिविल सोसायटी के स्वरूप' में दरार के संकेत मिल रहे हैं।" गणेश जी की दूध पीने वाली घटना को याद कर अफ़सोस जताते हुए कहा गया कि "यहाँ तक कि सम्पन्न लोग भी हाथों में दूध के पात्र लेकर जा रहे थे। ऐसा लगता था कि तर्क और विवेक को लोगों ने जैसे बेच खाया हो।"

जो भी हुआ उसकी तार्किक व्याख्या करते हुए सम्पादकीय ने यह भी जोड़ा कि "इन चीज़ों को रोकने के लिए अफ़वाह फैलानेवालों के साथ सख़्ती से निपटना चाहिए।" हालाँकि यह पर्याप्त नहीं होगा, इसीलिए यह भी आवश्यक है कि "लोगों को वैज्ञानिक मिज़ाज के बुनियादी उसूलों में दक्ष करने की ज़रूरत है ताकि वे तार्किक व्यवहार बरत सकें।" इसने निष्कर्षतः यह भी कहा कि "इस काम में सिविल सोसायटी संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होगी।" "एक जीवंत सिविल सोसायटी ही इस परिस्थिति के समाधान का रास्ता है।" *इंडियन एक्सप्रेस* के सम्पादक ने भी इस तेज़ी से फैलती अतार्किकता पर अपनी चिंता जतायी तथा इसे एक विश्वव्यापी परिघटना के रूप में देखा।

सिविल सोसायटी या यूँ कहें कि उसकी नैतिकता के अलम्बरदारों ने सरकारी संस्थाओं, ख़ास तौर पर पुलिस बल की इसलिए जमकर ख़बर ली क्योंकि वे भी उन अंधविश्वासी तत्वों के शिकार हो गए थे। उनसे अपील की गई कि अविवेक और अंधविश्वास के इस अश्वमेधी घोड़े को क़ाबू में करें। इसका असर भी हुआ। एक माह के अंदर ही दिल्ली पुलिस ने 200 पन्नों की एक रिपोर्ट तैयार की जिसमें इस 'वानर लीला' को मिथक बताते हुए इसकी भर्त्सना की गई।

हम पूछ सकते हैं कि इन बातों का 'स्पेस' से क्या नाता है? मेरा तर्क ये है कि यह टिप्पणी एक अलग स्पेस के बारे में है जिसे हम सामाजिक या संकल्पनात्मक स्पेस कह सकते हैं। जब हम आधुनिकता और इसके द्वारा लाए गए शहरी रूपांतरण की बात करने लगते हैं तो निश्चित रूप से एक ख़ास 'स्पेशियल' (या स्पेस संबंधी) कल्पना उभरती है जो सामाजिकता के हमारे सैद्धांतीकरण में सामने आती है। यह भले ही अमूर्त स्पेस है फिर भी ये वे ही हैं, जहाँ हम विभिन्न सामाजिक स्तरों को स्थापित करते हैं। यह टिप्पणी तीन अलग-अलग

'When I grabbed it, it turned into cat'

सामाजिक / संकल्पनात्मक ज़मीनों की पहचान कराती है। एक स्तर पर सिविल सोसायटी का हिस्सा है — वह धरातल जो तार्किकता और वैज्ञानिक सोच की भूमि है। हालाँकि सम्पादकीय टिप्पणी इसके तात्क्षणिक भंजन पर अपनी चिंता प्रकट करती है, पर सम्पादक आधुनिकता के उच्च धरातल पर ही अतार्किकता को दूर होना संभव बताता है। यह वह धरातल भी है, जैसा हम देख सकते हैं, जहाँ एकाकी, व्यक्तिपरक तथा अधिकारों से युक्त नागरिक रहता है। इस विवरण में दूसरा हिस्सा है, राज्य और उसकी संस्थाएँ। जैसे पुलिस, जो कभी-कभी वे भूमिकाएँ भी निभाती हैं जो उनको शोभा नहीं देतीं। हालाँकि यह टिप्पणी स्पष्ट नहीं करती मगर हम यह कह सकते हैं कि राज्य का ऐसा व्यवहार अपनाना इस बात का संकेत होता है कि यह तीसरे और सबसे समस्याजनक हिस्से से अलग नहीं है। यह तीसरी ज़मीन बेनाम भी है और अचिन्हित भी। इसने पुलिस जैसे प्रशासनिक औज़ारों की भी यह कहकर आलोचना की कि इन्होंने संकट को और गहरा ही किया। इसका अस्तित्व यहाँ महज़ एक समस्या के रूप में हैः इस धरातल पर जो लोग होते हैं वे इस पूरे कलाम में ऐसे उभरते हैं गोया... उन्हें राज्य और सिविल सोसायटी की शिक्षापूर्ण बातों को सुनना भर होता है और जिनके मस्तिष्क में वैज्ञानिक सोच डालना आवश्यक होता है। इस धरातल पर रहने वालों की एजेन्सी सिविल सोसायटी के अलमबरदारों के लिए कोई मायने नहीं रखती। क्योंकि उन्हें इन परिस्थितियों में तर्कपूर्ण प्रतिक्रिया देना अभी सीखना बाक़ी है। ऊपर की इस चर्चा से हम यह कह सकते हैं कि यह ज़मीन सामुदायिक अस्तित्व का भी स्पेस है। यह वह ज़मीन है जहाँ छोटे और आमने-सामने रहनेवाले समुदायों की कल्पना शक्ति अभी भी मज़बूत है तथा जिसका पुनरुत्पादन इन सबॉल्टर्न बस्तियों की जीवन की शर्तों पर रोज़ाना होता है। चूँकि उन्हें पूर्व आधुनिक और तर्कविहीन क्षेत्र के रूप में देखा जाता है, उनका अस्तित्व सिविल सोसायटी और राज्य की संस्थाओं के लिए एक ख़तरा माना जाता हैः इस तीसरे हिस्से को कभी ख़त्म नहीं किया जा सकता तो कम से कम इसे नियंत्रित और स्वयं में समाहित अवश्य किया जाना चाहिए।

हमने जिन धरातलों की यहां शिनाख़्त की है, वे शहरी नाटक के रंगमंच के समान हैं। कृषि जीवन की काल-गति और लय से वाबस्ता ग़ैर-शहरी या देहाती इलाक़ों की जगह अब बेहद पेचीदा नए हालात वजूद में आए हैं। अब हमारे शहरों में 'आधुनिक' और 'ग़ैर-आधुनिक', 'प्रबुद्ध' और 'विवेकहीन' आपस में नथे-गुँथे हैं। शहरों को फूको के शब्दों में 'दौर-ए-हमवक़्ती' (इपॉक ऑफ़ सायमल्टेनिटी) कहा जा सकता है, जहाँ अलग-अलग कालखंड एक साथ विद्यमान होते हैं। शहर, ख़ास तौर पर उत्तर-औपनिवेशिक शहर, अपनी ज़द में विभिन्न गतियों व लयों को समेटे रखता है और इससे विरोध व प्रतिस्पर्द्धा का निहायत गतिशील माहौल पैदा होता है। सच है कि ये संकल्पनाएँ एक हद तक समस्यापूर्ण हैं क्योंकि 'नागर समाज' की धारणा को पूरी तरह कटी हुई ज़िन्दगी जीने वाले मध्य या उच्च मध्यवर्ग का पर्याय नहीं माना जा सकता है। आख़िरकार, क्योंकि यहाँ भी तो उत्तर-औपनिवेशिक संदर्भों में सामुदायिक अस्तित्व के विचारों की निरंतरता असंदिग्ध है। अंतर सिर्फ़ इतना है कि यहाँ संवाद संचार तकनीकी माध्यम — टेलीफ़ोन, ईमेल व इंटरनेट हैं — जो एक दूसरे से रोज़ाना मुख़ातिब समुदाय के संवाद से भिन्न है। इस बात की पुष्टि गणेश के दूध पीने की घटना से हो चुकी है। लेकिन ऐसे समुदाय आधुनिक शहर के लिए कोई 'समस्या' खड़ी करते नहीं दिखते। आधुनिक शहर के लिए दिक़्क़तें अगर पैदा होती हैं तो इस सबॉल्टर्न वजूद से, जो शहर के मुख़्तलिफ़ इलाक़ों या मोहल्लों में सामुदायिक ज़िंदगी के नए तसव्वुर गढ़ता है।

दैहिक प्रवेश को अगर पूरी तरह नहीं भी रोका जा सके तो भी शहरी भूगोल में और अपनी संकल्पनाओं के ज़रिए प्रबुद्ध नागरिक अपने को अलहदा कर लेने के उपाय और उसकी जगह तो ढूँढ ही सकते हैं। नागर समाज के निरूपणात्मक/संकल्पनात्मक हलक़ों में प्रवेश को तो विभिन्न तरीक़ों से नियंत्रित तो किया ही जा सकता है। नागर समाज में दाख़िले की कुछ पूर्व शर्तें हैं, कुछ पाठ हैं जिन्हें सीखे बग़ैर आप सभ्य नहीं माने जाएँगे और सभ्यता सीखने पर ही सभ्य नागर समाज के दरवाज़े आपके लिए खोले जाएँगे। एक मायने में शहर के इस अमूर्त संकल्पनात्मक विभाजन इसके असली भौतिक क्षेत्रों के विभाजन और उनको घेराबंद करने के प्रयासों के समांतर चलते हैं।

मंकीमैन के नाम खुला ख़त

पुरुषोत्तम अग्रवाल

माई डियर मंकीमैन,

जय रामजी की! खरी चिट्ठी है भैया यह जिसमें यारी और थोड़ी सी अय्यारी छुट किसी मक्कारी का पुट करने वाले बच के जाएँगे कहाँ? तुम्हारे बुद्धिविदारक कारनामे और हृदयविदारक स्टीलीय नाख़ून कहाँ किसको छोड़ेंगे? हाँ इतनी ख़ता ज़रूर है कि यह चिट्ठी जो कॉन्फ़िडेंशियल होनी थी, पब्लिक हो रही है; लेकिन इस ख़ता की ज़िम्मेवारी भी मेरी नहीं संपादक की है; सो अगर कुछ पोटा-वोटा लगवाना हो या भाई श्री नरेन्द्र मोदी के हवाले करवाना हो या ख़ुद ही चिपट कर मज़ा चखाना हो तो प्रभु भूल मत जाना कि बंदा ट्रांस यमुना में रहता है जो वैसे भी तुम्हारा फ़ेवरिट एरिया ऑफ़ इन्फ़्लुएन्स — राष्ट्रभाषा में प्रभावक्षेत्र — था।

मित्र, जब तुम्हारा प्रादुर्भाव तरणि तनूजातट स्थित इंद्रप्रस्थ प्रांत में हुआ जिसे यवणोपरांत म्लेच्छ प्रभावाक्रांत कुजन दिल्ली कहते हैं, मैं दैववशात् सुतल में था। वही सुतल जिसे आर्य विरोधी अनार्यों ने, धर्मद्रोही दुष्टों ने ऑस्ट्रेलिया नाम दे रखा है। तुम्हारे पराक्रमों के समाचार वहाँ मिलते थे तो मन मयूर आनंदमत्त हो नृत्यरत हो उठता था। तुम्हारे विक्रांत विक्रम ने, हे नर-वानर, कैसे-कैसे नरपुंगवों की पुंगी बजा के रख दी! धन्य हो तुम! दुग्धपानकर्ता सर्वविघ्नहर्ता गणेश जी के श्रेष्ठ उत्तराधिकारी हेल्मेटधारी हे हाइटेक मर्कटमुख, तुमको शत-शत प्रणाम! जम्बू द्वीपे-भारतखंडे इंद्रपस्थ प्रांतेषु प्रकटने वाले हम सबके भविष्य, भूत और वर्तमान — स्वीकार करो इस परम प्रशंसक का स्तुति गान।

बंधुवर, यों तो आजकल के ज्ञानी ध्यानी हर उस प्राणी को संस्कृत का ज्ञाता मान लेते हैं जिसका नाम ही तनिक सा भी प्राचीनता-पावनता-स्पर्शित हो। अपना तो मामला ऐसा मूर्धन्य है कि जन्म से लेकर आज तक तो अपन इसका सही उच्चारण नहीं कर पाए। लिख भले ही लें, लेकिन बोलने में तो अपनी काया जैसे पृथुल प्रयत्नोपरांत भी ससुरा 'पुरुसोत्तम' ही ठहरता है।

II

इस मध्यान्तरीय भूमिका की आवश्यकता यों पड़ी मान्यवर कि अब आगे यह संगणकोपयुक्त देवभाषा अपने से संभाले नहीं संभलेगी, सो भलाई इसी में है कि अब अपन अपनी औक़ात — अर्थात् आर्यभाषा — अर्थात् हिन्दी माता की अंगुली पकड़ कर आगे बढ़ें। यो भी भाषा में क्या रखा है? आजकल तरह-तरह के 'अंत' हुए चले जा रहे हैं तो भाषा भी ससुरी कहाँ तक बचेगी? और भैया, हमें तो तुम्हारे वंडरफुल — बल्कि बंदरफुल कारनामों से ही मतलब है — सो हिन्दी में ही वापस जाएँ!

इतना तो सब जानते हैं; कोई-कोई मानते भी हैं कि ये ज़माना ही भाँत-भाँत की वापसियों का है। हालाँकि इन वापसियों का राज़ क्या है — यह न मानने वाले जानते हैं, न जानने वाले। धर्म की वापसी हो रही है, जात की वापसी हो रही है, पहचान की वापसी हो रही है... और तो और एन.आर.आईज़ की वापसी हो रही है। दनादन दे दनादन। हालाँकि इनडायरेक्टली। एन.आर.आईज़ की आईज़ जब मदरलैंड की हीट ऐण्ड डस्ट की

याद से और पावर लस्ट की फ़रियाद से गीली होती हैं तो बेचारे भरे गले से गा उठते हैं – 'आई लव माय इंडिया।'... 'ऐक्शन का इंडिया...' अंत-पंत आई तो वहीं ग्रीनकार्ड के ग्रीन पास्चर में हरी-हरी चरता रहता है और 'लव' इंडिया माई की छाती पर मूँग दलने चला आता है; मूँग दलने का ऐक्शन कभी मंदिर फ़ंड का रूप ले लेता है तो कभी इकनॉमिक मिरेकल के स्टंट का! कुछ लोगों के पास वापस पहुँचने का कोई ठौर नहीं बचा तो जड़ों की ओर ही वापस लपक लिए हैं। अब इस लपक-झपक में जड़प्रेमी जड़मति हो जाए तो बुरा मानने की क्या बात? और कोई बुरा मान ही जाए तो परवाह करे अपना कुतका लात।

सो, वापसियों के थोक के थोक वापस चले आ रहे हैं। ऐसे में आपकी तो एकदम बेसिक – बल्कि रैडिकल वापसी थी बॉस! एकदम टू द रूट्स – अकबर इलाहाबादी की शिकायत, ज्ञानी ज़ैलसिंह की मलामत और डार्विन क्रिएशनिस्टों की हजामत के बावजूद – डार्विन को सही मानें तो एकदम टंच वापसी थी बॉस, एकदम टंच! ऊपर से मज़ा यह कि थिंक ग्लोबल-ऐक्ट लोकल कॉर्पोरेट प्लस एन.जी.ओ. प्रमाणित इडियम के सर्वथा अनुकूल भी। बाक़ी वापसियाँ डिफ़रेंट और स्पेसिफ़िक की वापसियाँ हैं, आइडेंटिटी की वापसियाँ हैं – आप तो पूज्यवर हम सबकी यूनिवर्सैलिटी और उसकी रूट्स – जड़ों की वापसी थे। लेकिन साथ ही क्या कहने इस वापसी के अनमिस्टेकेबल लोकल टच के, हेल्मेट विभूषित आपका मुखमंडल बंधु भव्य बल्कि इरॉटिक तो लगता ही था – ख़ास दिल्ली की ख़ास पहचान भी तो बताता था। आपने याद दिलाया हम दिल्ली वालों को हमारा भविष्य कि बिना हेल्मेट पहने अब अपने घर में क्या बिस्तर में घुसना भी सेफ़ नहीं रहने वाला। हालाँकि हेल्मेट भी किसी का क्या उखाड़ लेगा, लाला? यह भी तो आपने ही अपने कपोलविदारक हृदयद्रावक तीक्ष्ण नख समूह से सिद्ध कर डाला। इसीलिए अपन कहते भए कि आप ग्लोबल की भी वापसी थे, लोकल की भी। साइलेंट की वापसी थे, वोकल की भी।

III

यह चिट्ठी आपका अमूल्य समय नष्ट करने के लिए नहीं लिखी जा रही, महामहिम मंकी-मानव। यों तो मैंने *दीवान-ए-सराय* के संपादक रविकांत के कहने पर यह तूमार बाँधा, और यों कुछ अर्थसिद्धि का कारोबार साधा। कुछ हो भी गयी, कुछ और हो जाए। सराय का चंदा दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जाए। लेकिन इसके अलावा भी एक वजह है, वह यह कि उस दिन एक टीवी प्रोग्राम के चक्कर में श्री बी.पी. सिंघल के दर्शन भए जो नासा के खींचे फ़ोटू के आधार पर रामजी के सेतुबंध का अस्तित्व प्रमाणित कर गए। अपना चित्त प्रसन्न भया। सारा संदेह दूर गया। सिंघल जी निश्ंचित, उनका प्रसिद्ध "परिवार" निश्ंचित कि अब तो रामजी पर अंकल सामजी की मोहर लग गयी। अमेरिकी स्वीकृति से बेचारों की राम-कथा समुद्र तर गयी। अमेरिका को न सुहाते तो पता नहीं इन आजकल के रामभक्तों को राम भाते या न भाते! इतना गद्गद् कर देने वाला अनुभव था बी.पी.सिंघल साहब की सिंह गर्जना सुनना और ऊपर से उन्हीं के श्रीमुख से तुम्हारे अस्तित्व के अकाट्य प्रमाण गुनना कि पत्र लिखे बिना मन नहीं माना। यों कसक तो रह गयी मन में कि दिव्य दर्शन आपके नहीं हुए लेकिन कमी पूरी भई प्रवचन से जो प्रवास में सेवक ने नियमित रूप से सुने। कोई ज्ञानी कहते भए कि आप आई.एस.आई का किरदार हैं तो कोई कहते भए कि आप बजरंगबली का क्रुद्धावतार हैं। किन्हीं ने कहा कि आप कल्पना का चमत्कार हैं तो किन्हीं ने कहा कि आप प्रदूषण के पुरस्कार हैं। एक बोले कि आप उन्हीं को दिखे जिन्होंने नशा किया, दूजे कहे कि आप तो हैं कलेक्टिव हिस्टीरिया जिसने देखते-देखते दिल्ली का दिल जीत लिया। ये सब सुनकर अपन को याद भए बरसों पहले के ग्वालियर के श्री चंपतिया। वे भी यों ही आप की ही भाँति अवतरे थे और ग्वालियर निवासियों के हृदय में महीनों तक घर करे थे। हाँ, ये ज़रूर है कि उन्हें न टीवी पर चर्चित होने का सुख मिला, न *वॉशिंगटन पोस्ट* में ख़बर बनने का। वक़्त वक़्त की बात है; वक़्त की ही सब ख़ुराफ़ात है। एक वक़्त वो था जब चंपतियाजी सीधे-सीधे डिसमिस होते भए, एक वक़्त ये है जब आप ओवरनाइट सेलेब्रिटी बन गए। दिल्लीवासियों के दिल में बसे सो बस ही गए।

IV

यों तो भैया लोग कहते हैं कि दिल के साथ दानिश भी ज़रूरी है; हृदय के साथ बुद्धि मनुष्य की मजबूरी हैं लेकिन अपनी इक्कीसवीं सदी के पोस्ट-मॉडर्न दौर में तो दानिश हो या बुद्धि — वैसे ही कल्चरल मार्जिन पर पहुँच गयी हैं, वहीं भली ठहरी — बड़ी दुःखदायी होवे है दानिस ससुरी। सो, प्रभु आप थे कलेक्टिव हिस्टीरिया — अपने लिए तो बन गए आप कल्चरल ऐण्ड पर्सनल नॉस्टैल्जिया, सो अपन ने ये ख़त आपको लिख दिया।

ये सराय वाले दोस्त-यार चाहते थे इस वर्ष इस नगर के कुछ समाचार। पढ़े-लिखे ठहरे। शहर का हाल-चाल, हालात का लेखा-जोखा, सालभर का देखा-भोगा दर्ज करने को पढ़े-लिखे लोग नहीं उत्सुक होंगे तो कौन होगा? लेकिन भैया मंकीमैन अपना ऐसा ठहरा कि अपन पढ़े-लिखे नहीं, बस लिखे-लिखे हैं — सो उठाई क़लम ऐ दिलदार, लिख डाला ये हाले जार जिसे अल्ला सुने न सुने, तू तो सुन ही रहा है।

ये जो बीच-बीच में कुछ तुकबंदी सी हो गयी है बंधुवर — इससे उखड़ना मत। ये तो कुछ आउटडेटेड क़िस्म के कवियों की कुसंगति का प्रसाद है — वरना आजकल तो ऐन कविता के बीचोंबीच भी प्रोज़ ही आबाद है। जीवन हो या कविता — नगर हो या महानगर — तुक दिखे तब न, बची हो अगर!

एक सवाल सदियों से दुःखी किए है तुम्हारे वंशधरों को मित्रवर! लगता है तुम उसका सही उत्तर दे सकते हो। ट्राय मारे में क्या हर्ज है, बात यों है कि तुम सचमुच इस बात के ठोसतरीन प्रमाण हो कि हर वर्तमान में कुछ अतीत तो व्यापा ही रहता है। तुम — "मैन" हो लेकिन मंकी भी हो। नर हो, वानर भी हो। वर्तमान तो हो ही — अतीत के आगर भी हो — बल्कि थोड़ी तुक और झेलो तो भविष्य की गागर भी हो। इसीलिए सोचता हूँ कि इस शंका समाधान के लिए तुम्ही को कष्ट दूँ। निश्चिंत रहो मित्र — शंका लघु ही है, दीर्घ नहीं।

V

सो शंका इस प्रकार है। नैमिषारण्य में बैठने वाली ऋषियों की एसेंबली से लेकर सारे ज्ञानियों, सुधियों, बुधियों की चेतना से जो कुछ प्रोडक्ट और बाय-प्रोडक्ट हमें प्राप्त हुए हैं, उनका सार मैंने यथामति यों समझा है कि मनुष्य के मा.चो. होने में तो कोई संदेह है नहीं। प्रश्न केवल यह है कि मनुष्य मा.चो. मूलतः है या भूलतः? इस प्रश्न पर अपन आगे भी लघु-दीर्घतर-नातिदीर्घ विमर्श करेंगे लेकिन सोचो ज़रूर इस पर — इस यक्ष प्रश्न पर कि मनुष्य मूलतः मा.चो. है या भूलतः?

माचो समझ गए न? वो आंग्ल-भाषा वाला नहीं — फ़ारसी देशज के समास वाला! यों तो ये सराय वाले मित्र अपने 'ओरल' के बड़े साधक हैं, सो ओरल ट्रैडिशन के इस परमलोकप्रिय पद को बिना संकेत के भी लिखा जा सकता है, लेकिन भैया संस्कार बड़े से बड़े साधक के यहाँ बाधक बन जाते हैं — सो जो लिखा वही पढ़ना — मा.चो. को ठीक से गढ़ना और इस मूलचूल, बुनियादी फ़ंडामेंटल सवाल पर ग़ौर करना। इंतज़ार करेंगे — आप के प्रज्ञापूर्ण प्रत्युत्तर का।

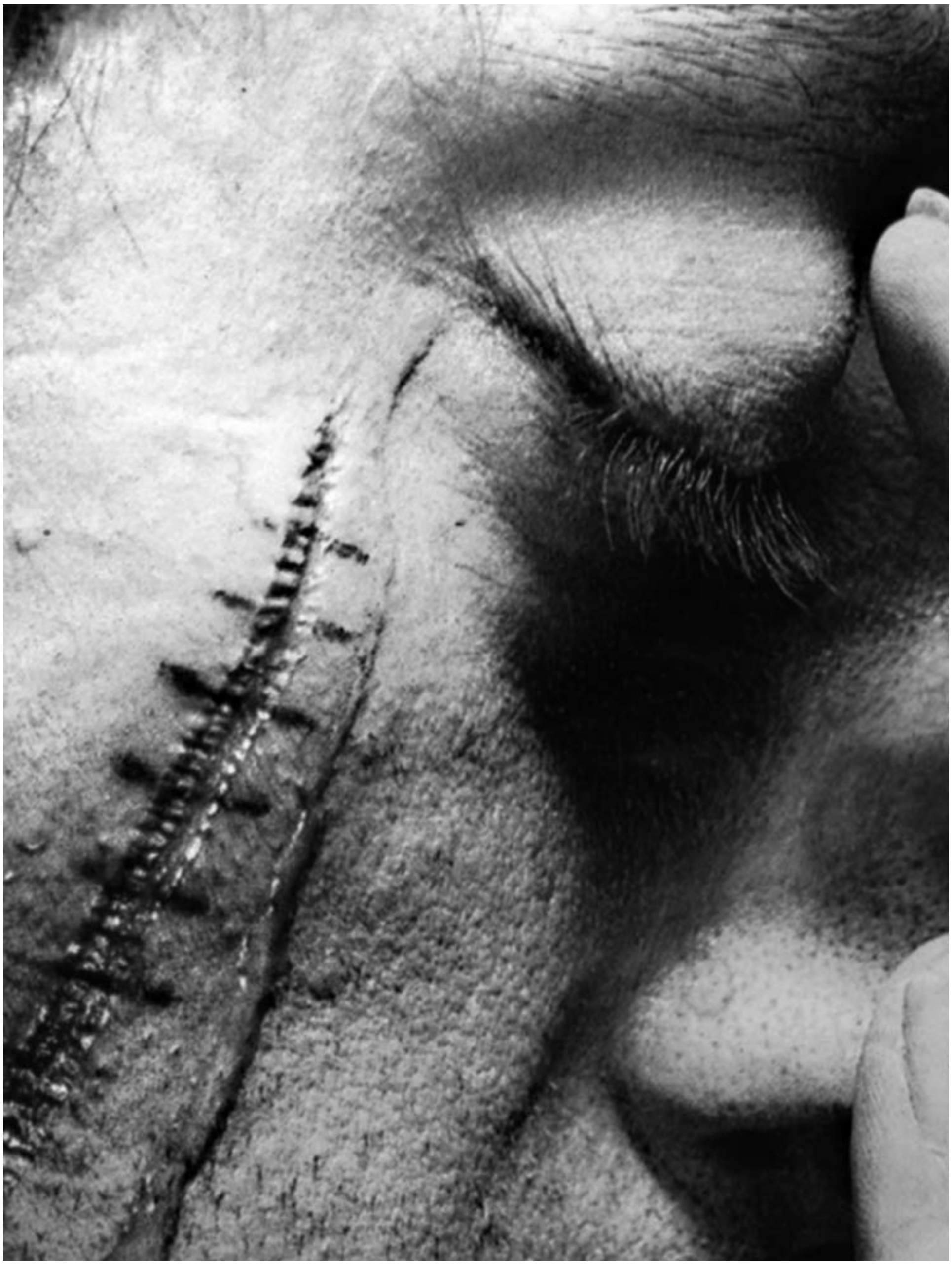
वैसे, ये अफ़सोस तो बना ही रह गया कि आपके प्रभाव से प्रेरित और आपकी व्याप्ति से विकल दिल्ली नगरिया का वातावरण प्रत्यक्ष न सुन पाए न देख पाए। कुछ महीने और रुक जाते तो क्या हर्ज था गुरु? कहाँ बिलाय गए? बता तो जाते कि गए कहाँ और क्यों? असर यज्ञ-हवन का पड़ा या पुलिस ऐक्शन का? प्रभाव महामानवसागर वासी भारत जन का पड़ा या जॉर्ज जी के, मोदी जी के परमप्रिय ऐक्शन-रिऐक्शन का? रौब तुमने होम मिनिस्टिर के बयान का खाया या ज्ञानियों के ज्ञान का?

चलो, कोई बात नहीं। ज़रूरत तो हमें तुम्हारी, तुम जैसों की, बार-बार पड़ेगी — मुलाक़ात इस बार नहीं तो फिर किसी बार होगी ही। तब तक पत्राचार ही सही — 'मूलतः भूलतः' वाली गुत्थी पर तुम्हारी राय का इंतजार ही सही!

अजनबी होती ख़ुदी

सिनेमा के शहर में हिंसा का दैहिक अभिनयः 1974-2003

रवि वासुदेवन



जब हम अपने दौर पर नज़र डालने की कोशिश करते हैं तो हमारे सामने मौजूद छवियाँ और उनके आख्यान की बुनावट हमें बार-बार दूसरे दौरों की तरफ़ खींचती है। हमारा वक़्त जैसे तस्वीरों की शृंखला की एक परत हो जो दूसरी छवि-शृंखलाओं की परतों पर चस्पाँ है। यह ठीक वैसे ही है जैसे संगीत की कोई स्वरलहरी हमें बार-बार पुराने ज़माने की धुनों और उनकी आवाज़ों की तरफ़ खींचती है। एक स्तर पर इसका ताल्लुक़ आत्म के गठन से है, अपनी ख़ुद की बुनावट से। यह एक लाज़िमी बात है कि हर पीढ़ी आज की पीढ़ी को अपने-अपने वक़्ती पैमानों और कसौटियों पर कस कर देखना चाहती है। परंतु यदि हम ख़ुद को अपने इन मनोगत बंधनों की क़ैद से बाहर निकाल लें तो हमारे सामने सिनेमा का एक ऐतिहासिक संस्थान खड़ा दिखाई देता है। उसमें काम करने वालों के परत-दर-परत अनुभवों, अपने निरूपण व प्रदर्शन के कोड, और अपने आख्यानमूलक रूपकों से बना यह सिनेमा हमारे सामने ऐसे-ऐसे सामयिक वृत्त खोलता है जिनकी बिना पर इस हद तक दावे किए जाने लगते हैं कि समकालीन क्षण इतना विशिष्ट और अनूठा है कि किसी और क्षण से उसकी तुलना ही नहीं की जा सकती।

आज के सिनेमा में शहरी निर्मिति के निरूपण से सिनेमाई प्रस्तुतीकरण के इतिहास के कई पुराने क्षण हमारी यादों में कौंध जाते हैं। मुंबई का विक्टोरिया टर्मिनस, गगनचुंबी इमारतें, मध्यवर्गीय घरों और निम्न-आयवर्गीय झोपड़पट्टियों के भीतरी आयाम, उनकी साज-सज्जा, फ़ैक्ट्रियाँ, गोदाम, गोदियाँ, निर्माण स्थलों का विषम, बदरंग चेहरा, शॉपिंग मॉल और बाज़ार — ये ऐसे सार्वजनिक स्थान हैं जो समय की सीमाओं को लाँघ कर हमें अपनी अनुगूँज सुनाते हैं और स्क्रीन पर दिखने वाले व्यक्तित्व, उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि, उनकी विधागत पहचान और अदाकारी के नाज़ो-अंदाज़ व्यक्तित्व की पुरानी रचनाओं से एक संवाद स्थापित करते हैं। इस निबंध में मैं — शहर और देह — इन्हीं दो दायरों पर विचार करूँगा। मैं इन दोनों के विश्लेषण के ज़रिए यह दिखाने की कोशिश करूँगा कि ये दोनों तत्व सिनेमा के आख्यान के धरातल पर किस तरह एक-दूसरे में गुंथते हैं, बुने जाते हैं। देखने के इन तरीक़ों की मेरी यह खोज बुनियादी तौर पर तो सिनेमा में मुंबई को लेकर रचे गए अनुभवों पर केंद्रित रहेगी। मगर बीच-बीच में यह जुस्तजू इस दायरे के परे भी चली जाएगी ताकि यह भी पता चल सके कि देह व स्थान के बीच की इन अंतर्क्रियाओं के ज़रिए ग्रामीण जीवन और वैश्विक स्वरूप के साथ-साथ विभिन्न दूसरे दायरे भी किस तरह एक ख़ास शक्ल ग्रहण करते जाते हैं। मेरे इस विश्लेषण के केंद्र में देह है — हिंसा के लक्ष्य एवं हिंसा के वाहन के रूप में भी और अभिनय के वाहन एवं साधन के रूप में भी। मेरे कहने का आशय है कि यह एक ऐसी विधा है जो एक तरफ़ तो देह को कौशल और नाटक का विषय बना देती है और दूसरी तरफ़ उसका कायान्तरण भी करती जाती है। इसमें देह के भीतर क़ैद आत्म ही नहीं होता, उन दोनों के बीच एक विच्छेद भी होता है जिसके ज़रिए हमें देह को एक व्याख्यात्मक वाहन के रूप में देखने का मौक़ा मिलता है।

सिनेमा को लेकर राज्य और नागर समाज के पैमाने पर चलने वाले विमर्श के आयाम गहरे तौर पर बदल चुके हैं। इस संदर्भ में बॉलीवुड भी एक महत्वपूर्ण शब्द है जो समकालीन मुंबइया सिनेमा का शॉर्टहैन्ड पर्याय बन चुका है। मोटे तौर पर ऐसा लगता है कि यह शब्द मुंबइया सिनेमा के एक अच्छे-ख़ासे विदेशी बाज़ार के अस्तित्व में आने से पैदा हुआ है। यह बाज़ार कथित परंपरागत परिवार के रीति-रिवाजों के मंचन के ज़रिए भारतीयता की एक विस्तृत संकल्पना का निर्यात करता है। कुछ लोगों का कहना है कि इस तरह का सांस्कृतिक स्वरूप उन हिंदुस्तानियों के लिए अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़ाव की ज़रूरत और उसके पुनरुत्पादन की ज़रूरत को पूरा करता है जो 'मातृभूमि' के बाहर जा बसे हैं। तर्क दिया जाता है कि इस तरह का आख्यान आंतरिक दायरे में भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि बाहरी दायरों में, क्योंकि पिछले दसेक सालों के भीतर भारतीय समाज इस कदर खुल चुका है कि 'परंपरागत' संस्कृति को घरेलू स्तर पर भी, यानी ख़ुद अपने देश में भी ख़तरा महसूस होने लगा है। बॉलीवुड का मसला जटिल है। इसमें वैश्वीकरण, सरकार की संस्कृति संबंधी नीतियों, सिनेमा, फ़ैशन, विज्ञापन एवं संगीत के बीच नए सेतुओं, और उपयोग की संस्कृति की एक नई चकाचौंध जैसे विविध मुद्दे शुमार हैं।[1] मौजूदा निबंध के दायरे को देखते हुए फ़िलहाल इस महत्वपूर्ण परिघटना को परे रख कर चलना बेहतर रहेगा ताकि वर्तमान का एक और नज़रिया सामने आ सके और 'हमारे दौर' को समझने का एक भिन्न रास्ता खुल सके।

अपने विश्लेषण की शुरुआत के लिए मैं सत्तर के दशक की ओर लौटना चाहता हूँ। इस ज़रिए मैं सिनेमा और सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों के बीच से गुज़रती हुई एक कहानी आपके सामने पेश करने की कोशिश करूंगा। उस समय भारतीय राज्य, सामाजिक व नागरिक संस्थान, सांगठनिक ढाँचे और सांस्कृतिक स्वरूप/विधाएँ एक गहरे संकट के दौर से गुज़र रही थीं। यह ऐसे बदलाव थे जिनके परिणाम हमारे सामने तत्काल स्पष्ट नहीं थे। 1974 में हुई एक बड़ी रेलवे हड़ताल ने पूरे देश को ठप्प कर दिया। सरकार ने न केवल इस हड़ताल को तोड़ दिया बल्कि अस्सी के दशक की शुरुआत में कपड़ा उद्योग में हुई विशाल हड़ताल भी नाकामयाब हो गई। ये घटनाएँ संभवतः हमारे देश में ट्रेड यूनियनों के दीर्घकालिक पतन का संकेत थीं। सत्तर के दशक की शुरुआत में भ्रष्टाचार के सवाल पर राज्य सरकारों के ख़िलाफ़ भी बड़े-बड़े आंदोलन हुए। इन आंदोलनों से बिहार और गुजरात पूरी तरह हिल उठे थे। इन घटनाओं से साफ़ ज़ाहिर होता था कि जनभावनाएँ सत्तासीन कांग्रेस पार्टी के ख़िलाफ़ हैं। परंतु यह जनमत सामाजिक गठबंधन के उन स्वरूपों और सहमतियों के भी ख़िलाफ़ था जिनका यह पार्टी आज़ादी से अब तक प्रतिनिधित्व करती आ रही थी। गहराते विरोध को देखते हुए प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने आपातकाल की घोषणा कर दी, विपक्षी नेताओं को जेल में डाल दिया, नागरिक अधिकार रद्द कर दिए, चौतरफ़ा सेंसरशिप लागू कर दी और कार्यपालिका को बेइंतिहा अधिकार दे दिए। सरकारी नीतियों के स्तर पर यह तानाशाही कुछ ऐसे परिणामों का प्रतीक और प्रारंभिक संकेत थी जो पिछले दसेक सालों के दरमियान खुल कर हमारे सामने आए हैं। भारतीय शहरों की लगातार बढ़ती जटिलता से निपटने के लिए सरकार ने जो रवैया अपनाया वह भी इन्हीं परिणामों में से एक है। कहने की ज़रूरत नहीं कि इन सालों में भारतीय शहरों की तरफ़ आने वाली और यहाँ बसने वाली आबादी में भारी इज़ाफ़ा हुआ है।[2] आपातकाल को सही ठहराने के लिए तात्कालिक रूप से सरकार की कार्यकुशलता का ढिंढोरा पीटा गया। आपातकाल के एजेंडा के तहत समाज को अनुशासित करने की मुहिम छेड़ दी गई। इस मुहिम में नसबंदी के लिए चलाए गए बदनाम सरकारी अभियान और झोपड़पट्टियों के सफ़ाए तथा पुनर्वास की योजनाएँ भी शामिल थीं।[3] इनमें से कई अभियानों को आपातकाल के ख़िलाफ़ हुई उग्र प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बाद में रद्द कर दिया गया। अब, पिछले दसेक सालों के दौरान ज़्यादातर पुराना एजेंडा दोबारा हमारे सामने आ खड़ा हुआ है। ख़ासतौर से शहरों की 'अराजक' और 'प्रदूषक' जनता को सरकार ने सफ़ाई व सुधार का एक मुख्य निशाना बना लिया है। बेशक, सत्तर के दशक की सरकारें संरक्षणवादी नीतियों के दायरे में काम करती थीं इसलिए उनके हालात काफ़ी अलग क़िस्म के थे जबकि आज की सरकारें राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को काफ़ी हद तक खोल चुकी हैं। अब सरकार शहरों के पुनगर्ठन के लिए बहुत सारे राजकीय हस्तक्षेपों को विदेशी निवेश की आमद के उद्देश्य से चलाना चाहती है।[4]

यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि इस बात का संकेत है कि इस दौर के सांस्कृतिक सफ़र को भी एक जटिल इतिहास के आईने में ही देखा जा सकता है। स्वतंत्र राज्य का एक एजेंडा यह था कि आधुनिक सांस्कृतिक मानकों का विकास किया जाए। राज्य ने 'अच्छे' सिनेमा को सहायता देने की ज़िम्मेदारी अपने कंधों पर ली। यह 'अच्छा' सिनेमा प्रयोगवादी से लेकर सामाजिक यथार्थवादी तक, किसी भी प्रकार का हो सकता था। माधव प्रसाद ने इस बात का विश्लेषण किया है कि इन कोशिशों से सत्तर के दशक में किस तरह सिनेमा का एक विभेदीकृत दायरा सामने आया। माधव प्रसाद ने सिनेमा की जिन अलग-अलग श्रेणियों की शिनाख़्त की है उनमें एक राज्य समर्थित सिनेमा भी था। यह सिनेमा विकासवादी यथार्थवाद की बुनियाद पर खड़ा था। इसके अलावा एक मध्यवर्गीय सिनेमा था जो सामान्य और दैनंदिन को समर्पित था। तीसरी श्रेणी के सिनेमा को माधव प्रसाद उद्योग जगत द्वारा शुरू की गई गोलबंदी का सौंदर्यबोध कहते हैं।[5] यह बाद वाली श्रेणी आख्यान की विषयवस्तु की ओर भी इशारा करती है और एक ख़ास तरह के सिनेमा के प्रति राज्य के हस्तक्षेप और सहायता के कारण उद्योग के सामने पैदा हो रहे आशंकित ख़तरे के ख़िलाफ़ व्यापक जनता को सिनेमा हॉल की तरफ़ खींचने की मजबूरी के बारे में भी बताती है।

पीछे मुड़कर देखने पर: बिखरता फ़लक

प्रसाद ने सिनेमाई विविधता के अपने ब्यौरे में जिस वैचारिक विधेयात्मक भूमिका का ख़ाका खींचा है, इस निबंध में मैं उसे अब आराम देना चाहता हूँ। इसकी बजाय मैं सिनेमाई आचार के पूरे विस्तार पर नज़र डालता हूँ; यह

मंज़र कुछ चटखता-सा दीखता है। ये सामाजिक बदलाव के सर्वस्वीकृत मानकों को प्रश्नांकित करने के मौक़े हैं, और इसमें सामाजिक यथार्थ के पाठ हैं तो विखंडन के लोकप्रिय-रूप भी, और साथ ही सिनेमा द्वारा उद्धृत वृहद् ऊर्जा-क्षेत्र भी हैं। ये आचार राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की आकांक्षाओं के क्षितिज को अस्त-व्यस्त करने का काम करते हैं। इसके लिए उन प्रतीकों और छवियों को निशाना बनाया जाता है जिनके ज़रिए इन आकांक्षाओं और कल्पनाओं ने शक्ल अख़्तियार की थी। यदि विधाओं की बात करें तो इसमें लेखकीय सिनेमा से लेकर लोकप्रिय मारधाड़, घरेलू मेलोड्रामा और हल्की/भोंडी कॉमेडी तक तमाम तरह की क़िस्में आती हैं। ऐसे में यह हमारे इतिहास को आलोचनात्मक नज़रिए से परखने की नई दृष्टि देता है।

अपने विश्लेषण में सबसे पहले मैं ऐसी कृतियों की ओर ध्यान आकर्षित कराना चाहता हूँ जिन्होंने एक लिहाज़ से राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए न तो कभी कोई ख़ास प्रतीक गढ़े और न ही किसी आकांक्षा के किसी निश्चित क्षितिज की रचना की। मिसाल के तौर पर वामपंथी बंगाली निर्देशक ऋत्विक घटक की कृतियाँ ली जा सकती हैं जिनमें भारत के विभाजन के ऐतिहासिक महाविनाश को सिनेमा के पर्दे पर दर्ज किया गया। विभाजन के अकल्पनीय रक्तपात और विस्थापन ने ऋत्विक घटक के कृतित्व पर गहरी छाप छोड़ी। वह लंबे समय तक इस हिंसक विच्छेद की परिणतियों की रचनात्मक ढंग से जाँच-पड़ताल करते रहे। पात्रों और मंच-सज्जा के निर्धारण में मिथकीय और महाकाव्यात्मक अनुगूँजों का प्रयोग करते हुए अपनी रचनाओं में उन्होंने इस बात को दर्ज किया कि इस विस्थापन ने जीवन को समेटकर दोबारा ढर्रे पर लाने की कोशिशों को किस क़दर मुश्किल बना दिया है। बात चाहे घर की हो, रैडिकल समूह की हो या एक यथार्थवादी एवं तार्किक मीमाँसा/अस्तित्व की हो — यह मुश्किल हर जगह पेश आ रही थी। 1974 में घटक ने एक ऐसी फ़िल्म बनाई जिसे उनकी वसीयत कहा जा सकता है। उनकी फ़िल्म *जुक्ति तक्को आर गप्पो* (तर्क, विमर्श और गप) कई मायनों में पुराने सांस्कृतिक रूपों को ही आगे बढ़ाती है। इसमें भी लोक नृत्य (छाऊ) की परंपरा, युद्ध के बाद विस्थापित हो चुकी बंगलादेशी औरत के प्रतीकात्मक साज़ो-सामान, चरम वामपंथी नक्सली आंदोलन की विफलता पर चिंतन-मनन के साथ-साथ चालू क़िस्म के प्रतीकशास्त्र और आत्मकथाओं सहित तमाम तरह की रचनात्मक सामग्री दिखाई देती है।[6]

एक लिहाज़ से देखें तो यह कृति रूपों में बिखराव, एक क़िस्म के विखंडन की ओर संकेत करती है, ताकि उसके विभिन्न घटक तत्वों के बीच निहित संबंधों की पड़ताल की जा सके। मेरे ख़याल में सिनेमा के अलग-अलग दौरों में इस बिखराव की ज़बर्दस्त अनुगूँज सुनाई देती है, हालाँकि इतना ज़रूर है कि यह अनुगूँज कई अलग-अलग तरीक़ों से हम तक आती है। इस अवधारणात्मक बदलाव को रेखांकित करने के लिए यहाँ मैं मुख्यधारा के सिनेमा से कुछ उदाहरण सामने रखना चाहता हूँ। 1957 की लोकप्रिय क्लासिक *मदर इंडिया* (महबूब ख़ान) में एक किसान औरत, राधा, की कहानी कही गई है। फ़िल्म में यह औरत भुखमरी और तमाम तरह के अपमान का साहसपूर्वक मुक़ाबला करते हुए अपने बच्चों को पालती है। इस फ़िल्म का आख्यान राधा के इर्द-गिर्द घूमता है जो अब गाँव की 'माताजी' बन चुकी है और उसे गाँव के बाहर बनाए जा रहे बाँध के निर्माण की देखरेख का ज़िम्मा सौंपा गया है। यहाँ प्रौद्योगिकी के रास्ते से आने वाली संपन्नता के राष्ट्रवादी सपने में माँ और पृथ्वी प्रकृति के रूप में एक दूसरे में गुंथ जाते हैं। नेहरू ने तो कहा ही था कि बांध आधुनिक भारत के मंदिर हैं। मगर इसी पृष्ठभूमि में फ़िल्म का कथानक इस आशय का संकेत देता है कि एक कष्ट उठाती और क़ुर्बानी देती माँ की छवि ही सार्थकता और मूल्य का सबसे बड़ा स्रोत है। इसके तक़रीबन चौथाई सदी बाद *कुली* (मनमोहन देसाई, 1983) में ख़ालिस निर्दयता और चौधराहट की चाह के तहत एक दरिंदा गाँव को डुबोने के लिए बांध के दरवाज़े खोल देता है। इस दृश्य में प्रौद्योगिकी विपुल संपन्नता का कृपालु वाहन नहीं बल्कि ध्वंस और तबाही का एक नृशंस साधन बनकर सामने आती है।

यह कथानक नेहरू के विकासवादी स्वप्न की युगांतरकारी प्रति-अभिव्यक्ति है। इस दौर से ऐसी छवियाँ बड़ी तादाद में सामने आने लगती हैं। आधुनिकीकरण और नेहरू की नई आस्था के अनगिनत प्रतीक आधुनिकतावादी लोककला की स्याही के तले दबकर दम तोड़ने लगते हैं। कभी रेलवे को नए अनुभवों के पसरते फलक से वाक़िफ़ कराने वाले जादुई वाहन के तौर पर देखा जाता था जिसे सबसे मशहूर ढंग से संभवतः *पाथेर पाँचाली* (सत्यजीत रे, 1955) में दिखाया गया था। परंतु *ज़ंजीर* (प्रकाश मेहरा, 1973) जैसी फ़िल्मों में रेलगाड़ी को बिल्कुल अलग

रंग-रूप में पेश किया जाता है। यहाँ इंसान की ज़िंदगी दुर्घटनाओं के फ़ौरी ख़ौफ़ की क़ैद में रहती है। इस फ़िल्म में ज़िंदगी की अनिश्चितता की अस्तित्ववादी अभिव्यक्ति के तौर पर एक व्यक्ति सवारी रेलगाड़ी से गिरकर मौत के मुँह में चला जाता है। इसी फ़िल्म में एक और जगह रेल का पुल और रेल की पटरियाँ नायक की निर्मम मारपीट की प्रतीकात्मक पृष्ठभूमि बन जाती हैं।[7]

पचास के दशक में लोकप्रिय या कला, दोनों क़िस्म के सिनेमा में श्रम या कामकाज को आमतौर पर निरूपित नहीं किया जाता था मगर इस नए दौर में गोदियों, गोदामों, रेलवे प्लैटफ़ॉर्मों, खदानों, और निर्माण स्थलों के यथार्थवादी चित्रण के ज़रिए श्रम की दुनिया को निरूपित किया जाने लगा। लेकिन यहाँ आदर्श की दुहाई नहीं दी गई है, पूरी फ़िल्म की शख़्सियत, औद्योगिक मशीनी लय में बँधी हुई दिखाई देती है। *दीवार* (यश चोपड़ा, 1974) में विजय नामक प्रवासी बाल मज़दूर अपनी माँ के अपमान से तिलमिला रहा है। यहाँ उसका ग़ुस्सा ज़मीन तोड़ने वाली ड्रिल मशीन के कम्पनों में अभिव्यक्त होता है। एक और जगह पर शहर का फ़लक हिंसक और सदमाकुन परिणतियों के लिए संदर्भ उपलब्ध कराता है। उसी तरह जैसे *मुक़द्दर का सिकंदर* (प्रकाश मेहरा, 1978) में अमिताभ बच्चन व एक और सबॉल्टर्न पात्र परदे के पीछे की ताक़तों की चालबाज़ी का शिकार होकर ग़लती से एक-दूसरे पर हमला कर बैठते हैं। निर्माण स्थल पर जूझ रहे ये दोनों पात्र निर्माणाधीन इमारत के मलबे से अपने हथियार चुनते हैं — एक बनते हुए शहर का निर्मम शस्त्रागार बलि ले रहा है।

इस सिनेमाई दुनिया की औपचारिक संरचनाओं में यथार्थवादी साँचे और अतिनाटकीय स्वैरकल्पनाएँ/फंतासियाँ एक-दूसरे के साथ चलती हैं। यहाँ यथार्थ के चित्रण और उसके काल्पनिक, अनपेक्षित कायांतरण के बीच आवाजाही के लिए शहर अकसर एक महत्वपूर्ण मंच बन जाता है। बच्चन की देह मुंबई के शहरी परिदृश्य की लंबवत् रेखाओं के वास्तु से एकमेक हो जाती है। दिल्ली को पृष्ठभूमि में रखकर बनाई गई यश चोपड़ा की *त्रिशूल* (1978) में निर्मम व्यावसायिक तर्क की बुनियाद पर खड़े कथानक के ज़रिए ख़ुदी का एक बर्बर रूपान्तरण दिखाई देता है। एक क़ाबिल युवा अफ़सर ऐसे कॅरियर के लिए अपनी प्रेयसी को भी छोड़ देता है जो दिल्ली के दिनोंदिन फैलते निर्माण व्यवसाय में एक दिन उसे पहली पायदान पर पहुँचा देगा। मगर उसे इस बात का इल्म नहीं है कि पिछले संबंध से उसका एक नाजायज़ बेटा भी है और वह अपने दिल में यही महत्वाकांक्षा लेकर बड़ा होता है कि एक दिन वह अपने पिता के साम्राज्य को मिट्टी में मिला देगा। वह पूरे शहर को अपनी माँ के नाम पर 'शांति कंस्ट्रक्शन्स' के बैनरों से पाट देना चाहता है। इस फ़िल्म में, और कई दूसरी फ़िल्मों में भी, बच्चन शहर के निर्मित वातावरण को बार-बार एक परायी दुनिया के रूप में देखता है। यह ऐसा दायरा है जिसे बहिष्कृत मज़दूर, यानी उस माँ के नाम पर दोबारा कब्ज़े में लिया जाना है जो मज़दूर होने के साथ-साथ ज़िंदगी और श्रम, दोनों की जननी भी है।

अपरिहार्य नैतिकता के उपहास का आख्यान शहर के चेहरे पर हर तरफ़ दिखाई देता है। शहर शृंखला पर सत्यजीत रे की अंतिम फ़िल्म, *जन अरण्य* (1975) में मानवतावादी परिवेश में एक निराश कल्पना का उदय होता दिखाई देता है। आमतौर पर एक स्पष्ट नैतिकता से परिभाषित होने वाला उनका नायक यहाँ संदेहास्पद हो जाता है। उनका यह नायक पढ़ने में तो तेज़ है मगर परीक्षा व्यवस्था की ख़ामियों का शिकार होकर एक दिन किसी दूसरी ही दुनिया में पहुँच जाता है। एक क़िस्म के आकर्षण के तहत वह ऐसे बिचौलियों की दुनिया में पहुँच जाता है जो रिश्वत और दलाली के ज़रिए ठेके लेते हैं। यहाँ एक से एक भ्रष्ट किरदारों की लंबी नुमाइश खड़ी कर दी गई है जिन्हें रोबी घोष जैसे बड़े-बड़े चरित्र अभिनेताओं ने पर्दे पर उतारा था। इस फ़िल्म में शहर कुछ ख़ास आचारों और गतिविधियों का दायरा है। यह आचार राजनीतिक दलों के दफ़्तरों, सरकारी दफ़्तरों, नफ़ीस वेश्याघरों और सम्मानजनक रेस्त्राँओं में, सब जगह दिखाई देता है। शास्त्रीय फ़िल्म विधा और कथानकीय एकीकरण के भारतीय शिल्पी, सत्यजीत रे, संभवतः उस काल के स्वाभाविक प्रतीक रूप में एक ऐसा दृश्य उपलब्ध कराते हैं जिसमें आकस्मिक और नैतिक सामंजस्य की बजाय एक-दूसरे को प्रभावित करने वाले आकर्षण और लिप्साएँ भी वजूद में आती दिखायी पड़ रही हैं।[8] इसी नए आख्यान का एक मज़ेदार संस्करण फ़िल्म इंस्टीट्यूट के स्नातक कुंदन शाह की एक फ़िल्म में मिलता है। यह फ़िल्म सरकारी पैसे की मदद से चलाए जा

रहे अभिजात्य नया भारतीय सिनेमा आंदोलन की उपज थी। *जाने भी दो यारो* (1983) में शहरी ऊर्जाएँ मेलोड्रामा और मारधाड़ के ज़रिए नहीं बल्कि मज़ाकिया कटाक्षों और स्याह हास्य के ज़रिए प्रवाहित होती हैं। आपातकाल के बाद पत्रकारिता का एक नया ढर्रा शुरू हुआ था जिसके तहत खोजी पत्रकारों की एक पूरी खेप लाइसेंस और ठेकों के बँटवारे में सरकारी विभागों और उद्योग जगत की मिलीभगत और भ्रष्टाचार को उजागर कर रही थी। शाह की फ़िल्म इसी नई विकृति को संबोधित करती हुई उसे एक अंतहीन सिलसिले की तरह पेश करती है। शाह समकालीन स्कैंडलों की तरफ़ इशारा करते हुए अपने कथानक की रचना करते हैं। मगर उनकी यह दुनिया सिनेमा के इतिहास के संकेतों से भी अपना रूप ग्रहण करती है। यह एक तरह से आत्मालोचन है। यानी यह उसी खोजी प्रवृत्ति को भी संदेह से देखती है जिसका डंका उन दिनों बड़े ज़ोरों से पीटा जा रहा था। एक हास्यास्पद और बेतुके फ्रेम के रूप में शहर का व्यक्तित्व सत्य और न्याय के राष्ट्रवादी विमर्श को हाशिए पर सरका कर दर्शक को एक आत्म-परीक्षा में उलझा देता है।

आइए एक बार फिर अतिनाटक (मेलोड्रामा) की तरफ़ वापस चलें। शहर के भीतर स्थित घर का महफ़ूज़ दायरा एक शक्तिशाली प्रस्थानबिंदु है जहाँ से मूल्यों और अर्थों के स्थापित आशयों की पड़ताल शुरू की जा सकती है। इन सालों के लोकप्रिय घरेलू अतिनाटकों में एक विशिष्ट शब्दावली दिखाई देती है। छवियों और कथानक का डेटाबेस बच्चन को एक बार फिर हमारे सामने ला खड़ा करता है। इस बार वह प्रतिशोध और घरेलू मेलोड्रामा में मुब्तिला ताक़त के रूप में सामने आता है। *त्रिशूल* और घरेलू मेलोड्रामा, *कभी कभी* (यश चोपड़ा, 1976), दोनों में उसे विस्फोटों की पृष्ठभूमि में निरूपित किया गया है। दुनिया की एक आधुनिकतावादी पुनर्रचना में ध्वंस और निर्माण, निर्माण के लिए ध्वंस — ये सुस्थापित प्रतीक बन चुके हैं।[9] परंतु यहाँ यही आधुनिकतावादी प्रतीक बिखर जाता है, ध्वंस को सार्थकता की शृंखला से काटकर अलग कर दिया जाता है, उसकी रचनात्मक अंतर्वस्तु को सत्वहीन बना दिया जाता है।

कभी-कभी में यह रूपक घर की चारदीवारी में घुस आता है। अमित (बच्चन) ने यह दलील देते हुए पूजा (राखी) के लिए अपने प्यार का गला घोंट दिया था कि उनकी ख़ुशी नायिका के माता-पिता के कष्टों की बुनियाद पर खड़ी नहीं होनी चाहिए। मगर उसका यह अभाव तमाम ज़िंदगी उसे सालता है। वयस्क जीवन, विवाह और पिता बनने के बाद भी न केवल यह अभाव उसे बार-बार कचोटता है बल्कि वह ख़ुद बार-बार उन सुनहरी यादों की शरण में चला जाता है। इस पूरे प्रसंग में निर्माण गतिविधियाँ एक रूपक का काम करती हैं। अमित एक बिल्डर है जबकि विजय — जिससे पूजा ने माँ-बाप की इच्छा के तहत शादी की है — एक वास्तुकार और इंटीरियर डिज़ाइनर है। बिल्डर होने के नाते अमित इमारतें खड़ी करने के लिए दिन-रात विस्फोटों की दुनिया में खोया रहता है। यह विस्फोटक दुनिया चाहत की क़ुर्बानी से उसके भीतर पैदा हुए आंतरिक ध्वंस का बाहरी रूपक है। मगर इमारत को एक डिज़ाइन की भी ज़रूरत होती है। उसे न केवल भीतरी एवं बाहरी संरचना और जगह के निर्धारण की दरकार होती है बल्कि उसमें रहन-सहन और अंतरंग रिहाइश के लिए एक ख़ास साज-सज्जा देने की भी ज़रूरत होती है। पारिवारिक माहौल में लौटने पर बच्चन इस तरह का डिज़ाइन मुहैया कराने के लिए नाकाफ़ी साबित होता है। मगर विजय ऐसा नहीं है। यहाँ ग़ौर करने वाली बात यह भी है कि सार्वजनिक प्रतिशोध की फैंटेसी के विजयी व्यक्तित्व को चित्रित करने के लिए बच्चन आमतौर पर जिस नाम का प्रयोग करता है वह इस फ़िल्म में एक अन्य पात्र को दे दिया गया है। ज़ाहिर है क्योंकि बच्चन एक अभाव के अहसास से पीड़ित है इसलिए वह अपने परिवार के आंतरिक परिवेश में प्राण नहीं फूँक सकता। देह के विमर्श में एक बेजोड़ अभिनयात्मक प्रतिस्थापन इस बात को अभिव्यक्त करता है। अमित अंतर्मुखी है, अपनी दुनिया में खोया रहता है -- सदा किसी सोच में डूबा हुआ। दूसरी तरफ़ विजय है जो बातूनी है, हाज़िर जवाब है, वर्तमान में जीता है -- अतीत में झाँकना जिसे मंज़ूर नहीं है। अति के रूप में अभिव्यक्तिजनक ऊर्जा को प्रवाहित करने वाले शक्तिपुंज के रूप में, यहाँ मेलोड्रामा का दायरा अगली पीढ़ी तक फैल जाता है। विजय का बेटा विक्की (ऋषि कपूर) डिस्को धुनों पर थिरकने वाला युवक है जिसे अपनी रूमानी और यौन ऊर्जाओं को प्रवाहित करने के लिए एक निकास की यानी किसी के दिलकश साथ की ज़रूरत है अन्यथा उसके बेकाबू उद्वेग पीढ़ीगत पुनर्नवीकरण की संभावनाओं को अस्त-व्यस्त कर देंगे।[10]

यदि बच्चन की गहरी उदासी के रूप में यहाँ राष्ट्रवादी कल्पना में एक सुराख़ दिखाई देने लगता है जो प्रतिशोध के ऐसे दृश्यों में बार-बार उपस्थित हो जाता है जो उसको पहुँची क्षति की कभी भरपाई नहीं कर सकते तो वहीं दूसरी तरफ़ इसी भावना को व्यक्त करने के लिए बिल्कुल विपरीत पद्धतियाँ भी हैं। *तरंग* (कुमार शहानी, 1984) जैसी ग़ैर-मेलोड्रामाई फ़िल्म के कई हिस्सों में भी रोंगटे खड़े कर देने की ताक़त है। शहानी की फ़िल्म नए भारतीय सिनेमा की प्रायोगिक धारा से निकली थी। यह फ़िल्म अपने दौर के सामाजिक रूपान्तरण का विश्लेषण करती है। इसमें ट्रेड यूनियन आंदोलन के पतन और पूँजीवाद की राष्ट्रवादी एवं परमुखापेक्षी दृष्टियों के बीच एक संहारक संघर्ष दिखाई देता है। शहानी एक फ़ासले से कथानक को पेश करते हैं। वह फ़ैक्ट्री, घर और दफ़्तर का ताना-बाना बड़ी एहतियात से बुनते हैं और अलग-अलग पात्रों को बड़ी गंभीरता से उनमें खड़ा करते हैं। यहाँ वर्गीय सहअस्तित्व के परिदृश्य के ज़रिए परिधियों का पुनर्गठन दिखाई देता है। एक मज़दूर कार्यकर्ता की विधवा, जानकी (स्मिता पाटिल), को उद्योगपति सेठजी के घर में नौकरानी के काम पर रखा जाता है। फ़िल्म में अपने पिता और अपने पति राहुल (अमोल पालेकर) के बीच खींचतान में फँसी राहुल की भुतहा अस्तित्व की मालकिन पत्नी हंसा (कंवल गँढ़ियोक) एक अजीब निढालपन का शिकार दिखाई देती है। यहाँ करुणा की बजाय आध्यात्मिक दुर्बलता से निचुड़ी हुई देह दिखाई देती है, जो पूँजीपति वर्ग के भीतर पीढ़ियों के द्वंद्व का शिकार हो गई है। दुनिया की मुश्किलों पर विजय पाने की कोशिश करती जानकी के हालात को उकेरने के लिए शहानी महाकाव्यों की जटिल छवियों का भी सहारा लेते हैं। हंसा के विषय में तो उनका काम और भी यादगार है जो ओफ़ेलिया की सी हैसियत तो प्राप्त कर लेती है मगर वह एक ऐसी ओफ़ेलिया है जो नाटकीय अधीनता की बजाय अलगाव की ज़िंदगी गुज़ारने का फ़ैसला लेती है। यह पात्र शहानी की व्यापक नृत्यरचना में एक छोर से दूसरे छोर तक घूमता दिखाई देता है। उसके ज़रिए एक ख़ास दुनिया की भीतरी जोड़-तोड़, लोगों की यौन प्रवृत्तियों और व्यावसायिक उठा-पटक की झलकियाँ दिखाई देती हैं। यह किरदार एक तरह से पूरे परिदृश्य में घूमता है जिसमें ब्रेसोनुमा नृत्यरचना की अनुगूँज और रचनात्मक पुनर्कल्पनाएँ दिखाई देती हैं।[11]

हमारा हिंसक दौर: परिवेश में देह का रूपविधान

समकालीन सिनेमा की दुनिया में निर्मित परिवेश और घर-गृहस्थी जमाने की जद्दोजहद का वृत्तांत एक स्थायी प्रतीक के रूप में सामने आता है। एक ऐसा शहर जहाँ राज्य सामाजिक न्याय का निष्पक्ष नियामक नहीं है, वहाँ सिर छिपाने की एक जगह, एक अदद घर का सवाल बड़ा सवाल बन जाता है। स्वतंत्र डॉक्युमेंटरी आंदोलन की एक प्रख्यात फ़िल्म, आनंद पटवर्धन की *हमारा शहर* (1985) इसी सवाल पर केंद्रित है। यह आंदोलन सरकारी तंत्र के तहत चलने वाले फ़िल्म्स डिवीज़न के दायरे से बाहर और फलस्वरूप स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में आया था। आपातकाल के बाद इस आंदोलन ने पटवर्धन की ही *प्रिज़नर्स ऑफ़ कॉन्शेन्स* (1978)[12] जैसी फ़िल्मों के साथ ख़ासा ज़ोर पकड़ा। *हमारा शहर* में पटवर्धन ने फ़ुटपाथ पर रहने वालों के हालात के चित्रण में बड़ी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। स्क्रीन से परे के वृत्तांत को सामने लाने के लिए वह ख़ुद इन फ़ुटपाथियों की आवाज़ों का सहारा लिया। फ़िल्म में एक आवाज़ तैरती रहती है और कैमरा जगह-जगह घूमता रहता है। पटवर्धन उस आवाज़ को किसी ख़ास व्यक्ति से जोड़ने में ख़ासा समय लेते हैं। इस वृत्तचित्र में निर्देशक की मौजूदगी बहुत सीमित है। यहाँ निर्देशक केवल इसी बात को ज़्यादा मुखर तौर पर रेखांकित करता है कि इस तरह के कार्यकर्ता क़िस्म के वृत्तचित्रों के बारे में मज़दूर वर्ग संशय से ग्रस्त है। परंतु अगर कहीं निर्देशक का अपना एक झुकाव दिखाई देता है तो वह इस बात में है कि उसने फ़िल्म को राजनीतिक रूप से एक स्पष्ट कथानक में बाँधा है। फ़िल्म में अपने आरामदेह बंगलों, महँगे फ़्लैटों, नगर पालिका दफ़्तर, नागरिक एवं फ़्लैट मालिकों की बैठकों के ज़रिए अभिजात्य वर्ग की दुनिया की एक स्पष्ट तस्वीर खींची गई है। निर्देशक इन दोनों दुनियाओं के बीच के तीखे भेद को उजागर करता है। इसके लिए उसने एक नज़रिया विकसित करने के लिए स्पष्ट रूपकों की बजाय हालात की कोख से पैदा होने वाली अतिनाटकीय विडंबनाओं का सहारा लिया है।

यदि स्वतंत्र वृत्तचित्र इस कल्पना की परिधि में काम करता है कि राज्य अब सामाजिक न्याय का वाहक और स्रोत नहीं रहा है तो दूसरी तरफ़ मुझे ऐसा भी लगता है कि बदलते परिदृश्य के कुछ ख़ास आयाम इस आंदोलन

के एजेंडा का हिस्सा नहीं बन पा रहे थे। खोजी पत्रकारिता ने आमतौर पर राज्य और औद्योगिक भ्रष्टाचार को ही अपना मुख्य विषय बनाया मगर न तो वृत्तचित्र बनाने वालों ने और न ही पत्र-पत्रिकाओं और अख़बारों ने दैनिक ज़िंदगी और सबॉल्टर्न अपराध की दुनिया की जाँच करना ज़रूरी समझा, जबकि यह घटनाक्रम शहरी यथार्थ और शहर की छवि का एक महत्वपूर्ण पहलू बन चुका था। कला सिनेमा ने भी कुल मिलाकर इस विषय को हाशिए पर ही रखा। गोविंद निहलानी की फ़िल्में — *अर्धसत्य* (1983) और *आघात* (1985) — को इसका अपवाद माना जा सकता है। पचास के दशक से ही लोकप्रिय मुंबइया सिनेमा में अपराध एक केंद्रीय विधा और शहरी निरूपण एवं अनुभव का एक मुख्य साधन रहा है। शुरुआती दौर में आपराधिकता के सहारे सामाजिक अन्याय को नाटकीय रूप देने की कोशिश की जाती थी और वह अवैधता व सामाजिक बेदख़ली के हालात का एक रूपकात्मक वृत्तांत बनता था। जबकि सत्तर के दशक के मध्य से समकालीन सिनेमा अपराध का एक बिल्कुल भिन्न प्रतीकात्मक वृत्तांत अपनाने लगता है। मेरे ख़याल में *हमारा शहर* और उसी दौर के लोकप्रिय सिनेमा, मिसाल के तौर पर *अंकुश*, को एक दूसरे के साथ रखने पर चीज़ों को ज़्यादा साफ़-साफ़ समझा जा सकता है। एन. चंद्रा की *अंकुश* भी उसी साल रिलीज़ हुई जिस साल *हमारा शहर*। संभव है कि शहर के हाशिये पर, सड़कों पर बीतने वाली ज़िंदगी, जिसका पटवर्धन की फ़िल्म में निरूपण किया गया है, छोटे-मोटे अपराधों की दुनिया की ओर आकृष्ट हो सकती है। मगर वृत्तचित्र वाली विधा में इस पहलू को नहीं उठाया गया। ऐसा शायद इसलिए है कि इससे न केवल अन्याय के कार्यकर्ता-आधारित नज़रिए की धार कमज़ोर पड़ जाती है बल्कि इस बात को उठाना शायद ज़्यादा मुश्किल भी है।

आइए एक बार फिर बच्चन की शख़्सियत की तरफ़ लौटें। उसके किरदार एक यथार्थवादी परिवेश से उपजते हैं और वे प्रतिनिधि पात्र भी हैं। मसलन, एक ऐसे मज़दूर की छवि जिसके पास शोषकों से दो-दो हाथ करने और अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करने का नैतिक और शारीरिक साहस है। *दीवार* जैसी फ़िल्मों में वह प्रतिनिधित्व के भार से बच निकलने के लिए ऐसा करता है। जहाँ ट्रेड यूनियन आंदोलन लगातार ख़त्म होता जा रहा है (*दीवार* में बच्चन के पिता की नियति के ज़रिए इस हक़ीक़त को उजागर किया गया है), वहाँ फ़िल्म एक तरह से इस ऐतिहासिक बदलाव की भविष्यवाणी करती सी दिखाई देती है और नायक को धीरे-धीरे अपराध व दौलत की ग़ैरक़ानूनी दुनिया में पहुँचा देती है हालाँकि नायक ये सारे काम अपनी माँ के नाम पर ही अंजाम देता है। नतीजतन, इस तरह की कृतियाँ न केवल सामाजिक न्याय के वाहक के तौर पर राज्य को अवैध ठहराने, बल्कि नागर और राजनैतिक की सीमा पर काम करने वाले ट्रेड यूनियन जैसे आलोचनात्मक नुमाइंदा संस्थानों के विमर्श में उलझी हुई भी दिखाई देने लगती हैं।

अस्सी के दशक के मध्य से परिदृश्य नए सिरे से परिभाषित होता है। सामाजिक विषयनिष्ठता और शहरी अस्तित्व की नई दृष्टियों को वृत्तांत का विषय बनाया जाता है और कई तरह की राजनीतिक संभावनाओं के संकेत मिलते हैं। यहाँ इस आशय का तर्क आकार लेता दिखाई देता है कि अब तक की सहमति को उधेड़ने वाली हिंसक संभावनाएँ अब हाशिये पर ढकेल दिए गए वर्गीय द्वंद्व और वर्गीय असंतोष के रूप में अभिव्यक्त नहीं होंगी। यहाँ एन. चंद्रा की *अंकुश* और *तेज़ाब* (1987) जैसी कृतियाँ अच्छी मिसालें हैं। *अंकुश* मुख्यधारा की फ़िल्म नहीं थी। उसका अपना एक वृत्तचित्रनुमा यथार्थ था। इस फ़िल्म में सड़क के नुक्कड़, मोहल्ले और बाज़ार का बड़ा वास्तविक निरूपण किया गया है। इस फ़िल्म से सिनेमाई शहर को अस्तित्व में लाने की एक नई भाषा सामने आती है। बाद में इन स्थानों को स्टूडियो के सेट्स पर ज़्यादा बारीकी से गढ़ा जाने लगा मगर इस फ़िल्म में लोकेशन शूटिंग के सहारे रचा गया यथार्थवादी माहौल देखने लायक है। यह यथार्थवाद नुक्कड़ पर इकट्ठा होने वाले नौजवानों के चरित्र चित्रण में भी साफ़ दिखाई देता है। इस फ़िल्म में हमें समय का एक विच्छिन्न या ठहर गया सा रूप मिलता है। फ़िल्म में निरूपित हर दिन एक जैसा लगता है। इस फ़िल्म में बेरोज़गारी के साथ-साथ उस कड़वाहट के भी दर्शन होते हैं जो इस फ़िल्म को उसका एक ख़ास राजनीतिक रुझान मुहैया कराती है। यह फ़िल्म मुंबई के कपड़ा उद्योग की विशाल हड़ताल के विफल हो जाने और क्रमशः शहर के कपड़ा उद्योग के छितरा जाने के बाद बनी थी। फ़िल्म के चारों मुख्य पात्र इन बदले हुए हालात को तो उजागर करते ही हैं साथ

ही एक ज़्यादा व्यापक परिस्थिति की तरफ़ भी इशारा करते हैं। इस सामान्य स्थिति का आशय शिक्षित बेरोज़गारों की उस दुनिया से है जो ख़ुद को भ्रष्ट समाज की अपेक्षाओं के हिसाब से ढाल पाने में नाकामयाब हो गए हैं।

फ़िल्म में जिस सामाजिक पृष्ठभूमि को दर्शाया गया है वह वही है जिसे महाराष्ट्र की धार्मिक कट्टरतावादी पार्टी शिवसेना का अखाड़ा माना जाता है। यह पार्टी बाद में हिंदू बहुलवादी राजनीति के देशव्यापी जमावड़े का एक अहम हिस्सा बनी।[13] फ़िल्म में बेरोज़गार युवकों के समूह को अपनी हैसियत पर हमला होता दिखाई देता है, वह पराजित व आहत हैं और अन्यायपूर्ण सामाजिक अपमान का यह अहसास उन्हें तल्ख़ियों से भर देता है। यहाँ सार्वजनिक दावेदारी का सवाल बहुत महत्वपूर्ण है और वह फ़िल्म के शुरुआती दृश्य में गणेश चतुर्थी जुलूस के लिए सड़क पर क़ब्ज़े के वास्ते गिरोहों की लड़ाई के रूप में दिखाई देता है। गणेश पूजा के उत्सव राष्ट्रवादी नेता तिलक के ही ज़माने से सार्वजनिक नागर जीवन में अहमन्यवादी हिंदू राजनीति की राजनीतिक गोलबंदी का एक महत्वपूर्ण तत्व रहे हैं।

ये बातें इस निष्कर्ष की पुष्टि करती हैं कि यह फ़िल्म शिवसेना के प्रचार अभियान का साधन जैसी लगती है।[14] अपनी सामाजिक बुनावट में यह फ़िल्म उन राष्ट्रीय टकरावों का पूर्वाभास देती है जो कुछ साल बाद सामने आए। 1989 में केंद्र की अल्पसंख्यक सरकार के प्रधानमंत्री वी. पी. सिंह ने ऐतिहासिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए नौकरियों में आरक्षण से संबंधित मंडल आयोग की सिफ़ारिशों को लागू करने का फ़ैसला लिया। समाज के अभिजात्य तबक़े को लगा कि इस तरह की नीतियाँ मेरिट का महत्व नष्ट कर देंगी और उन्नति के रास्ते पर देश का सफ़र अवरुद्ध हो जाएगा। और भी जटिल बात यह थी कि उच्च जाति, निम्न मध्यवर्गीय आबादी ने इन नीतियों पर भारी हताशा व बेचैनी का इज़हार किया और बाज़ युवकों ने अपनी जान तक दे दी। निस्संदेह, यह आख़िरी परिदृश्य *अंकुश* की कल्पना के दायरे में नहीं था। यह फ़िल्म सुनियोजित मर्दाना दुस्साहस के सहारे आगे बढ़ती है। फ़िल्म के नायक व्यवसायियों के एक भ्रष्ट झुंड को ख़त्म करने की कोशिश करते हैं और एक सामाजिक उद्देश्य के लिए शहीद होने वालों की तरह अपने अपराध और सार्वजनिक मृत्युदंड को स्वीकार कर लेते हैं।

सिनेमा में मुंबई की तस्वीर को गढ़ने वाली नई भाषा रचने के लिहाज़ से इस फ़िल्म की अहमियत को कम करके नहीं आँका जा सकता। गणेश चतुर्थी से लेकर मोहल्ले, नुक्कड़ और बाज़ार तक होते हुए चंद्रा *तेज़ाब* में रेल की पटरियों और शहर की परिधि पर बनी झोपड़पट्टियों तक जा पहुँचते हैं। *तेज़ाब* (1987) व्यावसायिक दृष्टि से बेहद सफल फ़िल्म थी। यह फ़िल्म मुंबई शहर के भीतरी/बाहरी वाले तर्क को परिभाषित करती है। इस फ़िल्म के नायक मध्यवर्गीय मुन्ना की आँखों में भी उस वक़्त बड़े ख़ुशनुमा ख़्वाब होते थे जब वह नौसेना में कैडेट था। यह देशभक्त युवक विभिन्न ताक़तों की चालबाज़ियों के कारण और पुलिस व न्यायालय की विफलता के चलते बुरे हालात में फँस जाता है। रामायण के राम की तरह मुन्ना को भी अन्यायपूर्वक शहर से जलावतन कर दिया जाता है। और वह बाक़ायदा अपराधी बन जाता है। कहानी के अंत में वह रामायण की ही तरह अपनी प्रेमिका को बचाने के वायदे को पूरा करके शहर में वापस लौट आता है। यह काम वह एक मुस्लिम अपराधी, लोटिया पठान, के चंगुल से अपनी प्रेमिका को आज़ाद करके कराता है। यह फ़िल्म देशभक्ति की निराश भावना के इतिहास और शहर से जलावतनी और वापसी के ज़रिए प्रतीकात्मक पूंजी को एक बार फिर अर्जित करने की कोशिश करती है और इस क्रम में राष्ट्र के मिथकीय पुनर्नवीकरण के नए सामाजिक मानदंड भी निर्धारित करती है।

संभावनाएँ महज़ यही नहीं थीं — इस बात को उसी दौर की दो दूसरी फ़िल्मों ने भी बताने की कोशिश की। *नायकन* (मणिरत्नम, 1987)[15] और *परिन्दा* (विधु विनोद चोपड़ा, 1988)[16] का रास्ता कुछ और है। *दीवार* में हाजी मस्तान के कॅरियर की एक झलक दिखाई देती है, जिसे उस ज़माने में मुंबई का 'गॉडफ़ादर' माना जाने लगा था। हालाँकि *दीवार* में इस तरह के मुद्दों का कोई संदर्भ दिखाई नहीं देता मगर *नायकन* अपने नायक वेलु नायकन के ज़रिए तमिल माफ़िया सरगना वरदराजन मुदालियर के निरूपण के सहारे अपराधियों की संरक्षणवादी वैधता की ज़रूरत को रेखांकित करती है। शहर के बारे में इस कथानक को उभरती शिवसेना द्वारा प्रचारित — 'धरती के लाल' (sons of the soil) वाले सिद्धांत के बरक्स पढ़ा जा सकता है। उल्लेखनीय है कि शिवसेना ने सबसे पहले तमिलनाडु और केरल के प्रवासियों को ही निशाना बनाया था। महानगर की तमिल झोपड़पट्टियों

के बीच अपनी कहानी बुनने के लिए इस फ़िल्म में कपोला की *द गॉडफ़ादर* (1972) को आधार बनाया गया है। इन झोपड़पट्टियों में रहने वाले तमिल ग़रीबी और जातीय अधीनता -- दोनों तरह से हाशिये पर दिखाई देते हैं। *अंकुश* में झोपड़पट्टियों के हिंसक मोहल्लों को जिस तरह दिखाया गया था, यहाँ उन्हीं झोपड़पट्टियों को एक अलग अंदाज़ में पेश किया जाता है। फ़िल्म में कमल हासन मार्लिन ब्रैंडो, अल पचीनो और संभवतः लोकप्रियता के शिखर पर पहुँच चुके तमिल स्टार शिवाजी गणेशन के अभिनय का एक दुस्साहसिक समावेश प्रस्तुत करते हैं।[17] संयमी, धोतीधारी नेता की यह छवि तमिल राजनीति के काफ़ी नज़दीक दिखाई देती है। फ़िल्म के कला निदेशक थोट्टा थराणी और कैमरामैन पी. सी. श्रीराम ने नायकर के घर की जो तस्वीर खींची है उसमें भी राजनीतिक ध्वनियाँ मानूद हैं। डॉन विटो कॉर्लियॉन की विषाद भरी अंदरूनी दुनिया की बजाय नायकर का घर ख़ासा रोशन है और उसकी चारदीवारी इस तमिल सरगना (नायकर) के सामने हाथ फैलाने वालों और उसके बीच के फ़ासले को इंगित करती है। फ़िल्म के वास्तु-सँयोजन में राजनीतिक दरबार व अदालती माहौल के संकेत मिलते हैं। पूरी फ़िल्म बड़ी बारीकी के साथ अपराध से राजनीति की दुनिया तक चली जाती है और न केवल दोनों के बीच निहित संबंधों की तरफ़ संकेत करती है बल्कि उस अलंकारिक संरचना को भी सामने लाती है जिसके ज़रिए नेता की छवि के इर्द-गिर्द ये दोनों परिधियाँ आपस में गुँथती हैं।

सिनेमा की धुरी के ज़रिए राजनीति और अपराध की परिधियों के बीच यहाँ जटिल उलझाव दिखाई देता है और इसके लिए ऐसे रास्ते अपनाए गए हैं जो उसी दौर में एन. चंद्रा द्वारा बनाई गई फ़िल्मों की तुलना में झोपड़पट्टी/अपराध/सियासत की नई शब्दावली को एक भिन्न दिशा प्रदान कर देते हैं। मगर यहाँ समकालीन की पुनर्कल्पना में एक शक्तिशाली अंतःसिनेमाई विमर्श भी कार्यरत है। यदि *नायकन* एन. चंद्रा की फ़िल्म का प्रत्युत्तर देती है तो दूसरी तरफ़ विनोद चोपड़ा की *परिन्दा* तमिल सरगना को उसकी राजनीतिक उपादेयता या प्रसंग से काटकर एक मनोरोगी द्विधाग्रस्त खलनायक अन्ना (नाना पाटेकर) के रूप में निरूपित करती है। एक विधा के रूप में यह मुंबई के सबॉल्टर्न जीवन के जातीय वृत्तांत का अराजनीतिकरण नहीं है बल्कि यह अपराध जगत के अंतर्जातीय आयामों का एक यथार्थवादी ब्यौरा है। जैसा कि इरा भास्कर ने कहा है, अब इस विधा में गॉथिक तत्व बड़े शक्तिशाली ढंग से उभरने लगे हैं।[18] मुंबई रात का शहर है जहाँ बीच-बीच में बेनाम भीड़ दिखाई देती है या अचानक फूट पड़ने वाली हिंसा के लिए एक खुला कैनवास पसरा हुआ है। यह एक ऐसा शहर है जहाँ व्यक्ति हमेशा घात लगाए बैठे एक ऐसे नेटवर्क की भेदती नज़रों से कभी भी बहुत दूर नहीं रहता जो अदालतों, धार्मिक स्थानों और घर तक भी अपनी घुसपैठ बनाए हुए है। अन्ना की फ़ैक्ट्रियों, शहर की दबी-छिपी दुनिया का चेहरा सामने आने पर यह गॉथिक आयाम ख़ासतौर से उभर कर आते हैं। अन्ना की फ़ैक्ट्रियों में कहने को तो तेल की मिलें चलती हैं मगर असल में वहाँ नशीली दवाइयाँ बनाई जाती हैं। एक तरह से यह मौत के उत्पादन की हमारे सामने उपलब्ध एकमात्र डिस-असेंबली लाईन है। यहाँ स्टील के शिकंजों, औद्योगिक मिक्सरों और और ढलवाँ नालियों में अन्ना के विरोधियों और विश्वासघातियों की लाशें ठिकाने लगाई जाती हैं।

इस नेटवर्क की घर तक घुसपैठ बाद में एक अहम सूत्र बनती है मगर *परिन्दा* में उसका इस्तेमाल एक ख़ास विधागत पड़ताल के उद्देश्य से ही किया गया है। जैसा कि रंजनी मजुमदार ने दर्शाया है, अपराधियों के गठजोड़ से आज़ाद होने की कोशिश करते प्रेमी-युगल के अपेक्षित मिलन में बार-बार बाधा पड़ती है। बार-बार बजने वाली टेलीफ़ोन की घंटी और अचानक बिजली गुल हो जाने जैसी घटनाओं से घर की नीरवता और शांति बार-बार टूटने लगती है।[19] फ़िल्म नोआर (Noir) और गॉथिक तत्व उस समय के मुंबइया सिनेमा में इफ़रात में मौजूद रूमानी क़िस्से-कहानियों की शृंखला को अस्थिर करने का काम करते हैं।

दिलचस्प बात यह है कि मुंबई शहर की चेतना के मानचित्र में आ रहे इन बदलावों को कला सिनेमा के मुक़ाबले लोकप्रिय सिनेमा ने कहीं ज़्यादा शक्तिशाली ढंग से पकड़ा है। यद्यपि गोविंद निहलानी की फ़िल्म में क़ानून और आपराधिकता के बीच निहित जटिल रिश्तों को संबोधित किया गया है मगर समांतर सिनेमा के गठन में उपदेश का आग्रह बहुत स्पष्ट दिखाई देता है। यह बात सईद अख़्तर मिर्ज़ा की रचनाओं में सबसे साफ़ दिखाई देती है

जिन्होंने *अल्बर्ट पिंटो को गुस्सा क्यों आता है* (1980), *मोहन जोशी हाज़िर हो* (1983) और *सलीम लंगड़े पे मत रो* (1989) जैसी फ़िल्मों के ज़रिए जातीय सबॉल्टर्न और हाशियाई अस्तित्व के विभिन्न तबक़ों पर फ़िल्मों की एक शृंखला बनाई थी। लोकप्रिय सिनेमा की ज़्यादा ताक़त इस विखंडित परिदृश्य से बचकर निकल जाने और शहर के नज़ारों, उसके हिंसक भू-दृश्य और निम्नवर्गीय अनुभवों के चित्रण में भी दिखाई देती है जिन्हें इस तरह के विमर्श में आसानी से जगह नहीं मिल सकती। राष्ट्रवाद के विकासवादी स्वप्न पट पर दरार को दिखाने के लिए हताशा और हिंसा की नई अनुभूतियों को रेखांकित किया गया है। कुछ लोगों का मानना है कि ये कृतियाँ ब्रेख़्तियन शैली से प्रभावित थीं। बहरहाल, इनमें अलख जगाने वाली एक ऐसी भाषा का इस्तेमाल किया गया है जो यथार्थवादी कला सिनेमा और उस ज़माने की वृत्तचित्र फ़िल्मों के उद्देश्यों के ज़्यादा अनुरूप दिखाई पड़ती है। यह भाषा तर्कसंगत निरूपण तथा संचार और बहस के एक नागर-सामाजिक विमर्श को मज़बूती देती है। यहाँ शहरी अपराध का एक ऐसा व्याकरण जन्म लेता है जो नाना अनुभवों-सबॉल्टर्न ज़िंदगी के विकृत रूपों से लेकर शहरी अर्थों को उदघाटित करते नए स्थानों और खुद सिनेमा को शहरी तजुर्बे का तरीक़ा मानने तक सब कुछ है। उसमें (अति) राष्ट्रवादी भावनाओं के पुनर्गठन करने की संभावनाएँ भी खुलती हैं और सामाजिक को सामाजिक के रूप में देखने के लिए उसके विखंडनवादी फ़्रेम से बचकर निकलने का रास्ता भी मिलता है। कला सिनेमा में तुलना में इस तरह का विशद प्रतिचित्रण राजनीती के हिसाब से किसी भी दिशा में जा सकता था। जरूरी नहीं कि इनमें स्पष्ट विचारधारात्मक या राजनीतिक आग्रह हो।

हिंसा के स्रोतों की शिनाख़्त

समकालीन हिंसा के स्रोतों की पड़ताल के लिए पिछले दशक की एक बेहद लोकप्रिय फ़िल्म हमें शहर की परिधि से बाहर, गाँव-देहात की दुनिया में ले जाती है। गुलज़ार द्वारा निर्देशित *माचिस* (1994) अस्सी के दशक के उत्तरार्द्ध में सिक्ख उग्रवाद को कुचलने के लिए बेतहाशा हिंसा और आतंक का सहारा लेने के लिए राज्य को आड़े हाथों लेती है जिसने न जाने कितने नौजवानों को मनमाने ढंग से यातना का शिकार बनाया। इस फ़िल्म में गुलज़ार लोकप्रिय, मध्यवर्गीय और समांतर सिनेमा के चौराहे पर खड़े दिखाई देते हैं। यह बात कहानी में निहित यथार्थवादी कार्यकारण संबंधों, अख़बारों से ली गई नागरिक अधिकारीवादी रिपोर्टों और कथानक में बिल्कुल सटीक जड़े हुए गानों से साफ़ दिखाई देती है। फ़िल्म के गाने उन युवाओं के गहरे नॉस्टैल्जिक संबंधों को उजागर करते हैं जो राज्यतंत्र की मनमानी हिंसा और आतंकवाद के चलते खुद बदले की भावना के साथ उग्रवाद की दुनिया में पहुँच गए हैं। अब तक जिस हिंसा को शहरी ज़िंदगी के साथ जोड़कर देखा जाता था, यहाँ उसे पंजाब के देहातों पर छाई ख़ामोशी के सामाजिक यथार्थ में पकड़ने की कोशिश की गई है। गुलज़ार की नज़र दर्शक को उग्रवादियों से दूर मगर अन्याय के शिकार मासूमों के साथ खड़ा कर देती है। और इसमें एक मेलोड्रामाई एवं मिथकीय संरचना के ज़रिए सती-सावित्री के मिथक का भी बख़ूबी सहारा लिया गया है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि समकालीन बदलावों की हिंसक प्रतिध्वनियों की जड़ में शहर के गहन रूपांतरण से लेकर राष्ट्र राज्य और जातीय आंदोलनों तक के एक जटिल समुच्चय का हाथ रहा है, मगर इसके बावजूद समकालीन बदलावों के हिंसक स्वरूप को एक ऐतिहासिक रूप से नई शक्ल प्रदान करने में हिंदू बहुलवादी कट्टरता के आंदोलन ने सबसे बड़ी व निर्णायक भूमिका निभाई है। अस्सी के दशक के मध्य से इस आंदोलन को ख़ासी स्वीकार्यता मिलने लगी थी। 1988 के चुनावों में इस आंदोलन की संसदीय शाखा ने एक शक्तिशाली राजनीतिक उपस्थिति दर्ज कराई। यही वह समय था जब इस ख़ेमे के नेता एल.के. आडवाणी ने रथयात्राओं के मिथकीय प्रतीक का सहारा लेते हुए कई सार्वजनिक जलसे-जुलूसों के ज़रिए हिंसक परिस्थितियों को जन्म दिया। हिंदू दक्षिणपंथी ताक़तों की संसदीय और ग़ैर-संसदीय रणनीतियों से कल्पित हिंदू पहचान की रचना के इर्द-गिर्द उग्रवादी माहौल बनाए रखने में मदद मिली। यह मुहिम आख़िरकार दिसंबर 1992 में बाबरी मस्जिद के ध्वंस में परिणत हुई। इसके फ़ौरन बाद देश के कई स्थानों पर बड़े पैमाने पर दंगे हुए जिनमें जनवरी 1993 में मुंबई में मुसलमानों के सामुदायिक सफ़ाये जैसी घटनाएँ भी शामिल हैं।[20]

स्वतंत्र डॉक्युमेंटरी आंदोलन ने जल्दी ही इन बदलावों की भी गहरी पड़ताल शुरू कर दी। पटवर्धन ने *राम*

के नाम (1992) में हिंदुत्व आंदोलन पर बाक़ायदा शोध पेश किया। फ़िल्म में इस आंदोलन के ऐतिहासिक दावों को उसके प्रतिद्वंद्वी वक्तव्यों के सामने रख कर निष्कर्ष दिया गया कि 1989 में मंडल आयोग के क्रियान्वयन से पैदा हुए लोकतांत्रिक स्पंदनों को नष्ट करने के लिए इस आंदोलन ने ऊँची जातियों की गोलबंदी का सहारा लिया है। मधुश्री दत्ता की डॉक्युमेंटरी *आई लिव इन बहरामपाड़ा* (1993) में लोगों के बयानों के सहारे मुंबई की एक बस्ती पर हुए हमलों की एक बड़ी सजीव और यथार्थपरक तस्वीर खींची गई। उसी समय कला सिनेमा की धारा ने सईद मिर्ज़ा की *नसीम* (1995) के रूप में हाल के सालों की अपनी सबसे बेहतरीन कृति पेश की। अपने उपदेशक मिज़ाज को मिर्ज़ा ने इस फ़िल्म में भी क़ायम रखा। यहाँ वह मुस्लिम समुदाय की महिला विरोधी छवि को तोड़ने के लिए लड़कियों की शिक्षा के आदर्श का सहारा लेते हैं। मुसलमानों की यह छवि हिंदुत्ववादी विचारधारा के ख़ाके में काफ़ी महत्वपूर्ण रही है। मगर इस फ़िल्म की उल्लेखनीयता सिर्फ़ इसी बात में नहीं थी। यह फ़िल्म प्रसिद्ध वामपंथी शायर और गीतकार कैफ़ी आज़मी के किरदार के ज़रिए बीते ज़माने के धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी मुस्लिम बुद्धिजीवी वर्ग को भी बड़े व्यवस्थित ढंग से रेखांकित करती है। इस किरदार की मौत के साथ अलग-अलग समुदायों के बीच सौहार्द के धर्मनिरपेक्ष सपने पर मंडरा रहे ख़तरे के गहराने का अहसास पैदा होता है, जो मस्जिद के ध्वंस के बाद सचमुच सामने आया।

राष्ट्रवाद के बदलते चेहरे से संबंधित शक्तिशाली और संवेदनशील आपबीतियाँ, उसके आक्रामक रूपांतरण से जिन इतिहासों और अनुभवों को चुनौती दी गई और जिन्हें दबाया गया — ये फ़िल्में समकालीन को आकार देने वाले चिंतन का अभिन्न हिस्सा हैं। लोकप्रिय शैली की फ़िल्में इस तरह के संवेगों पर हमेशा की तरह तुलनात्मक रूप से ज़्यादा संदिग्ध प्रतिक्रियाएँ देती हैं। *बाज़ीगर* (अब्बास मस्तान, 1993), *डर* (यश चोपड़ा, 1994) और *गर्दिश* (प्रियदर्शन, 1992) जैसी फ़िल्में राजनीतिक बदलावों को अपने किरदारों की अस्पष्ट प्रेरणाओं, दर्शकों की पहचान के विखंडन और कथानक की अस्त-व्यवस्त बुनावट के ज़रिए सामने लाती हैं। ये फ़िल्में एक अनिश्चित पहचान और अनजान ख़तरे की दुनिया के रूप में शहर की एक ख़ास तस्वीर सामने लाती हैं। एक छोर पर ये फ़िल्में पहचान के बारे में सवाल खड़ा करती हैं — हम किसी को कितनी अच्छी तरह जानते हैं, फ़लाँ व्यक्ति कहाँ से आया है — और इस बात का अहसास कराती हैं कि यह अनिश्चितता ही शहर को एक अस्थिर, यहाँ तक कि एक दहशतनाक दुनिया में भी तब्दील कर सकती है। मगर दूसरी तरफ़ ये फ़िल्में किसी को सामाजिक एवं राजनीतिक वैधता की परिधि में शामिल करने या उसे बहिष्कृत करने के लिए पहचान के दावों के इस्तेमाल की कोशिशों से पैदा होने वाली दहशत को भी सामने लाती हैं। *माचिस* के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि निर्दोष इन्सानों को उग्रवादी साबित करने और उन्हें हिंसा का निशाना बनाने में किस तरह स्वयं राज्य ही सबसे बड़ा अपराधी बन जाता है। महेश भट्ट की फ़िल्म *ज़ख़्म* (1999) एक वर्चस्वशाली, राजनीति प्रेरित हिंदू पहचान की सुरक्षा, बल्कि उसके गर्व की पड़ताल करती है और पहचान के उसके दावों को ऐतिहासिक घटनाक्रम के आइने में देखने की कोशिश करती है। इस फ़िल्म में वह अपने पसंदीदा विषय — नाजायज़ औलाद — की पड़ताल मुंबई दंगों में मारी गई एक औरत के ज़रिए करते हैं। उस औरत का हत्यारा एक मुस्लिम युवक है जो जनवरी 1993 में हिंदू दक्षिणपंथी ताक़तों द्वारा अपने समुदाय पर किए गए बेतहाशा हमलों से गुस्साया हुआ है। मगर सच्चाई यह है कि उसने भी किसी हिंदू को नहीं बल्कि एक मुस्लिम औरत को ही मारा है। और इस घटना के ज़रिए भट्ट इस दमित पहचान के इतिहास और मृत महिला के बच्चों पर उसके प्रभावों की पड़ताल करते हैं। इसी तरह की एक और ऐतिहासिक फ़िल्म, यश चोपड़ा की *धर्मपुत्र* (1961) में भी एक बच्चा इस मान्यता के साथ बड़ा होता है कि वह हिंदू है। वह मुसलमानों के प्रति भयानक घृणा में जुनूनी हो जाता है। जब उसे पता चलता है कि उसके असली माँ-बाप कौन हैं तो उसकी जुनूनी हरकतों पर एक विध्वंसक विराम लग जाता है। 1983 की अपनी फ़िल्म *सारांश* की तरह यहाँ भी भट्ट ने आग, एक जली हुई कार, यहाँ-वहाँ बिखरे नौजवानों के समूह — इन थोड़ी-सी चीज़ों के सहारे ही शहरी हिंसा को पकड़ने की कोशिश की है। हिंदू-मुस्लिम सौहार्द के ख़ुशनुमा अतीत की याद दिलाने के लिए वह फ़्लैशबैक का सहारा लेते हैं। यहाँ उन्होंने बड़ी रचनात्मकता का परिचय दिया है, ख़ासतौर से उस दृश्य में, जहाँ बच्चे अपने फ़िल्मकार पिता के स्टूडियो में जा धमकते हैं। जब बच्चे स्टूडियो में पहुँचते हैं तो वहाँ एक धार्मिक फ़िल्म की शूटिंग हो रही है और विशालकाय

हनुमान अचानक उनके सामने आ खड़ा होता है। समकालीन हिंदुत्ववादी गोलबंदी के बाद ख़तरनाक छवि अख़्तियार कर लेने वाला यह वानर देवता यहाँ एक हँसोड़ पात्र के रूप में सामने आता है। यह दृश्य अपने धार्मिक प्रतीकों के साथ हमारे सहज मासूम संबंध और विनोदी भरे रवैये की यादें ताज़ा कर देता है।

माचिस और *ज़ख़्म* जैसी फ़िल्मों में लोकप्रिय सिनेमा एक क़दम पीछे हटकर हमारे हिंसक इतिहास और उसे जन्म देने वाले पहचान के टकरावों पर एक ज़्यादा शांत और संयत नज़रिये की संभावनाएँ पेश करता है। दूसरी तरफ़, नागर समाज की परिधि को विस्तार देने की कोशिश में लगी जनपक्षधर स्वतंत्र डॉक्युमेंटरी फ़िल्में ज़्यादा जटिल और खोजी रवैये की तरफ़ बढ़ने लगती हैं। यहाँ सतह पर दिखने वाली घटनाओं की बजाय उनकी अंतरंग परतों और आत्मसाक्षात्कार के साथ-साथ डॉक्युमेंटरी विधा और उसकी विशिष्ट विषयवस्तु का एक समृद्ध रूप सामने आता है।

हिंसा के इतिहास से हमारा संबंध किन चीज़ों से बनता है? दर्शकों और दृश्य-श्रव्य सामग्री के बीच, फ़िल्मकार और उसके विषय के बीच, किसी पात्र, वर्तमान अनुभव और ऐतिहासिक स्मृति के बीच इस संबंध की पड़ताल कैसे की जाए? एक ऐसे फ़लक, परिधि, नज़रिये को कैसे पकड़ा जाए जो हिंसा के बारे में बात तो कर सकता है मगर एक ऐसे तरीक़े से, जिससे दर्शक उस दृश्य से कटा हुआ न महसूस करे? *ए सीज़न आउटसाइड* (1998) में फ़िल्मकार अमर कँवर की पार्श्व ध्वनि हमें एक शॉट से दूसरे शॉट तक ले जाने वाली आवाज़ उद्घाटक नहीं है बल्कि यह आवाज़ बार-बार एक ख़ास जगह और उसके अर्थों पर ज़ोर देती है। वह भारत-पाकिस्तान के बीच स्थित वाघा सीमा, सिक्ख सैनिक ताक़त का प्रदर्शन करते एक शिविर, एक तिब्बती शरणार्थी शिविर पर नज़र डालते हैं, और चाँदनी चौक के एक मकान की खिड़की पर बैठकर स्वतंत्रता दिवस की क़वायद को एक फ़ासले से देखते हैं। यह फ़ासला और चिंतन, पड़ताल का यह रवैया तस्वीर के साथ दर्शक का एक नया संबंध गढ़ता है। यह फ़ासला छवि और घटना, रोज़ाना के, रस्मी रूपों और हाशियाई परिधियों के बीच निहित संबंधों की दस्तावेज़ी पारदर्शिता को तोड़ता है। अभियान या जनपक्षधर वादी रवैये के साथ बनने वाली डॉक्युमेंटरी के विपरीत यह विचारशील रूप सच्चाई के बारे में निश्चयात्मक दावे करने और स्पष्ट आलोचनात्मक सीमाएँ स्थापित कर देने की बजाय प्रासंगिकता के अपने दायरे में खोजबीन की संभावनाएँ पैदा करता है।

बिखराव के आभास: विकेंद्रित दुनिया की कविता और चिंता

रुचिर जोशी की डॉक्युमेंटरी *इलेवन माइल्स* (1991) एक बेजोड़ रचना है। यह डॉक्युमेंटरी जातिशास्त्रीय डॉक्युमेंटरी परंपराओं की एक महत्वाकांक्षी कड़ी है। फ़िल्म में बाउल लोक नृत्य के प्रदर्शन, उसके दार्शनिक आधार और अनुभवों की पड़ताल को एक ऐसी संरचना में स्थित किया गया है जो बिल्कुल अलग-अलग आवाज़ों, अलग-अलग संवेदनाओं और संवेगों का समावेश करने में सक्षम है। चुनौती यह है कि इस निश्चित नृजातीय विषय को एक नए संदर्भ में कैसे रखा जाए, यानी इस लोक रूप को चालू इतिहास के साथ बनने वाले उसके संबंधों से काट कर कैसे देखा जाए। एक लिहाज़ से बाउल इतिहास की यात्रा में यह पहले से मौजूद हैः विभाजन से पहले की गायन परंपराओं से लेकर वैचारिक गोलबंदी की समकालीन परिस्थितियों (वाम मोर्चा सरकार द्वारा फ्रांसीसी क्रांति की याद में किया गया आयोजन), सांस्कृतिक आदान-प्रदान (पोलैंड में ग्रॉटोव्स्की के साथ), सांस्कृतिक निर्यात (समकालीन फ्रांस में नायाब पेशकथा) तक यह बात दिखाई देती है। यह यात्रा न केवल एक नए भूगोल से बनी है बल्कि महत्वपूर्ण बात यह है कि उससे यह भी तय होता है कि बाउल दर्शन, मुहावरा और कथानकीय रूप आधुनिक अनुभवों को किस तरह देखते हैं? मिसाल के तौर पर वह तकनीकी, जैसे बिजली के संगीतीय प्रयोगों और सामान्य रूप से शहर के दैनिक जीवन को किस तरह देखते हैं? इन लगातार फैलते अनुभवों के पीछे चलते हुए अलग-अलग परिधियाँ परिचित होते हुए भी अपिरिचित दिखाई देने लगती हैं। रात में शहर, उसके बाज़ारों, और विविध मनोरंजन साधनों से सजी उसकी फ़ुटपाथों से गुज़रते कलाकार को ऐसा ही लगता है। रात का शहर एक दिवास्वप्न-सा बन जाता है जो बार-बार यह याद दिलाता है कि सिनेमा के पुराने शहर कैसे थे (मोहन लाल कलकत्ता पर ही आधारित एक और फ़िल्म *जागते रहो* (शंभु मित्रा, 1956), में नशे में धुत्त होकर आत्मा की तरह सड़क पर भटकते हैं)। शहर के रंग-रूप में इस नई प्रदर्शनात्मकता के संचार से

नए नज़रिये खुलने लगते हैं, जो हमारे इर्द-गिर्द बिखरी छवियों को बिल्कुल नए सिरे से देखने और सोचने के लिए प्रेरित करते हैंः एक ऐसे शहर के बारे में सोचने के लिए जो लोगों से महरूम है, जहाँ मानव निर्मित परिवेश और वस्तुओं के अलावा कुछ नहीं है।

यहाँ कथानक के परिचित रूपों और डॉक्युमेंटरी प्रक्रिया का एक शक्तिशाली अहसास उद्‌घाटित होता है मानो हमें नए सिरे से शुरुआत करने को कहा जा रहा हो। *इलेवन माइल्स* में यह बिखराव, कथानकीय प्रक्रिया का यह छितराव शहरी अनुभव की कथात्मकता के स्तर पर एक अन्य रचना में भी साफ़ दिखाई देता है। *दहन* (ऋतुपर्णो घोष, 1997) फ़िल्म एक सच्ची घटना पर आधारित है जिस पर बाद में एक उपन्यास भी लिखा गया। इस घटना में एक महिला रिपोर्टर कलकत्ता मेट्रो स्टेशन के बाहर एक महिला के साथ यौन उत्पीड़न की घटना देखती है और उसमें हस्तक्षेप करती है। इस घटना के ज़रिए घोष कई ज़िंदगियों — एक निर्भीक नागरिक, जो इस फ़िल्म में स्कूल शिक्षक है; पीड़ित, एक ऐसी महिला जिसने एक रुढ़िवादी, निम्न मध्यवर्गीय परिवार में विवाह किया है; और हमलावर की गर्लफ़्रेंड — को सामने लाते हैं। गर्लफ़्रेंड की कहानी को निर्देशक ने बहुत संक्षेप में पकड़ा है। हमलावर एक संपन्न परिवार से है उसकी गर्लफ़्रेंड इस घटना पर क्रुद्ध तो है मगर उसकी अपनी दुनिया के आंतरिक दबाव उसे ख़ामोश कर देते हैं। शुरुआती घटना के बाद ये तीनों महिलाएँ एक-दूसरे से कभी नहीं मिलतीं और इस तरह एक-दूसरे से कटे हुए दायरों के रूप में शहर की एक विखंडित तस्वीर उभर कर सामने आती है जिसमें प्रत्येक महिला अपनी स्थितियों और सीमाओं का खुद मुक़ाबला कर रही है। कथानक को आगे बढ़ाने के लिए घोष बग़ल से गुज़रने वाले राहगीरों के बयानों का भी सहारा लेते हैं और घर व कार्यस्थल पर पड़ने वाले सूक्ष्म-सामाजिक दबावों को रेखांकित करते हैं। ये दबाव एक हद के बाद सीधे-सीधे यौन अतिक्रमण का रूप भी ले लेते हैं। कई मौक़ों पर यह फ़िल्म एक जटिल टीवी धारावाहिक जैसी दिखाई देती है और कला सिनेमा व टेलीविज़न के नए दायरे के बीच परस्पर आदान-प्रदान के नए गतिविज्ञान की तरफ़ इशारा करती है।

सत्तर के दशक के संकट से निकलने की प्रक्रिया की छानबीन में हमने एक ऐसे भूदृश्य का उदय होते देखा है जिसमें अब तक के प्रख्यात प्रतीक नष्ट हो रहे हैं और एक उत्तर-औद्योगिक शहर में जगह और व्यक्ति के गठन की नई भावनाएँ अस्तित्व में आ रही हैं। बिखराव के ये संकेत सुरभि शर्मा की *जरी मरी — ऑफ़ क्लॉथ ऐण्ड अदर स्टोरीज़* (2001) में बड़ी सघनता के साथ दर्ज हैं। समकालीन परिवर्तनशील श्रम परिस्थितियों में घरेलू श्रम और कामगार औरत ही एकमात्र स्थायी संदर्भ स्रोत रह जाते हैं। मर्द तो काम की तलाश में एक जगह से दूसरी जगह जाते रहते हैं जबकि कारख़ाने के बाहर से काम करवाने की नई व्यवस्था में औरतों को घर पर ही काम मिलने लगता है। परिवार की स्थिरता और पुनरुत्पादन के लिए इस परिवेश का संरक्षण महत्वपूर्ण हो जाता है। इन घरेलू कार्यस्थलों में सुरभि एक के बाद एक बहुत सारी औरतों से मिलती है जो छोटे-छोटे दरबेनुमा घरों में ही काम करती हैं। विक्रेता की छवि के साथ-साथ गति एवं अस्थिरता की छवियों के सहारे यह लघु रूप बिखराव का एक ऐसा चित्रपट मुहैया कराते हैं जिससे समकालीन कलात्मकता के एक नए अहसास को शक्ल मिलने लगती है। एक ज़माने का कपड़ा उत्पादक यह इलाक़ा हवाई अड्डे से बिल्कुल सटा हुआ है जहाँ लगातार हवाई जहाज़ आते-जाते रहते हैं। हवाई जहाज़ों की यह अनवरत आवाजाही इस परिधि को वस्तु और श्रम की वैश्विक अर्थव्यवस्था से जोड़ देती है। इस पूरे प्रसंग में फ़िल्मकार ट्रेड यूनियन संगठनों के पुराने रूपों में बची-खुची उम्मीदों को भी सामने लाती है। फ़िल्म में मज़दूर यूनियन की एक विफल गोलबंदी की तस्वीर खींची गई है। इन बिखरे हुए फलकों में यह छवि एक विचित्र अनैतिहासिकता लेकर आती है। नए दायरों और काम के नए रूपों के बारे में सोचने पर, जहाँ महिलाएँ समकालीन परिस्थितियों में इतनी अहम हैसियत लिए हुए हैं, कैसे-कैसे नए विचार उत्पन्न हो सकते हैं?[21]

सामाजिक पारलिंगी वेषधारण और प्रदर्शन का अंतहीन प्रलोभन

इस तरह का चित्राख्यान विरले ही मिलता है। जैसा कि हमने देखा, यह पुरुष — और आमतौर पर हिंसक पुरुष — ही डॉक्युमेंटरी और कला सिनेमा के बाहर की सिनेमाई दुनिया में छाए रहे हैं। मगर पुरुषों पर लगातार बढ़ता फ़ोकस न केवल उनके साथ पहचान की संभावनाएँ पैदा करता है बल्कि उन्हें पड़ताल की वस्तु के रूप में भी

पेश करता है। राहुल रॉय की डॉक्युमेंट्री *फ़ोर फ्रेंड्स* (2000) उत्तर-पश्चिमी दिल्ली के एक मोहल्ले में रहने वाले युवकों के बारे में है। यह फ़िल्म हमें सोचने के लिए प्रेरित करती है। न केवल भिन्न समकालीन परिस्थितियों में मर्दानेपन के स्रोत और उसके सामने आने वाली समस्याओं पर विचार करने का मौक़ा देती है, बल्कि अनुभवों को दर्ज करने में कथा साहित्य और कला प्रदर्शन के संसारों को एक-दूसरे से जोड़ने वाला पुल भी मुहैया कराती है। इस फ़िल्म में पुरुष पहचान का एक उल्लेखनीय संदर्भ बिंदु परिवार की भीतरी एकता और घर की परिधि ही है। अब ज़रूरी नहीं कि फ़िल्म के किरदार इनको अभिव्यक्ति, स्मृति व कामना के लिए माकूल जगह मानें। आपसी स्मृतियों की अभिव्यक्ति का सबसे शक्तिशाली स्थल पुरुषों का समूह ही बनता है। यह समूह अनुभवों के निरंतर आदान-प्रदान के अलावा एक ऐसा संदर्भ भी मुहैया कराता है जहाँ वह सहज दिखाई देते हैं और समाज एवं उसकी अपेक्षाओं से बचकर एक शांत कोने में पनाह ले सकते हैं। यह एक महत्वपूर्ण भावनात्मक साधन भी है और निकास का ज़रिया भी। सामयिक अर्थों में इस सामूहिक का केंद्रीय विषय दैनिक जीवन है। ऐसी सामूहिकता जिसका मज़ा और सुख व्यक्तित्व विकास के चक्र में नहीं बल्कि उसकी पुनरावृत्ति में है। यहाँ तक कि व्यक्तिगत साक्षात्कारों के लिए भी फ़िल्मकार को बात करने के लिए परिवार के दायरे के बाहर, घर की बालकनी या छत ज़्यादा मुफ़ीद लगी या फिर उसे पुरुषों के अपने एकांत में जाना पड़ा।

यह समूह अपने-अपने व्यक्तिगत मर्दाना नज़रियों को सामने भी लाता है और उनकी सीमाओं के पार भी जाता है जिससे एक अंतर्वैयक्तिक दायरा पैदा होता है। मेरी राय में पुरुष समूह की यह सामूहिकता प्रदर्शनात्मकता से, एक ख़ास भूमिका अख़्तियार कर लेने के अभ्यास से, चारित्रिक विशिष्टताओं से, शैली और भाषा के छोटे-छोटे पहलुओं से निर्धारित होती है। समूह को संबोधित करने के लिए सदा किसी तजुर्बे/क़िस्से का सहारा लिया जाता है। यौन घटनाओं/अनुभवों को याद करने पर पूरा समूह हँसी से लोटपोट होने लगता है, जैसे, एक मानसिक रूप से असंतुलित महिला के साथ सामूहिक सेक्स का प्रसंग, जिसका उपसंहार उसके सामूहिक बलात्कार में होता है। यह हँसी-ठिठोली और कनखियों वाला हास्य है जिसमें दुनियादारी का ज्ञान दिया जा रहा है कि पुरुष कहाँ तक जा सकते हैं और औरतें असल में क्या चाहती हैं। इसके बाद फ़िल्मकार की आवाज़ हस्तक्षेप करके इस समूह-प्रदर्शन की लय को अस्त-व्यस्त कर देती है और एक विचारशील एवं नैतिक विमर्श शुरू हो जाता है।

रॉय की इस संवेदनशील फ़िल्म को उन नई मनोवृत्तियों के विखंडन की कोशिश के तौर पर देखा जा सकता है जो एक बिखरते राष्ट्र की ज़मीन से पैदा हो रही हैं। यही मनोवृत्तियाँ ही *अंकुश* या *तेज़ाब* जैसी फ़िल्मों को जन्म देती हैं और बताती हैं कि मर्दानगी भरी डींगों और शेख़ी के पीछे क्या है? इसी प्रकार, संभवतः *जरी मरी* को भी विखंडित पाठ की ही संज्ञा दी जा सकती है। यह फ़िल्म झोपड़पट्टी बस्तियों की बुनावट और उनके आंतरिक जीवन को उघाड़ कर हमें इस बात का अहसास कराती है कि कौन सी चीज़ है जो उन्हें एक दूसरे से बाँध कर रखे हुए है? यह भंगिमा वास्तविक को साहित्यिक और अभिनयात्मक इकाई के सामने ला खड़ा करती है, जिससे साहित्यिक और अभिनयात्मक को एक सार्थकता और सच्चाई को जन्म देने वाला आयाम नहीं मिल पाता। *फ़ोर फ्रेंड्स* की असली ताक़त इस बात में नहीं है कि उसमें दस्तावेज़ीकरण का एक नैतिक रूप से तटस्थ तरीक़ा अपनाया गया है (और यह बात कोई नज़रिया क़ायम कर पाने में विफलता से अलग है), बल्कि इस फ़िल्म की ताक़त पुरुष समूह की प्रदर्शनात्मकता, उनके इकट्ठा होने पर पैदा होने वाले अनूठेपन को दर्ज करने और प्रदर्शनात्मकता को एक भावात्मक शक्ति प्रदान करने, यह देख पाने में निहित है कि यह भी आत्मसाकार का ही एक तरीक़ा है।

लोकप्रिय सिनेमा हक़ीक़त को उघाड़ कर सच्चाई से लाज़िमी तौर पर झगड़ा मोल नहीं लेता। जैसा कि हमने देखा, हक़ीक़त एक तरह से सिनेमाई माहौल की निर्मिति में अंकित होती है, जिसमें मर्दाना ताक़त और फ़ंतासी के एक्शन का प्रदर्शन होता है।[22] इन फ़ंतासियों का एक निश्चित कथानकीय ढाँचा और प्रतीकात्मक अर्थव्यवस्था है, ये फ़ंतासी कथानकीय नियंत्रण के बाहर नहीं हैं। मिसाल के तौर पर, बच्चन का अभिनय सबॉल्टर्न केंद्रित विमर्श और प्रतिनिध्यात्मक राजनीति की असफलता से प्रेरित रहा है। उनका अभिनय एक अभाव के अहसास की बुनियाद पर खड़ा है। अंततः उसका किरदार एक ऐसी काल्पनिक उपलब्धि हासिल कर लेता है जो खोखली भी होती है और आत्मसाकार की असंभाव्यता को भी नाटकीय बना देती है। यह मेलोड्रामाई त्रासदी की एक ऐसी

प्रजाति है जो शहरी मारधाड़ की विधा से मिलने वाली मानसिक उत्तेजना में खोए दर्शक को एक आंतरिक संतोष देती है। इस नुमाइश का जवाब नुमाइश के एक और मानक में ढूँढा जा सकता है। *अमर अकबर एंथनी* (1977, नशे में धुत्त दो नंबरी, जो सर्वशक्तिमान नहीं है), *लावारिस* (1981, नाजायज़ औलाद, जो अतिनाटकीय होने के साथ-साथ औरत का रूप धरकर परालैंगिक झलकियाँ भी पेश करता है), *शराबी* (1984), *डॉन* (1978, छोटे शहर का गँवार शहर आकर सर्वशक्तिशाली माफ़िया सरगना का हमशक्ल बनता है) और घरेलू कॉमेडी *चुपके-चुपके* (1975) आदि फ़िल्मों में बच्चन ने अपने ही किरदार का 'अन्य' रचा है।

बहुत सारे लोगों का कहना है कि आज के सिनेमा में संभवतः सबसे नुमाइशी व्यक्तित्व हास्य नायक गोविंदा का है। उनकी देहयष्टि और रूप-रंग लोकप्रिय हीरो की प्रचलित छवि से अलग हैं। गोविंदा रूढ़ सबॉल्टर्न वृत्तांतों का मज़ाक उड़ाते हैं और किसी ग्लैमरस और सामाजिक रूप से बहुत दूर बैठी औरत को हासिल करने की कोशिश या एक रूमानी नायक के रूप में अनपेक्षित सफलता प्राप्त करते हैं। उन्होंने अपनी एक ख़ास शैली विकसित की है जिसमें निरर्थक हाज़िरजवाबी और हास्यास्पद नाच-गानों की भरमार है। उनके नाच-गानों में तो कामोत्तेजक अभिनय की एक अलग ही लैंगिक दुनिया अस्तित्व में आती है। इस अभिनेता का निश्चय ही विस्तार से विश्लेषण किया जाना चाहिए मगर प्रस्तुत निबंध के लिहाज़ से और हिंसा व प्रदर्शनमूलकता के इर्द-गिर्द सीमित रहने की विवशता के चलते मैं ऐसे दो सितारों के बारे में ही बात करूँगा जिन्होंने अपने लिए एक मुक़ाबिलन जटिल और रंग-बिरंगी दुनिया-सी रच ली है।

एक ज़माने में थियेटर में अभिनय का प्रशिक्षण ले चुके नाना पाटेकर ने मुख्यधारा के सिनेमा में प्रदर्शन का एक नया मुहावरा पैदा कर दिया। अपनी नियंत्रित देह क्रियाओं, स्थायी गर्वभाव और ग़ैर-रस्मी संवाद अदायगी से ताक़त ग्रहण करने वाले ज़बानी हमलों के सहारे उन्होंने अभिनय के क्षेत्र में अपनी एक अलग जगह बना ली है। वह अपने विरोधियों पर विडंबनापूर्ण कटूक्तियों और बेरहम व्यंग्य के ज़रिए मार करते हैं। उनकी मौजूदगी एक रंग-बिरंगे और मारक हास्य/व्यंग्य का बोध कराती है। मज़े की बात यह है कि इस प्रदर्शन शैली का बड़ी विविधता के साथ इस्तेमाल किया गया है। यद्यपि पाटेकर को एक मर्दवादी क्षेत्रीय और राष्ट्रीय दक्षिणपंथी राजनीति (महाराष्ट्र की शॉवेनिस्ट शिवसेना और मोटे तौर पर देश भर में चल रही हिंदू दक्षिणपंथी राजनीति) के साथ जोड़कर देखा जाने लगा है मगर परदे पर उनका व्यक्तित्व इतना एकांगी नहीं दिखाई देता। नतीजा, जहाँ एक तरफ़ *अंकुश*, *प्रहार* (नाना पाटेकर, 1999) और *क्रांतिवीर* (मेहुल कुमार, 1994) एक तरह से इस राजनीतिक रुझान की तस्दीक सी करती हैं वहीं दूसरी तरफ़ *सलाम बॉम्बे* (मीरा नायर, 1988) और *दिशा* (सई परांजपे, 1990) में उनकी भूमिकाएँ सामाजिक यथार्थवादी क़िस्म की दिखाई देती हैं। इनके अलावा *परिंदा*, *थोड़ा सा रूमानी हो जाएँ* (अमोल पालेकर, 1990), *राजू बन गया जेंटलमैन* (अज़ीज़ मिर्ज़ा, 1992) और *ग़ुलाम-ए-मुस्तफ़ा* (पार्थो घोष, 1998) जैसी फ़िल्में भी भारी विविधता दर्शाती हैं। इनमें कहीं नाना पाटेकर मनोरोगी गैंग्स्टर बनते हैं, कहीं मानसून और रूमानियत का अलख जगाते हैं, कहीं एक ज़माने की समाजवादी कल्पना के 'छोटे आदमी' की नज़र से कथावाचक-किरदार के रूप में मारक सामाजिक आलोचना पेश करते हैं तो कहीं हिंदू मध्यवर्ग के लोकाचार का अनुसरण करने वाले मुस्लिम गैंग्स्टर की भूमिका निभाते हैं। शुक्र है कि हाल के सालों में पैदा हुए निर्मम राष्ट्रवाद के कारण ग़ुस्साने लगे प्रशंसकों के लिए नाना पाटेकर अभिनय की एक इच्छा, एक अभिनेता-सुलभ खोज-पड़ताल और पुनर्रचना की इच्छा सी जताते हैं। यही बात उनकी किसी भी एकतरफ़ा पहचान को मुश्किल में डाल देती है। कम से कम परदे पर उनका व्यक्तित्व किसी एकतरफ़ा पहचान की गुंजाइश नहीं देता।

आमिर ख़ान ने अपने कॅरियर की शुरुआत *राख* (आदित्य भट्टाचार्य, 1988) के साथ की थी। यह फ़िल्म कई लिहाज़ से मुंबइया फ़िल्म उद्योग में लंबे समय से चले आ रहे पुरुष प्रतिशोध की महागाथाओं का विखंडन थी। मगर जल्दी ही आमिर ख़ान भी फ़िल्म उद्योग के पिटे-पिटाए साँचों में ढल गए और *क़यामत से क़यामत तक* (मंसूर ख़ान, 1988) एवं *दिल* (इंद्र कुमार, 1990) जैसी फ़िल्मों के ज़रिए एक आत्मविश्वास से लबरेज़ ग़बरू जवान की छवि में परदे पर आने लगे। उनकी ये दोनों फ़िल्में बॉक्स ऑफ़िस पर बेजोड़ सफलता साबित हुईं। बाद की कुछ फ़िल्मों में उनका व्यक्तित्व ज़्यादा जटिल दिखाई दिया। *दिल है के मानता नहीं* (महेश भट्ट), *जो जीता वही सिकंदर* (मंसूर ख़ान) और *अंदाज़ अपना-अपना* (राजकुमार संतोषी) — इन सब फ़िल्मों में एक

क़िस्म का खिलंदड़पन है जो एक सीमा के बाद दिखाई देता है, जो विकृति और धूर्त्तता की ओर झुकने लगता है। नब्बे के दशक के मध्य में आमिर ख़ान के कॅरियर में आई गिरावट से ऐसा संकेत मिलने लगा कि उनका फ़िल्मी व्यक्तित्व अब एक नया रूप लेने जा रहा है। आमिर ने *राजा हिंदुस्तानी* के ज़रिए शहर में गँवार की भूमिका को भी बड़ी ख़ूबसूरती से निभाया। उसके बाद राम गोपाल वर्मा की *रंगीला* (1995) और विक्रम भट्ट की *गुलाम* (1998) में एक टपोरी के किरदार को भी उन्होंने अपने अभिनय से यादगार बना दिया। जब ऐसा लगने लगा था कि शहराती आवारा टपोरी का मुखौटा उनके चेहरे पर अच्छी तरह जम चुका है तभी आमिर ने एक पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय देशभक्त पुलिस वाले की भूमिका के साथ इस छवि को भी तोड़ दिया। उन्होंने जॉन मैथ्यू मथान की *सरफ़रोश* (1999) में देश के भीतर और बाहर से सक्रिय आतंकवादियों के ख़िलाफ़ एक कर्त्तव्यनिष्ठ पुलिस अफ़सर की भूमिका निभाई। इस फ़िल्म में भी और अपनी टपोरी वाली फ़िल्मों में भी आमिर का फिल्मी व्यक्तित्व हिंदू दक्षिणपंथी ख़ेमे की तरफ़ से ख़तरे की ज़द में पड़ती जा रही धर्मनिरपेक्ष विरासत को पुनर्जीवित करने की कोशिश करता दिखाई देता है हालाँकि *सरफ़रोश* में यह मुद्रा काफ़ी संतुलित और अस्पष्ट सी है। आमिर के शहराती फ़िल्मी व्यक्तित्व ने फ़रहान अख़्तर की *दिल चाहता है* (2001) की मौलिकता को भी एक हद तक अंधेरे में धकेल दिया। ख़ुद फ़रहान अख़्तर के मुताबिक़, उन्होंने अपनी यह पहली फ़िल्म एक परिष्कृत, यप्पी दर्शक वर्ग को ध्यान में रखकर बनाई थी और वह सिनेमाई मुख्यधारा द्वारा रची गई छवियों के बरक्स प्यार, कामकाज और दोस्ती की नई भंगिमाएँ पेश करना चाहते थे। बहरहाल, इन सबके बाद आमिर ख़ान ने *लगान* (2001) बनाई जिसने विदेशी फ़िल्मों की श्रेणी में ऑस्कर के लिए मज़बूत दावेदारी पेश की। फ़िल्म के कथानक के मुताबिक़ देहाती पृष्ठभूमि में बनी यह फ़िल्म एक क्रिकेट मैच के माध्यम से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ भारतीय किसानों की मुठभेड़ पर आधारित थी। फ़िल्म की कहानी ने उस खेल के प्रति हमारे राष्ट्रीय उन्माद को जमकर भुनाया जिसमें भारत सचमुच एक महत्वपूर्ण खिलाड़ी बन चुका है। एक तरह से यह फ़िल्म किसी राष्ट्र के जीवन में आए पिछले ऐतिहासिक अनुभवों की बजाय नए ज़माने के वैश्वीकरण की हवाओं को ज़्यादा संबोधित करती है। यहाँ राष्ट्र की छवि निहायत मनभावन है। फ़िल्म में यह छवि विभिन्न सामाजिक समूहों और श्रेणियों के समावेशी प्रतिनिधित्व से लैस है, हालाँकि कहीं-कहीं ऐसा लगता है कि कुछ ख़ास तबक़ों के प्रति माई-बापवादी रवैया अपनाया गया है (जैसा कि एक 'अछूत' पात्र के विषय में दिखाई देता है)। आमिर ने कोका कोला के विज्ञापनों की श्रृंखला में भी अपने इस अंदाज़ को क़ायम रखा और मुस्लिम खोखे वाले, शहरी दादा, पंजाबी किसान और बिहारी ठेकेदार जैसी कई भूमिकाएँ उन्होंने बड़ी ज़िंदादिली से निभाईं। इन किरदारों में रूढ़ छवियों से मुक्त व्यक्तित्व की संभावनाओं को मनोरंजक ढंग से तलाशने की कोशिश दिखाई देती है जबकि *लगान* और मुख्यधारा की अन्य फ़िल्मों से साफ़ पता चलता है कि यह सितारा राष्ट्रीय आत्मबोध के पुराने समावेशी स्वरूपों को पुनर्जीवित करने की कोशिश कर रहा है।

आइए अब घरेलू फ़िल्मों की दुनिया से निकलकर ब्रिटिश-भारतीय संस्कृति पर भी नज़र डालें। आप्रवासी जातीय संस्कृति और स्थानीय आचार-विचार के चौराहे पर खड़े भारतीयों के अनुभवों और समस्याओं पर केंद्रित फ़िल्मों की अपील और पहुँच कुछ साल पहले तक बहुत सीमित थी। दूसरी तरफ़ 'बॉलीवुड' भी केवल भारतीय और पाकिस्तानी मूल के दर्शकों तक ही सीमित था। मगर पिछले सालों की कुछ फ़िल्मों ने संस्कृतियों के बीच लेन-देन के नए संकेत दिए हैं। अब इस तरह की फ़िल्में किसी जातीय मूल या कला सिनेमाई दर्शक वर्ग तक सीमित नहीं हैं। *ईस्ट इज़ ईस्ट* (डेमियन ओडोनेल, 1999), *माई सन द फ़ैनेटिक* (उदयन प्रसाद, 1997), और *बेन्ड इट लाइक बेक्हम* (जिसे हिंदी में *फ़ुटबॉल-शुटबॉल हाय रब्बा* के नाम से डब करके पेश किया गया था, गुरिंदर चड्ढा, 2002) आदि इसी तरह की कुछ महत्वपूर्ण फ़िल्में हैं। इनमें से पहली दो फ़िल्मों ने बुनियादी तौर पर भारतीय समांतर सिनेमा की दुनिया के कलाकार रहे ओमपुरी को एक अंतर्राष्ट्रीय मान्यताप्राप्त अभिनेता बना दिया। कुछ लोगों का कहना है कि ये फ़िल्में एक हद तक ब्रिटिश सामाजिक यथार्थवाद के ही र्ढरे पर बनी हैं जिसे अब अलग-अलग जातीय संस्कृतियों और प्रभुत्वशाली ब्रिटिश संस्कृति के बीच खींचतान में हास्य और मेलोड्रामा के ज़रिए एक नए ख़ाके में ढालने की कोशिश की जा रही है। *गुडनेस ग्रेशियस मी* संभवतः इसी सांस्कृतिक प्रक्रिया की उपज है मगर उसकी रणनीतियाँ कुछ भिन्न हैं। यहाँ भी सांस्कृतिक विभेदों की परतें खोलने

वाली ताक़त प्रदर्शनात्मकता ही मुहैया कराती है। एकल चुटकलेबाज़ी के अंदाज़ में संगीतीय स्किट/कैबरे और कॉमेडी भरी उछल-कूद के ज़रिए यह टीवी कॉमेडी भारतीय जातीय लोकाचार को एक दुस्साहसपूर्ण भरोसे के साथ पेश करता है। आंशिक रूप से इस भरोसे की जड़ इस बात में भी हो सकती है कि स्किट वाली विधा सामाजिक यथार्थवादी साहित्य की मानवीय आवश्यकताओं से तटस्थ रहती है। दूसरी तरफ़ यह शृंखला ब्रिटिश दैहिक हास्य की अश्लील भंगिमाओं का भी उदाहरण है। उसमें ग़ुस्लख़ाना छाप लतीफ़ों और देह-उघाड़ू निरूपण का सहारा जमकर लिया गया है।

विश्लेषण के अंत में मैं प्रदर्शन की एक ख़ास क़िस्म पर नज़र डालना चाहता हूँ। यह ख़ुद सिनेमा की प्रदर्शनात्मकता है, हैरत में डाल देने वाले सौंदर्यबोध के वाहन के रूप में यहाँ तकनीक स्वयं एक बुनियादी आकर्षण बिंदु के रूप में सामने आती है, यहाँ सिनेमा के प्रति प्यार सिनेमा के इतिहास को बार-बार उद्धृत और पुनर्जीवित करते हुए ख़ुद यह तय करता है कि हम क्या देखेंगे और कैसे देखेंगे? इसकी मिसाल के तौर पर मैं एक ऐसी फ़िल्म का ज़िक्र करना चाहता हूँ जो शहर के बारे में, और समकालीन अनुभव व राजनीति के बारे में हिंसक एवं प्रदर्शनात्मक कल्पना के चौराहे पर खड़ी है।

राम गोपाल वर्मा की *सत्या* (1998) में गिरोहों की लड़ाई एक बेहद आत्मचेतन कैमरे की नज़र से दिखाई देती है। विशालकाय क्रेन पूरे अपार्टमेंट पर विहंगम दृष्टि डालते हुए आख़िर में लिफ़्ट से निकलते एक गिरोह पर जाकर टिक जाता है। इसके बाद किरदारों और कैमरे की गति एक-दूसरे के समानांतर चलती है, जिससे एक दोहरी उपस्थिति का आभास होता है। यह दृश्य नीचे सड़क पर हो रही भागमभाग को देखने के लिए छत से लिए गए दृश्यों के साथ ख़त्म होता है। यहाँ पर हॉलीवुड की फ़िल्मों के उद्धरण साफ़ हैं — फ़्रीडकिन की *द फ़्रेन्च कनेक्शन* (1971) से शुरू होकर स्कॉरसेसी की फ़िल्म *गुडफ़ेलाज़* (1990) में डी नीरो और पेस्सी की गोलियों की बौछार वाले दृश्य से अपने चरण पर पहुँचती है। भीखू और सत्या अपने दुश्मन गुरु नारायण का ख़ात्मा ऐसे ही करते हैं। चेंज का यह दृश्य नीचे से गुज़रती ट्रेन की पृष्ठभूमि में फ़िल्माया गया है। सिनेमा के उपकरण और दैनिक शहरी रफ़्तार एक दूसरे की नक़ल करते हैं, क्षण विशेष में जैसे विश्व सिनेमा का दिग्दर्शन हो जाता है। किरदार और उनकी क्रियाएँ एक दूसरे की परछाईं सी दिखाई देती हैं, मानो एक विधायी रूप की बेटन के सहारे वह सामाजिक अनुभव की बिल्कुल दूसरी दुनिया में पहुँच गई हों। यहाँ हमें प्रतिस्थापन की एक ऐसी प्रक्रिया दिखाई देती है जहाँ से सिनेमा को देखने का अनुभव न केवल आत्म-प्रासंगिक और स्वतः सांवेगिक हो जाता है बल्कि यथार्थ का एक ज़्यादा गहरा बोध भी सामने आता है।

सत्या में कैमरा फ़्रेमिंग की सर्वज्ञता कुछ ऐसी है कि जिस तरह यह फ़िल्म अपने दर्शक को दैनिक सामाजिक विश्व और दहशत की दुनिया के बीच निहित अंतर्संबंधों और एक-दूसरे पर हावी हो जाने की क्रिया के बारे में एक समृद्ध नज़र मुहैया कराती है उससे दर्शक को एक उच्चतर स्थिति का आभास सा होने लगता है। मुंबई की एक भीड़ भरी सड़क के ऊपर बार की छत पर लगे कैमरे से लिए गए टॉप एंगल शॉट से हमें दिखाई देता है कि गुंडे सत्या को बेरहमी से पीट रहे हैं जबकि नीचे इस सबसे अनजान लोगों की भीड़ सहज ढंग से गुज़र रही है। जिस समय भीखू, सत्या और उनका गिरोह एक तलघर में अपने प्रतिद्वंद्वी को यातना दे रहे होते हैं उसी समय सत्या की प्रेमिका विद्या कैमरे के फ़्रेम में दाख़िल होती है। वह ऊपर से सड़क पर पड़ रही रोशनी में चुपचाप उस इमारत की बगल से गुज़रती दिखाई देती है, उसे वह नहीं दीखता जो हमें दीख रहा है। वर्मा ने डरावनी क़िस्म की *रात* (1991) में जिस तरह की अनायास दैहिक गतियों और किरदारों पर फ़ोकस का सुनियोजित इस्तेमाल किया था, *सत्या* में उसे और भी मुकम्मल तरीक़े से अपनाते हुए शहर की भीतरी/बाहरी दुनिया के समीकरण पर सवाल उठाए गए हैं। यहाँ कैमरा जब किसी पात्र की दैहिक गति को पकड़ने की कोशिश करता है तो यह हक़ीक़त सामने आने लगती है कि कभी-कभी हमारे निजी दायरे भी कितनी तेज़ी से बाहरी घुसपैठ का शिकार हो जाते हैं और कई बार उसके कितने हिंसक परिणाम सामने आते हैं। इस तरह की उच्च स्थैतिकता,

दर्शक को विभेदीकृत दायरों में गूँथ देने की क्रिया शास्त्रीय कथानक की सर्वज्ञ परंपराओं की बुनियाद पर खड़ी होती है मगर सबसे बढ़कर यह तकनीकी को हमारे सामने खड़ा करती है जिसके ज़रिए हमारी नज़र संगठित होती है। अलग-अलग स्थानों को समकालीन संचार के सबसे अहम उपकरण, मोबाइल फ़ोन, के माध्यम से बिल्कुल सटे हुए, मानो एक-दूसरे में विलीन हो जाने वाले दायरों के रूप में देखा जा सकता है।

हिंसा, प्रदर्शनात्मकता और सिनेमा प्रेम के इस उलझाव से राजनीतिक कल्पना के फ़लक पर क्या नतीजे निकलते हैं? जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, समकालीन राजनीतिक बदलाव पीछे उल्लिखित फ़िल्मों में विस्तारित पुरुष समूह, उसमें मोहल्ले-पड़ोस के बँधनों की बुनियाद और वंचना व अपमान की कथित भावनाओं के रूप कई तरह से प्रतिध्वनित होते दिखाई देते हैं। मैंने इस बात की तरफ़ संकेत किया है कि इस सिनेमाई शहर की नई भाषा से कई तरह की कथानकीय रणनीतियाँ सामने आ रही हैं। मगर सिनेमा के ज़रिए अनुभव का एक समग्र राजनीतिक सूत्रीकरण करना फिर भी कहीं ज़्यादा जटिल है। क्या इस विधा के साथ हमारे संबंधों को निर्धारित करने वाली ध्वनियों और चित्रों के साथ खिलवाड़ के ज़रिए हम वापस राजनीतिक दुनिया में पहुँच पाते हैं? मैं अपनी बात को *सत्या* में इस्तेमाल किए गए एक प्रतीक के साथ ख़त्म करना चाहता हूँ जिसे राजनीतिक परिदृश्य के समकालीन रूपों में सिनेमा के प्रदर्शनात्मक हस्तक्षेप के रूप में देखा जा सकता है।

अपने साथी भीखू की मौत का बदला लेने की क़सम खाकर सत्या समुद्र किनारे गणेश चतुर्थी की भीड़ में दाख़िल होता है। यह राष्ट्रवादी मोबिलाइज़ेशन के साथ एक सदी से भी ज़्यादा लंबे समय से जुड़ी आ रही एक महत्वपूर्ण शहरी-सामाजिक घटना है और समकालीन शिवसेना एवं हिंदुत्ववादी राजनीति के लिए महत्वपूर्ण सांकेतिक माध्यम का काम करती है। भीखू का हत्यारा भाऊ ठाकरे ख़ुद एक माफ़िया सरगना है जो अब नेता बन चुका है। वह और उसके गिरोह के लोग देवी की पूजा-अर्चना के लिए यहाँ आते हैं। सत्या जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, कैमरा उस लाल कपड़े पर केंद्रित होने लगता है जिसमें उसका चाकू लिपटा हुआ है। यह लाल कवच भीड़ में अलग दिखाई देता है और हमें कपोला की *द गॉडफादर, पार्ट II* (1974) के उस दृश्य की याद दिलाता है जिसमें वीटो कॉर्लियोन किसी रोमन कैथलिक त्यौहार की भीड़भाड़ में उस इलाक़े के माफ़िया सरगना पर हमला करने के लिए आगे बढ़ता है। सत्या चाकुओं से गोद-गोद कर भाऊ ठाकरे को मार डालता है और जैसे-जैसे यह दृश्य भीड़ की अफ़रातफ़री में खोता जाता है वैसे-वैसे हम हमारा पीछा करती एक छवि के साथ अकेले छूटते जाते हैं। इस दृश्य में कैमरा देवी की प्रतिमा से काफ़ी ऊपर रखा गया है जहाँ से वह मृत खलनायक की अकेली पड़ी लाश और उसे भिगोकर वापस जाती समुद्री लहरों को एक चौड़े फ़लक पर अपनी नज़र में क़ैद कर सकता है। भाऊ के साथी बिखर चुके हैं, उसकी कमान बेमानी हो चुकी है, उसकी निर्जीव देह एक ऐसा नज़ारा पेश करती है जो किसी दैवी ब्रह्मांडीय उपस्थिति का अहसास कराती है और एक सिनेमाई कैमरे की सांस्कृतिक गतिशीलता को उजागर करती है। यहाँ इस क्षण के लालच में सिनेमाई संदर्भ को पकड़ने की कोई ज़रूरत नहीं है। ऐसा लगता है मानो यह फ़िल्म सिनेमा के प्रति हमारी आसक्ति के ज़रिए हमें भावनाओं के उद्वेग में बहा ले जाने के लिए दावत दे रही है। परदे और दर्शकों के बीच उस क्षणिक जुड़ाव की ऊर्जा उसके बाद समकालीन में हस्तक्षेप की दिशा में मुड़ जाती है, और राजनीतिक दृश्य के साथ हमारे जुड़ाव को छिन्न-भिन्न कर देती है।

संदर्भ

1. आशीष राज्याध्यक्ष, 'दि *"बॉलीवुडाइज़ेशन"* ऑफ़ दि इंडियन सिनेमाः कल्चरल नैशनलिज़्म इन ए ग्लोबल एरीना', प्रेबेन कारशोल्म (संपादित) *सिटी फ़िल्क्सः सिनेमा, अरबन वल्र्ड् र्स ऐण्ड मॉडर्निटीज़ इन इंडिया ऐण्ड बियॉंड* में, इंटरनैशनल डिवेलपमेंट स्टडीज़, रॉस्किल्ड यूनिवर्सिटी ओकेज़नल पेपर 22, 2002; तथा माधव प्रसाद, 'दिस थिंग कॉल्ड बॉलीवुड', *सेमिनार* 525, मई 2003.
2. पार्थ चटर्जी, *'इज़ दि इंडियन सिटी फ़ाइनली बिकमिंग बुर्जुआ'*, इस खंड में सत्तर के दशक में सामने आए नए शासकीय रूपों पर चर्चा है.
3. डेविड सेलबॉर्न, *एन आई टू इंडियाः दि अनमास्किंग ऑफ़ ए टिरनी*, पेलिकन, 1977; एम्मा तार्लो, *अनसेट्लिंग मेमरीज़ः नेरेटिव्ज़ ऑफ़ दि 'इमरजेंसी' इन डेल्ही*, क्रिस्टोफर हर्स्ट, 2003.
4. आदित्य निगम, 'डिसलोकेटिंग डेल्हीः ए सिटी इन द 1990ज़', *सराय रीडर 01ः द पब्लिक डोमेन*, दिल्ली, सीएसडीएस, 2001; ए. शरण, 'क्लेम्ज़ ऑन क्लीनलीनेसः एनवायर्नमेंट ऐण्ड जस्टिस इन कन्टेम्प्ररी डेल्ही', *सराय रीडर 02ः द सिटीज़ ऑफ़ एवरीडे लाइफ़*, दिल्ली,

सीएसडीएस, 2002.

5. माधव प्रसाद, *दि आइडियॉलजी ऑफ़ द हिंदी फ़िल्म*, दिल्ली, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1998.
6. गीता कपूर, *आर्टिक्युलेटिंग द सेल्फ़ इनटू हिस्ट्रीः घटक'स जुगती तक्को आर गप्पो*, गीता कपूर, *व्हेन वॉज़ मॉडर्निज़्म*, दिल्ली, तूलिका, 2000 में; आशीष राज्याध्यक्ष, *ऋत्विक घटकः ए रिटर्न टू दि एपिक*.
7. देखें रवि वासुदेवन, *'दि एग्ज़िलरेशन ऑफ़ ड्रेडः जॉन्र, नैरेटिव फ़ॉर्म ऐण्ड फ़िल्म स्टाइल इन कन्टेम्परी इन अरबन ऐक्शन फिल्म्स', सराय रीडर 02ः दि सिटीज ऑफ़ एवरीडे लाइफ़*, दिल्ली, सीएसडीएस, 2002.
8. रवि वासुदेवन, 'द डबल टेक ऑफ़ मार्डनिज़्म इन द वर्क ऑफ़ सत्यजीत रे', *जरनल ऑफ़ दि मूविंग इमेज 2*, कलकत्ता, जाधवपुर युनिवर्सिटी, 2000.
9. इस प्रक्रिया का एक विचारोत्तेजक विश्लेषण हारुन फारूख़ी के डॉक्युमेंट्री लेख, *इमेजेज़ ऑफ़ दि वर्ल्ड ऐण्ड द इंस्क्रिप्शन ऑफ़ द वॉर* (1988) में मिलता है.
10. इस फ़िल्म और यश चोपड़ा के काम के बारे में और ज़्यादा जानकारी के लिए देखें, रेचेल ड्वायर *यश चोपड़ा*, लंदन, ब्रिटिश फ़िल्म इंस्टीट्यूट, 2002.
11. कुमार शहानी के काम के बारे में देखें, *फ़्रेमवर्क*, 30-31, 1986, कुमार शहानी पर केंद्रित डॉसियेर.
12. विनोद पवराला, 'अदर वॉइसेज़ः एक्सप्लोरिंग दि 'सिनेमा ऑफ़ रेज़ीस्टेंस', *इंडियन दर्पण*, हैदराबाद, 2000.
13. जैसे शिवसेना पर, थॉमस ब्लॉम हैन्सेन, *वेजेज़ ऑफ़ वायलेंसः नेमिंग ऐण्ड आइडेंटिटी इन पोस्ट कॉलोनियल बॉम्बे*, प्रिंस्टन, प्रिंस्टन युनिवर्सिटी प्रेस, 2001.
14. यह तर्क आशीष राज्याध्यक्ष और पॉल विलमैन ने *एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ इंडियन सिनेमा*, दिल्ली, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, द्वितीय संस्करण, 1999, पृष्ठ 469 में दिया है.
15. नायकन के लिए देखें, ललिता गोपालन, *ए सिनेमा ऑफ़ इंटरप्शंस*, लंदन, ब्रिटिश फ़िल्म इंस्टीट्यूट, 2002.
16. रंजनी मज़ुमदार, 'रुइन ऐण्ड दि अनकैनी सिटी : मेमरी, डिस्पेयर ऐण्ड डैथ इन परिंदा', *सराय रीडर 02 : दि सिटीज़ ऑफ़ एवरीडे लाइफ़*, दिल्ली, सीएसडीएस, 2002.
17. इस ख़याल के लिए मैं इंदिरा चंद्रशेखर का आभार व्यक्त करता हूँ.
18. इरा भास्कर, 'मेलोड्रामा इन दि अरबन एक्शन फ़िल्म', कार्यशाला – दि एग्ज़िलरेशन ऑफ़ ड्रेड : जॉन्र, नेरेटिव फ़ॉर्म ऐण्ड फ़िल्म स्टाइल इन दि अरबन एक्शन फ़िल्म्स, सराय, सेंटर फ़ॉर दि स्टडी ऑफ़ डिवेलपिंग सोसायटीज़, दिल्ली, नवंबर 2001 में पेश किया गया पर्चा.
19. रंजनी मज़ुमदार, 'रुइन ऐण्ड दि अनकैनी सिटी'.
20. हिंदुत्व आंदोलन के बारे में, तपन बसु, पी.के.दत्ता, सुमित सरकार, तनिका सरकार, सम्बुद्धा सेन, *ख़ाकी शॉर्ट् स ऐण्ड सैफ़्रन फ़्लैग्स*, दिल्ली ओरिएंट लॉंगमैन, 1993; क्रिस्टोफ़ जैफ़्रलॉ, *दि हिंदू नैशनलिस्ट मूवमेंट इन इंडिया*, कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस, 1998.
21. इस तरह की बिखरी हुई कार्यपरिस्थितियों के विश्लेषण के लिए, यान ब्रेमन, *फ़ुटलूज़ लेबरः वर्किंग इन इंडिया'ज़ इनफ़ॉर्मल इकॉनमी*, कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1996.
22. नीरस दैनिक जीवन, प्रदर्शनमूलक अतिरंजना और यूटोपियन पारलौकिकता के निरूपणों के बीच निहित संबंधों पर रिचर्ड डॉयर ने 'एंटरटेनमेंट ऐण्ड यूटोपिया', बिल निकोलस (सं.), *मूवीज़ ऐण्ड मेथड*, खंड 2, बर्कली, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, 1987 में विचार किया है.

तकनीक के खंडहर

एक हिंदुस्तानी कहानी

रवि सुंदरम



मैं पहली बार 1972 में दिल्ली आया था। उस समय मैंने जो कुछ यहाँ देखा था, उसमें से इस शहर की दो तस्वीरें हमेशा के लिए मेरी यादों का हिस्सा बन चुकी हैं। पहली तस्वीर पुराने शहर में स्थित लाल क़िले की थी, जो एक ज़माने में बेशक मुग़लों की शान की निशानी रहा होगा, पर अब अपनी ताब खोता जा रहा था। इसकी चेचकरू दीवारों पर बने गड्ढे और ख़राशें उन्नीसवीं सदी में हुई उस लूटमार की कहानी कह रही थीं, जिसने एक ज़माने में लाल क़िले को रौनक बख़्शने वाले पत्थर और नगीनों को हमेशा के लिए इससे जुदा कर दिया। दिल्ली की मेरी उस पहली यात्रा की जो दूसरी तस्वीर ज़ेहन में उभरती है वह भारत की पहली "अंतर्राष्ट्रीय" प्रदर्शनी, एशिया 72 की है। यह प्रदर्शनी नए-नए बने उसी प्रगति मैदान में लगी थी जो इसके बाद न जाने कितनी और नुमाइशों और मेलों का मरकज़ रहा है। एशिया 72 में पश्चिमी मुल्कों की वैज्ञानिक तरक़्क़ी के एक-से-एक नायाब नमूने तो थे ही साथ ही राष्ट्रवादी मुलम्मे में लिपटी हमारे अपने अंतरिक्ष कार्यक्रम, आणविक शक्ति और स्टील मिलों की नुमाइशें भी थीं।

एशिया 72 में उन्नीसवीं सदी के उस चेहरे — लंदन के क्रिस्टल पैलेस, पेरिस और शिकागो के विश्व मेले — की झलक दिखती थी, जिसने आधुनिकता को न केवल दुनिया के फ़लक पर नुमायाँ किया था बल्कि, "चिरयुवा" रूप में उतार दिया था। प्रदर्शनी में दर्शकों को जैसी स्मारकीयता और सपने-जैसी हैरत का अहसास होता था, जिसे एक बार वॉल्टर बेंयामिन ने "पूँजीवाद के लोक त्योहारों" का नाम दिया था, उसकी तुलना '72 में हुई इस प्रदर्शनी के बारे में हमारे अनुभवों से की जा सकती थी। राष्ट्रवादी ताक़त एकदम क़ुदरती सी लगने लगी थी, यहाँ तक कि मेरे जैसे नौ साल के बच्चे को भी।

ये वो दौर था जब राज्य की सत्ता एक दी हुई वास्तविकता थीः उसके पास वैधता भी थी और वह आम शहरियों की रोज़मर्रा ज़िंदगी में अहसास के स्तर पर लगातार दिखाई भी देती थी। अपने पिताजी की उंगली पकड़ कर रेडियो लाइसेंस फ़ीस जमा करवाने के लिए हर साल डाकख़ाने जाना मुझे अभी भी याद है। कॉङ्ग्रेस पार्टी के राष्ट्रवादी शासन की वैधता की व्यापक स्वीकृति रोज़मर्रा की तमाम गतिविधियों में स्वाभाविक रूप से दिखाई देती थी, और लोगों के ज़ेहन में इस शासन की वैधता को जिस क़िस्म की मंज़ूरी हासिल थी उसे याद करने पर एक हैरानी सी होती है। कम से कम शहरों और क़स्बों में लोग बिजली के बिल, रेडियो फ़ीस वग़ैरह नियम से चुकाते थे और नई-नई विकास योजनाओं के लिए सरकार के पास दरख़्वास्तें लगाते रहते थे। उस समय जो थोड़ी बहुत अवज्ञा या नाफ़रमानी दिखाई भी देती थी, वह रोज़-ब-रोज़ ज़िंदगी का कम और सियासी पैंतरेबाज़ी का हिस्सा ज़्यादा थी।

आज़ादी के बाद पहले दो दशक नए प्रौद्योगिकीय लक्ष्यों के निर्धारण के साल थे। इन लक्ष्यों को बड़ी-बड़ी विकास योजनाओं — सोवियत ढर्रे पर बनी पंचवर्षीय योजनाओं, राउरकेला और भिलाई में बनी इस्पात मिलों, हज़ारों को विस्थापित करने वाली विशाल बाँध परियोजनाओं और बिजली घरों की तामीर के ज़रिए अंजाम दिया जाना था। यही दौर था जब नेहरू ने भारत की पहली 'आधुनिक' राजधानी, चंडीगढ़ को वजूद में लाने के लिए ल कॉर्बुज़िए को भारत बुलाया था। भारत की परंपरागत निर्माण शैलियों और शहरी संस्कृतियों से जानबूझकर अलग ढंग से बनाया और बसाया गया चंड़ीगढ़ शहर 1920 के दशक के यूरोपियाई अवाँ गार्द की तरह पुराने का मज़ाक सा उड़ाता दिखता था। इस तरह, इस शहर के आस-पड़ोस की पहचान नामों से नहीं बल्कि गिनतियों से होती थी। एक तरह से देखें तो चंडीगढ़ नेहरू की उस विकासात्मक आधुनिकता का शहरी संस्करण था जिसे वह साकार करने में कामयाब नहीं हो पाए। उनकी इस अधिकल्पना में गाँव की तमाम अस्पष्टताओं के लिए कोई जगह नहीं होनी थी और पूज्य वस्तु जैसी हैसियत वाले तकनीकी स्मारक "विकास" की ओर संक्रमण की ज़मानत थे।

नेहरूवादी सियासी वर्ग आधुनिकता के लिए जैसी बेताबी दिखा रहा था वह सत्तर के दशक तक आते-आते लगातार नाकामयाब होने लगी थी। इस दौर में पल रहे बच्चों के बतौर, हम लोगों को पिछले दो दशकों के इतिहास की ख़ुराक रोज़ ही पिलाई जाती थी। इतिहास का यह सबक़ अकसर हरेक फ़िल्म शो के शुरू में लाज़िमी तौर पर दिखाई जाने वाली न्यूज़रील[1] के ज़रिए, अख़बारों और सरकारी रेडियो पर चलने वाले अभियानों के ज़रिए पढ़ाया जाता था। इस पूरे प्रचार को एक ख़ास शब्दाडंबर में पेश किया जाता था, जो 1975-77 के सालों में लगी इमरजेंसी के दौरान अपने चरम पर था। इमरजेंसी के दौरान हर तरफ़ डर और आतंक का माहौल था। यह डर काफ़ी हद तक सरकार की जनसंख्या नियंत्रण मुहिम के तौर पर शहरों में हज़ारों मेहनतकश नौजवानों की जबरिया नसबंदी से भी पैदा हुआ था। 1977 में कॉङ्ग्रेस को केंद्रीय सत्ता से हटा दिया गया और व्यापक असंतोष ने अतीत के तकनीकी वृत्तांतों को इतिहास के कूड़ेदान में फेंक दिया। सिनेमाघरों में न्यूज़रीलें चलना बंद हो गई और तकनीकी स्वप्नचिन्ह : बाँध, स्टील मिलें, और दूसरी बड़ी परियोजनाएं, प्रगति के प्रतीक नहीं बल्कि इस असंतोष का केंद्र बन गए।

बाद के दशकों में बदलाव की रफ़्तार काफी तेज़ रही है। इस संक्रमण की गति और पुराने तकनीकी राष्ट्रवादी सपने के संकट को एक साधारण से उदाहरण से समझा जा सकता है। जब मैं कुछ साल पहले एक बार फिर प्रगति मैदान गया तो वहाँ 1972 में प्रशंसा भरी भीड़ को अपनी ओर खींचने वाले नव-भविष्यवादी प्रदर्शनी स्थलों के लिए कोई जगह नहीं थी। उनकी जगह उपभोक्ता सामानों के बेजान, बल्कि भद्दे बिक्री कांउटरों ने ले ली थी। ज़्यादातर दर्शक बाहर से आने वाले सैलानी थे जो भारी-भारी छूटों की उम्मीद में यहाँ-वहाँ झाँक रहे थे। पूरे माहौल की नीरसता ने अनायास ही मेरी पुरानी यादें ताज़ा करा दीं। इन यादों में पिछले दो दशकों के बदलाव की बेचैनी थी, जिसके एक सिरे पर 1972 की पुरानी भीड़ थी तो दूसरी तरफ़ औद्योगिक स्वप्न जगत को देखती ये उद्देश्यहीन आँखें थीं।

आज़ादी के बाद पहले कुछ दशकों के दौरान राज्य की प्रौद्योगिकीय सत्ता हेनरी लेफ़ेव्र के कथित अवधारणात्मक परिक्षेत्र, अमूर्त सत्ता के प्रातिनिधिक परिक्षेत्र के ज़रिए वजूद में आई थी। इसका स्वरूप एकदम स्मारकीय था और जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, इसे स्टील मिलों, बिजली घरों, बाँधों, और राष्ट्रीय प्रगति की ऐसी ही दूसरी

सपनीली तस्वीरों में आकार मिल रहा था। अपनी भौतिकता के बावजूद ये ऐसे परिक्षेत्र थे जहाँ प्रौद्योगिकीयता का अंश यथार्थ के अनुभवों से कटा हुआ था। मगर, 1990 के सालों में नए विश्वायन के बाद यह नज़ारा आमूल रूप से बदल गया।[2] विश्वायन ने भारत के शहरों की रोज़मर्रा ज़िंदगी को पूरी तरह बदल दिया और इसके झटकों के असर में राज्य के नेटवर्क के बरक्स नए-नए नेटवर्क वजूद में आने लगे। ये नेटवर्क उन नव-संचार परिक्षेत्रों के प्रवाह के भीतर और उसके ज़रिए ही पैदा हुए थे जो ख़ुद अपने आप में ही असंगठित, बेतरतीब और बिखरे हुए हैं। इस दौरान केबल टेलीविज़न आया जिसके तार पास-पड़ोस में रहने वाले बेरोज़गार युवाओं ने खींचे थे, एक लंबा चौड़ा grey कम्प्यूटर बाज़ार फलने-फूलने लगा और सड़क किनारे बने बीड़ी-सिगरेट के खोखों के ज़रिए संगीत के जाली कैसेटों का फैलाव हुआ। लाखों की तादाद में और हर मोहल्ले-पड़ोस में आ जमी पब्लिक टेलीफ़ोन दुकानें पहले कम्प्यूटर-पहुँच-केंद्र और बाद में इंटरनेट केंद्र बन गईं। इस तरह, जहाँ एक तरफ़ मीडिया विश्वायन का असर आभासी परिधियों में दैनिक जीवन पर भी महसूस होने लगा था वहीं शहर की सड़कों पर खुलने वाली कम्प्यूटर, मल्टीमीडिया और फ़ोन की दुकानों पर तो इसे साफ़ देखा जा सकता था।

जिस लाल क़िले की भव्यता और उसके बेजान होते जाने की यादें बचपन से मेरे ज़ेहन में चस्पाँ हैं, उसी के ऐन सामने लाजपत राय मार्केट है जो एशिया में नक़ली इलेक्ट्रॉनिक सामानों के सबसे बड़े बाज़ारों में शुमार होता है। अस्सी के दशक के आख़िरी सालों में सस्ते डिश एंटीनाओं का निर्माण करके इस बाज़ार ने केबल टेलीविज़न उद्योग को अचानक दूर-दूर तक फैला दिया था। इन एंटीनाओं को देश भर के डीलरों ने हाथों हाथ ख़रीद लिया। आज यह बाज़ार, गली-मोहल्लों में बजने वाले डीजे के लिए म्यूज़िक सिस्टम्स, टेलीविज़न और वीएचएस प्लेयर, नक़ली संगीत, वीडियो और डीवीडी, कैमरे और हज़ारों दूसरे इलेक्ट्रॉनिक सामान मुहैया कराता है। यहाँ सारा लेन देन नगद में होता है और ज़्यादातर चीज़ें शहर के इर्द-गिर्द ही स्थित अवैध/grey फ़ैक्ट्रियों में बनती हैं। घनी, बेतरतीब और फटेहाल — ये जगह दिल्ली के अभिजनों के ख़यालों में तैरने वाले रंगीन इन्फ़ोटेक यूटोपिया से भी और पुराने दौर के राष्ट्रवादी सपनों के अमूर्त तकनीकी स्मारकों से भी कोसों दूर है।

इस जगह में एक ख़ास क़िस्म का सामंजस्य है। यहाँ भारत में मौजूद प्रौद्योगिकीयता के सारे पहलू एक साथ दिखाई देते हैः पुराना और नया संचार, स्पर्शनीयता और विकर्षण, सघनता और बिखराव, तबाही और सपने। इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति के इन नए नेटवर्कों की ख़ासियत ये है कि इनमें ग़ैर-क़ानूनी तौर-तरीक़ों की चाह कुछ ज़्यादा ही है। यह एक हद तक शहर के, और इलाक़े या बस्तियों के दैनिक दायरों से राज्य के निकलते चले जाने के कारण भी हुआ है। असल में, कुल मिला कर राज्य इख़लाक़ी पुलिसिये की तरह अपनी गाहे-बगाहे और मोटे तौर पर बेअसर दख़लंदाज़ी के बावजूद, बग़ल में खड़े भ्रष्ट दर्शक की हैसियत में जा पहुँचा है।

यहाँ ग़ैर-क़ानूनीपन से हमारी मुराद उन हज़ारों ग़ैरपंजीकृत सेवा प्रदाताओं, फ़िल्म, संगीत और केबल टेलीविज़न की समानांतर संस्कृति और कम्प्यूटर उद्योग के उस grey market से है जो हमारे पास-पड़ोस के इलाक़ों में व्यापारिक गतिविधियों के नए उभरे केंद्रों से संचालित होते हैं। विडंबना ये है कि इन ग़ैर-क़ानूनी क़िस्म के तौर-तरीक़ों और गतिविधियों ने दिल्ली में इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति के नाटकीय फैलाव में भारी योगदान दिया है और अधिकतर शहरों का सेवा क्षेत्र इसी दम पर खड़ा हुआ है। वैसे तो यह ग़ैर-क़ानूनी और सड़कछाप संस्कृति विश्वायन से बाद के दौर में सभी शहरों की ख़ासियत रही है पर भारत में इसकी एक और ख़ासियत ये है कि यहाँ न केवल इसकी तादाद बहुत बड़ी है बल्कि इसमें एक ख़ास क़िस्म की गतिशीलता है जिसके ज़रिए वह पहले से मौजूद ढाँचे के भीतर ही नए-नए रूप लेती रही है। लगातार बढ़ता ग़ैर-क़ानूनी गतिविधियों का फैलाव भारत में उत्तर विश्वायन दौर में शहरी संक्रमण का सबसे महत्वपूर्ण आधार रहा है। इस संक्रमण का स्वरूप पूर्वी एशियाई अर्थव्यवस्थाओं की तरह अचंभित कर देने वाले लंबवत निर्माण जैसा नहीं रहा है बल्कि यह कुल मिला कर सपाट क़िस्म का फैलाव रहा है। इसमें ठेकेदारों और छोटे कारोबार से लेकर झुग्गी-झोंपड़ी और निजी नागरिकों तक तमाम क़िस्म के निहित स्वार्थों ने सरकारी और निजी भू-क्षेत्रों पर सतत क़ब्ज़ा किया है।

उत्तर विश्वायन भारतीय शहरी परिदृश्य दरअसल उस क्षेत्र के ज़रिए रूपांतरित हुआ है जिसे क्लासिकल मार्क्सवाद में उसकी ख़ास अवमाननाजनक भाषा में छोटे माल उत्पादन के नाम से जाना जाता है। पर मार्क्स इस

बात को नहीं देख सकते थे कि शहरों और क़स्बों में इस क्षेत्र का एक बहुत बड़ा हिस्सा इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति के प्रसार में और शहर के बाशिंदों को नवसंचार सेवाएँ मुहैया कराने में मुब्तिला है। रेशा-रेशा दर से ग़ैर-क़ानूनी विस्तार की रणनीतियों के जरिए, इस क्षेत्र ने रोज़मर्रा ज़िंदगी के फ़लक पर उत्तर विश्वायन सघनता पैदा करते हुए उसे पूरी तरह बदल दिया है।

इस बदलाव के बाद पहली बात तो यह हुई है कि जिन व्यावसायिक क्षेत्रों को राष्ट्रवादी राज्य ने खड़ा किया था उन्हें पुनर्गठित और रूपांतरित कर दिया गया है। मसलन, नेहरू प्लेस को ही लीजिए। दिल्ली विकास प्राधिकरण ने इस विशाल व्यावसायिक क्षेत्र को इस सोच के साथ विकसित किया था कि यह आने वाले सालों में दिल्ली के कारोबारी ज़िले का केंद्र बनेगा। जब मैं अपने पुराने 386 कम्प्यूटर के लिए कुछ पुर्ज़े ख़रीदने के लिए पहली बार नेहरू प्लेस गया तो मैंने देखा कि पुराना व्यावसायिक क्षेत्र तो यहाँ से कब का ग़ायब हो चुका था और उसकी जगह अब मोटे तौर पर ग़ैर-क़ानूनी इलेक्ट्रॉनिक क्षेत्र ने ले ली है। उत्तर विश्वायन इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति की ख़ासियत बनती जा रही अवैध घुसपैठ और किराएदारी की परतों के भीतर, नेहरू प्लेस पर अब तरह-तरह की क़ानूनी सॉफ़्टवेयर कम्पनियों, कम्प्यूटर पुर्ज़ों के ग़ैर-क़ानूनी जाली बाज़ार और इलेक्ट्रॉनिक सेवाएँ प्रदान करने वाली दुकानों ने क़ब्ज़ा कर लिया है जो सड़क किनारे चलने वाले बाज़ार के साथ सहअस्तित्व में कारोबार करती हैं। राज्य मशीनरी क़ानूनी कारोबारियों के साथ सहअस्तित्व में काम करने वाले जालसाज़ और अवैध धंधेबाज़ों पर छापे मारकर कभी-कभी अपनी ओर से हस्तक्षेप तो करती रहती है पर बाज़ार को रोज़-ब-रोज़ के पैमाने पर नियंत्रित करने में उसकी कोई रुचि नहीं है। आस-पास के शहरों और क़स्बों के छोटे दुकानदारों की ज़्यादातर ज़रूरतों की पूर्ति करने वाला ये बेरौनक़ बाज़ार भारत के सबसे बड़े कम्प्यूटर बाज़ारों में से एक है। नए वैश्विक उत्पादों के विशिष्ट एक-माल बाज़ारों की ऐसी इकाइयाँ भारत के कई दूसरे क्षेत्रों में भी सामने आई हैं। हालाँकि वैश्विक उत्पादों के छोटे-छोटे स्टोर्स की भरमार वाले इस स्वरूप पर आज के समय की छाप बिल्कुल साफ़ दिखाई देती है पर असल में मार्केटिंग का ये चलन हमारे यहाँ औपनिवेशिक शासन के भी पहले से वजूद में रहा है। इस नए घटनाक्रम का रूपात्मक स्वरूप 1990 के वर्षों में केबल टेलीविज़न जैसा रहा है जब लाजपत राय मार्केट केबल टेलीविज़न के पुर्ज़ों के लिए राष्ट्रीय पैमाने पर पहचान बना रहा था।

शहरी परिदृश्य के इस रूपांतरण से उस बाज़ार की याद ज़ेहन में उभरती है जिसे उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद दोनों ने हाशिए पर धकेला था। प्राक-औपनिवेशिक बाज़ारों की तरह इलेक्ट्रॉनिक मार्केट भी राज्य की स्वीकार्यता का दिखावा करते तो दिखाई देते हैं पर असल में मोटे तौर पर उसके नियमन से बाहर ही रहते हैं। बाज़ार के इन दोनों स्वरूपों में जिस तरह छोटे उद्यमियों की भरमार है वैसे ही यहाँ असमानता, अंतरंगता और सघनता भी साफ़ दिखाई देती है। नए बाज़ार उपभोग के एक नए दायरे की निशानी हैं। उपभोग का यह नया दायरा वैश्विक प्रौद्योगिकीय काल में समाहित होते हुए अपने प्राक् औपनिवेशिक पूर्वजों के मुक़ाबले बेहद परिवर्तनशील और जाति-मुक्त क़िस्म की स्वामित्व व्यवस्था प्रस्तुत करता है। ये नए बाज़ार उन परंपरागत व्यावसायिक क्षेत्रों में तो चल ही रहे हैं जिन्हें इन्होंने रूपांतरित कर दिया है परंतु साथ ही ये ज़्यादा सघन और सामान्यतः रिहायशी गली-मोहल्लों में भी चलने लगे हैं। आधुनिक सूचना प्रौद्योगिकी की ख़रीद-फरोख़्त, वितरण और सर्विसिंग एक पुनर्गठित परंतु अभी भी परंपरागत रूप से पहचाने जा सकने वाले बाज़ारों में ही हो रही है — यह तथ्य भारत में तकनीक और पूँजी के संबंधों के बारे में काफ़ी महत्वपूर्ण संकेत करता है। इस अवस्थिति में, तकनीकी-संस्कृति की परिधि स्वतंत्रता के बाद पहली बार स्मारकों के दायरे से बाहर निकलकर वैधानिकता की सीमा पर दैनिक जीवन के एक अहम पहलू के बतौर सड़कों पर आकार ग्रहण करने लगी है।

पूँजी के दिगांतों ने नई इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति की वैश्विक छवियों की बाढ़ को दो क्षेत्रों — आभासी, और शहरी सड़क की परिधियों — में केंद्रित कर दिया है। आभासिकता की परिधि मोटे तौर पर टेलीविज़न, फ़िल्में, और इंटरनेट साइटें हैं परंतु विभिन्न माध्यमों में तकनीक के लगातार बढ़ते संचार के फलस्वरूप ये छवियाँ लगातार एक जैसी होती चली जाती हैं। इस प्रकार टेलीविज़न स्क्रीन वेबसाइट जैसा लगने लगा है और वेबसाइटें मुंम्बइया फ़िल्म पोस्टरों जैसी लगने लगी हैं। इससे प्रतीकात्मकता का एक ऐसा रंगमंच सा पैदा हो जाता है जहाँ नयापन, अतीत के सामाजिक फ़लक से आज़ाद अपने आप में ही साध्य दिखने लगता है।

भारत में विस्तृत शॉपिंग मॉल संस्कृति की ग़ैर-मौजूदगी का नतीजा ये हुआ है कि शहरी दैनिक जीवन में वैश्विक उपभोग का विक्रय सड़क के ज़रिए ही हो रहा है। नई मल्टीमीडिया संस्कृति के मामले में यह बात विशेष रूप से सही है जिसकी सार्वजनिक उपस्थिति मूलतः सड़क पर तमाम तरह की छवियों की भरमार के चलते ही संभव हुई है। देश भर में लैम्प पोस्टों, बस स्टॉप और गली-कूचों में चस्पाँ ये छवियाँ अक्सर पॉल वायरिलियो की विज़न मशीन (जहाँ यात्रा करना अब "बिना प्रस्थान का आगमन" भर रह गया है) की मायावी क्षमता से भी हीन होती हैं। बल्कि उनकी ख़ासियत उनकी कार्यात्मकता में है वह शहर के बाशिंदों को सस्ती सेवा अर्थव्यवस्था मुहैया कराने की पेशकश करती दिखाई देती हैं। नएपन के ये कार्यात्मक चिह्न स्थानीय परिदृश्य (locality) के मानचित्र हैं और बाज़ार के अराजकतापूर्ण, असमतल और ग़ैर-विस्तारवादी दृश्य मानचित्र की याद दिलाने के साथ-साथ रोज़मर्रा की उन इलेक्ट्रॉनिक ग़ैर-क़ानूनी गतिविधियों में भी उलझे हुए हैं जिनकी तुलना मिशेल दि सर्त्यू के उन चिह्नों से की जा सकती है जिन पर उन्होंने ख़ुद अपनी पेरिस पर केंद्रित शोध परियोजना में अध्ययन किया था। इस परिधि की समकालीनता उपभोग और आर्थिक संकट के बीच, प्रकृति और कृति के बीच नाज़ुक खिंचाव से युक्त है। शहरी वृद्धि के इन नए क्षेत्रों में सर्वश्रेष्ठ कार्यात्मक संरचनाओं और पुराने नगर विकास प्राधिकरण के बीच असंगति साफ़ दिखाई देती है।

अपने निबंध 'वॉकिंग इन द सिटी' में मिशेल दि सर्त्यू टिप्पणी करते हैं कि "कार्यात्मक संगठन, प्रगति (यानी काल) को अहमियत देकर ऐसी स्थितियाँ पैदा कर देते हैं जिनमें स्वयं शहर, स्वयं स्थान की संभावना ही विस्मृत हो सकती है। इस तरह, वैज्ञानिक और राजनैतिक प्रौद्योगिकी में स्थान एक स्याह धब्बा बनकर रह जाता है।" स्वयं कार्यात्मक भवनों के ध्वंस के बीच से पैदा होकर जालसाज़ इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति ने इन भवनों पर अनिर्धार्यता की गहरी परतें चढ़ा दी हैं जहाँ प्रवाह ने व्यवस्था की मूल चाह को ही रूपांतरित कर दिया है। बहरहाल यहाँ दि सर्त्यू की रचना सापेक्षता की संभावना से कहीं अधिक उपयोगी है। दि सर्त्यू की रचनाओं में "प्रतिरोध" हमेशा एक प्रच्छन्न प्रसंग के रूप में मौजूद रहा हैः मिसाल के तौर पर उनकी मीनार और सड़क की तुलना को लीजिए जिसमें सड़क शहरी बाशिंदों की "अतिक्रमण" रणनीति का आधार रही है।

भारतीय संदर्भ में, जाली इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति से जो तौर-तरीक़े विकसित हुए हैं, "प्रतिरोध" के बारे में वह अभी भी बहुत स्पष्ट नहीं हैं। यहाँ अवज्ञा स्थानीय वस्तु विनिमय शृंखला और बाज़ारों के ज़रिए ज़्यादा उभरती है जिसके चलते दि सर्त्यू की रचनाओं के शहरी वासियों की रणनीतियों और पैंतरेबाज़ी में दिखाई पड़ने वाला क्षीण मुक्तिकामी स्पंदन यहाँ दिखाई नहीं देता। वस्तुतः ये वे परिधियाँ नहीं हैं जो राजधानी की चौहद्दी पर स्थित बाज़ारी जीवन के भ्रष्टाचार और चालबाज़ी से मुक्त हैं। असल, में इनकी यह बुनावट ही है जो इनके रूपांतरण में ऐसा लचीलापन पैदा करती है।

एक अच्छी खासी मॉल संस्कृति पैदा करने में स्थैतिक सीमाओं के अलावा, भारत में प्रदर्शन (display) के किसी भी कार्यक्रम की समस्या का एक हिस्सा असमताओं की तीखी सन्निधि से पैदा होता है, जो शहर में लगभग एक दूसरे से सटी रहती हैं। झुग्गियाँ और क़ानून सम्मत आवासीय योजनाएँ हिंदुस्तान के अधिकांश शहरी परिवेश में एक साथ देखी जा सकती हैं। यह स्थिति मुम्बई जैसे शहरों में कुछ ख़ास ही तीव्रता से दिखाई देती है। शहरी भारत में ग़रीबों की राजनैतिक उपस्थिति क्षीण नहीं है और यह कई बार संघर्षों और ज़मीन पर क़ब्ज़ों के ज़रिए तो कई बार संरक्षण के ज़रिए अभिव्यक्त होती रहती है। संरक्षण के चलते व्यापक, ग़रीबों के अवैध क़ब्ज़ों को ढहाने के लिए चलाए जाने वाले डिमॉलिशन अभियानों को चला पाना कठिन हो जाता है, हालाँकि न्यायालयों द्वारा बेघरों के क़ानूनन विस्थापन के चलते अब यह स्थिति संभवतः नहीं रहेगी।

वाल्टर बेंयामिन ने अपने निबंध 'द वर्क ऑफ़ आर्ट इन दि एज ऑफ़ मेकैनिकल रिप्रोडक्शन' में लिखा थाः "अपने नज़दीकी दायरे में मौजूद किसी साम्य चीज़ को, उसके पुनरुत्पादन के ज़रिए क़ब्ज़े में लेने की चाहत दिन पर दिन और मज़बूत होती जाती है। शहरी भारत के विशाल जाली इलेक्ट्रॉनिक क्षेत्र के भीतर, आधुनिकता की चाह कालिक (temporal) त्वरण के एक नए संबंध से पैदा होती है। जहाँ एक तरफ़ अतीत में यह चाह विकास के अमूर्तनों में समाहित होती थी वहीं इलेक्ट्रॉनिक परिक्षेत्र के समकालीन विश्व ने न केवल माल परिक्षेत्रों से संपृक्त, आभासिकता के नए स्वप्न विश्व का निर्माण कर दिया है बल्कि इसने गत्यात्मकता का आश्वासन भी दिला दिया

है। एक ऐसे नए जीवन-जगत का उदय, जिसमें औद्योगिक उत्पादों की बहुलता प्राकृतिक प्रतिनिध्यात्मकता का अंश ग्रहण कर लेती है, अभी-अभी शहरीकृत हुई आबादी के लिए झटके जैसा लगता है। और अपनी कृति *पैसेजेन वर्क* में जैसा कि बेंयामिन कहते हैं, बच्चों के लिए औद्योगिक उत्पाद खुद प्रकृति सदृश होते हैं। कुछ वैसी ही बात भारत के नवाधुनिक नागरिकों के लिए भी कही जा सकती है। कम से कम जनस्मृति में, नए विश्वायन का पूर्व इतिहास/प्राक-इतिहास बहुत तेज़ी से विस्मृत हो गया प्रतीत होता है।

स्वयं वस्तु की छवि के संदर्भ में इसका क्या अर्थ है? दिल्ली शहर आज उत्तर भारत में नक़ली सामानों के उत्पादन के सबसे बड़े केंद्रों में से एक है। जैसे-जैसे विश्वायन का दायरा फैला है वैसे-वैसे नक़ली उत्पादों का उत्पादन भी फैला है। वैश्विक वस्तुओं तक शहरी ग़रीबों की जो पहुँच बनी है उसका ज़रिया टेलीविज़न या सड़कों पर लगे विज्ञापनों में वस्तुओं के प्रचार की बजाय दिल्ली के इलाक़े में बनने वाली इन वस्तुओं की नक़ली प्रतिकृतियाँ ही ज़्यादा रही हैं। पुनरुत्पादन और पैकेजिंग की नई तकनीकों ने राष्ट्रीय और वैश्विक कम्पनियों द्वारा बनाई जाने वाली वस्तुओं का पुनरुत्पादन संभव, सस्ता और सर्वव्यापी बना दिया है। साप्ताहिक अनौपचारिक बाज़ारों और छोटी-छोटी दुकानों के ज़रिए इन वस्तुओं का फैलाव हमारे दैनिक अनुभव में इस क़दर छा गया है जिसकी अतीत में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। वस्तु (कॉमॉडिटी) स्वरूप के प्रकृतिकरण का सबसे प्रखर रूप प्रतिकृतियों को देखने पर महसूस होता है। नई शहरी संस्कृतियों ने प्रतिकृति को इस तरह वैधता दी है जिससे पुराने स्मारकवाद की एकलता सुदूर अतीत की बात बन गई है। दैनिक जीवन के संदर्भ बिंदु के तौर पर प्रतिकृति राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों अभिजनों के लिए समस्या के रूप में सामने आती है। प्रतिरूपों का यह फैलाव हालाँकि पुनरुत्पादन के साधनों में आए गहरे प्रौद्योगिकीय बदलावों का सहउत्पाद है, परंतु हॉलीवुड से लेकर सिएटल तक और बंगलोर से लेकर टोकियो तक तमाम वैश्विक अभिजन मूल वस्तु की प्रतिकृति बनाकर उसे सड़कों तक मुहैया कराने की इस शक्ति के फ़र्ज़ी आधुनिकता के हाथों में केंद्रित हो जाने के ख़िलाफ़ मुहिम चलाते रहते हैं। पायरेसी-रोधी अभियान अब अंतर्राष्ट्रीय पूँजी की भाषा का हिस्सा बन चुके हैं और आने वाले सालों में क़ानूनन वैध वस्तुओं और उनकी ज़्यादा गतिशील नक़लों के बीच संघर्ष और तीखा होगा।

भारत में राज्य सत्ता के साकार के रूप में प्रौद्योगिकी का पुराना सपना जैसे-जैसे खंडित हुआ है वैसे-वैसे उसकी जगह राज्य के स्वाकार के रूप में इन्फ़ोटेक के मिथक ने ले ली है। राष्ट्र और आधुनिकता के इस नए प्रतीक और इसको एक स्मारक की बजाय भग्नावशेष के रूप में जन्म देने वाली शहर की प्रौद्योगिकीय रीति-नीतियों के बीच टकराव को देखते हुए यह साफ़ है कि अभी यह टकराव और बढ़ेगा। वैधानिकता इन्फ़ोटेक युटोपिया का केंद्रीय बिंदु है क्योंकि वैश्विक शहर क़ानूनी नियमन और नियंत्रण के बिना, पूँजी को आकर्षित करने का दम नहीं भर सकता है। परंतु जो शहर अनौपचारिक उत्पादन की संरचना के इर्द-गिर्द केंद्रित हैं वहाँ अवैधता और विकेंद्रण व वैधानिक आर्थिक व्यवस्था की संस्थाएँ ऐसी परिस्थितियों में शहरी परिक्षेत्र में व्यापक विस्थापन और स्थैतिक पुनर्गठन को जन्म देंगी। जो लाखों लोग अपने रोज़गार और ज़रूरत की चीज़ों तक पहुँच के लिए अवैधानिक परिक्षेत्रों पर निर्भर करते हैं, उनके जीवन पर इसके प्रभाव निस्संदेह दूरगामी और नकारात्मक होंगे। यह प्रक्रिया पहले ही शुरू हो चुकी हैः दिल्ली में सरकार ने मध्यवर्गीय सर्वोच्च न्यायालय के आदेशों के अंतर्गत हज़ारों अनौपचारिक कारख़ानों के ख़िलाफ़ कमर कस ली है। जनवरी 2001 से राजधानी दिल्ली में स्वतंत्रता के बाद आर्थिक जीवन के विस्थापन का सबसे बड़ा अभियान चलाया जा चुका है। इसमें छोटे-छोटे उद्योगों के हज़ारों-हज़ार कामगारों को बेरोज़गार कर दिया गया। यह वैधानिक विश्वायनवाद का नया चेहरा है।

अनुवादः योगेंद्र दत्त

टिप्पणियाँ

1. यह 1977 में बंद हो गया.
2. मैं इसे 'नया विश्वायन' इसलिए कहता हूँ क्योंकि भारत हमेशा से विश्व अर्थव्यवस्था का अभिन्न हिस्सा रहा है.

सायबरमोहल्ला डायरियाँ

पागलपन

(हैम्बर्ग, जर्मनी के क़िस्सागोई प्रदर्शन से)

अगर ये दुनिया पागल होती तो कैसा होता? किसी को कोई फ़िक्र न होती, और न कोई डर होता। हाँ, मगर इतना होने के बावजूद ये पेट और न होता तो मानो सोने पर सुहागा। क्योंकि ज़ालिम ये पेट इंसान और जानवर से क्या-क्या नहीं करवाता। पर इस ज़रूरत के बाद कुछ और ज़रूरतें भी होती हैं जैसे नाम, शोहरत। आज किसे नाम की ज़रूरत नहीं है, आज कौन पैसा नहीं चाहता? जिसे मिला वो ख़ुश जिसे नहीं मिला वो दुःखी।

कोई आदमी हमारे दायरे में से अलग कैसे हुआ? वो ख़ुद हुआ है या उसे अलग कर दिया गया है? जब वो हमारे बीच ठीक-ठाक था, तब हम उसकी तारीफ़ें करते थे और बड़ाई करते थे। और आज ज़रा वो अलग या कुछ हट कर बोलता या हरकतें करता है तो हम उसका साथ छोड़ देते हैं, उसकी बीती बातों का मज़ाक बनाते हैं। हम उसके साथ गांधी जी के बन्दरों जैसा बर्ताव क्यों करते हैं? जो न देख सकते हैं, न सुन सकते और न ही बोल सकते हैं। बस जो हो रहा है होने दो, हमें तो हँसने का मौक़ा मिले। ताक में रहते हैं हम, कि कब कोई ऐसा नमूना मिले, जिसे देखकर हमें थोड़ा मिर्च-मसाला मिल जाए। और हम उसे चटपटा बनायें। किसी की सोच का यूँ पकवान बनाना कहाँ की अक़्लमंदी है? वैसे तो सोच हमारी भी मुकम्मल नहीं जो कि हम उनकी सोच पर हँसते हैं, फिर हमदर्दी जताते हैं। हमारे दिमाग़ में हर वक़्त कुछ न कुछ चलता रहता है मगर वो आदमी जो अपनी अंदर की सोच के इशारों को बाहर दिखाता है, शायद उसे 'पागल' नाम दिया जाता है। वैसे तो पागलों के बारे में एक डॉक्टर के अलावा और कौन बता सकता है। और मैं डॉक्टर नहीं। उन लाखों-करोड़ों में से कुछ ही बन्दों के बारे में आपको बता सकता हूँ, जिन्हें मैं जानता और पहचानता हूँ।

कुछ साल पहले मेरे साथ ट्यूशन में एक सतपाल नाम का लड़का पढ़ता था। वो पढ़ने में बहुत तेज़ था। दसवीं कक्षा की परीक्षा में हम दोनों ने ख़ूब मेहनत की मगर नतीजा, फ़ेल। हमने दोबारा मेहनत की। मैथ्स की किताबों में एक-एक सवाल को सीखा, ज्यॉमेट्री में भी कोई कमी न छोड़ी। बड़ी मुश्किल से कम्पार्टमेंट आई, वो भी मैथ्स में। क्या करते, हमारी क़िस्मत पर पत्थर जो पड़े थे। फिर मैंने सोचा बेटा ऐसा ही रहा तो तेरा बैंड बज जाएगा। अब पेपरों के दिनों में पढ़ता कम और दिमाग़ को रेस्ट देने लगा।

ख़ैर! पेपर वाले दिन स्कूल में मैं और सतपाल मिले, हाथ मिलाकर अपने-अपने डेस्कों पर बैठ गए। नतीजा निकला और मैं पास। नम्बर बहुत कम थे मगर पास होने की ख़ुशी बहुत सारी थी। कई दिनों के बाद आज सतपाल मिला। एक सड़क के किनारे पर खड़ा हिसाब जोड़ रहा था, वो अपनी उंगलियों को भी गिन रहा था। मैं वहाँ से कहीं जा रहा था। मेरी नज़र सतपाल पर पड़ी, "अबे तू यहाँ क्या कर रहा है सतपाल?"

वो बोला, "यार आज मेरा पेपर है। राकेश तू भी तो चल। टाइम होने वाला है।"

"अबे कौन सा पेपर भाई?"

सतपाल ने कहा, "मैथेमैटिक्स का!"

मैंने कहा, "अबे क्या बक रहा है, यार तेरे होश तो ठिकाने पर हैं? पेपर ख़त्म हुए तो काफ़ी टाइम हो गया और ये तो नवम्बर का महीना चल रहा है। तू कहीं पागल तो नहीं हो गया?"

सतपाल ने कहा, "नहीं राकेश, मैं पागल नहीं हूँ। देख मैं तो जा रहा हूँ। तुझे चलना है तो चल। देख मैंने तो अपना आई कार्ड भी ले लिया है।"

मैंने कहा, "तेरी बातें मेरी समझ में नहीं आ रही हैं।"

मैंने यह कहा ही था कि इतने में सतपाल की मम्मी आ गईं और मुझे एक तरफ़ बुला कर कहा, "देखो बेटा, इसे फ़ेल होने का सदमा पहुँचा है। इसीलिए ये ऐसी बहकी बातें कर रहा है। ये तीन-चार बार फ़ेल हुआ है। तब से ऐसा ही है। कुछ न कुछ हिसाब में लगा रहता है और ख़ामख़ाँ किताब खोलकर पढ़ने लगता है। हमें बताता रहता है कि मैं 80 प्रतिशत नम्बर लाकर रहूँगा। डॉक्टरों ने कहा है कि इसका इलाज घर से अच्छा और कहीं नहीं हो सकता। बस, सब इसकी हाँ में हाँ मिलाया करो।"

मैं सतपाल की माँ की बात सुनकर परेशान हो गया। जो लड़का पढ़ने में तेज़ और चालाक था वो कैसे पागल हो गया। मगर सोचने की बात ये है कि वो मुझे अब तक पहचानता है और बीती बातें भी दोहराता है। तो भला ऐसे लड़के को हम क्या कहेंगे?

ऐसा ही एक आदमी और है जो दक्षिणपुरी में अकसर दिखाई देता था। उसका असली नाम तो मुझे पता नहीं, लेकिन सब उसे अमिताभ कहते थे क्योंकि वो हमेशा ऐक्टिंग करता रहता था। ख़ासकर अमिताभ की। जब वो ऐक्टिंग करता, तो हम खुश होते थे और हमारा मनोरंजन भी हो जाता था। और मज़ा तो तब आता जब वो ऐक्टर से डायरेक्टर बन जाता। फिर "ऐक्शन, लाइट, कैमरा" बोलता और ऐसा लगता जैसे शूटिंग का माहौल बन गया। मैं आज भी जब उस के बारे में सोचता हूँ तो उसकी ऐक्टिंग से इम्प्रेस हो जाता हूँ। हम उस ऐक्टर और उसकी बातों पर हँसते, खुश होते और उसे पाँच-दस रुपये दे देते थे। वो इतने में ही खुश हो जाता था। मुझे तो उस में कहीं से कोई कमी नहीं दिखाई देती थी। वो आज भी कहीं न कहीं होगा और लोगों को तमाशा दिखा कर खुश करता होगा। क्या तमाशा दिखाना पागलपन है?

जापानी गुड़िया

(सायबरमोहल्ला *रेडियो इमली* की प्रस्तुति से)

जब वो बोलती हैं तो दाँतों को देखकर लगता है हवा महल है। पर वो बोलतीं बहुत कम हैं। बस अपनी यादों को संजोकर रखती हैं। उनकी हर याद में कोई न कोई कहानी छिपी है। आज जब वो कमरे में दाख़िल हुईं तो उन्होंने अपनी कहानियाँ किसी को न सुनाने की अपनी आदत ख़त्म कर दी। उन्होंने हमें एक ऐसी कहानी सुनाई जो लगभग 45 से 50 साल पुरानी है, जब वो जवान थीं।

"ये देखो, ये गुड़िया! ये मेरी बड़ी अज़ीज़ है, अपनी जान से भी ज़्यादा प्यारी। हमेशा मेरे साथ ही रहती है। मैं इसे खुद से कभी अलग नहीं करती। कभी कभार तो जब किसी शादी में जाती हूँ तो इसे अपने साथ लेकर जाती हूँ। मेरे पोते-पोती कभी-कभी इससे खेलते हैं। पर बड़े प्यार से, अपने किसी साथी की तरह।"

(हमने देखी, एक नई गुड़िया। गोरी सी, मुस्कुराता चेहरा, चमकते कपड़े, पैरों में काले जूते।)

"ये मेरी सहेली है, मेरी जीवन साथी। मेरे पति इसे अपनी साली मानते हैं।" (और यूँ कहानी सुनाते-सुनाते अम्माँ अपनी यादों में चली गईं। कभी बतातीं, कभी चुप हो जातीं। चश्मे के पीछे उनकी आँखों में कुछ मोती से छलक रहे थे।) अपनी उंगली से चश्मे को पीछे धकेलते हुए, वो अब बोलीं। "बेटा बात लगभग तब की है जब मेरी उम्र शायद गुड़ियों से खेलने की थी। तब मैं एक कोठी में काम करने जाती थी। वो लोग अंग्रेज़ थे।

उनकी दो लड़कियाँ थीं, बिलकुल गुड़ियों जैसी। एक दिन बड़ी वाली लड़की का जन्मदिन था। उसके पापा उसके लिए एक गुड़िया लाए। वो शायद बाहर की थी, क्योंकि वो अपना सारा ही सामान बाहर देश से लाते थे। उनका बाहर जाना लगा रहता था। जन्म दिन पर बहुत लोग आए। बहुत बड़ी पार्टी थी। मेहमानों में कुछ अंग्रेज़ भी थे। जब उसके पापा गुड़िया लेकर आए तो सबकी नज़रें गुड़िया पर ही थीं। मेरा दिल तो कब का उस गुड़िया पर आ चुका था। पर वो मेरी कहाँ हो सकती थी। चलो, जन्मदिन की पार्टी हो ली, सभी अपने-अपने घर लौट गए। और लड़की भी अपने कमरे में सोने चली गई। मगर शायद उस लड़की को वो गुड़िया पसंद नहीं आई थी। वो उसे वहीं छोड़ गई। शायद उसे कुछ और चाहिए था, और उसे वो मिला नहीं इसलिए वो थोड़ा नाराज़ भी थी। बहुत रात हो चुकी थी, मैं अपने घर लौट आई। रातभर मुझे उस गुड़िया का ख़याल आया, वो मेरे सपनों में भी आई। शायद वो मुझे कह रही थी, "आओ, मेरे साथ खेलो।"

"मगर मैं क्या करती, मैं तो उसे छू भी नहीं सकती थी। अगले दिन मैं उनके घर गई तो मैम ने कुछ इशारों में और कुछ हिन्दी में कहा — "सुनो, बेबी का कमरा साफ़ करा दो।" मैं बेबी के कमरे में गई और सबसे पहले मैंने अलमारी को साफ़ करने का सोचा क्योंकि वहाँ दोनों बहनों के सारे खिलौने रखे होते थे। मैंने सोचा 'शायद वो गुड़िया भी उसी अलमारी में हो।' बस फिर क्या था। मैंने अलमारी को साफ़ करने के लिए खोला, वो गुड़िया एकदम सामने ही रखी थी। मैंने उसे उठाया और अपने हाथों में लेकर बाँहों में लिटा लिया। मैं कुछ देर उसे देखती रही और हल्के-हल्के उसे साफ़ करने लगी। ऐसा कई दिनों तक चलता रहा। मैं रोज़ छिप-छिप कर गुड़िया से खेलती और उससे बातें करती। उसे अपनी सारे दिन की बातें बताती और उसके चेहरे को देखती रहती। क्यों? क्योंकि चाहे मैं उसे अपनी ख़ुशी की बात बताती या फिर दुःख की, उसका चेहरा हर वक़्त खिला हुआ ही रहता। उसे भी तो दर्द होता होगा, पर वो फिर भी मुस्कुराती रहती। ये देखकर मुझे लगता कि जब तक वो मेरे साथ है, मेरे कोई दुःख नहीं हैं। एक दिन जब मैं सुबह वहाँ पहुँची तो वो लड़की रो रही थी और उसकी माँ उसे चुप कराने की कोशिश कर रहीं थीं। वहीं कोने में वो गुड़िया रखी थी। उसके बाल बिगड़े हुए थे, टाँगें भी मुड़ी हुई थीं। मैं बहुत देर तक उसे देखती रही। मैं उसे उठा भी नहीं सकती थी। पर मुझसे देखा नहीं गया, और मैंने उसे उठा ही लिया और उसे प्यार करने लगी। शायद मेरे अंदर गुड़िया के लिए प्यार उस अंग्रेज़ औरत ने देख लिया, इसलिए ये गुड़िया मुझे दे दी। और तब से वो गुड़िया मेरे साथ, मेरे पास ही रहती है।"

'बस'

अशोकी **01 : सीवर लाइन**

लखमी चन्द कोहली

ये कहानी है एक ऐसे इंसान की जो हमेशा ही शराब पीकर अपना काम करता था। वो काफ़ी पढ़ा-लिखा होने के बावजूद भी सीवर में घुस, सीवर की सफ़ाई करता था। हमारे यहाँ की सीवर लाइन हमेशा ही हमारी एक परेशानी बनी है, कभी भी बंद हो जाती है और हमेशा ही भरी रहती है। और सीवर के ढक्कन भी नहीं हैं, जिसकी वजह से पूरी गली में बदबू रहती है। हमारे यहाँ सीवर के ढक्कन इसलिए नहीं हैं क्योंकि हमारे यहाँ के जो शराबी हैं, वे हम पर कुछ ज़्यादा ही मेहरबान हैं। छोटे ढक्कन तो क्या, बड़े ढक्कन भी नहीं छोड़ते। सीवर बंद होने की वजह से हमारे यहाँ का पानी भी गंदा आता है। इतना गंदा कि हम उसे पीने में तो क्या, किसी भी काम में इस्तेमाल नहीं कर सकते। सीवर बंद होने का भी एक कारण है। वो ये है कि हमारी गली की नालियाँ लोगों ने बंद कर रखी हैं। सारा कूड़ा हमारी सीवर लाइन में जाता है, जिसकी वजह से सीवर लाइन बंद हो जाती है। एक बार की बात है। हमारी सीवर लाइन बिलकुल बंद हो गई थी। जिसके कारण हमारे यहाँ का पानी भी इतना गंदा आ रहा था कि पानी को पीना तो दूर, उसकी महक भी सूँघना नामुमकिन था। सीवर बंद होने पर सभी गली-वालों ने मिलकर एक शिकायत लिखी और सीवर साफ़ करने वालों को दी। वहाँ जब हम

लोग गए तो हम ने देखा कि वहाँ पर एक ही आदमी था जो हमारी शिकायत दर्ज कर रहा था। वो दिखने में बिलकुल पतला था। ऐसा लगा वो आदमी अच्छा पढ़ा-लिखा था, क्योंकि वो इंगलिश साफ़ लिख रहा था। हम अपनी शिकायत वहाँ पर दर्ज करवा कर घर लौट आए।

फिर दूसरे दिन वो अपना सारा सामान लेकर हमारे सीवर को साफ़ करने आए। उनका सामान था — तीन लम्बी, पतली लकड़ियाँ (कम से कम नौ फुट की), और दो सरिये (आगे से थोड़े मुड़े हुए)। वो पाँच आदमी थे। उनमें वो आदमी भी था जिसने हमारी शिकायत लिखी थी। आज वो दिखने में बहुत ही गंदा लग रहा था। उसने गंदे, बदबूदार कपड़े पहने थे। और आज उसने कुछ ज़्यादा ही लगा रखी थी। उसे इस हालत में देखकर मैं हैरान हो गया। मैंने सोचा, इतना पढ़ा-लिखा आदमी आज इतना गंदा बनकर क्यों आया है? मैं उसे हैरानी-भरी आँखों से देखता रहा और यही सोचता रहा। उसके साथ आए चार आदमी सीवर खोल-खोल कर देख रहे थे। और वो चुप होकर एक जगह खड़ा हुआ था। वो चारों आदमी एक दूसरे से कह रहे थे, "ये सारे सीवर भरे हुए हैं"। फिर उन्होंने हमारी गली के सबसे आख़री वाले सीवर को खोला और अशोकी से कहा (अशोकी उसी आदमी का नाम है):

अशोकी, तुम सीवर में घुसो और देखो कि कहाँ पर कूड़ा अटका हुआ है।

अशोकी ने कहा >> अच्छा जी, मैं अभी देखता हूँ।

उसको सीवर में घुसते देख मुझे बड़ी हैरानी हुई। मैं अपने मन ही मन सोचता रहा कि ये आदमी कोई साहब नहीं, बल्कि सीवर साफ़ करने वाला एक छोटा-सा कर्मचारी है। उसके साथ वो चार आदमी उससे शायद कम पढ़े-लिखे थे। क्योंकि अशोकी ही वहाँ पर आई सारी शिकायतों को दर्ज करता था। अशोकी ने सीवर में घुस कर सीवर को अच्छी तरह साफ़ किया। उसमें से कुछ कपड़े और कुछ और कूड़ा निकला। अब हमारे सीवर बिलकुल साफ़ हो गये थे। सीवर साफ़ होने के बाद सभी गली-वालों ने मिलकर ढाई सौ रुपए इकट्ठा किए और सीवर साफ़ करने वालों को दिए। फिर वो अपने ऑफ़िस लौट गए। उनके जाने के बाद मैंने सोचा कि उस आदमी से बात करनी चाहिए और मैं उससे बात करने दूसरे दिन उसके ऑफ़िस पहुँचा। आज वो साफ़ कपड़ों में था। मगर आज भी उसने कुछ ज़्यादा ही लगा रखी थी। मैंने जब उससे बात करनी चाही तो उसने कहा —

(हाथ जोड़कर) ओ भाई, तू कौन है? और मेरे पीछे क्यों पड़ा है? मेरा पीछा छोड़ यार। मुझे नहीं देने तेरे सवालों के जवाब।

इतना कहकर उसने मुझे एक भिखारी समझकर बाहर जाने को कहा, और मैं चुपचाप बाहर आ गया। मैं उस से क्या बात करता? उसने आज कुछ ज़्यादा ही लगा रखी थी। जैसे ही मैं बाहर आने लगा तो वहीं पर खड़ा एक आदमी मुझे देख रहा था। उसने मुझे रोका और कहा -

आदमी >> ओ बेटा, इधर आ! (तो मैं उसके पास गया और मैंने नमस्ते किया।)

उन्होंने पूछा >> बेटा, तुम कौन हो? और इससे क्या बात करना चाहते हो?

मैंने कहा >> सर, कुछ नहीं, मैं बस यही जानना चाहता हूँ कि ये आदमी ऐसा क्यों है?

तो वो बोले >> बेटा, मैं तुझे बताता हूँ ये ऐसा क्यों है।

मैंने पूछा >> सर, आपका नाम?

(वो आदमी देखने में मोटा और साँवला था। उसने मुझसे कुछ नहीं पूछा। ये भी नहीं कि तुम कहाँ से आए हो और इसके बारे में क्यों जानना चाहते हो।)

उन्होंने बताया >> मेरा नाम हरि सिंह है।

मैंने पूछा >> सर, ये आदमी इतनी शराब क्यों पीता है?

तो उन्होंने कहा >> भाई, मैं क्या बताऊँ? इससे मैंने कितनी बार कहा है कि इतनी शराब मत पीया कर। लेकिन ये मानता ही नहीं है। उल्टा मुझे ही दो गाली देकर भगा देता है।

मैंने पूछा >> सर, इसके घर में इसे कोई मना नहीं करता?

उन्होंने कहा >> बेटा, इसके घर में कोई नहीं है। इसके घर वाले सारे गाँव में रहते हैं। इसलिए ये यहाँ रोज़ पीकर रहता है। इसके इतना ज़्यादा पीने के चक्कर में एक दिन इसकी नौकरी जाएगी।

"सर मैं आपके बारे में कुछ पूछ सकता हूँ?"

उन्होंने कहा >> हाँ-हाँ, पूछो। लेकिन क्या पूछोगे?

मैंने कहा >> कुछ ज़्यादा नहीं सर। बस कुछ आपके काम के बारे में।

उसने कहा >> ठीक है, पूछो।

मैंने पूछा >> सर, आपको यहाँ काम करते-करते कितना टाइम हो गया?

उन्होंने कहा >> मुझे लगभग दस-बारह साल हो गए हैं।

मैंने पूछा >> सर, आपको यहाँ काम करना कैसा लगता है?

उन्होंने कहा >> बेटा, काम में कोई बुराई नहीं होती। एक मज़दूर को अपना काम करना अच्छा लगता है। (फिर मैंने उन्हें धन्यवाद किया और कुछ उसके बारे में पूछने की कोशिश की।)

मैंने कहा >> सर, आपके अफ़सर इसको कुछ नहीं कहते?

उन्होंने कहा >> क्या कहेंगे? ये कुछ समझे तो। हाँ, कभी-कभी कुछ कहते तो हैं। मगर इस पर असर नहीं पड़ता। कितनी बार तो इसे नौकरी से निकालने की धमकी भी दी है, मगर इसे उनकी बातों से कुछ लेना-देना ही नहीं है।

मैंने पूछा >> सर, इससे कभी बात नहीं हो सकती?

उन्होंने कहा >> नहीं। इससे तो बात करना बेकार है। ख़ामख़ाँ ये दो-चार गाली तुम्हें सुना देगा। वो तुम्हारे लिए अच्छा नहीं है।

मैंने कहा >> ठीक है सर, कोई बात नहीं। इससे तो नहीं, आपसे बात करके अच्छा लगा। धन्यवाद। फिर उसने जाते-जाते पूछा सुनो बेटा, एक बात बताओ। तुम कहाँ से आए हो? और इतना कुछ क्यों पूछ रहे हो?

तो मैंने कहा >> सर, मैं अंकुर संस्था से आया हूँ और कुछ लोगों से बातें करना चाहता हूँ। उनके बारे में और उनके काम के बारे में कुछ जानना चाहता हूँ। इतना कह कर मैं वहाँ से चल दिया, और यही सोचता रहा कि जिससे बात करनी थी, उससे तो बात हो न सकी। मगर कोई बात नहीं, फिर भी कुछ हद तक तो काम हुआ।

अशोकी **02**

अभी मैं आ कर बैठा ही था कि मेरे कानों में आवाज़ आई, "अशोकी चल, ब्लॉक चलना है।" मैंने वापस आकर कपड़े नहीं बदले थे, तो मैं एकदम निकल सका। बस, सारा सामान दोबारा से साइकिल पर रखा और पैदल चल दिया। मेरा नशा अब शायद उतर रहा था। मुझे लगा कि मुझमें से शायद बदबू आ रही थी, क्योंकि मेरे साथ चलने वाले ने अपनी नाक पर रुमाल रखा हुआ था। उसकी आँखें मेरी तरफ़ आतीं, फिर घूम जातीं। धूप नहीं थी, पर मुझे गर्मी लग रही थी। शायद ये थकावट की गर्मी थी।

हम एक गली में पहुँचे। काफ़ी भीड़ थी। क्या सब छुट्टी पर थे? लग रहा था कि कुछ हो गया हो। वहाँ पहुँचकर मेरे साथी भीड़ को हटवाने लगे, सभी लोग उनसे कुछ-कुछ कहने लगे। मेरे पैरों में दर्द हो रहा था। मैं एक घर के आगे बनी एक छोटी सी सीढ़ी पर बैठ गया। मेरा शरीर तो सूखा था पर पैंट गीली थी। मैं बैठा तो मुझ पर कई सारी मक्खियाँ आकर बैठ गईं। आसपास लोग मुझे देखकर कुछ सोच में थे। तभी एक औरत आई और मुझसे बोली, "भइया, आप ज़रा वहाँ खड़े हो जाएँगे, मुझे यहाँ सफ़ाई करनी है।" मैंने आधा सेकेण्ड सोचा, फिर उठ गया। मैं अपने साथियों का आवाज़ देकर मुझे बुलाने का इंतज़ार कर रहा था। आसपास सब लोग मुझे देखकर एक-दूसरे को मेरी तरफ़ इशारे कर रहे थे।

पूरी गली गीली थी। रात को बारिश पड़ी थी तो सीवर पूरे भर गए थे। एक शख़्स मेरे पास आया और बोला, "ओ भाई चल।" वो मुझे बार-बार ऊपर से नीचे देख रहा था।

मैं सीवर के पास गया तो देखा सीवर में कपड़े ही कपड़े भरे हुए थे। जब मैं सीवर में घुसा तो काफ़ी बदबू आ रही थी। शायद ये नशा उतर जाने की वजह से था। गली में किसी ने तेज़ आवाज़ में गाना चला रखा था। मुझे ये अच्छा लग रहा था। बार-बार, मैं सीवर से कपड़े निकालकर बाहर रख रहा था। जब भी बाहर रखता, तब लोग ऐसे पीछे हटते जैसे पता नहीं कपड़े नहीं, कुछ और ही हो। लोगों की बातें ख़त्म ही नहीं हो रही थीं, सब कुछ न कुछ बोलते जा रहे थे। कोई किसी को कोसता तो कोई मुझसे कुछ कहता।

सीवर के अंदर नाली में कुछ बड़ा सा फंसा हुआ था, पत्थर जैसा कुछ। उसकी वजह से पानी आगे नहीं बढ़ पा रहा था। मैंने काफ़ी कोशिश की, पर उसे हिला न सका। मेरे साथी मुझसे पूछ रहे थे कि क्या हुआ, पर मैं जवाब नहीं दे पा रहा था क्योंकि मेरा ध्यान उस अड़चन पर था।

हल्की बारिश शुरू हो गई। लोगों ने बिखरना, छिपना शुरू कर दिया। मेरे साथी भी ऐसा ही कुछ करने की फ़िराक़ में थे। यकायक बारिश तेज़ हो गई। बारिश की तेज़ी से पड़ती बूँदों से सीवर का गंदगी उछलकर मेरे मुँह तक आती। अब तक सभी देखने वाले छुप गए थे। मगर पत्थर अपनी जगह से नहीं हिला था। पाँच मिनट में गली में पानी भरना शुरू हो गया। सभी हल्ला मचाने लगे कि पानी घरों में आ जाएगा। वो बार-बार मेरी तरफ़ देखते। मैं सीवर से बाहर निकला और एक सरिया लाया, उससे नाली के पत्थर को मारने लगा। सभी इधर-उधर छिपकर खड़े थे। मैं अकेला ही बाहर था। मैंने सरिये के वार और तेज़ कर दिए। पानी जाना शुरू हो गया। शायद वो पत्थर टूट गया था। लोग ख़ूब ज़ोरों से चिल्लाए, जैसे कि लॉटरी लग गई हो।

सीवर से बाहर निकलकर मैंने ढक्कन लगाया। थोड़ी देर वहीं खड़ा रहा, बारिश में। फिर कोने के मकान के बाहर हाथ-पैर धोए और वहीं अपने साथियों से अलग खड़ा रहा। कुछ ही देर में बारिश बंद हो गई। लोग मुझे देखकर मुस्कुरा रहे थे। मैं भी अंदर ही अंदर ख़ुश था अपने काम से। मेरी थकान बढ़ने की जगह कम हो गई थी, मैं साइकिल पर चढ़कर ऑफ़िस की तरफ़ चल दिया। और वहीं कपड़े बदलकर अंदर जाकर लेट गया, कुछ आराम करने के लिए।

ब्यूटी पार्लर

यशोदा

एक ढाँचा जिसे मैंने कई महीनों से बदलते हुए देखा है। मेरी छोटी बहन लक्ष्मी जो बिल्कुल तीखी मिर्ची की तरह है। और ग़ुस्सा तो उसे ऐसे आता है जैसे दूध में उबाल। पल में तोला, पल में माशा वाली कहानी रहती है उसकी। आज से तक़रीबन 11 महीने पहले एक दुबली पतली लड़की जिसे घर के कामकाज में अपने हुलिये को भी सँवारने का वक़्त नहीं मिलता था। वो दिनभर किसी न किसी काम में लगी रहती पर टीवी ज़रूर चलाए रखती क्योंकि उसे डांस और गानों का शौक़ है। वो काम करते-करते म्यूज़िक पर थिरकती भी रहती। और जब शाम को मैं घर पहुँचती तो फ़ौरन मुझे पानी देती। स्टोव जलाकर चाय का पानी चढ़ाती। इतने में पानी खौलता, तब तक हम दोनों इधर-उधर की बातें करते रहते। वो मुझसे ही खुलकर बातें करती। बाक़ी तो पूरा दिन वो अपने होंठों पर चुप्पी लगाए ही गुज़ार देती। अगर घर में कोई मेहमान आ जाता तो एक बौखलाहट से अन्दर किचन में आ जाती और उस बौखलाहट में वो कुछ ना कुछ ग़लत कर देती। कभी चाय में चीनी तेज़ कर देती या कभी चीनी डालना ही भूल जाती। उसको इस हालत में देखकर मैं कहती, "तुझे क्या हो जाता है लक्ष्मी! किसी के घर आने से तू काँपने क्यों लगती है?" वो होठों को चबाते हुए कहती, "पता नहीं नन्नी, मुझे इतने लोगों को देखकर घबराहट सी होने लगती है।" मुझे उसकी इस बात पर हँसी आ जाती। मैं उससे कहती, "अगर तू सड़क पर चलेगी तो क्या करेगी?" वो जवाब में सिर्फ़ मुस्कुराकर रह जाती।

ऐसे ही धीरे-धीरे समय गुज़रने लगा और उसकी चुप्पी मज़बूती में बदलने लगी। उसने अपने आपको, अपने सीले हुए घर की चारदीवारी में ही समेटकर रख लिया था। वो अन्दर रहने की वजह से दुबली और काली होती जा रही थी। मुझसे उसकी ये हालत देखी नहीं जाती थी। आख़िर उसकी बड़ी बहन जो थी!

मैंने उसे कोई कोर्स करने के लिए उकसाया। पहले तो वो नहीं मानी पर बाद में राज़ी हो गई। इससे हम सबको यानी, मुझे, माँ, चाचा और राहुल को बहुत ख़ुशी हुई। पर आज मैं बहुत दुःखी हूँ क्योंकि जब मैं शाम को घर लौटती हूँ तो मुझे ऐसा लगता है जैसे ये बन्द दरवाज़ा मेरी खिल्ली उड़ा रहा है। घर में चारों तरफ़ शांति ही शांति रहती है। कोई एक गिलास पानी पिलाने वाला भी नज़र नहीं आता। लगता है जैसे चारों तरफ़ लक्ष्मी ही लक्ष्मी खड़ी है, एक हाथ में पानी और दूसरे में चाय का कप लिये। पता नहीं क्यों अब पानी और चाय में मज़ा नहीं आता।

कितनी नर्वस थी वो कि अकेली बाहर कैसे जायेगी। उसके लिए बहुत बड़ी चुनौती थी क्योंकि वो कई साल पहले ही स्कूल छोड़ चुकी थी। तब से उसने अपने आपको घर में ही क़ैद कर लिया था। अब दोबारा से वो दुनिया की भागदौड़ में क़दम रख रही थी। एक ऐसी भागदौड़ जहाँ लोगों की नज़रें आपको कब घायल करके निकल जाएँ पता ही नहीं चलता।

पर अब जब ठान ही लिया था कि कोर्स करना है तो बाहर भी निकलना ही था। अब उसने आना-जाना शुरू किया, पर वो सड़क पर चलते हुए डरती थी। लड़कों के कमेन्ट्स सुनती तो कलेजा मुँह को आ जाता। उसे लोगों से मिलने-जुलने की आदत तो थी नहीं और क्लास में बहुत सारी लड़कियाँ थीं, जो उससे बातें करती थीं। वो इस बात से भी परेशान थी। अपनी क्लास की लड़कियों की बातें मुझे बताती। वहाँ उसकी बहुत जल्दी एक दोस्त बनी जिसका नाम था शालू। शालू, जिसका किसी से नया-नया इश्क़ हुआ था। वो अपनी दास्तान-ए-इश्क़ किसी को सुनाना चाहती थी। वो भी ऐसे इंसान को जो तसल्ली से सुने और किसी से कहे नहीं। ऐसा भोलापन उसे लक्ष्मी में नज़र आया। एक ऐसी लड़की जिसे चुटिया में बल देने का सलीक़ा भी नहीं था। जो सिर्फ़ ख़ामोश होकर सबकी बात सुना करती थी। लक्ष्मी में एक आदत थी, वो सारी बातें मुझे बताती और कई-कई घंटे मेरे कान खाया करती। कभी-कभी तो मैं झुंझलाकर कहती, "मेरा दिमाग़ मत चाट!" वो झट से कहती, "अच्छा और जो तू अपनी बातें सुना-सुनाकर मेरा दिमाग़ चाटा करती थी, उस वक़्त मैं कैसे झेलती थी तुझे!" उसकी इस बात का मेरे पास कोई जवाब नहीं होता। वो फिर शुरू हो जाती, "पता है हमारी क्लास की लड़कियाँ कितना बोलती हैं!" पर वो ये नहीं सोचती थी कि सबके कच्चे चिट्ठे सुनाने में वो ख़ुद कितना बोलती है।

धीरे-धीरे उसका व्यक्तित्व भी बदलने लगा। अब एक हलचल सी थी मोहल्ले में। एक शांत सी लड़की अब दुनिया के रंगों में रंगने लगी थी। सभी उसे देख-देखकर हैरत भरते और बातें बनाते, "अरे! देखा तुमने कैसे स्टाइल में निकलती है। उसका कपड़े पहनने का तरीक़ा देखा। काली पैंट पर एक से एक शॉर्ट कुर्ता पहनती है। चप्पल देखी! ब्राउन रंग की, उसकी कितनी हील है। बालों में कैसे रंग करती है। पहले तो उंगुली में छल्ला तक नहीं पहनती थी अब तो ड्रेस की मैचिंग की चूड़ियाँ और ईयर रिंग डालती है। भैया बड़े दिमाग़ हो रहे हैं आसमान में इस लड़की के!" लोग बातें बनाते पर हम जानते थे कि वो कितनी भोली और सीधी है।

ऐसे ही लोगों की ज़बानें, और लक्ष्मी का दिमाग़ चलते न जाने छः महीने कहाँ छूमंतर हो गए। अब उसका कोर्स पूरा हो चुका था। लेकिन वो अपने हुनर को घर में बैठकर धुंधलाना नहीं चाहती थी। इसलिए उसने सीताराम बाज़ार में एक पार्लर ज्वाइन कर लिया। अब वो सुबह 10 बजे निकलती और शाम को घर लौटती। उसका एक रुटीन सा बन गया था और उस रुटीन में शामिल था उसका तैयार होना। अब उसे अपने आपको सँवारने में आलस सा आने लगा था। जब वो सुबह जाने के लिए तैयार होती तो काफ़ी देर आइने के सामने अपना सिर पकड़कर बैठी रहती। इस बात से मुझे बड़ी हैरत होती। जिस लड़की को सजना-सँवरना बहुत अच्छा लगने लगा था अब वो इस मेकअप से बोर होने लगी थी। उसे इस तरह बैठा देख मैं कहती, "जब मन नहीं करता तो क्यों तैयार होती है। ऐसे ही चली जाया कर।" वो आँखों में लाइनर लगाते हुए कहती, "ऐसे नहीं जा सकती।" "क्यों?" होठों पर लिप-लाइनर लगाते हुए कहती, "पागल, हम औरतों का हुलिया बदलते हैं। उन्हें ख़ूबसूरत बनाते है।

अगर हमारा ही हुलिया बिगड़ा होगा तो वो ये नहीं सोचेंगी की ख़ुद तो बिगड़ी मशीन है, हमें क्या ख़ूबसूरत बनाएगी।" अपनी जगह उसकी बात भी ठीक थी। पर इस बात से मुझे बड़ा अचम्भा होता। जो लड़की शुरू में इन सब चीज़ों को अपने शौक़ में लिया करती थी अब वो सजने-सँवरने को काम के द्वारा देखने लगी थी। मैंने बहुत क़रीब से देखा था, शौक़ को काम में बदलते हुए।

अब उसके बोलने का तरीक़ा भी बदलने लगा था। पहले वो सबसे नमस्ते कहती थी। पर अब बड़ा ही मुस्कुराकर 'हेलो' बोलती और पर्स तो ऐसे ऐक्शन से तख़्त पर फेंकती कि मेरी आँखें खुली की खुली रह जातीं। पहले जिस लड़की के मुँह में ज़बान नहीं थी अब ढेरों तरंगें निकलती थीं। इतने कम समय में बदलाव कहाँ से आया ये मैं समझ नहीं पा रही थी। मुझसे चाय बनाने के लिए तो ऐसे बोलती जैसे मैं उसकी चाय बनाने के लिए ही बैठी हूँ। पर मुझे बुरा नहीं लगता। चाहे ये सर्विस एक्सचेंज हो गई थी पर हम साथ बैठकर चाय तो पी सकते थे। मुझे इतना ही चाहिए था। मेरे चाय के प्याले के दो मिनट मुझे वापस मिल गए थे।

दिल्ली गेट

यशोदा

दिल्ली गेट, दिल्ली की जानी-मानी जगहों में से एक है। यहाँ ट्रैफ़िक और लोगों की धूम रहती है। यहाँ पर दो सड़कों को जुदा करता हुआ ये कबूतरख़ाना बना हुआ है। इसने अपनी पहचान उन लोगों के ज़रिये बनाई है जो व्यस्त ज़िन्दगी में फँसे हुए भी कुछ नेकी कमाना चाहते हैं। आज जब मैं इधर से गुज़री तो मुझे एक अनोखा ही रिश्ता नज़र आया यहाँ से जुड़े लोगों का, जो मैंने पहले नहीं देखा था। मैं घर से नहाकर निकली थी। इसलिए हल्की-हल्की ठंड महसूस हो रही थी। और यहाँ पर धूप बहुत अच्छी लग रही थी। ठंड के मद्देनज़र मैं यहाँ पर बनी चौड़ी मुंडेरी, जो दीवारनुमा थी, उस पर जा बैठी।

इतना शोर होने के बावजूद इस जगह पर एक अनजाना-सा सुकून मेरे अन्दर उतर रहा था। मैं ख़ामोशी से नज़रें घुमाकर इस जगह का मुआयना कर रही थी। मुझे अपने सामने इमरजेन्सी नज़र आ रही थी, जहाँ पर बहुत सारे फलों की रेहड़ियाँ लगी हुई थीं। मरीज़ों की आवाजाही में तंदुरुस्त लोगों का टोला भी इधर से उधर गुज़र रहा था। मेरे पीछे बड़ी-बड़ी कंपनियों की बिल्डिंग हैं, जहाँ पर धूप सीधी पड़ने की वजह से उनके नाम साफ़ नज़र आ रहे थे। इन सड़कों पर से गुज़रते हुए लोगों का रेला कभी ख़त्म नहीं होता। मुझे इधर से उधर गुज़रती हुई भीड़ को देखकर एक साथी याद आने लगा, जिसने कभी सवाल किया था, "अगर हम भीड़ में खड़े हो जाएँ, तो उस भीड़ की नज़रें हम से क्या कहेंगी? हटो, रास्ता छोड़ो?"

ये सवाल मेरे दिमाग़ में बार-बार हथौड़े मारने लगा। मैं सवालों के दबाव में आकर अपने सामने वाली सड़क पर चल रहे लोगों को ध्यान से देखने लगी। उनमें मुझे एक औरत नज़र आई, जिसका चेहरा काफ़ी पक्का और साँवला था। वो सड़क पार करके मेरी तरफ़ ही आ रही थी, और उसके सामने से चार-पाँच आदमी गुज़र रहे थे। मैं सिर्फ़ उस औरत का ही चेहरा देख पा रही थी। मेरी नज़र उन आदमियों पर नहीं, उस औरत की ही नज़रों पर जमी हुई थी, कि वो इन लोगों के बीच से निकलते समय कैसे रिऐक्ट करती है। लेकिन सिर्फ़ उसकी आँखें ही रिऐक्ट नहीं कर रहीं थीं, बल्कि उसके चेहरे के भाव भी बदलने लगे थे। जो चेहरा काफ़ी नॉर्मल नज़र आ रहा था, अब हल्की-सी तमतमाहट में था। उसके हाथ भी अपने दुपट्टे को सही करते हुए अपने ही जिस्म पर खेल रहे थे। उसकी आँखें उन लोगों की, और मेरी, उसकी तरफ़ उठी हुई थीं। उसकी आँखों में जल्दी-से निकलने की तेज़ी नज़र आ रही थी। वो एक सेकण्ड में उन लोगों के बीच से निकल गई। लेकिन उस एक सेकण्ड में उसके चेहरे ने न जाने कितनी ही क्रियाएँ कर डाली थीं। वो मेरे पास से चलती हुई निकल गई। लेकिन मुझे ये पता नहीं चला कि उन लोगों की नज़रें उससे क्या कह रही होंगीं? मुझे अभी तक सवाल का जवाब नहीं मिला था।

मुझे अपने दिमाग़ में थकान महसूस होने लगी थी, और मैं सामने दाना खाते हुए कबूतरों को देखने लगी। मैंने फ़ैसला कर लिया कि मैं अब इस सवाल को मुड़कर नहीं देखूँगी। मैं कबूतरों को बड़े ही प्यार से देख रही

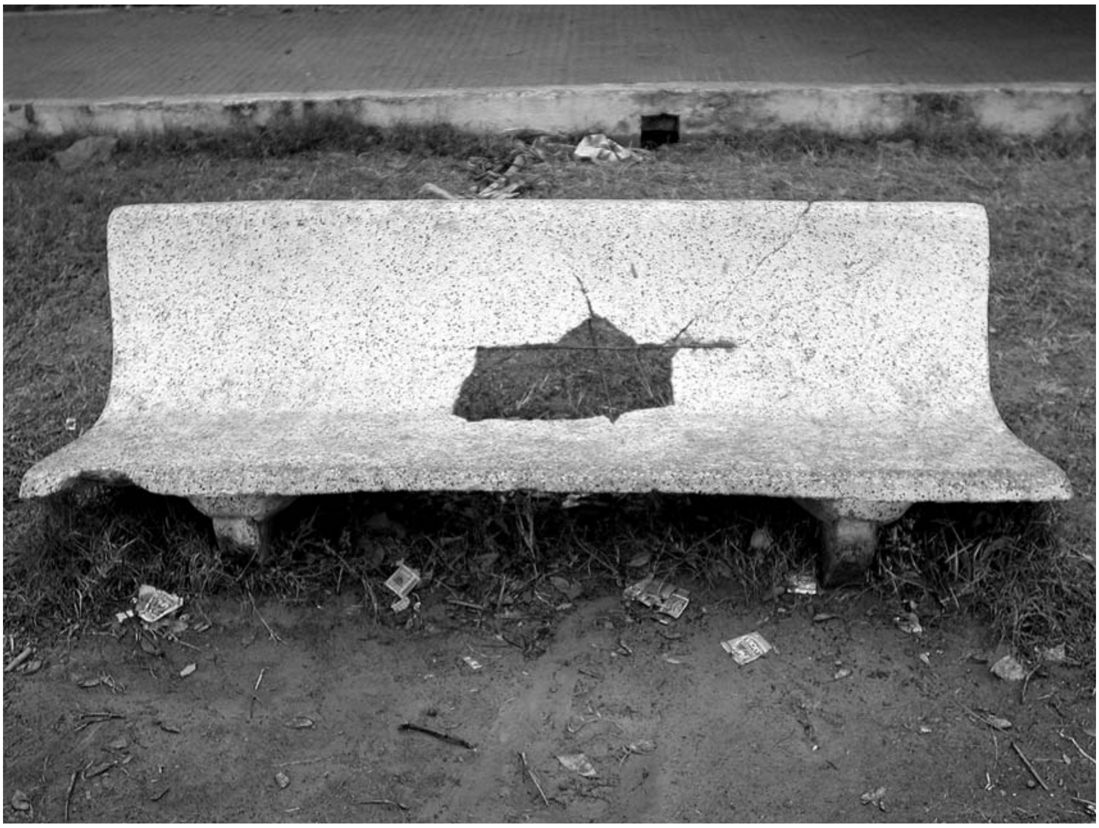
थी। और एक बुज़ुर्ग आदमी को भी, जिसका क़द छोटा था। वो कुर्ता-पजामा पहने हुए था, पैरों में प्लास्टिक के जूते थे जो काफ़ी घिस चुके थे, बाल पके हुए, रंग धूप में जला हुआ लग रहा था। नाक-नक़्शा ठीक ही था। वो आदमी कबूतरों के पीने के लिए मिट्टी के कुण्डों में पानी भर रहा था। वो कुण्डे आधे पानी से भरे हुए थे। आधे ख़ाली होने की वजह से वो ऊपर की तरफ़ को सूख रहे थे। जब वो आदमी कुण्डों में पानी डालता, तो मिट्टी की सोंधी-सोंधी ख़ुशबू मेरे अन्दर से होकर गुज़र जाती। ये बहुत ही ख़ूबसूरत मंज़र था, और इस मंज़र के चारों तरफ़ मुलायम अहसासों का जाल बिछा हुआ था। इन अहसासों में किसी के लिए कोई जगह नहीं थी — न दोस्तों के लिए, न अपनों के लिए, न परायों के लिए, और न ही अतीत के लिए। आज मैंने इतने सालों में पहली बार कुछ लम्हों के लिए अतीत से निजात पाई थी। मुझे नहीं पता कि ये कौन-सा सुकून था जो मेरे अन्दर से रोशनी की तरह निकलता हुआ बाहर तक फैल रहा था। मेरी इन कबूतरों और इस आदमी से नज़र नहीं हट रही थी। वो आदमी बार-बार कबूतरों के बीच में जाकर कुण्डों में पानी डालता और दानों को झाडू से एक तरफ़ इकट्ठा करने लगता। वो कबूतरों के बिलकुल नज़दीक था, लेकिन कबूतर उससे डर नहीं रहे थे। क्योंकि कबूतरों और उस आदमी के बीच दोनों की ही समझ बह रही थी, जिससे जुड़ाव का लॉक लगा हुआ था।

वो आदमी अपना काम ख़त्म करके बाजरे वाले के पास जाकर बैठ गया। मैं भी चलने के लिए उठने लगी। तभी मुझे एक कबूतर नज़र आया जो दाने के लिए दूसरे कबूतर को चोंच मार रहा था। उसके पास काफ़ी दाना बिखरा हुआ था, तब भी वो दूसरे कबूतर की चोंच में से दाना खींचने की कोशिश कर रहा था। ये देखते ही मेरी दृष्टि उन कबूतरों पर और गहरी हो गई और दिमाग़ में कई शब्द घूमने लगे। इसी बीच पीछे से "पीं-पीं" स्कूटर की तेज़ आवाज़ ने मेरा दृष्टिकोण तोड़ दिया। मैंने अपनी गर्दन पीछे घुमाई तो देखा मेरे पीछे एक कम-उम्र का लड़का था। उस ने काली पैन्ट और पैरेट कलर की टी-शर्ट पहनी थी, रंग साफ़ था और आँखें डार्क ब्राउन थीं। वो मेरी तरफ़ ही देख रहा था। मैंने एक फीकी-सी नज़र उस पर डालते हुए अपनी गर्दन घुमा ली और घड़ी में टाइम देखने लगी। अभी साढ़े ग्यारह ही बजे थे। तभी मेरे पीछे से फिर "पीं-पीं" की आवाज़ आने लगी। बालों पर हाथ फेरते हुए मैंने दोबारा मुड़कर देखा तो वही लड़का दूर खड़ा मुझे ही देख रहा था। मैंने उसे ग़ौर से देखा। मेरी आँखों में ग़ुस्सा था, लेकिन उसकी आँखों से शरारत झलक रही थी। दो मिनट वो मुझे देखता रहा, फिर मुस्कुराता हुआ आगे निकल गया। मैं गर्दन घुमाकर अपने नाख़ूनों को देखने लगी और सोचने लगी, "मेरे साथ ऐसे कितने ही हादसे हो जाते हैं जो काफ़ी समय तक याद रह जाते हैं। फिर मैं अपने दिमाग़ के ढाँचे में झाँकने की बजाय इधर-उधर से दाना चुगने की क्यों कोशिश कर रही हूँ? जब मैं बाज़ार की भीड़, बस की भीड़ और रास्ते की भीड़ से गुज़रती हूँ, तो कितनी ही नज़रें मेरी नज़रों से टकराती हैं। भीड़ की उन नज़रों में कहीं तो हवस नज़र आती है, कहीं जल्दी से निकलने की मजबूरी, कहीं शर्मीलापन, कहीं परेशानी की लकीरें, तो कहीं सिर्फ़ ख़ालीपन, जिससे लगता है उन्हें अपने साथ-साथ किसी में कोई दिलचस्पी नहीं।

भीड़ की नज़रें हमसें सिर्फ़ यही नहीं कहतीं कि हटो, "रास्ता छोड़ो"। क्योंकि उसमें एक सोच के इंसान नहीं चलते। उसमें अलग-अलग कैटेगरी के लोग होते हैं। जिस तरह हमेशा मेरी नज़रों में सिर्फ़ जल्दी से निकलने की मजबूरी नहीं होती, उसी तरह उस भीड़ में हमेशा ग़ुंडे, भाई और दोस्त ही नज़र नहीं आते। ये तो अपने-अपने मूड पर डिपेंड करता है, क्योंकि हमारे मूड की वजह से ही हमारी आँखों में बदलाव आता है।

ये तो हुई भीड़ की नज़रें, जो हमसे अनजानी हैं और अपने मूड पर डिपेंड करती हैं। लेकिन उन नज़रों का क्या किया जाए जिन्हें हम जानते हैं, जो हमारे लिए अनजानी नहीं हैं। कभी-कभी वो नज़रें हमें कुछ और ही अहसास करा जाती हैं। तब लगता है, जिन नज़रों को हम जानते हैं, वो तो ये नहीं हैं। फिर ये कौन-सी नज़रें हैं जिनसे हम अनजान हैं? ये नज़रों का बदलाव ठीक-ठाक चलती ज़िन्दगी में घुटन पैदा करता है। वो घुटन, जिसे अगर हम किसी को बताना भी चाहें, तो शायद न बता पाएँ। आख़िर बताएँ भी तो क्या बताएँ? जिसे हम ख़ुद नहीं समझ सकते, वो किसी को क्या समझाएँ? क्योंकि नज़रों की अदालत में गवाह नहीं हुआ करते।


कंप्यूटर
रुकावट
रिश्ते
मस्ती
आवाज़
अकेलापन
बनावट
मज़ा
ज़रिया
नुक्सान



शहर-ए-याद

कब बे दिमाग़ी शहर से देती है जाने मीर।
यूँ तो ख़याले-वादी-ए मजनूँ करू हूँ मैं।।

इस शहर से हम जायेंगे, ख़ल्क़े ख़ुदा, मुल्के ख़ुदा।
हरग़िज न इधर आयेंगे, ख़ल्क़े ख़ुदा, मुल्क़े ख़ुदा।।
(मीर)

ये शहर है कि नुमाइश लगी हुई है कोई।
जो आदमी भी मिला बन के इश्तिहार मिला।।

मेरे तेरे चूल्हों में इतनी आग नहीं थी।
जिससे सारा शहर जला है कोई परचम होगा।।

जिससे भी मिलें झुक के मिलें, हँस के हों रुख़्सत।
अख़लाक़ भी इस शहर में पेशा नज़र आये।।

भीड़ से कट के न बैठा करो तन्हाई में।
बेख़याली में कई शहर उजड़ जाते हैं।।

यह सर्द रात, यह अवारगी यह नींद का बोझ
हम अपने शहर में होते तो घर चले जाते।।

शहर में आके उन्हें भूल गये हम शायद
गाँव के लोग मिले थे वह गिला करते थे।
(निदा फ़ाज़ली)

जाइये इस शहर से ही गिरेबाँ फाड़ कर।
कीजिये क्या ग़म से यूँ, मातम गुज़ारी कीजिये।।

तुम्हारे शहर में बे-चेहरा लोग रहते हैं।
कभी-कभी कोई चेहरा दिखाई देता है।।
(जाँ निसार अख़्तर)

रोज़ इस शहर में एक हुक्म नया होता है।
कुछ समझ में नहीं आता है कि क्या होता है।।

ग़ज़ब में आई रईयत, बला में शहर आया
यह पुरबिये नहीं आये, ख़ुदा का क़हर आया।। (ग़ालिब)

अब नया जुनूँ लपके, आदमी छलक उठे,
आदमी हँसे देखो, शहर फिर बसे देखो।।
(नून मीम राशिद)

चुरा कर ले गयी आहो फ़ुग़ाँ आँधी जो आयी थी
किसी की मौत पर अब शहर में मातम नहीं होता।।
(जमाल ओवैसी)

शोर करते हैं परिन्दे पेड़ कटता देखकर
शहर के दस्ते हवस में कौन आरी दे गया। (नसीम)

ज़िंदगी तूने मुझे क़ब्र से कम दी है जगह।
पाँव फैलाऊँ तो दीवार से सर लगता है।। (बशीर बद्र)

तुम्हारा शहर क्या इसका बदल दे पाऐगा मुझको।
मैं अपने गाँव में सावन बरसता छोड़ आया हूँ।।
(ज़फ़र वस्फ़ी)

बंबई

अजीब बस्ती है!
इसमें न दिन, न रात, न शाम
बसों की सीट से सूरज तुलूअ होता है
झुलसती टीन की खोली में चाँद सोता है
यहाँ तो कुछ भी नहीं
रेल और बसों के सिवा
ज़मीं पे रेंगते बेहिस समुन्दरों के सिवा
इमारतों को निगलती इमारतों के सिवा
(निदा फ़ाज़ली)

कहाँ मेरा इलाहाबाद

आलोक राय

बरसों पहले एक ऐसा अनुभव हुआ जिसने हमेशा के लिए हमारा संबंध अपने शहर इलाहाबाद से बदल दिया या स्पष्ट भर कर दिया, कह नहीं सकता।

पुराने लोगों से बातें करें तो वो अकसर गद्‌गद् कण्ठ से, नम आँखें लिए, इलाहाबाद की सिविल लाइंस की बात करते हैं। सिविल लाइंस, जिसे सब बस 'सिविल्लाइन' कहते हैं, कल्पना में इस बाज़ार का दर्जा कुछ लखनऊ के हज़रतगंज का-सा है। दोनों एक गुज़रे हुए समय और समाज और तौर-तरीक़े का प्रतीक बन गये हैं। ये अलग बात है कि सिविल लाइंस जब वास्तव में सिविल लाइंस थी, तब वहाँ गिने-चुने हिन्दुस्तानियों का ही प्रवेश था। बाक़ी कालू, हम-आप, आ तो सकते थे, लेकिन बतौर नौकर, हम्माल, मोची।

सन् सत्तावन की फ़तह के बाद जब अंग्रेज़ बहादुर ने डरे-सहमे हिन्दुस्तानियों पर अपनी हुकूमत क़ायदे से जमाई तो उसका उत्तर भारतीय केन्द्र इलाहाबाद था। उस ज़माने की बड़ी-बड़ी सरकारी इमारतें आज भी खड़ी हैं: मोटी-मोटी

DHARMASHALA :

1. *Seth Sevaram Channu Lal Sidhiyana*, Mirzapur, Katju Road
2. *Jain Dharmashala*, Zero Road.
3. *Seth Kanji Khetani*, Rameshwar Oil Mills, back of Jamuna bank road
4. *Hindu*, Khoya Mandi, Chowk
5. *Sri Gokuldas Tejwal*, Gaughat,
6. *Sri Marwari*, 30 Sammelan Marg
7. *Lohna*, Yamuna bank Road
8. *Chini*, Zero Road, Swaroop Rani Park
9. *Smt. Chameli Devi*, Hewett Road
10. *Sri Purushottam Das Agarwal*, Zero Road
11. *Sindhi*, Daraganj
12. *Paliwal*, Daraganj
13. *Bhargava*, Daraganj
14. *Vanshidhar Gopal das Rastogi*, Daraganj
15. *Rastogi*, Daraganj
16. *Sahu*, Daraganj
17. *Agarwala*, Daraganj

OTHER ACCOMMODATION :

1. *Y.M.C.A.* 13 Sarojini Naidu Road
2. *Y.W.C.A.*, Kamla Nehru Road
3. *Circuit House*, Hasting Road
4. *P.W.D*, Inspection Bungalow
5. *Jal Nigam Rest House*, Sangam Area
6. *Railway Retiring Rooms*.

BAR AND RESTAURANT :

1. *U.P.S.T.D.C.* (Tourist Bungalow) Bar and Restaurant, Civil Lines.
2. *El Chico Restaurant*, Civil Lines
3. *Kwality Restaurant*, Civil Lines
4. *Tandoor Restaurant*, Civil Lines
5. *Jade Garden*, Tepso Hotel, Civil Lines
6. *Purohit* (Veg.) Leader Road.
7. *Tripti Restaurant*, Katju Road.

GENERAL INFORMATION :

Area	3 Sq. km.
Population	1 million (Approx.)
Height	322 ft. above sea level
Climate	Tropical
Annual Rain fall	40" (1000 mm)
Season	October to April
Language	Hindi, Urdu and English.

IMPORTANT ADDRESSES :

1. *Regional Tourist Office*, 35, Mahatma Gandhi Marg, Civil Lines (tel 53883)
2. *U. P. Automobile Association*, 32A Mahatma Gandhi Marg, Civil Lines
3. *Indian Airlines*, Tashkant Road (Tel. 2832
4. *Vayudoot Airlines*, Yatric Hotel, Patel Road, (Tel. 55707) Telex : 286
5. *Registration Office*, 2-A, Mission Road, Katra
6. *Regional State Archives*, Near Government Inter College Lowther Road.
7. *Wild Life Warden*, (Allahabad & Mirzapur) Vindhya Area 174 C/2 Mehdau
8. *North Central Zone Cultural Centre*, CSP Singh Marg. Ph. : 3207

TRAVEL AND COMMUNICATION :

AIR : bambrauli airport—10 Km. Indian Airlines and Vayudoot flights for Delhi, L

दीवारों पर काई जमी है, एक अजीब उजड़ी उदासी हमेशा तारी रहती है उन पर — इसके बावजूद कि हताश, हड़बड़ाते लोगों की भीड़ कहाँ नहीं है? लेकिन राजधानी तो कबकी कहीं ओर चली गयी। अब तो इन दफ़्तरों में बस छोटे-छोटे लोगों को छोटे-छोटे कष्ट दिए जाते हैं।

अंग्रेज़ बहादुर का यूँ यहाँ पैर जमाने का एक असर ये हुआ कि अन्य सारे यू.पी. के शहरों से ज़्यादा गहरी साहबी संस्कृति की छाप यहाँ पड़ी। लखनऊ का अंदाज़ नवाबी है, भले ही नवाब और उनकी रियाया कब के लुट-पिट चुके हों। बनारस का अपना रंग — जिसके लिए 'बनारसी' के अलावा कोई भी शब्द अपर्याप्त लगता है — इतना गहरा है कि उस पर तो किसी और की छाप पड़ ही नहीं सकती। काली कमली पर काल की परतें तो ज़रूर पड़ती हैं। लेकिन रंग कुछ वैसा ही बना रहता है।

लेकिन इलाहाबाद, और ख़ासतौर से सिविल लाइंस वाला इलाहाबाद — ये तो अंग्रेज़ बहादुर का शहर है। और भी हैं इलाहाबादः गंगा के तट पर, संगम के आस-पास, दारागंज के इर्द-गिर्द, बाँध के किनारे, पंडों का इलाहाबाद है — शाश्वत न सही लेकिन आज की ताज़ातरीन संस्कृति में, जहाँ पिछले साल का अवैध मंदिर रातोंरात 'प्राचीन' हो जाता है, काफ़ी पुराना। अनगिनत लोगों की अस्थियाँ सिरायी गयी हैं यहाँ, सोच के जी सिहर उठता है।

हाँ, ये स्पष्ट नहीं है कि दूसरे इलाहाबाद के बनने से पहले, पहला, यानी पंडों का इलाहाबाद, संगम का इलाहाबद कैसा रहा होगा — क्योंकि बाँध के बग़ैर तो ये सारा क्षेत्र एक कछार बस है, गंगा और जमुना के बीच। जिसे अकबर का बाँध कहते हैं, उसी ने दूसरे इलाहाबाद शहर को संभव बनाया — मुख्यतः एक बड़ी मंडी, जहाँ से मध्यदेश का ग़ल्ला और शायद अफ़ीम, गंगा पे चलने वाले जहाज़ों से कलकत्ते पहुँचता था।

रेलगाड़ी के आने के बाद इस व्यापारी इलाहाबाद का अस्तित्व घटता गया और अंग्रेज़ बहादुर ने नक़्शे पे सीधी-सीधी लाइनें खींच कर एक तीसरे इलाहाबाद को साकार किया। इस इलाहाबाद का हिन्दुस्तान की गली-कूचों वाली सभ्यता से बहुत कम संबंध था। चौड़ी, सीधी सड़कें, बड़े-बड़े हाते, घने पेड़ों से घिरे, गहरे बरामदों वाले बड़े-बड़े बंगले। ये बंगले आज भी अपने आप को घिरा पाते हैं, लेकिन पेड़ों से नहीं, गँजे हुए फ़्लैट्स की बहुमंज़िला इमारतों से — ठिठके-से, कुछ डरे-सहमे, कुछ नई चमचमाती समृद्धि से ललचाए हुए।

इस तीसरे इलाहाबाद का एक अभिन्न अंग वो बाग़ है जिसके नाम तो कई-कई बार बदले, लेकिन जनता जिसे आज भी कम्पनी बाग़ के नाम से जानती है। आज़ादी के बाद तक इसके बीचोंबीच बैन्ड-स्टैन्ड में शाम के वक़्त वर्दीधारी गोरखे सैनिक संगीत बजाया करते थे — और सम्भ्रांत नागरिक अपने बच्चों को सम्भालते-घसीटते आज़ादी और आभिजात्य की हवा खाते थे। कई साल तक तो मोटी रानी विक्टोरिया अपनी संगमरमर की छतरी के नीचे से इस सबका नज़ारा लेती थीं। फिर उस आज़ादी की भावना ने, जो इस शहर में पनपी और जमी थी, एक दिन मलका विक्टोरिया की नाक तोड़ डाली। सम्भ्रांत नागरिक कहीं और चले गए और आज वहाँ गुंडे और शोहदे एक-दूसरे से आमदोरफ़्त बढ़ाते हैं। हाँ, इस बाग़ के ही एक कोने में चन्द्रशेखर आज़ाद को मारा गया था — लेकिन उनका पुतला, अनदेखा ही सही, आज भी अपनी मूँछों पर ताव दे रहा है। वर्तमान भोंडेपन की बाढ़ में डूबते हुए अकसर ये ख़याल आता है कि चौथा, आज़ादी के बाद का, इलाहाबाद कहाँ है — लेकिन 'आज़ादी के बाद' होता क्या है?

नॉस्टेल्जिया के लिए लफ़्ज़ हमारी ज़बान में भले न हों लेकिन बीमारी ख़ूब पायी जाती है। अकसर ही दिल्ली — परदेस में फलते-फूलते हम इलाहाबादी किसी-न-किसी बहाने से इकट्ठा होते हैं। अजनबियों की भीड़ वाले महानगर में एक अजीब तरह का आश्वासन मिलता है — जिधर देखो बस हम ही हम तो हैं! वैसे सुना है कि बिजनौर में रहने वाले भी कुछ ऐसा ही सोचते हैं! कहाँ मेरा इलाहाबाद...

दरअसल बात ऐसी है कि नॉस्टेल्जिया की भावना के पल्लवित-पुष्पित होने के लिए ख़ास उस दूरी की ज़रूरत होती है — भौगोलिक दूरी, काल की दूरी — जिस बिछोह में ये भावना मुखर हो उठती है। और जो भी हो, सौभाग्य या दुर्भाग्य, शहर से मेरा रिश्ता आज भी बरक़रार है। मैं उस इलाहाबाद से परिचित ज़रूर हूँ जो परदेस की इन मण्डलियों में, बातों ही बातों में झट रच लिया जाता है, जीवन्त हो उठता है। अधेड़ लोग अपने

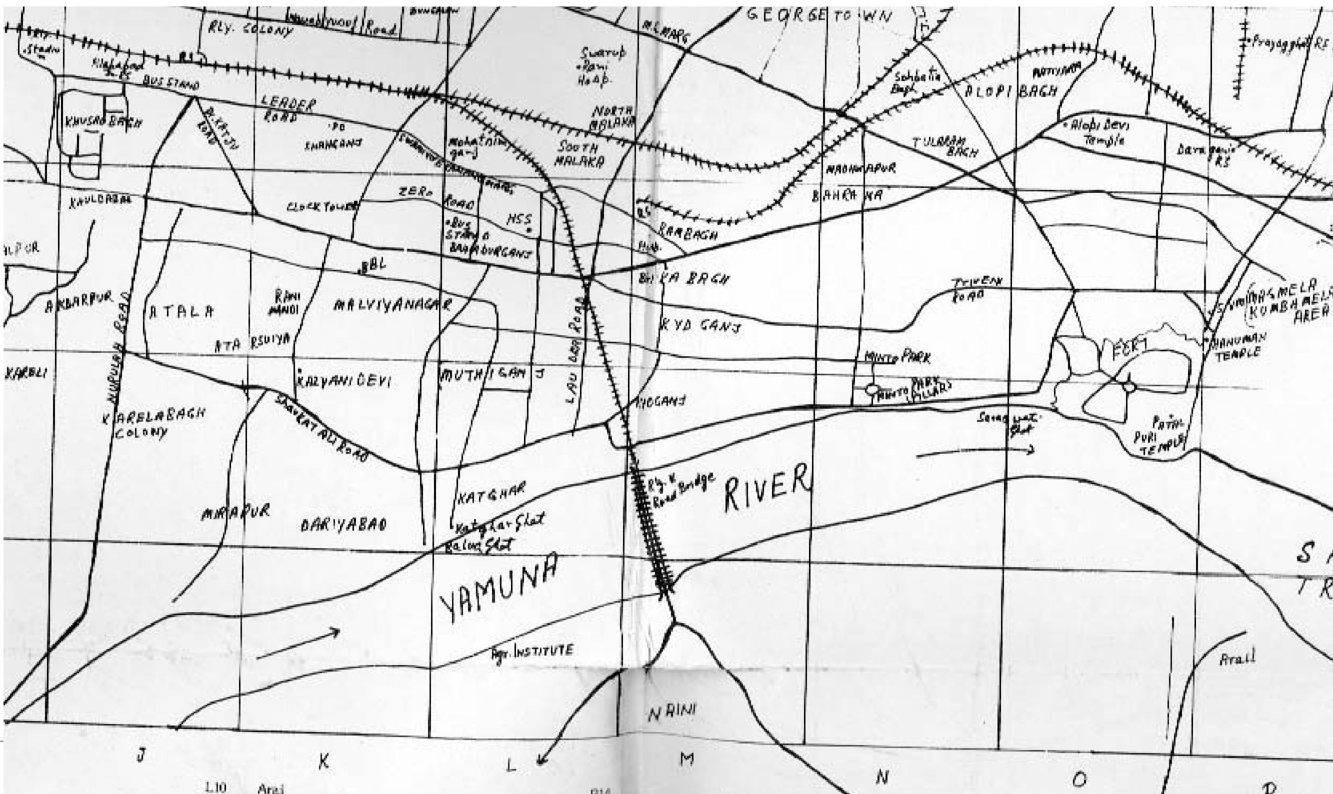
मियाँ-बीवी की खीझ को अनदेखा करते हुए अपने-अपने अतीत के गलियारों में भटक लेते हैं, अपनी टच-रीटच करी हुई जवानी से, कुछ देर के लिए ही सही, दो-चार हो लेते हैं। एक अजीब सोहबत है — सब साथ भी हैं, अकेले भी — अकेले हैं क्योंकि साथ में हैं, साथ आए हैं कि अकेले हो सकें।

लेकिन मैं उस रूमानी इलाहाबाद का बाशिंदा नहीं हूँ। कभी सोचता हूँ अगर माँ-बाप ने इलाहाबाद छोड़ और कहीं घर बसाया होता तो? आख़िर दोनों इलाहाबाद के तो थे नहीं। पिता उमर भर बनारस के लिए हुड़कते रहे। कोई मिल भर जाए जो बनारसी बोले, फिर न तो समय की फ़िकर रहती न सरोकार का आग्रह। अएली-गएली के स्वर ही काफ़ी थे घंटों दिल बहलाने के लिए, वो दिल जो अवधी के रूखे-सूखे अंदाज़ के बीच हमेशा कुछ अजनबी, कुछ अनमना-सा बना रहा।

माँ जबलपुर की, दिल में अल्हड़, उबलती-इठलाती नर्मदा की याद लिए, अपने देस के घने जंगलों की याद लिए — जिनमें कभी हमने भी शेर देखा था। सो बसीं इलाहाबाद में, जहाँ सदियों तक कोई जंगल नहीं, सिर्फ़ गंगा-जमुना की शांत धारा से सिंचित विशाल मैदान, जहाँ लहलहाते खेतों में भूख उगा करती है।

याद है पहली बार जब मुझे ये एहसास हुआ था कि निकटतम समुद्र की दूरी कोई 600 मील है, और इलाहाबाद की समुद्रतल से ऊँचाई कुल 300 फ़ुट! इसके कई दूरगामी असर हुए। एक तो, ये कि मेरे मन में पहाड़ के लिए बहुत स्नेह, बहुत प्यार हो गया। पहाड़ क्यों पहाड़ियाँ ही सही, छोटे-मोटे टीले देख कर जी भर आता है — क्योंकि इलाहाबाद तो साल के कई महीनों महज़ एक तवा-सा लगता है, गंगा-जमुना का मैदानी तवा। लेकिन फिर ये भी लगता है कि शायद ये सपाटता एक तरह की दृष्टि भी देती है, संभव बनाती हैः जो है सो स्पष्ट है और यहाँ की निर्मम रोशनी में छिपाये नहीं छिपता। कहीं पहाड़ियों का उतार-चढ़ाव नहीं, न रहस्यों को छुपाने-सुझाने वाली छाया। भरोसा बस कि हमारे पैर ठोस ज़मीन पर जमे हैं — वो ज़मीन जिसने कितने ही वंशों-राजवंशों, समाजों और संस्कृतियों को आते-जाते देखा है। सभी ने अपने आप को शाश्वत जताया, कालजयी बताया। लेकिन शाश्वत तो सिर्फ़ ज़मीन है, और उस पर खड़ा मेहनतकश इन्सान।

इसीलिए जब बरसों पहले एक औरत ने ज़ोर से, हिक़ारत-भरे स्वर में कहा था — यई ऐ सिविल्लाइन! इस्से जादा रौनक तो हमारे बिजनौर में है! — तो हम बस क्षण-भर के लिए विचलित हुए। फ़ौरन ख़याल आया — ज़रूर होगी!



अट्ठाईस कि.मी. इंग्लिश चैनल

गोपाल प्रधान



जिस कैम्पस से विदा लेकर मैं शाहजहाँपुर गया था, वहाँ अब भी कोई लाइब्रेरी के इर्द-गिर्द गोल चक्कर में भटक कर घंटों घूम रहा होगा और बाहर निकलने का रास्ता पूछने पर बताने वाला कहता होगा कि आपको तो रास्ता खोजते हुए बस घंटे ही बीते हैं, मैं तो बरसों से उसी रास्ते को खोजने की कोशिश कर रहा हूँ। अब भी कोई सुलोचना का प्रेमी 'सुदूर, दूर द्वीपे' स्थित अपनी प्रेमिका को खोजने के लिए लाइब्रेरी की आठवीं मंज़िल पर पहुँचता होगा, और उसके नज़र न आने पर वहीं जान दे देता होगा। अब भी उसकी सड़ती हुई लाश को उठाने का पात्र समझे जाने पर कोई सफ़ाई कर्मचारी अंदर तक ग्लानि की सड़ांध से भर जाता होगा। अब भी कोई मेस में रोटी पर से अमेरिका द्वारा भेजे गए संक्रामक कीटाणुओं को हटाता हुआ पागल समझा जाता होगा और आधुनिकता की ग़ुलामी से बचने के लिए पहाड़ियों से सुराही में भर कर पानी लाता होगा। अब भी कोई वॉर्डन के आने और अतिथियों के बारे में पूछने पर कहता होगा कि हम सब अतिथि हैं, क्या आपको लगता है कि आप यहाँ स्थायी रूप से रहने आए हैं। अब भी मेसों में उलझी हुई अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय परिघटनाओं को समझने के लिए दृष्टिकोण की स्पष्टता अर्जित करते विद्यार्थियों की टिमटिमाती हुई आँखें अतिथियों के प्रवाहपूर्ण भाषण सुनती होंगी।

इस कैम्पस से निकल पाना तक़रीबन एक असंभव काम है, जहाँ बीसों बरस पहले पढ़ाई ख़त्म कर चुके प्राणी किन्हीं लड़कों के कमरों में या बस स्टैंडों और ढाबों के इर्द-गिर्द भटकते हुए पाए जाते हैं। निकलने का कारण उतना सचेतन चुनाव नहीं था, जितना नौकरी करने की मजबूरी था। एम.फ़िल., पीएच.डी. के नाम पर सात बरस के चूहे की तरह संवेदनशील ज़िंदगी बिताने के बाद तीन दिन बरेली के *अमर उजाला* में नौकरी करके

वीरेन डंगवाल की डाँट खा कर अध्यापकी के लिए नियुक्ति पत्र लेकर इस ज़िले के ज़िला मुख्यालय पर पहुँचने के पहले ही इलाहाबाद में नक़्शे पर पैमाने के सहारे यह जान लिया था कि जहाँ नौकरी करनी है वह जगह ज़िला मुख्यालय से 28 किमी. दूर है।

यह दूरी एक टापू तक पहुँचने की जद्दोजहद से भरी हुई थी। पूरे चार बरस रोज़ यह दूरी मैंने जीप पर बैठकर पार की है। इसी क्रम में जीप पर बैठने की आरामदेह जगह तलाशने के तमाम गुर सीखे गए। बहरहाल, पहली बार उस द्वीप पर मैं जीप में नहीं गया। स्टेशन से बाहर निकलते ही शाहजहाँपुर से पुवायाँ की तरफ़ जाने वाली सड़क मिल जाती है। उसी पर खड़ा था कि एक मिनी ट्रक आया। सामान्यतः तो इसका इस्तेमाल सामान ढोने के लिए होता है, यह मानकर चुपचाप खड़ा था कि तमाम लोग उसकी ओर लपके। मैं आगे ड्राइवर की बग़ल में बैठने के लिए बढ़ा। कंधे पर एयर बैग और हाथ में ब्रीफ़केस देखकर ख़लासी ने भी कोई आपत्ति नहीं की। किराया चार रुपये, बड़ा ही आनंद रहेगा। ...एक घंटे में पुवायाँ उतरा।

तहसील और ज़िला

शाहजहाँपुर ज़िले की चार तहसीलों में पुवायाँ एक तहसील है। पूरी तहसील में कुल एक इंटर कॉलेज सन् 1996 में था। उसी से लगे हुए भवन में पहला डिग्री कॉलेज खुला था। यह कॉलेज चीनी मिल की ओर से खुला था, इसलिए इसका नाम था — गन्ना किसान डिग्री कॉलेज। संतोष यह मानकर पाया कि ब्राह्मण कॉलेज, क्षत्रिय कॉलेज, हिन्दू कॉलेज, सनातन धर्म कॉलेज के मुक़ाबले यह अच्छा ही नाम है। तहसील शाहजहाँपुर ज़िले में तो थी, लेकिन इसका लोकसभा क्षेत्र पीलीभीत था, जहाँ से सांसद मेनका गांधी थीं। फिर भी यहाँ की राजनीति पर जितेन्द्र प्रसाद का ख़ासा दबदबा था जो तब राज्यसभा के सदस्य थे। शाहजहाँपुर ज़िले के मुक़ाबले यहाँ कुछ भिन्नताएँ थीं, मसलन पीलीभीत की तरह ही यहाँ सिक्ख समुदाय के लोग काफ़ी थे।

इन्हीं विशेषताओं के कारण इस तहसील को यहाँ के लोग कुछ ज़्यादा ही विशेष मानते हैं। मसलन, आबादी ज़िले की एक चौथाई होने के बावजूद उसे 40 प्रतिशत बताते हुए अकसर लोग पाए जाते हैं। कुछ साल पहले पीलीभीत ज़िले के एक मंत्री विनोद तिवारी पुवायाँ आए थे। कोई माँग न होते हुए भी वे पुवायाँ को अलग ज़िला बनवाने के लिए संघर्ष करने का वादा कर गए। राजनीति के इस नए मुहावरे का इस ज़िले में बहुत प्रचलन है। मसलन, शाहजहाँपुर शहर के विधायक और प्रदेश सरकार में मंत्री सुरेश खन्ना एक ऐसी मीनार बनवाने पर तुले हैं जो कुतुबमीनार से भी ऊँची होगी। उन्होंने ही इस शहर में शहीद पार्क बनवाया है जिसमें उत्तर प्रदेश का दूसरा डांसिंग फाउंटेन लगा है (कानपुर में पहला है)। इसे ही विकास कहा जाता है। पानी न हो, बिजली न हो, पानी निकासी की व्यवस्था न होने से बरसात में शहर बजबजाने लगे, गलियों में सूअर घूमते हों — कोई बात नहीं। भारत की सबसे ऊँची मीनार तो है, डांसिंग फ़ाउंटेन तो है। किसान आत्महत्याएँ कर रहे हों — कोई बात नहीं, हम आपकी तहसील को अलग ज़िला बनवाएँगे।

राजनीति का यह नया मुहावरा राजनीतिज्ञों के आपराधिक रिकॉर्ड और उसके घिनौने चेहरों को छुपाने का मज़बूत हथियार है। मसलन, विकास के प्रतीक सुरेश खन्ना पर अयोध्या आन्दोलन के दौरान एक मुसलमान ट्रक ड्राइवर की हत्या का मुक़दमा ज़िला न्यायालय में चल रहा था। उसका एक चश्मदीद गवाह भी ज़िन्दा है। शहर में यह आम जानकारी है कि उन्होंने यह हत्या करवाई थी लेकिन 'अच्छे आदमी हैं, शहर का विकास कर रहे हैं' के नाम पर कोई इसकी चर्चा भी नहीं करता। मुख्यमंत्री कल्याण सिंह ने इस मुक़दमे को वापस भी ले लिया था। राजनीति की एक दूसरी नेत्री मेनका गांधी राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपने पर्यावरण प्रेम के लिए विख्यात हैं और उनकी इस छवि का उन्हें यहाँ चुनाव में 'प्रचुर लाभ मिलता है'। लेकिन सच्चाई यह है कि दलितों की हत्या कर देने वाले किसानों और भारी मात्रा में सरकारी ज़मीन फ़र्ज़ी नामों से दबाये बैठे भूमिचोरों की जमात ही उनका आधार है। पुवायाँ में उन्हीं क्रशर मालिकों से चन्दा लेकर चुनाव लड़ते उनकी आत्मा नहीं काँपती जो रात-दिन क़स्बे पर सीज़न भर राख उड़ाते रहते हैं। मिथक यह कि काम कराती हैं। धनी किसान लॉबी के लिए राजनीतिज्ञ का यही मतलब है कि नेता अफ़सरों के यहाँ उनका काम करा दे। एक सामंती अंदाज़ है पुवायाँ में। वे आईं और सभा को संबोधित करते हुए कहा कि दो दिन मैं यहाँ हूँ, जिन्हें कोई समस्या हो वे

आकर मिल सकते हैं। मिलने जाइए तो दलालों की भारी फ़ौज सांसद महोदया को घेरे हुए है। ख़ासियत बस एक कि सरकारी अधिकारियों को पीट देती हैं। सभी राजनेताओं की कार्यशैली में एक प्रतीकवाद और आपराधिक वस्तुनिष्ठता का मिश्रण है। मसलन, पूर्व सांसद जितेंद्र प्रसाद मूलतः ब्राह्मण अपराधियों को संरक्षण देने के लिए जाने जाते रहे हैं, तो राजनीति के नए उगते हुए सितारे सुरेश खन्ना अपराधियों की नई फ़सल पैदा कर रहे हैं। सपा नेता सत्यपाल सिंह यादव भी अपराधियों की एक जमात को संरक्षण देते रहे हैं। राजनीतिक नेता, अपराध, आर्थिक साम्राज्य, नौकरशाही पर पकड़ — ये सभी एक दूसरे के साथ घुले-मिले और एक-दूसरे को बल प्रदान करने वाले तत्व हैं।

ज़ेवरात और बंदूक़

यहाँ आते ही दो चीज़ें सबसे पहले अपका ध्यान आकर्षित करती हैं। क़स्बे की छोटी-सी आबादी के बावजूद ज़ेवरात की 70 दुकानें और ज़िला मुख्यालय पर तक़रीबन 500 दुकानें। आख़िर ये सब दुकानें करती क्या हैं? ऊपर से पूछिएगा तो पता चलेगा गिरवी गाँठ का काम होता है। बताते हैं कि चंबल तक का सोना यहाँ गलाया जाता है। वैसे तो बंदूक़ भी एक ज़ेवर की तरह यहाँ के घरों में विराजती है। आमदनी का एक बड़ा हिस्सा असलाह ख़रीदने में ख़र्च होता है। शस्त्र लाइसेंस दिलाना भी नेताओं की एक बड़ी ज़िम्मेदारी है। अफ़सरों के मुँहलगे दलाल इसी के लिए तमाम लोगों को आगे-पीछे दौड़ाते रहते हैं। एक लाइसेंसी असले के पीछे कम से कम पाँच ग़ैर-लाइसेंसी असले मिलेंगे।

आर्थिक लूट के तीन स्रोत परंपरागत रूप से रहे हैः ग्रीन मनी — अर्थात खेती, मुख्यतः गन्ना मिलों के इर्द-गिर्द बना माफ़िया तंत्र, व्हाइट मनी अर्थात ब्राउनशुगर की तस्करी से मिला पैसा और यलो मनी अर्थात सोने के व्यापार से पैदा होने वाला पैसा। इसी के साथ दो नए स्रोतों को जोड़ लीजिए — सांसदों-विधायकों को विकास कार्यों के लिए मिले धन का कमीशन और अपहरण उद्योग। सहकारिता आंदोलन पर पहले कॉङ्ग्रेस की पकड़ थी। भाजपा के प्रभुत्व के बढ़ने के साथ नए समीकरण उभरते हैं। चीनी मिलों में पहले जब पर्चियों के ज़रिए भुगतान होता था तो गन्ना माफ़िया ज़रूरत के वक़्त गन्ना किसानों को गन्ने का औना-पौना दाम लगाकर पैसे दे देता था और बदले में पर्चियाँ रख लेता था जिनका पूरा भुगतान चीनी मिल से होता था। अब चीनी मिलों को अधिकांश समय बंद रखने के लिए क्रशर मालिक डायरेक्टर्स और मिल प्रबंधन को घूस देते हैं, क्योंकि मिल के बंद रहने पर क्रशर में मनमाना दाम लगाकर गन्ना ख़रीदने में आसानी होती है। को-ऑपरेटिव बैंकों में गन्ना किसानों के भुगतान और खेती के लिए जारी क़र्ज़ पर बँधा-बँधाया कमीशन है, जिसका एक हिस्सा संचालकों, नेताओं और अधिकारियों को जाता है।

अपहरण उद्योग के बारे में मुझे एक परिचित के अपहरण और उनकी रिहाई से पता चला। हमारे कॉलेज से बी.ए. करके वह विद्यार्थी एम.ए. में ज़िला मुख्यालय के एक कॉलेज में आया था। बीच में गाँव जाने पर पुवायाँ दशहरा के मेले में गया। वह और उसका एक दोस्त मोटरसाइकिल पर थे। अचानक उनके पीछे से एक सुमो जैसी जीप आई और उसकी मोटरसाइकिल के आगे इस तरह खड़ी हुई कि उन्हें मोटरसाइकिल रोक देनी पड़ी। छह-सात लोगों ने दोनों को उठाकर जीप में लाद लिया और उनके हाथ पीछे बाँध दिए। उन्होंने उनकी आँखों पर पट्टी चढ़ाकर सीट के ऊपर लिटा दिया तथा उनके ऊपर बैठ गए। फिर उन्हें काफ़ी देर चलने के बाद एक जगह उतारा गया। वहाँ से पैदल घंटों चलकर वे पास के एक जंगल में पहुँचे। यह जगह शाहजहाँपुर-बदायूँ की सीमा पर जलालाबाद तहसील में रामगंगा की कहदी कहलाती है। वहाँ उन्हें ज़मीन पर डाल दिया गया और एक-एक रोटी खाने को दे दी गई। भोजन की यह अल्पमात्रा इसलिए दी जाती थी ताकि वे इतने कमज़ोर हो जाएँ कि भाग न सकें। फिर उनकी रिश्तेदारियों में फ़िरौती की रक़म के लिए चिट्ठियाँ भेजी गईं। अपहर्ताओं को इस बात का पता रहता था कि उनके ग़ायब होने की कोई रिपोर्ट लिखवाई गई है या नहीं। इस इलाक़े में दस-पंद्रह बरस से जो पुलिसवाले तैनात हैं, वे कहीं और तबादला हो जाने पर उसे रद्द कराने के लिए राजनीतिज्ञों के ज़रिए अधिकारियों पर दबाव डलवाते हैं।

गिरोह के लोग रोज़ आते और अपने अपहरणों के क़िस्से सुनाते। उसी क्रम में उन्होंने यह भी बताया कि यदि अपेक्षित रक़म उन्हें नहीं मिली तो वह इस 'पकड़' को बड़े गिरोह के हाथों बेच देंगे जो या तो बड़ी रक़म वसूलेगा या उसके शरीर के विभिन्न अंगों को निकलवाकर बेच देगा। इस उद्योग से जुड़े हुए गिरोह मिथकीय महिमा रखते हैं। और गिरोह के मुखियाओं का नाम बड़े अदब से लिया जाता है।

यहाँ कुछ गाँव ऐसे हैं जहाँ के लोग दिन में खेतों में काम करते हैं और शाम को डकैती के लिए निकल पड़ते हैं। पुराने क़िस्म के गिरोह घोड़ियों पर चला करते हैं। मेरे एक मित्र ने बताया कि वे शाम को एक गाँव के क़रीब पहुँचे तो वहाँ के एक बुज़ुर्ग ने सावधान करते हुए कहा कि 'घोड़िन को सजन को टाइम हुइ गयो है।' ये गिरोह पुलिस थानों को नियमित हिस्सा देते हैं जो थाने से 'ऊपर' तक पहुँचता है। फिर 'ऊपर' उसका बँटवारा राजनेताओं और अधिकारियों के बीच होता है।

अधिकारी की मौज

यहाँ अगर किसी अधिकारी की नियुक्ति हो गई तो वह किसी भी स्थिति में तबादला नहीं चाहता। और तो और पशु चिकित्सा अधिकारी भी मालामाल है क्योंकि पशुओं को काटने के लिए उनके बीमार होने का प्रमाण पत्र जारी करने के लिए उनकी फ़ीस नियत है। एक ज़िलाधिकारी महोदय बग़ल के ज़िले के रहने वाले थे। उन्होंने अपने गाँव में अपने माता और पिता के नाम से दो डिग्री कॉलेज खोले जिनके लिए ईंट, सरिया, सीमेंट और पैसा शाहजहाँपुर से जाता था। तमाम अधिकारियों यहाँ तक कि यातायात अधिकारी ने भी दो ट्रक गिट्टी और कुछ पैसा उनको दिया था। पुवायाँ तहसील में चार साल रुकने वाले एक उप-ज़िलाधिकारी ने तक़रीबन पाँच करोड़ रुपये बनाए। उसके यहाँ कोई अधिकारी आए एक अच्छी दुधारू गाय पहुँच जाएगी। उसका चारा भी कोई पहुँचा जाएगा और दूध भी दुहकर उसके घर पहुँच जाएगा। सिर्फ़ छह महीने के लिए उप-ज़िलाधिकारी रहे एक सज्जन ने मारूति ख़रीद ली।

मंडी में जिन व्यापारियों की दुकानें हैं, उनमें से एक व्यापारी अपने तराज़ू के पल्ले के नीचे किलो का बटखरा चिपकाए हुए था। वह अधिकारियों का सबसे चहेता व्यापारी है। ये व्यापारी पूरे साल किसानों को खेती के लिए क़र्ज़ देते हैं। बदले में किसान उन्हीं के यहाँ ग़ल्ला बेचता है। अनाज की क़ीमत में से क़र्ज़ और सूद काट लिए जाते हैं। उस व्यापारी ने अफ़सरों को मौज कराने के लिए क़स्बे में स्वीमिंग पूल बनवा रखा था। इसके अलावा पंजाब से आए लोगों में से भी बड़े किसान, पेट्रोल पम्प मालिक, ट्रैक्टर ट्रॉली के विक्रेता इत्यादि ऐसे लोग हैं जिनके घर अफ़सरों की आरामगाह हैं। अफ़सर को ये सब सुविधाएँ पासपोर्ट बनवाने, हथियारों के लाइसेंस दिलाने, किसी मामले में फँस जाने पर राहत दिलाने और मुख्यतः अवैध काग़ज़ात को क़ानूनी सुरक्षा प्रदान करने के लिए मुहैया कराई जाती हैं।

जंगलात की ज़मीन के अलावा अन्य कई तरह की ज़मीनें हैं जिन पर अवैध क़ब्ज़ा बना हुआ है। मसलन, एक गौसदन है जिसके नाम चार सौ एकड़ ज़मीन है लेकिन इस पर अवैध क़ब्ज़ा है और इसके लिए अकसर हत्याएँ भी होती रहती हैं।

तीज-त्यौहार

पूरे क़स्बे का माहौल उत्सवी है। हरेक दिन कोई न कोई धार्मिक विधि-विधान होता रहता है। रक्षाबन्धन के चार-पाँच दिन आगे-पीछे बसों में भयानक भीड़ होती है। तक़रीबन एक ज़िम्मेदारी की तरह बहनें अपने भाइयों को राखी बाँधने आती हैं।

होली का तो हाल पूछिए मत। क़स्बे में पहली होली के चार दिन बाद पहुँचा तो सब कुछ सूना। सब्ज़ी भी नहीं मिलती। सभी होटल बंद। एक महीना पहले से ही सामने वाले दर्ज़ी महोदय की दुकान रात-रात भर खुली रहती थी। बताते हैं कुछ दुकानदारों की साल भर की आमदनी होली की कमाई ही होती है। ज़िला मुख्यालय यानी शाहजहाँपुर आने पर एक अजीब रस्म का पता चला। शाहजहाँपुर साम्प्रदायिक रूप से 'संवेदनशील' जगह है। आबादी में हिन्दू-मुसलमानों का अनुपात लगभग आधा-आधा है। पहले भी दंगे हुए हैं। होली के दिन ख़ासकर तनाव

बढ़ जाता है। कारण यह कि उस दिन शहर में चार जगहों से नवाब के जुलूस निकलते हैं। एक दिन पहले किसी मुसलमान को कुछ रुपयों के एवज़ में नवाब बनने के लिए राज़ी किया जाता है। फिर रात भर उसे शराब पिलाई जाती है। सुबह शराब के नशे में धुत कर उसे नंगा किया जाता है फिर एक भैंसागाड़ी पर उसे बिठाकर जुलूस निकाला जाता है। रास्ते भर उसे लोग जूतों से पीटते रहते हैं। मकानों के ऊपर से बाल्टी भर-भर कर रंग फेंका जाता है। जिधर-जिधर से जुलूस निकलता जाता है वहाँ-वहाँ रंग बंद होता जाता है। कभी प्रशासन ने इस पर रोक लगाई थी। फिर अदालत से सांस्कृतिक परंपरा के नाम पर स्टे मिल गया है। अब प्रशासन की देख-रेख में यह जुलूस निकलता है। डीएम, एसपी, एसडीएम और तमाम छोटे-मोटे अधिकारियों की निगरानी में मुख्य जुलूस हर साल मुस्लिम बहुल इलाक़े तक पहुँचता है और फिर पत्थरबाजी। नारे भी खुलेआम मुस्लिम विरोधी लगते रहते हैं। एक साल बाद अभी गया तो मोबाइल फ़ोन जगह-जगह बज रहे थे। लेकिन बाक़ी सब जस का तस।

गंगा स्नान एक स्थानीय पर्व है। ट्रैक्टरों में भर-भर कर लोग कार्तिक पूर्णिमा के दिन गंगा नहाने जाते हैं। पिछले साल रेलवे के ऊपर बने फ़्लाई ओवर से एक ट्रैक्टर ट्रॉली पलटकर सीधे नीचे सड़क पर आकर गिरी तो चार मौतें हो गईं।

दर्ज़ियों की बात चली तो याद आया। पूरे शाहजहाँपुर में दर्ज़ी समुदाय की आबादी बहुत ज़्यादा है। प्रसिद्ध अभिनेता (रामगोपाल वर्मा की फ़िल्मों वाले) राजपाल यादव इसी ज़िले के हैं। उन्होंने भी कभी दर्ज़ी बनने का प्रशिक्षण लिया था। दरअसल यहाँ एक प्रतिरक्षा वस्त्र कारख़ाना है। हरेक साल कुछेक युवक उसमें अप्रेन्टिसशिप करते हैं, जिन्हें बाद में जगह होने पर दर्ज़ी की नौकरी मिल जाती है। रिटायर होने के बाद या नौकरी न मिलने की सूरत में ये लोग दुकान खोल लेते हैं। अब्दुल हमीद रहने वाले गाज़ीपुर के थे। पाकिस्तान के साथ सन् 71 की जंग में वे मारे गए थे। दर्जा 8 में शहीदों की जीवनियों के एक संग्रह में मैंने उनकी जीवनी पढ़ी थी। तब सैनिक बनने का सपना भी देखा था। उनके नाम पर शाहजहाँपुर में पुल देखा तो थोड़ा आश्‍चर्य हुआ। पता चला कि वे भी दर्ज़ी समुदाय के थे इसलिए उनके नाम पर इक्कीसी समुदाय सालाना जलसा भी करता है।

इस कारख़ाने में कभी समाजवादियों और वामपंथियों की यूनियन का दबदबा था। अब उसके नाम से रामलीला ही महत्वपूर्ण रह गई है। लेकिन इसे भी कोई छोटी-मोटी चीज़ न समझें। ख़ुद राजपाल भी इसी की पैदाइश हैं। जगदीशचंद्र माथुर, भुवनेश्‍वर से अब तक यह परंपरा सुरक्षित है। शाहजहाँपुर जा कर ही समझ में आया कि *मुझे चाँद चाहिए* की नायिका का घर शाहजहाँपुर में होना कोई आश्‍चर्य नहीं है। नाटक नवयुवकों-युवतियों के लिए मुक्ति का एक रास्ता है। 'गांधी भवन' नामक रंगशाला की मिसाल लखनऊ के अलावा उत्तर प्रदेश में और कहीं नहीं मिलेगी। हरेक साल के नाट्य समारोहों में तक़रीबन सभी महत्वपूर्ण टीमें भाग लेती हैं। इसके अतिरिक्त 'स्पिक मैके' की इकाई होने की वजह से शास्त्रीय संगीत भी लोगों को सुनने को मिल जाता है।

ऑर्डिनेन्स क्लोनिंग फ़ैक्टरी के अलावा चीनी मिलें ही महत्वपूर्ण उद्योग हैं। हालाँकि ज़्यादातर चीनी मिलें सहकारिता क्षेत्र में हैं लेकिन सहकारिता के किसी भाव को जन्म देने के बजाय वे अधिकारियों की जेबें भरने का माध्यम हैं और घाटे में चल रही हैं।

शिक्षा

ज़िला मुख्यालय में एक पुराना अल्पसंख्यक महाविद्यालय गांधी फ़ैजे आम कॉलेज है। इसके अलावा कुछ सनातनी धर्मगुरुओं द्वारा खोला गया स्वामी शुकदेवानंद कॉलेज भी है जिसके अध्यक्ष पूर्व गृहराज्यमंत्री स्वामी चिन्मयानंद हैं। लड़कियों का एक डिग्री कॉलेज आर्यसमाजियों ने खोला है। तमाम कॉलेजों की प्रबंध समिति में झगड़ा-फ़साद चलता रहता है। अब से पहले किसी कॉलेज में छात्र संघ नहीं था और विद्यार्थियों के साथ प्राइमरी स्कूल जैसे अनुशासन के पक्षधर आम तौर पर अध्यापक हैं। ईसाई लोगों द्वारा स्थापित नेवटेक्निकल इंस्टीट्यूट है जिसके अध्यक्ष आशीष मैसी भाजपा के सक्रिय सदस्य हैं।

कॉलेजों के बाहर कुछ बेहतरीन पढ़ने-लिखने वाले लोग हैं जिनमें एक हृदयेश हिन्दी कहानी में महत्वपूर्ण शख़्सियत हैं। 75 साल के ऊपर के होने के बावजूद सक्रिय हैं। सोने के पुराने व्यापारी श्याम किशोर सेठ हिन्दी

की एक महत्वपूर्ण पत्रिका का संपादन किया करते थे। स्थानीय स्तर पर ज़िलाधिकारी के निजी सहायक चंद्रमोहन भी पढ़ते-लिखते रहते हैं। यही वह मंडली थी जिसके सहारे छह साल का जीवन चल सका।

बाहर की आँख शायद ज़्यादा ही विशेषताओं पर ज़ोर देती है। मसलन, पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मेरे मित्र पहले दोपहर में सोने की आदत पर मुझे गाली दिया करते थे। यहीं आकर मैंने देखा कि पुवायाँ या शाहजहाँपुर में मुझे दोपहर में सोता कोई नहीं दिखाई पड़ा। 'दुकान मेरा मंदिर' का अर्थ भी यहीं समझा। हर कोई अपनी दुकान पर पूरी तरह फ़िट-फ़ाट होकर दिखाई पड़ता है। पूर्वी इलाक़ों में संयुक्त परिवार एक ऐसा आदर्श है जिसके न होने पर अफ़सोस आप हर किसी के मुँह से सुनिएगा। लेकिन इस इलाक़े में विवाह के बाद लड़के को पारिवारिक संपत्ति में उसका हिस्सा देकर अलग कर देना बुरा नहीं समझा जाता।

एक हद तक व्यापारिक संस्कृति के हावी होने के कारण मेरे ट्यूशन न पढ़ाने पर लोगों को अचरज होता था। हर कोई शादियों में जाने के लिए सूट सिलवाकर रखता है। बच्चे के 16 साल का होते-होते उसे धंधे में डालने की हड़बड़ी रहती है। शायद हरेक शहर ऐसा ही होता हो लेकिन यहाँ के लोग पूरब यानी बनारस के लोगों को काहिल और दरिद्र समझते हैं। यहीं आकर मैंने ईमानदार और बेईमान की नई परिभाषा सुनी और समझी। ईमानदार वह अधिकारी या कर्मचारी है जो घूस लेकर काम कर दे। जो पैसा लेकर भी काम न करे बेईमान तो उसे ही कहा जाएगा। इसे शाहजहाँपुर में जुगाड़ कहते हैं। इसे हँसी में लोग टेकनीक भी कहते हैं।

तो जुगाड़/टेकनीक के काम करने का तरीक़ा कुछ इस तरह था। बैलगाड़ी में बैल की जगह डीज़ल इंजन लगाकर उसे चलाते हुए गाड़ी पर कुछ सामान लेकर लोग खेत तक जाते। फिर इंजन को कुएँ में लगाकर खेत में पानी पटाते और फिर उसी तरह वापस आ जाते। इसे वहाँ 'मारूता' कहते हैं। 'मारूति' का मर्दाना संस्करण। इसी से थोड़ी दूरी तक सवारियाँ भी किराए पर ढोई जातीं। कहते हैं देवेगौड़ा के ज़माने में इस टेकनीक के बारे में अमेरिकी राष्ट्रपति बिल क्लिंटन ने सुना तो भारतीय प्रधानमंत्री से इसके निर्यात की गुज़ारिश की। देवेगौड़ा जी ने कहा कि उसी टेकनीक से तो मेरी सरकार चल रही है निर्यात कैसे करूँ? इस टेकनीक से सारे काम हो जाते हैं। ऐसा भरोसा यहाँ के लोगों को था। कॉलेज में ऐडमिशन हो चुके हैं। रास्ते में एक सज्जन नमस्कार कर ऐडमिशन के लिए पूछते हैं। बताता हूँ — 'अब कोई संभावना नहीं है।' 'कोई जुगाड़ नहीं हो जाएगा?' प्रश्न है।

आबादी में ब्राह्मण समुदाय की बहुतायत है लेकिन पेशे के लिहाज़ से पिछड़ापन नहीं है क्योंकि हरेक पेशे में ब्राह्मण समुदाय के लोग हैं। खेती में धनी, हथियार से लैस और जातीय अहंकार, ऊपर से खान-पान की शुद्धता का अतिरिक्त आग्रह। सभी प्रकार के अपराधों में भी लिप्त। कॉलेज में एक सज्जन एक छात्र की सिफ़ारिश के लिए आए। मैंने परिचय पूछा तो बोले मुझे नहीं जानते? मैं धारा 376 का मुजरिम हूँ। मैं तो सन्नाटे में आ गया। बाक़ी समुदायों में ब्राह्मण विरोध इसीलिए बहुत ज़्यादा है। यह समुदाय एक क़बीले की तरह रहता है। कोई आदमी उतना ही ताक़तवर हैं जितने ताक़तवर उसके रिश्तेदार हैं। ताक़त का मतलब बन्दूकें। जिसके पास बन्दूक़ का लाइसेंस है उसके पास शादियों में जाने के लिए सर्वाधिक निमंत्रण आते हैं। फिर तो फ़ायरिंग का कम्पीटिशन होता है। कहते हैं कई लोग इसमें मारे भी जाते हैं।

पुवायाँ और शाहजहाँपुर के व्यापारियों ने बताया कि शुरू-शुरू में कुछेक गाँवों के लोग दुकानों पर से ज़बरदस्ती सामान उठा ले जाते थे। फिर व्यापारियों ने दुकानों पर बतौर नौकर उन्हीं गाँवों के दबंग लोगों के बच्चों को रखना शुरू किया। इसे 'कुत्ता रखना' भी कहा जाता है।

सूदखोरी यहाँ मुख्य धन्धा है। सूद पर रुपया चलानेवालों को पेशेवर लोग रुपया देते हैं 2.5 प्रतिशत छमाही के चक्रवृद्धि ब्याज पर। वे इसे बाक़ी क़र्ज़ माँगनेवालों को 4 प्रतिशत छमाही चक्रवद्धि ब्याज पर देते हैं बदले में गिरवी के बतौर कोई आभूषण रखा जाता है। इसे ही 'गिरवी गाँठ' कहते हैं। खेतों में फ़सलों के साथ उगने वाले खरपतवार को गुल्ली-डंडा कहा जाता है। 'खरपतवार नाशक' की बजाय 'गुल्ली-डंडा से छुट्टी'। उलटने को 'लौटना' बोलते हैं। 'दूध लौट दिया'। शाहजहाँपुर शहर के बीच एक सड़क खड़ी माँग की तरह आर-पार गुज़रती है। इसे नागार्जुन जी 'सदा सुहागिन सड़क' कहते थे।

पत्रकारिता आम तौर पर क़स्बाई है। विज्ञापन लेने के लिए अफ़सरों के यहाँ पत्रकारों को घूमते-फिरते देखा

जा सकता है। एक पत्रकार अपने पेशे के बल पर दो-दो अवैध जीपें चलवाते थे। एक पत्रकार के यहाँ क्रशर मालिक खांडसारी पहुँचाते थे। हमारे प्रिंसिपल कहते — लोकतंत्र के चौथे खम्भे की क़ीमत दो बोरा चीनी है। इसी में युवकों की भारी फ़ौज कॉलेजों से किसी तरह डिग्री हासिल करने के लिए कुंजियों और ट्यूशन के सहारे परीक्षा में उतरती है। असफल लोग नाटक में अपनी क़िस्मत आज़माते या फिर छोटा-मोटा धंधा कर लेते हैं। किसी दिन स्थिरता हासिल होगी इसी आशा से आपाधापी में लगे रहते और बूढ़े हो जाते हैं।

शाहजहाँपुर के मेरे मित्र कुलदीप भागी के ज़िक्र के बग़ैर तो बात अधूरी ही रह जाएगी। शहर के आलीशान सिनेमा हॉल, *निशात टॉकीज़* के मालिक श्री भागी फ़िल्म और टेलीविज़न संस्थान, पूना में पढ़े थे तथा शाहजहाँपुर में लगातार अपने स्तर के लोगों को बातचीत के लिए ढूँढते रहते थे। बासु भट्टाचार्य की फ़िल्म *तुम्हारा कल्लू* में उन्होंने अभिनय भी किया था। इस वजह से उनका एक नाम कल्लू भी था। शाम को दारू पी लेते और चटनी से लेकर सिगार तक हर विषय पर बातचीत करने में सक्षम हो जाते। मेरे शुभाकांक्षी होने के नाते हमेशा मुझे शाहजहाँपुर छोड़ने की सलाह देते रहते। इसीलिए अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा से अस्थायी नियुक्ति का पत्र मिलते ही मैंने उनकी इच्छा का सम्मान किया और उत्तर आधुनिक समय में कूद पड़ा। वह कहानी फिर कभी।

यादों से रची दिल्ली

विनय श्रीवास्तव

मैं एक समाजशास्त्री हूँ और अर्बन सोस्यॉलजी (urban sociology), यानी जिसे शहर का समाजशास्त्र कह सकते हैं, उसमें मेरी विशेष दिलचस्पी है। उस पर तरह-तरह का लेखन है कि शहर किस तरह से बने, शहरीकरण किस तरह से हुआ, शहर किस तरह से बढ़े और किस तरह से लोग गाँव से शहर पलायन कर रहे हैं। शहर की समस्याएँ क्या हैं? शहर का वास्तुशास्त्र क्या है? शहर के लोग कैसे हैं? लेकिन शहर का प्रभाव एक आदमी के बौद्धिक कार्य पर कितना पड़ता है, उस पर ज़्यादा लिखा नहीं गया है। मिसाल के तौर पर अगर मैं दिल्ली में न रह कर केम्ब्रिज में अपना काम कर रहा होता तो मेरी बौद्धिक गतिविधियों पर क्या फ़र्क़ पड़ता? जो केम्ब्रिज का सामाजिक वातावरण है, जो सांस्कृतिक वातावरण है, सबका क्या प्रभाव पड़ता? या मैं केम्ब्रिज में न होकर अगर बनारस में होता या शिमला में होता, या मुम्बई में होता, तो? इस फ़र्क़ को समझने के लिए हमें थोड़े-बहुत आत्मकथात्मक लेखन की ज़रूरत है जिसमें जो बुद्धिजीवी हैं चाहे वो इतिहास के हों, अर्थशास्त्र के हों, दर्शनशास्त्र के हों, मनोविज्ञान के हों या समाजशास्त्र के, जिस भी विषय से वे आते हैं वे यह देखें कि इस शहर का उन पर क्या प्रभाव पड़ा है? इस शहर ने किस तरीक़े से मेरी सोच को, मेरी समझ को गढ़ा और जिन क्षेत्रों में मेरी रुचि हैं, जिन पर मैं शोध कर रहा हूँ, उनकी समझ को बेहतर बनाया।

मैंने एक बहुत अच्छा लेख पढ़ा था। वो प्रो. एम.एन. श्रीनिवास का है और उनकी किताब *इंडियन सोसायटी थ्रू पर्सनल राइटिंग्स* में छपा है। यह किताब 1996 में छपी जिसमें 36 पृष्ठों का यह लेख भी है। लेख का नाम है — 'बैंगलोर एज़ आई सी इट'। मेरे ख़याल से जो मैं कहने जा रहा हूँ वह उस लेख के एक वाक्य से प्रेरित हैः Bangalore has been a part of my consciousness ever since I can remember. जब श्रीनिवास ने दिल्ली विश्वविद्यालय छोड़ा तो बैंगलोर जाकर बस गए। उन्होंने अपने बहुत से लेखों में जो उदाहरण दिए उनमें बैंगलोर के ज़्यादा थे और दिल्ली के कम। हालाँकि उन्होंने दिल्ली में समाजशास्त्र विभाग स्थापित किया और इसको सेंटर फ़ॉर एडवांस्ड स्टडीज़ बनाया, पर दिल्ली का उन पर उतना असर नहीं था। और अगर मैं अपने आपको देखूँ तो जिस तरीक़े से बैंगलोर का श्रीनिवास के ऊपर असर रहा उस तरीक़े से दिल्ली का और ख़ासकर पुरानी दिल्ली का असर मुझ पर रहा। मैं दिसम्बर 1952 में दिल्ली में पैदा हुआ नई सड़क की एक गली में जिसका नाम सट्टेवाली गली है। आज शायद लोग उस गली को नहीं जानते, लेकिन कहते हैं कि एक ज़माने में वहाँ सट्टा खेला जाता था और सट्टे के जो नम्बर थे वे लोगों के दरवाज़े पर लिखे जाते थे। बहुत पुरानी बात है। मैंने तो अपनी ज़िंदगी में देखा नहीं है। लेकिन आज भी लोग उसे सट्टेवाली गली के नाम से जानते हैं। उसी सट्टेवाली गली में घुसते ही पहला मकान जहाँ था, वहाँ मैं पैदा हुआ। और उसके बाद मेरी परवरिश हुई हौज़ क़ाज़ी की एक गली में जिसका नाम है 'पीपल महादेव'। पीपल महादेव तो पूरी गली का नाम है, उसमें भी एक छोटी गली है 'गली जोशी वाली' क्योंकि वहाँ पर एक वैद्यजी हुआ करते थे। बिलकुल गली के नुक्कड़ पर उनकी छोटी-सी दुकान हुआ करती थी और वो जोशी जी कहलाते थे। भगवान दास जोशी उनका पूरा नाम था। आज भी मेरा ख़याल है लोग उसको जोशी वाली गली के नाम से ही जानते हैं। कम से कम जो पुराने लोग

हैं वो उसे जानते हैं। तो वहाँ मेरी परवरिश हुई और वहाँ आसपास के स्कूलों में मैं पढ़ा और दिल्ली युनिवर्सिटी में भी पढ़ा और इस पूरी यात्रा में मतलब 1986 या 1987 तक कह लीजिए मैं पुरानी दिल्ली में रहा। उसके बाद हम ग़ाज़ियाबाद चले गए और फिर हम दक्षिणी दिल्ली में आ गए। मेरे तो तक़रीबन चालीस-बयालीस साल पुरानी दिल्ली में गुज़रे। और आज भी हमारा घर है पुरानी दिल्ली में। हम उसमें जाते हैं और घर को साफ़ करा कर रखते हैं। उसी गली में यानी जोशी वाली गली में मेरे नाना का घर आज भी है। नई सड़क वाले घर में जिसमें मैं पैदा हुआ था वह घर भी है और मेरे कुछ ताऊ-चाचा उस घर में रहते हैं। तो इससे मेरा संबंध बना हुआ है। एक समाजशास्त्री होने के नाते हम जब किसी भी फ़ेनॉमेनन को देखते हैं, चाहे वो शहर हो या गाँव, तो एक तुलनात्मक अध्ययन करते हैं कि जो पहले था, क्या वैसा आज है? हम जहाँ कहीं भी जाते हैं चाहे वो इंदौर हो, लखनऊ हो या चंडीगढ़ हो, हम वही तुलनात्मक अध्ययन करते जाते हैं। समाजशास्त्र में हम यह मानते हैं कि हर आदमी तुलनात्मक दृष्टि से देखता है। लेकिन एक समाज वैज्ञानिक की ख़ासियत यह होती है कि वो इस तथ्य से अवगत होता है कि वो तुलना कर रहा है।

आज जब मैं पुरानी दिल्ली जाता हूँ, मुझे वाक़ई विश्वास नहीं होता कि यह वही जगह थी जहाँ मैं बड़ा हुआ, जहाँ मैं रहा, जहाँ की गलियों और बाग़ों में मेरी परवरिश हुई। मैं तहेदिल से यह बात कह रहा हूँ कि आज उस घर के अन्दर जाने के बाद शायद अच्छा लगता है लेकिन बाहर बिलकुल नहीं। कई दफ़े मैं यह सोचता हूँ कि हम यहाँ कैसे रहे? और आज तो वहाँ रहना बिल्कुल नामुमकिन सा लगता है। इतनी ज़्यादा भीड़ है, और उससे ज़्यादा गंदगी है। ऐसा पहले नहीं था।

जब आजकल के माँ-बाप कहते हैं कि बच्चे बहुत उद्दंड हो गए हैं, बहुत माँग करते हैं, अपने माँ-बाप की उँगली पकड़े रहते हैं और बहुत तंग करते हैं तो मैं भी उनसे कहता हूँ कि हमने कभी ऐसा नहीं किया। हमने अपने माँ-बाप को ऐसी तकलीफ़ नहीं दी जैसी आजकल के बच्चे दे रहे हैं। वो जितने डिमांडिंग हैं, इसका क्या कारण है? हो सकता है मैं थोड़ा सा ग़लत होऊँ लेकिन मैंने काफ़ी तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह देखा है कि उस ज़माने में हमारा जितना भी सामाजिक जीवन था, वह गलियों में गुज़रता था। मैं अपने पूरे बचपन को सामने रखते हुए बोल रहा हूँ कि हम अपने घर में जाते थे तो सोने के लिए या खाना खाने के लिए। बाक़ी सारा दिन हम गलियों में घूमते रहते थे। मुझे अच्छी तरह से याद है कि घर के शौचालयों का बच्चे इस्तेमाल नहीं करते थे क्योंकि हमें यह डर लगता था कि कहीं हमारा पाँव उसके छेद में न चला जाए। उस ज़माने में फ़्लश लैट्रिंस नहीं हुआ करती थीं। हमसे कहा जाता था कि हम गली की नालियों में बैठें — पेशाब-टॉयलेट के लिए हम उन्हीं का इस्तेमाल करते थे। 'बम्बे' जिसको हैंडपम्प बोलते हैं, पर हम नहाया करते थे गली के नुक्कड़ पे। पीपल महादेव गली में आज भी वो हैंडपम्प है जो उस ज़माने में था और जिस पर हम नहाया करते थे। दो-तीन बच्चे चले आया करते थे, एक चलाता था और दूसरा नहाता था। तो गलियों में ही नहाना, गलियों में ही ब्रश वग़ैरह करना, गलियों में ही खेलना। वहीं पर क्रिकेट और गुल्ली-डंडा। हम बच्चे अपना सारा समय गलियों में गुज़ारा करते थे। गली कल्चर जिसको मैं कहूँगा — गली की अलग संस्कृति। यही नहीं हमारे बुज़ुर्ग यानी हमारे पिता, हमारे दादा, हमारे नाना ये भी काफ़ी हद तक गलियों में बैठा करते थे। गली में ही चारपाई बिछा ली और उस पे चौपड़ खेली जा रही है, शतरंज खेली जा रही है। मुझे याद आ रहा है कि मेरे नाना शतरंज के बहुत बड़े खिलाड़ी, मतलब गली के खिलाड़ी थे। और शतरंज गली के बिलकुल बाहर खेली जाती थी। क्योंकि यह कहा जाता था कि शतरंज को कभी घर के अन्दर नहीं खेलना चाहिए। ताश का उतना रिवाज नहीं था। और ताश को खेलना बहुत ग़लत माना जाता था, ताश के बारे में कहा जाता था कि जो लोग जुआरी हैं वो ताश खेलते हैं। चौपड़ और शतरंज का जुए से कोई संबंध नहीं था। इसीलिए कहा जाता था "शतरंज करे रंज, ताश करे सत्यानाश"। और चौपड़ के बारे में कहा जाता था "मर्यादा को भंग करे मन में लाए कपट, खेल-खेल के चौपड़ हो गए पांडव चौपट।" यानी इन्हें घर में नहीं खेलना है।

घर के बाहर चारपाई पर बैठ के लोग खाना खाते थे, घर से खाना मँगाते थे, घर से चाय बन के आती थी और लोग बतियाते रहते थे। बतियाने की जो संस्कृति थी वो गली की थी। जिस तरीक़े से बच्चे गली के बाहर रहते थे उस तरीक़े से बड़े भी सारा दिन घर के बाहर बैठे रहते थे। तो ऐसे सामाजिक जीवन में तो चोरी का

मतलब ही नहीं था जहाँ लोग ख़ुद ही चौकसी कर रहे होते थे। बहुत सारे लोग गली में ही सोया करते थे सिर्फ़ इस वजह से कि घर में घुटन-सी होती थी। उन दिनों लोड शेडिंग नाम की चीज़ नहीं होती थी। घर की औरतें घर में ही रहा करती थीं जिनका एक अलग सामाजिक जीवन हुआ करता था। आसपास की औरतें मिलकर घर के पापड़ बनाया करती थीं। मुझे अच्छी तरह से याद है कि आलू को काट कर, उसे सुखा कर, घर में ही चिप्स बना लिए जाते थे। बड़ियाँ — जो बड़ी ख़ास चीज़ है, मूँग की दाल की, चावल की बड़ियाँ वो भी घर में ही मिल कर बनाई जाती थीं। कई दफ़ा छोटे-छोटे बच्चों को जो गली में खेलने लायक़ नहीं होते थे उन्हें छत पर चौकसी करने के लिए इन चीज़ों के पास बिठाया जाता था।

मैं यह नहीं कहूँगा कि ये गली संस्कृति दिल्ली तक ही सीमित थी मैंने जो थोड़ा बहुत आगरा के बारे में पढ़ा है उससे हम इस संस्कृति को 'गली की रिवायत' या गली के रहने-सहने का ढंग भी कह सकते हैं। मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि तब गली को बुरा नहीं समझा जाता था। आज जो ये कहा जाता है कि ये तो गली-मुहल्ले के लोग हैं, तब उसे इस अर्थ में नहीं लिया जाता था। ऐसा इसलिए कि तब आज की तरह बेघरबारी नहीं थी। ये बाहर और अन्दर का जो फ़र्क़ है ये अगर आप समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखें तो पहले नहीं होता था। आज बहुत है। आज मैं अपने घर के बाहर निकलूँगा तो बिल्कुल नहा-धो कर, अच्छे कपड़े पहनकर। लेकिन मुझे अच्छी तरह से याद है कि मेरे नाना जो सरकारी मुलाज़िम थे, रिटायर हुए उसके बाद वो कई मर्तबा घर से बाहर सब्ज़ी वग़ैरह लेने जाते थे सिर्फ तहमद पहने हुए। तहमद और नीचे चप्पल और कोई कपड़ा नहीं। और सारा दिन वो गली में बैठे रहते थे। अगर वो खेल रहे हैं, शतरंज या चौपड़ खेल रहे हैं तो भी वो सारा दिन वैसे ही बैठे रहते थे क्योंकि घर और बाहर का वो फ़र्क़ उनके लिए नहीं था। आज यह इतना ज़्यादा है कि घर में आप एक तरह से रहेंगे और बाहर किसी और तरह से। ये जो अंदर-बाहर के खाँचे हैं, वे पुनर्परिभाषित हो गए हैं।

औरतों और मर्दों की ज़िन्दगी एक फैले हुए सामुदायिक जीवन का हिस्सा थी। मेरी माँ आसपास के लोगों के साथ मिलकर रहती थीं। हमारे एक पड़ोसी हुआ करते थे, रावत परिवार। उनके बारे में हमारी नानी ये कहा करती थीं कि वे पत्ते के दोने यानी सकोरे बनाया करते थे। लेकिन बाद में उन्होंने यह काम छोड़ दिया क्योंकि उनके पिता एक वकील के मुंशी हो गए। लेकिन उपनाम रावत ही रखा। हमारी दूसरी तरफ़ एक शर्मा परिवार रहता था। शर्मा जी भी सरकारी मुलाज़िम थे। हमने इन दोनों को कभी न तो रावत परिवार के नाम से जाना, ना तो शर्मा परिवार से। रावत परिवार के मुखिया धर्मप्रकाश जो वकील के मुंशी थे, वो मेरी माँ के भाई बने हुए थे और चूँकि मेरी माँ का कोई भी सगा भाई नहीं था, इसलिए हम उनको मामा माना करते थे। हमने कभी भी धर्मप्रकाश जी को एक दूसरे परिवार का नहीं माना। उसी तरह से शर्मा परिवार था जिसके साथ हमारा ऐसा संबंध था जिसे समाजशास्त्र की भाषा में 'प्यूटेटिव' या 'फ़िक्टिव किनशिप' कहते हैं, जिसमें पड़ोसी से बिल्कुल रिश्तेदार जैसे संबंध होते हैं। वाक़ई पुरानी दिल्ली में कहा जाता था कि आपके सगे रिश्तेदार तो बाद में आएँगे सबसे पहले आपके पड़ोसी आएँगे। तो सबसे पहले आपके पड़ोसी ही आपके पहले रिश्तेदार हैं और कहा जाता था कि अपने पड़ोसियों की इज़्ज़त करें क्योंकि वही आपके सब कुछ हैं। इस सबके साथ जो एक चीज़ जुड़ी थी वो ये कि तब मोबिलिटी बहुत कम थी यानी भौगोलिक मोबिलिटी। मोहल्ला छोड़ के कहीं और जाना, घर को बेच के कहीं और जाना इस तरह की चीज़ बिल्कुल नहीं थी। व्यावसायीकरण उस इलाक़े का नहीं हुआ था। दुकानें बिल्कुल नहीं थीं। मुझे अच्छी तरह से याद है कि पीपल महादेव गली के सामने बड़ी ऊँची-सी दीवार थी और उसके पीछे घर थे लेकिन कोई दुकान नहीं थी। आज वहाँ घर-घर में दुकानें बनी हुई हैं, घर-घर के अन्दर बाज़ार बने हुए हैं। पहले ऐसा नहीं था। तो हमारे लिए जो हमारा हाउसहोल्ड था वो हमारा सिर्फ़ घर नहीं बल्कि जहाँ पीपल महादेव गली का बम्बा है वहाँ से लेकर मेरे घर तक सारा एक ही घर था। अन्दर जाकर एक हनुमानजी का मंदिर है। हम हर रोज़ हनुमान जी के मंदिर जाया करते थे और वहाँ पर प्रसाद चढ़ाना, पूजा करना होता था। उस समुदाय का जीवन एक तरह से गाँव का जीवन था। उस तरह के छोटे-छोटे समुदाय वो गली-मुहल्लों में थे; पीपल महादेव में, कूचा दिलवाली सिंह में, हकीम बका में, सीताराम बाज़ार में, और इन सबके बाहर एक चारदीवारी थी। अजमेरी गेट, तुर्कमान गेट, मोरी गेट और उसके बाहर का इलाक़ा जो था, वो वाक़ई बाहरी माना

घर के बाहर चारपाई पर बैठ के लोग खाना खाते थे, घर से खाना मँगाते थे, घर से चाय बन के आती थी और लोग बतियाते रहते थे। बतियाने की जो संस्कृति थी वो गली की थी। जिस तरीक़े से बच्चे गली के बाहर रहते थे उस तरीक़े से बड़े भी सारा दिन घर के बाहर बैठे रहते थे। तो ऐसे सामाजिक जीवन में तो चोरी का मतलब ही नहीं था जहाँ लोग ख़ुद ही चौकसी कर रहे होते थे। बहुत सारे लोग गली में ही सोया करते थे सिर्फ़ इस वजह से कि घर में घुटन-सी होती थी। उन दिनों लोड शेडिंग नाम की चीज़ नहीं होती थी। घर की औरतें घर में ही रहा करती थीं जिनका एक अलग सामाजिक जीवन हुआ करता था। आस-पास की औरतें मिलकर घर के पापड़ बनाया करती थीं। मुझे अच्छी तरह से याद है कि आलू को काट कर, उसे सुखा कर, घर में ही चिप्स बना लिए जाते थे। बड़ियाँ – जो बड़ी ख़ास चीज़ हैं, मूँग की दाल की, चावल की बड़ियाँ वो भी घर में ही मिल कर बनाई जाती थीं। कई दफ़ा छोटे-छोटे बच्चों को जो गली में खेलने लायक़ नहीं होते थे उन्हें छत पर चौकसी करने के लिए इन चीज़ों के पास बिठाया जाता था।

जाता था। हमसे कहा जाता था कि अजमेरी गेट के बाहर मत जाओ और रात के वक़्त तो बिल्कुल नहीं। हालाँकि दिल्ली कॉलेज उसके ठीक बाहर ही था लेकिन वह शहर के बाहर माना जाता था।

ये 1960 या 1961 की बात होगी। मैं आठ-नौ साल का रहा हूँगा। हमें एक कहानी सुनाई जाती थी जो हमदर्द दवाख़ाने के हकीम साहब से वास्ता रखती है। कहा जाता था कि हकीम साहब रात को सात-आठ बजे के बाद अपने घर चले जाते थे। सब सुनसान हो जाता, मुहल्ले के लोग सब सो जाते थे और कोई बाहर निकलता नहीं था। तो कहते हैं कि एक रात तक़रीबन 12 बजे के क़रीब उनके दरवाज़े पर दस्तक हुई तो वो निकल कर बाहर आए। जो लोग आए, उन्होंने कहा कि साहब एक बच्चा है, जिसके पेट में सख़्त दर्द हो रहा है, आप कोई दवाई दीजिए। तो हकीम साहब ने कहा, दवाई तो मैं बाद में दूँगा पहले मैं उस बच्चे को देखना चाहूँगा। तो उन्होंने कहा, हमें मालूम था कि हकीम साहब आप बच्चे को ज़रूर देखना चाहेंगे, इसी वजह से हम पालकी लेकर आए हैं। उस ज़माने में पालकी चला करती थी और पालकी में लोग आया-जाया करते थे। तो उन लोगों ने कहा हम पालकी लेकर आए हैं, आप बैठिए। तो हकीम साहब पालकी में बैठे और बाहर निकल गए। बाहर बिल्कुल अँधेरा था और कोई देख नहीं पा रहा था कि हकीम साहब कहाँ गए। बच्चे के पास पहुँच कर हकीम साहब ने उसके पेट को दबाया और कहा कि इसका पेट तो बहुत सख़्त है। इसका मतलब इसके पेट में कुछ मल जमा हुआ है। आप चलें तो मैं दवाई दे दूँगा। तो लोग उनके साथ घर आ गए और हकीम साहब ने उन्हें दवाई दे दी। दो घंटे बाद फिर दस्तक दी दरवाज़े पे और कहा हकीम साहब उसके दर्द में कोई कमी नहीं आई है, वो दर्द से परेशान है, आप चलिए, एक दफ़ा फिर उसको देख लीजिए। वो फिर गए और देखा कि बच्चे का पेट फिर भी सख़्त था। उन्होंने पूछा, इसकी कुछ हवा ख़ारिज हुई? हवा-ख़ारिज का मतलब है कि कुछ गैस पास हुई या पेट कुछ हल्का हुआ? वे बोले, साहब कुछ नहीं हुआ। हकीम साहब ने कहा, दवाई का असर नहीं हुआ, ये कैसे हो सकता है? आपने इसको एक ख़ुराक दी, आप इसको दो ख़ुराक देकर देखें। दो घंटे बाद फिर वो लोग आए कि साहब वो बहुत परेशान है उसका पेट फूला हुआ है, वो दर्द के मारे कराह रहा है। हकीम साहब ने कहा अगर दर्द इतना सख़्त है तो चलो एक दफ़ा फिर चल कर मैं देखता हूँ। तीसरी मर्तबा जब वह चलने लगे तो उन्होंने हल्के से पालकी का पर्दा हटाया। उन्होंने देखा कि चारों तरफ़ बिल्कुल अंधकार ही नहीं बल्कि उन्हें लगा जैसे बड़े-बड़े दरख़्त हैं और चारों तरफ़ सुनसान है, तो उन्हें मन में थोड़ा शक़ हुआ कि हम कहाँ जा रहे हैं? जब वो पहुँचे तो उन्होंने देख के कहा पहले आप यह बताइए कि हम हैं कहाँ इस वक़्त? दिल्ली के किस इलाक़े, किस गली में हैं? तो उन्होंने लोगों ने कहा कि हकीम साहब हम दिल्ली के बाहर हैं। हम इस वक़्त एक सुनसान इलाक़े में हैं। और यह उस इलाक़े में है जहाँ जंतर-मंतर है उसके पास हैं हम। तो हकीम साहब ने कहा, अरे यहाँ तो कोई आबादी नहीं, यहाँ कोई बस्ती नहीं है, तुम लोग कौन हो? अपना असली रूप, असली शक़्ल मुझे दिखाओ तब मैं इसका इलाज करूँगा। तो उन लोगों ने कहा चलिए हकीम साहब चूँकि आपका हुक्म है, हुक्म की तामील होगी और वो अपने असली रूप में आ गए। एक दम से वो छोटा लड़का इतना बड़ा हो गया कि पूछिए मत। वो सारे लोग दस-ग्यारह फ़ीट लम्बे, चौड़े और भारी हो गए। सबकी शक्लें बदल गयीं। उन्होंने कहा साहब हम लोग जिन्न हैं और ये जिन्नात समुदाय के हैं। दरअसल सच बात ये है कि ये जो बच्चा है ये भैंसा खा गया है और वो हज़म नहीं हुआ है। तो हकीम जी ने कहा कि चलिए आप हमारे साथ आइए हम आपको सही दवा देंगे। अब हम जो दवाई देंगे वह चुटकी और पुड़ियों में नहीं बल्कि मटकों में होगी। वो इसको पिलानी पड़ेगी क्योंकि यह ख़ुद इतना बड़ा है तो दवाई भी उसी हिसाब से होनी चाहिए। फिर उसका पेट साफ़ हुआ और उन जिन्नात के मुखिया ने कहा कि साहब हमसे कुछ माँगिए। तो हकीम साहब ने कहा कि हमारी आप से गुज़ारिश है कि आप दुबारा हमें तकलीफ़ न दीजिएगा बल्कि किसी भी आदमी को तकलीफ़ न दीजिएगा।

ये कहानी हमें सुनाई जाती थी कुछ संदेश देने के लिए। संदेश ये था कि शहर के अन्दर, शहर के भीतर ये जिन्न नहीं आते। शहर के बाहर होंगे और शहर के बाहर इनकी बस्ती होगी और आप शहर में सुरक्षित हैं। अगर आपको शहर के बाहर जाना है तो दिन में जाइए। रात में न जाइएगा क्योंकि रात में ये जो जिन्न हैं उनकी सवारी निकलती है और उसमें कुछ भी मुमकिन हो सकता है। कहने का मतलब है कि पूरा शहर 'अंदर और

बाहर' में बँटा था। तो एक तरह से उस समय की पुरानी दिल्ली एक बंद व्यवस्था थी। बंद पर हम ज़्यादा ध्यान नहीं देंगे क्योंकि लोगों के रिश्ते बाहर भी होते थे। मैं ये कहूँगा कि पुरानी दिल्ली के जितने भी समाज थे वे 'बाउंडेड कॉंग्रिगेट्स' थे। कहने का मतलब यह कि हम हैं कायस्थ, हमारे पड़ोसी रावत, हमारे दूसरे पड़ोसी ब्राह्मण शर्मा, और हमारे उनसे संबंध थे। हमारी माँ उनके साथ बैठकर बड़ियाँ बनाती थीं, पापड़ बनाए जाते थे और मिलना-जुलना भी था। लेकिन हम रावत परिवार के साथ खाना नहीं खाते थे, न ही वो हमारे साथ खाना खाते थे। हमारे घर के रिश्ते, शादी के रिश्ते, रावत परिवार में नहीं, शर्मा परिवार में भी नहीं थे। हमारे रिश्ते केवल हमारे समुदाय के साथ थे। हमारे आपसी झगड़े हमारी जाति पंचायत निपटाती थी। अगर देखा जाए तो हमारी दो स्तर की एकता थी। एक — हमारे मोहल्ले के साथ जहाँ पर हम एक थे और दूसरी हमारी अपनी जाति और अपनी बिरादरी (kinship) के लोगों के साथ, जिनसे हमारे संबंध थे। दोनों में कोई समस्या नहीं थी। मैं आपको उदाहरण देता हूँ। जैसे मेरे घर में शादी हुई, शादी हो रही है तो मैं सारे रिश्तेदारों को बुलाउँगा, अपनी जाति के जो लोग हैं, जिनसे मेरा संबंध है, मैं उनको बुलाउँगा और साथ में अपने मोहल्ले के लोगों को बुलाउँगा। वो सब आएँगे, लेकिन मेरे मोहल्ले के जो लोग हैं, वो सबसे पहले खाकर चले जाएँगे। मेरे मोहल्ले के जो लोग हर तरह की सहायता मुझे देंगे, लेकिन मोहल्ले से एक ही आदमी आएगा, उनका पूरा-पूरा परिवार नहीं आएगा। आकर वो छोटा-मोटा उपहार, जो उन्हें देना होगा, वो दे जाएँगे। लेकिन जिस वक़्त बारात आने का समय होगा, उस वक़्त वो सब नहीं होंगें। वो ऊपर से देखेंगे। उस वक़्त मेरी जाति के, मेरी बिरादरी के लोग वहाँ होंगे। इस चीज़ को मैंने खुद महसूस किया, जब मेरे चचेरे भाई-बहनों की शादियाँ हुई या जब मेरे चाचा की शादी हुई। मेरे चाचा की शादी का वक़्त मुझे अच्छी तरह से याद है। 1968 की बात है। गली के सारे लोगों को बुलाया गया था। वे आए और खाना पहले ही प्रारम्भ हो गया था। मतलब बारात जाने से पहले ही खाना शुरू हो गया था और मोहल्ले के लोग खाना खाकर जा रहे थे और जो उन्हें देना था दो रुपये, पाँच रुपये, जो कुछ उनको देना था, दे कर चले गए थे। मुझे अच्छी तरह से याद है उस बारात में मैंने सेहरा पढ़ा था। ये भी पुरानी दिल्ली की शादियों की जो संस्कृति थी उसका एक हिस्सा था। तो मैंने सेहरा पढ़ा, गाकर पढ़ा था क्योंकि मेरी आवाज़ लोग कहते हैं कि सुरीली थी। तो मुझे अच्छी तरह से याद है कि उसमें हमारे रिश्तेदार थे, हमारी जाति के कुछ लोग थे, जिनसे हमारी रिश्तेदारी थी। यानी कि सारा जो समूह था वो रिश्तेदारों का था, दोस्त, पड़ोसी ये सब लोग उसमें नहीं थे। हालाँकि उन सबने बहुत मदद की थी। हर तरह की मदद की थी चाहे पानी भरना हो या कुछ और।

तो ये दो स्तर थे — एक पास-पड़ोस का और दूसरा जाति और बिरादरी का। इस सबके आधार पर मैं ये कहूँगा कि वह मोहल्ला गाँव जैसा था। फ़र्क़ सिर्फ़ यह कि वहाँ पर कोई खेती-बाड़ी नहीं होती थी, बाक़ी हर तरह से एक गाँव की तरह था। और जिस तरीक़े से गाँव में कही गयी बातों का बहुत महत्व होता है वैसा वहाँ भी था। जैसे कोई संदेशा पहुँचाना हो तो जाति विशेष का व्यक्ति संदेशा लेकर जाता था। मिसाल के तौर पर किसी के घर में मृत्यु हो गई तो वो क्या करेगा? तो उस जाति विशेष का व्यक्ति एक गली से दूसरी गली में जाएगा और ऊँची आवाज़ में यह ऐलान करेगा कि फ़लाँ-फ़लाँ व्यक्ति के माता का या पिता का निधन हो गया है। इतने बजे उठाएँगे और फ़लाँ दिन दसवीं होगी और फिर तेरहवीं। चौथे का उतना रिवाज नहीं था। ये चौथा लफ़्ज़ जो है वो पंजाबी समुदाय से ज़्यादा जुड़ा है, हमने कभी नहीं सुना।

मृत्यु और शादी की तुलना करना भी दिलचस्प है। शादियों में उस तरह की घोषणा नहीं होती थी। आप शादी का संदेशा उनको देंगे जिनको आप बुलाना चाहते हैं। ये एक बहुत भारी फ़र्क़ है मृत्यु और विवाह के बीच में। मैंने देखा कि शादी के न्यौते सारे पड़ोसियों को दिए जाते थे चाहे वो उच्च जाति हों चाहें निम्न जाति के। वेडिंग कार्ड का रिवाज तो काफ़ी बाद में आया। शादी के जो निमंत्रण छापे जाते थे वो सिर्फ़ बाहर वालों के लिए होते थे। या उस परिवार में निमंत्रण छापे जाते थे जहाँ पर लड़का सरकारी दफ़्तर में काम करता था। वो अपने विभाग में अपने सहयोगियों को निमंत्रण देता था। और एक चीज़ जो मैंने विवाह के बारे में नोट की थी कि हर परिवार से शादी में एक व्यक्ति ज़रूर जाता था। चाहे वो पूरे समय के लिए रुके या न रुके, लेकिन जाता अवश्य था। और उसे जो उपहार देना होता था उसे वह बिल्कुल खुलेआम देता था। अकसर पैसा ही दिया

जाता था, लिफ़ाफ़े में बंद करके नहीं बिलकुल सामने और लिखवाया जाता था। वो कॉपियाँ आज तक मेरे घर पर हैं। ये बाक़ायदा लिखवाया जाता था कि फ़लाँ के यहाँ से इतना पैसा आया। अगर उसमें किसी ने अपनी सीमा से ज़्यादा पैसा दिया हो तो लोग लेने से इन्कार कर देते थे। ये मेरे ख़याल से मैंने गाँव में भी देखा है। बहुत ही अहम बात है कि आप क्या लेंगे और किससे? क्योंकि लेते वक़्त आपको ये ध्यान रखना है कि ये सब चीज़ें वापस भी करनी होंगी। आज नहीं तो कल। इसको समाजशास्त्र में deferred reciprocity (विलंबित पारस्परिकता) कहते हैं। कि कभी न कभी उसको वापस करना है। किसी की आर्थिक स्थिति सुधर गई हो और कुछ पैसा आ गया हो तो अगर वो ज़रा ज़्यादा दे रहा हो तो लोग कह देते थे कि दिखावा क्यों कर रहे हो? तुम्हारे पिता तो देते थे पाँच रुपये आज तुम इक्यावन दे रहे हो, नहीं भई हम नहीं लेंगे। हम उतना ही लेंगे जितना हम देने के क़ाबिल हैं। जो लोग शादी में आते थे, वो ज़रूरी नहीं है कि पूरे समय के लिए रुकें। कुछ लोग दो घंटे के लिए तो कुछ तीन घंटे के लिए रुकते थे और चले जाते थे। खाना खा कर चले गए या जो कुछ उन्हें नेग देना था देकर चले जाते मगर रुकते नहीं थे। और जो कार्यक्रम होते थे जैसे कि मुंडन, नामकरण-संस्कार, या यज्ञोपवीत तो उसमें सिर्फ़ रिश्तेदार बुलाए जाते थे। उसमें अकसर पड़ोस के लोग नहीं बुलाए जाते थे। तो कहने का मतलब यह हुआ कि जो मृत्यु का संदेश है, वो हरेक को दिया जाता था, चाहे वह निम्न जाति का हो, चाहे उच्च जाति का हो। चाहे पास वाली गली का हो, चाहे दूर वाली गली का हो। संदेशा सबको जाता था। इच्छा हो आए, जिसकी इच्छा हो न आए। और मृत्यु का जो दसवाँ है या तेरहवीं है उसमें किसी को बुलाया नहीं जाता था। जिसकी इच्छा हो आए, जिसकी इच्छा हो न आए। शादी का न्यौता पड़ोसियों और रिश्तेदारों को दिया जाता था। लेकिन विवाह का वेडिंग कार्ड उनको नहीं दिया जाता था, जिनसे आपका बड़ा घनिष्ठ संबंध था। जैसे मुझे अपने भाई को बुलाना है तो उसको शादी का कार्ड नहीं दूँगा क्योंकि वो तो भई मेरे घर का हिस्सा है।

इसके अलावा एक सामाजिक तथ्य यह है कि तब गली-मोहल्लों का नाम जाति या समुदाय के आधार पर होता था। जैसे मालीवाड़ा, नाईवाड़ा, दाईवाड़ा, गली कायस्थान। गली कायस्थान में कायस्थ रहा करते थे। लेकिन जब मैंने गली कायस्थान के बारे में जानकारी प्राप्त की और वहाँ जाना शुरू किया, उस समय मुझे अच्छी तरह से याद है कि ज़्यादा परिवार नहीं रहते थे। अन्य जातियों के और दूसरे समुदायों के परिवार आ गए थे लेकिन गली का नाम कायस्थान था और आज भी यह गली कायस्थान के नाम से जानी जाती है। मालीवाड़ा का ये मतलब नहीं है कि सारे उसमें माली रहते हैं या दाईवाड़ा का ये मतलब नहीं है कि उसमें सारी दाइयाँ रहती हैं या नाईवाड़े में सिर्फ़ नाई रहते हैं ऐसा मतलब नहीं है। फिर कुछ इलाक़े थे जिनका नाम तो जाति के आधार पर

मृत्यु और शादी की तुलना करना भी दिलचस्प है। शादियों में उस तरह की घोषणा नहीं होती थी। आप शादी का संदेशा उनको देंगे जिनको आप बुलाना चाहते हैं। ये एक बहुत भारी फ़र्क़ है मृत्यु और विवाह के बीच में। मैंने देखा कि शादी के न्यौते सारे पड़ोसियों को दिए जाते थे चाहे वो उच्च जाति हों चाहें निम्न जाति के। ...और एक चीज़ जो मैंने विवाह के बारे में नोट की थी कि हर परिवार से शादी में एक व्यक्ति ज़रूर जाता था। चाहे वो पूरे समय के लिए रुके या न रुके, लेकिन जाता अवश्य था। और उसे जो उपहार देना होता था उसे वह बिल्कुल खुलेआम देता था। अकसर पैसा ही दिया जाता था, लिफ़ाफ़े में बंद करके नहीं बिलकुल सामने और लिखवाया जाता था। वो कॉपियाँ आज तक मेरे घर पर हैं। ये बाक़ायदा लिखवाया जाता था कि फ़लाँ के यहाँ से इतना पैसा आया। अगर उसमें किसी ने अपनी सीमा से ज़्यादा पैसा दिया हो तो लोग लेने से इन्कार कर देते थे। ये मेरे ख़याल से मैंने गाँव में भी देखा है। बहुत ही अहम बात है कि आप क्या लेंगे और किससे? क्योंकि लेते वक़्त आपको ये ध्यान रखना है कि ये सब चीज़ें वापस भी करनी होंगी। आज नहीं तो कल। इसको समाजशास्त्र में deferred reciprocity (विलंबित पारस्परिकता) कहते हैं।

नहीं था लेकिन उसमें एक समुदाय के लोग प्रमुख थे। जैसे 'चीराख़ाना'। चीराख़ाना एक बहुत महत्वपूर्ण गली है, जो माथुरों की है। माथुर कायस्थ हैं और कहा जाता है चूँकि वे मथुरा से आए थे इसलिए माथुर बन गए। जैसे मशहूर गायक मुकेश, जिनका पूरा नाम था मुकेश चंद्र माथुर। ये चीराख़ाना आज भी है। अब इसका कुछ पता नहीं है कि ये नाम कैसे पड़ा? किसी ने मुझे बताया था और हो सकता है यह बात ग़लत भी हो, कि वहाँ की ज़मीन में थोड़ा-सा चीरा सा था जिसकी वजह से उसका यह नाम पड़ गया। एक और हस्ती इसी गली से थीं जिनका नाम था शांति देवी। कहा जाता है कि उन्हें अपना पिछला जन्म याद था। वो अपने पिछले जन्म की कहानियाँ सुनाया करती थीं। और बाद में वो इतनी ज़्यादा धार्मिक हो गई थीं, उनमें इतनी दिव्य और अलौकिक शक्तियाँ आ गई थीं कि अगर वो किसी को छू देती थीं तो वह ठीक हो जाता था। वो भी उसी गली की थीं और वो भी माथुर थीं। इसी तरह से धर्मपुरा – चीराख़ाने से ज़रा आगे – जैनियों का मुख्य गढ़ था। इसी तरह से आर्यसमाज गली या सीताराम बाज़ार की और गलियाँ हैं जहाँ पर जैन परिवार थे और आगे थोड़ा सा निकल जाओ तो वहाँ पर तुर्कमान गेट आ जाता है जहाँ मुसलमान रहा करते थे। बल्कि मुसलमानों को भी एक जाति समझा जाता था।

इसे सैद्धांतिक तरीक़े से देखा जाए तो पुरानी दिल्ली एक इकाई के रूप में, जहाँ जैन परिवार रहा करते थे, और कई हिस्सों में भी बँटी, नज़र आती है। उसमें कई सांस्कृतिक खाँचे थे जिनमें आपसी एकता भी थी और अलगाव भी। सामाजिक जीवन को किस तरह चलाना है, उसके नियम स्पष्ट थे। मेरे नाना के पास कुछ जान-पहचान वाले मुसलमान बातचीत करने के लिए आया करते थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि उनके लिए चाय-पानी जो भी आता था वह कुछ ख़ास गिलासों में आता था। जो मुसलमान आया करते थे – जो उनके दोस्त थे, वो ये कहा करते थे कि लाइए मैं धो देता हूँ गिलास को और मेरे नाना कहते थे कि नहीं, यह बिन्नो कर लेगा। बिन्नो मेरा घर का नाम था। मैं उन गिलासों को धोता था और मेरी नानी पीछे से झाँकती रहती थीं कि ढंग से धोया है या नहीं क्योंकि मैं इन सब नियमों से अनभिज्ञ था। उन्हें डर था कि धोने के बाद कहीं ये लड़का इनको रसोई के गिलासों के साथ जाकर तो नहीं रख देगा। मैंने यहाँ तक नोट किया कि जो रसोई के गिलास थे वो ज़्यादातर स्टील के हुआ करते थे और बाहर वाले गिलास काँच के। इस फ़र्क़ के बारे में सबको पता था। तब एक-दूसरे के घर जाकर साथ खाना (commensality) नाम की चीज़ नहीं थी। यह आज की संस्कृति का हिस्सा है, पुरानी दिल्ली में कभी नहीं होता था। मेरे ख़याल से मैंने कभी भी अपने पड़ोसी के घर खाना नहीं खाया। शादी में या किसी मृत्यु के अवसर पर भोज में खा लिया तो खा लिया। मृत्यु भोज से अकसर लोग कन्नी काटते थे। सिर्फ़ रिश्तेदार खाते थे। शादी में खा लिया तो ठीक है। लेकिन किसी के घर जाना और एक डिनर करना, जिस तरीक़े से आज है कि दोस्त आ रहे हैं, हमारे साथ खा रहे हैं, हम जाकर खा रहे हैं ये सब नहीं होता था। लोग घर से बाहर खाना नहीं खाते थे। इसका मतलब यह नहीं कि होटल नहीं हुआ करते थे। मेरे नाना के बड़े भाई का होटल था। मांसाहारी होटल था जिसका नाम था – न्यू मुंशी होटल। मुंशी इसलिए क्योंकि कायस्थों को मुंशी बोला करते थे। उसमें रोग़न जोश और मीट की तमाम चीज़ें बना करती थीं। लेकिन वह खाना सिर्फ़ उन लोगों के लिए होता था जो शहर की तैरती आबादी थी। तीन चीज़ें मुझे याद आती हैंः पहली बात कि सिर्फ़ मर्द खाते हुए दिखाई देते थे, औरतों का मतलब ही नहीं था। दूसरा यह कि जो आदमी खाते हुए दिखाई देते थे वो हमारे मोहल्ले, हमारे शहर के नहीं होते थे। कोई कचहरी के केस में आया होता था या किसी और काम से या नए बाज़ार में अनाज मंडी आने वाले। तीसरी चीज़ मुझे नज़र आती थी कि सारा लेन-देन पैसे में होता था।

मैं इसकी तुलना जब अपने बचपन से करता हूँ तो पाता हूँ कि पहले ऐसा नहीं था। जैसे हम बनिये की दुकान – मसलन रामअवतार की दुकान है, वहाँ पर गए और कहा कि ढाई सौ ग्राम मीठा तेल दे दो। रामअवतार जी ने ढाई सौ ग्राम तेल दे दिया और हम लेकर आ गए। हम पैसा लेकर नहीं जाते थे, ये मुझे अच्छी तरह से याद है। हम चीनी या इस तरह की छोटी-छोटी चीज़ें लेने जाते थे और कभी भी पैसा लेकर नहीं जाते थे। बस देखा जाता था कि फ़लाँ का लड़का आया है। रामअवतार ने अपनी बही में या अपनी कॉपी में लिख लिया कि ये बृजलाल के घर से आया है और ये सामान लेने आया है। बस, अब फिर पन्द्रह दिन में, हफ़्ते में, दस दिन में जब भी होगा बृजलाल जी जो मेरे नाना हैं उस दुकान से गुज़रेंगे, बैठेंगे उसके पास, कहेंगे, हाँ भई रामअवतार,

पहले तो चाय पिला, थोड़ा पानी पीयेंगे उसके साथ, फिर कहेंगे, दिखा क्या है तेरा हिसाब? फिर उससे थोड़ी बहस होगीः नहीं-नहीं इतना नहीं था थोड़ा-बहुत मोल-भाव होगा फिर पैसे दे के आएँगे। हम ले कर नहीं जाते थे। जबकि होटल में मैं क्या देखता था कि जो आदमी खाना खा रहा है वो फ़ौरन पैसे देकर जा रहा है। होटल में वो लोग खाना खाने जाते थे जो उस शहर के नहीं होते थे। जो लोग उस मोहल्ले के नहीं होते थे या जो वहाँ से गुज़र रहे होते थे वो खाना खाने जाते थे। मतलब यह कि घर के परिवार के लोग नहीं जाया करते थे। मुझे नहीं याद है कि हमने कभी घर के बाहर खाना खाया। हम जब रामलीला मैदान में रामलीला देखने गए या कभी किसी मेले में गए या कभी सर्कस लगा या कहीं गए तो बाहर खाना खा कर नहीं आते थे। भई थोड़ा-बहुत जो है कहीं पर गोल-गप्पे खा लिए या कुछ और खा लिया लेकिन पूरा खाना घर के बाहर नहीं होता था। अगर आप आए हैं, बैठे हैं तो पानी पी लेंगे, आपको चाय पिला देंगे, नींबू पानी पिला देंगे या लस्सी पिला देंगे या घर में पन्ना जो आम का बनता था, या जो भी है, वो आपको पिलाएँगे और आप अपने घर चले जाएंगे। खाना आप घर जा कर खाएंगे। यानी कि एक-दूसरे के साथ खाने का रिवाज नहीं था। समुदाय बिलकुल सीमाबद्ध थे। और खाने पर सिर्फ़ परिवार के लोग होते थे या कभी-कभी रंगपाशी जैसे मौक़ों पर। कायस्थों में रंगपाशी होता है होली के पहले। इसमें हम एक-दूसरे के ऊपर रंग छिड़कते हैं। उसको रंगपाशी बोलते हैं। तो रंगपाशी पे हमारे घर पर थोड़े-बहुत रिश्तेदार आते थे और घर में खाना बनता था या फिर दिवाली पर जिसमें कुछ रिश्तेदार आते थे। अगर शाम को कोई परिवार आ गया, तो आपके घर खाना खा के जाएगा ऐसा नहीं होता था।

अगर कोई परिवार थोड़ा-सा आर्थिक रूप से तरक़्क़ी करने लगता था तो वह ज़्यादा से ज़्यादा दरियागंज, बंगाली मार्केट या गोल मार्केट में अपना घर ले लेता था। यहाँ महत्वपूर्ण ये है कि ऐसे लोग अपना पुराना घर भी रखते थे। बहुत सालों बाद, जब मैंने राजस्थान में फ़ील्ड वर्क किया और जब मैं बगली नाम की जगह पर गया तो वहाँ मैंने देखा कि तमाम घर बंद थे, उन पर ताले लगे हुए थे। मैंने पता किया कि वहाँ जो लोग रहते थे बनिया परिवार के या जैन परिवार के वे कहाँ चले गए? तो लोगों ने कहा कि कोई इलाहाबाद रहता है, कोई अहमदाबाद रहता है, कोई मुंबई रहता है, कोई कोलकाता रहता है, लेकिन सबने अपने घर रखे हुए थे वहाँ पर, ताला लगा कर। साल में नहीं तो दो साल में एक दफ़ा आ गए और आकर उन्होंने उसे साफ़ कराया और रह लिया। तो बिल्कुल उसी तरह का हाल पुरानी दिल्ली में था। घर की देखभाल के लिए एक चौकीदार को रख लिया, घर आए, साफ़ करा गए। जैसे दरियागंज में आप रह रहे हो, हफ़्ते में दो दफ़ा वहाँ आ गए और आसपास के लोगों से मिल लिए। इसकी वजह से आज भी बहुत सारे पुरानी दिल्ली के घर जो हैं, वो मार्केट बनने के बावजूद उन्हीं लोगों के हैं जो लोग वहाँ पर पहले रहा करते थे। उन्होंने अपने घरों में दुकानें बना दी हैं। अब व्यावसायिक इरादे दिखते हैं। तो सवाल ये है कि अब पुरानी दिल्ली में कौन रह रहा है?

अगर नक़्शा बनाया जाए तो साफ़ पता चलेगा कि कहाँ कौन-से समुदाय के लोग बसे हैं। अब ये जो पहले का ढाँचा था वो मेरे ख़याल से काफ़ी स्थिर था। पहले न तो भूगोल और न ही रोज़गार लोगों को ज़्यादा खिसकाता था। बँटवारे के बाद यह तब्दील होना शुरू हुआ। मुसलमान वहाँ से निकल कर गए। मिसाल के तौर पर दरियागंज में एक गली है जिसका नाम है गली दखनीराय। आज भी आप उस गली में घुसें तो कुछ मकानों में उर्दू में लिखा हुआ कुछ दीख जायेगा। जब आप बहुत क़रीब से पढ़ेंगे तो दिखेगा 'अख़्तर मंज़िल'। आप पता करेंगे कि यहाँ अख़्तर मंज़िल में कौन साहब रहते हैं तो पता चलेगा कि अब यहाँ कोई बंसल साहब रहते हैं या मनचन्दा साहब रहते हैं। जब आप तह में जायेंगे तो पता चल जायेगा कि वहाँ कभी मुसलमान रहते थे जो विभाजन के वक़्त उधर चले गए और कुछ लोग इधर आ गये। लोगों का कहना है कि यह सामाजिक संरचना पार्टीशन के वक़्त तब्दील होना शुरू हुई। तब लोग आने शुरू हुए बाहर से और यहाँ से लोग गए। उसमें तमाम वो लोग आ गए जिनके रहने-सहने का ढंग बिल्कुल अलग था। एक बात मैं ये कहना चाहूँगा कि जो पुरानी दिल्ली के — ख़ास पुरानी दिल्ली के — लोग हैं, वो काफ़ी हद तक पंजाबियों से मुतास्सिर नहीं थे। वो सोचते थे कि पंजाबी लोग उनके टेस्ट, उनके स्वभाव के नहीं थे। मैं ये नहीं कह रहा हूँ कि उनकी उस समुदाय की तरफ़ कोई नफ़रत थी। ऐसी बात नहीं थी। मतलब पुराने लोग ये मानते थे कि पंजाबी उनके जैसे नहीं थे। इसलिए उनसे कम से कम संबंध रखने के पक्ष में थे। पुरानी दिल्ली की कोई लड़की किसी पंजाबी लड़के से शादी करती थी तो उस

पर लोगों को बुरा लगता था। जो लोग बाहर से आये थे उनको लोगों ने अच्छी निगाह से नहीं देखा। उन्हें शक़ की नज़र से देखा। एक बात और थी। ये जो पंजाबी लोग आये इन्होंने आकर बहुत मेहनत की, बहुत काम किया और इसकी वजह से इनकी ग़ज़ब की तरक़्क़ी हुई। लेकिन वहाँ के पुराने लोग वैसे के वैसे ही रहे यानी वो रूढ़िग्रस्त रहे। जैसा उनका तौर तरीक़ा चल रहा था, जो हिसाब-किताब था वैसा ही चलता रहा। लेकिन जो लोग बाहर से आये, उन्होंने बहुत मेहनत की। नये-नये कारोबार शुरू किये।

पुरानी दिल्ली का जो आदमी था वो बाहर जाना ही नहीं चाहता था। एक छोटी-सी बात सुनाता हूँ जो मेरे नाना सुनाते थे। वो घर ख़रीदना चाहते थे। ये शायद मेरे जन्म से पहले की बात है। तो उनके एक दोस्त ने कहा कि बड़ी अच्छी-अच्छी ज़मीनें उपलब्ध हैं, घर भी उपलब्ध हैं। आप चलिये वहाँ देखकर आते हैं। वो सुन्दर नगर के इलाक़े में गए। वहाँ लोगों से उन्होंने पूछा कि यहाँ कौन लोग रहते हैं तो लोगों ने कहा कि यहाँ तो रात में गीदड़ आते हैं। इसलिए यह इलाक़ा सुरक्षित नहीं है। उन्होंने कहा कि चलो हमें यहाँ नहीं रहना और वापस आ गए । अगर वो लोग उस वक़्त वहाँ पर घर लेते तो आज उसकी क़ीमत क्या होती? पहले पुरानी दिल्ली के लोग बाहर निकलना ही नहीं चाहते थे और जब निकले तो इसलिए क्योंकि उनका परिवार बहुत बढ़ गया था। मजबूरन मकान को बड़ा करना पड़ा। लेकिन उनका विकास ऊपर की ओर हुआ, 'वर्टिकल डेवलपमेंट'। जैसे लड़के की शादी हुई तो एक कमरा और ऊपर बनवा दिया लेकिन उसकी भी तो सीमा है। उसके बाद ही परिवारों ने सोचा कि कहीं और जगह ले लेते हैं। यानी कि अगर वो पुरानी दिल्ली छोड़कर गये तो इस वजह से नहीं कि पुरानी दिल्ली गन्दी थी बल्कि इसलिए कि वहाँ गुज़र मुश्किल थी। लेकिन जब एक दफ़ा व्यावसायिक इरादे आ गये तब बात कुछ और बनी। फिर दुकानें बनने लगीं। दुकानें बनने के बाद नये-नये तरह के व्यापार शुरू हो गए।

आज चावड़ी बाज़ार हार्डवेयर का बड़ा मार्केट है, सैनिटरी फ़िटिंग्स का बड़ा मार्केट है। चाँदनी चौक कपड़े का बड़ा बाज़ार है। जैसे-जैसे ये स्पेशलाइज़ेशन आने शुरू हुए, एक अहम बदलाव आया वहाँ काम करने वाले मज़दूरों में। उनके लिए पुरानी दिल्ली में जिस लफ़्ज़ का इस्तेमाल होता है वो है 'झल्ली वाले'। आने वाले ज़्यादातर लोग उत्तर प्रदेश और राजस्थान के गाँवों से थे। जब ये लोग आने शुरू हुए तो संरचना बदली। संसाधनों के ऊपर दबाव पड़ने लगा। आज भी पुरानी दिल्ली के लोग कहते है एक ज़माने में सारा दिन पानी आता रहता था अब पानी नहीं आता क्योंकि जनसंख्या बढ़ गयी है। बर्मे सूख गए हैं। अब आप कभी रात को जाकर देखिये पुरानी दिल्ली की गलियों में तो बेइन्तहा लोग सो रहे होते हैं। गलियों में लोग सोते हैं और दुकानों के ऊपर। जो तैरती आबादी है, झल्ली वाले, ठेले वाले, दुकानों पे जो काम करते हैं, दुकानों का सामान उठाने वाले और रंग करने वाले, पॉलिश करने वाले सब वहीं रहते हैं। तांगे वाले बिल्कुल ही ख़त्म हो गये। जगह ही नहीं है। इसलिए अब लोग बाज़ारों की छतों पर सोते हैं। जब हम रात को अपनी गली में जाते हैं तो देखते हैं दुकानों के आगे जो थोड़ी-थोड़ी जगह है, उस पर लोग सो रहे हैं। वहीं दुकानों के आगे सुबह खाना बनाते हैं, ट्रांज़िस्टर चल रहा होगा, गाना बज रहा होगा, स्टोव जल रहा होगा, उस पर रोटियाँ और सब्ज़ियाँ बन रही होंगी। और ये जो लोग हैं, सारे मर्द हैं। चार-चार, पाँच-पाँच के ग्रुप में रहते हैं और उनमें से एक आदमी खाना बनायेगा। मतलब कि हर चीज़ सड़क पर होती है। दुकानों में सिर्फ़ टॉयलेट वग़ैरह बना दिये गए हैं। नहाते बाहर हैं। इन सबसे सामाजिक संरचना बदल गयी है।

1969 में मैं युनिवर्सिटी में आ गया था। तब मैंने ये देखना शुरू किया कि वहाँ पर बाहर के लोग ज़्यादा थे। चार चीज़ें उस वक़्त की मुझे अच्छी तरह से याद हैं। लोग कहा करते थे कि साहब इन लोगों के आने से शहर में जो चोरी-चकारी कभी नहीं होती थी, अब होने लगी, क्योंकि ये लोग बाहर के हैं, इनका कुछ पता नहीं होता। आते हैं और चले जाते हैं। लोगों ने अपने घरों में ताले लगाने शुरू कर दिये और ये बात बिल्कुल सच है कि पहले जब लोग बाहर जाते थे तो पड़ोसी को कह जाते थे कि हम जा रहे हैं, ज़रा देख लेना। ताला लगाने का रिवाज इतना नहीं था। मतलब बाहर के घरों में हो सकता था लेकिन गलियों के घरों में लोग परवाह नहीं करते थे। कुंडा लगा दिया इतना काफ़ी है। क्योंकि न तो लोगों के पास ज़्यादा पैसा होता था और न ही पैसों का दिखावा करते थे। हर आदमी पैसे को दबा के रखता था। एक बड़ा भारी विचार था जिसमें लोग विश्वास करते

थे कि 'नज़र लग जाएगी'। वे कहते थे 'भई आपका पैसा है नज़र लग जायेगी छिपा कर रखो। अच्छे कपड़े मत पहनो, नज़र लग जाएगी।' तो उस समय ये कहते थे कि बाहर के लोगों के आने की वजह से सबसे पहले चोरी-चकारी बढ़ी है। दूसरी बात जो कही जाती थी वो ये कि गंदगी बढ़ गई है। ये लोग कहीं भी थूक देते हैं, कहीं भी बैठ जाते हैं और कहीं भी पेशाब कर देते हैं। तीसरी चीज़ जो इनके आने से हुई कि संसाधनों पर दबाव बढ़ गया। लोग ये भी कहते थे कि इनके आने से पानी ख़त्म हो गया, सारी बिजली ये खा जाते हैं, सारा दिन बर्मा चलाते रहते हैं, तो ठंडा पानी आयेगा कहाँ से? चौथी बात ये कि पुरानी दिल्ली के बाशिंदे उसे छोड़ कर जा रहे थे। बाहर कॉलनियाँ बन रही थीं। लोग वहाँ घर ले रहे थे, जबकि पुरानी दिल्ली में दुकानें बन रही थीं। और इन दुकानों के बनने से, उनमें काम करने वाले लोग भी बढ़ने लगे। जैसे-जैसे ये हुआ दुकानों की क़ीमतें बढ़ीं। लोगों ने अपने घरों को दुकानों में बदलना शुरू कर दिया और देखते-देखते वह इलाक़ा इतना ज़्यादा बदल गया कि लोगों की साँस घुटने लगी। जिनके पास थोड़ा पैसा था वो लोग तो चले गए। भले ही उन्होंने अपनी दुकानें पुरानी दिल्ली में रखीं, लेकिन घर कहीं और ले लिया, ख़ास तौर पर पश्चिम दिल्ली में, जो उस वक़्त लगातार फैल रही थी। फिर डी.डी.ए. ने कॉलनियाँ बनानी शुरू कर दीं: अशोक विहार, लॉरेंस रोड जो 1970 के क़रीब बनी, उसके बाद वसंत कुंज, सरिता विहार, वग़ैरह। फिर लोग धीरे-धीरे निकलते चले गए, निकलते चले गए। अब पुरानी दिल्ली के लोगों ने या तो अपने घरों को बेच दिया, उन पर दुकानें बना दीं, दुकानों को पगड़ी पर दे दिया या उनको किराये पर दे दिया। पर पुरानी दिल्ली में कुछ इलाक़े ऐसे हैं, जहाँ पर नीचे तो दुकानें हैं और ऊपर लोग अभी भी रह रहे हैं। ऊपर घर है तीसरी मंज़िल पर, चौथी मंज़िल पर, नीचे दुकानें हैं। कई बार नीचे भी दुकानें हैं, ऊपर भी दुकानें हैं। ऊपर दफ़्तर या बैंक भी आ गये हैं क्योंकि जहाँ व्यावसायीकरण होगा वहाँ दुकानें तो आयेंगी ही और बैंकों की भी ज़रूरत पड़ेगी।

अब यहाँ पर यह सवाल उठता है कि पुरानी दिल्ली में कौन लोग रहते हैं? इससे पुरानी दिल्ली की संस्कृति के बारे में काफ़ी पता चलेगा। सबसे पहले वहाँ पर वो लोग रह रहे हैं जिनका बिज़नेस है और वो उस जगह को छोड़ना नहीं चाहते। चाहे छोटी-सी दुकान हो या हार्डवेयर का बिज़नेस वो वहीं रहना चाहते हैं। सम्पत्ति उन्होंने कहीं और ख़रीदी हुई है लेकिन वो वहीं रह रहे हैं। वो ये सोचते हैं कि अगर वहीं रहेंगे तो अपने बिज़नेस की अच्छी हिफ़ाज़त कर सकेंगे और उनका समय भी बचेगा। मुझे पता लगा है कि ज़्यादातर जो बनिया परिवार हैं वो अभी भी वहीं हैं। गाड़ी बाहर पार्क करते हैं, वहाँ से रिक्शा लेकर अन्दर आते हैं। असुविधाएँ हैं लेकिन वो वहीं रह रहे है। लेकिन मैं यहाँ पर यह कहना चाहूँगा कि उन्होंने और जगह भी जायदाद ख़रीदी हुई है। उन्होंने डी.डी.ए. के फ़्लैट ख़रीदे हुए हैं, जिन्हें वो अपने बच्चों को दे देते हैं। लेकिन ख़ुद वो वहीं रह रहे हैं। दूसरे वो लोग हैं जो वहाँ पर इसलिए रह रहे हैं क्योंकि उन्हें वहाँ सुरक्षा मिली हुई है। अब यहाँ दरियागंज की एक गली की मैं बात करता हूँ। गली का नाम है दखनीराय। कूचा दखनीराय। वहाँ मेरी सास रहा करती थीं। मैंने वहाँ एक दफ़ा कुछ लोगों से बात की तो पता चला कि काफ़ी लोग वहाँ से अपने घरों को बेच कर जा रहे हैं। तो मैंने उनसे पूछा कि जो घर आप बेच रहे हैं उसे ख़रीद कौन रहा है? पुरानी दिल्ली की जो जायदाद है वो काफ़ी महँगी है तो फिर उसके ख़रीदार कौन हैं? लोगों ने बताया कि साहब ख़रीदने वाले मुसलमान हैं। तो अब सवाल ये आता है कि वो क्यों ख़रीद रहे हैं? जब हमने एकाध मुस्लिम भाई से बात की तो उनका सीधा ये कहना था कि ये मुस्लिम इलाक़ा है, हम यहीं रहते हैं। यहाँ हमें सुरक्षा महसूस होती है। ये एक बड़ा भारी कारण है। तीसरी श्रेणी उन लोगों की है जो कहीं जा ही नहीं सकते, वो कहीं और ज़मीन नहीं ख़रीद सकते। वो कहीं और घर बना ही नहीं सकते। वे छोटे-मोटे धन्धों में हैं। उनके लिए मोबिलिटी बिल्कुल नामुमकिन है, क्योंकि उनके पास पैसा ही नहीं है। इसमें बहुत तरह के लोग आते हैं जैसे सब्ज़ी बेचने वाले, बिजली का काम करने वाले या पान बेचने वाले या छोटे दुकानदार। ऐसे लोग वहीं रह रहे हैं और अभी भी जिन घरों में रह रहे हैं उसका कुछ लोग महीने का 5 रुपये किराया दे रहे हैं। ज़्यादा से ज़्यादा किराया जो मैंने सुना है वो है 53 रुपये, अभी भी 53 रुपये!

चौथी श्रेणी उनकी है जिसे हम कहेंगे 'फ़्लोटिंग पॉपुलेशन'। यानी जो लोग आ रहे हैं और जा रहे हैं, मतलब वो लोग जो सड़कों पे रह रहे हैं और वहाँ पर दुकानों में काम कर रहे हैं। तो इतने सारे समुदाय हैं और हर समुदाय का अपना रिवाज है, अपना रहने-सहने का तरीक़ा है और अपनी ज़बानें हैं, अपनी बोलियाँ हैं। एक

और बात। जब शहरों की बात आती है तो कोई न कोई चीज़ अक्सर उनसे जुड़ी हुई होती है। बनारस है तो उसके साथ मृत्यु-मुक्ति जुड़ी है और ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्माण्ड वहीं बनाया गया। लखनऊ की जब बात आती है तो चिकन का काम उसके साथ जुड़ा हुआ है। तो अब ये सवाल आता है कि क्या कोई ऐसी चीज़ है जिसके साथ दिल्ली जुड़ी हुई है? उस ज़माने की दिल्ली जिसमें मैं बड़ा हुआ, उसमें ऐसी कोई नई बात नहीं थी जिससे उसकी पहचान की जाए। लेकिन उसके बावजूद दिल्ली का अपना एक रंग, एक रूप रहा है। दिल्ली से ज़्यादा कॉस्मोपॉलिटन जगह कोई नहीं है। यहाँ पर कभी भी किसी भी एक संस्कृति का दबदबा नहीं रहा है। ये कभी नहीं होगा और न हुआ था कि इस शहर की एक ज़बान बन जाए या इसका एक धर्म बन जाये या एक राजनीतिक पार्टी निकलकर आ जाये। जो चीज़ें मुम्बई में हो सकती हैं, या कोलकाता में हो सकती हैं यहाँ पर कभी नहीं हो सकतीं। आप पंजाबी बोलिये, आप हिन्दी बोलिये, आप उर्दू बोलिये, आप अंग्रेज़ी बोलिये, आप टूटी ज़बान बोलिये, आप ग़लत ज़बान बोलिये कोई आपको सुधारेगा नहीं। दूसरी चीज़ है, बेइन्तहा आज़ादी ख़ासतौर पर विचारों की। आप उर्दू में लिखिये, अंग्रेज़ी में लिखिये, आप कैसी भी कविता करिये, जो कुछ आप ठीक समझते हैं वो आप करिये।

कई मर्तबा लोग कह देते हैं कि दिल्ली की पहचान शायरी है लेकिन ये ग़लत है क्योंकि ये दिल्ली की पहचान बिल्कुल नहीं है। दिल्ली की जो लिट्ल ट्रेडिशन, जो छोटे समुदाय हैं दिल्ली के, उन्हें मतलब ही नहीं है इससे। उन्हें तो ग़ालिब भी समझ में नहीं आते। ग़ालिब को समझना बहुत मुश्किल है और ग़ालिब की कुछ ही ग़ज़लें हैं जो लोग समझ पाये हैं और जो बार-बार लोगों ने गायीं और जो थोड़ी लोकप्रिय हुईं। ग़ालिब की तमाम ग़ज़लें हैं *दीवान-ए-ग़ालिब* में, जो लोगों को समझ में नहीं आ सकतीं। और ख़ासतौर पर असद नाम से ग़ालिब जो लिखते थे, वो तो बिल्कुल समझ में नहीं आतीं क्योंकि उनमें बहुत ज़्यादा फ़ारसी है। जब *मिर्ज़ा ग़ालिब* फ़िल्म बनी जिसमें मोहम्मद रफ़ी और तलत महमूद ने गाया तब 'दिले नादाँ तुझे हुआ क्या है, आख़िर इस दर्द की दवा क्या है' जैसी रचनाएँ लोकप्रिय हुईं। वरना कौन उनको पढ़ता था और कितने लोग ग़ालिब को पढ़कर समझ सकते हैं? आज के दौर में ग़ालिब को उर्दू शायरी का एक उम्दा शायर कहना अलग बात है। ग़ालिब को दिल्ली की संस्कृति का नुमाइंदा कहना एक अलग बात है। ग़ालिब दिल्ली का प्रतिनिधित्व नहीं करते। ग़ालिब एक साहित्यिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। ग़ालिब दिल्ली की पहचान नहीं हैं, भले ही बल्लीमारान में रहें हों।

इस वजह से दिल्ली पर बात करने के लिए हमारा नज़रिया मुम्बई या कोलकाता से अलग होना चाहिए। मेरे ख़याल से बिल्कुल अलग होना चाहिए। जब हम दिल्ली का अध्ययन करें तब संस्कृति की तलाश के बजाय हमें अलग-अलग समुदायों को देखना चाहिए और ये कि समुदाय आपस में किस तरह से संबंध बनाते हैं। हमें ये देखना चाहिए कि तुर्कमान गेट में जो समुदाय है, उनमें आपस में कैसा संबंध होता है? मेरा ख़याल है कि तमाम लोग जो दिल्ली में पैदा हुए, दिल्ली में बड़े हुए उनको इस चीज़ का एहसास था और उन्होंने इस चीज़ पर लिखा। ये कोई नई बात नहीं है। इसी वजह से उन्होंने अपने-अपने अंदाज़ में कहा कि दिल्ली वाक़ई में टेब्युला रासा है यानी बिल्कुल ख़ाली स्लेट है, मतलब जिसमें आकर कोई भी बस जाये। यहाँ मैं एक-दो साहित्यिक मिसालें तुलना के लिए देना चाहूँगा। कहा गया है कि

बनारस की सुबह अच्छी
दोपहर है अच्छी शिमले की
शाम-ए-अवध का क्या कहिये
बम्बई की हर रात है अच्छी।

लेकिन दिल्ली के बारे में कहा गया है कि

दिल्ली की न फ़ज़ा माफ़िक़

जामा-ओ-लिबास है मामूली
सख़्त जाँ, बेवफ़ा लोग यहाँ
दिल्ली की न बात है अच्छी।

चूँकि यहाँ पे कुछ भी नहीं
महरूम है ये हर शै से
जैसी चाहो राह बनाओ
जो राग जँचे उस राग में गाओ
ख़ाली तख़्ती जो चाहो लिखो
दिल्ली की हर ज़ात है अच्छी
न तमद्दुन, न सलीक़ा, न रवायत
न ग़ुलामी-ए-मज़हब, न ग़ुलामी-ए-अदब
हर शख़्स को बनाना अपना आशियाँ
अपना तरीक़ा, अपना कहकशाँ
दिल्ली ने है बख़्शी, आज़ादी-ए-अव्वल
ये शहर है आला, कायनात है अच्छी।

आख़िर में, मेरे नाना की चंद लाइनें जो मेरे ख़याल से 1971 के आसपास लिखी गईंः

क्या लेना मुझे इटावे से
हरदोई से मेरा क्या रिश्ता
कड़क में रहता जिन्से वालिद
मैं बाशिंदा-ए-दिल्ली हूँ
जैसी भी है मेरी है
यहाँ का दाना, यहीं का पानी
हर शाम मेरी सुनहरी है।
क़िस्मत मेरी खुली यहाँ
आम बशर सुल्तान हुआ
जो आया वो गया नहीं
दिल्ली की वो शान हुआ
मेरी तरह ग़र और बशर
क़ल्बे दिल्ली में समाते रहे
क्या होगा तेरा बृज यहाँ
हर तरह के लोग अगर आते रहे
सोने के लिए होंगी सड़कें
चिड़ियों के लिए भी आब नहीं
खाने की क़तारें देखेंगे
दीदों में कोई ख़्वाब नहीं
जमना जो लबे दरियागंज थी
कहीं दूर सिमट जायेगी
जो हरियाली घर में मेरे
सेहरा की गोद में पायेगी
हर तरह दिखेगी नस्ले हव्वा
कोई भी तो क़रीब नहीं
कड़कती धूप और साया नहीं
दोस्त नहीं, रक़ीब नहीं
जद्दोजहद फ़ितरत होगी
पैसे में लिपटते पीर होंगे
ग़रीबों में ग़रीब होंगे
अमीरों में अमीर होंगे
इक्के दुक्के के पास है गाड़ी
कल गाड़ी ज़्यादा, लोग कम होंगे
देने वालों की मोहताजी होगी
लूटने वाले हर दम होंगे
कौन सोचेगा दिल्ली ऐसी थी
हुजूम, भूख, दम घुटता है
फिर भी इससे उंसियत है
जो भी दिल्ली में रहता है
चोरों के क़िस्से नहीं पता
नहीं ज़रूरत तालों की
अपनी हिम्मत से बनायेंगे
दिल्ली है दिलवालों की
जान-ए-सुख़न, जान-ए-वतन
दिल्ली मेरे दिल में बसती है
दिल्ली में तो कुछ भी नहीं
फिर भी ये मेरी हस्ती है।

रविकांत से बातचीत पर आधारित

तारीख़ी शहर

इतिहास को ऑब्जेक्टिव/वस्तुपरक बनाने की तमाम कोशिशों के बावजूद इतिहास स्वयं पक्षपात करता है। उसे तो शहर प्यारे हैं। इतिहास पर शहर हावी हैं। भले ही गाँव इतिहास बनाएँ पर उसे लिखता शहर है, वह शहर में लिखा जाता है, शहराती लोगों की क़लम और मानसिकता से। गाँव का इतिहास अकसर अनैतिहासिक तरह से प्रस्तुत किया जाता है। शहर गाँव को अकसर अपने से विपरीत छवि में गढ़ता है। गाँव भले ही सरल, प्राकृतिक और अधिक संवेदनशील नज़र आते हैं मगर साथ ही वे ठहरे, पिछड़े, पारंपरिक और भेदभाव करने वाले कहलाते हैं। शहर चाहे जितना पुराना हो वह आधुनिकता से फिर भी नवाज़ा जाता है — आधुनिकता की तमाम विसंगतियों के साथ।

अब बनारस को ही लीजिए। उपमहाद्वीप के संभवतः सबसे पुराने शहरों में से एक इस शहर में ग़ज़ब की जिजीविषा है — वह काशी और वाराणसी के रूपों में आज भी ज़िंदा है। पुराणकारों ने बनारस को जिन चमत्कारों से निर्मित किया कबीर की उनमें आस्था नहीं थी। मगर बनारस की महिमा कम कहाँ हुई? 19वीं-20वीं सदी का बनारस उपनिवेशवाद और भारतेन्दु के दौर से निकल कर एक ऐसे अनैतिहासिक ओरिएंटल (प्राच्य) शहर के रूप में उभरा जो पश्चिमी और भारतीय प्राच्यवादी विमर्श और कल्पना में सीमित एक eternal अर्थात समय से परे युगों-युगों का शहर नज़र आता है। बनारस बदला है, बदला होगा, मगर कहा जाता है कि 'मरना है तो वहाँ जाइये, जीना हो तो भी वहीं जाकर मरिए'।

अगर बनारस पौराणिकी के मिथक में क़ैद किया गया तो दिल्ली पुरातत्त्व के मिथक में। दिल्ली के पुराना क़िला के पुरानेपन को सिद्ध करने के लिए खुदाइयों का सहारा लेते हुए उसे पुरातत्त्व का वैज्ञानिक जामा पहनाने की तमाम कोशिशें हुई हैं। लेकिन कम लोग जानते हैं कि पुराना क़िला 1947 के बँटवारे के दर्दनाक अनुभव से कितनी गहराई से जुड़ा है। उस समय उसने सैकड़ों शरणार्थियों को पनाह दी। मगर वहाँ खुदाइयों का सिलसिला जारी रहा जो उसे प्राचीनता और आधुनिक सरकारी संरक्षण के चंगुल में फँसाता गया है। पुराना क़िला के रोज़ाना जीवन की लय उसकी प्राचीनता और राष्ट्रीयता के महावृत्तांत में कहीं खो गयी है — 'प्रमाण' चाहिए तो वहाँ होने वाला 'साउंड ऐण्ड लाइट शो' देख आइए।

बँटवारे का साया भारत-पाकिस्तान की आज़ादी पर कितना गहरा था यह अब धीरे-धीरे समझ में आ रहा है। राष्ट्रीय आंदोलन की 'विजय' के बाद उसकी यादों के साथ विस्मृति का इतिहास भी गढ़ा गया। मगर सन् सैंतालीस ने ग़ुलाम लोगों को केवल आज़ाद नहीं बनाया। पहचानें और भी बनीं — लोग स्वतंत्र होने के साथ उजड़े भी, शरणार्थी बने, अगर हिंसा के शिकार हुए तो शिकारी भी बने। और इस बनते-बिगड़ते-बिखरते-सँवरते माहौल के केन्द्र में अकसर महिलाएँ थीं। दिल्ली की 'रिफ़ूजिनों' की दास्तान ऐसे सार्थक अनुभवों से लबरेज़ है जिसमें कितनी ही औरतें साधारण को असाधारण में तब्दील करती दिखती हैं। राष्ट्रवाद की तमाम विडंबनाओं में से एक लैंगिक भी थी। 'घर' और 'बाहर' के अलग-अलग खाँचों में सिमटी महिलाओं के ज़रिए राष्ट्रवाद की संभावनाओं और सीमाओं पर हाल के वर्षों में काफ़ी बहस हुई है। मगर यह सरोकार टैगोर और गाँधी का भी कम नहीं था। हाँ, नया शोध 'घर' और 'सार्वजनिक' के बीच की लक्ष्मण रेखा को कहीं अधिक लचीला और महिलाओं द्वारा उसे लाँघने की सबॉल्टर्न प्रक्रिया के नए आयाम दर्शा रहा है।

इसी तरह बँटवारें के दंगों की हिंसा को स्थापित खलनायकों के मत्थे मढ़ने और दोषारोपण के राजनैतिक-सैद्धांतिक ढाँचे से बाहर निकालने की कोशिश आशिस नंदी जैसे विचारक करते रहे हैं। विभाजन की हिंसा के ज़िम्मेदार खिड़की से बाहर झाँकने से नहीं मिलेगें, उनके अक्स शीशे के सामने खड़े होकर भी दिख सकते हैं। अपने वर्तमान के लिए पूरी तरह से अतीत को दोषी ठहराने से काम नहीं चल सकता। उपनिवेशवाद के विरुद्ध राष्ट्रवाद अपनी ऐतिहासिक भूमिका निभाते-निभाते कुछ थक-सा गया है। पार्थो दत्ता सभी औपनिवेशिक

तत्त्वों को ख़ारिज करने की प्रवृति के ख़तरों की ओर इशारा करते हुए ग़ुलाम माज़ी के स्थापत्य से कुछ सीखना चाहते हैं ताकि हम आज़ाद होकर भी वही पुरानी ग़लतियाँ और अन्याय न करें। साथ ही वे यह भी मानते हैं कि औपनिवेशिक आधुनिकता के सबसे शानदार स्मारक हमारे शहर ही हैं — आज भी। तभी तो सदन झा दिल्ली की औपनिवेशिक बस्तियों की सड़कों पर टहलते-भटकते हैं — समय की धूल फाँकते हुए। उनके कलाइडोस्कोप में राजा तोमर, 1857, चंद्रावल के गूजर, कॉरोनेशन पार्क, किंग्सवे कैंप, हरिजनों के सेवक, मिशनरी, रेडियोकर्मी, मुक्तिबोध और चाऊमीन बेचती और फ़ोटोकॉपी करती दुकानें — सब मौजूद हैं। क्यों? क्योंकि, कहते हैं कि शहर में साँप की आँखों का आकर्षण होता है — जो आता है, बस इसी का होकर रह जाता है। सर्पदंश के भय, सीने में जलन और अकेलेपन की शिकायत के बावजूद शहर वो लड्डू है जिसे खाकर कौन पछताना नहीं चाहता?

सचमुच क्या भारतीय शहर अपनी पौराणिकता, अपनी औपनिवेशिकता और अपनी आधुनिकता से मुँह चुरा सकते हैं?

रविकांत + संजय शर्मा

शहरे आशोब
(आगरा शहर की दुर्दशा)

सर्राफ़, बनिए, जौहरी और सेठ, साहूकार
देते थे सबको नक़्द, सो खाते है अब उधार
बाज़ार में उड़े है पड़ी ख़ाक बे शुमार
बैठे है यूं दुकानों में अपनी दुकानदार
जैसे कि चोर बैठे हों क़ैदी क़तार बंद...

सौदागरों को सूद, न व्यौपारी को फ़लाह
बज्ज़ाज़ को है नफ़ा न पनसारी को फ़लाह
दल्लाल को है याफ़्त, न बाज़ारी को फ़लाह
दुखिया को फ़ायदा न पिसनहारी को फ़लाह
यां तक हुआ है आन के लोगों का कार बंद...

इस शहर के फ़क़ीर भिखारी जो है तबाह
जिस घर पे जा-जा सवाल वह करते है ख़्वाह मख़्वाह
भूखे है कुछ भिजाइयो बाबा ख़ुदा की राह
वां से सदा यह आती है 'फिर मांगो' जब तो आह
करते है होंट अपने वह हो शर्म सार बंद...

नज़ीर अकबराबादी (1735-1830)
***नज़ीर ग्रंथावली*, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1992**

पुरातत्त्व का मिथक व मिथक का पुरातत्त्व

पुराना क़िला

आनंद विवेक तनेजा



एक 'आधुनिक' शहर के मौजूदा भूगोल में किसी स्मारक, किसी नज़ाराखेज़ खंडहर के क्या मायने हैं?
यह माज़ी को हमारे सामने कैसे पेश करता है?
और प्रस्तुति की इस प्रक्रिया में क्या है जो हमारी नज़र से ओझल हो जाता है?

पुराने क़िले के बारे में मैंने पिछले दिनों कुछ तफ़तीश की थी। यह लेख उसी सिलसिले में उभरे कुछ ज़ाहिरा सवालों के जवाब पेश करने की एक कोशिश है। मगर सवालों की चीरफाड़ से बढ़कर यह पर्चा एक-दूसरे को काटते हमारे इतिहासों व एजेंडा के एक जाल की तरफ़ इशारा करता है जो एक स्मारक के काल और परिवेश के चेहरे पर आड़ी-टेढ़ी लकीरें खींचता जा रहा है। एक ऐसा जाला जिसको सुलझाने की क़वायद अभी बमुश्किल शुरू ही हुई है। इस पर्चे में मैंने साहित्यिक और स्थैतिक लिहाज़ से अतीत की निर्मिति को देखने की कोशिश की है, यानी मैंने एक स्थान विशेष की पुरातात्त्विक खुदाई और इस जगह के साथ जुड़े दैनंदिन क्रियाकलापों पर नज़र डालने की कोशिश की है। मैंने अपने अनुसंधान के दौरान संरक्षण आंदोलन और ऐतिहासिक विरासत की अवधारणा के मुताल्लिक़ जिस तरह की समस्याओं को महसूस किया, यहाँ मैं उन्हीं को दर्ज करने की कोशिश कर रहा हूँ।

I. अतीत की नक़्शानवीसी

जब मैं लखनऊ में प्राथमिक पाठशाला में पढ़ता था तो हम चित्रमाला से जीव-जंतुओं, प्राकृतिक संसाधनों, राष्ट्रनायकों, राष्ट्रीय पोशाकों, राष्ट्रीय पर्वों आदि आदि की जलरंगी तस्वीरें काटकर अपनी समाज विज्ञान की कॉपियों में चिपकाया करते थे। ये चित्रमालाएँ नज़दीक की स्टेशनरी दुकान पर आसानी से उपलब्ध थीं। उनमें से

'हिंदुस्तान की ऐतिहासिक इमारतें' नामक चित्रमाला मुझे आज भी अच्छी तरह याद है। तरह-तरह की इमारतों से भरी यह चित्रमाला एक लम्बी-चौड़ी श्रृंखला का हिस्सा थी जिसके कई दिलचस्प नमूने हमने देखे हैं। उसमें एक चित्रमाला का शीर्षक 'मुग़ल काल' था (जिसकी शुरुआत मोहम्मद ग़ोरी के एक पासपोर्ट साइज़ फ़ोटो के साथ होती थी) तो दूसरी का 'हिंदू काल'। ये चित्रमालाएँ इंडियन बुक डिपो, बहादुरगढ़ रोड, दिल्ली से निकलती हैं और अगर मेरे स्कूली दिनों से अब तक हालात में कोई बड़ा बदलाव न आया हो तो मेरा ख़याल है कि उत्तरी भारत के कई इलाक़ों में विद्यार्थी आज भी इन तस्वीरों को काटकर अपनी समाज विज्ञान की कापियों में चिपका रहे होंगे। 'भारत की ऐतिहासिक इमारतें' चार्ट में चौबीस इमारतें हैं। इस चित्रमाला की शुरुआत बिरला मंदिर, नई दिल्ली के साथ होती है और यह लाल बहादुर शास्त्री की समाधि विजय घाट पर जाकर ख़त्म हो जाती है। ये दोनों स्मारक दिल्ली में हैं। बल्कि मुकम्मल तौर पर देखा जाए तो 24 में से 15 इमारतें दिल्ली की ही हैं जिनमें गुरुद्वारा शीशगंज, संसद भवन, साउथ ब्लॉक, नॉर्थ ब्लॉक, जामा मस्जिद, पुराना क़िला, लाल क़िला, क़ुतुबमीनार, जंतर-मंतर, इंडिया गेट, हुमायूँ का मक़बरा, राजघाट और शांति वन भी शामिल हैं। इस फ़ेहरिस्त में मुग़ल काल से पहले के सिर्फ़ दो स्मारक हैं — क़ुतुब मीनार और साँची का भव्य स्तूप। विंध्य के दक्षिण में स्थित भू-भाग की क़िस्मत भी कुछ ऐसी ही है। वहाँ के सिर्फ़ दो स्मारकों को इस चित्रमाला में जगह मिली है। गेटवे ऑफ़ इंडिया और चारमीनार, दोनों ही विश्व प्रसिद्ध स्मारक हैं और इन्हें चित्रमाला में जगह दे दी गई है। देश के पूर्वी हिस्से से सिर्फ़ हावड़ा ब्रिज ही इस चित्रमाला में जगह पा सका है। पश्चिमी भू-भाग से चित्तौड़गढ़ का विजय स्तम्भ इस चित्रमाला में सिर उठाए खड़ा है। मगर इंडियन बुक डिपो द्वारा छपी और उत्तर भारत के करोड़ों छात्रों के ज़ेहन पर कटती और सटती इस चित्रमाला के मुताबिक़ देश का इतिहास कुल मिलाकर दिल्ली में ही बसता है और वह भी साम्राज्यवादी नक़्शों में, चाहे फिर वह मुग़लकालीन हो या फ़िरंगियों के ज़माने का। शायद यह महज़ इत्तेफ़ाक़ नहीं है कि चित्रमाला की क्षैतिज और लम्बवत् क़तारों में पुराना क़िला बीचोंबीच — या तक़रीबन बीचोंबीच — सिर उठाए खड़ा है।

आज जो पुराना क़िला आप देखते हैं यह सोलहवीं सदी के मध्य में बना था। यह इमारत हुमायूँ और शेरशाह के छोटे से मगर उथल-पुथल भरे शासनकाल की गवाह है। और 'सरकारी' इतिहास की पोथियों में तो कम से कम उसी सदी के अंत से इसे पांडवों और महाभारत के साथ जोड़कर देखा जाने लगा था।[1] तक़रीबन एक सदी पहले, 1911 में दिल्ली को ब्रिटिश भारत की नई राजधानी बनाने की जद्दोजहद में मुब्तिला लॉर्ड हार्डिंग ने लिखा था; 'दिल्ली अभी भी एक मायावी नाम है। हिंदुओं के दिलोदिमाग़ में यह नाम बहुत सारे ऐसे पवित्र प्रतीकों और किंवदंतियों के साथ जुड़ा हुआ है जो इतिहास के प्रारंभ बिंदु से भी पुराने हैं। दिल्ली के मैदानों में ही पांडव राजकुमारों ने कौरवों के साथ एक भीषण युद्ध लड़ा था जिससे अंततः महाभारत की रचना हुई। और यमुना के तट पर ही पांडवों ने वह प्रसिद्ध यज्ञ किया था जिसमें उनकी ताजपोशी हुई थी। पुराना क़िला आज भी उसी जगह आबाद है जहाँ उन्होंने इस शहर की बुनियाद डाली थी और इसे इंद्रप्रस्थ का नाम दिया था। यह आधुनिक दिल्ली शहर के दक्षिणी दरवाज़े से बमुश्किल पाँच क़िलोमीटर दूर पड़ता है। मुसलमानों के लिए भी यह अप्रतिम गर्व की बात होगी कि मुग़लों की प्राचीन राजधानी को हमारे साम्राज्य में ऐसा गौरवपूर्ण स्थान मिले।'[2]

शाहजहाँनाबाद के मैदानी दक्षिणी इलाक़े के बारे में उन्नीसवीं शताब्दी के आख़िरी और बीसवीं शताब्दी के शुरुआती सालों के ब्योरों में इसे आमतौर पर 'भुतहा और मनहूस मक़बरों का वीरान शहर' ही कहा गया है।[3] उन ब्योरों में यह मिट्टी में मिल चुके राजवंशों का ओज़ीमंडियानुमा खंडहर भर था। साम्राज्यवादी नज़र को अपने उपनिवेश के इस इलाक़े में मौत और तबाही का मंज़र भर दिखाई देता था जबकि उन्हें अपनी सभ्यता के रास्ते में ऐसा कोई ख़तरा दिखाई नहीं देता था। उनकी नज़र में उनके साम्राज्य के तहत होने वाली तमाम घटनाएँ इतिहास की एक सतर लकीर का हिस्सा थीं। इतिहास की इस रैखिकीयता में इन खंडहरों का समावेश नज़रिए में बदलाव की तरफ़ इशारा करता है। अपने बदरंग इतिहास की वजह से 1911 से पहले पुराना क़िला वॉल्ड सिटी से दो मील की दूरी पर दिल्ली के खेत-क्यारियों के बीच एक चौहद्दी से घिरे दो हज़ार से भी कम की आबादी वाले गाँव से ज़्यादा हैसियत नहीं रखता था। मगर महज़ कुछ अर्सा बाद, 1919 में पुरातात्त्विक सर्वेक्षण विभाग ने दिल्ली के स्मारकों की 'ज़फ़र हसन फ़ेहरिस्त' तैयार की और उसमें लिखा कि 'नई राजधानी की

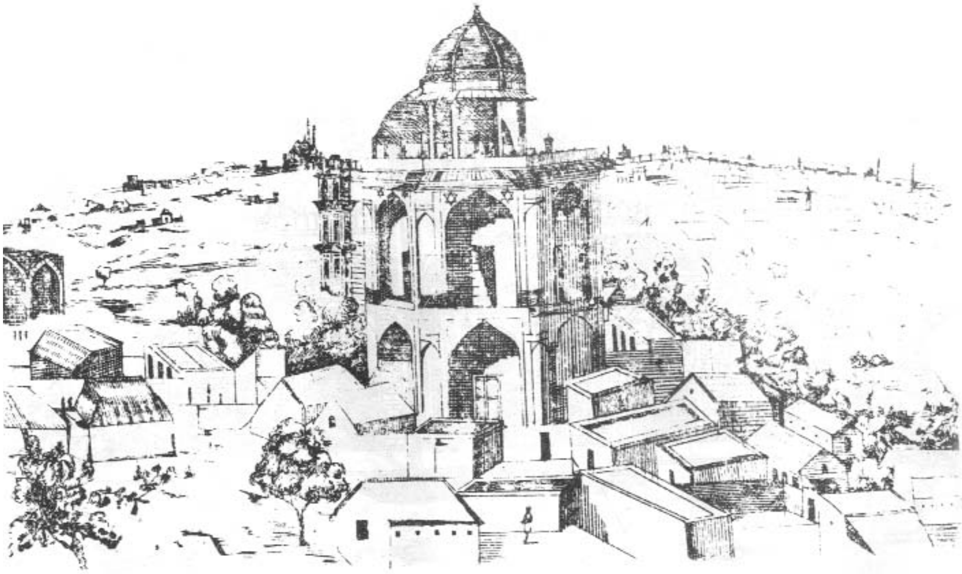
रूपसज्जा में इस दुर्ग का एक ख़ास महत्व है क्योंकि यह गवर्नमेंट हाउस से पूरब को निकलने वाली शाह राह पर दो मील दूर स्थित आख़िरी मुक़ाम है। क़िले और मुख्य भूमि के बीच झील बनाने या इसके इर्द-गिर्द नदी निकालने की जो तजवीज़ें पेश की गई हैं अगर उन्हें अमल में लाया जाए तो यह हिंदुस्तान की सबसे दिलकश इमारतों में शुमार हो जाएगा'।[4] और इसको अमली जामा पहनाने के लिए 'दिल्ली को राजधानी बनाने के बाद उसकी ऐतिहासिक इमारतों के सौंदर्यीकरण के लिए नागरिक अधिकारियों द्वारा किए गए ढेर सारे उपायों में सबसे महत्वपूर्ण क़दम था पुराना क़िले में बसी गंदी बस्तियों को हटाने का...। मार्च 1913 में घरों को अधिग्रहीत कर लिया गया और उनमें रहने वाले 1900 बाशिंदों को कहीं और भेज दिया गया। इनमें से कुछ मुख्य शहर की तरफ़, कुछ रोहतक, कुछ बुलंदशहर और कुछ गुड़गाँव ज़िले की तरफ़ निकल गए...। 1913-14 में गाँव की झोंपड़ियों को भी वहाँ से हटा दिया गया और क़िले के अंदरूनी हिस्से को चारों तरफ़ से बंद उद्यान की शक्ल दे दी गई...।'[5]

'ज़फ़र हसन फ़ेहरिस्त' के नाम से मशहूर स्मारकों की सूची में दिल्ली के तमाम स्मारकों को अलग-अलग श्रेणियों या दर्जों में रखा गया था। इनमें एक श्रेणी ऐसे स्मारकों की थी जिन्हें ऐतिहासिकता या ख़ूबसूरती की बिना पर बनाए रखना ज़रूरी था जबकि एक श्रेणी में ऐसे स्मारक थे जिन्हें ज़रूरत पड़ने पर नष्ट किया जा सकता था।[6] यह साम्राज्य के पैर पखारता पुरातत्त्व था। यह पुरातत्त्व इस बात का हर मुमकिन इंतज़ाम करता जा रहा था कि आने वाले दौर में इस शहर को किस तरह पढ़ा जाएगा। यदि फ़ूको के शब्दों का सहारा लें और ये कहें कि परम्परागत इतिहास ने अतीत के स्मारकों को 'याद रखने', उन्हें दस्तावेज़ों में रूपांतरित कर देने[7] का बीड़ा उठा लिया था तो हमें ये भी कहना पड़ेगा कि नए शहर के नियोजन के लिए दस्तावेज़ीकरण या अभिलेखकरण में भी ख़ास मंसूबे साफ़ दिखाई देते हैं। ज़फ़र हसन फ़ेहरिस्त में स्मारकों की गणना गाँव की ज़मीन की परम्परागत सीमाओं को ध्यान में रखते हुए की गई है। कम से कम इंदरपत गाँव के मामले में उसने भूतपूर्व साम्राज्य के विराट चिन्हों को बनाए रखने की पूरी कोशिश की। छोटी-छोटी 'लोकप्रिय' इमारतें — मंदिर, पूजा-अर्चना का केंद्र बन चुकी क़ब्रों और इस तरह की चीज़ों को क्लास थ्री की रेटिंग दी गई। मगर हैरत की बात यह है कि इंदरपत की बहुत सारी क्लास थ्री इमारतें फिर भी सुरक्षित रह गईं। मटका पीर भी इन्हीं इमारतों में से एक था। यहाँ की इन इमारतों या मटका पीर के बचे रह जाने की शायद एक वजह यह थी कि नए शहर की मूल योजना में इस इलाक़े में किसी तामीर का इरादा था ही नहीं। उल्लेखनीय है कि दिल्ली के स्मारकों की आईएनटीएसीएच (इंटैक) सूची में भी उसी वर्गीकरण का इस्तेमाल किया गया है जिसका ज़फ़र हसन फ़ेहरिस्त में किया गया था।

II. विभाजन

तय नक़्शे के मुताबिक़ बनाए गए नई दिल्ली शहर में सन् 1947 तक पुराने क़िले के सबसे नज़दीक पड़ने वाली इमारत लेडी विलिंगडन का स्टेडियम था जिसे किंग्सवे के आख़िर में बनाया गया था। हालाँकि मूल योजना में यह रास्ता यानी किंग्सवे पुराने क़िले पर ही जा कर ख़त्म होता था मगर बाद में इसे थोड़ा सा पहले ही ख़त्म कर दिया गया। लेडी विलिंगडन स्टेडियम के अलावा उस ज़माने में पुराने क़िले के सबसे नजदीक पड़ने वाली रिहाइशी बस्ती के नाम पर पुराना क़िला रोड और सुजान सिंह पार्क में रहने वाले अफ़सरों के कामचलाऊ तम्बू थे और उनके बाद बस्ती निज़ामुद्दीन पड़ती थी। क़िले के इर्द-गिर्द ज़्यादातर जंगल-झाड़ियाँ थीं और उसके बग़ल से मथुरा रोड गुज़रती थी।

आज़ादी मिलने के तीन हफ़्ते बाद, 5 सितम्बर को दिल्ली में चल रही हिंसा की छिटपुट वारदातों ने भयानक दंगे और कत्लोग़ारत का रूप ले लिया। सबसे बुरा असर उन इलाक़ों पर पड़ा जहाँ 'मिली-जुली' आबादी रहती थी। करोल बाग़, सब्ज़ी मंडी, सदर बाज़ार, फ़तेहपुरी और पहाड़गंज में सबसे ज़्यादा मारकाट मची। लोदी रोड कॉलनी के वाक़यों के बाद नई दिल्ली में पहली बार कर्फ़्यू लगाया गया। पुराने क़िले और हुमायूँ का मक़बरा में बने शरणार्थी शिविरों में काम करने वाली बेगम अनीस किदवई के मुताबिक़ दंगा शुरू होने पर मुसलमान भाग-भाग कर पुराने क़िले में जमा होने लगे और यहाँ रातोंरात शरणार्थी शिविर खुल गया। उन्होंने लिखा है, 'पुराना क़िला शरणार्थी शिविर किसी योजना के तहत नहीं खुला था। पहाड़ गंज, करोल बाग़, शैदपुरा, सब्ज़ी मंडी और दूर-पास



के तमाम इलाक़ों के जख़्मी, बीमार, बूढ़े, बच्चे व औरतें दिन-रात भाग रहे थे। भूख-प्यास के मारे ये लोग पगलाने की ज़द पर पहुँच चुके थे। नज़दीक ही एक पहाड़ी पर मटके शाह की दरगाह थी। मुमकिन है यहाँ ऐसे ही किसी दिन के लिए लोगों ने मटके इकट्ठा कर रखे थे...। जब 5 सितम्बर को बलवा शुरू हुआ तो भागने वालों को ये मटके बड़े काम आए...। मटके शाह के रखवालों ने हर माँगने वाले को मिट्टी के ये घड़े थमा दिए...। इनसे लोगों ने पानी पिया और जब राशन मिलने की बारी आई तो इन्हीं मटकों को तोड़कर उन्होंने तश्तरियाँ बना लीं और उन्हीं में खिचड़ी-तरकारी पका लिए। मटकों के टुकड़ों को लोगों ने गिलास और कटोरियों की तरह इस्तेमाल में ले लिया...।'[8]

अनीस किदवई के संस्मरणों में इन राहत शिविरों की दुर्दशा का बड़ा तफ़्सीली ब्योरा मिलता है। उन्होंने बताया है कि इन शिविरों में ज़रूरत भर राशन नहीं था, भ्रष्टाचार का बोलबाला था और सितम्बर की भारी बरसात से बीमारियों की लहर सी आ गई थी। रही-सही कसर क़िले की झाड़ियों में छिपे साँपों ने पूरी कर दी। कई लोग उनके शिकार बने। अनुमान लगाया जाता है कि तक़रीबन तीन माह तक चले पुराना क़िला शिविर में 60,000 लोग थे और सितम्बर में तो इन लोगों की तादाद 80,000 तक थी।[9] इस राहत शिविर के बारे में मुकुल केशवन ने लिखा है, "पहले तीन दिन तक बरसात की वजह से फूल कर पानी में तैरने लगे गोबर के ढेरों से निजात का कोई रास्ता नहीं था। हर तरफ़ गोबर और टट्टी की सड़ांध थी...। चौथे दिन तक एक घृणास्पद सामान्यता तारी हो गई चूँकि मैले के अनगिनत प्रतिरूप पैदा होने लगे। किसी भी इंसानी बस्ती की तरह यहाँ भी ज़िंदगी ने ज़िंदगी को पैदा करना शुरू कर दिया था। किसी भी इंसानी बस्ती की तरह यहाँ भी ज़िंदगी का कारवाँ नए सिरे से शुरू होने लगा था...। पाँचवें दिन, यानी पीने के पानी का इंतज़ाम होने या सिपाहियों के पड़ाव डालने से भी पूरे चौबीस घंटे पहले यहाँ सूचियाँ तैयार करने वाले काउंटर खुल गए। पिता/पति का नाम; लिंग; बच्चे; आवास; गृह नगर; पंसद की राष्ट्रीयता...... की आवाज़ें गूँजने लगीं।"[10] सबसे भयानक विडंबना का शिकार मौलवी ज़फ़र हसन बने जिन्होंने ज़फ़र हसन फ़ेहरिस्त के ज़रिए क़िले के भीतरी इलाक़े से इंदरपत गाँव के सफ़ाए की तजवीज़ पर दस्तख़त किए थे। पाकिस्तान की तरफ़ कूच करने से पहले उन्हें मजबूरन इसी क़िले में शरण लेनी पड़ी।[11]

1976 के *दिल्ली गज़ेटियर* के मुताबिक़, "1947 में देश विभाजन के बाद दो लाख से ज़्यादा मुसलमान पाकिस्तान चले गए। दिल्ली में मुसलमानों की संख्या 1941 तक 3,04,971 थी जबकि 1951 में उनकी संख्या महज़ 99,501 यानी 2,05,470 कम रह गई थी।"[12] आँकड़ों की नज़र से देखें तो जिस दौरान यह कैम्प चला

उस दरमियान किसी भी मौक़े पर दिल्ली की तक़रीबन 20 प्रतिशत मुस्लिम आबादी, जिनमें ज़्यादातर शहरी आबादी थी, और जिनमें से बहुत सारे जल्दी ही पाकिस्तान जाने वाले थे, पुराना क़िला में थी। मगर 1947 के सितम्बर में पुराने क़िले को नक़्शे से बेदख़ल कर दिया गया। अगर आप *हिंदुस्तान टाइम्स* के दिल्ली संस्करण के पाठक रहे हैं तब तो आपको ज़रूर यही लगेगा। उस दौर के अख़बार मुसलमानों से भय और उनके प्रति अविश्वास से भरे पड़े थे। पश्चिमी पंजाब पुलिस और सैनिक अधिकारियों द्वारा वहाँ से हिंदुस्तान की तरफ़ निकलने की कोशिश कर रहे शरणार्थियों पर किए गए अत्याचारों की कहानियाँ, अपने रिश्ते-नातेदारों की तलाश में भटकते और पश्चिमी पंजाब से आए शरणार्थियों के जत्थों की ख़बरें इन अख़बारों में सबसे ऊपर और स्वाभाविक रूप से सबसे प्रमुख थीं। पुराने क़िले के आसपास पहुँचने वाली ख़बर दिल्ली के अंग्रेज़ीभाषी नागरिकों में मुसलमानों (Meos) को लेकर पैदा हो रहे भय और अविश्वास से संबंधित थी। मेओ मुसलमान भी अलवर और भरतपुर की रियासतों में हिंसा का निशाना बनने के बाद वहाँ से भाग कर निज़ामुद्दीन के आसपास इकट्ठा हो गए थे। *हिंदुस्तान टाइम्स* में यदा-कदा पुराना क़िला के जो ज़िक्र आए हैं उनमें एक अंक 10 सितम्बर का भी है। 10 तारीख़ यानी दंगे शुरू होने के 5 दिन बाद महात्मा गांधी कलकत्ता से दिल्ली पहुँचते हैं। उस दिन के अख़बार में छपा — "अल्पसंख्यक समुदाय के लोगों को सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाने का काम बड़े पैमाने पर पूरा कर लिया गया है। पुराना क़िला, ईदगाह और कई पुलिस थानों में सैकड़ों (अल्पसंख्यक समुदाय के लोग) इकट्ठा हो चुके हैं।" यानी सिर्फ़ सैकड़ों? *हिंदुस्तान टाइम्स* उनके बारे में परेशान नहीं था जो यहाँ से हमेशा के लिए चले जा रहे थे। अख़बार में तो कमोबेश सिर्फ़ उन्हीं की पीड़ा का ज़िक्र था जो पाकिस्तान से भारत आ रहे थे — अगस्त में 1,26,668; सितंबर में 1,13,247 और पूरे 1947 में कुल 4,68,562।[13]

पुराने क़िले में तरह-तरह के लोग वॉलंटियर का काम कर रहे थे। जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय के विद्यार्थी, जमीयत-उल-उलेमा के कर्मचारी, गांधीवादी, ट्रेड यूनियन कार्यकर्त्ता — सब यहाँ शरणार्थियों की मदद कर रहे थे। बेगम अनीस किदवई के लिखे वृत्तांत, हुमायूँ का मक़बरा राहत शिविर में 'जामिया ब्वॉयज़' के साथ काम करने वाले मसूद-अल-हक़ के साथ मेरी बातचीत और सुभद्रा जोशी (जो ट्रेड यूनियन कार्यकर्त्ता थीं और क़िले में राहत का इंतज़ाम करने के अलावा उन्होंने 'शांति दल' के नाम से कार्यकर्त्ताओं का एक जत्था भी बनाया था जो पुल बंगश और बाड़ा हिंदुराव के मुस्लिम बहुल इलाक़े में शांति बनाए रखने के लिए पहरे देता था) के ब्योरों से पता चलता है कि इन शिविरों के लोग यहाँ से निकलने और किसी भी तरह पाकिस्तान को रवाना होने के लिए कितने बेचैन थे और उन्हें यहाँ रुके रहने के लिए तैयार करने में लोगों को कितनी मुश्किल पेश आ रही थी। जब भी पाकिस्तान को जाने वाली किसी रेलगाड़ी का ऐलान होता तो लोग तीन दिन पहले ही क़तार लगाकर खड़े हो जाते थे। सुभद्रा जोशी के मुताबिक़ मौलाना आज़ाद की कोशिशों के बावजूद हालात में कोई ख़ास सुधार नहीं आया। और तो और, मौलाना आज़ाद कैम्प के रहवासियों की इस माँग से आजिज़ आ चुके थे कि उन्हें घर वापसी से पहले हिफ़ाज़त के लिए हथियार दिए जाएँ। आख़िरकार उनके सब्र का बाँध टूटने लगा। उन्होंने चिढ़ कर कहा, 'अगर पाकिस्तान ही जाना है तो जाओ। तुम लोग यहाँ रह कर भी सरकार पर कोई अहसान नहीं कर रहे हो?'

पुराना क़िला स्थित मुस्लिम राहत शिविर के बंद होने के कुछ ही अर्सा बाद पुराना क़िला एक और शरणार्थी शिविर में तब्दील हो गया। पुराने शरणार्थी शिविर के लोगों को या तो हुमायूँ के मक़बरे में चल रहे शरणार्थी शिविर में भेज दिया गया या वह पाकिस्तान चले गए थे। नए शरणार्थी शिविर में पश्चिमी पंजाब और पश्चिमोत्तर सीमांत प्रदेशों से आए हिंदू और सिक्ख शरणार्थियों को लाकर रख दिया गया। 1948 के आख़िर में पेशावर के पास स्थित मरदान से इस राहत शिविर में पहुँचे किशनलाल उस वक़्त महज़ 15 साल के थे। उन्हें उस जमाने में राहत शिविर के तम्बुओं में गुज़ारे दिन और 1952 में 10x10 फ़ुट के पक्के क्वार्टरों में बिताई ज़िंदगी अब तक याद है। उनका अंदाज़ा है कि क़िले के भीतर इस तरह के 12,000 क्वार्टर रहे होंगे और हर क्वार्टर में तक़रीबन चार लोग ज़रूर थे। इसका मतलब है कि क़िले के भीतर 50,000 लोग थे। उनके भाई प्रेमचंद के मुताबिक़ यह तादाद 30,000 के आसपास थी। वहाँ लगभग पचास मीटर की जगह में एक फाटकनुमा बाज़ार था जो क़िले के सामने से गुजरने वाली सड़क के चौराहे पर पड़ता था। जहाँ अब भारतीय पुरातत्त्व विभाग का

दफ़्तर है वहाँ उस समय एक सरकारी स्कूल था। तलाक़ी दरवाज़े के ऊपर, क़िले के उत्तरी फाटक पर एक गुरुद्वारा भी था।

III. इंद्रप्रस्थ की पुनर्रचना

सन् 1955 तक आते-आते क़िले के इर्द-गिर्द की जगह भरने लगी थी। सैयद अहमद ख़ान ने जिन्हें इंदरपत के मशहूर मैदानों[14] (जिसके एक हिस्से को अब इंद्रप्रस्थ एस्टेट के रूप में स्मारक का दर्जा दे दिया गया है) का नाम दिया था उन पर अब तामीर के निशान दिखाई देने लगे थे। बापा नगर, काका नगर और सुंदर नगर का तो निर्माण किया ही गया, क़िले के ठीक उत्तर में भी भारतीय उद्योग मेले के लिए मैदान ख़ाली कर दिया गया। यह मेला 29 अक्टूबर 1955 से शुरू हुआ और नौ सप्ताह तक चलता रहा। 1 जनवरी 1956 को नेहरू ने लिखा, "उद्योग मेले की कामयाबी इतनी ज़बरदस्त रही कि मेरे ख़याल में अगर आप नुमाइशों के लिए कोई स्थायी इंतज़ाम कर लें तो बेहतर रहेगा... कहने का मतलब है कि जहाँ यह नुमाइश लगाई गई है उस स्थान को स्थायी रूप से इसी काम के लिए आरक्षित कर दिया जाए और किसी इमारत या अन्य किसी कार्य के लिए उसका इस्तेमाल न किया जाए...।"[15] और इस तरह उस कहानी की शुरुआत हुई जिसे 1972 के बाद प्रगति मैदान के नाम से जाना गया। इस उद्योग मेले के बारे में फ़िक्की के चेयरमैन का कहना है, "उसमें कम से कम 21 देशों ने शिरकत की थी... उनके बीच बड़ी दोस्ताना होड़ थी यह दिखाने की कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी से इंसानियत की तक़दीर किस क़दर बदली जा सकती है।"[16] इस मौक़े पर मुझे महाभारत की कहानी याद पड़ती है। कहते हैं कि जब कृष्ण और अर्जुन ने अग्नि के कहने पर जंगल को जलाकर राख कर दिया तो माया ने पांडवों के इंद्रप्रस्थ के लिए एक चमत्कारिक भव्य भवन का निर्माण कर दिया था। इस बार फ़र्क़ सिर्फ़ यह था कि इंद्रप्रस्थ की ज़मीन पर बनाया गया भव्य भवन अग्नि और माया के लिए नहीं बल्कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी की नुमाइश के लिए था। और जिस साल क़िले के उत्तरी इलाक़े में इंद्रप्रस्थ को एक नई शक्ल दी जा रही थी उसी साल क़िले के भीतर उसे एक बार फिर खोजने की कोशिशें भी चल रही थीं।

1954-55 के *इंडियन आर्कियोलॉजी रिव्यू* के मुताबिक़, "इस जगह की प्राचीनता का पता लगाने और यह सुनिश्चित करने के लिए नॉर्थ वेस्ट सर्कल के श्री बी.बी. लाल द्वारा एक प्रायोगिक खुदाई की गई कि क्या यह वही जगह है जिसे प्राचीन काल में इंद्रप्रस्थ कहा जाता था। खुदाई से पता चला कि लगभग 1,000 ईसा पूर्व के काल में यहाँ इंसानी रिहाइश थी और ये लोग विशिष्ट प्रकार के बर्तनों और सलेटी रंग की चीज़ों का इस्तेमाल किया करते थे...। खुदाई पूरी नहीं हो सकी...।"[17] खुदाई क्यों अधूरी रह गई इस बारे में कोई कारण नहीं दिया गया। अनुमानतः खुदाई इसलिए पूरी नहीं हो पाई क्योंकि खुदाई एक ऐसी जगह पर की जा रही थी जहाँ आबादी काफी घनी थी।

28 अक्टूबर 1955 को नेहरू ने लिखा, "क्योंकि यह {चिड़िया घर} एक विशाल पार्क बनने जा रहा है इसलिए इसका क्षेत्रफल काफ़ी बड़ा होना चाहिए और स्वाभाविक रूप से पुराना क़िला भी उसके भीतर आ जाएगा. .. पुराना क़िला हमारे अत्यंत बहुमूल्य पुरावशेषों के भंडार का एक हिस्सा है। मुझे यह इमारत बहुत पसंद है और पुराने क़िले के आसपास का सारा इलाक़ा तमाम तरह की इमारतों से आज़ाद रहना चाहिए। मुझे यह जानकर बड़ा दुख हुआ है कि बहुत सारे शरणार्थी अभी भी वहाँ रह रहे हैं। मेरे विचार से उन्हें वहाँ से हटा दिया जाना चाहिए।"[18] उसी दिन नेहरू ने पुनर्वास मंत्री एम.सी. खन्ना को लिखा कि पुराना क़िला इलाक़े को जल्दी से जल्दी ख़ाली कराया जाए। इसके जवाब में एम.सी. खन्ना ने लिखा कि पुराने क़िले में रहने वाले परिवारों के लिए नई जगह ढूँढने में साल भर का समय लग जाएगा।[19]

शरणार्थी साल भर बाद भी वहाँ से नहीं हटे। नतीजा ये हुआ कि पुराना क़िला चिड़िया घर के भीतर नहीं आ सका। 1959 में पुराने क़िले के बिना ही चिड़िया घर का उद्‌घाटन कर दिया गया। मगर यहाँ नेहरू की नज़र हमें कुछ सोचने पर मजबूर करती है। वह ज़ूलॉजिकल ऐण्ड बॉटेनिकल गार्डन यानी चिड़िया घर की कृत्रिम हरियाली में इस क़िले को इतिहास से काटकर देखना चाहते थे। उनकी इस इच्छा को देखकर ऐसा लगता है

मानो वह 'ऐतिहासिक' स्थल को एक ऐसे रूप में देखना चाहते थे जिसमें इतिहास के अगले पड़ावों के लिए कोई जगह नहीं होती। उनकी नज़र में ऐसे स्मारकों को रोज़-ब-रोज़ ज़िंदगी की भागमभाग से अलहदा रख कर हरे-भरे मैदानों में स्थित कर देना ज़्यादा बेहतर था। नतीजा, एक तरफ़ चिड़िया घर और दूसरी तरफ़ प्रगति मैदान — यानी अतिआधुनिकता और व्यवस्थित जंगलों से घिरा पुराना क़िला उस शहरी यथार्थ में अपना संदर्भ खो देता है जिसका वह कभी अभिन्न अंग था। दक्षिण में हुमायूँ का मक़बरा, जो अब चिड़िया घर के भीतर आ चुका है, की तरफ़ फैले मध्यकालीन शहर के अवशेषों से अलग-थलग और शीघ्र ही देश विभाजन के मारे शरणार्थियों को पनाह देने के सौभाग्य से वंचित हो जाने वाले क़िले को सिर्फ़ इंद्रप्रस्थ के रूप में देखा जा सकता था जिसका इतिहास सोलहवीं सदी के एक छोटे से वक़्फ़े के अलावा 1,000 ईसा पूर्व में ही किसी मोड़ पर ठहर चुका था। सोलहवीं सदी के उस छोटे से वक़्फ़े में यहाँ क़िला-ए-कोहना और शेर मंडल बनाए गए और हुमायूँ के पतन के साथ इतिहास का यह दौर भी ख़त्म हो गया। अब यह क़िला एक ऐसे देश की राजधानी में इंद्रप्रस्थ के रूप में खड़े रहने के लिए अभिशप्त था जिसने कौरवों और पांडवों के कथानायक पूर्वज 'भरत' के नाम से अपना नाम लिया था।

1963 में हुए भारत-चीन युद्ध के कुछ समय बाद पुराने क़िले के बाशिंदों को वहाँ से हटा दिया गया। बीसवीं सदी में यह तीसरा ऐसा मौक़ा था जब पुराने क़िले को खाली कराया जा रहा था। क़िले में रहने वाले शरणार्थियों को कालकाजी और लाजपत नगर में मामूली दरों पर ज़मीन के पट्टे दे दिए गए। इलाक़े के हिसाब से ये पट्टे 100 और 200 गज़ क्षेत्रफल के थे। किशन लाल ने जिन 10x10 फ़ुट के क्वॉर्टरों का ज़िक्र किया था, उनमें रहने के बाद लोगों के लिए इतने बड़े पट्टे वाक़ई क़िस्मत की बात थी। मगर फ़िरोज़शाह कोटला शरणार्थी शिविर में रहने वाले शरणार्थियों की क़िस्मत ऐसी नहीं थी। वहाँ के शरणार्थियों को वहीं रहने दिया गया। शायद इसकी एक वजह यह थी कि ये खंडहर इंद्रप्रस्थ के अतीत का हिस्सा नहीं थे।

क़िले की सफ़ाई के कुछ साल बाद 1969 में "सर्वे की अन्वेषण शाखा ने पुराना क़िला, जिसे महाभारत में वर्णित पांडवों से संबंधित प्राचीन इंद्रप्रस्थ का केंद्र माना जाता है, में खुदाई शुरू कर दी।"[20] इस खुदाई का मक़सद "हुमायूँ से पहले की तमाम आबादियों की पूरी शृंखला का पता लगाना" और "प्रत्येक काल की आबादियों के उल्लेखनीय हिस्सों को सामने लाना"[21] था। भैरो मंदिर की तरफ़ स्थित फाटक यानी जल फाटक की ओर जाने वाले गलियारे के उत्तरी किनारे से सटे 30 वर्ग मीटर स्थान पर चरणबद्ध ढंग से खुदाई शुरू की गई। पीछे उल्लिखित उद्देश्यों के लिहाज़ से इस खुदाई के नतीजे 'निराशाजनक' रहे क्योंकि यहाँ मौर्यकाल तक तो नियमित डिपॉज़िट्स पाए गए मगर महाभारत कालीन सलेटी पुताई वाले बर्तनों और भौतिक संस्कृति का वहाँ कोई निशान नहीं मिला। अगले साल खुदाई का मक़सद "पीजीडब्ल्यू के नियमित क्षितिज सहित प्राक् मौर्य स्तरों को उजागर करना" तथा "पहले ही सामने आ चुके सांस्कृतिक दौर के और बड़े क्षेत्र को सामने लाना"[22] था। "इस जगह तीन अलग-अलग स्थानों पर की गई खुदाई में पीजीडब्ल्यू का नियमित सांस्कृतिक क्षितिज दिखाई नहीं दिया... बहरहाल इस तरह के बर्तनों के कुछ ठीकरों, जिनमें से कुछ का इस्तेमाल स्टापू के तौर पर भी हुआ होगा, का मिलना इस बात की तरफ़ इंगित करता है कि आसपास की जगह में इस तरह की चीज़ों का नियमित अंतराल पर जमाव ज़रूर रहा होगा...। मौर्य काल में एनबीपी बर्तनों का इस्तेमाल एक विशिष्ट बात थी। जहाँ खुदाई की जा रही है वहाँ प्राकृतिक मिट्टी के ऊपर इस काल की चीज़ों के अवशेष पाए गए।"[23] अगले साल "की खुदाई के उद्देश्य थे — (1) मुग़ल काल की इमारतों के ढाँचे को सामने लाना, और (2) तीसरी एवं चौथी सदी ईसा पूर्व से पहले के दौर में इस स्थान की सांस्कृतिक विषयवस्तु का पता लगाना।"[24] खुदाई के तीसरे साल तक भी महाभारत और मुग़ल काल के बीच की अवधि में यहाँ निरंतर रिहाइश के इतिहास को ढूँढने के बावजूद एएसआई आधिकारिक रूप से निराश नहीं था।[25] खुदाई में जो चीज़ें हाथ लगीं उनके लिए एएसआई के इरादों और सोच में कहीं जगह नहीं थी। वह तो... ठीकरों पर ही चिपके हुए थे, "मगर इनमें से एक गड्ढे में एनबीटी वस्तुओं से संबंधित स्तर पर सलेटी मिट्टी के कुछ बारीक और पतले ठीकरे पाए गए जो पीजीडब्ल्यू के साथ नज़दीकी तौर पर संबद्ध प्रतीत होते हैं...।"[26] 1972-73 इस खुदाई का आख़िरी साल था और अब भी "इस स्थान के सबसे पुराने

सांस्कृतिक क्षितिज का पता लगाने” और “मुग़लकाल की आबादी के और अधिक ब्योरों की शिनाख़्त करने”[27] की कोशिश मुसलसल जारी थी।

“इनमें से एक गड्ढे में हुई गहरी खुदाई से ईसा पूर्व तीसरी-चौथी सदी से लेकर मुग़लों के आने तक के दौर के बारे में पहले से ज्ञात सांस्कृतिक शृंखला की पुष्टि हुई है।”[28] जिस महाभारतकालीन आबादी की इतनी शिद्दत से तलाश हो रही थी, वह क़िले के भीतर कहीं नहीं थी। बाद में, इन खुदाई अभियानों का नेतृत्व करने वाले प्रो. बी.बी. लाल ने एक साक्षात्कार में कहा, “पीजीडब्ल्यू परतों में हमें मिट्टी का बना सिर्फ़ एक छोटा सा ढाँचा मिला था। मेरा ख़याल है कि शहर का मुख्य हिस्सा सम्भवतः दक्षिण की तरफ़ — हुमायूँ फाटक से हुमायूँ के मक़बरे तक — कहीं रहा होगा... इस पूरे इलाक़े (जहाँ अब चिड़िया घर और सुंदर नगर हैं) — ख़ासतौर से जमना के पास — हमें रंगी हुई सलेटी टोकरियाँ मिली हैं।”[29]

1972 यानी क़िले में आख़िरी साल की खुदाई के समय बी.बी. लाल ने 51 साल की उम्र में स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति ले ली। सेवानिवृत्ति के काफ़ी समय बाद भी वह पुराना क़िला आते रहे। कथित रूप से वह इन खुदाइयों पर आधारित अपनी रिपोर्ट पूरी करना चाहते थे। ऊपर हमने जिस साक्षात्कार का ज़िक्र किया है वह नब्बे की दशक की शुरुआत में विलियम डेलरिम्पल ने उस समय लिया था जब बी.बी. लाल अपनी रिपोर्ट के सिलसिले में क़िले में डेरा डाले हुए थे। पिछले साल तक भी उनकी कोई रिपोर्ट सामने नहीं आई। 17 मई 2002 को *टाइम्स ऑफ़ इंडिया* ने ख़बर दी कि ‘केंद्रीय संस्कृति मंत्रालय ने इस बात पर भारी एतराज़ जताया है कि आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया (एएसआई) द्वारा कई बार खुदाई करने के बावजूद रिपोर्ट तैयार नहीं हुई है... कुछ पुरातत्त्वशास्त्रियों — मिसाल के तौर पर लाल — ने सेवानिवृत्ति के बाद भी पुराने क़िले में एएसआई की सुविधाओं का यह कहकर इस्तेमाल किया है कि वह इस बारे में अपनी रिपोर्ट पूरी करना चाहते हैं मगर उनकी रिपोर्टें कभी पूरी नहीं हो पाईं। अयोध्या, पुराना क़िला और कालीबंगन में हुई खुदाई से जुड़े रहे लाल इस आरोप को ग़लत बता रहे हैं। उनका कहना है कि “...पुराना क़िला में छोटी सी खुदाई की गई थी जिसकी रिपोर्ट ‘इंडियन आर्कियोलॉजी : ए रिव्यू’ में भी आई थी।”’[30] तो पाँच साल की खुदाई छोटी सी खुदाई होती है!

जहाँ तक मुझे जानकारी है, इस बारे में अब तक अंतिम रिपोर्ट तैयार नहीं हुई है और *इंडियन आर्कियोलॉजिकल रिव्यू* में भी सिर्फ़ दो पेजी सारांश भर छपा था। इसी बीच, खुदाई के तक़रीबन फ़ौरन बाद पुराना क़िला एनएसडी (राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय) के लोकप्रिय नाटक ‘तुग़लक़’ और इब्राहिम अल्क़ाज़ी के निर्देशन में महाभारत पर आधारित ‘अंधा युग’ का मंच बन गया। बी.बी. लाल के बाद एएसआई के महानिदेशक बने एम.एन. देशपांडे ने इसमें बढ़-चढ़कर हाथ बँटाया था।

खुदाइयों के तीन साल बाद और आपातकाल के बीचोंबीच दिल्ली प्रशासन ने 64 साल बाद 1976 में अपना दिल्ली गज़ेटियर प्रकाशित किया। इस गज़ेटियर में दिल्ली के इतिहास, अर्थव्यवस्था, समाज; यानी कुल मिलाकर दिल्ली की वेश्याओं से लेकर दिल्ली के ‘दिलचस्प स्थानों’ तक हर मुमकिन पहलू के बारे में एक से एक बारीक जानकारियाँ दी गईं। इस गज़ेटियर में 1857 के संघर्ष में शहर की भूमिका और विभाजन के इतिहास को अविश्वसनीय रूप से विस्तारपूर्वक दर्ज किया गया। विभाजन के वृतांत में पुराने क़िले के राहत शिविरों का कोई ज़िक्र नहीं था। एक जगह भी नहीं। 1947 के मुस्लिम राहत शिविरों या पाकिस्तान से आए हिंदू-सिक्ख शरणार्थियों के लिए चलाए गए राहत शिविरों का उसमें ज़रा सा भी ज़िक्र नहीं है। हालाँकि बाद वाले शिविरों को इस गज़ेटियर के प्रकाशन से सिर्फ़ 13 साल पहले हटाया गया था। बहरहाल, ‘दिलचस्प स्थानों’ वाले खंड में इसी पुराने क़िले को सम्मानपूर्वक जगह दी गई है हालाँकि इस बात का ज़िक्र यहाँ भी नहीं है कि सोलहवीं सदी के बाद कभी इस क़िले में इंसानी आबादी भी रही है। इसमें कहा गया है, ‘...एएसआई ने हाल के सालों में पुराने क़िले के भीतर कई बार खुदाई की जिससे लगभग 1,000 ईसा पूर्व से मुग़लकाल तक की कई सांस्कृतिक शृंखलाओं का पता चला है।’[31] भैरों मंदिर के बारे में बताया गया है कि वह “घने झाड़-झंखाड़ की वजह से लगभग ओझल हो चुका है। यह भैरों नाथ का प्राचीन मंदिर है जो पुराने क़िले की पूर्वी दीवार से सटा हुआ है और दिल्ली के सबसे छोटे मगर सबसे ऐतिहासिक पूजा स्थलों में शुमार किया जाता है। जनश्रुतियों के अनुसार इस मंदिर का निर्माण पांडवों और कौरवों के बीच लड़े गए ऐतिहासिक युद्ध से ठीक पहले कराया गया था। यह

मंदिर भैरो नाथ की प्रतिमा की स्थापना के लिए बनाया गया था...।"[32] जनश्रुतियों की बात तो सही है पर क्या ये जनश्रुतियाँ ऐतिहासिक रूप से सत्य भी हैं?

तीस साल से भी ज़्यादा समय से तैयार की जा रही रिपोर्टों की ग़ैरहाज़िरी, जहाँ खुदाई की गई उन स्थानों के रख-रखाव की उपेक्षा और वहाँ उग आए झाड़-झंखाड़ व लापरवाही, क़िले के बाकी हिस्सों और खुदाई के गड्ढों के बीच ख़त्म होता फ़र्क़, पुरातत्त्व की दृष्टि से समृद्ध खुदाई में मिले नमूनों को सार्वजनिक दृष्टि से बचाए रखने की कोशिश (क़िले के भीतर बना संग्राहलय पिछले कम से कम तीन साल से बंद पड़ा है) और इंद्रप्रस्थ एवं हुमायूँ काल के बीच इस स्थान के किसी भी इतिहास का ज़िक्र न होना मेरी नज़र में सिर्फ़ सरकारी उपेक्षा और लापरवाही का संकेत नहीं है बल्कि यह क़िले के अतीत के कुछ हिस्सों को भुला देने की एक सोची-समझी कोशिश है। इस विस्मृति और धुलाई-पुँछाई से एक तरफ़ तो 'पांडवकालीन भैरों मंदिर' की संदेहास्पद ऐतिहासिकता को 'आधिकारिक' हैसियत मिल जाती है और दूसरी तरफ़ एएसआई को प्राचीन स्मारक एवं पुरातात्त्विक स्थल व अवशेष अधिनियम, 1958 के प्रावधानों को मनमाफ़िक़ ढंग से लागू करने की छूट मिल जाती है।

पूर्व केंद्रीय पर्यटन एवं संस्कृति मंत्री श्री जगमोहन की देख-रेख में एएसआई ऐतिहासिक स्मारकों, ख़ास तौर से यूनेस्को द्वारा वर्ल्ड हैरीटेज साइट्स की श्रेणी में घोषित स्मारकों पर हो रहे 'अतिक्रमण' से निपटने में ख़ासा सक्रिय रहा है। पुराने क़िले को भी इसी श्रेणी में रखे जाने की बढ़-चढ़कर माँग की जा रही है।[33] हुमायूँ के मक़बरे से 50 मीटर और क़ुतुबमीनार से 200 मीटर दूर निर्मित इमारतों के ख़िलाफ़ तेजी से कार्रवाई की जा रही है और इस बात का जमकर प्रचार भी किया जा रहा है।[34] इस अभियान की गाज हाल ही में हुमायूँ के मक़बरे के लंबे-चौड़े मैदान को घेरने वाली दीवार से 50 मीटर दूर बनाई जा रही एक मस्जिद पर भी गिरी है। महरौली की क्रिश्चियन कॉलनी (जो सर्वोच्च न्यायालय के दिशा-निर्देशों द्वारा निर्धारित 'नियंत्रित क्षेत्र' की सीमा यानी संरक्षित स्मारक से 300 मीटर की दूरी के भीतर स्थित है) में रहने वाले कुछ लोगों ने जब अपने एक मंज़िला मकानों पर दूसरी मंज़िल चढ़ाने की कोशिश की तो उनके साथ भी यही सुलूक किया गया। जब दिल्ली में जगह की इतनी भारी क़िल्लत है उस समय इस तरह के दिशा-निर्देशों की प्रासंगिकता पर सवाल खड़ा करने के साथ-साथ ये घटनाएँ एएसआई के तौर-तरीक़े में निहित साम्प्रदायिक रवैये की ओर भी संकेत करती हैं। अब भैरों मंदिर 1976 के गज़ेटियर वाला 'सबसे छोटा' नहीं बल्कि एक विशाल और चारों तरफ़ पसरता मंदिर बन चुका है। उसमें कंक्रीट सिरेमिक की टाइलों और सीमेंट व एक्रीलिक रंग-रोग़न का इस्तेमाल किया जा रहा है। इस मंदिर के दायरे में हर रोज़ नए निर्माण हो रहे हैं जबकि यह पुराने क़िले से कुछ सौ मीटर की दूरी पर भी नहीं बल्कि उसकी पूर्वी दीवार से सटा हुआ है। मंदिर की छत पर सिंटेक्स की टंकियाँ और डिश-एँटीना लगे हुए हैं जो क़िले की दीवारों को मुँह चिढ़ाते दिखाई देते हैं। न केवल इन गतिविधियों को रोकने के लिए कोई कार्रवाई नहीं की गई है बल्कि यहाँ के हालात को देखकर लगता है कि एएसआई ने इस बारे में कभी सोचा तक भी नहीं होगा। एएसआई ने मुसलमानों और ईसाइयों द्वारा कराए जा रहे निर्माण पर तो रोक लगा दी जबकि नियमों का उनसे भी ज़्यादा उल्लंघन कर रहे हिंदुओं को पूरी तरह नज़रअंदाज़ कर दिया गया।

IV. क़िले में टहलते हुए

मान लीजिए कि आप भी ज़्यादातर लोगों की तरह इतवार की सुबह क़िला देखने जाते हैं और प्रगति मैदान बस टर्मिनल पर उतरते हैं। बस टर्मिनल की उबड़-खाबड़ कंक्रीट और क़िला-ए-कोहना मस्जिद की पत्थर, संगमरमर और बिल्लौरी पत्थरों से बनी इमारत के बीच आपका यहाँ हर इतवार की तरह मेलानुमा भीड़भाड़ से साबक़ा पड़ेगा। इस जगह आपको लोगों की एक लम्बी क़तार दिखेगी। क़तार में हज़ार से ज़्यादा लोग होंगे जो खुले मैदान से धीरे-धीरे भैरों मंदिर के भीतरी परिसर की तरफ़ बढ़ रहे होंगे। यह वही भैरों मंदिर है जो पुराने क़िले की पूर्वी दीवार से सटा खड़ा है। यहाँ आप देखेंगे कि भैरों बाबा को बाक़ी क़िस्म की शराबों के मुक़ाबले व्हिस्की कुछ ज़्यादा पसंद है। जी हाँ, क़तारबद्ध खड़े ज़्यादातर लोगों के हाथ में आपको व्हिस्की की बोतलें ही दिखाई देंगी। नज़दीक जाने पर आप देखेंगे कि एक तांत्रिक श्रेणी के और मदिरापान से उज्र न करने वाले देवता के

इर्द-गिर्द भी ब्राह्मणवादी आलू-कचौड़ी की दावत का पूरा इंतज़ाम किया गया है। वहाँ आपको 1994 में बनाया गया माता कुंती द्वार भी दिखाई देगा जिसका साहिब सिंह वर्मा ने उद्घाटन किया था और जो एएसआई के नियमों का खुल्लमखुला उल्लंघन है। यह द्वार क़िले की दीवार से बिल्कुल सटा हुआ है और बग़ल में खड़ी मस्जिद की बुलंदी को मुँह चिढ़ाता-सा दिखाई देता है। अगर आप काले भैरों बाबा की तांत्रिक प्रतिमा पर शराब चढ़ाने की उम्मीद में व्हिस्की की बोतल हाथ में लिए खड़े हों तो आपको इस द्वार और मस्जिद का वैषम्य साफ़ दिखाई देगा। इस द्वार पर आपको मंदिर के पांडव कालीन अतीत की गौरवगाथा दिखाई देगी। हालाँकि सच तो ये है कि मंदिर का कोई भी पहलू आपको इस गौरवगाथा का अहसास दिलाए बिना नहीं रहेगा। ऊपर सोलहवीं सदी की मस्जिद को घेरता फाटक और नीचे इतवारी हिंदू भक्तों की लम्बी क़तार एक ऐसा वृत्तांत है जो बाबरी ध्वंस के बाद निहायत सहज लगने लगा है। यहाँ इस बात का ऐलान करते पर्चे-पोस्टर और बैनर भी आपकी आँखों से बच नहीं पाएँगे कि भिखारियों को शराब देना निषिद्ध है। जब आप मंदिर और थनों में पानी की टूँटियाँ लगाए खड़ी पत्थर की गाय की बग़ल से निकलते हैं तो क़िले की पूर्वी दीवार के समानान्तर जाती सड़क पर पहुँच जाते हैं जो ख़ास मंदिर तक आने-जाने के लिए ही बनाई गई है। यहाँ कई सौ भिखारी आपको हाथ-रिक्शों पर बैठे मिलेंगे। इनमें से ज़्यादातर वाक़ई अपाहिज हैं। यहीं आपका सामना आशा नाम की एक औरत से भी हो सकता है जो बीच-बीच में कूद कर अपने रिक्शा से बाहर आ जाती है और इन विकलांगों से बदतमीज़ी करने वाले शराबी से दो-दो हाथ करने को सदा तैयार रहती है। अगर आप उससे बात करें तो सम्भवतः वह आपको बताएगी कि बाक़ी भिखारियों की तरह वह भी नेहरू स्टेडियम के गेट नं. 7 के पास वाली झुग्गी बस्ती में रहती है। वह आपको बताएगी कि हफ़्ते के किस दिन वह साईं बाबा मंदिर, हनुमान मंदिर, कनॉट प्लेस और यहाँ भीख माँगने आती है। जी हाँ, हर मंदिर के लिए हफ़्ते का एक दिन तय है। बात करने पर पता चलता है कि वह अपने आठ साल के बेटे को भी साथ लाती है। वह अपने बेटे को किसी ऐसे स्कूल में पढ़ाना चाहती है जहाँ हॉस्टल की सुविधा उपलब्ध हो। मगर क्योंकि उसके पास लड़के का जन्म प्रमाण पत्र नहीं है इसलिए वह अब तक लड़के को स्कूल में दाख़िल नहीं करवा पाई है। उसका कहना है कि हालाँकि सारे बाबू लोग जानते हैं कि वह अपाहिज नहीं है फिर भी वे उसे पैसा/शराब दे देते हैं क्योंकि उसका पति सचमुच अपाहिज था। अब उसके पति की मौत हो चुकी है मगर उसे पेंशन नहीं मिलती इसलिए उसके पास यहाँ-वहाँ भीख माँग कर गुज़र करने के अलावा भला क्या चारा बचता है? इस बातचीत में आपके साथ-साथ दूसरे भिखारी भी ठहाके लगाने लगेंगे और हो सकता है धीरे-धीरे आपको भी सुबह से देर रात तक चलने वाली इस खिलंदड़ी और लस्त-पस्त उछल-कूद में मज़ा आने लगे हालाँकि वे बैनर अब भी बार-बार आपको चिढ़ाते रहेंगे जिन पर लिखा है कि भिखारियों को शराब देना अच्छी बात नहीं है।

मंदिर से निकलने वाले बाक़ी लोगों के साथ यहाँ से आप क़िले के कोने से होते हुए डीडीए फ़िज़िकल फ़िटनेस ट्रेल में दाख़िल हो जाएँगे जिसके भीतर क़िले की उत्तरी दीवार के बग़ल में कसरत के लिए पैरेलल बार लगे हुए हैं। इसके बग़ल में रोड़ी की बनी फ़ुटपाथ है जिस पर चलते-चलते आप पुराना क़िला झील में दिल्ली टूरिज़्म की नौकाओं तक पहुँच जाते हैं। हो सकता है नब्बे के दशक में यहाँ हुई इस सारी तरक़्क़ी पर आप किंचित हैरान हो जाएं। इन बदलावों ने धर्म, मौज-मस्ती और व्यायाम के बीच एक भौगोलिक निरंतरता-सी पैदा कर दी है। हो सकता है यहाँ आपको वो जुमला याद आने लगे जिसे शाहिद अमीन ने उत्तरी दिल्ली स्थित रिज के हालात का बयान करने के लिए इस्तेमाल किया है। बक़ौल शाहिद अमीन, पुराना क़िला को एक अनैतिहासिक वर्तमान में क़ैद कर दिया गया है। क़िले के मुहाने के पास आप फ़िज़िकल फ़िटनेस ट्रेल से बाहर निकलते हैं जहाँ कुछ जोड़े या चिड़िया घर के भीड़-भड़क्के से त्रस्त लोग क़िले के भीतर दाख़िल होते दिखाई देते हैं। उनके पीछे-पीछे आप भी क़िले में पहुँच जाते हैं। अचरज की बात यह है कि ऐतिहासिक रूप से इतनी महत्त्वपूर्ण इमारत में आपको एक भी गाइड नहीं मिलेगा। अगर आपके साथ कोई साहब हैं जिन्हें आप क़िले में घुमाना चाहते हैं तो यह आपके लिए एक मुश्किल समस्या बन जाएगा। इस मई से कुछ प्राइवेट सिक्योरिटी गार्ड्स यहाँ रख दिए गए हैं। आठ निजी सिक्योरिटी गार्ड दो पालियों में इस क़िले की पहरेदारी करते हैं। क़िले में बाग़वानी विभाग के प्रमुख बी. एस. नेगी के शब्दों में उन्हें 'अंतरंग' गतिविधियों को रोकने के लिए तैनात किया गया है।

बहरहाल, क़िले के बहुत सारे हिस्से पूरी तरह ख़स्ता हालत में हैं जिससे ऐसा लगता है कि एएसआई की प्राथमिकताएँ पूरी तरह सही नहीं है। क़िले के कई कोने प्लास्टिक की बोतलों और तरह-तरह के कचरे से अंटे पड़े हैं। कई जगह 6 फ़ुट से भी ऊपर तक घास उग आई है। अगर आप यहाँ पुरातत्त्व विभाग द्वारा खोदे गए गड्ढों को देखने की ग़रज़ से नहीं आए हैं तो आपकी उन पर नज़र भी नहीं पड़ेगी। वह तो झाड़-झंखाड़ में कब के दब चुके हैं। एएसआई ने भी हालात को क़ाबू में रखने के लिए कोई क़दम नहीं उठाया है। गड्ढों पर लगी तख़्तियों को तो भूल ही जाइए। गडढ़ों में इस क़दर झाड़ियाँ और कूड़ा इकट्ठा हो चुका है कि अब वह उथले-उथले, बेमानी से गड्ढे लगने लगे हैं। क़िले के भीतर स्थित पुरातात्त्विक संग्रहालय तीन साल से बंद पड़ा है। जब-तब उसके तालाबंद दरवाज़ों से टिक कर बैठ जाने वाले लोगों के मुताबिक़ यहाँ का समूचा संग्रह लाल क़िले में भेज दिया गया है। मगर क़िले के भीतर एक स्थायी और ग़ैर-दोस्ताना पुलिस चौकी ज़रूर मौजूद है और अफ़वाहों पर यकीन करें तो पता चलता है कि इन गड्ढों से बहुत सारी बेशक़ीमती चीज़ें निकाल कर ज़ाया की जा चुकी हैं।

क़िला-ए-कोहना के भीतर आपका सामना रामप्यारी से भी हो सकता है जिन्हें एएसआई के बाक़ी तक़रीबन सौ कर्मचारियों की तरह अस्सी के दशक के मध्य में निकाल कर बाहर कर दिया गया था। उस वक़्त वह क़िले के भीतर ही रहा करती थीं। वह आपको बताएँगी कि अब वह नांगला-माची की अवैध बस्ती में किस तरह अपने दिन काट रही हैं। उनसे आप चिड़िया घर की दीवार और रेल की पटरियों के बीच बनी चिड़िया घर वाली कॉलनी के बारे में भी जान सकते हैं। यह बस्ती चिड़िया घर के कर्मचारियों ने ही बसाई थी। उनका कहना है कि वह अपने अवैध मकानों को सिर्फ़ इसलिए महफ़ूज़ रख पाई हैं क्योंकि स्थानीय विधायक ताजदार बाबर उनके साथ हैं।

अगर आप सचमुच खुशक़िस्मत हैं तो क़िले के भीतर आपकी मुलाक़ात कुंती माता मंदिर के भारद्वाज से भी हो सकती है। इस मंदिर को ढूँढ पाना बहुत मुश्किल है क्योंकि भारद्वाज के मुताबिक़, एएसआई ने उसके चारों तरफ़ अशोक के पेड़ों की घनी क़तारें लगा दी हैं। 1963 में भारद्वाज के पिता ने शरणार्थियों के साथ यहाँ से जाने से इनकार कर दिया था क्योंकि उनका दावा है कि यह मंदिर मूल इंदरपत गाँव के ज़माने का है। पुराने क़िले के भीतर पेड़ों के झुरमुट में छिपे इस छोटे से मंदिर में वह अभी भी अपने परिवार के साथ रहते हैं। एएसआई ने उनके ख़िलाफ़ अदालत में मुक़दमा दायर किया हुआ है मगर अदालत के स्थगनादेश की मेहरबानी से वह अभी भी यहाँ डटे हुए हैं। उनका दावा है कि भैरों मंदिर सिर्फ़ पिछले तीस साल में ही बना है और स्कूलों में जो इतिहास पढ़ाया जा रहा है वह सब 'डफ़र' इतिहास है और क़िला-ए-कोहना मस्जिद के पाँच गुम्बद ही असल में वह पाँच भवन हैं जहाँ पाँडव बैठा करते थे — इसलिए, असल में यही उनका प्राचीन महल था।

यूँ तो क़िस्से चलते ही जाएँगे, बात से बात निकलती जाएगी, मगर आइए अब क़िले से चल कर किशन लाल की चाय की दुकान का भी एक फेरा लगा लें। किशनलाल की ज़िंदगी पिछले पचपन साल से क़िले के साथ जुड़ी हुई है। यही उनका घर था, यहीं उनके भाइयों ने पढ़ाई की, उनके बच्चे यहीं हुए और उनकी दुकान आज भी क़िले के ठीक बाहर क़ायम है। पुराना क़िला के साथ जुड़े बदलावों के बारे में किशन लाल का रवैया सबसे ज़्यादा संयम भरा और धीर-गम्भीर दिखाई देता है। वह कहते हैं, "पहले रिहाइशी थी, अब सैरगाह है।" मगर अब वह ज़्यादा चिंतित हैं क्योंकि जगमोहन इस स्मारक को वर्ल्ड हेरिटेज साइट बनाना चाहते हैं। उन्हें भय है कि 'पांडवों को दोबारा पुराने क़िले में बसाने'[35] की जगमोहन की योजनाओं में क़िले तक जाने वाली दुकानों की क़तार और उनकी चाय की दुकान शायद मुफ़ीद न रह जाए।

उनका भय बेबुनियाद भी नहीं है। अगस्त के आख़िर तक आते-आते चिड़िया घर और पुराने क़िले में आने वाले सैलानियों को चाय-पानी पिलाने वाले किशन लाल और बाक़ी दुकानदारों को यहाँ से अपना बोरिया-बिस्तर समेटने के नोटिस आ चुके थे। क्योंकि ये दुकानें 300 मीटर के नियंत्रित क्षेत्र में आती हैं इसलिए उन्हें कभी भी हटाया जा सकता है। हालाँकि उन्हें उम्मीद है कि अक्टूबर के अंत तक उन्हें नहीं हटाया जाएगा मगर अक्टूबर के बाद किसी को उम्मीद नहीं है कि वह यहाँ टिक पाएँगे। सत्तर पार कर चुके किशन लाल को भले सिर्फ़ कारोबार के लिए ही सही मगर इस बार एक बार फिर कहीं और पनाह लेनी पड़ेगी। जब क़िले के भीतर एएसआई

के दफ़्तर, जिनमें एक ज़माने में शरणार्थी शिविरों के लिए पाठशाला चलाई जाती थी,[36] को हटा दिया जाएगा तो क़िले में बनाए गए शरणार्थी शिविरों की आख़िरी निशानी भी यहाँ से हट जाएगी।

जब से अंग्रेजों ने अपनी नई राजधानी के नक़्शे में इस स्मारक को एक अहमियत की हैसियत के साथ शामिल किया था तभी से पुराना क़िला और उसका अतीत पहले साम्राज्य और उसके बाद राष्ट्र के वृत्तांत का एक अभिन्न अंग रहा है। तब से बार-बार कोशिशें की गई हैं कि यहाँ के सामान्य, आम-फ़हम, दैनंदिन इतिहासों को नज़रअंदाज़ या नेस्तनाबूद कर दिया जाए। इस बात को क़िले का आधिकारिक इतिहास बताने वाले यहाँ के साउंड ऐण्ड लाइट शो में देखा जा सकता है। इस शो में क़िले का इतिहास यमुना की ज़बानी कहा गया है। राष्ट्र के अतीत की महान घटनाओं से स्वतंत्रता की ओर बहने वाली नदी के रूप में इतिहास। मगर जैसा कि क़िले से संबंधित बीसवीं सदी के ऐतिहासिक अध्ययन बताते हैं, इस महावृत्तांतकारी धारा द्वारा यहाँ उलीच दी गई कीच और फूल-पत्ते यानी पलायन, बसाहट और विस्थापन की कहानियाँ ही हैं जो किसी शहर के इतिहास की रचना करती हैं और उसके स्मारकों को एक मानी देती हैं।

डेविड लोवनथाल लिखते हैं, 'जब हम एक बार यह जान जाते है कि पुरावशेष, इतिहास और स्मृतियाँ निरंतर बदलती रहती हैं तो हम अतीत की क़ैद से बाहर आ जाते हैं, हम किसी पवित्र मूल रूप की निरर्थक चाह में हताश नहीं होते। इसलिए, हमें ठीकरों को भी उतनी ही अहमियत देनी चाहिए जितना हम अपनी विरासत की सच्चाई को देते हैं। अस्तित्व में आई कोई भी चीज़ अनछुई नहीं रहती और कोई भी ज्ञात तथ्य कभी अपरिवर्तनीय नहीं रहता। मगर इन तथ्यों से हमें दुःखी नहीं होना चाहिए बल्कि मुक्ति की ओर बढ़ना चाहिए। इस बात को महसूस कर लेना बेहतर है कि हमारा अतीत सदा परिवर्तनशील रहा है बामुक़ाबले इसके कि हम उसे हमेशा हर हाल में यकसाँ साबित करने की कोशिश करते रहें...।'[37]

इससे पहले कि संरक्षण आंदोलन अनचाहे, अनजाने में जगमोहन के एजेंडा का हिस्सा बन जाए, उसे अतीत के संरक्षण के बारे में अपने रवैये पर एक बार फिर नज़र डाल लेनी चाहिए। यहाँ उस बात को एक बार फिर दोहराया जा सकता है जो वॉल्टर बेंयामिन ने वर्ग संघर्ष और 'सांस्कृतिक ख़ज़ानों' के बारे में कही थी, "...तमाम शासक उनके वंशज हैं जिन्होंने उनसे पहले फ़तह हासिल की थी...। जो फ़ातेहा रहे हैं वह अब तक उन विजय जुलूसों में हिस्सा ले रहे हैं जिनमें मौजूदा शासक साष्टांग दंडवत करने वालों के सिर पर पाँव रखकर आगे निकलते चले जाते हैं। परम्परागत व्यवहार के मुताबिक़ फ़तह की निशानियाँ भी जुलूस में साथ चलती हैं। उन्हें सांस्कृतिक ख़ज़ानों का नाम दिया जाता है और एक ऐतिहासिक भौतिकवादी नज़रिया उन्हें एहतियात भरे फ़ासले के साथ देखता है। उसे जो सांस्कृतिक ख़ज़ाने दिखाई देते हैं निरपवाद रूप से उनका उदय एक ऐसे स्रोत से हुआ है जिसके बारे में वह दहशत के बिना नहीं सोच सकता। इन ख़ज़ानों का अस्तित्व न केवल महान मस्तिष्कों और प्रतिभाओं की देन है बल्कि वह उन रचनाकारों के समकालीनों के बेनाम श्रम का भी परिणाम है। सभ्यता का कोई दस्तावेज़ ऐसा नहीं है जो साथ ही बर्बरता का भी दस्तावेज़ न हो।"[38] दिल्ली के मक़बरे, महल और क़िले, यानी अतीत के वह 'अभिजात्य' अवशेष जिनके लिए संरक्षणवादी ख़ेमा आज के अंडरडॉग्स के ख़िलाफ़ 'अतिक्रमण' और 'बेदख़ली' का विमर्श खड़ा करना चाहता है, सबके सब ख़ून में डूबे हुए हैं। अगर हम इसी बेंयामिनवादी नज़र से सोचें तो क्या हम पुराने क़िले को बर्बरता के इस इतिहास से उबारने की कल्पना नहीं कर सकते क्योंकि उसने इतिहास के पीड़ितों को कम से कम दो सदी तक बार-बार पनाह दी है। एक ऐसी मुक्ति/पनाह जिसे सम्भवतः फिर भुला दिया जाएगा।

सोचकर देखिए कि अगर दिल्ली के संरक्षणवादी विभाजन के बाद पुराने क़िले में लगे शरणार्थी शिविरों के स्मारक की माँग करें तो कैसा रहेगा? उस दौर की साझा पीड़ाओं, साझा ज़मीन का इससे बेहतर रूपक भला और क्या हो सकता है? पर, अगर हम जगमोहन के ही रास्ते पर चलते रहे, सिर्फ़ इंद्रप्रस्थ को बचाते और उसके बाद अस्तित्व में आई तमाम चीज़ों को अनदेखा करते चले गए तो यह शहर भी 'मेमेंटो'[39] फ़िल्म के लियोनार्ड शेल्बी जैसा बनकर रह जाएगा। जी हाँ, एक ऐसे शख़्स की तरह जो अपनी नई स्मृतियाँ नहीं रच सकता और इसलिए प्रतिकारी हिंसा के एक कभी न ख़त्म होने वाले सिलसिले में बार-बार उलझते जाने को अभिशप्त हो जाता है। अगर 1947 की दहशत को उस परिधि से पोंछ दिया जाए जहाँ उसके पीड़ितों ने पनाह ली थी तो

क्या हम भी शेल्बी वाली नियति के लिए अभिशप्त नहीं दिखाई देने लगेंगे?

लियोनार्ड शेल्बी के शब्दों में, 'जब मैं वक़्त को महसूस ही नहीं कर सकता तो भला मैं ठीक कैसे हो सकता हूँ।'

अनुवादः योगेन्द्र दत्त

आभार

मैं नारायणी गुप्ता और शाहिद अमीन का आभारी हूँ जिनकी धैर्यभरी सलाह और बीच-बीच में मिली मदद के बिना यह शोध पूरा नहीं हो सकता था। मैं सीएसडीएस के सराय कार्यक्रम का आभारी हूँ जिन्होंने 'शहर पर शोध हेतु छात्रवृत्ति' के जरिए इस शोध का ख़र्चा उठाया। मैं मुदित त्रिवेदी का भी आभारी हूँ जिन्होंने इस पर्चे के पहले मसविदे पर अपनी बहुमूल्य टिप्पणी और सुझाव दिए थे। अक्षय सिंह और सकीना अली का भी मैं आभारी हूँ जिनकी मदद के बिना शायद बहुत कुछ न हो पाता।

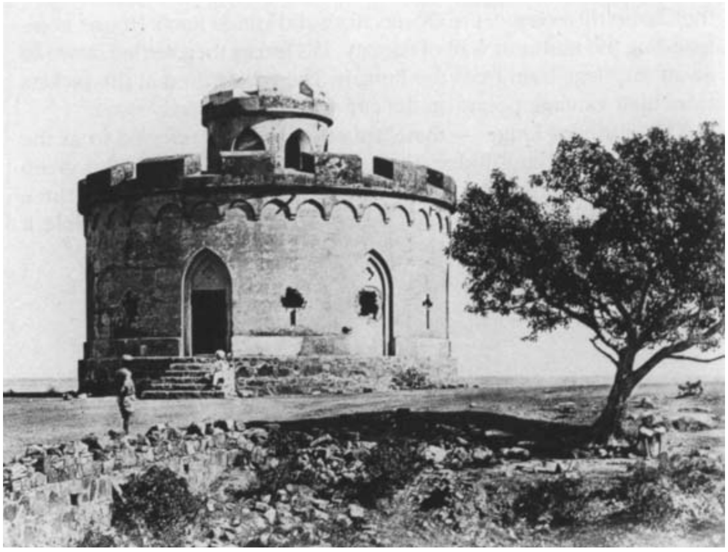
संदर्भ

1. मिसाल के तौर पर देखें, अबुल फ़ज़ल, *आईन-ए-अकबरी* (वर्ष 1600); सुभान राय, *खुला सतुल तवारीख़* (वर्ष 1695); एवं सैयद अहमद ख़ान, *असार-उल-सनादीद* (1847). पहले दो स्रोतों के संबंधित उद्धरण *हिस्टॉरिक डेल्ही, ऐन एन्थोलॉजी* सम्पादकः एच. के. कौल दिल्लीः ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1985, पृ. 18-21 में उपलब्ध है.
2. लॉर्ड हार्डिंग द्वारा भारत सचिव को भेजा गया नोट, 25 अगस्त 1911, ख़ुशवंत सिंह एवं रघु राय, *दिल्लीः ए पोर्ट्रेट,* दिल्ली : दिल्ली पर्यटन विकास निगम, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1983, पृ. 37 में उद्धृत.
3. वही, पृ. 40. यह उद्धरण नई दिल्ली के शिल्पकारों में से एक, हरबर्ट बेकर का है.
4. मौलवी ज़फ़र हसन, पूरक, *मॉन्यूमेंट्स ऑफ़ डेल्ही – लास्टिंग स्प्लेंडर ऑफ़ द ग्रेट मुग़ल्स ऐण्ड अदर्स,* वॉल्यूम-II, दिल्ली जेल 1919; पुनर्प्रकाशन, दिल्लीः आर्यन बुक इंटरनेशनल, 1997, पृ. 95.
5. वही, पृ. 91.
6. स्मारकों का वर्गीकरण ज़फ़र हसन लिस्ट की प्रस्तावना में दिया गया है. इसमें दी गई ज़फ़र हसन लिस्ट-1-मॉन्यूमेंट्स में उन स्मारकों को रखा गया है जिन्हें मौजूदा हालात या पुरातात्विक अथवा ऐतिहासिक महत्व के नज़रिये से अच्छी स्थिति में बनाए रखने का निर्देश दिया गया है. इसी ज़फ़र हसन लिस्ट-2-मॉन्यूमेंट्स में उन स्मारकों को रखा गया है जिन्हें और अधिक क्षरण से बचाने के लिए मौजूदा हालत में बनाए रखना ज़रूरी है. इसके लिए उन पर लगी काई या जहाँ-तहाँ उग आए पेड़-पौधों से उनका बचाव करना, दीवारों को नमी से मुक्त रखने का प्रावधान किया गया है. ज़फ़र हसन लिस्ट-3 में उन स्मारकों को रखा गया है जो या तो काफ़ी जीर्ण-शीर्ण हालत में हैं या जिनका विशेष महत्व नहीं है इसलिए या तो उनका संरक्षण असम्भव है या अनावश्यक है.... प्रस्तावना में आगे कहा गया है कि, ...क्योंकि किसी इमारत को श्रेणी तीन में रखा गया है तो इसका मतलब यह नहीं है कि उसे बेवजह ही मटियामेट कर दिया जाए (!)
7. मिशेल फ़ूको, दि *ऑर्केयॉलजी ऑफ़ नॉलेज,* अनुवादः ए. एम. शेरेडन स्मिथ 1972; पुनर्प्रकाशन लंदनः रटलेज, 2002, पृ. 7.
8. बेगम अनीस किदवई, *आज़ादी की छाँव में,* अनुवादः नूर नबी अब्बासी, दिल्लीः नैशनल बुक ट्रस्ट, 2000, पृ. 30. यह किताब उर्दू से अनूदित है और हिंदी में उपलब्ध है.
9. वही, पृ. 34.
10. मुकुल केशवन, *लुकिंग थ्रू ग्लास,* दिल्लीः रविदयाल पब्लिशर्स, 1995, पृ. 361.
11. नारायणी गुप्ता के साथ बातचीत.
12. *डेल्ही गज़ेटियर,* दिल्लीः दिल्ली प्रशासन, 1976, पृ. 130
13. वही, पृ. 136.
14. सैयद अहमद ख़ान, *असार-उल-सनादीद* 1847; पुनर्प्रकाशन, सम्पादकः ख़ालिक़ अंजुम, दिल्लीः उर्दू अकादमी दिल्ली, 1990, पृ. 72.
15. एच.वाई. शारदाप्रसाद एवं ए.के. दामोदरन, सम्पादकः, *सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ़ जवाहरलाल नेहरू,* खंड 30, दिल्लीः जवाहरलाल नेहरू स्मारक निधि, पृ. 117.
16. अध्यक्ष श्री शांतिलाल मंगलदास के वक्तव्य से, प्रोसिडिंग्स ऑफ़ दि 29थ एन्युअल मीटिंग, फ़ेडरेशन ऑफ़ इंडियन चेम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स ऐण्ड इंडस्ट्री (फिक्की), 1956. इस बैठक में नेहरू भी उपस्थित थे.
17. *इंडियन ऑर्केयॉलजी 1954-55 - ए रिव्यू*, पृ. 13-14.
18. प्रसाद एवं दामोदरन, *सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ़ जवाहरलाल नेहरू,* खंड 30, पृ. 238.
19. उपरोक्त 18 की पाद-टिप्पणी, प्रसाद एवं दामोदरन, *सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ़ जवाहरलाल नेहरू,* खंड 30, पृ. 239 में.

20. *इंडियन आर्कियॉलजी 1969-70 - ए रिव्यू (आईएआर),* आर्कियॉलजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, 1973, पृ. 4-5.
21. वही.
22. *आईएआर 1970-71* एएसआई, 1974, पृ. 8-10.
23. वही.
24. *आईएआर 1971-72* एएसआई, 1975, पृ. 7-8.
25. इसके विपरीत मौर्यकाल और उसके बाद की अवधि के लिहाज़ से ये खुदाइयाँ काफ़ी समृद्ध और फलदायी रही हैं और ऐसा लगता है कि इसके पहले यहाँ नियमित आबादी नहीं थी. यह तथ्य 1847 में सैयद अहमद ख़ान द्वारा उपलब्ध कराए गए लिखित साक्ष्यों से पूरी तरह मेल खाता है. उन्होंने लिखा था कि दिल्ली की स्थापना उसी काल में हुई थी जिस काल में सिकंदर ने भारत पर हमला किया था (ख़ान, *असार,* 74). उन्होंने यह भी कहा था कि पुराना क़िला वही दुर्ग है जिसका अनंगपाल तोमर ने निर्माण करवाया था और दिल्ली सल्तनत के दौर में जिसे क़िला-ए-इंदरपत कहा जाता था. ख़ान के मुताबिक़ तोमर ने इस क़िले के बाहर पत्थर के शेर बनाये थे जो कम से कम 1318 ईस्वी तक अपनी जगह मौजूद थे. 1968-70 की खुदाई में एएसआई ने यहाँ एक दुर्ग की चारदीवारी भी पाई जो 'सम्भवतः तोमरों के काल की होगी' (आईएआर 1969-70).
26. *आईएआर, 1971-72*, पृ. 7-8.
27. *आईएआर, 1972-73* एएसआई, 1978, पृ. 8-9.
28. वही.
29. विलियम डैलरिम्पल, *सिटी ऑफ़ जिन्स,* दिल्लीः हारपर कॉलिंस पब्लिशर्स, 1993, पृ. 330.
30. अक्षय मुकुल, "मिनिस्ट्री डिग्स इनटू एएसआई डिलेज़", *टाइम्स ऑफ़ इंडिया*, बुधवार, 17 अप्रैल 2002.
31. *दिल्ली गज़ेटियर* दिल्ली प्रशासन, 1976, पृ. 1057-58.
32. *दिल्ली गज़ेटियर*, पृ. 1006.
33. प्रार्थना गहलौत, 'पुराना क़िला इज़ द वर्ल्ड्स गवर्नमेंट', एक्सप्रेस न्यूज़लाइन, *इंडियन एक्सप्रेस,* शनिवार, 26 जुलाई 2003.
34. 'वायलेशन ऐट टूम्बः जगमोहन इंटरव्यू' एक्सप्रेस न्यूज़लाईन, *इंडियन एक्सप्रेस*, बुधवार, 16 जुलाई 2003; तथा 'कुतुब्स रेगुलेटेड एरिया इज़ देयर बैकयार्ड', एक्सप्रेस न्यूज़लाईन, *इंडियन एक्सप्रेस*, बृहस्पतिवार, 22 जुलाई 2003.
35. 'जगमोहन इनवाइट्स द पांडवाज़ टू ओल्ड फ़ोर्ट', *टाइम्स ऑफ़ इंडिया*, मंगलवार, 5 अगस्त 2003.
36. वही.
37. डेविड लॉवेन्थल, 'द पास्ट इज़ ए फ़ॉरेन कंट्री', http://www.confectious.net/users/egoodman/2001 classes.html में उद्धृत, 28 अगस्त 2003.
38. वॉल्टर बेंयामिन, *थीसिस ऑन द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ हिस्ट्री,* vii (1940); http://www.tasc.ac.uk/depart/media/staff/ls/WBenjamil/CONCEPT2.html, (29 अक्टूबर 2003).
39. मेमेन्टो, निर्देशक क्रिस्टॉफ़र नोलान, अमेरिका, 2001.

सड़क की आँखें, शहर की कहानी

सदन झा



दिल्ली के न थे कूचे अवराक़-ए-मुसव्वर थे*
जो शक्ल नज़र आयी तस्वीर नज़र आयी

मीर तक़ी मीर

* सचित्र पृष्ठ

कहते हैं कि शहर में साँप की आँखों सा आकर्षण होता है। जो आता है बस इसी का होकर रह जाता है लेकिन इस होकर रह जाने में सर्पदंश का भय साये की तरह चलता रहता है। ज़िंदगी भर मरते हुए शहरी अपना जीवन गुज़ारते हैं, महज़ गुज़ारते भर हैं। ज़िंदगी तो वहीं दूर रहती है.... होती चली जाती है.... शहर अपनी अनुपस्थिति में साँस लेता है।

लेकिन मैं इस अनुपस्थित शहर की तलाश क्यों करूँ? इस दिल्ली शहर की ज़िंदगी उसे बसाने वाले की मौत से शुरू होती हैः 'कीली तो ढीली भयी/राजा तोमर तू तो गया' कीली ढीली हुई, ढीली दिल्ली हुई.... और, राजा तोमर इतिहास में दफ़न लेकिन, क़िस्सा ख़तम, पैसा हज़म नहीं। क़िस्सा तो यहीं से शुरू होता है... और मैं भटकता हूँ.... इतिहास में भटकाव ही भटकाव है। हाँ, दिल्ली की सड़कें इस भटकाव में कभी अकेलेपन का अहसास नहीं होने देतीं। इतिहास साथ-साथ सफ़र करता है वॉल्टर बेंयामिन के पेरिस की तरह।

नहीं, मैं पुरानी दिल्ली की बात नहीं कर रहा। बहुतों ने लिखा है, चाँदनी चौक और यहाँ के कटरों के संबंध में। प्राच्यवादी विमर्श को बड़े ख़ास तरीक़े से बहुत दिनों तक पुरानी दिल्ली के कूचों ने ज़िंदा रखा है कॉफ़ी टेबल किताबों में, लुभावनी तस्वीरों के ज़रिए, विदेशी पर्यटकों की रिक्शा सवारी में और विदेशी शिक्षाविदों के सैर-सपाटों में। इसे आप रूमानियत भी कह सकते हैं और विडम्बना भी कि 'शहर की आत्मा' की तलाश दिल्ली में हमेशा चाँदनी चौक और इसके कूचों से शुरू होती है और यहीं ख़त्म हो जाती है।

मैं बाहर निकलना चाहता हूँ — ढका की बात करना चाहता हूँ। सिविल लाइंस से चल कर जो सड़क बुराड़ी तक जाती है, उस सड़क की बात करना चाहता हूँ। इसी सड़क पर कॉरोनेशन पार्क है, शाही दरबार लगा था यहाँ, 1911 में। यहीं जब लगा कि दरबार समाप्त हो चुका है, जब राजा जॉर्ज पंचम और उसकी रानी निचले मंच पर उतर चुके थे, जब तुरही ने अंतिम घोष कर दिया था, तभी अचानक सभी को आश्चर्यचकित करते हुए सम्राट ने हार्डिंग के हाथों से एक दस्तावेज़ लेकर पढ़ना शुरू किया और भारत की राजधानी कलकत्ता से बदल कर दिल्ली हो गई। इतिहासकार फ्रिकेनबर्ग लिखते हैं कि 'साम्राज्यवादी चकाचौंध, ठाठ-बाट और शक्ति की विविध अभिव्यक्तियों में जहाँ कुछ ने इसे ब्रिटिश अक्खड़पन की 'चमकती दोपहर' माना वहीं दूसरे थे (और हैं) जिन्होंने इसे ओछा लक़दक़ माना। दूसरे शब्दों में, यह भारत में ब्रिटिश और बंगाली दोनों ही के प्रभुत्व का प्रतीकात्मक अंत था।'[1]

मैं इसी सड़क पर, इस कॉरोनेशन पार्क के नज़दीक ही एक दूसरे क़िस्म के इतिहास के साथ रहता हूँ। आप कहेंगे मध्यकाल से निकलकर औपनिवेशिक रोड पर फँसे हुए हैं। लेकिन मैं दुविधा में हूँ। किंग्सवे, हडसन, आउट्रम कैंपों से गुज़रते हुए मैं फँस जाता हूँ। ये कैंप इसलिए कि यहाँ सन् 1857 में अंग्रेज़ सेना के कमांडरों ने तंबू डाले थे, कैंपिंग की थी। इन अंग्रेज़ सेना के कमांडरों के नाम बाक़ी हैं लेकिन नाम खोखले रह गए हैं। इन तंबुओं में सन् सैंतालीस के विस्थापितों को जगह मिल गई थी... और, लोग मुझे बताते हैं कि 'आज जहाँ कैंप है, यही अपना किंग्सवे कैंप, वहाँ हम रिफ़्यूजियों का बहुत बड़ा कैंप लगा था... हमें रिफ़्यूजी कहते थे और इसी कारण तो इसका नाम पड़ा कैंप'।

'उस समय की कुछ याद है?' मैं पूछता हूँ और, थके हुए चेहरे के भीतर की परतों से दर्द की चमक उभरती है। 'सब कुछ याद है। आग लगी थी... बहुत भयंकर आग... चिंदी-चिंदी आसमान में उड़ रहे थे...'

कहीं पढ़ा निर्गुणी मांड मेरे भीतर से आवाज़ लगाता है। *सभी ठौर जमात हमरी, सबही ठौर पर मेला/हम सब माय, सब हैं हम माय, हमही बहुरि अकेला।* पर यह अकेलापन अधिक देर तक ठहर नहीं पाता। इतिहास के ठौर पर जमात लगाए शहर की माया अकेलेपन को भी ठहरने नहीं देती। दिल्ली की पहली ऐतिहासिक इबारत हमें याद दिलाती है अपनी माया की। पण्डित योगश्वर ने 1276 ई. के पालम बाउली अभिलेख में दिल्ली को आनन्द के स्रोत, दैत्यों के वास स्थान के साथ-साथ साक्षात माया माना है, एकदम मोहिनी।[2]

माया है तो इसके कई रूप भी होंगे। हरेक के लिए उसका एक अपना ही रूप। बिना माया के न तो शहर हो सकता है और न ही इतिहास, परन्तु, मैं इस चक्कर में उलझना नहीं चाहता। मैं लौटना चाहता हूँ अपनी सड़क पर। उस (पुराने) चंद्रावल की ओर जिसे मटका हाउस (मेटकाफ़ हाउस) के पीछे बनते सिविल स्टेशन ने ग्रस लिया। उस पुराने चंद्रावल और सिविल लाइंस का रिश्ता बड़ा अनोखा है।

चंद्रावल, चौकीदारी, चोरी और सिविल लाइंस

मेरी कहानी फ़्लैग स्टाफ़ टावर, जो उत्तरी रिज पर एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक चिन्ह है, के पश्चिमी ढलान पर केंद्रित है। लेकिन, यदि आप इस फ़्लैग स्टाफ़ टावर से पूरब की ओर उतरते जाएँगे तो सिविल लाइंस का हलक़ा मिलेगा। इस सड़क को फ़्लैग स्टाफ़ रोड कहा जाता है। आगे जा कर यह रिंग रोड (महात्मा गाँधी मार्ग) में विलीन हो जाती है। इसी पर कुछ आगे जाने पर लालबत्ती से कुछ पहले ही मेटकाफ़ हाउस है, चंद्रावल के गूजरों का मटका हाउस। इसी लालबत्ती पर एक छोटा सा बोर्ड लगा हैः सिविल लाइंस क्षेत्र में आपका स्वागत है।

मॉल रोड और कैंटोनमेंट एरिया की तरह सिविल लाइंस भी औपनिवेशिक भारतीय नगर की एक स्थायी पहचान रहा है। परतु, दिल्ली का सिविल लाइंस कई मायनों में दूसरे शहरों के सिविल लाइंस से कुछ अलग रहा

है। जैसे इलाहाबाद के, जहाँ भारतीयों को ज़मीन ख़रीदने की इजाज़त नहीं थी। दिल्ली में सिविल लाइंस की ज़मीन अंशतः नज़ूल (चंद्रावल मौज़ा) और अंशतः वैयक्तिक थी। ये निजी मालिकाना हक़ ख़रीद-बिक्री के कारण भी और सन् सत्तावन के विद्रोह के बाद दिए गए 'माफ़ी' उपहारों के कारण भी था। यहाँ के भूस्वामियों में सेठ, शेख़ और पंजाब के राजा-नवाब थे।[3] 1865-70 की मेरठ सेट्लमेंट रिपोर्ट से पता चलता है कि 1830 के बाद से ही दिल्ली शहर के पड़ोस में काफ़ी बदलाव आया है। कारण, अब बहुतेरे महाजनों और अन्य व्यवसायियों ने भूमि में पूंजी लगायी और, इसी बदले रुझान का फल था सिविल लाइंस की कोठियों पर देशी मालिकाना। लेकिन, इसके बाद भी यहाँ मद्रास के समान कोई भारोपीय (Indo-European) उच्च वर्ग विकसित नहीं हुआ। सिविल लाइंस के अधिकांश देसी मालिक पुरानी दिल्ली (walled city) में ही रहना पसंद करते थे। सामान्यतः कोठी का किराया 50 रुपये प्रति माह हुआ करता था लेकिन दरबार (1877, 1903 और 1911 के शाही दरबार) के दिनों में इन कोठियों की माँग आसमान छूने लगती। 1903 के शाही दरबार के समय दो महीने के लिए सिविल लाइंस में एक कोठी का किराया 50,000 रुपये तक था। लेकिन भारतीय उच्च वर्ग को अंग्रेज़ अफ़सरों के समान 'उजाड़' में रहने का कोई शौक़ नहीं था और न ही वे चंद्रावल के गूजरों की दया पर ही रहना चाहते थे।[4]

चंद्रावल के गूजरों ने शुरू से ही अंग्रेज़ हूकूमत के सामने यह शर्त रखी थी कि यदि उन्हें उनके पड़ोस के सिविल लाइंस के अंग्रेज़ अफ़सरों की कोठियों का चौकीदार नहीं रखा गया तो कोठियों को लूट लिया जाएगा। इसे आप गूजरों द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य पर आरोपित चौकीदारी टैक्स मान सकते हैं (शर्त बस इतनी कि इसे औपनिवेशिक इतिहास में अधिक प्रचलित चौकीदारी टैक्स, जो ब्रिटिश प्रशासन द्वारा आरोपित था, न मान लिया जाये)। गूजरों की यह शर्त महज़ घुड़की नहीं थी। 1908 तक अंग्रेज़ सरकार द्वारा गूजरों की इस धमकी को बेअसर करने के सभी दृढ़निश्चयी प्रयास व्यर्थ साबित होते रहे। जिस भी रात चंद्रावल के इन गूजर चौकीदारों को हटाया जाता सिविल लाइंस की सभी कोठियाँ सफलतापूर्वक और पूरी वफ़ादारी के साथ लूट ली जातीं। ब्रिटिश हुकूमत को और सिविल लाइंस की कोठियों को आख़िरकार चंद्रावल के गूजरों के सामने घुटने टेकने पड़े।[5]

आप कहेंगे कि सड़क पर चलते हुए कहाँ से राष्ट्रवादी इतिहास के चक्कर में पड़ गए... मैं भटकता हूँ.. . भटकने के लिए शहर है, सड़कें हैं और जंगल भी। विलायती कीकर के जंगल। आजकल दिल्ली मेट्रो के कारण इस सड़क पर व्यस्तता अत्यंत बढ़ गई है। रिज और कीकर के जंगल के दरवाज़े हमेशा खुले रहते हैं। गाड़ियों की चिल्ल-पों मची रहती है। पर आप यदि भटकना चाहते हैं तो पक्की से उतरना होगा।

दिल्ली विकास प्राधिकरण द्वारा बड़े जतन से बिछाई गई सुर्ख़ी और बजरी की इन कच्ची पगडंडियों से होते हुए आप ख़ूनी ख़ान झील और सर्पाकार झील तक पहुँच सकते हैं जो अपनी गहराइयों में कम से कम सन् 1857 तक तो ले ही जाती हैं। इन कच्ची सड़कों से गुज़रते हुए आपको दिल्ली विश्वविद्यालय के, और बाक़ी शहर के भी कई प्रेमी जोड़े चट्टानों के पीछे और झाड़ियों की ओट में अख़बार बिछाए मिल जाएँगे। कुछ आपकी उपस्थिति से बेख़बर, कुछ बाख़बर। अपनी मदनक्रिया को अचानक रोकते हुए, आपकी आहट सुन कर आप ही को अजीब आँखों से देखते हुए। स्थितप्रज्ञता, किंकर्तव्यविमूढ़ता और 'नययौनतस्थौ' जैसे शब्द शायद ऐसे ही नाज़ुक मौक़ों के लिए बने हैं। लेकिन इस कीकर जंगल के अपने भय भी हैं जो हनुमान दूतों के रूप में सामने आ सकते हैं और 'हिजड़ों' के रूप में भी। दिल्ली विकास प्राधिकरण की तथाकथित सुरक्षा के बावजूद ये हिजड़े मदनक्रियारत युगलों और कच्ची पर सैर करने वालों से कभी दो रुपये, कभी पाँच रुपये या कभी दस रुपये वसूल करना अपना हक़ समझते हैं। यदि आप नोश फ़रमाते हैं तो फिर जंगल में मंगल भी महज़ कुछ ही रुपयों में हो जाएगा। शहर और सेक्शुअॅलिटी के मारे इन हिजड़ों को कई बार बहुत मार खानी पड़ती है। यह बात न तो शहर जानता है न ही सड़क की आँखें इसकी गवाही देती हैं।

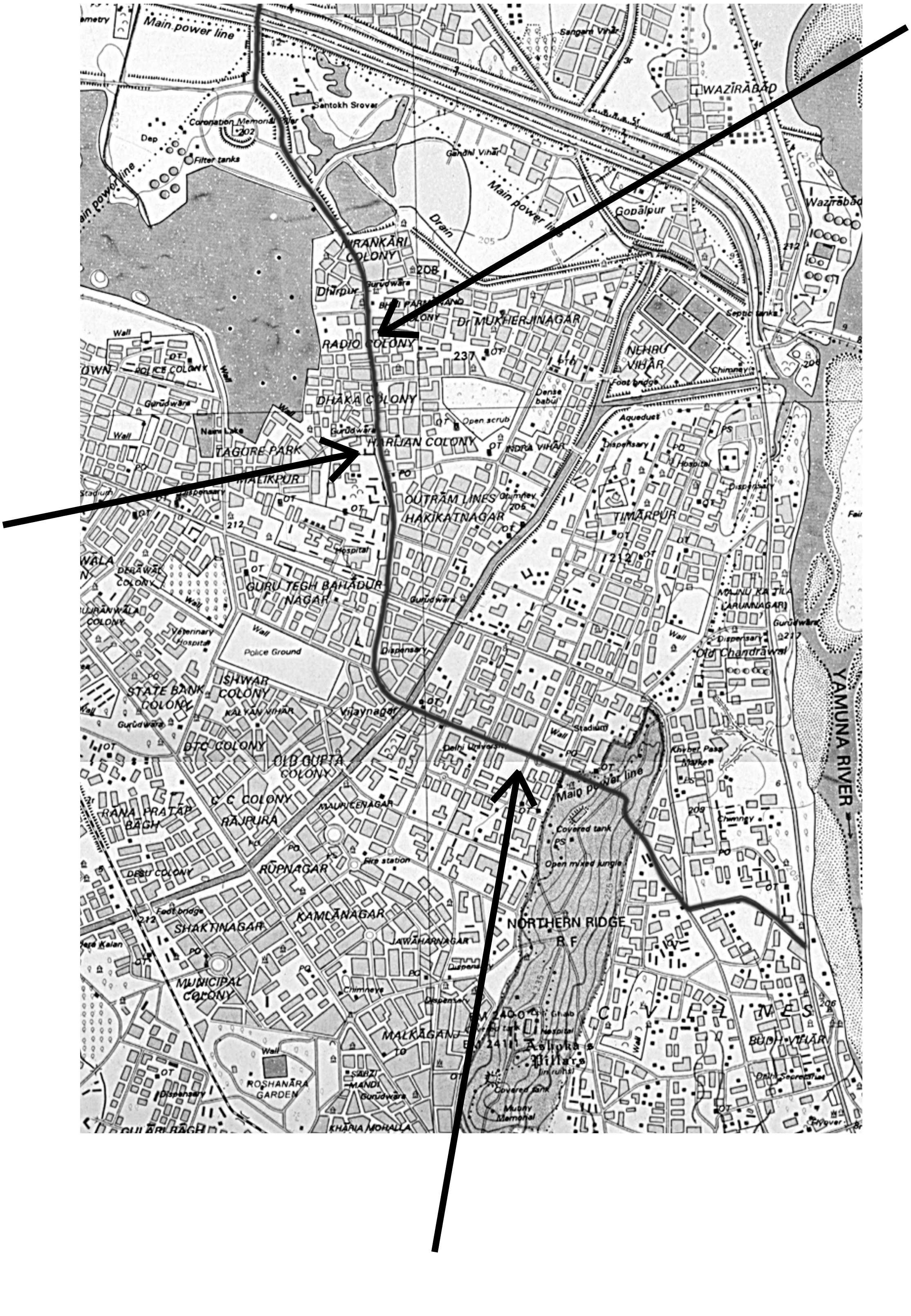
रिज में इसी सड़क पर एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पड़ाव फ़्लैग स्टाफ़ टावर है। सन् 1857 के ग़दर में यह टावर अंग्रेज़ी साम्राज्य और उसके ख़ात्मे के बीच का एकमात्र रोड़ा भी माना गया। कुछ दिनों के लिए पूरी हुकूमत की जान इसी टावर के हलक़ में अटकी हुई थी।[6]



पश्चिम की ओर उतार

ऐतिहासिक फ़्लैगस्टाफ़ टावर से पश्चिम में नाक की सीध में उतरते हुए दिल्ली विश्वविद्यालय के मुख्य द्वार के दर्शन होते हैं। मैं सोचता हूँ, देश के सारे नहीं तो अधिकांश संस्थानों के मुख्य द्वार हमेशा बंद ही क्यों रहते हैं? ख़ैर, यहाँ से कुछ दूर आपको पैदल चलना होगा। पहला पड़ाव दिल्ली विश्वद्यािलय की जवाहर गुलाब वाटिका। जवाहर लाल (नेहरूजी) की मूरत बड़ी अजीब सी अतियथार्थरूपता का बोध कराती है।

ये जो बाईं तरफ़ वाइस चांसलर का ऑफ़िस है, कभी यह वाइस रीगल लॉज हुआ करता था। जहाँ आजकल रजिस्ट्रार बैठते हैं उसी कमरे में वाइसराय ने अपनी प्रेमिका को 'प्रोपोज़' किया था। इस कमरे के पीछे एक बड़ा सा बॉल रूम हुआ करता था, अंग्रेज़ अफ़सरों के डांस के लिए। बाद में यहाँ 'फ़ॉल्स रूफ़' के ऊपर विश्वविद्यालय के डिस्पैच सेक्शन के कर्मचारी बैठने लगे डिग्री और समय की डिस्पैचिंग करते हुए। यहाँ लगे हाथ यह बता देना भी, आज के दौर में, रोमांचक हो सकता है कि ब्रिटिश साम्राज्य के समान ही इस इमारत के भी अनेक तहख़ाने हैं : मिथक है कि इन्हीं तहख़ानों में फाँसी से पहले तीन रात के लिए गुपचुप तरीक़े से भगत सिंह को रखा गया था। इस प्रचलित अवधारणा पर सवालिया निशान लगाने की ज़रूरत है। चौदह अन्य 'षडयंत्रकारियों' पर पुराने वाइसरीगल लॉज के मुख्य ब्लॉक में 15 अप्रैल 1931 को मुक़दमा शुरू हुआ। भगत सिंह को इससे तीन सप्ताह पहले ही 23 मार्च 1931 को फाँसी दे दी गयी थी।[7] फिर किस वजह से भगत सिंह का नाम उनके मरने के बाद भी इस इमारत से जोड़ा जाता है? इन 'षडयंत्रकारियों' पर 22 माह तक मुक़दमा चला। इस दौरान इन्हें (रूद्रदत्त मिश्रा, धन्वंतरि, के.वी. गुप्ता, वी.आर. गुप्ता, एस.एच. वात्सायायन, आज़ाद विद्याभूषण, वैशम्पायन, टी. भागीरथ लाल हरकेस एवं अन्य) दिल्ली जेल से बराबर इस ख़ाली लॉज में लाया जाता रहा। इतिहासकार शाहिद अमीन लिखते हैं, "क्या यह संभव नहीं कि इन्होंने चंद रातें इन तहख़ानों (वाइनसेलर्स) में बिताई हों या फिर इन्हें लंच के अवकाश में यहाँ बाँध कर रखा न गया हो? शायद।"[8] लेकिन इनकी बातें कौन करता है? क्या हम भगत सिंह को छोड़ कर इन अनाम 'षडयंत्रकारियों' के साथ इस ऐतिहासिक जगह को नहीं जोड़ सकते? ये तहख़ाने (ब्रिटिश) राज को संजोए रखते थे। यही तहख़ाने राज की बात का पर्दाफ़ाश भी करते हैं। आजकल उस वाइसरीगल लॉज (वाइस चांसलर ऑफ़िस) का रेस्टोरेशन कार्य प्रगति पर है। बॉल रूम में सभाएँ होंगी और तहख़ाने सैरगाह बन सकते हैं। गुलाब वाटिका फिर से बस जाएगी, हाँ कुछ टीचर ज़रूर हटा दिए जाएँगे।


Main power line
Santokh Srover
Filter tanks
WAZIRABAD
Gopalpur
Drain
NIRANKARI COLONY
RADIO COLONY
Dr MUKHERJINAGAR
NEHRU VIHAR
DHAKA COLONY
HARIJAN COLONY
TAGORE PARK
MALIKPUR
INDRA VIHAR
Aqueduct
OUTRAM LINES
HAKIKATNAGAR
TIMARPUR
GURU TEGH BAHADUR NAGAR
Police Ground
Old Chandrawal
YAMUNA RIVER
ISHWAR COLONY
STATE BANK COLONY
KALYAN VIHAR
Vijaynagar
Stadium
DTC COLONY
OLD GUPTA COLONY
C C COLONY
RANA PRATAP BAGH
RAJPURA
RUPNAGAR
Fire station
Covered tank
Open mixed jungle
KAMLANAGAR
SHAKTINAGAR
NORTHERN RIDGE R F
JAWAHARNAGAR
MUNICIPAL COLONY
C I V I L L I N E S
MALKAGANJ
ROSHANARA GARDEN
BUDH VIHAR

इस लेख में मेरा वृहत्तर उद्देश्य है सड़क की कहानी लिखना। सड़क जो देखती है उसे कैसे बयान किया जाए? सड़क की आँखें होती हैं जो शहर और समय की देह को देखती हैं। लेकिन सड़क की एक और देह भी है जहाँ शहर और समय दोनों ही आकार ग्रहण करते हैं। इस देह, इसकी इबारतों को कैसे पढ़ा जा सकता है? शहर के विमर्श में सड़क की यह देह या तो अतीत में खो जाती है, तस्वीरें धुंधली होती जाती हैं और सड़क मिथकीय लगने लगती है। दूसरी ओर, मानवशास्त्रीय रुझानों में सड़क अपनी इतिहासविहीनता में एकदम सपाट हो जाती है, कोलतार की एक बेजान देह जिसको विभिन्न तरह के लोग चौबीसों घंटे रौंदते रहते हैं।

इतिहास और मानवशास्त्र के अलावा एक विमर्श और है जहाँ सड़क की आँखें अपना रूमानी विस्तार पाती हैं। यह है गाइडबुकों और यात्रा वृत्तांतों की दुनिया। मुझे यह दुनिया भाती है। यहाँ इतिहास भी है, समय की इबारतें भी और 'वर्तमान' के लोग तथा उनकी जनसंस्कृतियाँ भी। परन्तु, यहाँ सभी कुछ एक ख़ास तरह से रूमानी है। समस्या इस रूमानियत से, इस मिथकीय रौशन दुनिया से नहीं है। परेशानी ये है कि पर्यटन निर्देशिकाएँ और यात्रावृत्तांत रूमानी और मिथकीय शहर को सपाट बना देते हैं। ये हमें शहर के, सड़क के अंधेरे वृत्तों की ओर जाने की इजाज़त नहीं देते।

....सड़क और शहर अपनी भाषा की तलाश में फिर से भटकते हैं। मैं वाइसराय लॉज, समय के तहख़ाने और विश्वविद्यालय के पार्क से बाहर निकलने की कोशिश करता हूँ। जय जवान टी स्टॉल के पास बंद गेट की बग़ल से निकलते हुए फिर से मुख्य सड़क पर। सड़क की आँखें विश्वायन का मंज़र देखती है। जय जवान टी स्टॉल पर ब्रेड पकौड़े, गाजर के जूस और पंजाबी चाऊमीन के साथ पिछले डेढ़-दो-सालों से जॉर्जिया चाय और कॉफ़ी भी मिलने लगी हैं। बात महज़ इतनी सी नहीं है। 'कॉमोडिटी कल्चर' का थोड़ा पेचीदा खेल चल रहा है। इसकी पेचीदगी का अंदाज़ा इस सड़क पर थोड़ा आगे बढ़ने से पटेल चेस्ट की फ़ोटोकॉपी के दुकानों की व्यस्त और लंबी क़तारों से लगता है। पचास पैसे प्रति पृष्ठ की दर से यहाँ आप विशालकाय वैश्विक कॉपीराइट 'रेजीम्स' से लोहा ले सकते है। 'लेखक' की रूमानी परिभाषाओं और परम्पराओं को नए सिरे से व्याख्यायित कर सकते हैं और कॉपीराइट क़ानूनों को इन्हीं दुकानों की क़तार के बीच इसी सड़क पर पुराने क़ब्रिस्तान में दफ़न कर सकते हैं। लेकिन सड़क को आगे जाना होगा।

फ़ोटोकॉपी की दुकानों, पटेल चेस्ट, क्रिश्चियन कॉलनी और नाला पार करने के बाद विजय नगर, हडसन लाइन और किंग्सवे कैंप पहुँचते हैं। एन्ड्रयू हडसन ने 1857 में दिल्ली में ब्रिटिश सत्ता को पुनर्स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी।

विभाजन के बाद यह पूरा इलाक़ा पाकिस्तान से आए विस्थापितों का आश्रयस्थल बना। विजय नगर, हडसन लाइन, किंग्सवे कैंप और इसके आगे का इलाक़ा जैसे आउट्रम लाईन, मुखर्जी नगर, इंदिरा विहार, हक़ीक़त नगर आदि पुनर्वास कॉलनियाँ बसाई गयीं। वो 1950 का दशक था। 'नए देश' में 'नए नागरिकों' को उनकी पुरानी यादों के साथ इस सड़क ने देखा था। तीस-चालीस साल बाद इन इलाक़ों का तेज़ी से राष्ट्रीयकरण हुआ। देश के भीतर से (और कुछ मायनों में वैश्विक स्तर पर भी) शैक्षिक विस्थापित दिल्ली विश्वविद्यालय आने लगे।

इन नए विस्थापितों ने इस इलाक़े में नए क़िस्म की (मकान के किराए पर आश्रित) अर्थव्यवस्था को जन्म दिया। देश के भीतर से आए विस्थापितों ने इन घरों को नए क़िस्म के विकेन्द्रित और प्राइवेट हॉस्टलों में बदल दिया। इस प्रक्रिया ने धीरे-धीरे इस सड़क के आगे पड़ने वाले मुक़ामों जैसे ढका गाँव, परमानंद कॉलनी, रेडियो कॉलनी और निरंकारी कॉलनी को भी अपनी चपेट में ले लिया।

लेकिन, शहर और सड़क की व्यस्तता और रंगीनियाँ पहले भी कुछ कम न थीं। किंग्सवे कैंप के चौराहे, यहाँ के बड़े-छोटे रेस्त्राँ/ढाबे, बड़े-बड़े कड़ाहों में खौलता दूध, रात भर खुली रहने वाली इन दूध की दुकानों की चहल-पहल, राजन बाबू टी.बी. अस्पताल के बाहर रात भर खुली रहने वाली वो पटरी जहाँ बड़े-बड़े आलू के पराँठे, चाय, 'बन-ऑमलेट' और रस्क मिलते हैं (जिन्हें लोग 'बन्द-आमलेट' और 'रस' कहते हैं)। कपड़े की दुकानों की क़तार जिसमें पुलिस की ड्रेस लटकती रहती है। हाल के वर्षों में पुरानी एक-मंज़िला इमारतों को तोड़कर बनी/बनती जा रही बहुमंज़िला इमारतों की बड़ी-बड़ी दुकानें, इन दुकानों के ऊपर विभिन्न प्रकार के कोचिंग

संस्थान और इनके बाहर ग्रुपों में गप्प लड़ाते/गॉसिप करते बैंक परीक्षा की तैयारी करने से लेकर एयर हॉस्टेस की ट्रेनिंग लेते स्मार्ट लड़के-लड़कियाँ। सुबह सड़क के दोनों तरफ़ झुंड में खड़े और उकड़ूँ बैठे काम तलाशते दिहाड़ी मज़दूरों की आँखें और रात में चौराहे पर ग्राहकों को खोजती, मारूति के शीशे के पीछे उत्सुकता से देखती वेश्या लड़कियों और हिजड़ों की आँखें – ये सब कुछ किंग्सवे कैंप को एक ख़ास चरित्र प्रदान करते हैंः इतनी विविधता, आँखों के इतने सारे भाव आपको शायद ही दिल्ली के किसी दूसरे चौक पर देखने को मिलें। पर यह कोई नयी बात तो नहीं। मुक्तिबोध बहुत पहले ही लिख चुके हैंः

किंग्सवे में मशहूर ज़िंदगी रात की
सड़कों का श्रीमान फ़िरंगी ईमान
सुगंधित किरणों में
फहराता है हृदय का कामाकुल सुनसान
रंगीन चमकती चीज़ों के सुरभित
स्पर्शों में पुलकित
शीशों की सुविशाल झाइँयों में उद्दीप्त
चाँदनी दिल की
ख़ूबसूरत अमरीकी मैगज़ीन पृष्ठों सी
खुली थी,
अधनंगी तनिमा के ओष्ठों सी
खुली थी,
सफ़ेद अंडरवेअर-सी, ब्रेसिए-सी,
आधुनिक प्रतीकों में पली थी
नंगी-सी नारियों के उघरे हुए अंगों के
विभिन्न पोज़ों में लेटी थी चाँदनी।
कर्फ़्यू कहीं नहीं यहाँ... !!
पसंदगी... संदली !!
किंग्सवे में मशहूर रात की है ज़िंदगी।[7]

कैंप से सड़क आगे बढ़ती है। रोड चौड़ी हो जाती है। इस रोड पर यदि आप कुछ बरस पहले आए होते तो मशहूर मोटर साइकिल हार्वे डेविडसन की सवारी कर सकते थे। इसे तकनीक और डिज़ाइन के स्तर पर संशोधित कर एक आठ-दस सीट वाली यात्री गाड़ी की शक्ल दे दी गई थी जिसका नाम था 'फट फट'। किंग्सवे कैंप से बुराड़ी गाँव (जो इसी सड़क पर क़रीब ढाई-तीन किलोमीटर आगे है) तक जाने के लिए यह सबसे सुलभ (यदि सुविधाजनक नहीं भी) सवारी हुआ करती थी। परिवहन का यह प्रचलित तरीक़ा आज भी क़ायम है। हाँ, पिछले वर्षों में पर्यावरण-सतर्क नीतियों ने इसकी संख्या आश्चर्यजनक रूप से घटा ज़रूर दी है साथ ही इसके डिज़ाइन में ख़ासा परिवर्तन भी हो गया है। अब यह एक अनोखी मोटरसाइकिल कम और बड़ा तिपहिया अधिक लगता है।

बाज़ार की व्यस्तताओं के बाद हम हरिजन सेवक संघ या गांधी आश्रम पहुँचते हैं। सन् 1932 में जब इसकी स्थापना की गई थी तो पूरा इलाक़ा कम आबादी वाला और तथाकथित निम्न जाति बहुल ही था। हाँ, ढका गाँव के चौहानों की बात भले ही दूसरी थी।

एक ऐसी ही भंगी बस्ती के बारे में सन् 1933 की एक रपट बताती है, "जेठ की कड़ी धूप में पानी की एक बूँद भी वहाँ नसीब नहीं। एक नल है, तो वह टट्टी के पास ही। उसे जलाव पर कूड़ा डालने वाले और टट्टियों को इस्तेमाल करने वाले गंदा कर देते थे, इसलिए अधिकारियों ने उसे बंद कर दिया परन्तु दूसरी जगह अभी तक नल नहीं लगाया गया। पीने को ही पानी नहीं, नहाने धोने की बात तो अलग रही। ऐसी अवस्था में

वे पशुओं की खोल (मशक) में या शाहजी के गंदे तालाब से पानी लाते हैं। इस बस्ती में 50 परिवार रहते हैं। सब मेहतर हैं और वे सभी दिल्ली की म्यूनिसिपैलिटी के मुलाज़िम हैं।"[10]

इलाक़े की हरिजन जनसंख्या ने महात्मा गांधी, ठक्कर बापा और घनश्यामदास बिड़ला के अलावा ईसाई मिशनरियों और निरंकारी मंडल का भी ध्यान इस सड़क की ओर आकर्षित किया। सन् 1957 में यहाँ मेथॉडिस्ट चर्च ढका की स्थापना हुई। इस चर्च के वार्षिक मेले का एक पर्चा 'बिरयानी कबाब, मटन कोरमा, केक और कुकीज़, रोटी, जैम और आचार, चाय, कॉफ़ी' और भी बहुत कुछ के साथ क्रिश्चियन फ़ेलोशिप के लिए लोगों को आमंत्रित करता है।

2004 वार्षिक मेले का पर्चा, रविवार के दिन के उत्सव की तैयारी, ख़ैरात बाँटती सड़क, सड़क के दूसरी तरफ़ तम्बू से रूपांतरित हो गए सड़क के किनारे ही बसे गाड़िये लुहारों के मिट्टी के लिपे-पुते क़रीब पंद्रह घर। इन घरों के आगे चारपाइयाँ, हुक़्क़े, धौंकनी, आग, टेबल पर सजाकर रखे गए हथौड़े, तवे, चिमटे, छुरी आदि। इधर-उधर खेलते बच्चे और चारपाइयों पर अलमस्त लेटी महिलाएँ। सड़क की दूसरी तरफ़ (मेथॉडिस्ट चर्च के साथ ही) हरनारायण जी महाराज का भव्य और विशालकाय मंदिर...

मैं इन लुहारों के बारे में जानना चाहता हूँ। मुझे ये बंजारे अधिक दिखते हैं। ये बताते हैं कि ये राजस्थान से आए हैं लेकिन अब काफ़ी बरस हो गए। मैं कुछ अधिक जानना चाहता हूँ। मुझे तिमारपुर जाने की सलाह दी जाती है। वहाँ भी इनकी जाति के बहुत से घर हैं। साथ ही बताया जाता है, 'चावड़ी बाज़ार चले जाओ। महाराणा प्रताप का इतिहास उठा लो, उसी के वंशज हैं'। सड़क आगे बढ़ती है।



इस मेथॉडिस्ट चर्च से पुरानी है रोमन कैथलिक चर्च। यहाँ आज चर्च के साथ-साथ एक बहुत बड़े कैंपस वाला बड़ा सा रोज़री स्कूल भी है। अस्सी बसंत देख चुके युआना डेविड गेट के बाहर दरबानों के साथ बैठे मिल गए। इन्होंने अपने जीवन के लगभग पचास साल यहाँ गुज़ारे हैं। बताते हैं, "यहाँ कुछ नहीं था, जंगल था, जब (मैं) यहाँ आया। पहाड़गंज में रहा हूँ। वहाँ से यहाँ आया पचास में। यहाँ क्वॉर्टर बने हुए थे, बाईस, जिनमें सारे चमार थे। जिन्हें हरिजन बोलते हैं। हमारे पाँच-छह घर थे, क्रिश्चियन के। और, इस जगह का नाम था पंपैयाबाद। इस जगह का जो आज रोज़री स्कूल लिखा हुआ है ....हम पाँच-छह आदमियों ने मकान ख़ाली करे ....मैं स्टेट्समैन में काम करता था... ये जगह मिशन की थी, कोर्ट का फ़ैसला था, लेकिन इन्होंने तवज्जो नहीं दी। 1965 में ये स्कूल बना है। 1977 में ये चर्च बना है 1978 में यहाँ बाढ़ आ गई थी, मैं यहीं था निरंकारी में... यहाँ ज़्यादातर अंग्रेज़ पादरी थे आइरिश...

"(उस समय) जंगल था ये सब। खेत था जिसमें से निकलकर हम जाते थे। ये रेडियो कॉलनी है न! इसकी दीवाल मिट्टी की थी और इसकी (चर्च की) दीवाल भी मिट्टी की थी जो आज इतनी बड़ी-बड़ी है।"

दूसरा स्वरः "जब 19 नंबर चलती थी न यहाँ से तब मैं यहाँ आया करता था।"

डेविडः "यहाँ (ढका में) थोड़े से चौहान थे, अब तो भर गया है ये जगह। यहाँ जब मैं आया था तो पीछे धीरपुर गाँव में छह-सात मकान थे बस। बाक़ी चार-छह मकान जाटों के थे जिनकी यहाँ ज़मीन

थी। खेत हुआ करता था समझे! और आज देख लो ये हालत है। अरबों रुपयों की जगह है ये सब। विलायती कीकर थे यहाँ। तब से मैं यहाँ हूँ और अब ये हरामज़ादे पूछते नहीं कि मैं क्या हूँ पहले छोटा सा चर्च था, चैपल। साथ में 22 घर थे। क़रीब दो-ढाई सौ आदमी थे। बाहर से राशन आता था, 'एड' आया था... बाँटने के लिए।"

विलायती कीकर के जंगल और खेतों के बीच जो संस्थागत गतिविधि सबसे पहले शुरू हुई वह थी 1943 में किंग्सवे उच्चशक्ति प्रेषित केन्द्र की स्थापना और इसके इर्द-गिर्द बसी रेडियो कॉलनी। अपने विस्तार में यह पूरा इलाक़ा कम से कम तीन-चार किलोमीटर तो होगा ही। बहुत बड़ा ख़ाली सा घास का मैदान जिसमें कई सारे ऊँचे ट्रांसमीटर खंभों और तारों का जाल बिछा हुआ है। सड़क के किनारे कर्मचारियों और अधिकारियों के लिए घर बने हुए है। मज़ाक में लोग कहते हैं कि यहाँ चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी को जितना बड़ा क्वार्टर दिया गया है उतना बड़ा घर तो दिल्ली में आईएएस अधिकारी को भी नहीं मिलता।

इसी रेडियो कॉलनी के अंत में रोज़री स्कूल की लेन है। इस लेन के दूसरी तरफ़ धीरपुर गाँव शुरू होता है। यह लेन कई मामलों में महत्वपूर्ण है। यहाँ हमारी सड़क का इकलौता अपार्टमेंट है। इस पंचमंज़िला इमारत में कुल बीस फ़्लैट्स हैं। तीन कमरों और ड्राइंगरूम वाले फ़्लैट्स। इसे नानक एनक्लेव कहा जाता है। इसकी छत से मैं देखता हूँ दिल्ली शहर का क्षितिज। छोटे-छोटे मकान, दो मंज़िले, तीन मंज़िले। दूर बत्रा सिनेमा हॉल की रोशनी। पश्चिम में बाहरी रिंग रोड पर डिब्बे के समान चलती गाड़ियाँ, रेडियो कॉलनी की डेढ़-दो किलोमीटर का विशाल परती हरियाली और पानी से ढका मैदान, निषिद्ध क्षेत्र, रेडियो ट्रांसमीटर सिग्नल टावरों का जाल सा बिछा हुआ। बीच में एक छोटा सा घर, कर्मचारियों के लिए, और इस घर से निकलती लकीर सी दिखती पगडंडी। बड़ा रूमानी लगता है यह घर, एकदम शांत सा। देखने से कैसे पता चले तारों के बीच काम करने वाला मानुष मन कितना शांत होगा? दूर मैदान के पार मॉडल टाउन के फ़्लैट्स। मैं छत की पूर्वी रेलिंग पर वापस आता हूँ। सामने उत्तर-पूर्वी दिशा में बुराड़ी और गांधी विहार की बस्ती आकाश रेखा बनाती है लेकिन ठीक सामने थोड़ी तिरछी निरंकारी कॉलनी और उससे सटी इंदिरा विकास कॉलनी ('झुग्गी')। निरंकारी कॉलनी में एक अत्यंत आधुनिक स्थापत्य का नमूना, निरंकारी सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र। ऐसा भव्य और अनोखा स्थापत्य भारत में बहुत आसानी से नहीं दिखाई पड़ता। सड़क के ठीक सामने राधास्वामी सत्संग (व्यास) का प्रवचन कम्पाउंड। पिछले डेढ़-दो सालों में यहाँ गतिविधियाँ अचानक बहुत बढ़ गई हैं। रविवार की सुबह (और कभी बृहस्पतिवार को भी) यहाँ लोग इकट्ठे होते हैं। गाड़ियों की क़तार लंबी हो जाती है। ट्रैफ़िक कंट्रोल करने का कार्य स्वयंसेवक अपने हाथ में ले लेते हैं। उनकी मुस्तैदी देखते बनती है। लगभग सौ कारें, आठ-दस छोटे-छोटे टाटा ट्रक, चार-पाँच बसें, सौ-सवा सौ मोटर साइकिलें अब यहाँ प्रवचन की सुबह दिखाई पड़ती हैं। बृहस्पतिवार की शाम को रेडियो कॉलनी की यही सड़क साप्ताहिक् बाजार की व्यस्तता से भर उठती है।



आगे संतोष सरोवर है जिसे चाहें तो निरंकारी कॉलनी का विस्तार समझ लें। पंजाब के कृषक समुदाय, दिल्ली के आसपास के ग्रामीण इलाक़ों से और प्रवासी पंजाबी समुदाय से निरंकारी सम्प्रदाय

के सदस्य आते हैं लेकिन इनका अधिकतर कार्य हिन्दी और अंग्रेज़ी भाषा के ज़रिए होता है। वार्षिक जलसे में प्रवासी बिहारी निम्नवर्ग, राजस्थान और हरियाणा के इलाक़ों के निम्न वर्ग भारी संख्या में दिखते हैं। निरंकारी मंडल के 'फ़्लायर' के पीछे महत्वपूर्ण केन्द्रों के नाम और पते हैं। मंडल के प्रभाव और विस्तार को दर्शाते ग्राफ़िक भी हैं — पूरे ग्लोब को घेरे में लिए हुए मानव पंक्ति। भौगोलिक चिह्न — शिकागो, लॉस ऐंजिलिस, टोरंटो, मॉन्ट्रियल और इंग्लैंड। ख़ैर, संतोष सरोवर वापस चलें — एक आधुनिक और अत्यंत खूबसूरत पार्क। पार्क के भीतर दक्षिणी किनारे पर मोहक स्वीमिंग पूल सा बना सरोवर। बहुत सारे कर्मचारी अपने-अपने कामों (सफ़ाई के) में दक्षता से व्यस्त। स्थापत्य और विचारधारा के संबंधों की जटिलता के लिए यह सरोवर, यह पार्क और निरंकारी मंडल का मुख्य हेडक्वार्टर एक दिलचस्प अध्ययन क्षेत्र का निर्माण करता है। मुझे बताया जाता है कि पार्क में ख़ूबसूरत रेस्त्राँ और मंडल के प्रकाशन की दुकान है। एक संग्रहालय का निर्माण-कार्य ज़ोरों से प्रगति पर है।

यह संतोष सरोवर से कुछ पहले ही सड़क की दूसरी ओर, कॉरोनेशन पार्क का बड़ा सा ख़ाली-ख़ाली सा इलाक़ा है। सफ़ेद संगमरमर की मूर्तियाँ और बहुतेरे ख़ाली बुर्ज़। बीचोंबीच एक विशालकाय ऊँचे प्लैटफ़ॉर्म पर बड़ा सा स्तंभ।

कुल मिलाकर इस सड़क पर दो स्तंभ हुए। एक कॉरोनेशन पार्क में, दूसरा हरिजन सेवक संघ के भीतर। हरिजन सेवक संघ के स्तंभ में सबसे ऊपर चरख़े की छवि बनी हुई है।

कॉरोनेशन पार्क वाले स्तंभ पर राजा जॉर्ज पंचम की घोषणा अंग्रेज़ी और उर्दू दोनों ही में है। लेकिन इस शाही टैबलेट के बहुत ऊपर किसी ने लाल ईंट से लिखा है अपना नाम BUNTY। कुछ प्यार की इबारतें भी हैं, पक्के दिल से, कच्चे अक्षरों में लिखी हुई। चौकीदार धन्नूलाल कहता है, "मुझे नहीं पता ये क्या है कहते है कोई लाड (लार्ड) आया था। आप ही जानते होंगे, पढ़े-लिखे हो।" मैं सोचता हूँ धन्नूलाल की अज्ञानता के बारे में, अभिशाप है यह या वरदान!

मैं कॉरोनेशन पार्क से बाहर निकलता हूँ। आगे सड़क बाइपास में मिल जाती है और बाइपास पार करने के बाद बुराड़ी गाँव शुरू हो जाता है। बुराड़ी में दिल्ली परिवहन विभाग का एक महत्वपूर्ण कार्यालय है। 'अथोर्टी' कहते हैं लोग इसे। यहाँ ऑटोरिक्शा के चालान, परमिट आदि कटते हैं। इसी ऑथोरिटी से वापस आते एक ऑटो में सवार होता हूँ। अपनी खिचड़ी दाढ़ी और बुढ़ापे की ओर बढ़ती आवाज़ के साथ मुझे निमित्त बनाकर वह अपने आप से, सरकार से और सड़क से बातचीत शुरू करता है — "दो-पाँच-पचास रुपये सभी कुछ निकलवा लेते हैं स्साले"। मैं बातचीत में साथ देना चाहता हूँ, उसका मानसिक बोझ कुछ कम करना चाहता हूँ और वह बताता है कि उसे 400 रुपये के काम के लिए 1000 देना पड़ा। यदि आपसे कोई बड़ी ग़लती हो गई तो 5000 रुपये तक लग जायेंगे। सड़क की और इसके इस्तेमाल की अपनी क़ीमत होती है और इसे यदि कोई सबसे अच्छी तरह से जानता है तो वह है बिचौलिया। यह बिचौलिया समय भी हो सकता है और शहर भी। सड़क अपनी इबारतों को पढ़ने की कोशिश करती है — रात के 'अंधेरे में' इसकी दीवाल पर कौन चिपकाता है हड़ताली पोस्टर ...?

संदर्भ

1. आर. ई. फ़्रिकेनबर्ग, *"द कॉरोनेशन दरबार ऑफ़ 1911: सम इंप्लिकेशंस"*, आर. इ. फ्रिकेनबर्ग (सं), *दिल्ली थ्रू दि एज़ेजः सेलेक्टेड एसेज़ इन अबन हिस्ट्री, कल्चर, ऐण्ड सोसायटी*, दिल्ली, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 2002, 1986, पृ. 235.
2. पंडित योगेश्वर का पालम बाउलि अभिलेख, 1276 ई. देखें, *हिस्टॉरिक डेल्ही*, इंडियन हिस्ट्री कॉङ्ग्रेस, 52वाँ सत्र, 21-23 फ़रवरी, 1992, पृ. 39.
3. नारायणी गुप्ता, *डेल्ही बिटविन टू एम्पायर्स 1803-1931ः सोसायटी, गवर्नमेंट ऐण्ड अर्बन ग्रोथ,* दिल्ली, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 2002, 1981, पृ. 59.

4. वही, पृ. 59.
5. वही, पृ. 59-60. एवं, नारायणी गुप्ता, *"डेल्ही ऐण्ड इट्स हिंटरलैंड इन द नाइन्टीथ ऐण्ड अर्ली ट्वेन्टिएथ सेंचुरीज़"*, आर. ई. फ़्रिकेनबर्ग (सं.), *दिल्ली थ्रू दि एजेज़*, पृ. 148.
6. रिज के ऐतिहासिक विवरणों एवं महत्वों के लिए देखें, एच.सी. फ़ैनशॉ, *डेल्ही पास्ट ऐण्ड प्रेज़ेन्ट*, लंदन, जॉन मर्रे, 1902. साथ ही रिज से जुड़े इलाक़ों के अनुभवों, यादों और ऐतिहासिकता की पेचीदगियों के सुंदर वर्णन हेतु देखें, शाहिद अमीन, 'पास्ट रिमेन्स', *कॉन्वरसेशन्स*, अंक 3, नं. 2 समर, ऑस्ट्रेलियन नैशनल युनिवर्सिटी, पैंडेनस बुक्स, 2003, पृ. 77-84.
7. देखें शाहिद अमीन, 'हाउ टू राइट (right) हिस्ट्री', *टाइम्स ऑफ़ इंडिया*, दिल्ली, 31 मई 2005.
8. वही.
9. गजानन मा. मुक्तिबोध, "चाँद का मुँह टेढ़ा है", *प्रतिनिधि कविताएँ*, दिल्ली, राजकमल पेपरबैक्स, 2000, 1984, पृ. 102-03.
10. रिपोर्ट आगे लिखती है, "इसमें से सिर्फ़ 8 परिवारों को म्युनिसिपैलिटी ने घर दिए हैं. घर पक्के हैं, 10x15 फ़ुट और सामने 6 फ़ुट का बरामदा भी है. पर बरसात में वे सारे-के-सारे टपकते हैं. शहरपनाह की दीवार पुरानी है। उसके सहारे पानी घरों में भी भर जाता है. बाक़ी घर कच्चे हैं. उनकी छतें टीन के टुकड़ों, चिथड़ों और सिरकियों से छाई हुई हैं और भीतर-बाहर एक समान पानी बरसता रहता है. बस्ती की एक ओर बम पुलिस और डलाव भी है. यहाँ मैले से भरी आठ गाड़ियाँ हमेशा खड़ी रहती हैं. मैला-कचरा यहाँ दिन-रात पड़ा सड़ा करता है. रोशनी का भी कुछ प्रबंध नहीं है. क़र्ज़ इन ग़रीब जातियों का काल है. शादी-ब्याह के समय जिस ब्याज पर भी मिले, ऋण ले लेते हैं. तनख़्वाहों का देर से मिलना भी इनके ऋणी होने का एक कारण है. ऋणी परिवारों की संख्या 37 और औसत ऋण 162 रुपये है।" देखें, मुकुट बिहारी वर्मा, *हरिजन-सेवक-संघ का इतिहास (सन् 1932 से 68 तक)*, दिल्ली, हरिजन-सेवक-संघ, 1969, पृ. 8.

गुलाम माज़ी पर कुछ आज़ाद ख़याल

पार्थो दत्ता

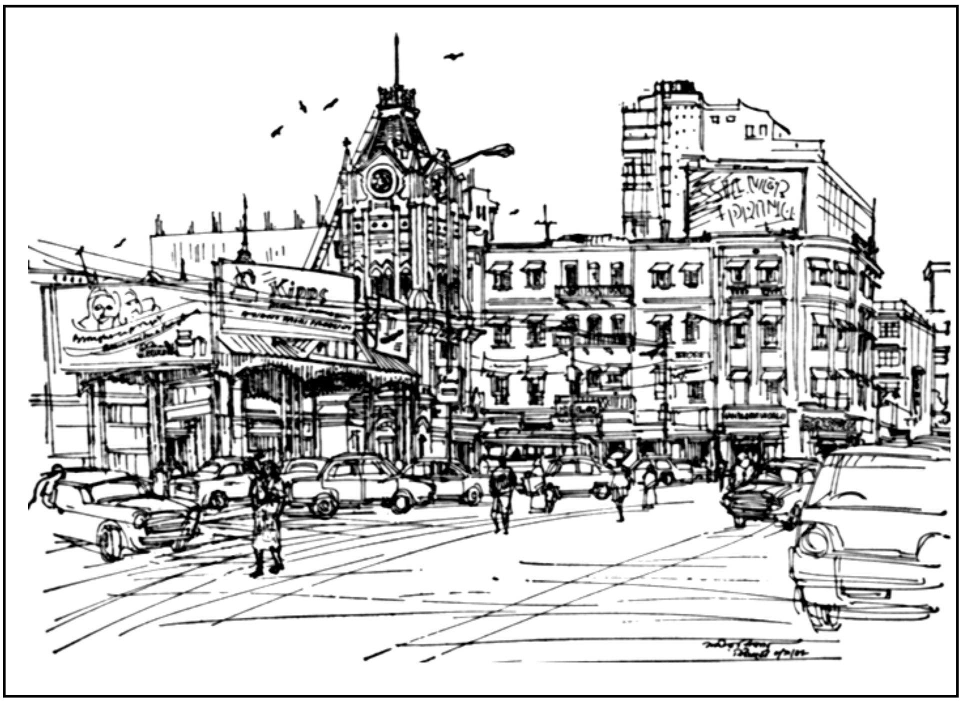
औपनिवेशिक आधुनिकता के सबसे शानदार स्मारक आज भी शायद हमारे शहर ही हैं। बड़े-बड़े शहर — कोलकाता, चेन्नई, मुंबई, नई दिल्ली। अपने दामन में जो विरासत इन्होंने समेट रखी है, वह काफ़ी हद तक दुविधाग्रस्त है। दिल्ली के इंडिया गेट गोल चक्कर पर बनी छतरी का क्या किया जाए, इस बारे में कन्ज़र्वेशन सोसायटी द्वारा बुलाई गई बैठक में शिरकत करने वाला कोई भी व्यक्ति याद कर सकता है कि लुटियंस की भव्य योजना और उसकी विरासत के पक्ष-विपक्ष में कैसे-कैसे बेमिसाल तर्क दिए गए थे। यह दुविधा एक वास्तविक दुविधा है। नेहरू प्लेस और भीकाजी कामा प्लेस (आज़ादी के बाद विकसित हुए उद्योग और उद्यमशीलता में दिल्ली का योगदान) की बेरौनक़ शक्लोसूरत के बारे में सोचिए और एक नज़र कनॉट प्लेस के राजसी गलियारों पर डालिए जहाँ तपती दोपहरी में भी आदमी थोड़ा-बहुत टहल कर समय काट सकता है। और इससे भी ज़्यादा बेमिसाल उदाहरण तो कोलकाता का मेट्रो है — जी हाँ, इस शहर का सबसे बड़ा गौरव और आनंद। हाल ही में उत्तरी कोलकाता और दक्षिणी कोलकाता को जोड़ने वाले हिस्से का भी उद्घाटन किया गया है। इस नई पट्टी ने शहर के उत्तरी छोर से आने वाले मुसाफ़िरों की रोज़ाना की समस्याओं को हमेशा के लिए हल कर दिया है। यह इंजीनियरिंग दक्षता का एक बेमिसाल उदाहरण है। मगर ये भी सच है कि अगर सेंट्रल एवेन्यू न होता तो शहर के सबसे भीड़-भाड़ वाले इलाक़ों की तरफ़ जाने वाला यह भूमिगत रास्ता बनाना असंभव हो जाता। सेंट्रल एवेन्यू तीस के दशक की विरासत का हिस्सा है। यह अंग्रेज़ नगर नियोजक ई.पी. रिचर्ड्स और कलकत्ता इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट की हॉऊसमनी अभिरुचियों की उपज था। जब सेंट्रल एवेन्यू बनाया गया था तो उसके लिए यहाँ की भारतीय बस्तियों को उजाड़ा गया और आसपास के खेतों को जोत कर चौरस किया गया था। इसी वजह से सेंट्रल एवेन्यू की निर्माण योजना को कोसने वालों की भी कोई कमी नहीं थी। मगर मेट्रो के बनने तक शहर के सुगमतर चौराहों में से एक यह चौराहा उसी शान के साथ खड़ा रहा।

अपने औपनिवेशिक अतीत की विरासत का हिसाब कैसे लगाया जाए? यदि नगर पालिका के इतिहास की नज़र से देखा जाए तो सरकारी 'मरम्मत व सुधार' योजनाओं की कभी कोई कमी नहीं रही। मगर ये सारी योजनाएँ ढाक के तीन पात साबित हुईं। या तो सरकार पर्याप्त अनुदान नहीं देती, या कर्णधारों को ही इसकी फ़िक्र नहीं थी या फिर बक़ौल किपलिंग नगरपालिका की राजनीति में शिकायती, नाक-घुसेड़ू बाबुओं का ज़ोर था। नीरद चौधरी ने लिखा है कि हिंदुस्तानी कलकत्ता को 1920 के दशक तक अपनी पहली पक्की सड़क का इंतज़ार करना पड़ा। जब राष्ट्रवादी सरकार सत्ता में आई तब जाकर यहाँ पहली पक्की सड़क बनी। इसके बावजूद आगे और पीछे, दोनों तरफ़ देखने वाली दोमुँही आधुनिकता का अग्रदूत यह अतीत ही था जिसने हमें बहुत सारे प्रतिद्वंद्वी विकल्पों के चौराहे पर ला कर खड़ा कर दिया। एक प्रमुख औपनिवेशिक नगर के रूप में कोलकाता के विकास का अध्ययन हमें इस दौर के बारे में कई सूत्र प्रदान कर सकता है।

आइए एक ख़ालिस बंगाली बस्ती पर नज़र डाली जाए। कॉलेज स्ट्रीट — कॉर्नवालिस स्ट्रीट चौराहे (जिसे अब बिधान सरनी कहा जाता है) पर बंगालियों के कुछ बड़े चहेते संस्थान स्थित हैं। इस सड़क पर आपको

मेडिकल कॉलेज, कलकत्ता विश्वविद्यालय, संस्कृत कॉलेज, प्रेसीडेंसी कॉलेज और थोड़ा आगे जाने पर ब्रह्मो समाज के दफ़्तर मिलेंगे। अगर कोई राधारमण मित्रा की बेहतरीन मार्गदर्शिका हाथ में लेकर इस कॉर्नवालिस स्ट्रीट से गुज़रे तो यहाँ उसे अतीत की और भी बहुत सारी रिहाइशें दिखाई देंगी। नज़दीक से देखने पर पता चलता है कि मूल रूप से यह भारतीय आबादी का इलाक़ा था ही नहीं। यह ऐतिहासिक चौरस्ता लॉर्ड वेलेज़्ली की उद्यमशीलता और उत्साह का परिणाम था। लॉर्ड वेलेज़्ली (1799-1804) को इतिहास की किताबों में इस बात के लिए याद किया जाता है कि उन्होंने ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यावसायिक रूपाचार को बदल कर उसे एक साम्राज्यवादी चेहरा-मोहरा दिया। उसकी यह घोषणा भी मशहूर है कि वह एक राजमहल से भारत पर शासन करना चाहता था, किसी मामूली से मालख़ाने से नहीं। अपनी इसी चाह को पूरा करने के लिए उसने कलकत्ता के बीचोंबीच एक आलीशान इमारत बनवाई जो आज बंगाल के राज्यपाल की रिहाइश है।

शहर की साफ़-सफ़ाई और आवाजाही में सुधार के लिए लॉर्ड वेलेज़्ली के दौर में ही यहाँ सड़कों का निर्माण शुरू हुआ। हालाँकि शहर पश्चिम से पूरब की तरफ़ स्वतःस्फूर्त रूप से बढ़ रहा था मगर इस फैलाव



को नज़रअंदाज़ करते हुए नदी के समानांतर उत्तर की दिशा में एक चौड़ी सड़क बनायी गयी। शासकों की सुरक्षा भी उस ज़माने में एक बुनियादी कारक थी। और छावनी की तरफ़ जाने वाला एकमात्र अन्य रास्ता बैरकपुर नदी की चढ़ाई पर ही पड़ता था। ऐसी सड़क बनाकर ब्रिटिश प्रशासक इस बात की एक मिसाल भी क़ायम करना चाहते थे कि वह शहर को किस तरह का रूप-रंग देना चाहते हैं, उसे किस तरह विकसित करना चाहते हैं। शुरुआत में चित्तपुर, बड़ाबाज़ार और कोलूटोला के बंगाली अपनी जानी-पहचानी दुनिया को छोड़ने के लिए तैयार दिखाई नहीं देते थे। सिर्फ़ मुट्ठी भर दूरंदेश ज़मींदारों ने ही यहाँ आकर ज़मीन खरीदी ताकि बाद में उसे महँगी क़ीमत पर बेच सकें। 1850 के दशक तक कॉर्नवालिस स्ट्रीट उजाड़ दिखाई देती थी। चारों तरफ़ झाड़-झंखाड़ और खाली ज़मीन के सिवा कुछ नहीं था। मगर अब लोगों का रवैया बदलने लगा था। मधुसूदन गुप्तो (कोलकाता के चिकित्सकीय इतिहास में एक जाना-पहचाना नाम) ने 1840 के दशक में एक सरकारी आयोग के सामने बयान दिया कि उन्हें पुरानी बस्तियों के मुक़ाबले इस नई सड़क के आसपास के इलाक़े सेहत के लिहाज़ से ज़्यादा

बेहतर दिखाई देते हैं। उन्नीसवीं सदी के आख़िर तक आते-आते अंग्रेज़ सरकार द्वारा बसाया गया यह इलाक़ा बंगाली मध्यवर्ग की पसंदीदा रिहायशी बस्ती बन चुका था। एक लिहाज़ से यह आधुनिक नगर नियोजन की सफलता के शुरुआती उदाहरणों में से एक था।

उत्तर-आधुनिकतावाद विवेक की श्रेष्ठता, महान सुधार योजनाओं और चतुष्कोणीय व एकरैखिक नियोजन के अंतर्निहित तर्क पर अविश्वास की सीख देता है। मगर यह इस बात को सम्भवतः अपर्याप्त रूप से ही समझ पाता है कि कई बार यह प्रक्रिया उतनी एकरैखिक नहीं होती जितनी वह ड्रॉइंग बोर्ड पर दिखाई पड़ती है। एक महान योजना को बनाना और उसे क्रियान्वित करना एक बात है मगर उसका जीवन और चारित्रिक पहचान इस बात पर निर्भर है कि लोग उसे कैसे देखते हैं। बारादरी और महान निर्माणों में सूक्ष्म सेंध की संभावना तो होती ही है। रात में गाड़ी बरामदा शहर के दिहाड़ी मज़दूरों का रैन बसेरा बन जाता है।

औपनिवेशिक नियोजन में सम्भवतः सब कुछ बुरा भी नहीं था। बेशक उसकी बुनियाद बहुधा कृपालुता और नस्लवाद पर रखी गई थी मगर अब ऐसा लगता है कि उसकी विरासत के कुछ हिस्से ऐसे हैं जिन्हें आज फिर से हासिल करना ज़रूरी है। यह सोच लम्बे समय से हमारे बीच हावी है कि ब्रिटिश शासन की तामीरी विरासत (और उसी पैमाने से, उनका नगर नियोजन भी) भारतीय इतिहास के लिए एक अजनबी चीज़ थी। लेकिन, जान-बूझकर ओढ़ ली जाने वाली इस उदासीनता से हम कई ख़तरनाक रास्तों पर भी भटक सकते हैं। अपने इस्लामी अतीत के प्रति कुछ इसी तरह का रवैया बाबरी मस्जिद के ध्वंस में परिणत हुआ है। औपनिवेशिक अतीत में हमारी कोई हिस्सेदारी नहीं थी, यह मान्यता इतिहास के साथ भयानक तबाही मचा रही है। इसके अलावा, यह उन लोगों की स्मृति के साथ भी अन्याय है जिन्होंने उपनिवेशवाद के भव्य दावों को चुनौती देने में ही अपनी पूरी ज़िंदगी होम कर दी है। समस्या यह है कि औपनिवेशिक आधुनिकता की आलोचना और परम्परा का महिमागान करने वाले हम सभी लोग साफ़-सुथरे फ़्लैटों की सुरक्षित चौहद्दी में स्वच्छ जलापूर्ति ग्रहण करते हुए और यामाहा के जेनरेटरों के पास बैठ कर ऐसा करते हैं। लुटियंस की दिल्ली के तमाम आलोचक इस ख़्वाब में जीते हैं कि काश उन्हें भी पृथ्वीराज रोड पर एक फ़्लैट मिल जाता! यहाँ तक कि हाल ही में विकसित हुए पटपड़गंज की किसी को-ऑपरेटिव हाउसिंग सोसायटी में एक औसत क़िस्म के फ़्लैट का बुद्धिजीवी स्वामी भी उस विस्थापन और विकास के दबाव से शायद अनजान है, जिसने उसके मकान को जन्म दिया है।

सभी औपनिवेशिक तत्त्वों को ख़ारिज करने की गरज़ में न केवल हम तमाम अपेक्षित छवियों के विपरीत उसके चरित्र को एकाश्म ढंग से समझने-बूझने लगते हैं बल्कि ज़रूरी-ग़ैर-ज़रूरी का विवेक भी खो देते हैं। राष्ट्रीय विकास के नाम पर हम भी अकसर वही अन्याय और बेवक़ूफ़ियाँ करते हैं जिन्हें उपनिवेशवाद ने हम पर लाद रखा था। अतीत को गरियाने की उतावली में हम इस बात को भूलने के नज़दीक पहुँच जाते हैं कि हर परम्परा की एक प्रति-आलोचना होती है। इसीलिए अब समय आ चुका है कि स्कॉटिश नगर नियोजक और जीवविज्ञानी पैट्रिक गेडेस की स्मृति और कृति को पुनर्जीवित किया जाए।

औपनिवेशिक नियोजन की एक लघुतर (और सम्भवतः आंशिक रूप से ही सफल) धारा का प्रतिनिधित्व करने वाली गेडेस की कृतियों के पुनर्मूल्यांकन का समय आ चुका है। उन्होंने बीसवीं सदी के कई शुरुआती साल भारतीय शहरों का अध्ययन करने में गुज़ारे थे और नगर नियोजन पर तक़रीबन 40 रिपोर्टें लिखी थीं। देश के बहुत सारे ख्यातिप्राप्त बुद्धिजीवियों के साथ उनकी अच्छी दोस्ती थी और वह औपनिवेशिक शासन के ज़रिए भारत में आए विकास व आधुनिकता के मुद्दों से जूझने में पेश आ रही समस्याओं को भलीभाँति समझते थे। उन्होंने टैगोर के शैक्षणिक आदर्शों पर एक भावप्रवण श्रद्धांजलि लिखी और अपने दोस्त, वैज्ञानिक जगदीश चंद्र बोस की जीवनी लिखी। गेडेस महान औपनिवेशिक योजनाओं के शौक़िया आलोचक नहीं थे। कलकत्ता का सर्वेक्षण करते हुए उन्होंने वहाँ बदलाव की अनिवार्यता साफ़ देखी थी। किसी भी दूसरे नगर नियोजक की तरह उन्हें भी वहाँ ज़्यादा पक्की सड़कों, बेहतर साफ़-सफ़ाई, कुछ खंडहरनुमा मकानों को ढहाने और हरित पट्टियों के निर्माण की ज़रूरत दिखाई दी। कलकत्ता इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट के कामों को देखकर उन्हें सबसे ज़्यादा कोफ़्त इस बात से हुई कि ट्रस्ट जो काम कर रहा है उसमें ज़मीनी हक़ीक़तों का ख़याल नहीं किया जा रहा है। जब उनसे कलकत्ता के सबसे दुर्गम इलाक़े, बड़ाबाज़ार, के बारे में रिपोर्ट लिखने के लिए कहा गया तो गेडेस ने कई दिलचस्प सुझाव दिए थे।

मगर पहले यह समझना महत्वपूर्ण होगा कि गेडेस किन चुनौतियों से मुख़ातिब थे। बड़ाबाज़ार के अंदर आवाजाही को सुगम बनाने के लिए वहाँ साफ़-शफ़्फ़ाक चौड़ी सड़क बनाने की योजना तैयार हो चुकी थी। मगर इस योजना की इंसानी और आर्थिक क़ीमतों पर ध्यान नहीं दिया। यहाँ तक कि एक पुरानी रिपोर्ट में तो ये सुझाव दिया जा चुका था कि इस पूरी बस्ती को ही समतल कर दिया जाए और उसकी जगह एक रेलवे स्टेशन (जो अब हावड़ा में नदी के पार स्थित है) बनाया जाए!

गेडेस के जवाबी प्रस्तावों में दो दिलचस्प चीज़ें निहायत विशिष्ट हैं। पहला, उन्होंने इस बात को समझा कि अपनी तमाम स्थानीय विशिष्टताओं के बावजूद कलकत्ता के व्यावसायिक केंद्र के रूप में बड़ाबाज़ार औपनिवेशिक विकास प्रक्रिया की ही उपज था। दूसरे, भारतीय भवन परम्परा के आधार पर अपनी सिफ़ारिशें देते हुए वह इस बात से भी अच्छी तरह वाक़िफ़ थे कि इस प्रक्रिया में वह अतीत की सामग्री की एक नई व्याख्या के बीज बो रहे हैं। वह स्थानीय समस्याओं के पहले से तयशुदा सार्वभौमिक समाधानों के अहम में नहीं जीते थे। ख़ुद को विकासवादी (एवोलूशनिस्ट) मानने वाले गेडेस को इस बात का ख़ासा अफ़सोस था कि औद्योगिक क्रांति ने ढेर सारी ताक़तों को जन्म तो दिया पर मनुष्य की जैविक परिस्थितियों का ध्यान नहीं रखा। वह विकास को नियति के रूप में स्वीकार करने की बजाय परिवर्तन की इन ताक़तों को एक दिशा देना चाहते थे।

गेडेस बड़ाबाज़ार को एक नए साँचे में ढालना चाहते थे। वह इस बस्ती को एक ऐसा रूप देना चाहते थे जिससे भीड़भाड़ और सघनता को बनाए रखते हुए भी यहाँ की व्यावसायिक गतिविधियों को इस बस्ती के एक ख़ास इलाक़े में केंद्रित किया जा सके और बस्ती के बाक़ी हिस्सों में उपलब्ध इमारतें एक बार फिर रिहायशी मक़सद के लिए इस्तेमाल होने लगें। वह चीज़ों की सार-सम्भाल और ढुलाई के लिए अपने समय के सबसे आधुनिक साधनों को वहाँ लाना चाहते थे। वह जर्मनी और अमेरिका से उपकरण मँगाकर उन्हें कलकत्ता में लगाना चाहते थे (और वह 1919 में लिख रहे थे)। वह चाहते थे कि मालगोदाम के पास स्थित रेलवे लाइनों की बग़ल में एक विशाल 'माल विनिमय' केंद्र हो जहाँ वस्तुओं को रेल के डिब्बों से उठाकर सीधे गोदाम में रख दिया जाए। ज़ाहिर है इस तरह ढुलाई में काफ़ी आसानी हो जाती। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि ऊपरी मंज़िलों में दफ़्तर बनाए जाएँ और वहाँ एक लम्बा-चौड़ा और उजालेदार एक्सचेंज बनाया जाए। और तो और, आराम करने और कारोबारी बातचीत के लिए उन्होंने छत पर एक बग़ीचा बनाने का सुझाव भी दिया था! आधुनिक व्यावसायिक कार्यप्रणाली की ज़रूरतों और जगह के बेहतर इस्तेमाल को भाँपते हुए वह पुराने आवासीय मकानों को आधुनिक वेयरहाउसों की तर्ज़ पर बनाए गए गोदामों की तरह इस्तेमाल करना चाहते थे। वह चाहते थे कि इन वेयरहाउसों की ऊपरी मंज़िलों में दुकानें और दफ़्तर हों जो परस्पर छज्जों व गलियारों से जुड़े हों। गलियों की भीड़ को कम करने के लिए उन्होंने सुझाव दिया कि पैदल चलने वालों के लिए गलियों के ऊपर पुल बनाए जाएँ। यह गेडेस के सपने का आधुनिक युटोपियन पक्ष था, लेकिन अपने तमाम उत्साह के बावजूद शायद उन्होंने औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की सीमाओं को नहीं समझा। वह आधुनिक कार्यप्रणाली के संजीवनी प्रभावों के बारे में कुछ ज़्यादा ही आशावादी थे और उन्हें इस बात का पूरा अंदाज़ा नहीं था कि औपनिवेशिक परिस्थिति कैसी शक्तियों को जन्म देती है।

उनके ख़्वाबों की हद यही नहीं थी। नवनिर्मित वेयरहाउसों की ऊपरी मंज़िल में वह न केवल दफ़्तर बल्कि कुछ रिहायशी क्वार्टर भी बनाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने भारतीय दालान जैसी परम्परागत योजना का सहारा लिया था। उन्होंने कहा कि यदि इस योजना में घर के आँगन को कुछ मंज़िल ऊँचा उठा दिया जाए तो वह काफ़ी रोशन और हवादार हो जाते हैं। गेडेस चाहते थे कि गलियों को जहाँ तक हो सके यथावत रखा जाए क्योंकि लोग शॉर्टकट और शांति ज़्यादा पसंद करते हैं न कि साधारण सड़क की भीड़-भाड़ को अहमियत देते हैं। वह दिहाड़ी मज़दूरों की ज़रूरतों के प्रति भी संवेदनशील थे। वह जानते थे कि ये मज़दूर अपने काम की जगह के आसपास रहना चाहते हैं। अन्य योजनाकारों के विपरीत वह मौजूदा आवासीय योजना में ज़्यादा निवेश के पक्षधर थे। उन्हें इसका एहसास था कि इमारतों के बारे में बहुत सतही फ़ैसले लिए जा रहे हैं। उन्होंने देखा कि कई ऐसी इमारतें भी गिराई जा रही थीं जिन्हें मामूली मरम्मत के बाद लम्बे समय तक चलाया जा सकता था। उन्होंने पुश्तैनी मकानों के प्रति पीढ़ियों पुराने लगाव को बढ़ावा देने का सुझाव दिया।

आवासीय इलाक़ों में इमारतों की क़तार-दर-क़तार को ढहाने की बजाय गेडेस केवल कुछ अस्वच्छ मकानों को ही गिराने के पक्षधर थे। उन्होंने कहा कि ऐसे मकानों को ढहाने से जो जगह निकलती है उसे छोटे-छोटे खुले इलाक़ों और पार्कों में तब्दील कर दिया जाए, वहाँ औरतों के लिए 'पर्दा बाग़' बनाए जा सकते हैं या पवित्र पेड़-पौधों और स्थानीय देवी-देवताओं की स्थापना करके उन्हें गरिमामंडित किया जा सकता है। गेडेस ने इस योजना को 'रूढ़िवादी शल्य चिकित्सा' का नाम दिया था। उनकी इस योजना पर अफ़सरों ने काफ़ी हाय-तौबा मचाई क्योंकि वह इस बात पर मुतमईन थे कि ऐसे छोटे-छोटे खुले स्थान रातों-रात कूड़ा घर बन जाएँगे। मगर सच यह है कि जहाँ कहीं भी ऐसे इलाक़े बचे रह पाए, वह गेडेस की उम्मीदों पर खरे साबित हुए।

कुछ साल पहले मैंने खुद ऐसा ही एक पार्क देखा जो शायद कभी इसी तरह अनायोजित ढंग से बना होगा। दिल्ली की सबसे व्यस्त और प्रदूषित सड़कों में से एक (बहादुरशाह ज़फ़र मार्ग) पर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) और भारत के महालेखाकार के दफ़्तर स्थित हैं। ये दोनों इमारतें एक अर्धवृत्त का निर्माण कर देती हैं जिसके बीचोंबीच चारों तरफ़ से बंद एक पार्क दिखाई देता है। हाल ही में कुछ लोगों ने इस पार्क पर ध्यान दिया है और उन्होंने उसे एक नया नाम, बल्कि एक लम्बा नाम दे दिया है। यह नाम निश्चय ही नौकरशाही उत्साह के दौर में रखा गया होगा। इसका नया नाम है 'लोकहितार्थ सत्यनिष्ठ उद्यान'। यदि आत्म अनुशासित बाबूपने की हैसियत उजागर करने वाली इस कोशिश को अनदेखा कर दें और इस बग़ीचे में दाख़िल हों तो आप इस बात को समझ सकते हैं कि जब गेडेस भीड़-भाड़ वाले इलाक़े के बीचोंबीच भी शीतलता, शांति और विश्राम की सम्भावना की बात कर रहे थे तो उनका क्या आशय था। जब यूजीसी और शिक्षकों के बीच किसी बात को लेकर ठन जाती है तब यही पार्क शिक्षक संगठनों के धरने का भी मुक़ाम बन जाता है! निस्संदेह हमें उस बेनाम नौकरशाह को भी धन्यवाद देना चाहिए जिसने इस बग़ीचे को यह बोझिल सा नाम दिया है। अगर ध्यान से देखा जाए तो निश्चय ही कई दूसरे उदाहरण भी दिखाई पड़ जाएँगे। लुटियंस ने दिल्ली में गोल चक्कर बनाए, उनके बीच में घास की परत बिछाई, फूलों की क्यारियाँ बनाईं और इस तरह दिल्ली की शालीनता में अपना एक स्थायी योगदान दे दिया।

हम विविधता भरे शहरों में तो रहना चाहते हैं मगर तभी जब उनमें आधुनिकतम सुविधाएँ भी मौजूद हों। जब भी हम किसी भलेमानस को सड़क किनारे की दीवार गीली करते हुए देखते हैं, हम सोचने लगते हैं काश यहाँ भी एक सुलभ शौचालय होता। मगर आधुनिकता को अपनाने की अपनी उमंग में हम उन छोटी-छोटी चीज़ों को अकसर भूल जाते हैं जिनसे बुनियादी क़िस्म का फ़र्क़ आ जाता है। अब मैं फिर वहीं लौट रहा हूँ जहाँ से मैंने बात शुरू की थी। औपनिवेशिक अतीत से सहमर्मिता से मेरा आशय उन सम्भावनाओं से था जो आधुनिक शहर से अपरिहार्य मुठभेड़ होने पर हमारे सामने खुलती दिखाई दे रही थीं। पैट्रिक गेडेस और उनके जैसे बहुत सारे लोग इस मौक़े का फ़ायदा उठाकर हमारे लिए कुछ बेइंतिहा दिलकश और इंसानी चीज़ें बनाना चाहते थे। बहरहाल, अतीत के ख़ज़ाने में हर दौर को देने के लिए कोई न कोई सौग़ात तो होती ही है, हर दौर हम सबके लिए कुछ न कुछ पेश करता रहता है।



राष्ट्रवाद का नारी परिवेश

दिल्ली 1930-47

स्टीफ़ेन लेग

सारांश : इस आलेख का उद्देश्य उन तरीक़ों को रेखांकित करना है जिनके ज़रिए महिलाओं ने एक तरफ़ तो महिलाओं की सहभागिता को प्रोत्साहित करने और दूसरी तरफ़ इस सहभागिता को घरों की चारदीवारी तक ही क़ैद रखने की कोशिश कर रहे राष्ट्रीय आंदोलन के भीतर अपनी जगह बनाई। यद्यपि राष्ट्रवादी इतिहास लेखन में उन महिलाओं की मौजूदगी को रेखांकित किया गया है जिन्होंने घर से बाहर आकर सार्वजनिक रूप से राष्ट्रवादी आंदोलन में हिस्सा लिया परंतु बहुत सारी महिलाएँ ऐसी भी थीं जो इन जुलूसों और बैठकों को निजी दायरे में रहते हुए मदद दे रही थीं। हालांकि घर को उन सामुदायिक, स्थानीय या राष्ट्रीय स्तर की गतिविधियों के दायरे से बाहर नहीं माना जा सकता है जिनके ज़रिए उसकी शक्ल तय होती है फिर भी घर के भीतर राजनीतिक शिरकत के स्वरूपों की पड़ताल के ज़रिए हमें पार्थ चटर्जी की इस अवधारणा को सुधारने में मदद मिल सकती है कि भारतीय मध्यवर्गीय घर ख़ामोश कराने और पुनराधीनता स्थापित करने का बिंदु था।

परिचय

बीसवीं सदी के औपनिवेशिक भारतीय समाज में राजनीतिक स्वतंत्रता और महिलाओं के जीवनस्तर में सुधार — इन दोनों के लिए संघर्ष चला। एक संघर्ष में सतही ढंग से राष्ट्र पर ध्यान केंद्रित किया गया जबकि दूसरे में यौन और लैंगिक आयामों को संबोधित किया गया। अगर इन दोनों को अलग-अलग आंदोलनों के रूप में देखा जाए तो बाहरी तौर पर वह अंतर्विरोधी दिखाई दे सकते हैं। पहले में भारतीयों के प्रति दमनकारी तथा असभ्य रवैया अपनाने के लिए ब्रिटिश सरकार की आलोचना की गई जबकि दूसरे संघर्ष में भारतीय पुरुषों को इस बात के लिए लताड़ पड़ी कि वह भी महिलाओं के प्रति वैसा ही रवैया रखते हैं जैसा ब्रिटिश सरकार भारतीयों के प्रति रखती है। फिर भी इन दोनों आंदोलनों के बीच एक क़िस्म का तारतम्य था जो हमेशा भले न रहा हो। भारतीय महिलाओं की हालत सुधारने के प्रयास से प्राच्यवादियों का यह दावा कमज़ोर किया जा सकता था कि भारतीय समाज बर्बर और पिछड़ा हुआ है। महिलाएँ न केवल राष्ट्रवादी बच्चों को जन्म तथा पालन-पोषण देकर एक स्वतंत्र भारत के निर्माण में मददगार बन सकती थीं बल्कि शिक्षा मिलने पर वह स्वतंत्रता संघर्ष में प्रत्यक्ष योगदान भी दे सकती थीं। यह एक ऐसा संघर्ष था जिसमें स्वतंत्रता के बाद महिलाओं के लिए सम्मान और सुरक्षा का आश्वासन निहित था।

इस आलेख का उद्देश्य उन तरीक़ों को रेखांकित करना है जिनके ज़रिए महिलाओं ने एक तरफ़ तो महिलाओं की सहभागिता को प्रोत्साहित करने और दूसरी तरफ़ इस सहभागिता को घरों की चारदीवारी तक ही क़ैद रखने की कोशिश कर रहे राष्ट्रीय आंदोलन के भीतर अपनी जगह बनाई। यद्यपि राष्ट्रवादी इतिहास लेखन में ऐसी महिलाओं की मौजूदगी को रेखांकित किया गया है जिन्होंने घर से बाहर आकर सार्वजनिक रूप से राष्ट्रवादी आंदोलन में हिस्सा लिया, परंतु बहुत सारी महिलाएँ ऐसी भी थीं जो इन जुलूसों और बैठकों को निजी दायरे में रहते हुए मदद दे रही थीं। हालांकि घर को उन सामुदायिक, स्थानीय या राष्ट्रीय स्तर की गतिविधियों के दायरे

से बाहर नहीं माना जा सकता है जिनके ज़रिए उसकी शक्ल तय होती है फिर भी घर के भीतर राजनीतिक शिरकत के स्वरूपों की पड़ताल के ज़रिए हमें यह समझने में मदद मिल सकती है कि भारतीय मध्यवर्गीय घर चुप्पी लादने और पराधीनता को पुनर्स्थापित करने का स्थल नहीं था।

इस शोध की शुरुआत जेंडर और राष्ट्रवाद पर अब तक हुए अनुसंधानों के सार-संक्षेप के साथ की गई है। इसमें दर्शाया गया है कि यद्यपि महिलाओं को राष्ट्र की प्रतिनिधि के रूप में लामबंद किया गया परंतु अकसरहाँ उन्हें राष्ट्रवादी आंदोलन में सक्रिय हिस्सेदारी से बेदख़ल भी किया गया है। महिलाओं को ख़ामोश कराने की कोशिश करने वाले अपेक्षतया समतावादी राष्ट्रवादों की 'लैंगिक विडंबना' उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत पर भी लागू होती दिखाई देती है। परंतु इस लेख में तर्क दिया गया है कि पार्थ चटर्जी जैसे लेखकों ने पुनराधीनता (resubjection) क़ायम करके एक नई पितृसत्ता को प्रवाहित करने की कोशिशों को गड्डमड्ड कर दिया है। पार्थ चटर्जी जैसे लेखकों ने नई पितृसत्ता गढ़ने की कोशिशों का अधीनता की पुनर्स्थापना के प्रयासों के साथ घालमेल कर दिया है।

गृहस्थी को परंपरा और ख़ामोशी के स्थल के रूप देखने की चटर्जी की पेशकश के बरक्स हमने गांधी के सपने को रखा है जिसमें गृहस्थी आधारित नारी सक्रियता के लिए पर्याप्त अवकाश था। घर के स्वरूप को लेकर 'गृहस्थलों' पर बेल हुक्स के शोध यह समझने में मदद दे सकते हैं कि महिलाएँ घर पर रहकर राजनीतिक रूप से किस तरह सक्रिय रह सकती थीं। इस अवधारणा को 1930-47 के बीच दिल्ली में महिलाओं की घरेलू राजनीतिक गतिविधियों की वस्तुनिष्ठ 'केस स्टडीज़' को सामने लाने के लिए इस्तेमाल किया गया है। जिस तरह घर को बाहरी राजनीति से हीन नहीं माना जा सकता उसी तरह घर की गतिविधियाँ भी बाहरी दुनिया की गतिविधियों के साथ अनिवार्य रूप से नथी-गुँथी रहती हैं। निष्कर्ष यह है कि बहुत सारी महिलाओं ने या तो गांधी के नुस्ख़े को ख़ारिज कर दिया या वह 'नई पितृसत्ता' के दायरे के भीतर पुनराधीनता की उसी नियति का शिकार बन गईं जिसका चटर्जी ने ज़िक्र किया है।

पद्धति

यह शोध लेख एक मौखिक इतिहास परियोजना का नतीजा है। पर्क्स और थॉमसन (1998, पृष्ठ 9) ने तर्क दिया है कि यद्यपि इस तरह की कोशिशें 'इतिहास से ओझल' लोगों के साक्ष्यों को रोशनी में ला सकती हैं परंतु याददाश्त की विश्वसनीयता और जिन संबंधों के तहत साक्षात्कार लिया जाता है उन संबंधों की विश्वसनीयता एक जोखिम भरी समस्या होती है। इस अनुसंधान के पीछे निहित पद्धति पर चर्चा करने के बाद संक्षेप में ऐतिहासिक वृत्तांतों और 'सबॉल्टर्न खंडों' की पारस्परिक अंतर्क्रिया पर भी संक्षेप में बात की जाएगी।

मैंने ऐसे 42 लोगों के साक्षात्कार लिए जिन्हें 1947 से पहले की दिल्ली के बारे में कुछ याद है। मैंने कई ऐसे लोगों से भी बात की जिनकी पारिवारिक स्मृतियों और भावनाओं में स्वतंत्रता से पहले की घटनाएँ आज भी मौजूद हैं। इन साक्षात्कारों को कैसेट में रिकॉर्ड करने के बाद उनका लिप्यंतर किया गया और साक्षात्कार की प्रक्रिया में दर्ज की गई अतिरिक्त टिप्पणियाँ जोड़ी गईं।

1947 में बँटवारे के बाद हुई भारी उथल-पुथल और अगले पचास सालों के दौरान दिल्ली के भारी विस्तार के कारण शोध प्रक्रिया काफ़ी जटिल हो गई है। इस दौरान दिल्ली के बहुत सारे पुराने बाशिंदे शहर की चारदीवारी से बाहर चले गए जबकि मेरे ज़्यादातर अनुसंधान का केंद्रबिंदु यही इलाक़ा था। यहाँ की ज़्यादातर मुस्लिम आबादी पाकिस्तान चली गई थी जबकि शहरी विकास ने भी ऐसे बहुत सारे समुदायों को नष्ट कर दिया जो राष्ट्रवादी आंदोलन के सांस्कृतिक भूगोल को समझने के लिए अप्रतिम रूप से महत्वपूर्ण थे। इसमें इस तरह के कई नेटवर्क अस्तित्व में आए जिन्होंने शहर के भीतर अलग-अलग इलाक़ों और अलग-अलग सामाजिक समूहों के अनुभवों को बेपर्द किया। अनुवाद की मदद ली गई, हालाँकि जिन लोगों से बात की गई उनमें से ज़्यादातर ऐसे थे जो अंग्रेज़ी बोल सकते थे। यहाँ जो परिणाम प्रस्तुत किए गए हैं उनमें ऐसी स्मृतियों पर भी विचार किया गया है जो ख़ासतौर से घरेलू दायरे से ताल्लुक़ रखती थीं हालाँकि संक्षेप में दूसरे साक्षात्कारों का भी उल्लेख किया गया है।

इन स्मृतियों की विश्वसनीयता स्थापित करने के लिए अख़बारों, औपनिवेशिक एवं राष्ट्रवादी अभिलेखागारों के रिकॉर्डों, ग्रंथ सूची निर्देशिकाओं और संस्मरणों, इन सबका इस्तेमाल किया गया।

भारतीय संदर्भ में इतिहास को याद करने की प्रक्रिया के स्वरूप को सबॉल्टर्न अध्ययन से पैदा होने वाले सिद्धांतों और शोधों के ज़रिए विशेष रूप से संबोधित किया गया है। 'निम्नवर्गीय अध्ययन' की धारा ने औपनिवेशिक, राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी सोद्देश्यवादी आख्यानों को ख़ारिज किया है जिनमें सभी क्रियाओं और विचारों को किसी न किसी रूप में क्रमशः औपनिवेशिक अधीनता, राष्ट्रीय मुक्ति या वर्गीय चेतना में योगदान देने वाला दिखाया जाता था (प्रकाश, 1990, पृष्ठ 399)। इसकी बजाय 'निम्नवर्गीय अध्ययन' की धारा ने ऐसे निम्नवर्गीय विद्रोहों की स्वायत्तता पर ज़ोर दिया गया है जिन्हें अब तक अभिलेखागारों में जगह नहीं मिली थी (लडेन, 2001, पृष्ठ 9)।

बाद के अध्ययनों ने राष्ट्र के उन विभिन्न 'खंडों' की जाँच करते हुए शोध के दायरे को निम्नवर्गीय राजनीति से मनोगति तक विस्तार प्रदान कर दिया, जिनके पास अपने अलग आख्यान नहीं थे। चक्रबर्ती (1998, पृष्ठ 475) ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि निम्नवर्गीय अतीत हाशिए के या कमतर समूहों के अतीत थे और निरपेक्ष रूप से देखा जाए तो अभिजात्य और वर्चस्वी, दोनों समूहों के अपने निम्नवर्गीय तत्व होते हैं। चटर्जी (1992, पृष्ठ 42) ने कलकत्ता के मध्यवर्ग की 'मध्यता' पर ज़ोर देते हुए 'अभिजात्य की निम्नवर्गीयता' का अध्ययन किया है। यह वर्ग स्वयं को औपनिवेशिक प्राधिकार के वर्चस्व से भी दबा हुआ मानता था परंतु इसके साथ ही नए राजनीतिक हलक़े, भारतीय राष्ट्रीय कॉङ्ग्रेस[1] और देसी आबादी का नेता भी मानता था। मध्यवर्ग और उच्च जातियों का उनके आंतरिक विभाजनों के लिए और ब्रिटिश सरकार की मुख़ालफ़त के लिए भी अध्ययन किया जा सकता है हालाँकि उनकी स्थिति प्रभावशाली थी। मेरा अनुसंधान दिल्ली की आबादी के उसी हिस्से से संबंधित है जिसने राज का विरोध किया और शहरी जनता को दिशा देने की कोशिश की तथा साथ ही महिलाओं की अधीनता का साँचा भी गढ़ा।

'सबॉल्टर्न के खंड' न केवल अदालती अभिलेखों, अख़बारों और संस्मरणों में मौजूद हैं बल्कि वह चीख़ों, अफ़वाहों, गालियों, मंदिरों और नाम निर्धारण की पद्धतियों में भी ज़िंदा हैं (पांडे, 1995, पृष्ठ 225)। निम्नवर्गीय अध्ययन अल्पसंख्यक भाषाओं और स्मृतियों को अभिलेखागार स्रोतों की खोजबीन के ज़रिए और मौखिक, प्रतीकात्मक, देसी या नाटकीय, नाना प्रकार के देसी इतिहासों की पड़ताल के ज़रिए मुक्त कराने की कोशिश करते हैं। यहाँ इस बात की युरोप केंद्रित ऐतिहासिक समझ को भी चुनौती दी जाती है कि कौन सा साक्ष्य 'पुष्टि योग्य' है (चक्रबर्ती, 1991, पृष्ठ 105)। दूसरी तरफ़ इस बात को भी रेखांकित किया जा सकता है कि परिप्रेक्ष्य के कौन से खंड 'सही' या 'पारदर्शी' नहीं हैं बल्कि वह भी आधिकारिक अभिलेखों की तरह सत्ता से दबे और मनोगत ही हैं। जैसा कि अमीन (1995, पृष्ठ 118) ने कहा है, "निम्नवर्गीय लोग अपनी खुद की स्मृतियाँ रचते हैं परंतु वह उन्हें अपनी मर्ज़ी से नहीं रचते।"

बुटालिया और अमीन, दोनों ने अतीत की घटनाओं का अध्ययन करने के लिए यादों का इस्तेमाल किया है। उन्होंने इस बात को रेखांकित किया है कि इस तरह की यादें 'प्रभावित' होती हैं और जितना ज़ोर 'तथ्य' पर दिया जाता है उतना ही ज़ोर 'याददाश्त' पर भी दिया जाना चाहिए (बुटालिया, 2000 , पृष्ठ 8)। अमीन (1995, पृष्ठ 194) ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि उनका उद्देश्य रैखिक इतिहास की बजाय 'आख्यानों के एक उलझे हुए, आपस में गुँथे और खपरैली जाल' को सामने लाना है। इस काम के लिए उन्होंने प्रत्यक्षदर्शियों और उनके परिवार वालों, दोनों की यादों का सहारा लेकर अतीत से जुड़ी सूचनाओं तक पहुँचने की कोशिश की है। राष्ट्रवादी घर के स्वरूप का विश्लेषण करने के लिए मैंने राष्ट्रवादी आंदोलन से जुड़े परिवारों के बेटे-बेटियों से भी बात की है ताकि उन अनुभवों को सुरक्षित रखा जा सके जो "इतिहासकार के लिए जल्दी ही मर जाएँगे" (अमीन, 1995, पृष्ठ 194)। दिल्ली में जब भी कभी मैंने अपनी यह इच्छा ज़ाहिर की कि मैं कुछ और लोगों से बात करना चाहता हूँ तो सबसे ज़्यादा बार यही जवाब सुनने को मिला, 'अगर आप दस साल पहले आते तो' या 'उनमें से फ़लाँ-फ़लाँ तो मर चुके हैं।' इन तरीक़ों में स्मृति विकार और विरूदावलि लेखन के ख़तरे मौजूद हैं परंतु अगर हमें राष्ट्रवादी आंदोलन में महिलाओं के योगदान की ऐसी श्रृंखला रचनी है जिसमें स्थानीय कॉङ्ग्रेसी

संघर्ष के 'बहुश्रुत ज्ञान' और घरेलू दायरे के 'परित्यक्त ज्ञान' (फूको, 1980, पृष्ठ 82), दोनों का समावेश किया जा सकता है तो हमें इन ख़तरों का सामना करना ही होगा। आगे के हिस्से में हम दिल्ली के मौखिक इतिहास के (अ)विश्वसनीय और अड़ियल ढंग से स्थानीय स्वरूप तथा हस्तांतरणीय व सामान्य सैद्धांतिक गल्प के रास्ते को खंगालने की कोशिश करेंगे।

राष्ट्रवाद और जेंडर

यदि कांदियोति (2000, पृष्ठ 492) के हिसाब से चला जाए तो महिलाओं और राष्ट्रवाद के बीच निहित संबंधों की जाँच करने वाले अनुसंधानों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। एक श्रेणी में ऐसे अध्ययन आएँगे जो महिलाओं को राष्ट्र की प्रतिनिधि के रूप में देखते हैं और दूसरी में वह अध्ययन आएँगे जिनमें राष्ट्रवादी उद्यम में महिलाओं की शिरकत पर ज़ोर दिया गया है यानी जिनमें वह राष्ट्रवादी आंदोलन का विषय या वाहक रही हैं।

अधीनस्थता और स्वतंत्र भूमिका के बीच महिलाओं की यह तनावग्रस्त एवं संघर्षपूर्ण अवस्थिति ही मेयर (2000, पृष्ठ 2) की "राष्ट्रवाद की लैंगिक विडंबना" के केंद्र में रही है। अपने समतामूलक भाष्य के बावजूद मेयर का मानना है कि राष्ट्र पुरुषों की संपत्ति है। 'राष्ट्र' और 'महिला' सामाजिक निर्मितियाँ हैं जिनकी लगातार पुनर्रचना और रक्षा की जाती रही है। ग़ौरतलब है कि राष्ट्र अपने आप में भी एक लैंगिक अवधारणा है (शार्प, 1996; रैडक्लिफ़, 1999; रेनकोड–निल्सन व तेत्रो, 2000)। राष्ट्र के भीतर 'लैंगिक अनुशासन' होते हैं (कॉनेल, 1990, पृष्ठ 523) जिनकी बुनियाद श्रम विभाजन, सत्ता संरचना और भावनात्मक बँधनों पर टिकी होती है। जब आकांक्षी राष्ट्र अपने लैंगिक अनुशासन को अभिव्यक्त करने की कोशिश करता है तो उसके हृदय में निहित 'विडंबनाएँ' उजागर हो जाती हैं। यह बेपर्दगी अकसर राष्ट्रवादी आंदोलनों के 'आधुनिकता' के नाम पर नवीनता और 'परंपरा' के नाम पर संरक्षण के दावों के बीच अंतर्विरोध का रूप ले लेती है। ख़ासतौर से उपनिवेशवाद विरोधी संदर्भ में महिलाओं को एक नए, आधुनिक राष्ट्र के प्रतीकों के रूप में किया जाता है। वह एक ऐसे राष्ट्र का प्रतीक बनती हैं जिसका न केवल प्रतिनिधित्व किया जा रहा है बल्कि परंपरा और अतीत के समावेशन के साथ उसकी पुनर्रचना भी की जा रही है। जैसा कि कांदियोति ने दर्शाया है, 'जहाँ कहीं महिलाएँ विभिन्न राष्ट्रीय, नृजातीय और धार्मिक समूहों के बीच सीमा निर्धारकों के रूप में काम कर रही हैं वहाँ परिपूर्ण नागरिकों के रूप में उनका उदय ख़तरे में पड़ जाएगा' (कांदियोति, 1991, पृष्ठ 435)। दिल्ली में यह तनाव किस तरह फलीभूत हुआ, यह देखने से पहले एक व्यापक भारतीय संदर्भ को सारांश रूप में पेश करना बेहतर होगा।

उन्नीसवीं सदी के भारत में ब्रिटिश शासक ही एकमात्र समूह नहीं थे जो 'आधुनिकीकरण की हिमायती व्यवस्था' को बढ़ावा दे रहे थे फलस्वरूप, जेंडर और सेक्शुॲलिटी की अवधारणाओं से भी वह अकेले ही नहीं जूझ रहे थे। तनिका सरकार (1998) ने इस बात के दस्तावेज़ी सबूत इकट्ठा किए हैं कि किस तरह उन्नीसवीं सदी के मध्य में हिंदू मध्यवर्ग परंपरागत एवं उच्च साक्षर वर्गों के बीच से निकला था और उसने जातिगत एवं लैंगिक समीकरणों को मोटे तौर पर यथावत बने रहने दिया। यह समीकरण महिलाओं के व्यवहार से संबंधित ब्राह्मणवादी सोच पर आधारित थे। इस व्यवहार में विधवा विवाह निषिद्ध था, महिलाओं की यौन शुचिता सबसे महत्वपूर्ण थी और अकसरहाँ उसमें पर्दे की परंपरा क़ायम थी (जिसका मक़सद आमतौर पर महिलाओं को घर तक सीमित रखना था)। पर्दे की यह प्रथा उत्तरी भारत के उच्च एवं उच्च मध्यवर्गीय लोगों में ज़्यादा प्रचलित थी।

1870 के दशक के बाद ब्रिटिश और भारतीय सुधारकों ने कुछ ख़ास परंपराओं को चुनौती देते हुए इन लैंगिक संबंधों पर प्रहार करना शुरू कर दिया। हालाँकि उनका सबसे तीखा हमला तो सती पर ही था परंतु उन्होंने घरेलू वातावरण पर भी कई सवाल खड़े किए। जब यह सुझाव दिया गया कि घर में मातहती की बजाय 'साहचर्य विवाह' को प्राथमिकता दी जानी चाहिए तो हिंदू महिला के स्वभाव को लेकर एक नई बहस खड़ी हो गई। दीपेश चक्रबर्ती (1994) ने दिखाया है कि यह बहस निजी और घरेलू को सामुदायिक और सार्वजनिक से अलग करने की बहस भी थी। ग़ौरतलब है कि यह विभाजन स्पष्टतया औपनिवेशिक विभाजन था जो सरकार की प्रशासनिक योजनाओं के ज़रिए ऐसे जनक्षेत्र या नागर समाज की रचना के उद्देश्य से प्रेरित था, जिसमें सुधारों को अंजाम दिया जाएगा और वह उस निजी क्षेत्र से भिन्न होगा जिसमें परंपरागत भारत सुरक्षित रहेगा। परंपरागत भारत के

इस क्षेत्र को बनाए रखने की कोशिश में स्वयं घरेलू परंपरा की भी पुनर्रचना हुई। ग्रेवाल का कहना है कि जनक्षेत्र की अवधारणा के आयात के साथ निजी क्षेत्र यानी घर की अवधारणा भी आयीः 'भारतीयों के लिए औपनिवेशिक विमर्श में जिस चीज़ को हरम कहा जाता था, जो एक अपारदर्शी क्षेत्र था, वही घर बन गया। यह एक पुनर्रचित विक्टोरियाई परिधि थी जो उन नैतिक गुणों की अभिव्यक्ति के रूप में पारदर्शी थी, जिनका वहन प्रतीकात्मक रूप से भारतीय मध्यवर्गीय महिलाएँ करती थीं।' (ग्रेवाल, 1996, पृष्ठ 25)

इस घर और उसमें मर्यादित स्त्री को मोटे तौर पर पुरुषों के बीच होने वाली बहसों के ज़रिए रचा गया था। महिला के बारे में इस तरह बात की जाती थी जैसे वह सुधार की वस्तु हो। सामुदायिक परिधि और स्त्री की पहचान जेंडर और सेक्शुअॅलिटी पर होने वाली चर्चाओं के ज़रिए निर्धारित हुई। इनमें यह सवाल उठाया गया कि स्त्री की इज़्ज़त पर ध्यान केंद्रित किया जाए या सांस्कृतिक और जैविक प्रजनन पर। इनमें से एक केंद्रीय बहस इस सवाल के इर्द-गिर्द घूमती थी : एक ऐसी आधुनिक राष्ट्रीय संस्कृति की रचना कैसे की जाए जो पश्चिमी न हो? पार्थ चटर्जी का कहना है कि निजी और सार्वजनिक परिक्षेत्र, घर और दुनिया के बारे में होने वाली चर्चाओं ने इस सवाल की महिला-मुक्तिदायी संभावनाओं को पहले ही बंद कर दिया था।

चटर्जी (1989, पृष्ठ 238) का कहना है कि इस सवाल पर अकसर जो प्रतिक्रिया आती थी उसमें अन्ततः महत्वहीन बाहरी और भौतिक दायरे तथा आंतरिक और आध्यात्मिक दायरे के बीच फ़र्क़ चिन्हित किया जाता था। इसमें पहला दायरा अन्ततः महत्वहीन जबकि दूसरा 'बुनियादी रूप से अत्यावश्यक' था। बाहरी दायरे का आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण किया जा सकता था और उसे धर्मनिरपेक्ष बनाया जा सकता था जबकि भीतरी दायरा लाज़िमी तौर पर परंपरानिष्ठ, विशुद्ध और भारतीय होना था। इसके बाद उन्होंने तर्क दिया है कि जब आप 'रोज़-ब-रोज़ के ठोस मामलों में भीतरी/बाहरी विभेद' को लागू करते हैं तो 'आप सामाजिक परिधि को घर और बाहर, घर और दुनिया के बीच बाँट देते हैं। दुनिया बाहरी है — भौतिक जगत का दायरा; जबकि घर आध्यात्मिक स्वत्व — हमारी असली पहचान का प्रतिनिधित्व करता है' (चटर्जी, 1989, पृष्ठ 238)। सामाजिक दायरे के लैंगिक विभाजन के भीतर इसका आशय यह था कि महिलाओं और घर की रक्षा की जानी चाहिए, उसे यथावत रखा जाना चाहिए जबकि पुरुष और बाहरी दुनिया आगे बढ़ने के लिए, प्रगति करने के लिए स्वतंत्र हैं। हालाँकि चटर्जी ने इस पर विचार नहीं किया है परंतु ये विभाजन हिंदुओं की दुनिया के बाहर भी मौजूद थे। लतीफ़ (1990, पृष्ठ 80) की टिप्पणी है, "मुस्लिम महिलाओं पर दोहरे दबाव तत्काल दिखाई देते थे। जब महिलाओं की शिक्षा और सार्वजनिक मामलों में हिस्सेदारी का संदेश दिया गया तो उसके साथ ही सामुदायिक समरसता बनाए रखने के लिए परंपराओं की दुहाई भी दी गई।"

महिलाओं और परंपराओं के इस 'संरक्षण' ने बदलाव की प्रक्रिया को बंद नहीं किया। बल्कि नए मध्यवर्ग के भीतर एक नई पितृसत्ता की पूरक के तौर पर एक 'नई स्त्री' को भी जहाँ-तहाँ अभिव्यक्ति मिलने लगी (चटर्जी, 1993, पृष्ठ 127)। इस नई स्त्री के अनुरूप आधुनिकता के तत्वों को भी सावधानीपूर्वक चुना गया। उसके लिए गृह विज्ञान में शिक्षा का प्रावधान किया गया, उसे राष्ट्रवादी और धार्मिक पुस्तकें पढ़ने लायक़ साक्षरता से लैस करने की बात कही गई तथा उसे इस योग्य बनाने पर ज़ोर दिया गया कि वह बाहरी परिस्थितियों के मुताबिक़ घर चलाने में सक्षम हो। यहाँ तक कि अगर वह अपने पहनावे, आदतों और खानपान में आध्यात्मिकता व अनुशासन बनाए रख सके तो उसे घर के बाहर घूमने-फिरने की भी छूट थी (चटर्जी, 1993, पष्ठ 130)।

चटर्जी ने यह भी दिखाया है कि महिलाओं ने अपनी अधीनता के विरुद्ध किस प्रकार संघर्ष किया। इसके लिए उन्होंने पाँच आत्मकथाओं का विश्लेषण करते हुए बताया है कि महिलाओं ने बदलावों का किस तरह मुक़ाबला किया और घर में रहते हुए किस तरह का योगदान दिया (चटर्जी, 1993, पष्ठ 135-147)। परंतु वह भी इस निष्कर्ष से आगे नहीं आते कि राष्ट्रवादी मुक्ति का आश्वासन अंततः 'विश्वासघात' में हुआ (चटर्जी, 1993, पृष्ठ 154)। बहिष्कार के बाद नवरचित राष्ट्र में उन्हें दीगर प्रतिनिधित्वहीन तबक़ों की तरह प्रतिनिधित्व तो मिल गया लेकिन सांस्कृतिक राष्ट्र में वे बहिष्कृत ही रहीं।



गांधी और महिलाएँ

महिलाओं और राजनीतिक गतिविधियों के बारे में गांधी की विचारधारा और लेखन में एक क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है (कस्तूरी व मजु़मदार, 1994; कुमार, 1994; मेनन, 1999)। चटर्जी का तर्क है कि इस दौर में महिलाओं को दोबारा अधीन बनाने की कोशिशें की गईं। इसके विपरीत गांधी की वह राष्ट्रवादी छवि सामने आती है जिसमें वह महिलाओं को घर से बाहर निकल कर ब्रिटिश शासन के ख़िलाफ़ सड़कों पर उतरने के लिए प्रेरित करते हैं। गांधी ने स्त्री को परम बलिदान और असीम प्रेम की मूर्ति माना (कुमार, 1993, पृष्ठ 82) और उन्हें राजनीतिक रूप से सक्रिय होने के लिए प्रोत्साहित किया (महान, 1999)। परंतु गांधी ने महिलाओं को अपने हिसाब से एक ख़ास छवि में गढ़ने की कोशिश भी की। इसके लिए उन्होंने ऐसे मूलवादी वक्तव्यों का सहारा लिया जिनमें 'ऐसे वैधता देने वाले तत्व निहित थे जिन्होंने स्त्रीत्व और स्त्रैणता की उन अवधारणाओं को परिभाषित किया जो महिला की निर्मिति में निर्धारक तत्व' थे (पटेल, 1988, पृष्ठ 378)। फ़ॉक्स (1996) का कहना है कि हालाँकि गांधी का लेखन एक और 'दमनकारी शासन व्यवस्था' का प्रतिनिधित्व नहीं था फिर भी उसमें घरेलू परिधि की पितृसत्तात्मक रूपरेखा को उलटने की कोशिश नहीं की गई।

जहाँ एक तरफ़ गांधी ने महिलाओं की भूमिका पर ज़ोर दिया वहीं दूसरी तरफ़ उन्होंने इस बात पर भी ज़ोर दिया, ख़ासतौर से अपने शुरुआती लेखन और भाषणों में, कि महिलाओं का 'नैसर्गिक' दायरा उनका घर ही है। इसलिए उन्होंने पतियों को हिदायत दी कि 'अपनी महिलाओं को काम पर मत भेजो; उनके मान की रक्षा करो। अगर तुम्हारे अंदर ज़रा सी भी मर्दानगी है तो यह तुम्हारी ज़िम्मेदारी बनती है कि तुम ध्यान रखो कि कोई उन पर ग़लत नज़र न डाल पाए' (गांधी, 1920, पृष्ठ 43-44)। इस तर्क की एकांगिकता को दूर करने के लिए घर को एक ऐसे राजनीतिक दायरे के रूप में चिन्हित किया गया जहाँ रहकर भी महिलाएँ सक्रिय रह सकती थीं (थापर-योरकर्ट, 1997, पृष्ठ 494)। महिलाओं और घर को लक्ष्य करने के लिए गांधी ने बुनियादी रूप से खादी का सहारा लिया। बीसवीं सदी के पहले दशक में चले स्वदेशी आंदोलन में भी इस प्रतीक का राजनीतिक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जा चुका था। गांधी ने स्वदेशी के सूत्र को पकड़ा और उसे स्त्रियों के धर्म में एकीकृत कर दिया। ऐसा करके गांधी ने घर और स्त्री, दोनों को एक साथ नई छवि देने की कोशिश की। जैसा कि किश्वर (1986, पृष्ठ 5) ने कहा है, 'चरख़ा चलाने और खादी पहनने के पक्ष में गांधी के अथक प्रचार का मक़सद हर घर, हर दुर्गम गाँव तक में राष्ट्रवाद और स्वतंत्रता की भावनाओं को प्रवाहित करना था। इस तरह औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्ष जैसे अमूर्त राजनीतिक विचार भी आम लोगों के लिए ठोस बन गए।'

कताई के साथ-साथ घर में महिलाओं की दूसरी ज़िम्मेदारियाँ भी थीं। उन्हें ज़िम्मेदारी सौंपी गई कि वह अपने बच्चों को भारतीयता पर गर्व करना सिखाएँ और बाहरी दुनिया के झमेलों से त्रस्त होकर लौटे पति को घर में एक पुरसुकून माहौल दें। बीस के दशक में गांधी महिलाओं की ख़ासतौर से मुश्किल ज़िंदगी पर सवाल खड़ा करने लगे और उन्होंने इस बात पर उतना ज़ोर नहीं दिया कि वह भी ब्रिटिश शासन के उत्पीड़न की शिकार हैं। अस्पृश्यता, सती और विधवाओं की दुर्दशा के ख़िलाफ़ चलाए गए अपने 'रचनात्मक' कार्यक्रमों के साथ-साथ उन्होंने पर्दे पर भी हमला बोल दिया। 'पर्दे को फाड़ डालो' शीर्षक एक लेख में गांधी (1927, पृष्ठ 149-150) ने दावा किया कि यौन-शुचिता की 'रक्षा पर्दे की दीवार खड़ी करके नहीं की जा सकती। यह भावना भीतर से

पैदा होनी चाहिए और स्त्री में इतनी क्षमता होनी चाहिए कि वह हर संभव अनाछूत लोभ का संवरण कर सके।' इसके बावजूद गांधी इस बात पर ज़ोर देते रहे कि महिलाओं का सही स्थान उनका घर ही है। उन्होंने महिलाओं को 'घर की रानी' का ख़िताब तक दे दिया (गांधी, 1928 क, पृष्ठ 195)। जैसा कि बॉल्ड (2000, पृष्ठ 82) का सुझाव है, यह तथ्य इस बात का संकेत नहीं देता कि स्वतंत्रता के लिए गांधी की चिंता में महिलाएँ महत्वपूर्ण नहीं थी, बल्कि यह तथ्य इस बात का प्रतिनिधित्व करता है कि गांधी महिला शक्ति की ज़रूरत और उभरती 'नई पितृसत्ता' के पीछे निहित जबरिया माँगों के बीच एक संतुलन क़ायम करने की कोशिश कर रहे थे।

1930 में सिविल नाफ़रमानी आंदोलन की शुरुआत में महिलाओं को दांडी मार्च[2] में शामिल होने से हतोत्साहित किया जाने लगा परंतु अंततः मान लिया गया कि उनका कल्पित धैर्य उन्हें शराब और विदेशी कपड़ों के व्यापारियों से लोहा लेने के लिए ज़्यादा तपा चुका है (पटेल, 1988, पृष्ठ 379)। इन्हीं निषेधाज्ञाओं से महिलाएँ बाहरी दुनिया के साथ अनुभवों का एक वैध दावा करने लगीं और कुछ ही समय के भीतर समुदाय या शहर के स्तर पर होने वाले जलसे-जुलूसों में महिलाओं की मौजूदगी एक अनिवार्य हिस्सा बन गई। इसके बावजूद सार्वजनिक दायरे में महिलाओं की बढ़ती भूमिका का श्रेय सिर्फ़ गांधी को नहीं दिया जा सकता। इस मामले में पत्रिकाओं (ओरसीनी, 2002), शिक्षा (हैन्कॉक, 2001), स्थानीय कॉङ्ग्रेस कमेटियों और महिला संगठनों (बसु व रे, 1990) के महत्व को भी कम करके नहीं आँका जा सकता। 1942 के आंदोलन तक कुछ महिलाएँ न केवल खादी की कताई और सार्वजनिक आंदोलन में सक्रिय थीं बल्कि वह भूमिगत आंदोलनों, समानान्तर सरकारों और दीगर 'ग़ैरक़ानूनी गतिविधियों' में भी लगी हुई थीं (कुमार, 1993, पृष्ठ 93)।

हालाँकि महिलाओं के बारे में गांधी के लेखन और महिला प्रश्न पर चटर्जी की व्याख्या, दोनों में ही महिलाओं को एक हद तक घर के दायरे में बाँधने की कोशिश की गई है फिर भी समाज में महिलाओं की स्थिति के सवाल पर दोनों का नज़रिया बुनियादी रूप से अलग है। गांधी लगातार पर्दे को फाड़ फेंकने की वकालत करते हैं। परंतु उनकी नज़र में यह एक ऐसी चीज़ थी जो महिलाओं के आत्मविश्वास और प्रतिष्ठा को ढँकता था न कि उन्हें घर के दायरे में क़ैद रखने का काम करता था। आशिस नंदी (1983) ने दर्शाया है कि औपनिवेशिक परियोजना की सफलता इस बात में निहित थी कि ग़ुलाम जनता भौगोलिक विजय को मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी आत्मसात कर चुकी थी। परंतु ऐसी ही प्रक्रिया देसियों के अंदर भी घटीः

> आक्रमणकारी पुरुष के साथ खड़े होकर ख़ुद अपने ख़िलाफ़ ही मनोवैज्ञानिक रक्षा का यह क्लासिक उदाहरण इस बात की ओर ध्यान खींचता है कि कुछ सामाजिक संस्थानों ने किस प्रकार स्त्री को ख़ुद ही अपनी निजी दुर्दशा और अंततः अतिक्रमण में साझीदार बना दिया है। कहा जा सकता है कि महिलाओं के लिए दमनकारी यथार्थ केवल आंशिक रूप से ही उनके बाहर है। इस यथार्थ का यह हिस्सा सामाजिक शिक्षण की एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया के ज़रिए उनके भीतर समाविष्ट हो चुका है। (नंदी, 1990, पृष्ठ 149)

महिलाएँ उपनिवेशवाद और पितृसत्ता की दमनकारी संरचनाओं के ज़रिए केवल दोहरे स्तर पर ही चुप नहीं कराई जा रही थीं। उन्हें ख़ुद को भी चुप कराना था। गांधी ने इसी आत्मसंयम को निशाना बनाकर भारतीयों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया कि वह एक ऐसा स्वत्व गढ़ें जिसमें शर्म का अंश न हो और उन्होंने महिलाओं के घरेलू स्त्रीत्व को बेपर्दा देखने के लिए प्रेरित किया। अगर सामाजिक भूगोल के नज़रिए से देखें तो महिलाओं के बारे में गांधी के प्रत्यक्षतः अंतर्विरोधी सारतत्ववादी वक्तव्यों में भी एक तुक दिखाई देती हैः वह घर के भीतर श्रेष्ठ थी परंतु बाहर के ज़्यादातर कामों के लिए उपयुक्त नहीं थी; महिलाओं को पर्दे के बाहर आने का साहस जुटाना था परंतु उनकी जगह घर के भीतर ही थी; महिलाओं को रचनात्मक ढंग से प्रयास करते हुए अपने घरेलू जीवन को पुनर्व्यवस्थित करना था परंतु फिर भी उन्हें राजनीतिक-सार्वजनिक गतिविधियों के बारे में गांधी के निर्देशों का पालन करना था। मेरा तर्क है कि यह विरोधाभास ही महिलाओं के विषय में गांधी की दृष्टि की आंशिक सफलता की कुंजी था। कांदियोति (2000) के अनुसार इसमें महिलाओं के राष्ट्रवाद का प्रतिनिधि और उसमें सहभागी होने के बीच का तनाव अभिव्यक्त हो रहा है। सामाजिक रूप से सीमित सक्रियता की इस अवधारणा

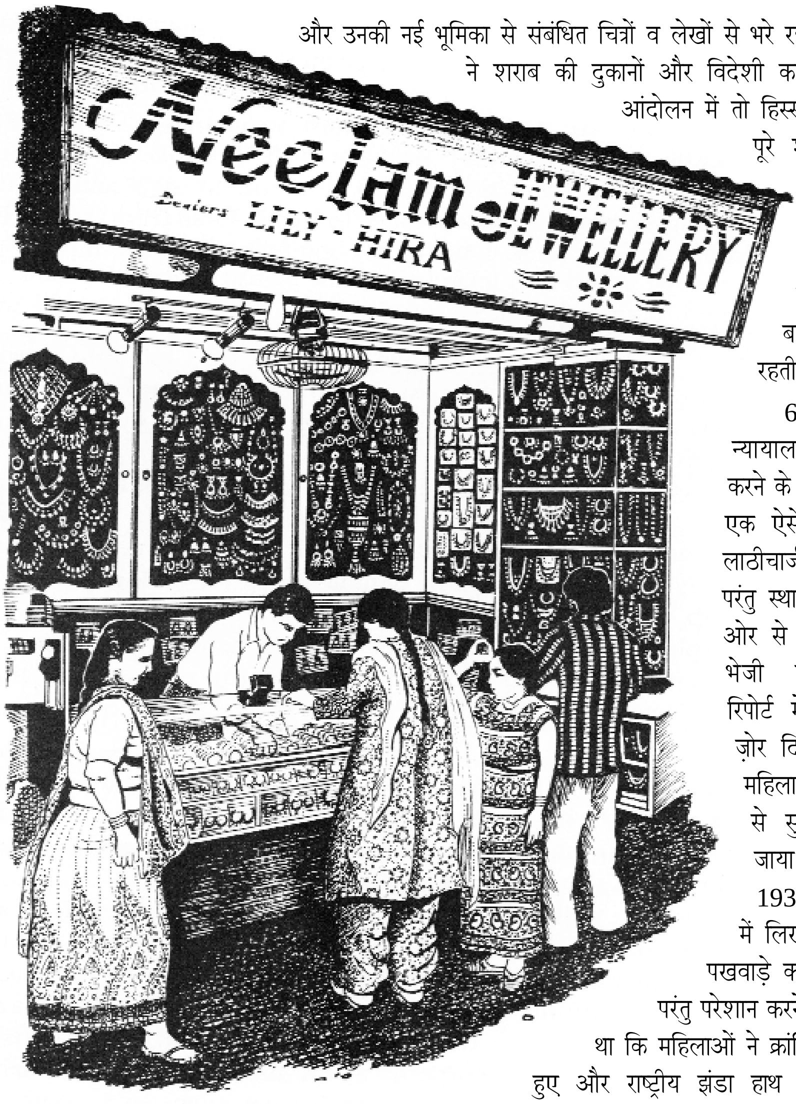
को पुरुषों का भी समर्थन मिला क्योंकि उन्हें इस तरह राजनीतिक कार्यशक्ति को बढ़ाने और भारतीय राष्ट्रवादियों के इस दावे को सहारा देने में मदद मिली कि वह अपने पारिवारिक जीवन की सुरक्षा को ख़तरा पहुँचाए बिना सभ्यतापूर्ण व्यवहार कर सकते हैं। परंतु स्त्री की भूमिका के इर्द-गिर्द इस विरोधाभास ने जो अनिश्चितता पैदा कर दी उसका चटर्जी के तर्क के मुताबिक़ पुरुष दुरुपयोग कर सकते थे या महिलाएँ एक अपेक्षाकृत कम विधेयात्मक, राष्ट्रवादी व्यवस्था के लिए उसका परित्याग कर सकती थीं। घरेलू स्तर की जाँच के लिए साक्षात्कारों के विश्लेषण में महिलाओं और 'घर' पर केंद्रित साहित्य पर खास ढंग से चर्चा की गई है। दिल्ली में महिलाओं ने घर से किस तरह का रिश्ता बनाया, इस पर नज़र डालने की बजाय पहले इस क्षेत्र के राजनीतिक-सांस्कृतिक परिवेश की संक्षेप में चर्चा करना ज़रूरी है।

दिल्ली और महिलाएँ

अपने शक्तिशाली औपनिवेशिक प्रभाव और बदलते मध्यवर्ग वाले कोलकाता के विपरीत दिल्ली परंपरा और रीति-रिवाजों का शाही शहर था। 1803 तक दिल्ली ब्रिटिश शासन से मुक्त रही और 1857 के 'सिपाही विद्रोह' के बाद उसका औपनिवेशिक तर्ज़ पर व्यवस्थित ढंग से पुनर्गठन हुआ। दिल्ली मुग़ल बादशाहों के प्रभाव में रही जो उन्नीसवीं सदी के मध्य तक नाम के लिए ही सही परंतु गद्दी पर मौजूद थे। इस पूरे इलाक़े के मध्य एवं उच्च मध्यवर्गीय परिवारों की महिलाओं के लिए पर्दे की सख़्त रिवायत थी हालाँकि ग़रीबों के लिए यह एक महँगा सौदा था कि एक कमाऊ सदस्य घर में निष्क्रिय बैठा रहे (जेफ़्री, 1979; रहेजा व गोल्ड, 1994)। दिल्ली नगरपालिका इलाक़े की ज़्यादातर मुस्लिम महिलाओं के बीच पर्दे का चलन ख़ासतौर से ज़्यादा मज़बूत था (लतीफ़, 1990, पृष्ठ 203)। इस इलाक़े में मुसलमान महिलाओं की संख्या 1931 में 66,451, और 1941 में 1,00,816 थी हालाँकि महिलाओं की यह संख्या इन दोनों सालों में कुल आबादी का 19 प्रतिशत तथा महिलाओं की कुल आबादी का 46 प्रतिशत ही थी।[3] हालात के अनुसार खुद को ढाल लेने की महिलाओं की इस क्षमता के बावजूद बीस के दशक के अंत तक यह तथ्य अपनी जगह क़ायम था कि बहुत सारी महिलाएँ पढ़ी-लिखी नहीं थीं और उन्हें बाहरी दुनिया के बारे में ख़ास पता नहीं था।

दिल्ली लैंगिक सुधारों पर चलने वाली व्यापक बहस में ही पीछे नहीं रही। 1850 के दशक में हुई राजनीतिक उथल-पुथल के बाद कठोर दमन किया गया फिर भी बीसवीं सदी के पहले दशक की शुरुआत तक दिल्ली को बंगाल और देश के दूसरे शहरी केंद्रों के मुक़ाबले बहुत अशांत जगह नहीं माना जाता था। इस सामान्य पृष्ठभूमि में सार्वजनिक-राजनीतिक दायरे में महिलाओं की मौजूदगी सकते में डालने वाली थी। इस मौजूदगी का ब्योरा नीचे उल्लिखित अख़बारों, सरकारी रिपोर्टों और राष्ट्रवादी आत्ममूल्याँकनों में मिलता है। जैसा कि फ़ोर्ब्स (1996, पृष्ठ 141) की टिप्पणी है, जब तीस के दशक में महिलाएँ पहली बार विरोध के लिए घर से बाहर निकलीं तो दिल्ली में न केवल इसलिए उनकी तरफ़ ध्यान आकर्षित हुआ कि उनकी संख्या बहुत ज़्यादा थी बल्कि इसलिए भी क्योंकि सामान्य रूप से सड़कों पर उनका देखा जाना ही दुर्लभ था। यह एक अनोखी बात थी। घर के भीतर उनकी गतिविधियों की जाँच दिल्ली में महिलाओं की सार्वजनिक-राजनीतिक गतिविधियों के एक छोटे से सारांश के बाद की जाएगी।

1930 के सिविल नाफ़रमानी आंदोलन के दौरान दिल्ली की महिलाओं ने न केवल शहरी परिधि के लिहाज़ से बल्कि राजनीति एवं मीडिया की परिधि के लिहाज़ से भी सार्वजनिक परिक्षेत्र पर एक सफल चढ़ाई शुरू कर दी। जून 1931 में इंग्लैंड के *गार्डियन* अख़बार में मेरी कैम्पबेल ने इस बात पर आश्चर्य व्यक्त किया कि दिल्ली की गांधी के आह्वान पर महिलाएँ 'शराब और नशीले द्रव्यों की दुकानों' को घेरने के लिए सड़कों पर उतर आई हैं। उन्होंने लिखा, 'मुझे लगता था कि इस बार उन्होंने (गांधी ने) ग़लती कर दी है क्योंकि दिल्ली की महिलाएँ, जिनमें से इतनी सारी तो पर्दे में रहती हैं, इस काम को कभी अंजाम नहीं दे पाएँगी। परंतु उस समय मेरी हैरत का ठिकाना न रहा जब मैंने देखा कि न केवल वह सड़कों पर निकल आई हैं बल्कि उन्होंने दिल्ली की तमाम दुकानों के सामने धरना डाल दिया है' (बाला, 1986, पृष्ठ 24-25 में उद्धृत)। दिल्ली से छपने वाले और स्थानीय ख़बरों को जगह देने वाले *हिंदुस्तान टाइम्स* के पन्ने राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के रूप में महिलाओं



और उनकी नई भूमिका से संबंधित चित्रों व लेखों से भरे रहते थे। महिलाओं ने शराब की दुकानों और विदेशी कपड़ों के ख़िलाफ़ आंदोलन में तो हिस्सा लिया ही, वह पूरे शहर में हो रहे अनौपचारिक राष्ट्रगान, ध्वजारोहण और जुलूसों में भी बाक़ायदा मौजूद रहती थीं।

6 मार्च 1930 को न्यायालयों का घेराव करने के लिए निकाले गए एक ऐसे ही जुलूस पर लाठीचार्ज किया गया।[4] परंतु स्थानीय प्रशासन की ओर से केंद्र सरकार को भेजी गई राजनीतिक रिपोर्ट में इस बात पर ज़ोर दिया गया था कि महिलाओं को 'हिफ़ाज़त से सुरक्षित जगह ले जाया गया।'[5] 6 जून 1930 को एक रिपोर्ट में लिखा गया कि 'इस पखवाड़े का एक दिलचस्प, परंतु परेशान करने वाला पहलू यह था कि महिलाओं ने क्रांतिकारी नारे लगते हुए और राष्ट्रीय झंडा हाथ में लेकर जुलूस निकाला...। प्रशासन के हस्तक्षेप से बचने के लिए ये महिलाएँ अपनी लैंगिक पहचान पर आश्रित हैं और उनका तरीक़ा बड़ा शरारती होता है।'[6] सिविल नाफ़रमानी आंदोलन की बाक़ी अवधि में कुछ बड़े आंदोलनों का उल्लेख किया गया जिनमें महिलाओं की उल्लेखनीय मौजूदगी का ज़िक्र नहीं था। तीस के पूरे दशक में महिलाएँ सार्वजनिक परिक्षेत्र की गतिविधियों में लगातार सक्रिय रहीं और उन्होंने 1942 के 'भारत छोड़ो' आंदोलन में भी एक अहम भूमिका अदा की। प्रमुख सार्वजनिक जुलूसों के अलावा, दिल्ली ज़िला कॉङ्ग्रेस कमेटी ने 15 मई 1930 को अखिल भारतीय कॉङ्ग्रेस कमेटी को रिपोर्ट भेजी जिसमें लिखा था कि 'विदेशी कपड़ों के बहिष्कार के लिए चलाई गई मुहिम की सफलता का एकमात्र कारण यह था कि महिलाओं ने भारी निजी असुविधा के बावजूद दुकानों की पिकेटिंग में कोई कसर नहीं उठा रखी थी।'[7]

इन घटनाओं का ज़िक्र दिल्ली में राष्ट्रवादी आंदोलन में महिलाओं के योगदान के परंपरागत ब्योरों में भी दिखाई देता हैं। परंतु सड़कों पर निकलने का साहस करने वाली कुछ महिलाओं की जीवनी का विश्लेषण करने पर सार्वजनिक और निजी के बीच की सरहद धुंधली पड़ने लगती है और 'राजनीतिक' कृत्य के बारे में पुनर्विचार

की आवश्यकता पैदा हो जाती है। मुझे राष्ट्रवादी आंदोलन के जो ब्योरे मिले उनमें गांधी के प्रभाव और ऐसी महिलाओं की उदात्त भावनाओं की भरमार थी जिन्होंने उन सार्वजनिक-निजी सीमाओं का उल्लंघन किया जिनमें वह अब तक बँधी हुई थीं। इन ब्योरों में एक ब्योरा सरला शर्मा[8] का भी था जिनकी माँ ने बीस के दशक में चाँदनी चौक की गलियों में उन लोगों को धिक्कारा जो महिलाओं के सड़कों पर आने को लेकर उन्हें 'कोसते' थे। उन्होंने इन पुरुषों से सवाल किया कि आख़िर वह सड़क पर क्यों नहीं आ सकतीं। श्रीमती एन. चक्रवर्ती[9] ने इंद्रप्रस्थ महाविद्यालय की छात्राओं के बारे में बताया जो 1942 में महाविद्यालय के पास से गुज़रते छात्रों के जुलूस में शामिल होने के लिए दौड़ कर परिसर को पार करते हुए दीवार फाँद कर निकल जाती थीं। जबकि सुभद्रा जोशी[10] ने बताया कि किस तरह वह डॉक्टरों की तमाम चेतावनियों के बावजूद एक ट्रेड यूनियन संघर्ष में दख़ल देने के लिए स्थानीय अस्पताल से ग़ायब हो गई थीं।

परंतु सड़कों पर शारीरिक मौजूदगी को हर स्थिति में किसी राजनीतिक क्रिया के बराबर नहीं माना जा सकता है। इस तरह की महिलाओं के साहस को रेखांकित करते हुए भी अकसर बाहर की बजाय घर के भीतर राजनीतिक गतिविधि के साक्ष्य ज़्यादा मिल सकते हैं। इस तरह के मुद्दे डॉक्टर गुणमाले नौलखा के साथ बातचीत में उठाए गए, जिनके पिता फूलचंद जैन (1907-2000) दिल्ली के एक जाने-माने राजनीतिक कार्यकर्त्ता थे।[11] 1932 में डॉक्टर नौलखा की माँ से उनके पति ने कहा कि क्या वह सिविल नाफ़रमानी आंदोलन में हिस्सेदारी के लिए तैयार हैं। इस पर उन्होंने खुद को तैयार किया और फूलचंद जैन उन्हें एक स्थानीय कॉङ्ग्रेसी कार्यकर्त्ता के पास लेकर गए जो राजनीतिक स्वयंसेवकों को संगठित करते थे। डॉक्टर नौलखा को याद पड़ता है कि ऐसे मौक़े पर उनकी माँ और उनकी दादी के बीच किस तरह का टकराव खड़ा होता थाः 'मेरी दादी इतनी खफ़ा थीं, इतनी खफ़ा थीं, कि उन्होंने मेरी माँ को धकेलकर दीवाल से सटा दिया। उन्होंने मारपीट तो नहीं की पर इतना ज़रूर कहा, 'तुम कर क्या रही हो? घर से बाहर जा रही हो तुम? और तुम ये खादी की साड़ी भी पहनने लगी? नहीं, नहीं, अब तुम कहीं नहीं जाओगी, सीधे रसोई में जाओ, और काम में लगो। हाँ, तुम्हारे ननदोई जाकर ये पिकेटबाज़ी कर सकते हैं मगर तुम नहीं, हरगिज़ नहीं'। घर में उस समय तो और भी हंगामा मचा जब फूलचंद की पत्नी इसके बाद भी घर से बाहर जाती रहीं और आख़िर 6 फरवरी 1932 को वह गिरफ़्तार कर ली गईं।

जैसा कि उपरोक्त उद्धरण से पता चलता है, इस सदमे का एक हिस्सा औरतों द्वारा घर में कते सूत की साड़ी पहनने से जुड़ा हुआ था। जैसा कि गांधी ने कहा था, यह एक राजनीतिक कृत्य था। एक ऐसा कृत्य जिसे जब-तब की बजाय हर रोज़ दोहराया जाना था। इस तरह उन्होंने एक लैंगिक और राष्ट्रीयकृत मानसिकता का निर्माण किया। फूलचंद जैन की पत्नी ने रेशम के कपड़े और चाँदी के गहने पहनना बंद करके काफ़ी समय से खादी की ब्लाउज़ और साड़ी पहनना शुरू कर दिया था। जैसा कि उनकी बेटी ने साक्षात्कार में कहा, इस तरह के उच्चवर्गीय परिवार के लिए 'यह एक इंक़लाब था!...'। ख़ूबसूरती की पूरी अवधारणा बदल गई थी। अब ख़ूबसूरती का मतलब महँगे सूती और रेशमी कपड़े पहनना नहीं था बल्कि अब सुंदरता इसमें थी कि वह खादी का इस्तेमाल कर रही थी और अपनी आंतरिक शक्ति और सौंदर्य के कारण अभी भी सुंदर थी। ये एक हैरतअंगेज़ बात थी। जेल से रिहा होने के बाद डॉक्टर नौलखा की माँ कभी भी सार्वजनिक रूप से दोबारा सक्रिय नहीं हो पाईं परंतु घर में वह फिर भी खादी ही पहनती रहीं।

हालाँकि घर छोड़ने की बहादुरी को कमतर करके न आँकते हुए भी इस उपरोक्त उदाहरण से पता चलता है कि कई बार बाहर की बजाय घर के भीतर 'राजनीतिक' गतिविधि का साक्ष्य ज़्यादा स्पष्ट हो सकता था। अपने पति के संरक्षण में घर छोड़ कर किसी राजनीतिक कार्यकर्त्ता के निर्देशों का पालन शुरू कर देना निश्चय ही साहस का काम था। अपनी दिनचर्या को बदलने और घर के लोगों के साथ रोज़-रोज़ झगड़ा मोल लेने के लिए एक गहरे संकल्प और प्रतिबद्धता की ज़रूरत थी। जो महिलाएँ सड़क पर दावेदारी जता रही थीं उनकी मदद के लिए घर पर सहायक भूमिका निभाने वाली बहुतायत महिलाओं का होना भी ज़रूरी था।

महिलाएँ और घर

एक राजनीतिक संदर्भ में घर के साथ महिलाओं के रिश्ते को यहाँ हम आपस में जुड़े हुए दो समूहों के बीच बाँट कर देखेंगे। पहली श्रेणी में जाने-माने पुरुष राजनीतिज्ञों के घर हैं जबकि दूसरी श्रेणी में आम लोगों के घर हैं जो ख़ुद को लाज़िमी तौर पर राजनीतिक कार्यकर्त्ता के रूप में पेश नहीं कर सकते थे। जिन महिलाओं का नाम सड़कों पर अपनी गतिविधियों के उल्लेख के बिना भी राष्ट्रवादी अभिलेखागारों तक पहुँच गया है, वह जाने-माने राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं की पत्नियाँ थीं। ख़ासतौर से जनवरी 1932 में कॉङ्ग्रेस समितियों को ग़ैरक़ानूनी घोषित कर दिए जाने के बाद[12] दिल्ली के राजनीतिक मुख्यालयों का ठिकाना स्थायी नहीं रहा और वह उच्चस्तरीय कॉङ्ग्रेसी नेताओं के घरों में ही घूमने लगा था।

राजनीतिक घर

दिल्ली के राजनीतिक घरों में एक घर डॉ. एम. ए. अंसारी (1880-1936) का था। डॉ. अंसारी दिल्ली में कॉङ्ग्रेस से जुड़े एक प्रमुख मुस्लिम राजनेता थे। उनकी पत्नी, शम्सुन्निसा (बेगम अंसारी[13]) ने तुर्की में युरोप की युद्धोत्तर नीति के ख़िलाफ़ दिल्ली ख़िलाफ़त कमेटी में काम किया था (हसन, 1995, पृष्ठ 15) और उन्हें 1920 के दशक में दिल्ली की राजनीतिक रूप से सक्रिय चंद मुस्लिम महिलाओं में गिना जाता है (महान, 1999, पृष्ठ 171)। अंसारी जब युरोप की यात्रा पर जाते थे तो शम्सुन्निसा घर चलाती थीं और उर्दू लिखना सीखती थीं। उर्दू के इस अभ्यास का एक मक़सद घरेलू ख़र्चों का हिसाब रखना था। जब उनके पति वापस लौट आते तो वह घर को तरतीब में रखने और कॉङ्ग्रेसी मेहमानों की ख़ातिर-तवज्जो का काम करती थीं। जैसा कि हसन ने कहा है, 'हालाँकि वह अपने समय और हैसियत की महिलाओं से अपेक्षित घरेलू भूमिका का ही निर्वाह कर रही थीं फिर भी अपने पति के राजनीतिक कॅरियर से शम्सुन्निसा को अपनी रुचियों को अभिव्यक्त करने और ऊर्जाओं को दिशा देने का एक अच्छा ज़रिया मिला' (हसन, 1995, पृष्ठ 15)।

अपने मेहमानों की ख़ातिरदारी के लिए शम्सुन्निसा मुस्लिम, शाकाहारी और युरोपीय, तीनों तरह के बावर्चीख़ाने रखती थीं। इसके बावजूद, जैसा कि अंसारी की दत्तक पुत्री ज़ोहरा ने बाद में कहा, 'वह एक बेहतरीन मेज़बान और घर चलाने में माहिर महिला थीं परंतु वह इस वजह से कभी बाहर नहीं निकलीं क्योंकि वह पर्दे का सख़्ती से पालन करती थीं। हमेशा नेपथ्य में रहती थीं; चाहे कुछ भी करें, उनकी गतिविधियाँ नेपथ्य का ही हिस्सा होती थीं'।[14] 1912 में अंसारी के मेहमान रहे ई.एम. फ़ॉर्स्टर ने तारीफ़ करते हुए कहा कि 'हमारे मेज़बान की पत्नी – जिसकी क़ाबिले शिनाख़्त मौजूदगी सिगरेटों, सुपारी और ख़ुशबुओं के ज़रिए महसूस होती है कभी सामने नहीं आती' (फ़ॉर्स्टर, 1912, पृष्ठ 147)। गांधी ख़ुद भी 1931 में इर्विन के साथ बातचीत के समय अंसारी के यहाँ ठहरे थे (स्लेड, 1960, पृष्ठ 120) और कुछ दिनों बाद उन्होंने घर के माहौल की तारीफ़ करते हुए लिखा भी था। उन्होंने डॉ. अंसारी के साथ हुई अपनी बातचीत के बारे में लिखा जिसमें घर चलाने की कला के लिए बेगम अंसारी की तारीफ़ की गई थी। सिर्फ़ बावर्चीख़ाना चलाने के लिए ही नहीं बल्कि घर के ख़र्चे-पानी और आम रखरखाव के लिए भी उनकी तारीफ़ की गई (गांधी, 1931)।

महिलाओं के बारे में अपनी नीति की पुनर्रचना करने की प्रक्रिया में, गांधी घर से बाहर के एकमात्र पुरुष थे जिन्हें पर्दे में रहने वाली शम्सुन्निसा से मिलने की इजाज़त मिली थी (एदीब, 1937, पृष्ठ 31)। ऐसा भी तब हो पाया जब उन्होंने डॉ. अंसारी पर ख़ासा दबाव डाला था। 1928 में उन्होंने लिखा कि बेगम अंसारी का दावतनामा क़बूल करने का कोई मतलब नहीं है क्योंकि 'मैं जब तक उनके यहाँ रहता हूँ वह ख़ुद को पर्दे में छिपाए मुझसे दूरी बनाए रखती हैं। अगर वह मुझे अपने घर बुलाना चाहती हैं तो उन्हें अपनी महँगी चूड़ियों और गहनों को बेपर्द करना होगा ताकि मैं उन्हें इस फ़िज़ूलख़र्ची से आज़ादी दिलाकर उन्हें सही दिशा दिखा सकूँ' (गांधी, 1928 ख)। पूरी तरह पर्दे से दूर जाने की एक और कोशिश में वह (बेगम अंसारी) 1934 में बुर्क़ा पहनकर कॉङ्ग्रेस के चुनावों में वोट डालने के लिए घर से बाहर निकलीं परंतु उनके इस क़दम को भी 'परिवार के क़ायदे-क़ानूनों' के तहत एक बेहद प्रगतिशील क़दम माना गया।[15]

शम्सुन्निसा महिलाओं की एक ऐसी शिरकत का प्रतिनिधित्व करती हैं जिसके बिना दिल्ली के ज़्यादातर अहम परिवार कब के बिखर कर तहस-नहस हो जाते। इसके बावजूद शहर के कुछ ही घर ऐसे थे जिनका इतना नाम था और मुट्ठी भर महिलाएँ ही राष्ट्रवादी आंदोलन के आध्यात्मिक नेताओं का प्रत्यक्ष आशीर्वाद प्राप्त कर सकती थीं। जैसा कि बेगम अंसारी की प्रशंसा करने के बाद गांधी ने कहा था, 'ऐसा नहीं है कि हिंदुओं और मुसलमानों में ऐसी सिर्फ़ एक ही औरत है बल्कि हर गली-कूचे में ऐसी अनगिनत महिलाएँ होंगी। हम उन सबके बारे में कुछ नहीं जानते' (गांधी, 1931)।

महिलाओं के घरेलू राजनीतिक श्रम पर आश्रित रहने वाला एक और घर कॉङ्ग्रेस की राजनीति से जुड़े देशबंधु गुप्ता (1901-51) का था। बीस के दशक से ही वह एक स्थानीय अख़बार का संपादन कर रहे थे और तीस व चालीस के दशकों के दौरान दिल्ली कॉङ्ग्रेस के प्रमुख नेताओं में गिने जाते थे। उनके दो बेटे अभी भी दिल्ली में रहते हैं और उनके परिवार की भीतरी गतिविधियों का अंदाज़ा लगाने के लिए हमने उनसे बात की। उन्होंने बताया कि घर के बारे में उनकी सबसे पुरानी यादों में 'इंक़लाब ज़िंदाबाद' के क्रांतिकारी नारे सबसे पहले आते हैं। रमेश बंधु गुप्ता ने बताया कि, 'हालाँकि यह मेरे पिता का घर था परंतु ऐसा लगता था मानो वह कॉङ्ग्रेस का ही घर हो' जबकि विश्वबंधु गुप्ता ने कहा कि 'परिवार की पूरी मनोदशा दिल्ली के स्वतंत्रता संघर्ष और अख़बार से तथा ख़बरें इकट्ठा करने और ख़बरों के ज़रिए आंदोलन से जुड़े रहने पर केंद्रित थी'। चाहे बचपन में भारत छोड़ो आंदोलन के बिल्ले पहनने या जवानी में हाथ पर पट्टियाँ बाँधने की यादें हों या दीवारों पर कॉङ्ग्रेस के अनगिनत यादगार क्षण और प्रख्यात राष्ट्रवादी राजनेताओं की तस्वीरें हों — यहाँ 'घरेलू' दायरा 'राजनीतिक मुद्दों' से अटा पड़ा था। इस संपृक्ति को बनाए रखने में एक महत्वपूर्ण पहलू देशबंधु गुप्ता की पत्नी सोना देवी की मौजूदगी थी।

उस ज़माने में सोना देवी अनगिनत ज़िम्मेदारियाँ निभाती थीं। वह सक्रिय गतिविधियों से लेकर बच्चों को पालने-पोसने जैसे विविध काम करती थीं। पिकेटिंग संबंधी गतिविधियों के कारण उन्हें डेढ़ साल के लिए जेल की हवा भी खानी पड़ी जबकि दूसरी तरफ़ घर में उन्हें तहख़ाने के भीतर एक बॉयलर खौलाते रखना पड़ता था ताकि अगर कभी पुलिस का छापा पड़े तो ग़ैरक़ानूनी साहित्य को तत्काल जलाकर नष्ट किया जा सके। इसके बावजूद घर की राजनीतिक दशा-दिशा को दुरूस्त बनाए रखने में भी उन्हें मदद देनी पड़ती थी। सोना देवी सड़कों पर सक्रिय स्वयंसेवकों के लिए खाना पकाती थीं और जब घर से निकलती थीं तो घर की दूसरी महिलाएँ यह काम संभाल लेती थीं। राष्ट्रवादी आंदोलन में अपनी सेवाएँ देने के लिए दिल्ली आने वाले स्वयंसेवकों के खाने-पीने और रहने का भी इंतज़ाम करना पड़ता था और उन्हें अकसर दिल्ली स्थित इसी घर में ठहराया जाता था। परंपरागत रूप से चारों तरफ़ से बंद पर्दे की दीवारें इस क़दर बिखर चुकी थीं कि, बक़ौल रमेश गुप्ता, उनका घर और परिवार 'एक बरगद के पेड़ की तरह था जहाँ कोई भी आकर छाँव में सुस्ता सकता था'।

जब परिवार के प्रमुख सदस्य गिरफ़्तार कर लिए गए तो घर के सदस्यों का पेट पालने की ज़िम्मेदारी सोना देवी के ऊपर आ गई जबकि कॉङ्ग्रेस के नेता इसके बाद भी घर में आते और वहाँ उपलब्ध सुविधाओं का इस्तेमाल करते रहे। इसके बावजूद विश्वबंधु गुप्ता का कहना है कि वे लोग कभी संरक्षक पिता जैसा स्थान नहीं ले पाए। सोना देवी ने अपने दोनों बच्चों को लेकर जो ख़ास ज़िम्मेदारियाँ अपनाई हुई थीं उनके कारण इन लोगों को हमेशा मेहमान ही माना जाता था। गांधी द्वारा गिनाई गई ज़िम्मेदारियों के मुताबिक़ इन कामों में घर में रहते हुए शिक्षापरक पुस्तकें पढ़ने और बच्चों को खादी पहनने के लिए समझाने की ज़िम्मेदारी भी शामिल थी। इस प्रकार राजनीतिक और सार्वजनिक रूप से 'सक्रिय' रहने के साथ-साथ सोना देवी दूसरे रूप में भी सक्रिय थीं।

गुप्ता और अंसारी, दोनों घरों के विश्लेषण से पता चला है कि प्रत्यक्षतः राजनीतिक घरों में भी महिलाओं की कई ज़िम्मेदारियाँ ऐसी थीं जो 'सार्वजनिक' नहीं थीं परंतु फिर भी वह नाना प्रकार से राजनीतिक ज़िम्मेदारियाँ ही थीं। इस तरह के योगदान के लिए एक ऐसी सोच का होना ज़रूरी है जो उन घरों को भी राष्ट्रवादी आंदोलन के विवरणों में विस्तारपूर्वक शामिल कर सके, जो अब तक शामिल नहीं किए गए हैं।

गृहस्थल

नारीवादी विद्वानों ने सत्तर के दशक के बाद शोषणपरक संबंधों और घर को एक लैंगिक परिधि की शक्ल प्रदान करने वाली प्रदत्त मान्यताओं की खोजबीन की है (मैसी, 1994; फ़ेल्स्की, 1995; मैक्डॉवेल, 1999)। यंग (1997, पृष्ठ 134) ने दर्शाया है कि दि बोवेर घर को स्त्री के श्रम पर आश्रित एक सहायक संरचना के रूप में रेखांकित करती हैं। उत्तर औपनिवेशिक नारीवादियों, जैसे मार्टिन, मोहन्ती और दे लॉरेतिस, ने भी यही दर्शाया है कि एक सुरक्षित स्थल के रूप में घर किस प्रकार प्रायः अश्वेतों और श्रमिक वर्ग की बेदख़ली पर आश्रित रहता है (प्रैट, 1998; जॉर्ज, 1999, पृष्ठ 2; यंग, 1997, पृष्ठ 157)। घर दमनकारी भी हो सकता है इसलिए उसे सिर्फ़ एक एकीकृत तथा सुरक्षित पहचान की पनाहगार के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए — इस बात को रेखांकित करते हुए यंग (1997, पृष्ठ 156) का तर्क है कि घर की परिधि में एक मुक्तिदायी संभावना भी छिपी रहती है और वह व्यक्तिगत तथा सांस्कृतिक पहचान के एक मूल्यवान आधार का काम भी कर सकता है।

हाल में, हुक्स (1991) ने कुछ ख़ास घरों को 'गृहस्थलों' के रूप में देखने, उन्हें ऐसे सांस्कृतिक स्थलों के रूप में देखने का एक तरीक़ा सुझाया है जिन्होंने बाहरी दुनिया के श्वेत, पुरुष उत्पीड़न के बरक्स स्वर्ग का काम किया है। इन परिधियों को महिलाओं ने रचा था; यह घर 'उनके ख़ास दायरे' थे — 'एक संपत्ति के रूप में नहीं बल्कि ऐसे स्थानों के रूप में, जहाँ ऐसी हर चीज़ होती थी जो ज़िंदगी के लिए वाक़ई बामानी थी — आश्रय की गरमाहट और आराम, देह के लिए भोजन, आत्मा का पालन-पोषण' (हुक्स, 1991, पृष्ठ 41)। हुक्स ने इस बात को रेखांकित किया कि संभव है कि भले ही महिलाओं को एक प्रकार के उत्पीड़न के ज़रिए इन परिधियों में धकेला गया हो परंतु क्रमशः उन्होंने इन परिधियों को पोषणकारी, क्रांतिकारी परिधियों में रूपान्तरित कर दिया। अपने आप में हुक्स को चटर्जी के इस वक्तव्य को समझने के लिए संशोधक के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है कि बीसवीं सदी में महिलाओं का विराजनीतिकरण करके उन्हें दोबारा घरों के दायरों में क़ैद कर दिया गया। इसके ज़रिए हम यह भी समझ सकते हैं कि महिलाओं ने गांधी के आह्वान को किस तरह देखा होगा और घरों को उपनिवेशवाद विरोधी प्रतिरोध के केंद्र के रूप में कैसा स्वरूप प्रदान किया होगा।

सवाल यह उठता है कि इन गृहस्थलों को किस तरह बनाया और चलाया जाता था? पहली बात तो यह है कि इन गृहस्थलों की जड़ें भौतिक वस्तुओं में निहित थीं। हुक्स याद करती हैं कि उनकी दादी को 'इस बात का यक़ीन था कि जिस तरह हम ज़िंदगी जीते हैं उसकी शैली वस्तुओं से तय होती है। हम उन पर किस तरह नज़र डालते हैं, हमारे इर्द-गिर्द उन्हें किस तरह रखा जाता है। उन्हें यक़ीन था कि हम स्थानों के ज़रिए आकार लेते हैं' (हुक्स, 1991, पृष्ठ 11)। निर्मल मुखर्जी, जिनके पिता सेंट स्टीफेंस कॉलेज के प्रिंसिपल थे[16] और जिनका परिवार ईसाई था, ने एक साक्षात्कार में बताया कि बचपन में उनकी माँ की कुर्सी के ऊपर ईसा मसीह का एक चित्र लगा हुआ था और उसके बाईं तरफ़ जवाहर लाल नेहरू और सी. एफ. एन्ड्रयूज़ की तस्वीरें थीं, जो बेहद प्रभावशाली राष्ट्रीय नेताओं में गिने जाते थे। ये सजावटी चीज़ें घर की महिलाओं की ज़िम्मेदारी थीं। एक साक्षात्कार में डॉ. शीला उत्तम सिंह अपने युवाकाल के नई दिल्ली स्थित घर को याद करते हुए बताती हैं कि उसकी दीवारों पर परंपरागत भारतीय रेखांकन, सिक्ख गुरुओं की तस्वीरें और कॉङ्ग्रेस के उन अधिवेशनों के चित्र लगे हुए थे जिनमें परिवार के लोगों ने हिस्सा लिया था। इन्हीं के बीच परिवार के सदस्यों की तस्वीरें, पश्चिमी ढंग की कुर्सियाँ, मेज़ें और छुरी-काँटे भी रखे रहते थे। परंतु डॉ. उत्तम सिंह की दादी ने इन पश्चिमी वस्तुओं को इस्तेमाल करने से इनकार कर दिया और बाद में वह परंपरागत थाली में खाना खाने पर ज़ोर देने लगीं।

अपने मिश्रित भौतिक माहौल के साथ-साथ इस मकान का बेसिलसिला दायरा मोटे तौर पर राष्ट्रवादी भावनाओं और शब्दावली में डूबा हुआ था। डॉ. उत्तम सिंह के पिता आंखों के सर्जन थे और युरोपीय लोगों के साथ उनके व्यावसायिक संबंध थे। वह घर में ब्रिटिश नीतियों का विरोध करते थे और 'दुश्मन का दुश्मन हमारा मित्र है' वाले सूत्र के आधार पर हिटलर को एक रक्षक मानने की हद तक चले जाते थे। वह अख़बार में छपे ऐसे लेख पढ़-पढ़ कर सुनाते थे, जिनमें ब्रिटिश सरकार की आलोचना की जाती थी और यही अकसर राजनीतिक बहस-मुबाहिसे की ख़ुराक बनती थी। शिक्षा में सुधार के साथ-साथ राजनीति के बारे में होने वाली चर्चाओं में महिलाओं की हिस्सेदारी

बढ़ती जा रही थी। कई बार तो उनकी तालीम उनके बच्चों के ज़रिए हासिल होती थी। हाल ही में राजनीतिक रंग लिए संचार के परंपरागत साधनों के ज़रिए होने वाली गपशप के सहारे भी सूचनाओं का प्रसार होता था। इनमें मंदिर में होने वाली चर्चाओं, पुरानी दिल्ली के गली-कूचों में छतों के आरपार बातचीत, बाज़ार में होने वाले बहस-मुबाहिसों और घर में आने वाले व्यापारियों के ज़रिए सूचनाओं के प्रसार में मदद मिलती थी। अपने आप में 'नई स्त्री' नई पितृसत्ता द्वारा आधुनिकता के चुने गए तत्वों के ज़रिए ही आकार नहीं ले रही थी जैसा कि चटर्जी ने तर्क दिया है। इसकी बजाय उन्होंने ख़ुद सक्रिय रूप से कोशिश करके ऐसी सूचनाएँ इकट्ठा कीं जो उन्हें विचारधारात्मक रूप से घरेलू स्तर पर राष्ट्र के पुनरुत्पादन की क्षमता प्रदान करती थीं।

रिश्तेदारों के बारे में परंपरागत 'ज़नाना बातचीत' (मिनो, 1984) और पारिवारिक झगड़ों की जगह ऐसी वैश्विक घटनाओं पर होने वाली चर्चा ने ले ली जिनके बारे में अब ये महिलाएँ जानने लगी थीं और जिनके बारे में वह अपने बच्चों को सिखा सकती थीं। राजनीति के सार्वजनिक दायरे में दाख़िल होने के लिए घर छोड़ने की बजाय महिलाओं को गृहस्थलों में ही राजनीतिक सूचना तक पहुँच हासिल होने लगी थी। पुरानी दिल्ली के केंद्र में रहने वाली श्रीमती केशवन की टिप्पणी थी, 'अब परिवार यह जान गए थे कि वह किस बारे में बात कर रहे हैं, जबकि पहले इसके मुक़ाबले बहुत सीमित ज्ञान होता था। कुल मिलाकर हमारी स्थिति काफ़ी बेहतर थी'। इन सांस्कृतिक दायरों में संगीत ने भी एक अहम भूमिका निभाई। पांडे (1995) ने इसका राष्ट्र के निम्नवर्गीय अंशों में निहित अल्पसंख्यक भाषाओं की चर्चा करते हुए उल्लेख किया है। जिन लोगों से साक्षात्कार लिए गए उनमें से बहुत सारे लोगों को याद था कि घर में परिवार के दूसरे लोगों के साथ वह वंदेमातरम[17] गाते थे। इसके अलावा वह ऐसे गीत भी गाते थे जिनमें गांधी को रक्षक, सम्राट या भाग्यविधाता बताया जाता था। डॉ. उत्तम सिंह ने अपने जीवन में काफ़ी बाद में इस बात को महसूस किया कि बचपन से उन्होंने जो गाना अब तक पकड़ा हुआ था वह 1928 में साइमन कमीशन विरोधी आंदोलन का गाना था।

इन गतिविधियों के ज़रिए एक ओर तो राष्ट्रवाद की पुनर्कल्पना संभव हुई और महिलाओं को घर की चारदीवारी के अंदर राजनीतिक क्षमताओं को अभिव्यक्त करने के मौक़े मिले, वहीं यह अहम है कि इन्हीं घरों में गांधी की खादी से जुड़ी परिकल्पनाओं ने ज़मीन पाई। ख़ासतौर से शुरुआती सालों में कताई की अपील तमाम समुदायों और वर्गों के लोगों के बीच असर दिखा रही थी (तार्लो, 1996)। कौशल्या लाल ने अपनी बहन, दिल्ली की नेता सत्यवती के बारे में बताया कि उन्होंने प्रख्यात महिला राष्ट्रवादी सरोजनी नायडू से भेंट में मिली अपनी एक बारीक कढ़ाई वाली खादी साड़ी एक ग़रीब ग्रामीण महिला को दे दी थी क्योंकि उसकी धोती फटी हुई थी।[18] कौशल्या ने आगे बताया कि 'मैंने बड़ी मेहनत से उनके लिए जो साड़ी बनाई थी उसका भी यही हश्र हुआ।'[19] न केवल सूत कातने बल्कि खादी पहनने को प्रोत्साहित करने की ज़िम्मेदारी भी पत्नी की ही होती थी। निर्मल मुखर्जी की माँ ने अपने पति के सारे सूट जला दिए और जब उनके विद्यार्थियों ने उन्हें खादी पहनने का सुझाव दिया तो उन्हें इसके लिए प्रोत्साहित किया।

परंतु जैसा कि तारलो ने कहा है, खादी सभी वर्गीय, जातीय और सामुदायिक सीमाओं को तोड़ने में कामयाब नहीं हो पाई (तारलो, 1996, पृष्ठ 91; विश्वेश्वरण, 1996)। सरल खादी पहनावे की एकरूपता और एक 'गांधी टोपी' को प्रतीकात्मक रूप से औपनिवेशिक शासन की 'फूट डालो और राज करो' की नीति के ख़िलाफ़ भारत को एकसूत्र में बाँधने वाला माना जाता था। परंतु कताई की सरल क्रिया के साथ अकसर निजी पसंद का मामला भी उलझा रहता था। डॉ. उत्तम सिंह को याद है कि उनकी चाची ने एक साड़ी बनाई थी जिसके किनारे पर तिरंगा बना हुआ था। जब डॉ. उत्तम सिंह बच्ची थीं तो उन्हें तोहफ़ों के एक डिब्बे के साथ यह साड़ी भी मिली थी। इन तोहफ़ों में और चीज़ों के अलावा खादी का एक टुकड़ा भी था, जो प्रतीकात्मक रूप से उनकी ज़िंदगी के आख्यान में भी जुड़ गया हालाँकि निजी तौर पर परिवार के लोग खादी को सिर्फ़ जाटों[20] और ग़रीबों के लिए ही उपयुक्त मानते थे।

परंतु खादी की पहचान ने उसे ऐसे हालात में भी इस्तेमाल के योग्य बना दिया जहाँ वह और किसी तरीक़े से नहीं पहुँच सकती थी। श्रीमती केशवन को याद है कि उनके वकील पिता को अदालत में एक सूट पहनकर

जाना था इसलिए उन्हें खादी की पोशाक ख़रीदनी पड़ी। परंतु उस वक़्त खादी की टाई नहीं होती थी। नतीजतन उनकी बेटियों और पत्नी ने एक युरोपीय टाई को परत-दर-परत खोलकर देखा कि वह कैसे बनाई जाती है और उसकी देखा-देखी भारतीय रेशम की बनी हुई टाई का एक जोड़ा तैयार कर दिया। उन्हें न केवल श्री केशवन ने पसंद किया बल्कि उनकी लॉ (क़ानून) कंपनी के सभी लोग उनकी तरफ़ आकर्षित हुए। जब वे घर लौटते तो ये कपड़े उतार कर परंपरागत भारतीय कुर्ता पहन लेते। जो लोग काम के मौक़े पर खादी नहीं पहन पाते थे वह भी घर पहुँचने पर अपने कपड़े और अपनी पहचान बदल लेते थे। एक साक्षात्कार में अपने पिता के बारे में बात करते हुए श्री पृथ्वीस चक्रवर्ती ने कहा कि वह 'एक शख़्सियत घर पर छोड़ कर जाते थे और अपना काम करते थे। जब वापस आ जाते थे तो अपना कोट उतार कर फिर ठेठ हिंदुस्तानी बन जाते थे... आंदोलन के भाषणों के बारे में बात करने लगते थे और आंदोलन के प्रति सौ फ़ीसदी समर्थन जताते थे।' जैसा कि ऑनिग (1994, पृष्ठ 583) ने सुझाव दिया है, यह घर का वह रूप है जो राजनीति से 'ऊर्जा प्राप्त' कर रहा था और यह अपनी मनोगत पहचान को पुनर्जीवित करने का स्थान था न कि निषेध या हिचकिचाहट का।

इन गृहस्थलों की अहमियत के बावजूद हुक्स का ज़ोर इस बात पर है कि और चीज़ों से काट कर अकेले घर पर ध्यान केंद्रित करना एक बेहद शून्यतावादी कृत्य होगा (हुक्स, 1991, पृष्ठ 141) चाहे घर ऐसी जगह ही क्यों न हो जहाँ व्यक्ति को बार-बार लौटकर आना है। व्यक्ति के जीवन के पुराने अनुभवों को नए ज्ञान और अनुभवों की तलाश, समाज के हाशिए के दोहन के साथ जोड़ना होगा जिसमें निजी ख़तरा और जोखिम भी शामिल रहता है। घर की राजनीति को स्थान की राजनीति के साथ जोड़ना होगा (हुक्स, 1991, पृष्ठ 145)। इसी प्रकार ऑनिग ने कहा है कि 'यदि घर राजनीति में एक सकारात्मक शक्ति है तो उसे एक अनिवार्य, पोषक, परंतु दीर्घकालिक, अंतर्विरोधी और तात्कालिक गठजोड़ के रूप में गठबंधन की शर्तों में ढलना होगा' (1994, पृष्ठ 583)। जैसा कि गांधी ने 1930 में पाया, महिलाएँ घर के भीतर क़ैद होकर संतुष्ट नहीं थीं। धीरे-धीरे वह बाहर भी अपना असर डाल रही थीं। वह गांधी के आह्वानों का अनुसरण कर रही थीं और उन्हें स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार शक्ल दे रही थीं। यानी धरने और जुलूसों के अलावा भी घर के बाहर महिलाओं के प्रभाव को नाना प्रकार से महसूस किया जा रहा था।

गाने गाते हुए और लोगों को घर से बाहर निकलने के लिए प्रोत्साहित करते हुए स्थानीय समुदायों में प्रभात फेरियाँ निकाली जाती थीं। हालाँकि इनमें महिलाएँ प्रत्यक्ष रूप से शामिल नहीं होती थीं पर बच्चे घर में सीखे हुए गाने गाते हुए उनमें शामिल हो जाते थे और वहाँ कुछ नए गाने सीखते थे जिनका घर लौट कर पूरे परिवार के साथ अभ्यास करते थे। इनके अलावा ऐसे दायरे भी थे जिन्हें आसानी से 'सार्वजनिक' या 'निजी' श्रेणी में नहीं रखा जा सकता था। इनका राजनीतिकरण हो चुका था और राष्ट्रवादी संगठनों ने उनका अधिग्रहण भी कर लिया था। परदा बाग़ चारदीवारी से घिरे और सुरक्षित ऐसे बाग़ होते थे जिनमें महिलाएँ परंपरागत रूप से मिला करती थीं। 1920 के दशक से उनका इस्तेमाल राजनीतिक मुद्दों पर बहस-मुबाहिसे के लिए भी होने लगा था। इस तरह के बाग़-बग़ीचों को इंद्रप्रस्थ बालिका विद्यालय के लिए खेल के मैदान या ऐसे ही अन्य उद्देश्यों के लिए बनाया गया था। डॉ. कपिला वात्स्यायन ने एक निजी साक्षात्कार में बताया कि लड़कियों को स्थानीय कॉङ्ग्रेसी कार्यकर्त्ता मीमोबाई पढ़ाती थीं और उन्हें 'तिरंगा झंडा ज़िंदाबाद, यूनियन जैक मुर्दाबाद' जैसे गाने सिखाती थीं।

घर और देह एक दूसरे को परस्पर निर्मित करते हैं। घर दैहिक व्यवहारों से बनता है जबकि देह घर के पालन-पोषण और अनुशासन में विकसित होती है। परंतु शरीर चलायमान होता है और उसको कहीं भी भेजा जा सकता है जबकि घर स्थिर रहता है। खादी पहनने में महिलाओं का घरेलू श्रम सड़क पर नुमायाँ होता था। इसके बावजूद महिलाओं का प्रभाव कई दूसरे तरीक़ों से भी दिखाई देता था। मिसाल के तौर पर डॉ. उत्तम सिंह ने एक ऐसे अवसर का ज़िक्र किया जब सम्राट जॉर्ज पंचम की मौत के बाद उनके कॉन्वेंट स्कूल की लड़कियों को 20 जनवरी 1936[21] को काली पट्टियाँ बाँधने के लिए दी गईं। 28 फरवरी को जब कमला नेहरू की मौत हुई तो एक बार फिर बच्चों के घरवालों के पास संदेश भिजवा दिया गया और लड़कियाँ दोबारा वही काली पट्टियाँ पहनकर स्कूल गईं। इस तरह के संगठन भी अस्तित्व में आए जो राष्ट्रवादी आंदोलन से दूर रहने वालों को

चूड़ियाँ भेंट करते थे क्योंकि चूड़ियों को कायरता का संकेत माना जाता है। इन्द्रप्रस्थ बालिका विद्यालय की लड़कियाँ सेंट स्टीफ़ेंस कॉलेज के रुढ़िवादी सदस्यों का घेराव करती थीं हालाँकि इन गतिविधियों में वर्गीय मुद्दे भी अहम थे। जब एक उच्च पदस्थ सरकारी अधिकारी की बेटी ने डॉ. स्वरूप सिंह को चूड़ियाँ भेंट कीं तो उन्होंने उस लड़की को सुझाव दिया कि बेहतर होगा कि वह ये चूड़ियाँ अपने पिता को भेंट करे। इस प्रकार, एक बार फिर सारा ध्यान सार्वजनिक विरोध पर ही केंद्रित हो जाता है। ऐसे में सड़क को घरेलू गतिविधियों और संघर्षों का समुच्चय भी माना जा सकता है। राष्ट्रवादी आंदोलन की ताक़त कॉङ्ग्रेसी अभिजन या सड़क पर होने वाले विशाल मुज़ाहिरों में नहीं थी। इसकी बजाय यह ताक़त गपशप, स्थानीय राजनीतिक गतिविधियों और सामुदायिक सभाओं के ज़रिए गृहस्थलों में फैली हुई थी।

रैडिकल पुनर्व्याख्या?

हालाँकि हम देख चुके हैं कि गांधी और कॉङ्ग्रेस के उकसावे को कुछ महिलाओं ने स्वीकार किया था परंतु बहुत सारी महिलाएँ ऐसी भी थीं जिनके लिए या तो स्त्रीत्व के ये स्वरूप उपलब्ध नहीं थे या जिन्होंने उन्हें स्वीकार नहीं किया। एक सिरे पर ऐसी महिलाएँ थीं जिन्होंने महिलाओं के अधिकारों और सम्मान के आह्वान को स्वीकार किया परंतु इस बारे में गांधी और कॉङ्ग्रेस की नज़र को ख़ारिज भी कर दिया कि नई भारतीय महिला कैसी होनी चाहिए। समूचे राष्ट्रवादी आंदोलन के दौरान महिलाओं ने क़ानून से भागने वालों को मदद देकर, बंदूक़ों की तस्करी और यहाँ तक कि बम फ़ैक्ट्रियों में काम के ज़रिए क्रांतिकारियों को मदद पहुँचाई (देखें थापर-योरकर्ट व रियान, 2002)। मगन किशोर जौहरी भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान सिनेमा घरों को विस्फोट से उड़ाने में शामिल थे और उनकी इन गतिविधियों पर ब्रिटिश सरकार का फ़ौरन ध्यान गया[22] जबकि अरुणा आसफ़ अली 1942 में भूमिगत होकर दिल्ली में छोटे पैमाने की क्रांतिकारी गतिविधियाँ संचालित करने के क्रम में कॉङ्ग्रेस से बाहर हो गईं (कौल, 1991)।[23]

दूसरे सिरे पर ऐसी महिलाएँ थीं जिनकी नियति चटर्जी द्वारा उल्लिखित रूप में हुई। यह बंधनमुक्त महिला शक्ति की नहीं बल्कि दोबारा बँधनों में बँध कर समर्पण कर देने वाली महिलाओं की नियति थी। 'गृहस्थलों' के बारे में होने वाली चर्चाएँ अकसर उस वस्तु विशेष को सरलीकृत कर सकती हैं जिसके बारे में हम बात करते हैं और यह भूल जाते हैं कि इस तरह के स्थल घर में महिलाओं की गतिविधियों का समुच्चय थे। इरीगारे व रोज़ (1996, पृष्ठ 69) ने दलील दी है कि स्त्री उस स्थिर और तयशुदा स्रोत का प्रतिनिधित्व करती है, जहाँ से व्यक्ति 'अपनी' शक्ति ग्रहण करता है। जहाँ एक तरफ़ पुरुष रचना और निर्माण करता है, वहीं दूसरी तरफ़ महिलाओं को नियंत्रित और बंद करके रखा जाता है। इरीगारे (1992, पृष्ठ 47) ने महिलाओं के लिए बोलते हुए कहा था, 'तुम मुझे जो स्थान देना चाहते हो वह तुम्हारे लिए मेरी ज़रूरत के मुताबिक़ है। तुम जो मुझे दिखाते हो वह ऐसा स्थान है जहाँ तुमने मुझे रख दिया है, ताकि मैं तुम्हारी ज़रूरतों के लिए तुम्हारे सामने उपलब्ध रहूँ।'

प्रैट (1998) का यह तर्क बिल्कुल सही है कि लैंगिक परिधि के द्वैधपूर्ण संगठन के बारे में हुक्स की अवधारणा इन बहिष्कृतियों को दोबारा पुष्ट करने का काम कर सकती है। अगर महिलाएँ ही गृहस्थल हैं तो वह उनसे जीने का ज़रिया कैसे हासिल कर सकती हैं? घर के भीतर महिलाओं की राजनीतिक गतिविधियों के बहुत सारे उदाहरणों को उतनी ही आसानी से सार्वजनिक, राजनीतिक रूप से सक्रिय पति द्वारा उनकी ज़िम्मेदारियों की सूची में जोड़ दिए गए एक और घरेलू काम के रूप में देखा जा सकता है। सादिक़ुर्रहमान क़िदवई ने अपने माता-पिता की पीढ़ी की गतिविधियों को याद करते हुए कहा कि जब पति के जेल चले जाने के बाद महिलाएँ परिवार के कपड़े-लत्ते और खाने-पीने की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए अपने छिट-पुट संसाधनों को इकट्ठा करके काम चलाती थीं तो उनकी इस गतिविधि को राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को मदद देने वाली गतिविधि माना जा सकता है। परंतु क्या पत्नी के रूप में महिलाओं के पास ऐसे हालात में कोई और विकल्प था? इसके अलावा बहुत सारी महिलाओं ने बच्चों की पढ़ाई-लिखाई को एक स्वतंत्र भारत के (पुनः)उत्पादन का ज़रिया बनाया परंतु क्या यह एक ऐसी ज़िम्मेदारी नहीं थी जिसका उन्हें किसी भी सूरत में पालन करना ही था और क्या इससे माँओं

को राष्ट्र के पुनर्जन्म की प्रतिनिधि के रूप में रखने या इस (पुनः)उत्पादन में सक्रिय हिस्सेदार के रूप में देखा जा सकता है? (कांदियोति, 2000)

संभव है कि कुछ महिलाएँ अपने पतियों को आराम और सुरक्षा प्रदान कर पायीं, परंतु जैसा कि सईदा ख़ुर्शीद[24] को याद आता है, प्रत्यक्ष राजनीतिक गतिविधियों के दौर में बहुत सारे परिवारों को 'मर्दों के कारोबार' से बाहर कर दिया जाता था। इस तरह के द्वंद्व बहुत सारे मुस्लिम परिवारों में भी खड़े हुए जहाँ महिलाओं को पर्दे से बाहर निकलने में भी दिक़्क़त महसूस होती थी परंतु इसके बावजूद इन्हीं परिवारों को एकांतिक ज़िंदगी का ज़्यादा तजुरबा भी था। यहाँ तक कि शम्सुन्निसा अंसारी, जिनकी अपने राजनीतिक परिवार को संगठित करने में ज़बर्दस्त भूमिका थी, ने भी डॉ. अंसारी की राजनीतिक सोच को अनिवार्य रूप से बहुत प्रभावित नहीं किया। जैसा कि ज़ोहरा अंसारी कहती हैं, 'दोनों के बीच गहरी आपसी समझदारी थी और उन्होंने अपने पति के राजनीतिक जीवन पर कभी आपत्ति नहीं उठाई; वे आप मालिक थे'।[25] परंतु डॉ. नौलखा ने इस बात पर ज़ोर दिया कि हालाँकि उनकी माँ फूलचंद जैन के मुक़ाबले दबी हुई दिखाई देती थीं परंतु "महिलाएँ जिस प्यार पर आश्रित रहती थीं उसी वज़ह से परिवार को जोड़ने वाले बँधन मज़बूत रहते थे। आज्ञाकरिता दमन नहीं थी, बल्कि ये दोनों बिल्कुल जुदा चीजें हैं। आज्ञापालन का मतलब है कि तुम किसी के ऊपर आस्था रखते हो और उसका अनुसरण करते हो, जबकि दमन का मतलब वर्चस्व है। हमारे घर में एक बड़ा अच्छा समन्वय था।" बहरहाल इस आज्ञापालन के बावजूद महिलाएँ अपना ख़ुद का राजनीतिक दायरा गढ़ सकती थीं। दमन का आशय भूमिकाओं का गला घोंटने से है।

'राजनीतिक' की परिभाषाएँ अनिवार्य रूप से मनमानी और विषयगत ही होती हैं, परंतु जैसा कि सईदा हमीद ने एक साक्षात्कार में कहा, 'उत्पीड़न' और 'समर्थन' के बीच फ़र्क़ तब सामने आता है जब पति अपने कार्यों और ज़िम्मेदारियों के बारे में बताता है और इस तरह अपनी पत्नी में भी उपलब्धि के भाव का संचार करता है। इन ब्योरों के केंद्र में किसी निहित उद्देश्य से प्रेरित, मानवतावादी व्यक्ति को ढूँढने की इच्छा से भी बचने की कोशिश करनी चाहिए (ओ'हैनलॉन, 2000, पृष्ठ 74)। कई मौक़े ऐसे रहे होंगे जब महिलाओं ने ख़ुद को राष्ट्रीकरण आंदोलन का धड़ता दिल माना होगा, जबकि कई बार उन्होंने ख़ुद को हाशिए पर और उपेक्षित पड़ा हुआ महसूस किया होगा। इस शोध का उद्देश्य घरेलू दायरे को महिलाओं की ताक़त पर विचार के लिए एक बिंदु के रूप में खोलना तथा ऐसे अवधारणात्मक उपकरण हासिल करना है जिनके सहारे प्रत्येक व्यक्ति और अलग-अलग घटनाओं का विश्लेषण किया जा सकता है।

निष्कर्ष

तीस और चालीस के दशकों में दिल्ली की राजनीतिक गतिविधियों में एक भारी उफ़ान आया और नतीजतन यहाँ की अलग-थलग मध्यवर्गीय महिलाओं की ज़िंदगी का ढर्रा बदल गया। दिल्ली की महिलाएँ उन गतिविधियों के दायरे में दाख़िल होने लगीं जिन्हें परंपरागत रूप से पुरुषों द्वारा और पुरुषों के लिए सुरक्षित माना जाता था। वह जलसे-जुलूसों में जाने लगीं, घेराव करने लगीं, पत्र-पत्रिकाओं में लिखने लगीं और सड़कों पर भाषण देने लगीं। यद्यपि इन महिलाओं की गतिविधियों को तो राष्ट्रवादी इतिहास लेखन में जगह मिली है परंतु इन्हीं महिलाओं को ऐसा मानक बिंदु भी बना दिया गया जिनके बरक्स उन महिलाओं की तुलना की जाने लगी जो घर छोड़कर बाहर नहीं आईं। यहाँ तक कि सबॉल्टर्न इतिहासकारों ने भी उन महिलाओं को निष्क्रिय और मर्यादित करार दिया, जो घरों के दायरे में ही बनी रहीं।

इस शोध में ऐसे कई तरीक़ों का ब्योरा दिया गया है जिनके ज़रिए महिलाओं ने घर का राजनीतिकरण करने में मदद दी और एक ऐसी परिधि में अपनी जगह का दावा किया जिसे आमतौर पर ख़ामोशी और अधीनता का दायरा माना जाता था। जहाँ एक तरफ़ बड़े-बड़े कॉङ्ग्रेसी नेताओं की पत्नी और परिजनों ने अपने घरों को अनधिकृत राजनीतिक मुख्यालयों की शक्ल दे दी वहीं दूसरी तरफ़ अनगिनत महिलाएँ ऐसी भी थीं जिन्होंने राजनीतिक और घरेलू को एक दूसरे में गूँथ कर उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में मदद दी। गांधी के लेखों के अनुसार महिलाओं ने अपनी परंपरागत पोषणकारी भूमिकाओं को अपनाया और साथ ही अपनी अब तक की ज़िम्मेदारियों को कताई,

खाना पकाने, पनाह देने, कपड़े सीने और गाना गाने जैसी विरोध की नई तकनीकों में ढाल दिया। अपने आप में राजनीतिक गृहस्थलों की रूपरेखा इस तरह की थी जिनमें 'हाशिए' पर रहते हुए सक्रियता और समाज के जोखिम भरे दायरों से बचने की गुंजाइश भी थी और वह यदा-कदा पैमाने पर संतुष्टि और पोषण के भौतिक बिंदु भी थे। जब बहुत सारी महिलाएँ गांधी की शुरुआती सलाह का उल्लंघन करते हुए घर छोड़ कर निकल गईं तब भी बहुत सारी महिलाओं के लिए उनकी निजी परिधि ही राजनीतिक गतिविधियों का मुख्य बिंदु बनी रही।

गांधी ने एक स्थैतिक निर्धारण के ज़रिए राष्ट्रवाद की लैंगिक विडंबना को हल करने की कोशिश की। इसके लिए उन्होंने एक ऐसा दायरा गढ़ने की कोशिश की जिसमें महिलाएँ पुरुषों से कटे बिना राजनीतिक रूप से सक्रिय हो सकती थीं। अपने आप में अब तक निष्क्रिय राजनीतिक आबादी को नए सिरे से लामबंद किया गया परंतु जेंडर के आधार पर उन्हें 'अलग-अलग दायरों' की संज्ञा नहीं दी गई। राजनीति के बारे में गांधी की लचीली अवधारणा से बहुत सारे परिवारों के राजनीतिकरण में मदद मिली। परंतु इस खुलेपन के कारण इन सिद्धांतों को या तो पुनराधीन या अतिसक्रिय स्त्रीत्व के हक़ में ख़ारिज कर दिया गया। इतने लंबे समय के बाद इन परिधियों में पहुँचने के लिए बौद्धिक अध्ययन के मानकों की दोबारा समीक्षा करना आवश्यक है। व्यक्तिगत और पारिवारिक स्मृति अनिवार्य रूप से विकृति और त्रुटियों का शिकार हो सकती है परंतु इन घरेलू दायरों के बारे में सूचनाओं के अंतिम बिंदु के रूप में इन जोखिमों को उठाना ही होगा और उन्हें प्रतिसंतुलित करने के लिए लिखित सूचनाओं और तफ़्तीश की प्रक्रिया से गुज़रना होगा।

इस शोध की प्रासंगिकता स्त्री चेतना या स्वतंत्रता पूर्व दिल्ली के राष्ट्रवाद की सबॉल्टर्न अवधारणा के बारे में चलने वाली बहस से कहीं ज़्यादा है। इसमें नारीवादियों के इस दावे के समर्थन में साक्ष्य दिखाई देते हैं कि राजनीतिक आंदोलनों में महिलाओं का सिर्फ़ प्रतिनिधित्व ही नहीं किया जा सकता है बल्कि वह ख़ुद भी हिस्सेदार हो सकती हैं। परंपरागत रूप से पौरुषपूर्ण और टकराव आधारित सार्वजनिक दायरों में सिर्फ़ हिस्सेदारी करने के बजाय यह गतिविधि घर के निजी दायरों में भी संभव है। यंग, हुक्स और ऑनिग का अनुसरण करते हुए, घर को एक आविष्कारी और सहभागी परिधि के रूप में देखा जा सकता है न कि सिर्फ़ उत्पीड़न और आत्मपरीक्षण के दायरे के रूप में। और अंत में, घरेलू सीमाओं की छिद्रता की मौजूदगी का अर्थ है कि शहरी राजनीतिक आंदोलनों के अध्ययनों में सत्ता और पहचान के अंतरसीमायी प्रवाहों पर ध्यान देना होगा जो राष्ट्र और 'सार्वजनिक' को स्थानीय और 'निजी' से जोड़ते हैं; ऐसे प्रवाह जो बहुत सारे मामलों में पुरुषों के साथ-साथ महिलाओं की भी क्रियाओं और गतिविधियों से निर्धारित होते हैं।

अनुवादः योगेंद्र दत्त

आभार

इस लेख में मुझे क्यूबेक, केम्ब्रिज और लॉस ऐंजेलिस में दिए व्याख्यानों के दौरान मिली टिप्पणियों से काफ़ी लाभ हुआ है. इसके अलावा मैं जिम और नैंसी डंकन, निकोला हिग्गिन्स, गैरी केर्न्स, फ्रंचेस्का ओरसीनी, लिंडा पीक, सारा रैडक्लिफ़, साइमन रीड-हेनरी, और तीन अज्ञात अनुशंसकों का भी आभार प्रकट करना चाहता हूँ जिन्होंने अपनी महत्वपूर्ण सलाह और मदद दी. जिन लोगों से मैंने साक्षात्कार लिए और दिल्ली प्रवास के दौरान जिन लोगों पर मैं आश्रित रहा उनकी मदद के बिना यह शोध संभव नहीं था. उन सभी का आभार.

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. 1885 में गठित भारतीय राष्ट्रीय कॉङ्ग्रेस जल्द ही भारत का सबसे बड़ा राष्ट्रवादी संगठन बन गया. यही संगठन वह प्रशासकीय साधन मुहैया कराता था जिनके ज़रिए सरकार के साथ होने वाली वार्ताओं को जनांदोलनों तथा सामाजिक अभियानों के साथ जोड़ा जाता था.
2. सिविल नाफ़रमानी आंदोलन के उद्घाटन के लिए गांधी और कुछ चुनिंदा समर्पित वॉलंटियरों ने अहमदाबाद से भारत के पश्चिमी तट पर स्थित दाँडी तक का 240 किलोमीटर लंबा मार्च आयोजित किया. 5 अप्रैल 1930 को दाँडी पहुँचने पर गांधी जी ने नमक उत्पादन पर ब्रिटिश सरकार की इजारेदारी को तोड़ते हुए समुद्र के पानी से नमक बनाया और इस तरह एक जनांदोलन का सूत्रपात कर दिया.
3. हसन ख़ान, ख़ान अहमद (1933) *सेंसस ऑफ़ इंडिया* 1931, खंड 16ः *दिल्लीः रिपोर्ट ऐण्ड टेबल्स* (लाहौर, सिविल ऐण्ड मिलिट्री प्रेस); फ़ज़ले इलाही (1942) *सेंसस ऑफ़ इंडिया 1941*, खंड 16ः दिल्ली (शिमला, गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया प्रेस).
4. दिल्ली अभिलेखागार, गृह विभाग फ़ाइल (गोपनीय) 1930, 55 ख.
5. दिल्ली पाक्षिक रिपोर्ट, 1930, 6 मई.

6. दिल्ली पाक्षिक रिपोर्ट, 1930, 6 जून.
7. नेहरू स्मृति संग्रहालय एवं पुस्तकालय (यहाँ के बाद एनएमएमएल), अखिल भारतीय कॉङ्ग्रेस कमेटी फ़ाइल, जी 94/1930, भाग 1.
8. सरला शर्मा छात्रा और कम्युनिस्ट समर्थक थीं. वह चालीस के दशक में राजनीति में सक्रिय थीं और उनके परिवार में राजनीतिक माहौल था.
9. चालीस के दशक में श्रीमती चक्रवर्ती इंद्रप्रस्थ बालिका महाविद्यालय की सदस्य थीं. इस महाविद्यालय के कर्मचारी और विद्यार्थी तीस और चालीस के दशक में राष्ट्रवादी गतिविधियों में निरंतर सक्रिय रहे.
10. चालीस के दशक में एक सक्रिय समाजवादी कार्यकर्त्ता.
11. भारत सरकार, गोपनीय (1934) *दिल्ली प्रॉविंशियल हू इज़ हू* (नई दिल्ली, गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया प्रेस).
12. दिल्ली पाक्षिक रिपोर्ट 1932, 15 जनवरी.
13. 'बेगम' शब्द सम्मानित मुस्लिम महिलाओं के नाम से पहले लगाया जाता है.
14. एनएमएमएल अभिलेख 533, श्रीमती ज़ोहरा अंसारी, 3 नवंबर 1974 को डॉ. हरिदेव शर्मा द्वारा रिकॉर्ड किया गया.
15. एनएमएमएल अभिलेख, श्रीमती ज़ोहरा अंसारी, 26.
16. एस. एन. मुखर्जी 1926 में दिल्ली स्थित सेंट स्टीफेंस कॉलेज के छठे प्राधानाचार्य बने. वह 1912 में इस कॉलेज में आए थे (मोन्क, 1935, पृ. 218). कॉलेज अधिकारियों को लगता था कि विश्वविद्यालय को चलाने के लिए 'किसी विदेशी की बजाय एक भारतीय ज़्यादा बेहतर' साबित होगा. 1930 के सिविल नाफ़रमानी आंदोलन के दौरान यह सोच सही साबित हुई. इस समय मुखर्जी ने 'द नैशनलिस्ट' नाम का एक डिबेटिंग फ़ोरम शुरू किया जिसमें 'अराजकतावादी देशभक्ति के उत्साह' को 'सकारात्मक' स्वदेशी के प्रोत्साहन तथा 'नकारात्मक' बहिष्कार की मुख़ालफ़त जैसे व्यावहारिक तरीक़ों से दिशा दी गई (मॉन्क, 1935, पृ. 233).
17. कॉङ्ग्रेस ने इस गीत को एक राष्ट्रवादी राष्ट्रगान के रूप में प्रचारित किया था.
18. एक क़िस्म का पहनावा जिसमें कमर के निचले हिस्से के इर्द-गिर्द एक कपड़ा लिपटा होता था. यह पहनावा आमतौर पर छोटे वर्गों में प्रचलित था.
19. कौशल्या लाल (1985) *दिल्ली की जोन ऑफ़ आर्क* में 'माई सिस्टरः माई गुरु'.
20. जाट सामान्यतः क्षत्रिय जाति का एक उपसमूह है और वह आम तौर पर कृषि कार्य करते हैं. उनमें से बहुतों को ब्रिटिश सेना में भी भर्ती किया गया. उनकी इस बात के लिए आलोचना की जाती है कि उन्होंने राष्ट्रवादी आंदोलन में उत्साहपूर्वक हिस्सा नहीं लिया.
21. साक्षात्कार में सही-सही तारीख़ नहीं बताई गई बल्कि अभिलेखागार के ज़रिए इन तारीख़ों की जानकारी हासिल की गई है और उन्हें यहाँ दिया जा रहा है. जॉर्ज पंचम के लिए देखें रोज़ (1983, पृ. 401) और कमला नेहरू के लिए, देखें वॉलपर्ट (1996, पृ. 199).
22. एमएमएनएल अभिलेख, मगन किशोर जौहरी, डॉ. हरदेव शर्मा द्वारा दर्ज किया गया, 5.
23. आसफ़ अली को भारत छोड़ो आंदोलन में उस समय विशेष ख्याति मिली जब उन्होंने अगस्त 1942 की व्यापक गिरफ़्तारियों के दौरान बंबई में कॉङ्ग्रेस का झंडा फहराया. कुछ समय बाद वह दिल्ली लौटीं और आंदोलन के ख़त्म होने तक अंग्रेज़ों की आँखों में धूल झोंकती रहीं. उन्होंने विद्यार्थियों को संगठित किया और समूचे ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में तोड़-फोड़ तथा बम विस्फोटों को बढ़ावा दिया. वह भारत के भूमिगत नेताओं में एक प्रमुख हस्ती थीं और उन्होंने दिल्ली के पुरुष और रूढ़िवादी कॉङ्ग्रेसी नेताओं की अहिंसापालन की माँग ठुकरा दी थी.
24. सईदा ख़ुर्शीद दिल्ली के एक जाने-माने शिक्षाविद और राजनेता, ज़ाकिर हुसैन, की बेटी थीं.
25. एमएमएनएल अभिलेख, 533, श्रीमती ज़ोहरा अंसारी, 27.

संदर्भ

शाहिद अमीन, *इवेंट, मेटाफ़र, मेमरीः चौरी-चौरा 1922-1992*, बर्कले, सीए, कैलीफ़ोर्निया युनिवर्स्टी प्रेस, 1995.

डेविड आर्नल्ड, *गांधी*, हार्लो, लाँगमैन, 2000.

उषा बाला, *इंडियन वीमेन फ्रीडम फाइटर्स 1857-1947*, नई दिल्ली, मनोहर, 1986.

सुरेष्ट आर. बाल्ड, 'द पॉलिटिक्स ऑफ़ गांधीज़ "फ़ेमिनिज्म": कंस्ट्रक्टिंग "'सीताज़' फ़ॉर स्वराज़", सीता रेंचोर्ड–निलसन व मेरी एन. तेब्रो (संपादित) *विमेन, स्टेट्स ऐण्ड नेशनलिज़्मः एट होम इन द नेशन?*, लंदन, रटलेज, 2000.

हिमानी बनर्जी, 'प्रॉजेक्ट्स ऑफ़ हेजेमनीः टुवर्ड्स ए क्रिटीक ऑफ़ सबॉल्टर्न स्टडीज़ 'रेज़ोलूशन ऑफ़ द विमेंस क्वेश्चन', *इकनॉमिक ऐण्ड पॉलिटिकल वीकली*, 35, 11 मार्च, 2000, पृ. 902-920.

अपर्णा बासु व भारती रे, विमें*स स्ट्रगलः ए हिस्ट्री ऑफ़ दि ऑल इंडिया विमेंस कॉन्फ़्रेंस*, 1927-1990, नई दिल्ली, मनोहर, 1990.

उर्वशी बुटालिया, *दि अदर साइड ऑफ़ सायलेंस*, हार्स्ट ऐण्ड कंपनी, लंदन, 2000.

दीपेश चक्रवर्ती, 'ट्रैफ़िकिंग इन हिस्ट्री ऐण्ड थ्यॉरीः सबॉल्टर्न स्टडीज़', रूथवेन केनेथ नोवेल्ज़ (सं.) *बियॉन्ड द डिसिप्लिन्सः द न्यू ह्यूमैनिटीज़*, ऑस्ट्रेलियन एकेडमी ऑफ़ ह्यूमैनिटीज़, कैनबरा, 1991.

दीपेश चक्रवर्ती, 'द डिफ़रेंस-डेफ़रल ऑफ़ अ कॉलोनियल मॉडर्निटी; पब्लिक डिबेट्स ऑन डोमेस्टीसिटी इन ब्रिटिश बंगाल', डेविड आर्नल्ड एवं डेविड हार्डिमैन (सं.) *सबॉल्टर्न स्टडीज़ VIII एसेज़ इन ऑनर ऑफ़ रणजीत गुहा*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1994.

दीपेश चक्रवर्ती, 'मायनॉरिटी हिस्ट्रीज़ सबॉल्टर्न पास्ट्स', *इकनॉमिक ऐण्ड पॉलिटिकल वीकली*, 33, 28 फरवरी, 1998, पृ. 473-77.

रॉबर्ट विलियम कॉनेल, 'द स्टेट जेंडर सेक्शुअल पॉलिटिक्सः थ्यॉरी ऐण्ड एपरेज़ल', *थ्यॉरी ऐण्ड सोसायटी*, 19, 1990, पृ. 507-44.

पार्थ चटर्जी, *नैशनलिस्ट थॉट ऐण्ड द कॉलोनियल वर्ल्डः ए डेरिवेटिव डिस्कोर्स*, यूनाइटेड नेशंस युनिवर्सिटी के लिए ज़ैड द्वारा प्रकाशित, लंदन, 1986.

पार्थ चटर्जी, 'द नैशनलिस्ट रेज़ोल्यूशन ऑफ़ द विमेन्स क्वेश्चन', कुमकुम संगारी एवं सुदेश वैद (सं.) *रीकास्टिंग विमेनः एसेज़ इन कॉलोनियल हिस्ट्री*, नई दिल्ली, काली फ़ॉर विमेन, 1989.

पार्थ चटर्जी, 'ए रिलिजन ऑफ़ अर्बन डोमेस्टिसिटीः श्री रामकृष्णा ऐण्ड द कैलकटा मिडिल क्लास', पार्था चटर्जी एवं ज्ञानेंद्र पांडे (सं.) *सबॉल्टर्न स्टडीज़ः राइटिंग्ज़ ऑन साउथ एशियन हिस्ट्री ऐण्ड सोसायटी*, खंड 7, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1992.

पार्थ चटर्जी, *द नेशन ऐण्ड इट्स फ़्रैगमेंट्सः कॉलोनियल ऐण्ड पोस्ट कॉलोनियल हिस्ट्री*, प्रिंस्टन युनिवर्सिटी प्रेस, एनजे, 1993.

हलिडे एडिब, *इनसाइड इंडिया*, जॉर्ज ऐलन ऐण्ड अनविन, लंदन, 1993.

रीटा फ़ेल्स्की, *द जेंडर ऑफ़ मॉडर्निटी*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, एमए 1995.

जेराल्डीन फ़ॉर्ब्स, *द न्यू केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया IV.2. विमेन इन मॉर्डन इंडिया*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस 1996.

एडवर्ड मॉर्गन फ़ॉर्स्टर, 'लेटर टू फ्लौरेंस बर्जर', *सेलेक्टेड लेटर्स ऑफ़ ई.एम. फ़ॉर्स्टर V.1. 1879-1920* (सं.) मैरी लेगो एवं फिलिप्स निकोलस फ़रबैंक, कॉलिंस, लंदन, 1912.

मिशेल फूको, 'टू लेक्चर्स' i) 7/1/76, मिशेल फूको, *पॉवर/नॉलेजः सेलेक्टेड इन्टर्व्यूज़ ऐण्ड अदर राइटिंग्स 1972-77* (सं. एवं अनु.) कॉलिन गॉर्डन, हार्वेस्टर प्रेस, ब्राइटन, 1980.

रिचर्ड फ़ॉक्स, 'गांधी ऐण्ड फेमिनाइज़्ड नैशनलिज़्म इन इंडिया', ब्रैकेट विलियम्स (सं.) *विमेन आउट ऑफ़ प्लेसः द जेंडर ऑफ़ एजेंसी ऐण्ड द रेस ऑफ़ नैशनैलिटी*, रटलेज, लंदन, 1996.

मोहनदास करमचंद गांधी, 'स्पीच ऐट मीटिंग ऑफ़ मिल हैंड्स', अहमदाबाद, 1920, पुष्पा जोशी, *गांधी ऑन विमेन*, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1988.

मोहनदास करमचंद गांधी, 'टेयर डाउन द पर्दा', 1927, पुष्पा जोशी, *गांधी ऑन विमेन*, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1988.

मोहनदास करमचंद गांधी, 'द फंक्शन ऑफ़ विमेन', 1928 ए, पुष्पा जोशी, *गांधी ऑन विमेन*, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1988.

मोहनदास करमचंद गांधी, 'लेटर टू डॉ. एम.ए. अंसारी', 1928 बी, पुष्पा जोशी, *द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ़ महात्मा गांधी खंड 41*, पब्लिकेशन डिविज़न, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली, 1988.

मोहनदास करमचंद गांधी, 'दि अंसारी धर्मशाला', 1931, *द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ़ महात्मा गांधी खंड 51*, पब्लिकेशन डिविज़न, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली.

रोज़मेरी मैरॉन्गॉली जॉर्ज, *द पॉलिटिक्स ऑफ़ होमः पोस्टकॉलोनियल रीलोकेशंस ऐण्ड ट्वैंटिएथ-सेंचुरी फ़िक्शन*, बर्कले, सीए, युनिवर्सिटी ऑफ़ केलिफ़ोर्निया प्रेस, 1999.

जेमी बैक्स्टर एवं जॉन आइल्स, 'इवैल्युएटिंग क्वालिटेटिव रिसर्च इन सोशल ज्यॉग्रफ़ीः एस्टेब्लिशिंग "रिगर" इन इंटरव्यू एनैलिसिस', *ट्रांज़ेक्शन ऑफ़ दि इंस्टीट्यूट ऑफ़ ब्रिटिश ज्यॉग्रफ़र्स*, 22, 1996, पृ. 505-525.

इंद्रपाल ग्रेवाल, *होम ऐण्ड हैरमः नेशन, जेंडर, एम्पायर, ऐण्ड द कल्चर्स ऑफ़ ट्रैवेल*, लेस्टरशर युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1996.

मेरी हेंकॉक, 'होम साइंस एंण्ड द नैशनलाइज़ेशन ऑफ़ डोमेस्टीसिटी इन कॉलोनियल इंडिया', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़*, 35, 2001, पृ. 871-903.

मुशीरुल हसन, *एम.ए. अंसारी*, पब्लिकेशन डिविज़न, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली, 1995.

बॉनी हॉनिग, 'डिफ़्रेंट डिलेमाज़ ऐण्ड द पॉलिटिक्स ऑफ़ होम', *सोशल रिसर्च*, 61, 1994, पृ. 563-597.

बेल हुक्स, *रेस, जेंडर ऐण्ड कल्चरल पॉलिटिक्स*, टर्नअराउंड, लंदन, 1991.

लूस इरीगारे, *ऐलीमेंटल पैशंस*, जोन कॉली एवं जुडिथ स्टिल (अनु.), लंदन, एथलॉन, 1992.

पैट्रीशिया जेफ़्री, *फ़्रॉग्स इन ए वेलः इंडियन विमेन इन पर्दा*, लंदन, ज़ेड प्रेस, 1979.

डेनिज़ कांदीओती, 'आइडेंटिटी ऐण्ड इट्स डिस्कंटेंट्सः विमेन ऐण्ड द नेशन्स', *मिलेनियम*, 20, 1991, पृ. 429-43.

डेनिज़ कांदीओती, गेस्ट एडिटर्स इंट्रोडक्शन 'दि ऑक्वर्ड रिलेशनशिपः जेंडर ऐण्ड नैशनलिज़्म', *नेशन्स ऐण्ड नैशनलिज़्म*, 6, 2000, पृ. 491-94.

लीला कस्तूरी और वीना मजुमदार, *विमेन ऐण्ड इंडियन नैशनलिज़्म*, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2000.

त्रिलोकी नाथ कौल, *अरुणा आसफ़ अलीः अ प्रोफ़ाइल*, लाँसर इंटरनैशनल, नई दिल्ली, 1994.

मधु किश्वर, *गांधी ऐण्ड विमेन*, मानुषी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994.

नीता कुमार, इंट्रोडक्शन, *विमेन ऐज़ सब्जेक्ट्सः साउथ एशियन हिस्ट्रीज़*, शार्लेट्सविले, वीए, युनिवर्सिटी प्रेस ऑफ़ वर्जीनिया, 1994.

राधा कुमार, *द हिस्ट्री ऑफ़ डूइंगः एन इलस्ट्रेटेड एकाउंट ऑफ़ मूवमेंट्स फ़ॉर विमेंज़ राइट्स ऐण्ड फ़ेमिनिज़्म इन इंडिया*, वर्सो, लंदन, 1993.

शाहीदा लतीफ़, *मुस्लिम विमेन इन इंडियाः पॉलिटिकल ऐण्ड प्राइवेट रिऐलिटी*, काली फ़ॉर विमेन, नई दिल्ली, 1990.

डेविड लडेन, *रीडिंग सबॉल्टर्न स्टडीज़ः क्रिटिकल हिस्ट्री*, कॉटेस्टेड मीनिंग, ऐण्ड द ग्लोबलाइज़ेशन ऑफ़ साउथ एशिया, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली, 2001.

राजन महान, *विमेन इन इंडियन नैशनल कॉङ्ग्रेस*, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर, 1999.

डारिन मैसी, *स्पेस, प्लेस ऐण्ड जेंडर*, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज, 1994.

तमार मायर, जेंडर आयरनीज़ ऑफ़ नैशनलिज़्मः सेटिंग द स्टेज, तमार मायर (सं.) *जेंडर आयरनीज़ ऑफ नैशनलिज़्मः सैक्सिंग द नेशन*, रटलेज, लंदन, 2000.

लिंडा मैक्डॉवेल, *जेंडर, आइडेंटिटी ऐण्ड प्लेसः अंडरस्टेंडिंग फ़ेमिनिस्ट ज्यॉग्रफ़ीज़*, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज 1999.

निवेदिता मेनन, *जेंडर ऐण्ड पॉलिटिक्स इन इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1993.

गेल मिनो, 'बेगमती ज़ुबानः विमेंस लैंग्वेज़ ऐण्ड कल्चर इन नाईटींथ सेंचुरी डेल्ही', *इंडिया इंटरनैशन क्वार्टर्ली*, 11, पृ. 155-71, 1984.

आशिस नंदी, *इंटीमेट एनिमी, लॉस ऐण्ड रिकवरी ऑफ़ सेल्फ़ अंडर कॉलोनियलिज़्म*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1983

आशिस नंदी, 'विमेन वर्सेज़ विमेनलीनैस : ऐन एसे इन स्पेक्यूलेटिव सायकोलॉजी', बलराम नंदा (सं.) *इंडियन विमेन : फ़्रॉम पर्दा टू मॉडर्निटी*, संगम बुक्स, लंदन, 1990.

रोज़ालिंड ओ'हैनलन, 'रिकवरिंग द सब्जेक्टः सबॉल्टर्न स्टडीज़ ऐण्ड हिस्ट्रीज़ ऑफ़ रेज़िस्टेंस इन कॉलोनियल साउथ एशिया', विनायक चतुर्वेदी (सं) *मैपिंग सबॉल्टर्न स्टडीज़ ऐण्ड द पोस्टकॉलोनियल*, वर्सो, लंदन, 2000.

फ़्रेंचेस्का ओर्सीनी, *द हिन्दी पब्लिक स्फ़ीयरः लैंग्वेज़ ऐण्ड लिटरेचर इन द एज ऑफ़ नैशनलिज़्म*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 2002.

ज्ञानेंद्र पांडे, 'वॉयसेज़ फ़्रॉम दि एजः द स्ट्रगल टू राइट सबॉल्टर्न हिस्ट्रीज़', *एथ्नॉस*, 60, 1995, पृ. 223-42.

सुजाता पटेल, 'कंस्ट्रक्शन ऐण्ड रीकंस्ट्रक्शन ऑफ़ विमेन इन गांधी', *इकनॉमिक ऐण्ड पॉलिटिकल वीकली*, 23, 1988, पृ. 377-87.

राबर्ट पर्क्स एवं एलीस्टेयर थॉमसन, *दि ओरल हिस्ट्री रीडर*, रटलेज, लंदन, 1998.

ज्ञान प्रकाश, 'राइटिंग पोस्ट-ओरिएंटलिस्ट हिस्ट्रीज़ ऑफ़ द थर्ड वर्ल्डः पर्सपेक्टिव्ज़ फ़्रॉम इंडियन हिस्टोरियॉग्रफ़ी', *कम्पैरेटिव स्टडीज़ इन सोसायटी ऐण्ड हिस्ट्री*, 32, 1990, पृ. 383.

जेराल्डीन प्रैट, 'ज़्यॉग्रफ़िक मेटाफ़र्स इन फेमिनिस्ट थ्यॉरी', सुसन हार्डी ऐकन, एन ब्रिगमेन एवं सैली ए. मार्थसन (सं.) *मेकिंग वर्ल्डः जेंडर, मेटाफ़र, मेटेरियेलिटी*, ऐरिज़ोना युनिवर्सिटी प्रेस, टक्सन, ऐरिज़ोना, 1998.

सारा ए रैडक्लिफ़, एम्बॉडीइंग नैशनल आइडेंटिटीज़ः 'मेस्तिज़ो मैन ऐण्ड व्हाइट विमेन इक्वेडोरियन रेशियल — नैशनल इमैजिनरीज़', *ट्राज़ैक्शन ऑफ़ दि इंस्टीट्यूट ऑफ़ ब्रिटिश ज़्यॉग्रफ़र्स*, 24, 1999, पृ. 213-25.

जी.जी. रहेजा, एवं ए.जी. गोल्ड, *लिसन टू द हेरोंस वर्ड्सः रीइमेजिनिंग जेंडर ऐण्ड किनशिप इन नॉर्थ इंडिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ॉर्निया प्रेस, सीए, बर्कले, 1994.

सीता रणछोड़-निल्सन, एवं मेरी एन. तैत्रो, (सं.), *विमेन, स्टेट्स ऐण्ड नैशनलिज़्मः ऐट होम इन द नेशन?* रटलेज, लंदन, 2000.

जिलियन रोज़, 'ऐज़ इफ़ द मिरर्स हैड ब्लेडः मैस्क्युलिन ड्वेलिंग, मैस्क्युलिनिस्ट थ्यॉरी ऐण्ड फ़ेमिनिस्ट मैस्करेड', नैंसी डंकन (सं.) *बॉडी स्पेसः डीस्टेबीलाइज़िंग ज्याग्रफ़ीज़ ऑफ़ जेंडर सैक्शुऑलिटी*, रटलेज, लंदन, 1996.

तनिका सरकार, 'ऑर्थोडॉक्सी, कल्चरल नैशनलिज़्म ऐण्ड हिन्दुत्व वायलेंसः एन ओवरव्यू ऑफ़ द जेंडर आइडियोलॉजी ऑफ़ द हिंदू राइट', रूथ रोश पियर्सन (सं.) *नेशन, एम्पायर, कॉलनीः हिस्टॉरिसाइज़िंग, जेंडर ऐण्ड रेस*, इंडियाना युनिवर्सिटी प्रेस, इंडियाना, ब्लूमिंगटन, 1998.

युआन पी. शार्प, 'जेंडर्ड नेशनहुडः ए फ़ैमिनिस्ट एंगेजमेंट', नैंसी डंकन (सं.) *बॉडीस्पेसः डीस्टेबीलाइज़िंग ज़्याग्रफ़ीज़ ऑफ़ जेंडर सैक्शुऑलिटी*, रटलेज, लंदन, 1996.

मैडलीन स्लेड, *द स्पीरिट्स पिल्ग्रिमेज*, लॉंगमैन, लंदन, 1960.

तार्लो एम्मा, *क्लोदिंग मैटर्सः ड्रेस ऐण्ड आइडेंटिटी इन इंडिया*, हर्स्ट ऐण्ड कंपनी, लंदन, 1996.

सुरुचि थापर ब्यॉरकर्ट एवं लुईज़े रियान, 'मदर इंडिया/मदर आयरलैंडः कम्पेरेटिव जेंडर्ड डायलॉग्स ऑफ़ कॉलोनियलिज़्म ऐण्ड नैशनलिज़्म इन दि अर्ली ट्वैंटिएथ सैंचुरी', *विमेंस स्टडीज़ इंटरनैशनल फ़ोरम*, 25, पृ. 301-13.

कमला विश्वेश्वरण, 'स्मॉल स्पीचेज़, सबॉल्टर्न जेंडरः नैशनलिस्ट आयडियॉलॉजी ऐण्ड इट्स हिस्टोरियॉग्रफ़ी', शाहिद अमीन एवं दीपेश चक्रवर्ती (सं.) *सबॉल्टर्न स्टडीज़ : राइटिंग्स ऑन साउथ एशियन हिस्ट्री ऐण्ड सोसाइटी*, खण्ड 9, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1996.

आयरिश यंग मेरियन, *इंटरसेक्टिंग वॉयसेज़ः डिलेमा ऑफ़ जेंडर, पॉलिटिकल फ़िलासफ़ी ऐण्ड पॉलिसी*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, एनजे, प्रिंसटन, 1997.

सन् 47 से उबरती दिल्ली की 'रिफ़्यूजिनें'

अंजलि भारद्वाज

{1947 के अगस्त में} पंजाब के खेत लहू के रंग में रंग गए थे। अगस्त 1947 से पहले इक्का-दुक्का शरणार्थी ही आते दिखाई देते थे मगर अब रेले के रेले चले आ रहे थे...। उन रेलगाड़ियों, कारवाँओं और ट्रकों के बेड़े में एक ऐसा नया ज़हर भरा हुआ था जिसने पूरे महाद्वीप को अपने आग़ोश में ले लिया। ये ज़हर आज भी ज़िंदगी को नेस्तनाबूद करने की कुव्वत रखता है।[1]

सन् सैंतालीस में देश के बँटवारे ने एक इंसानी तबाही और त्रासदी को जन्म दिया। यह विच्छेद का क्षण था। यह लम्हा एक शासनकाल (औपनिवेशिक ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य) के ख़ात्मे और दो नई क़ौमों — भारत और पाकिस्तान — की पैदाइश का गवाह था। इसके बावजूद यह लम्हा इतने नागाह और इस अंदाज़ में सामने आया कि उसने फ़ौरी मुस्तक़बिल के तमाम अंदाज़ों को झुठला कर रख दिया।

पार्टीशन, विभाजन, बँटवारा या तक़्सीम — इन अल्फ़ाज़ के बहुत गहरे मानी है। लोग रातोंरात बँट गए, दोस्त दुश्मन हो गए, अपना ही घर अजनबी दिखने लगा। अगर अमिताभ घोष के बार-बार उद्धृत किए जाने वाले अल्फाज़ में कहें तो करोड़ों लोगों के पास "घर नहीं बल्कि सिर्फ़ उनकी यादें बची थीं।"[2]

पलक झपकते ही पुरानी पहचानें बेमानी हो गईं, उन्हें नए सिरे से समझने-अपनाने और एक बार फिर परिभाषित करने का सिलसिला शुरू हो गया। 1947-48 में एक बार ऐसा भी लगा कि बहुत सारे लोग अपनी पहचान के तमाम दूसरे पहलुओं — संस्कृति, भूगोल, भाषा, वर्ग आदि — के मुक़ाबले एक ख़ास पहलू, यानी मज़हब का जमकर फ़ायदा उठा रहे हैं।

बँटवारे ने ऐसे हालात में असंख्य अनिश्चितताओं को जन्म दे दिया जहाँ ख़ून-ख़राबा और हिंसा ही एकमात्र यक़ीनी चीज़ दिखाई देती थी। जो लोग अब तक हिंसा को गहरे तौर पर नापसंद करते थे, उससे हर सूरत में दूर रहते थे, अब उन्हें ऐन अपने भीतर ही हिंसा सिर उठाती दिखाई देने लगी। क़ानून-व्यवस्था के ध्वंस के हालात में चीज़ें बहुत तेजी से बदल रही थीं। 'हमलावर' पलक झपकते ही 'पीड़ित' और 'पीड़ित' पलक झपकते ही 'हमलावर' बन रहे थे। इससे भी अहम बात ये थी कि अकसरहाँ हमलावर भी ख़ुद को पीड़ित के रूप में देखते थे और अपने आपको ये झूठी दिलासा देने की कोशिश कर रहे थे कि वह जो कुछ कर रहे हैं, आत्मरक्षा में कर रहे हैं।

भारत के दस्तावेज़ी यानी दर्जशुदा इतिहास में देश के बँटवारे की तारीख़ अगस्त 1947 में मानी जाती है। मगर 'राजनीतिक' मोर्चे पर इससे पहले ही कई दूरगामी घटनाओं की शुरुआत हो चुकी थी। कॉङ्ग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच फ़ासला बढ़ता जा रहा था। जिन्ना, गांधी और नेहरू की बहस तीखी होती जा रही थी। कई दूसरी घटनाएँ इस सिलसिले के साथ और इसके बाद शुरू हो गईं : हिंसा, सामूहिक पलायन, शरणार्थीपन, पुनर्वास। इसके बावजूद, जिसे 'इतिहास' समझा जाता है उसमें बाद वाली घटनाओं को 'कमतर' हैसियत मिलती है —

क्योंकि हममें से ज़्यादातर लोगों की नज़र में इतिहास शायद उसी लम्हे पर आकर ठहर गया था जब हम आज़ाद हुए थे।

इस मुक़ाम पर यह पर्चा एक नई दिशा में बढ़ने की कोशिश का हिस्सा है। इस पर्चे में ये दलील दी गई है कि 1947 में भारत का विभाजन और स्वतंत्रता, ये दोनों घटनाएँ अलग-अलग बातें नहीं थीं बल्कि ये दोनों एक-दूसरे को तय कर रही थीं और दोनों एक-दूसरे का हिस्सा थीं। हालाँकि 'सत्ताधारी' या असरदार सियासतदान आज़ादी के जश्न में डूबे हुए थे मगर 'शरणार्थी' ख़ुद को इस जश्न का हिस्सा नहीं बना पा रहे थे। उनके लिए यह ज़िंदगी और मौत का सवाल था। उनके लिए आज़ादी ज़िंदा रहने की एक नई जद्दोजहद लेकर आई थी। जैसा कि ज्ञान पांडे ने कहा है, "बँटवारे ने ऐसी बहुत सारी धाराओं का रुख़ बदल दिया जो सामान्य रूप से अपनी निश्चित दिशा में बढ़ सकती थीं। बहुत सारे आम लोगों के लिए आज़ादी का मतलब विभाजन के रक्तपात में ही निहित था।"[3]

'आम लोग' के बारे में बात करते हुए यहाँ मैं औरतों के अनुभवों पर ध्यान केंद्रित करना चाहती हूँ। हाल-हाल तक विभाजन के इतिहास को बुनियादी तौर पर उनकी कहानी मर्दों की कहानी के रूप में ही पढ़ी जाती रही है। उसमें मर्दों के तजुर्बों पर ही ज़्यादा ज़ोर रहा है। औरतों को दूसरे दर्जे के ऐसे खिलाड़ियों की हैसियत से देखा जाता था जिनके तजुर्बों का अपना कोई अलग वजूद नहीं था और जो सिर्फ़ मर्दों के आदेशों का पालन कर रही थीं, अपने समुदाय की 'अस्मिता' की रक्षा के लिए उनके सामने समर्पण कर रही थीं। इस पर्चे का मक़सद महिलाओं को इस पूरे वृत्तांत में जाँच के केंद्रबिंदु, विषय और वाहक की हैसियत में देखने का ही है जिससे महिलाओं के अनुभवों को भी उनके विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भ और स्थान पर समझा जा सके। इस ज़रिए यहाँ विभाजन के दौर को एक बृहत्तर 'कैनवस' पर 'चित्रित' करने की कोशिश की गई है। पर्चे का मक़सद इस भ्रम को तोड़ना है कि महिलाओं का इतिहास भी वही है जो पुरुषों का इतिहास है, कि इतिहास में आने वाले अहम पड़ाव महिलाओं पर भी वैसा ही असर डालते हैं जैसा पुरुषों पर डालते हैं। कहने का मतलब यह नहीं है कि औरतों का इतिहास किसी भी सूरत में, कभी भी पुरुषों के इतिहास जैसा नहीं हो सकता। मेरी गुज़ारिश तो बस इतनी सी ही है कि उसे पुरुषों के इतिहास में विलीन नहीं कर दिया जाना चाहिए।[4]

इसी सोच के मद्देनज़र मैंने 1947 के बँटवारे के बाद दिल्ली की 'शरणार्थी' महिलाओं के अनुभवों को अपने अध्ययन का विषय बनाने का फ़ैसला किया है। मैंने अपने अध्ययन में व्यापक हिंसा, अपहरण, बेदख़ली, विस्थापन और सामूहिक पलायन के बीच पुनर्वास, स्थायित्व और पुनर्निर्माण की कोशिशों पर ध्यान केंद्रित किया है।

मैंने 1947 के बाद पंजाब विभाजन की नज़र से दिल्ली की महिलाओं को देखने की कोशिश की है। बंगाल के विभाजन से उपजे अनुभवों से बचकर निकलते हुए मैंने अपने अध्ययन में एक गंभीर ख़ामी छोड़ दी है। मगर विभाजन से जुड़े अनुभवों की यह दूसरी खेप भी इतनी विराट है कि एक बिल्कुल अलग जाँच-पड़ताल और विचार-विमर्श की माँग करती है।

अपने तर्क को आगे बढ़ाने से पहले मैं ठहर कर ये स्पष्ट कर देना चाहती हूँ कि इस क्षण में ऐसे अनुसंधान का अर्थ और प्रासंगिकता क्या है? इस सवाल का जवाब देने के लिए मैं संक्षेप में इतिहास लेखन संबंधी उन बृहत्तर नज़रियों पर विचार करूँगी जिनके दायरे में मेरी यह कोशिश एक बामानी उद्यम बन सकती है।

हालाँकि इतिहास लेखन में इस बात को अर्सा पहले ही मान्यता मिल चुकी है कि भारत का विभाजन बेइंतहा उथल-पुथल, गंभीर विस्थापनों और पुनर्संयोजनों का दौर था। इसके बावजूद, उस ज़माने में लोगों को मिले कड़वे अनुभवों पर ऐतिहासिक शोध की शुरुआत ख़रामाँ-ख़रामाँ और अब जाकर ही हो पाई है। भारत के बँटवारे का अध्ययन करने के लिए ज़रूरी स्रोतों और सामग्री की कोई कमी नहीं है। हमारे पास अधिकृत (सरकारी) रिकॉर्ड, दस्तावेज़, निजी और संस्थागत काग़ज़-पर्चे, राजनीतिक इतिहास, समकालीन लेखन, अख़बार, स्मृतियाँ, संसदीय बहसें और कई विश्लेषणपरक अध्ययन मौजूद हैं।

परंतु जब ऐतिहासिक लेखन पर फ़ोकस किया जाता है तो पता चलता है कि यह लेखन पुरुषों को ही इस पूरी प्रक्रिया के वाहक के रूप में देखने और विभाजन की जड़ के रूप में राज्य की नीतियों, राजनीतिक घटनाओं

और वार्ताओं के अध्ययन तक सीमित होकर रह गया है। यह मुख्य रूप से आरोप-प्रत्यारोपों का इतिहास है जिसमें कारण-कारक और अभिजात्य राजनीतिज्ञों पर ही ज़्यादा फ़ोकस रहा है। मिसाल के तौर पर, राष्ट्रवादी इतिहास लेखन में विभाजन को उस स्वतंत्रता के एक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम या विसंगति के रूप में देखा जाता है जिसके लिए देश भर के लोगों ने साहस और शौर्य के साथ बलिदान दिए थे।

हालाँकि स्वतंत्रता+विभाजन के इस घटनायुग्म में भीषण हिंसा हुई मगर औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक इतिहास में इस हिंसा की भूमिका का अध्ययन करने वाले विद्वानों को उंगलियों पर गिना जा सकता है। जैसा कि ज्ञान पांडेय मानते हैं, "विभाजन के ज़्यादातर इतिहास में हिंसा के इतिहास को बमुश्किल अब जाकर ही संबोधित किया जाने लगा है।"[5] हालाँकि विभाजन की हिंसा अपने आप में बेमिसाल थी, इसके बावजूद आमतौर पर उसे एक ऐसी चीज़ के रूप में देखा जाता रहा है जिसे भारत के शांतिपूर्ण, अहिंसक संघर्ष के इतिहास के बरक्स नहीं रखा जा सकता था। इस हिंसा ने एक मायने में गांधी के खाँटी अहिंसावादी सिद्धांतों की विफलता की ओर इशारा कर दिया है। इसके अलावा, क्योंकि इस हिंसा की ज़िम्मेदारी सभी संबंधित पक्षों — अंग्रेज़, हिंदू, मुसलमान, सिक्ख — पर थी इसलिए उसे ऐतिहासिक रूप से एक विचलन, सामान्यतः अहिंसक ढंग से हासिल की गई स्वतंत्रता के संघर्ष में 'पागलपन' के एक अस्वाभाविक क्षण के रूप में ही देखा जाता रहा है।

इस मौक़े पर विभाजन की राजनीति में अपनी जवाबदेही स्वीकार करने तथा जातीय हिंसा के सिलसिले को संभाल पाने में विफलता के लिहाज़ से अंग्रेज़ों की इस दौर को याद रखने की ज़िम्मेदारी का सवाल भी उठाया जा सकता है। अंग्रेज़ — ख़ासतौर से ब्रिटिश प्रेस, विभाजन के दौरान हुई हिंसा को भारतीयों में सभ्यता के निहित अभाव के सबूत की हैसियत से पेश करते रहे हैं। भारत से विदा हो रहे अंग्रेज़ प्रशासनिक स्तर पर सत्ता का शांतिपूर्ण हस्तांतरण सुनिश्चित नहीं कर पाए — इस बात को अंग्रेज़ सरकार भी याद रखना नहीं चाहती।

वैसे भी सरकारी विचारधारा क़ानून व्यवस्था और सामुदायिक सहअस्तित्व बनाए रखने की ज़रूरत के आधार पर विभाजन के समय हुई हिंसा के प्रकाशित और फ़िल्मी ब्योरों को सेंसर करना ज़रूरी मानती है। सरकार की नज़र में ये चीज़ें सांप्रदायिक भावनाओं को हवा देने या भड़काने का ज़रिया बन सकती हैं। क़ानून व्यवस्था के बारे में यह चिंता और देश के विभिन्न भागों में पैदा हो रहे नए अलगाववादी आंदोलन (भाषाई और क्षेत्रीय) राष्ट्रीय एकता के लिए ख़तरा पैदा कर रहे थे। आंशिक रूप से यह भी एक अहम वजह थी जिसके चलते राज्य तंत्र विभाजन को याद रखने और उसको समझने की कोशिश से बचता जा रहा था। नतीजा, सिर्फ़ आज़ादी का अथक गुणगान जारी था। इस प्रकार, "विभाजन का सवाल भारतीय इतिहास लेखन में अच्छे-ख़ासे समय तक एक 'विरोधाभासी स्थिति' में रहा है — इस लिहाज़ से कि बीसवीं शताब्दी के इतिहास की एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना होते हुए भी यह इतिहास के हाशिये पर जाकर सिमट गया।"[6]

बहरहाल, अस्सी के दशक से इतिहास की दुनिया में एक बदलाव सा आने लगा। तब से सामाजिक इतिहास के कई आयामों पर पहले से कहीं ज़्यादा ध्यान दिया जाने लगा है। इस दौरान जिस बात पर सबसे ज़्यादा ज़ोर दिया गया वह यह थी कि 'इतिहास को नीचे' से भी देखने की ज़रूरत है। इस सिलसिले में 'सबॉल्टर्न स्कूल' के साथ-साथ निम्नवर्ग और जेंडर के नज़रिये से इतिहास का पुनर्लेखन करने वाले इतिहासकारों का भी ज़बर्दस्त योगदान रहा है।[7]

अस्सी के दशक में कई मुक्तिदायी आंदोलनों, ख़ासतौर से नारीवादी आंदोलन में भी एक नया जोश और जज़्बा दिखाई दिया। इतिहासकार स्वतंत्रता आंदोलन और उसके बाद चले नाना सामाजिक-आर्थिक आंदोलनों में औरतों की उपस्थिति को एक बार फिर दर्ज करने लगे।[8]

अस्सी के ही दशक में अत्यंत शक्तिशाली हिंदू (तथा सिक्ख) दक्षिणपंथी आंदोलनों का भी उदय हुआ। यह घटनाक्रम दुनिया भर में कठमुल्लावादी ताक़तों को मिल रही बढ़त के ऐन मुताबिक़ था। और सबसे बढ़कर, इसी दशक में सांप्रदायिक तनावों और हिंसा की एक नई लहर शुरू हुई। मिसाल के तौर पर, 1984 में दिल्ली के सांप्रदायिक हमलों में सिक्ख निशाना बने। 1989 में बिहार के भागलपुर में सैंकड़ों मुसलमान मौत के घाट उतार दिए गए। चंद साल बाद, 1992 में जुनूनी हिंदू धर्मांधों ने अयोध्या स्थित बाबरी मस्जिद ढहा दी। इस

घटना के बाद सूरत, मुंबई और हाल ही में गुजरात में हम सांप्रदायिक हिंसा की अनगिनत घटनाओं के साक्षी बन चुके हैं। इन सारे मौक़ों पर विभाजन की कहानियों और यादों को हमलावरों ने सुनियोजित ढंग से और चुन-चुन कर इस्तेमाल किया है।

इतना ही नहीं, हमारे पास सरहद के दोनों तरफ़ होने वाले रक्तपात की भी असंख्य स्मृतियाँ हैं। वहाँ कभी दंगे के रूप में तो कभी जाति संहार के रूप में, कभी भारत और पाकिस्तान द्वारा छेड़े गए अनधिकृत युद्धों के रूप में तो कभी अधिकृत युद्ध के रूप में असंख्य लोग हिंसा का शिकार बन चुके हैं। कश्मीर घाटी में होने वाली दैनंदिन हिंसा या भारत-पाकिस्तान के बीच हुआ कारगिल युद्ध इसी शृंखला का हिस्सा हैं।

इस प्रकार, हम कभी इस अहसास से आज़ाद नहीं हो पाते कि भारत के सामाजिक-राजनीतिक जीवन पर विभाजन का इतिहास आज भी हावी है। गुजरात में मुसलमानों पर हुए हालिया सांप्रदायिक हमले एक बार फिर इस बात की ओर इशारा करते हैं कि 'विभाजन' को इतनी आसानी से हाशिए पर नहीं सरकाया जा सकता, कि हमारे सामने हर ओर 'विभाजन' बने हुए हैं। हमारे सामने हर तरफ़ उसके गहरे व्यक्तिगत मानी हैं, उससे पैदा हुए विच्छेद का एक गहरा अहसास है, उससे पैदा हुए या और मज़बूत हो गए फ़ासले आज भी लोगों की ज़िंदगी में क़ायम हैं। कहने का आशय यह है कि विभाजन महज एक 'राजनीतिक विभाजन' से कहीं ज़्यादा था और निश्चय ही उससे कहीं ज़्यादा विराट था जो अगस्त 1947 में घटा था। वस्तुतः यह हमारे काल की वो 'अनकही दहशत' है जिसने सरहदों को बाँटने के साथ-साथ 'दिलों को भी चीर कर रख दिया'।

मैं इस गहरे अहसास के साथ ही विभाजन के दौरान महिलाओं के अनुभवों को अध्ययन का विषय बनाने का फ़ैसला ले रही हूँ। इस लेख के दायरे में मैं अपनी तफ़्तीश को इसी बात तक महदूद रखूँगी कि औरतों ने बँटवारे के बाद दिल्ली में अपनी ज़िंदगी को दोबारा ढर्रे पर लाने और उसे टिकाये रखने की चुनौती को किस तरह अंजाम दिया। इस अध्ययन में मैंने मुख्य रूप से मौखिक इतिहास की पद्धतियों — ख़ासतौर से साक्षात्कार और बयानों — का इस्तेमाल किया है मगर साथ ही पुराने और समकालीन अख़बारों, इस विषय पर उपलब्ध किताबों, स्मृतियों, निजी दस्तावेज़ों, संसदीय बयानों, आधिकारिक (सरकारी) और ग़ैर-सरकारी रिपोर्टों, जर्नलों, प्रकाशित दस्तावेज़ों और जनगणना सर्वेक्षणों का भी इस्तेमाल किया है।

विभाजन का एक गंभीर परिणाम विस्थापन, जबरिया पलायन और अफ़रा-तफ़री के रूप में सामने आया। इस घटना के बाद बहुत सारी औरतों को अपने घर-परिवार और साजो-सामान से महरूम हो जाने के बाद पुनर्निर्माण और स्थायित्व प्राप्त करने के एक कठिन काम को अंजाम देना था। हालात इसलिए और भी कठिन थे क्योंकि उनमें से न जाने कितनी औरतों ने इससे पहले घर की चौखट के बाहर कभी पैर भी नहीं रखा था।

हालात, आर्थिक मजबूरी और हर सूरत में घर के पुनर्निर्माण की ज़रूरत ने सभी वर्गों की बहुत सारी औरतों को किसी न किसी ज़रिए से पैसा कमाने और घर की आमदनी में हिस्सा देने के लिए विवश कर दिया। इस पर्चे में विभाजन के बाद दिल्ली की महिलाओं द्वारा जीविकोपार्जन, पुनर्निर्माण और रोज़गार के लिए की गई जद्दोजहद को समझने-बूझने की कोशिश की गई है।

1947 में दिल्ली मोटे तौर पर पुराने शहर की चौहद्दी तक सीमित थी। विभाजन के बाद तक़रीबन 47.5 लाख शरणार्थी भारत आए और उनमें से तक़रीबन 5 लाख ने दिल्ली में आकर डेरा डाल दिया।[9] 1947 तक दिल्ली की आबादी 9.5 लाख थी।[10] विभाजन के समय 3.3 लाख मुसलमान दिल्ली से निकल गए और इस तरह यहाँ की आबादी 6 लाख रह गई।[11] 1951 तक राजधानी आकार के लिहाज़ से काफ़ी फैल चुकी थी (अब यहाँ की आबादी 17.44 लाख थी, जो 1941 की आबादी के मुक़ाबले 90 प्रतिशत ज़्यादा थी), और यहाँ की आबादी में 28.4 प्रतिशत हिस्सा विभाजन के बाद आए शरणार्थियों का था।[12] जैसा कि ज्ञान पांडेय ने कहा है, 1950 और उसके बाद की दिल्ली को राजनीतिक, सांस्कृतिक और यहाँ तक कि जनसांख्यिकीय दृष्टि से भी 'विभाजनोत्तर' शहर कहा जा सकता है।[13]

1947 में पंजाब से आए हिंदू और सिक्ख 'शरणार्थियों' की आमद के साथ दिल्ली की शक्ल-सूरत स्थायी रूप से बदल गई। इनमें से बहुत सारे शरणार्थी नई दिल्ली तक भी जा पहुँचे जो तब तक पुराने शहर का एक

शांत औपनिवेशिक उपनगरीय इलाक़ा हुआ करता था। एडवर्ड लुटियंस के दिशानिर्देश में बीस के दशक में नियोजित और निर्मित दिल्ली की शाही सरकारी इमारतों, चौड़े-चौड़े रास्तों और आलीशान बंगलों को एक स्मारक की सी महत्वाकांक्षा के साथ बनाया गया था। अंग्रेज़ पहले दिन से ही इस शहर को एक आधुनिक शाही शहर — वायसराय के तबोताब और ताक़त की निशानी — की हैसियत में ढालने को बेताब थे। मगर अपने तमाम आडंबर और भव्यता के बावजूद कलकत्ता या बंबई की तुलना में देश की यह राजधानी सरकारी आला अफ़सरों और क्लर्कों की रिहाइश से आबाद बेरंग और ठहरी हुई दिखाई देती थी।

शरणार्थियों के लिए नई दिल्ली का सबसे बुनियादी आकर्षण यह था कि यहाँ शहर के दक्षिणी और पश्चिमी इलाक़ों में बहुत सारी अविकसित ज़मीन ख़ाली पड़ी थी।[14] राजधानी होने के नाते दिल्ली को ज़्यादा सुरक्षित भी माना जाता था और यहाँ राहत शिविर और पुनर्वास कार्य भी बड़े पैमाने पर जारी थे। बहुत सारे लोगों के लिए उत्तर भारत में कारोबार और काम-धंधा जमाने के लिहाज़ से भी दिल्ली ही सबसे अच्छा विकल्प थी। यह पंजाब के पास पड़ती थी, भौगोलिक रूप से बड़ी मुफ़ीद जगह पर स्थित थी और राजधानी तो थी ही। सरहद पर पड़ा अमृतसर दंगों की मार से आहत था, लुधियाना अब तक पूरी तरह विकसित नहीं था और अंबाला में पीने का पानी नहीं था।[15] कुछ सरकारी नौकर तबादले पर दिल्ली आते थे, बहुत सारे जात-बिरादरी के चलते यहाँ आते थे और ज़्यादातर बस इत्तेफ़ाक़ से यहाँ पहुँच जाते थे।

दिल्ली में शरणार्थियों की बाढ़ थी और वे जहाँ जगह मिलती थी, पैर पसार देते थे। "शिविरों, स्कूलों, कॉलेजों, मंदिरों, गुरुद्वारों, धर्मशालाओं, फ़ौजी बैरकों और बाग़ों में उन्हीं की भरमार थी। रेलवे प्लैटफ़ॉर्म पर, सड़क पर, फ़ुटपाथों पर और हर मुमकिन कोने पर वह डेरा डाले बैठे थे।"[16]

आज, महज़ आधी सदी के भीतर दिल्ली — राजधानी शहर — चार गुना फैल चुकी है। कहने को तो नई दिल्ली की ज़्यादातर चौड़ी सड़कें आज भी अपनी जगह हैं और बहुत सारे लंबे-चौड़े बंगलों में अभी भी राजनेताओं, आला अफ़सरों और चोटी के फ़ौजी अहलकारों का ही क़याम है। मगर सुविधा और सत्ता की इस विशिष्ट चौहद्दी के परे नवविकसित इलाक़े और दरबे भी हैं जो नगरपालिका की सीमाओं के पार तक फैल चुके हैं। हालाँकि शहर फैलता जा रहा है मगर नई दिल्ली में एक 'शरणार्थी बस्ती' का ऊबड़-खाबड़पन और मौक़ापरस्त माहौल बना हुआ है। अपनी पुस्तक *दि आइडिया ऑफ़ इंडिया* में सुनील खिलनानी ने दिल्ली में आए कुछ बदलावों को इस प्रकार बयान किया हैः

> विभाजन ने इस शहरी दुनिया पर पहला गंभीर बोझ डाल दिया। उसने आधुनिक शहर के सार्वजनिक स्थानों के अस्तित्व के लिए एक नया ख़तरा पैदा कर दिया। अब तक धार्मिक टकराव शहर के 'पुराने' इलाक़ों तक ही महदूद थे पर अब यह समस्या शहर की हर गली, हर सड़क पर सिर उठाने लगी थी। उसने बेइंतहा तेज़ी से असंख्य बेघरबार लोगों को शहर में लाकर पटक दिया। जिस समाज में क्षेत्रीय गतिशीलता बस नाममात्र को थी (1931 में देश की आबादी में 4 प्रतिशत लोग भी ऐसे नहीं थे जो अपने जन्म के राज्य या प्रांत से बाहर रहते हों) वहाँ विभाजन ने इंसानी तारीख़ में आबादी के सबसे बड़े स्थानांतरण का सिलसिला शुरू कर दिया ...। दिल्ली एक पंजाबी शहर बन गया।[17]

पंजाबी की मशहूर अफ़सानानिगार और कवयित्री अमृता प्रीतम 1947 में दिल्ली आईं। इसके बाद ताज़िन्दगी अपना घर बन जाने वाली इस दिल्ली में आने के पचास साल बाद उन्होंने उस दौर को याद किया :

> तक़्सीम से पहले जब हम लाहौर में थे तो दिल्ली की बड़ी तारीफ़ किया करते थे। हमारी नज़र में यह महान शहर — शांत, सौम्य और ख़ामोश, ऐतिहासिक यादों का शहर था — जहाँ के मशहूर स्मारक बड़ी ख़ामोशी और सुकून से अपने वैभव और वर्चस्व के इतिहास की कहानी उन सबको सुनाते थे जो यह कहानी सुनने को तैयार थे। विभाजन के बाद जब हम यहाँ पहुँचे और जब हमें ये अहसास हुआ कि अब यही शहर हमारा नया घर होने जा रहा है तो हमने अपने दिलों में जो नज़रिये और जो तस्वीर इस शहर की सहेज कर रखी हुई थी उस पर

> लकीरें पड़ने लगीं। जब हम हक़ीक़त से रूबरू हुए तो दिल्ली की जो सपनीली, रूमानी सी तस्वीर हमारे ज़ेहन में थी वो ज़र्द-ज़र्द सी दिखाई देने लगी। उस ज़माने में शरणार्थियों के लिए यह ज़िंदा रहने का सवाल था। हमारे पास कोई विकल्प नहीं था, हमें जो भी जगह मिले, वहीं रहना था और जो भी मिले वही काम करना था। पर, सच कहूँ तो इसके बावजूद मेरा पूरी तरह मोहभंग नहीं हुआ था, बल्कि मैं शुक्रगुज़ार ही महसूस करती थी। हमें अपने ही मुल्क से देश निकाला दे दिया गया था और दिल्ली एवं यहाँ के लोगों ने हमें एक और घर दे दिया।[18]

हालाँकि दिल्ली एक 'रिफ़्यूजिस्तान' में तब्दील हो चुकी थी — क्योंकि इस शहर ने असंख्य उजड़े हुए लोगों को नए घर दिए थे — बहुत सारे लोगों के लिए दिल्ली आने वाले कई सालों तक एक अनजान, अजनबी जगह बनी रही। ख़ासतौर से यहाँ की औरतों के लिए, जिन्हें अपहरण, लूटमार, यौन हिंसा, वैधव्य, मनोवैज्ञानिक एवं भावनात्मक टूटन, और परिवार की तबाही के बावजूद अपनी ज़िंदगी चलानी थी, एक बिल्कुल अजनबी ज़मीन पर ज़िंदा रहने के नए-नए रास्ते ईजाद करने थे — जबकि न तो वह इसके लिए तैयार थीं और न ही इसके लायक़ थीं।

इस प्रकार, हालाँकि तथाकथित 'शासक' वर्ग और विभाजन के सदमे से पूरी तरह अछूते बच गए, बहुत सारे आम लोग भी ख़ुशी-ख़ुशी आज़ादी का जश्न मना रहे थे — बहुत सारे 'शरणार्थियों' की तरह औरतों के लिए, ख़ासतौर से पश्चिमी पंजाब से दिल्ली आई मध्यवर्गीय हिंदू औरतों और दिल्ली की कम संपन्न मुस्लिम आबादी के लिए आज़ादी एक बिल्कुल 'अमूर्त' चीज़ थी।[19] उनके लिए इसका मतलब अपनी जड़ों से उजड़ जाने के अलावा और कुछ नहीं था क्योंकि उसने एक ही झटके में उनकी 'कौटुंबिक सरणियों' को बंद कर दिया था। उनके लिए आज़ादी और विभाजन को अलग-अलग मानना मुश्किल था, उनके लिए ये दोनों एक ही घटना के दो अलग-अलग नाम भर थे। उनके लिए आज़ादी का मतलब था एक ऐसी स्थिति में भी ज़िंदगी बसर करना, ज़िंदगी को नए सिरे से ढर्रे पर लाना, उसे स्थायित्व देना — जहाँ वह अपने घर की चारदीवारी में ही क़ैद थीं। इसीलिए ज्ञान पांडेय ज़ोर देकर कहते हैं, "जिस परिघटना को कुछ लोग 'आज़ादी' का नाम देते हैं वह कभी भी इस विरासत का हिस्सा नहीं थी, बल्कि यह तो विभाजन का रक्तपात ही था जिसने बहुत सारे 'आम लोगों' को आज़ादी के मायने गढ़ने का ज़रिया दे दिया।"[20]

विभाजन को 'राष्ट्रीय विपदा' की घड़ी माना गया।[21] और बेशक यह इस तरह की घटना थी भी, क्योंकि उसने सरकारी तंत्र को सुनियोजित ढंग से अपनी प्रतिक्रिया देने के लिए विवश कर दिया था। चौतरफ़ा हिंसा और घर-बार व रोज़ी-रोटी की तबाही के हालात में औरतों का पुनर्वास न केवल एक फ़ौरी और गहरी ज़रूरत का सबब था बल्कि राज्य की खुद को 'कृपालु' और 'पितृवत' छवि में पेश करने की चाह के लिए भी ज़रूरी था। विभाजन के बाद राज्य ने अपनी जड़ों से उजड़ चुकी औरतों के पुनर्वास का दुरूह काम शुरू कर दिया। इस मक़सद के लिए जगह-जगह ट्रांज़िट कैंप, राहत केंद्र, पुनर्वास गृह, व्यावसायिक प्रशिक्षण केंद्र खोले गए। राहत एवं पुनर्वास मंत्रालय ने जानी-मानी महिला सामाजिक कार्यकर्ताओं की देखरेख में एक 'महिला विभाग' भी क़ायम कर दिया।[22]

महिला विभाग का सबसे बड़ा काम औरतों को आर्थिक परनिर्भरता की क़ैद से आज़ाद कराना और उन्हें किसी न किसी तरह की आर्थिक रूप से उपादेय गतिविधियों से जोड़ना बताया जाता था। उम्मीद की जाती थी कि लंबे दौर में, ख़ासतौर से औरतों को ध्यान में रखकर सोची गई बस्तियाँ विकसित की जाएँगी जिनमें न केवल शरणार्थी औरतों को बल्कि तमाम तरह की बेसहारा औरतों को पनाह मिलेगी। इसीलिए राज्य और केंद्र सरकारों से आग्रह किया गया कि वह बड़े शहरों के आसपास इस 'नए प्रयोग' के लिए खुली और लंबी-चौड़ी ज़मीनें मुहैया कराएँ। जिन औरतों के पास थोड़ी-बहुत शैक्षणिक दक्षता थी उन्हें नर्सिंग, दाईगिरी, अध्यापन, स्टेनोग्राफ़ी, लेखांकन और कार्यालय प्रबंधन जैसे 'उपयोगी व्यवसायों' के प्रशिक्षण देने की योजना बनाई गई। जिनके पास पढ़ाई-लिखाई का ज्ञान बहुत कम या बिल्कुल नहीं था उन्हें कढ़ाई, सिलाई और ऐसे ही दूसरे हुनर सिखाने का फ़ैसला लिया गया। औरतों को व्यावसायिक प्रशिक्षण और रोज़गार मुहैया कराने की योजना के तहत यह महिला विभाग बहुत सारे प्रशिक्षण केंद्रों, शैक्षणिक संस्थानों और स्वैच्छिक एवं सामाजिक संगठनों के साथ मिलकर काम

करता था। इन संस्थानों में टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ सोशल साइंसेज़, श्रम मंत्रालय के दिल्ली स्थित व्यावसायिक प्रशिक्षण केंद्र, कस्तूरबा गांधी मेमोरियल ट्रस्ट और नई दिल्ली स्थित लेडी हार्डिंग मेडिकल कॉलेज आदि प्रमुख थे। प्रशिक्षण प्राप्त कर चुकी महिलाओं को नौकरी दिलाने के लिए श्रम मंत्रालय के रोज़गार कार्यालय के साथ मिलकर एक रोज़गार ब्यूरो भी क़ायम किया गया। मार्च 1949 की एक रिपोर्ट में बताया गया था कि रोज़गार ब्यूरो के ज़रिए 500 औरतें रोज़गार हासिल कर चुकी थीं।[23]

मई 1949 में जब पुनर्वास एवं रोज़गार महानिदेशक ने पुनर्वास कार्यों की समीक्षा की तो रोज़गार निदेशालय में 98,314 आवेदकों के नाम पंजीकृत पाए गए। इनमें से 24,443 को रोज़गार दिया जा चुका था जिनमें से 4,962 यानी 20 प्रतिशत विस्थापित महिलाएँ थीं। इनमें स्कूल में काम करने वाली माई, दर्ज़िन और कपड़े की छपाई (कैलिको प्रिंटिंग) जैसी नौकरियाँ शामिल थीं। प्रशिक्षण महानिदेशालय में पंजीकृत 278 महिलाओं (विस्थापित) को श्रम मंत्रालय के तहत कर्ज़न रोड पर चलने वाले एक प्रशिक्षण केंद्र में प्रशिक्षण दिया जा रहा था।[24]

ज़्यादातर व्यावसायिक एवं तकनीकी उत्पादन व प्रशिक्षण केंद्र फ़रवरी-अगस्त 1948 के बीच खोले गए थे। ये सभी केंद्र पुनर्वास एवं रोज़गार महानिदेशक के तहत आते थे। 1949 में उन्हें पुनर्वास विभाग, दिल्ली प्रशासन की निगरानी में स्थानांतरित कर दिया गया।[25] जल्दी ही इन केंद्रों को काफ़ी लोकप्रियता मिलने लगी।

इन केंद्रों के ज़रिए प्रशिक्षण और रोज़गार पाने की चाह रखने वाली औरतें बहुत थीं। दिल्ली आने के समय रणजीत कौर किशोरावस्था में थीं। वह लायलपुर से अपने पिता का हाथ थामे यहाँ आई थीं। लायलपुर की कैनाल कॉलनीज़ से शरणार्थियों के सबसे बड़े जत्थे निकले थे। इन जत्थों में चार लाख से ज़्यादा लोग थे। रणजीत कौर ने सिर्फ़ पाँचवीं जमात तक और वह भी पंजाबी में तालीम हासिल की थी। अपनी इस मामूली सी पढ़ाई के आधार पर वह कनॉट प्लेस में खोले गए प्रशिक्षण केंद्र में दाख़िला नहीं ले सकती थीं। मगर उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। प्राइवेट पढ़ाई के ज़रिए जल्दी ही उन्होंने आवश्यक योग्यता हासिल कर ली और 1955 में यहाँ प्रशिक्षु के तौर पर दाख़िला पा लिया। आगे चलकर वह चाँदनी चौक केंद्र की प्रधानाचार्या के पद से सेवानिवृत्त हुईं। कुछ ऐसी ही कहानी एक बूढ़ी औरत की थी जिसने अपनी बेटी, बेटों और अपनी बहुओं को अपने सामने मरते देखा था। ज़ाहिर है यह औरत गहरे सदमे में थी। वह निपट अकेली दिल्ली पहुँची थी और आख़िरकार हडसन लाइन, किंग्ज़वे कैंप के एक केंद्र में भर्ती हो गई।[26] सियालकोट से चल कर दिल्ली आई भगवती बनौटा नाम की एक और महिला ने अपना घर चलाने के लिए कालकाजी केंद्र में दाख़िला ले लिया।[27]

पुनर्वास मंत्रालय के विमेन सेक्शन की रिपोर्ट (दिनांक 2 फ़रवरी 1949) के मुताबिक़ बहुत सारी औरतें कार्य एवं प्रशिक्षण केंद्रों से फ़ायदा उठा रही थीं। इस बारे में नीचे दी गई तालिका से और अच्छी तरह अंदाज़ा लगाया जा सकता है।[28]

केंद्र	वेतनभोगियों की संख्या	प्रशिक्षुओं की संख्या
करोल बाग़	500	254
सब्ज़ी मंडी	401	102
पहाड़गंज	260	133
लोदी रोड	180	54
8, सेंट्रल लेन	195	84
कनॉट सर्कस	78	222
महरौली	350	150
हुमायूँ रोड	250	140
बेला रोड	300	106
कुल	2514	1275

सन् 1951 तक दिल्ली में 13 केंद्र खुल चुके थे (जिनमें कालकाजी, मालवीय नगर, शंकर मार्केट, लहना सिंह मार्केट स्थित केंद्र भी शामिल थे)। इन केंद्रों में तक़रीबन 1800 महिलाएँ थीं। हाल ही में खोले गए कुछ नए केंद्रों में महिलाओं से उम्मीद की जाने लगी कि वह सिलाई की मशीन साथ लेकर आया करें। पचास के दशक की शुरुआत में उनकी मासिक आमदनी 12 से 50 रुपए तक थी।[29]

इन केंद्रों की उत्पादन शाखा का मुख्य काम सरकारी और अन्य सार्वजनिक उद्यमों में काम करने वाले कर्मचारियों की वर्दी सीने तक सीमित था। ज़्यादातर शरणार्थी औरतों को इन केंद्रों की उत्पादन शाखाओं में ही काम दिया जा रहा था। मगर धीरे-धीरे बाज़ार में भी उनकी बनाई चीज़ों की बिक्री की गुंजाइश दिखाई देने लगी थी। 1956 में कनॉट प्लेस की मशहूर शरणार्थी हस्तकला दुकान खुली जहाँ बिक्री के लिए पाँच तरह के कढ़ाईदार रेशमी कपड़े और हाथ से बनी चीज़ें बिकने लगीं।

इन केंद्रों की 'प्रशिक्षण शाखाओं' का मक़सद औरतों को सिलाई-बुनाई-कढ़ाई, टाइपिंग, अचार बनाने, टोकरियाँ बनाने, ठप्पे और कपड़े की छपाई, कैलिको छपाई आदि का प्रशिक्षण देना था। कुल मिलाकर लक्ष्य यह था कि औरतों को ऐसे हुनर सिखा दिए जाएँ जिससे वह खुद अपने बूते पर काम-धंधा करने लगें। ऐसी बहुत सारी महिलाओं ने या तो को-ऑपरेटिव सोसायटियों की सदस्यता ले ली या वह स्वतंत्र इकाइयों में काम करने लगीं। इस दौरान औरतों को लेकर बहुत सारी को-ऑपरेटिव सोसायटीज़ शुरू की गईं जो उन्हें रोज़गार के साधन और मौक़े मुहैया कराती थीं। 1949 में राहत एवं पुनर्वास मंत्रालय को सहायक पंजीकार, को-ऑपरेटिव सोसायटीज़ की ओर से एक पत्र लिखा गया जिसमें माँग की गई कि को-ऑपरेटिव सोसायटीज़ को क़र्ज़े देने का इंतज़ाम किया जाए। इस पत्र में महिलाओं की इन को-ऑपरेटिव सोसायटीज़ के नामों का उल्लेख किया गया था[30]:

नाम	महिला कामगारों की संख्या	जगह
विमेन को-ऑपरेटिव इंडस्ट्रियल सोसायटी	135	मेटकाफ़ रोड
महिला उद्योग संघ को-ऑपरेटिव इंडस्ट्रियल सोसायटी	280	क्वींस वे
पुराना क़िला महिला सहकारी उद्योग संघ	150	पुराना क़िला
डेल्ही विमेन लीग रेफ़्यूजी को-ऑपरेटिव सोसायटी	45	कश्मीरी गेट

इस प्रकार राज्य बहुत सारी विस्थापित महिलाओं को उपयोगी प्रशिक्षण और दक्षता उपलब्ध कराते हुए, उन्हें रोज़गार की दुनिया में उतरने के लिए ज़रूरी हुनर से लैस करते हुए घर के मुखिया की तरह मनमाने ढंग से काम कर रहा था। उसकी सारी सरगर्मियों का मक़सद विस्थापित महिलाओं को आर्थिक मुख्यधारा में शामिल करना था। यह एक ऐसा काम था जिसे राज्य शहर की अन्य महिला नागरिकों के लिए नहीं कर सकता था क्योंकि वह स्थिर, व्यवस्थित पितृसत्तात्मक घरों का हिस्सा थीं। समस्या की विशालता को देखते हुए राहत कार्यों, व्यावसायिक प्रशिक्षण एवं उत्पादन केंद्रों का पूरा इंतज़ाम बुनियादी तौर पर 'तदर्थवादी' क़िस्म का ही था।

इन केंद्रों का छिदा-बिंधा प्रशासकीय इतिहास उनके बदलते चरित्र और उनके प्रति सरकार की दुविधा को प्रतिबिंबित करता है। चालीस साल के वक़्फ़े में इन केंद्रों का प्रशासकीय नियंत्रण दो बार केंद्र सरकार से राज्य सरकार के हाथों में गया और केंद्र सरकार ने भी उन्हें चार बार अलग-अलग मंत्रालयों को सौंपा। राज्य तंत्र के भीतर उन्होंने दो अलग-अलग विभागों के नियंत्रण में काम किया। 1957 में तक़रीबन 1000 कामगारों से लैस 13 केंद्रों को वापस केंद्रीय पुनर्वास मंत्रालय को हस्तांतरित कर दिया गया। 1960 में जब मंत्रालय के पश्चिमी विंग को बंद कर दिया गया तो इन केंद्रों को भी कार्य एवं आवास मंत्रालय को सौंप दिया गया। इसके बाद ये केंद्र श्रम मंत्रालय को सुपुर्द किए गए और आख़िर में वह शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय के हवाले कर दिए गए। 1974 तक ये केंद्र समाज कल्याण मंत्रालय के ही अंतर्गत चलते रहे। उस समय तक इन केंद्रों की संख्या 19 हो चुकी थी और उनमें 1075 कामगार थे। इस अवधि में इन कामगारों की औसत मासिक आय 45 रुपए से लेकर 400 रुपए तक होती थी।[31]

1975 में उन्हें एक बार फिर दिल्ली प्रशासन के हवाले कर दिया गया जिसके तहत वह हाल ही तक हुआ करते थे। लेकिन अब इनमें से बहुत सारे केंद्र बंद किए जा चुके हैं और जो अभी भी मौजूद हैं वह जीर्ण-शीर्ण हालत में हैं या ठहराव का शिकार हैं। अब इन्हें दिल्ली सरकार के 'सौतेले बच्चों' की तरह देखा जाता है। इन केंद्रों में रोज़गारशुदा औरतें कठोर अनुशासन में अथक परिश्रम करती थीं। उनके ऊपर वह सारे औपचारिक क़ायदे-क़ानून लागू थे जो समय दर के हिसाब से काम करने वाले कामगारों पर लागू होते हैं। इनमें हर रोज़ 8 घंटे की पाली, सप्ताह में 6 दिन काम, रोज़ाना हाज़िरी और मासिक वेतन जैसे प्रावधान शामिल थे। इन महिलाओं को पक्के कामगारों को मिलने वाले फ़ायदे कभी नहीं मिले। उनकी तनख़्वाह सदा मामूली ही रही और पेंशन का सुख उनमें से किसी को नहीं मिल पाया।

इन केंद्रों में बालवाड़ी का कोई इंतज़ाम नहीं था। जिन मशीनों पर औरतें काम करती थीं वह हाथ से चलने वाली साधारण सिलाई मशीनें थीं। बहुत सारी औरतें लगातार घंटों तक फ़र्श पर झुकी बैठी रहती थीं। बहुत सारे केंद्रों में तो बिजली का इंतज़ाम भी बहुत बाद में ही जाकर हो पाया।

जो राज्य 1947 के बाद इन केंद्रों को शुरू करने के बारे में इतना 'कृपालु' और उत्साही था वह धीरे-धीरे उनके प्रति एक भ्रम और दुविधा का रवैया अपनाने लगा। जैसे-जैसे राज्य की नज़र में 'विभाजन' 'अतीत की कोई चीज़' बनता गया, वैसे-वैसे इन महिलाओं के पुनर्वास के प्रति उसका रवैया भी बदलता चला गया। जैसे ही यह दिखाई देने लगा कि अब विभाजन एक 'बीती कहानी' बन चुका है, वैसे ही कल तक का अतिसक्रिय, पितृवत् राज्य अपनी कथित 'ज़िम्मेदारियों' से पीछे हटने लगा।

सरकार और उसकी दुविधा के अलावा ये केंद्र अपने आप में भी गहरे बदलावों से गुज़र चुके हैं। शुरुआत में तक़रीबन सारे केंद्रों में प्रशिक्षण दिया जाता था मगर ज़्यादा ज़ोर उत्पादन पर ही रहता था। अब उत्पादन की बजाय प्रशिक्षण की ओर ज़्यादा झुकाव होने लगा है। मिसाल के तौर पर, अब इन केंद्रों में टाइपिंग, शॉर्टहैंड, सेक्रेटेरियल प्रैक्टिस और ब्यूटीशियन जैसे नए पाठ्यक्रम (जिनकी अब ज़्यादा माँग है) भी शुरू किए गए हैं। समय के साथ इन केंद्रों में आने वाली महिला कामगारों की पृष्ठभूमि भी बदलती दिखाई देती है। अब इन केंद्रों में उत्तर प्रदेश, राजस्थान और दिल्ली की ऐसी औरतें भी आने लगी हैं जो शरणार्थी नहीं थीं। कुछ बूढ़ी औरतें मर चुकी हैं। कइयों को निजी टेलरिंग के क्षेत्र में बेहतर मौक़े मिल रहे हैं। मगर क्योंकि निजी एजेंसियाँ कुँवारी लड़कियों को काम पर रखने की ज़्यादा कोशिश करती हैं इसलिए यह विकल्प सभी औरतों के लिए उपलब्ध नहीं था। 1989 में पुराने मानकों की तुलना में 300 में से 220-225 महिलाएँ ही शरणार्थी पृष्ठभूमि वाली थीं।[32]

इसी तरह की दुविधा सरकार द्वारा स्थापित की गई को-ऑपरेटिव सोसायटीज़ के मामले में भी दिखाई देती है। रिफ़्यूजी वीमेंस को-ऑपरेटिव सोसायटी को 1949 में विभाजन के कारण विधवा हुई औरतों को रोज़गार मुहैया कराने के लिए स्थापित किया गया था। पचास के दशक में चाँद कोहली नामक एक सामाजिक कार्यकर्ता ने इस सोसायटी को चलाने में एक अहम भूमिका अदा की थी। इस सोसायटी से जुड़ी महिलाएँ आमदनी के लिए मुख्य रूप से सीपीडब्ल्यूडी कर्मचारियों और केंद्र सरकार के तृतीय और चतुर्थ श्रेणी के अस्पतालकर्मियों और डेसू कर्मचारियों की वर्दियाँ तैयार करती थीं। इस को-ऑपरेटिव सोसायटी को इन संस्थाओं से थोक ऑर्डर मिलते थे और काम के स्वरूप और स्तर के आधार पर हर औरत को औसतन 20 रुपए से 60 रुपए माहवार तक वेतन मिलता था।

1949 में रेफ़्यूजी वीमेंस को-ऑपरेटिव सोसायटी, कनॉट प्लेस, में इंडियन ऑयल भवन की पुरानी इमारत में यानी शहर के एक बढ़िया ठिकाने पर स्थित थी। इसमें बहुत सारी महिलाएँ काम करती थीं। शुरुआत में उन्हें सिलाई मशीन, बुकरम, धागा आदि भी को-ऑपरेटिव सोसायटी से ही मिलता था। आगे चलकर साठ के दशक में कुछ महिलाओं से अपनी सिलाई मशीन और बाक़ी चीज़ें मंगाई जाने लगीं। पचास और साठ के दशकों में इस को-ऑपरेटिव सोसायटी में काम कर चुकी प्रेम मन्ना बताती हैं:

> मैं अपना और अपने बच्चों का पेट पालने के लिए इस को-ऑपरेटिव सोसायटी में शामिल हुई थी। मुझे वहाँ शुरू में 50 रुपए माहवार मिलते थे जिसके सहारे मैंने अपने बच्चों को

> पढ़ा-लिखा कर बड़ा किया। उस समय हमारे पास काम करने के लिए अलग-अलग सिलाई मशीनें थीं। मैं पहाड़गंज में रहती थी इसलिए बस पकड़ कर को-ऑपरेटिव सोसायटी तक जाना बड़ा आसान था। साठ के दशक में मशीनों पर बोझ बढ़ने लगा इसलिए कभी-कभी मैं पहाड़गंज से कनॉट प्लेस तक बस में ही अपनी सिलाई मशीन भी लेकर जाने लगी। उस ज़माने में बस का किराया 10 पैसे हुआ करता था। साठ के ही दशक में मेरी तनख़्वाह भी बढ़ी थी — 100 रुपए माहवार...। पर बाद में सोसायटी को काम के ऑर्डर मिलने बंद होने लगे, काम ख़त्म होने लगा, बस का किराया बढ़ गया और हमारी नियमित आमदनी बंद हो गई। सोसायटी छोड़ने के बाद मुझे सरकारी नौकरों की तरह वहाँ से कोई पेंशन नहीं मिली।[33]

पुरानी इंडियन ऑयल बिल्डिंग से अपना सफ़र शुरू करने वाली रिफ़्यूजी वीमेंस को-ऑपरेटिव सोसायटी को बाद में पुराने कॉटेज एम्पोरियम में स्थानांतरित कर दिया गया। अब यह सोसायटी पुराने कॉटेज एम्पोरियम के ऊपर एक छोटे से बरामदे के अलावा और कुछ नहीं बची है। एक ज़माने में सरकारी सहायता से शुरू की गई इस सोसायटी को अब अपने सारे काम चलाने के लिए ज़रूरी अनुदान भी नहीं मिलते। इस को-ऑपरेटिव सोसायटी और उसमें काम करने वाली औरतों की दुनिया भी नाटकीय रूप से बदल चुकी है। सोसायटी की वर्तमान कर्ता-धर्ता मंजीत कौर बताती हैं:

> आज हालात बदल चुके हैं। अब श्रेणी तीन और चार के कर्मचारियों को सामान (कपड़ा) दे दिया जाता है और उनकी सिलाई की ज़िम्मेदारी उन्हीं के ऊपर छोड़ दी गई है। कुछ संस्थानों में तो वर्दी का नियम ही ख़त्म हो गया है...। निजी टेलरिंग एजेंसियों को ठेके दिए जा रहे हैं...। को-ऑपरेटिव सोसायटी अपना मतलब खोती जा रही है, उसकी जगह सिमट गई है। अब वह अपनी असली ज़िम्मेदारी से दूर होती जा रही है। हमारे पास अब ज़्यादा काम नहीं है। यहाँ काम करने वाली औरतों को 'कामगार' की तरह नहीं देखा जाता था बल्कि उन्हें वक़्ती तौर पर सरकार की दया पर पलने वाली औरत की तरह देखा जाता था। अब हमें सिर्फ़ प्राइवेट ऑर्डर (इकाई दर पर) मिलते हैं। इस बात का भी कोई भरोसा नहीं रहता कि ऑर्डर कब मिलेंगे और कब तक मिलते रहेंगे। काम इतना कम है कि उससे गुज़ारे के लिए भी आमदनी नहीं हो सकती।[34]

यानी, को-ऑपरेटिव सोसायटी में काम करने वाली महिलाओं को 'शरणार्थी' या दया और दान पर आश्रित बेसहारा औरत के रूप में देखा जाता था। इन औरतों को ऐसी कामगार नहीं माना जाता था जिन्होंने अपने घर-बार को दोबारा बनाया-बसाया और सरकार के लिए उत्पादन में हिस्सा दिया है। राज्य ने इस काम से हाथ खींच लेने का रास्ता अपने लिए हमेशा खुला रखा है। इज़्ज़त के साथ ज़िंदगी जीने की चाह रखने वाली इन औरतों के प्रति अपनी "राष्ट्रीय" ज़िम्मेदारी को छोड़ देने का विकल्प उसके पास हमेशा मौजूद रहा है।

विभाजन के बाद बेसहारा औरतों को रोज़गार मुहैया कराने के लिए सरकारी हस्तक्षेप के अलावा बहुत सारे सामाजिक और स्वैच्छिक संगठनों ने भी अपने-अपने पैमाने पर काम किया। 'सर्वेंट्स ऑफ़ द पीपुल सोसायटी', लाजपत भवन, लाजपत नगर की देख-रेख में रिखी देवी रामदास सूरी नारीशाला (मसाला केंद्र) के नाम से ऐसी ही एक संस्था शुरू की गई थी। "मसाला केंद्र" का जन्म पचास के दशक के आख़िर में इसके अध्यक्ष श्री सेवक राम की कोशिशों से हुआ था। श्री सेवक राम एक तरफ़ तो जनता को शुद्ध, बिना मिलावट और हाथ के पिसे मसाले मुहैया कराना चाहते थे और दूसरी तरफ़ वह बेसहारा, ज़रूरतमंद औरतों को रोज़गार देना चाहते थे।

10,000 रुपए के चंदे और कुल एक लेडी कामगार के साथ शुरू हुए इस केंद्र ने समय के साथ न केवल काफ़ी ताक़त हासिल कर ली थी बल्कि अपने दोनों उद्देश्यों को बख़ूबी पूरा किया। तब से इस केंद्र में काम करने वाली महिलाओं की संख्या सालाना औसतन 18 से 20 रही है। ये महिलाएँ मसालों की पिसाई और पैकिंग करती हैं। इसके अलावा मसाला केंद्र में एक लेडी सुपरवाइज़र, दो लेडी सेल्स असिस्टेंट, एक अकाउंटेंट और एक चपरासी की भी व्यवस्था रहती है।

इस केंद्र में काम करने वाली महिलाएँ मसाले तैयार करती हैं। वह कच्चे माल को सुखाने से लेकर उसकी साफ़-सफ़ाई, पिसाई, पैकिंग तक सारे काम खुद करती हैं। तरह-तरह के 'मसालों' के अलावा वह चने की दाल से बेसन, अंकुरित गेहूँ से दलिया, पापड़, बड़ी, चने, मूँगफली के दाने और मूँग का आटा भी तैयार करती हैं।

इस नारीशाला की मौजूदा सुपरवाइज़र श्रीमती कपूर खुद लाजपत नगर में रहने वाली एक पंजाबी 'रिफ़्यूजी' हैं। वह बताती हैः

> मैंने इस मसाला सेंटर को बिल्कुल बचपन से देखा है। मेरी माँ यहाँ अकाउंटेंट हुआ करती थीं। मैं उनके साथ यहाँ आती रहती थी। यहाँ काम करने वाली औरतों (जिनमें से ज़्यादातर शरणार्थी थीं) की हर ज़रूरत का पूरा ख़याल रखा जाता था। यहाँ न केवल उन्हें सामाजिक सुरक्षा और पर्याप्त लाभ मिलते थे बल्कि उत्पादन उत्प्रेरक, वर्दी आदि सुविधाएँ भी दी जाती थीं। पहले लाजपत नगर, गढ़ी कृष्णा मार्केट, दयानंद कॉलनी जैसे आसपास के इलाक़ों की बहुत सारी पंजाबी औरतें इस सेंटर से लाभ उठाती थीं...। अब उनमें से ज़्यादातर बूढ़ी हो चुकी हैं। कुछ का देहांत हो चुका है। चक्की पर मसाला पीसना बड़ा श्रमसाध्य काम है, इसलिए बूढ़ी औरतें आसानी से इस काम को नहीं कर सकतीं मगर बसंत कौर जैसी कुछ औरतें अभी भी इस केंद्र में पैकिंग करती हैं। अब हम गढ़वाल, राजस्थान और बिहार की ज़रूरतमंद औरतों को भी काम पर रखने लगे हैं। पर इसमें कोई शक नहीं कि इस केंद्र ने बहुत सारी पंजाबी औरतों को ज़िंदा रहने के लिए ज़रूरी ज़रिया मुहैया कराया है।[35]

लाजपत नगर में रहने वाली ब्रज रानी बताती हैः

> मैं इस सेंटर से 1962 में जुड़ी थी। सेवकराम जी बड़े दयालु आदमी थे। मसाला सेंटर में आने से पहले मैं मिठाई बेचती थी और सेवकराम जी के ही घर में नौकरी करती थी। वही मुझे इस सेंटर में लाए थे। मैं मुँह अंधेरे अपने घर के काम निपटाती थी और दिन भर चक्की पर काम करने के बाद घर जाकर फिर काम करती थी। हालाँकि काम बहुत मेहनत का था पर यहाँ मुझे अपने घर जैसा ही अपनापन महसूस होता था। यहाँ हम सारी औरतें मिलकर काम करती थीं, हम सबकी पृष्ठभूमि एक सी थी। कोई मिर्च पीसती थी, कोई हल्दी बनाती थी। कई बार दो औरतें मिलकर चक्की चलाने लगती थीं। काम के बदले मुझे पूरा पैसा मिलता था जिसके सहारे मैंने अपना परिवार चला लिया। उसी तनख़्वाह से मैंने लाजपत नगर में अपना छोटा सा मकान भी ख़रीद लिया। अब मैं अस्सी पार कर चुकी हूँ, मुझमें रोज़ इस सेंटर तक आने की ताक़त अब नहीं बची है। फिर भी मुझे आमदनी का ज़रिया ख़त्म हो जाने का अहसास तो रहता ही है। मैंने कभी किसी की दया नहीं ली। लेकिन अब मुझे पैसे के लिए अपने बेटों के सामने हाथ फैलाना पड़ता है। मैंने तो जो कुछ भी कमाया था, उसे यह घर ख़रीदने और बच्चों की पढ़ाई-लिखाई पर सर्फ़ कर दिया। अब मेरे पास कुछ नहीं बचा। आज भी मैं कूंडा डंडा लेकर घर पर मसाला कूटती हूँ और घर में ही बड़ियाँ बनाकर उन्हें अपने पड़ोसियों, दोस्तों और रिश्तेदारों को देती हूँ।[36]

इन दोनों संस्मरणों में निहित नितांत व्यक्तिगत ब्योरों के आधार पर यही पता चलता है कि बँटवारे के बाद औरतों ने अपनी ज़िंदगी को नए सिरे से ढर्रे पर लाने के लिए किस-किस तरह के रास्ते अपनाए थे। ऐसी सभी औरतों को सरकारी तथा सामाजिक एवं स्वैच्छिक संगठनों की मदद नहीं मिली थी। उदाहरण के लिए, दुर्गा देवी बाड़ा हिंदू राव में ज्ञानचंद नाम के एक व्यवसायी के पास काम करके अपना परिवार चलाती थीं। साक्षात्कार के दौरान उन्होंने बतायाः

> बँटवारे के बाद मैं अपनी शादीशुदा बहन और उसके परिवार के साथ कोठी मेम में रहा करती थी। जिस गली में हमारा घर था, उसी गली में ज्ञानचंद अपने घर में एक छोटा सा कारख़ाना चलाया करते थे। 'टायर मार्केट' के पास स्थित उनके कारख़ाने में बोरों और छोटे-छोटे थैलों

> पर स्क्रीन प्रिंटिंग का काम होता था। ज्ञानचंद सदर के थोक बाज़ार से काम लाते थे। मैं और कुछ दूसरी औरतें बोरों पर छपाई के लिए रंग तैयार करती थीं। हम सौ-सौ बोरों के बंडल बनाती थीं, उनमें गाँठ लगाती थीं और उनकी सिलाई करती थीं। ज्ञानचंद से मुझे जो पैसा मिलता था उसी से मैंने अपने दोनों बेटों को पढ़ाया-लिखाया और अपनी बेटी के हाथ पीले किए। शुरुआत में मैं अपनी बहन के घर ख़र्च में भी मदद देती थी। बाद में जब मेरे बेटे बड़े हो गए तो बेरी वाले बाग़ में मैंने अपना मकान ख़रीद लिया। सत्तर के दशक में जब ज्ञानचंद ने अच्छा पैसा बना लिया तो उन्होंने अपना कारख़ाना वज़ीरपुर औद्योगिक इलाक़े में एक बड़ी जगह पर खोल दिया। तब तक उनके बच्चे भी बड़े हो चुके थे, परिवार फैल चुका था और काम बढ़ चुका था। बाद में उनका पूरा परिवार ही बाड़ा हिंदू राव से निकल कर न्यू रोहतक रोड पर नए मकान में चला गया। वज़ीरपुर में नया कारख़ाना खुलने के बाद ज़्यादा निपुणता वाला काम होने लगा और प्रशिक्षित मज़दूर रखे जाने लगे। पहले जो औरतें काम करती थीं, अब उनकी वहाँ कोई ज़रूरत नहीं थी। वैसे भी वज़ीरपुर मेरे घर से बहुत दूर पड़ता था। कारख़ाना शिफ़्ट होने के बाद मैं ज़्यादातर घर पर ही रहने लगी। बाद में मेरे एक बेटे को इसी कारख़ाने में काम मिल गया और वहाँ से तजुर्बा हासिल करके बाद में उसने डाई बनाने का अपना धंधा शुरू कर दिया।[37]

इसी तरह कैलाश रानी ने कालकाजी मंदिर में भक्तों को मालाएँ और पूजा की चीज़ें बेच-बेच कर अपनी ज़िंदगी चलाई। कैलाश रानी की कहानी इस प्रकार हैः

> हम झेलम से दिल्ली आए थे। हमारे पास कोई माल-असबाब नहीं था। हमें इसका कोई इल्म नहीं था कि अब ज़िंदगी कैसे कटेगी। वहाँ तो मैंने कोई काम भी नहीं सीखा था इसलिए यहाँ मैं किसी नौकरी के लायक़ नहीं थी। मेरे तीन बच्चे थे और चौथा पेट में था। मेरे पति ने कालकाजी में एक छोटी सी दुकान खोल ली थी मगर उससे भी हमें कुछ हाथ नहीं लग पाता था...। सदा यही लगता रहता था कि हमारी कोई कोशिश क़ामयाब नहीं हो सकती..। मैं बिल्कुल टूट चुकी थी। तब मैं अकसर कालकाजी मंदिर जाती रहती थी। वहीं एक बार हमें अपने एक पुराने परिचित टकरा गए जो अब चिराग़ दिल्ली में रहते थे। वह कालका मंदिर के पंडितों और अधिकारियों को जानते थे। उनके ज़ोर देने पर मैं गेंदे, मोगरा और गुलाब के फूलों की मालाएँ बनाकर मंदिर के बाहर बेचने लगी। बाद में मैं रेहड़ी पर मालाएँ, माँ का सिंगार (चूड़ियाँ, सिंदूर आदि), माँ की तस्वीरें, चुन्नी वग़ैरह भी बेचने लगी। ज़िंदगी बहुत कठिन थी...। मैं सवेरे साढ़े तीन बजे उठकर सीधे मंदिर जाती थी। बहुत सारे भक्त माँ के दर्शन के लिए मुँह अंधेरे ही मंदिर पहुँच जाते थे। मैं उन्हीं को अपनी चीज़ें बेचती थी। सुबह की आरती के बाद मैं दोबारा मंदिर का फेरा लगाती थी। ज़िंदगी इसी तरह चलती रही...। 1965 के बाद मैंने वहाँ जाना बंद कर दिया क्योंकि तब तक मेरे आदमी की दुकान भी अच्छी चलने लगी थी और अब मेरा बेटा भी बड़ा हो गया था जो अपने पिता के साथ दुकान पर जाने लगा था। बाद में दोनों ने मिलकर वेल्डिंग का धंधा शुरू कर दिया। पर मैं अब भी उन स्याह दिनों को नहीं भुला पाती जब हर रोज मेरी उंगलियाँ सुन्न पड़ जाया करती थीं। मैं दिन भर मालाएँ जो पिरोती रहती थी। पर मेरे पास कोई चारा भी नहीं था...। आख़िर ज़िंदा भी तो रहना था...।[38]

बहुत सारी औरतें थीं जो औरों के घर में काम करती थीं, आसपास के कारख़ानों में पैकेजिंग का काम करती थीं, दुकानों या मिलों में काम करती थीं, अख़बार बेचती थीं, स्कूलों में पढ़ाती थीं और एक साथ दो-दो तीन-तीन काम करती थीं। आजकल ग्रीन पार्क में रहने वाली मैना ने भी अपने परिवार के लिए दिन रात कठोर परिश्रम किया है। वह बताती हैः

> लाहौर में हमारे पास किसी चीज़ की कमी नहीं थी। लेकिन जब बँटवारा हुआ तो हमारे पास कुछ भी हाथ में उठाने का समय नहीं था। सब लोग डरे हुए थे कि अगर हमारे पास कुछ भी हुआ तो लोग लूट लेंगे। हम कुछ भी साथ लेकर नहीं चल सकते थे इसलिए मैंने अपना सारा सोना और नक़दी अपने घर के पिछवाड़े ज़मीन में गाड़ दिया। मुझे उम्मीद थी कि जब दंगे थम जाएँगे तो हम वापस जाकर अपना गड़ा हुआ ख़ज़ाना ले आएँगे। पर ऐसा वक़्त और मौक़ा तो कभी आया ही नहीं। दिल्ली तक के अपने पूरे सफ़र में हम खुले राहत शिविरों में ठहरते रहे। यहाँ आकर छज्जूराम जी (एक पुराने परिचित) की मदद से हम उनके घर में किराए पर रहने लगे। मेरे पाँच बच्चे थे – दो बेटियाँ और तीन बेटे। इस हादसे से मेरे पति को गहरा सदमा पहुँचा और वह शराब की लत में पड़ गए। बाद में वे झक्की भी हो गये। बच्चों को पालने की सारी ज़िम्मेदारी मेरे ऊपर ही आ गई। मैं छज्जूराम जी और कुछ दूसरे पड़ोसियों के घर में नौकरानी का काम करती थी। सुबह को मैं घर-घर जाकर कपड़े और बर्तन धोती थी। दोपहर बाद मैं स्कूल के बाहर बच्चों को मिठाइयाँ बेचने के लिए फेरी पर निकल जाती थी। शाम को मैं कुछ और घरों में काम करने जाती थी। मुझे सोने के लिए मुश्किल से पाँच घंटे मिल पाते थे। पर मैंने उम्मीद नहीं छोड़ी थी। अब मेरी एक बेटी सफ़दरजंग अस्पताल में डॉक्टर है। मेरे तीनों बेटे पढ़-लिख गए हैं और अच्छा कमा-खा रहे हैं। मेरे पति की 1987 में ही मौत हो चुकी थी पर वह तो मानो पहले ही हमारा साथ छोड़ चुके थे...। मैंने अपने परिवार को पूरी आर्थिक, नैतिक, जज़्बाती ताक़त दी और नब्बे के दशक में संन्यास ले लिया। कुछ समय के लिए तो मैं हरिद्वार में ही जाकर बस गई थी। अब मैं अपनी बची-खुची ज़िंदगी में बस शांति चाहती हूँ...। मैं अपनी ज़िंदगी में बहुत संघर्ष कर चुकी, अब तो बस मैं भगवान के बुलावे का इंतज़ार कर रही हूँ।[39]

हालाँकि मैना ने ज़िंदा रहने के लिए कई रास्ते निकाले और आख़िरकार वह कामयाब भी रहीं मगर दिल्ली आज भी उनके लिए एक पराई जगह है। यहाँ के लोगों को अभी भी वह 'हिंदुस्तानी' ही कहती हैं। उनके लिए घर का मतलब आज भी लाहौर ही है और वह एक बार वहाँ जाना चाहती हैं ताकि पिछवाड़े में वह अपनी जो यादें गाड़ कर चली थीं उन्हें दोबारा अपने सीने से लगा सकें।

लेकिन, हालाँकि मैना जैसी औरतें श्रमसाध्य काम करने के लिए अपनी शारीरिक सीमाओं के दायरे से भी बाहर चली गईं मगर बहुत सारी ऐसी भी थीं जो कल तक सामाजिक रूप से बाहैसियत परिवारों का हिस्सा थीं और अब नए हालात में उन्हें काम पर जाते हुए शर्म महसूस होती थी। बहुत सारी औरतें ज़िंदगी की बंदिशों, बच्चों की ज़िम्मेदारियों की वजह से भी काम के लिए घर की चौखट से बाहर पैर नहीं रख पाईं। भले ही उन्होंने घर से बाहर क़दम नहीं रखा मगर उनमें से कुछ ऐसी ज़रूर थीं जिन्होंने अपने 'स्त्रीधन' के ज़रिए अपने परिवारों की अप्रत्यक्ष रूप से मदद की। लाहौर के मशहूर और संपन्न डॉक्टर श्री रामकृष्ण की पत्नी शांति देवी ने यही रास्ता अपनाया। शांति देवी तो अब हमारे बीच नहीं हैं मगर बँटवारे के वक़्त दस साल के रहे उनके बेटे राजेंद्र मोहन को अब भी वो दिन याद हैंः

> हम लाहौर से दिल्ली आए थे – अपनी तक़रीबन हर चीज़ गँवा कर। हमारे पास कोई आसरा नहीं था। हम सात बच्चे, हमारे माँ-बाप, मेरी विधवा मौसी और उनका बेटा – हम सब पूरी तरह बेसहारा हो चुके थे। पिताजी (डॉ. रामकृष्ण) की समाज में अच्छी उठ-बैठ थी। उनके बहुत सारे रोगी व जान-पहचान वाले भी मुसलमान थे। बल्कि जब हम वहाँ से भागे तो रात को उनके एक मुसलमान दोस्त ने ही आकर बताया था कि कुछ लोग उनके क़त्ल की साज़िश रच रहे हैं। नतीजतन हमें रातोंरात भागना पड़ा। इस हड़बड़ी में हम कुछ साथ नहीं ला सकते थे। फिर भी मेरी माँ ने जैसे-तैसे अपने गहने साथ ले लिए। हम जब यहाँ पहुँचे तो हमारे पास अपना कहने को कोई ठिकाना न था। रिकवरी कैंपों में ज़िंदगी बहुत ख़तरनाक थी। हम लड़कियों और

> औरतों के अपहरण की कहानियाँ आए दिन सुनते रहते थे। तब किसी की मदद से मेरे पिताजी ने सब्ज़ी मंडी में एक छोटी-सी जगह का इंतज़ाम कर लिया। इस कुल जमा एक कमरे और बरामदे में हम 11 जने साथ रहते थे! घर के बग़ल से बदबूदार नालियाँ बहती थीं। मेरी माँ चूल्हे और अंगीठी में खाना बनाती थी। मेरे पिता दोबारा अपनी प्रैक्टिस नहीं जमा पा रहे थे। न तो यहाँ उन्हें कोई जानता था और न उनके पास दुकान खोलने के लिए कोई ठिकाना था। उस वक़्त मेरी माँ ने अपने गहने बेचने की पेशकश की जिससे पिताजी किराए पर जगह लेकर अपनी प्रैक्टिस दोबारा शुरू कर सकें। उन्होंने गहनें बेचकर डीसीएम चौक में एक छोटी सी दुकान किराए पर ले ली और बाद में उसे ख़रीद भी लिया। सब्ज़ी मंडी में रहने के बाद हमने बाड़ा हिंदूराव में मकान लिया जो मुआवज़े के तौर हमें किराए पर मिला था। 1955 में उन्होनें 5,000 रुपए में यह मकान भी ख़रीद लिया। तब तक उनकी प्रैक्टिस ठीक-ठाक चलने लगी थी। लेकिन अगर मेरी माँ के पास गहने न होते तो भगवान ही जानता है हमारा क्या होता?[40]

जहाँ एक तरफ़ शांति देवी ने अप्रत्यक्ष रूप से अपने परिवार को सहायता (आर्थिक) दी वहीं दूसरी तरफ़ बहुत सारी ऐसी महिलाएँ भी थीं जिन्होंने खुद आगे बढ़कर परिवार चलाने और बाद में अपने परिवार के लोगों को काम धंधे में उतारने की ज़िम्मेदारी उठाई। बीबी रामप्यारी की कहानी कुछ इसी तरह की है। उनके लंबे अनुभवों को मैं जरा विस्तार से उद्धत करना चाहती हूँः

> मानो 'बँटवारा' ही काफ़ी नहीं था, मेरी मुश्किलें तब और बढ़ गईं जब पता चलता कि मेरे पति को टीबी है। मेरे चार बच्चे थे और मैं काम करने की सूरत में नहीं थी। मेरा भाई पटेल नगर में था पर उसकी भी अपनी मुश्किलें थीं। इसके बावजूद उसने हमारी मदद की और कुछ समय तक मेरे पति के इलाज का ख़र्चा भी उठाया। बाद में मैंने अपने गहने बेच दिए और भाई से कुछ मदद लेकर राजेंद्र नगर में एक घर ख़रीद लिया। हम नए मकान में तो आ गए मगर हमारे पास आमदनी का कोई पक्का ज़रिया नहीं था। मैं बाहर नहीं जा सकती थी क्योंकि मेरे बच्चों का ख़याल रखने वाला कोई नहीं था। आख़िरकार सोहन पाजी (भाई) भी हमारे लिए कितना कर सकते थे? इसलिए गली में खुलने वाले सामने के कमरे में मैंने एक खोखा 'टक' डाल दिया। हालाँकि मुल्तान में मेरे पिताजी कपड़े के थोक दुकानदार थे पर मुझे तो इस कारोबार का कोई तजुर्बा ही नहीं था। मैं तो विरले ही कभी उनके दुकान पर जाती थी। मुझे उनके कारोबार में कोई दिलचस्पी भी नहीं थी। अपने खोखे में बैठकर सबसे पहले मैं मीठी गोलियाँ और फूल व मछली जैसी बनावट वाली रंग-बिरंगी टॉफ़ियाँ वग़ैरह बेचने लगी। बच्चे बड़े चाव से उन्हें खाते थे। मैं दुकान पर ही अपने बच्चों को खिलाती-पिलाती रहती थी। वहीं बैठ कर मैं उन्हें पढ़ाती (या उनकी पढ़ाई पर नज़र रखती) रहती थी। उनके कपड़ों की सिलाई-कताई भी इसी खोखे में होती थी। मेरा भाई दुकान के लिए थोक बाज़ार से सामान ले आता था। मुझे जो मुनाफ़ा होता था वह बहुत कम था। इधर मेरे पति की हालत भी बिगड़ती गई और लंबी बीमारी के बाद आख़िरकार 1956 में उन्होंने दम तोड़ दिया। उनके जाने के बाद मुश्किल और भी बढ़ गई क्योंकि मर्दों के समाज में घर में किसी मर्द के न होने से दुकान चलाना और भी मुश्किल काम था। मेरा बेटा कुल बारह साल का था और कभी-कभी मेरी बेटी और लड़का ही मेरी जगह दुकान पर बैठते थे। मगर मैं सदा यही ज़ोर देती रही कि वह अपनी पढ़ाई पर ध्यान दें...। बाद में मैंने दुकान थोड़ी और बढ़ा ली और लैला की उंगलियाँ, बेसन के बने स्नैक्स, बबल गम, बिस्कुट, चूरन वग़ैरह भी बेचने लगी। मुझे याद है 10 पैसे में इतनी सारी डंडी वाली चूरन और टॉफियाँ आ जाती थीं...। संघर्ष करते-करते मैंने अपनी दुकान को जमाया क्योंकि यही मेरी आमदनी का एकमात्र ज़रिया थी...। अब 'हमारे ज़माने' की ऐसी चीज़ों की कोई क़द्र नहीं है। उनकी जगह अब

> सुंदर-सुंदर पैकिंग वाली कैडबरी, एक्लेयर्स, चॉकलेट और टॉफ़ी आने लगी हैं। ऊपर से तरह-तरह के वेफ़र, आलू के चिप्स, हाजमोला, मैगी और न जाने क्या-क्या आ गया है। लोगों की माली हालत में भी इज़ाफ़ा हुआ है। सेहत की फ़िक्र करने वाले माँ-बाप अब अपने बच्चों को बिना पैकिंग वाली टॉफी या चूरन नहीं खाने देते। बीबी दी दुकान के रूप में शुरू हुई वह छोटी सी दुकान अब एक बड़ा जनरल स्टोर बन चुकी है जिसे मेरे बेटे बहुत अच्छी तरह चला रहे हैं।[41]

एक ज़माने में जिस चीज़ को बीबी रामप्यारी ने महज़ ज़िंदा रहने के साधन के तौर पर शुरू किया था, आज वह राजेंद्र नगर का एक जाना-माना जनरल स्टोर बन चुकी है। दुकान के आसपास का पूरा इलाक़ा एक बाज़ार की शक्ल ले चुका है। इस दरमियान बीबी रामप्यारी का परिवार भी छोटे से दरबेनुमा मकान से निकलकर राजेंद्र नगर के एक बड़े मकान में चला गया है। अब उनकी दुकान में साबुन, वॉशिंग पाउडर से लेकर स्टेशनरी, खाने-पीने की चीज़ें, सब कुछ मिल जाता है। मगर यह रामप्यारी ही थीं जिन्होंने इतनी हिम्मत से अपने इस उद्यम की शुरुआत की थी।

बीबी रामप्यारी को उनके जानने वाले सिर्फ़ बीबी कहते हैं। अब उनकी सेहत दिनोंदिन गिरती जा रही है और वह तक़रीबन बिस्तर से चिपक कर रह गई हैं। मगर पीछे मुड़कर देखने पर उन्हें बड़ा संतोष होता है और इस बात पर गर्व महसूस होता है कि उन्होंने कभी किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया हालाँकि इसके लिए उन्हें मर्दों की दुनिया में ख़ूब जद्दोजहद करनी पड़ी। उनकी बेटी का ब्याह हो चुका है। वह अब तिलक नगर में रहती है। अब बीबी रामप्यारी अपनी पहचान को एक लंबे वक़्फ़े पर चस्पाँ कर सकती हैं, एक ऐसे दायरे पर जो हर मायने में उनका अपना है।

न केवल बीबी रामप्यारी जैसी औरतों ने अपने परिवारों को कारोबार की दुनिया की राह दिखाई बल्कि उन्होंने अपने मोहल्ले-पड़ोस और बस्तियों को वो चरित्र और ख़ासियत भी दी जिसकी वजह से आज इन जगहों को जाना जाता है। इस प्रकार एक ज़्यादा बड़े संदर्भ में हम देखते हैं कि ये बस्तियाँ किस तरह दिल्ली की ज़िंदगी की मुख्यधारा का हिस्सा बनती चली गई हैं।

मालवीय नगर भी दिल्ली की एक जानी-मानी 'रिफ़्यूजी' बस्ती है। यह दक्षिण दिल्ली का एक जाना-पहचाना बाज़ार है। इसी बाज़ार में सरदार नवजोत सिंह बिजली के सामान और मरम्मतसाज़ी की दुकान चलाते हैं। उनकी दुकान बाज़ार में खुलती है और बड़े मौक़े की जगह पर है। दुकान के पिछवाड़े ही उनका घर है जिसके आख़िरी कमरे ने एक 'बुटीक' की सी हैसियत हासिल कर ली है। यह बुटीक नवजोत सिंह की पत्नी रानोजी चलाती हैं जिन्होंने पचास के दशक में फुटकर पैमाने पर कपड़े सीने का काम शुरू किया था। अब वह 'आकर्षण' नाम के इस बुटीक की देखरेख करती हैं। बुटीक चलाने का असली ज़िम्मा उनकी बहू के हाथों में है। रानोजी संभवतः उन बूढ़े लोगों में आती हैं जो आज भले ही ज़िंदगी के आख़िरी पड़ाव पर पहुँच चुके हैं मगर जो आज भी घर में दिन भर घूमते रहते हैं और घर के दैनिक फ़ैसलों में अपना पूरा दख़ल रखते हैं। जब उनसे बातचीत हुई तो उनका बेटा, बहू और पोता/पोती भी उनके साथ बैठे थे। ज़ाहिर है उन सबको रानोजी पर गर्व महसूस होता है। रानोजी के लिए बँटवारे के बाद की ज़िंदगी कुछ इस तरह थीः

> जब हम मालवीय नगर के इस छोटे से मकान में आए तो हमने तिनकों से अपनी ज़िंदगी शुरू की थी। सरदारजी को बिजली की चीज़ें ठीक करने का हुनर आता था। वह रावलपिंडी में यह काम कर चुके थे। पर यहाँ हमारा काम नहीं जम पाया। हमारी आमदनी परिवार का पेट पालने के लिए हमेशा कम पड़ जाती थी। हमारे मोहल्ले की कुछ औरतों ने सिलाई क्लासिस में दाख़िला ले लिया था इसलिए उनकी देखा-देखी मैं भी सिलाई-कढ़ाई सीखने लगी। मगर इसके बाद भी मैं काम शुरू नहीं कर पाई क्योंकि मेरे बच्चे बहुत छोटे थे। मुझे अपने ससुरजी की भी देखभाल करनी पड़ती थी जो उस वक़्त बहुत बीमार थे। आख़िरकार 1953 से मैं औरतों के सलवार-कुर्ते और ब्लाउज़ सीने लगी। लगातार अभ्यास से मेरा काम सुधरने लगा और मुझे अच्छा काम मिलने लगा। मैंने दो-तीन औरतों को भी अपने पास काम पर रख लिया। मेरे पास

> अपनी मशीन के अलावा कोई मशीन नहीं थी इसलिए ये औरतें अपनी मशीन लेकर आती थीं...। बाद में मैंने घर के पिछवाड़े को चारों तरफ़ से घेर कर उसको एक कमरा बना दिया (मालवीय नगर में यह चलन ख़ूब है)। मैंने इसी कमरे में सिलाई सेंटर खोल लिया और मेरे पास काम की कोई कमी नहीं रही। धीरे-धीरे सरदारजी का काम भी अच्छा चलने लगा मगर मैंने अपना काम नहीं छोड़ा...। लेकिन अब दिखदा नईं है...। अब मेरी बहू औरतों की सलवार-कमीज़ का बुटीक चला रही है। उसे ये काम अच्छा लगता है। मैं तो बस कभी-कभी काम पर नज़र डाल लेती हूँ। अब सरदारजी और बेटा बाहर दुकान पर बैठते हैं।[42]

रानोजी की तरह मालवीय नगर के बहुत सारे लोगों ने अपने घर में ही छोटी-मोटी दुकानों से शुरुआत की थी और इन्हीं दुकानों ने आख़िरकार एक भरे-पूरे बाज़ार की शक्ल ले ली। कुछ ऐसा ही रुझान दिल्ली भर में फैले 'रिफ़्यूजी' मोहल्लों में दिखाई देता है जहाँ मकानों, दुकानों और कारख़ानों ने बढ़ते-बढ़ते नई बस्तियों को जन्म दे दिया। *दिल्ली : ए कैपिटल सिटी* नामक अपनी किताब में अशोक मित्रा ने बताया है कि इस तरह के प्रतिष्ठानों के चार मुख्य केंद्र थे। दक्षिण में मालवीय नगर, पश्चिम में राजेंद्र नगर, पटेल नगर, मोती नगर एवं तिलक नगर; और पूर्वी दिल्ली में शाहदरा स्थित गांधी नगर जबकि "चाँदनी चौक, बाड़ा हिंदूराव, सब्ज़ी मंडी, सदर बाज़ार, सराय रोहिल्ला, झंडेवालान, पहाड़गंज और ओल्ड रोहतक रोड स्थित शकूरबस्ती जैसे पुराने शहर के भीतरी इलाक़े लोगों से अँट गए थे।"[43] इस तरह दिल्ली में नई शरणार्थी बस्तियों का दायरा दक्षिण में कैलाश और क़ुतुब के पार, दक्षिण-पूर्व में फ़रीदाबाद तक, दक्षिण-पश्चिमी में गुड़गाँव तक और पश्चिम में नजफ़गढ़ के पार तक फैला हुआ था। पूर्वी छोर पर शाहदरा और ग़ाज़ियाबाद इसी चहल-पहल की वजह से तक़रीबन एक दूसरे में खो से गए। दिल्ली नगर निगम, नई दिल्ली और दिल्ली केंटोनमेंट नाम के शहरी इलाक़े तेज़ी से फैलते गए।[44]

दिल्ली में आए बदलावों के बारे में लिखते हुए वी.एन. दत्ता ने पश्चिमी दिल्ली का उदाहरण दिया है। उनका कहना है कि सदर, पहाड़गंज, करोलबाग़, पटेल नगर, सिविल लाइंस और सब्ज़ी मंडी शरणार्थियों के मुख्य पुनर्वास इलाक़े बन गए थे। दत्ता लिखते हैं कि इन बस्तियों ने भावी विस्तार के लिए "स्वतंत्र केंद्रकों" का किरदार अदा किया है। ये बस्तियाँ "टापुओं" की तरह हैं — आत्मनिर्भर होते हुए भी दिल्ली की मुख्यधारा की ज़िंदगी का एक अभिन्न अंग। इन सारी बस्तियों में अपने-अपने बाज़ार हैं, शॉपिंग सेंटर हैं। इन सभी में एक मंदिर, एक बैंक, थाना, एक स्कूल, डाकख़ाना और टेलीग्राफ़ ऑफ़िस, टैक्सी स्टैंड और सिनेमा घर मौजूद हैं। कुछ बस्तियों में तो स्विमिंग पूल और बस के डिपो भी हैं। इन बस्तियों के मकान आमतौर पर बहुमंज़िला या लंबे-चौड़े नहीं हैं। मुख्य सड़क के आसपास बड़े मकान दिखाई देते हैं मगर बस्ती के भीतर एक-मंज़िला घरों की भरमार है। ज़्यादा भीतर जाने पर अल्पआय तबक़े के और भी छोटे मकान दिखाई देते हैं। लोगों की दैनिक ज़रूरतें अपनी बस्ती के स्थानीय बाज़ार में ही पूरी हो जाती हैं। ये बाज़ार इन बस्तियों के केंद्र बन चुके हैं। ईस्ट पटेल नगर में लोगों के पास टेलीविज़न सेट भी हैं और कुछेक के पास कारें भी आ गई हैं। इन बस्तियों के लोगों ने अपनी पुरानी वाली ज़िंदगी को नए सिरे से रचने, जीने की भरपूर कोशिश की है। जैसे-जैसे ये बस्तियाँ फैलती गई हैं, उनके खाते-पीते बाशिंदे गोल्फ़ लिंक्स, वसंत विहार, ग्रेटर कैलाश, रिंग रोड, न्यू फ़्रेंड्स कॉलनी और डिफ़ेंस कॉलनी जैसी पॉश बस्तियों की तरफ़ रुख़ करने लगते हैं।[45]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजेंद्र नगर, पटेल नगर, मल्कागंज, किंग्ज़वे कैंप, विजय नगर, निज़ामुद्दीन, जंगपुरा, पुराना क़िला, लाजपत नगर, कालकाजी, भारत नगर, तिलक नगर, आज़ादपुर, रोशनारा बाग़, राजौरी गार्डन और बहुत सारी दूसरी आबादियाँ 'शरणार्थी' बस्तियों से ही शुरू हुई थीं। यहाँ हमें इन इलाक़ों को उनकी मौजूदा हैसियत और शख़्सियत तक पहुँचाने में असंख्य औरतों द्वारा दिए गए अप्रतिम योगदान को भी पूरी संजीदगी के साथ रेखांकित करना चाहिए। मिसाल के तौर पर, कालकाजी के बहुत सारे घरों में आज भी 'वरांडे' से ही दुकानें चल रही हैं। ये वही दुकानें हैं जिन्हें कभी बँटवारे के बाद दर-दर की ठोकरें खाते यहाँ पहुँची औरतों ने अपनी ज़िंदगी को नए सिरे से खड़ा करने के लिए शुरू किया था। दिल्ली की ज़िंदगी में इन औरतों के योगदान को मान्यता प्रदान करके ही संघर्ष से भरे उनकी ज़िंदगी के कैनवस के बीचोंबीच 'अपने पर फैलाने' की उनकी चाह को समझा जा सकता है।

मगर 'दूसरी तरफ़' को देखने की चाह से मजबूर कुछ महिलाएँ दिल्ली में आर्थिक रूप से स्थापित हो जाने के बावजूद एक गहरे 'विछोह', परायेपन, अपनी ज़मीन से उजड़ जाने, अपने लोगों से छूट जाने... के अहसास से बाहर नहीं निकल पाई हैं।

भोगल में रहने वाली दर्शना रानी की उम्र अब नवीं दहाई में पहुँच चुकी है। इसके बावजूद उन्हें आज भी अपना व्यक्तित्व अस्थिर, जड़ों से कटा हुआ और विच्छिन्न सा दिखाई देता है। वह पहले रावलपिंडी और बाद में लाहौर के राम नगर में बिताए अपने दिनों को भरे दिल से याद करती हैं। उन्हें आज भी लगता है कि विभाजन में उनकी स्वतंत्रता कहीं खो गई, उनकी वह आज़ादी उनके पास नहीं रही जो रावलपिंडी या लाहौर में उन्हें महसूस होती थी। उन्हें याद आता हैः

> हिंदुस्तान तो आ गए मगर वतन तो उत्थे ही था...। बँटवारा क्यों हुआ। मैं नहीं जाणती — हम तो मुसलमानों के साथ बड़े मिल-जुल कर रहते थे। हाँ, हम उनके साथ बैठकर खाना नहीं खाते थे पर उस जगह की कुछ और ही बात होती है जहाँ तुम्हारा बचपन बीता हो। वो ज़मीन जो तुम्हारी थी, वो मिट्टी जो तुम्हरे पुरखों से वाबस्ता थी, जिसकी सुगंध मुझे आज भी याद आती है। मुझे याद है रावलपिंडी के अपने बड़े से घर के दालान में मैं गिट्टे और स्टापू खेला करती थी। हमारे घर में 6 कमरे थे! मैं क्या बताऊँ मेरा कितना दिल करता है एक बार जाकर उस जगह को फिर देखने का? अब भी दिल करता है ये जानने का कि मेरे घर में अब कौन रहता है? क्या अब भी सब कुछ वैसा ही है जैसा तब था? मैं वहाँ जाना चाहती हूँ और फूट-फूट कर रोना चाहती हूँ...। अपनी सहेली शबाना बीबी और फ़ातिमा बानो से मिलने की मेरी बड़ी गहरी तमन्ना है। पता नहीं अब वो ज़िंदा भी होंगी या नहीं? यहाँ तो हमारी अपनी कोई जगह नहीं, अपनेपन का हमें अहसास ही नहीं होता। मैंने अपनी आधी ज़िंदगी 'रिफ़्यूजी' का पट्टा माथे पर लगाए गुज़ार दी — क्या मतलब होता है इसका? मैं भोगल में रहती हूँ, छोटे से मकान में — वहाँ तो मेरा ख़ूब बड़ा मकान था। यह सब क्यों हो गया? मैंने इस मकान के लिए क़ीमत दी है, इसे ख़रीदा है, मगर अब भी लगता नहीं कि हम कहीं बस गए हैं — सब कुछ लुट गया वहीं पे। किस लिए? हमारी क्या ग़लती थी?[46]

जब आज़ादी आई तो उसने दर्शना रानी जैसी औरतों की ज़िंदगी पर एक बिल्कुल मुख़्तलिफ़ क़िस्म का असर डाला। ये औरतें बमुश्किल ही कभी आज़ादी की बात कर पाती हैं। वजह साफ़ है — उनके लिए आज़ादी का मतलब ज़िंदगी को नए सिरे से ढर्रे पर लाने, ख़ुद को दोबारा दुनिया से जोड़ लेने, एक बार फिर पर फैलाने की चाह संजोने, स्वाभिमान और हैसियत हासिल करने और इसके बावजूद पचास साल बाद तक उजड़ा-उजड़ा महसूस करते रहने की विवशता से था।

अनुवादः योगेंद्र दत्त

संदर्भ

1. एम. जे. अकबर, *इंडियाः द सीज विदिन*, दिल्ली, 1985, पृ. 150.
2. अमिताभ घोष, *द शैडो लाइंस*, न्यूयॉर्क, वाइकिंग, 1988, पृ. 190.
3. ज्ञानेंद्र पांडे, *रिमेम्बरिंग पार्टीशनः वॉयलेंस, नैशनलिज़्म ऐण्ड हिस्ट्री इन इंडिया,* केम्ब्रिजः केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस 2001, पृ. 125.
4. जोन केली, *विमेन, हिस्ट्री ऐण्ड थ्यॉरी,* शिकागोः युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, 1984, पृ. 3.
5. ज्ञान पांडे, 'द प्रोज़ ऑफ़ अदरनेस', डेविड आर्नोल्ड एवं डेविड हार्डीमैन (स.) सबॉल्टर्न स्टडीज़ खंड VIII, दिल्लीः ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1994, पृ. 189 में. इसे भी देखें, ज्ञान पांडे, *मेमॅरी, हिस्ट्री ऐण्ड द क्वेश्चन ऑफ़ वॉयलेंसः रिफ़्लेक्शंस ऑन दि रीकंस्ट्रक्शन ऑफ़ पार्टीशन*, कलकत्ताः के.पी. बागची, 1989.
6. वही, पृष्ठ 204.
7. सबॉल्टर्न और जेंडर के नज़रिए से इतिहास के पुनर्लेखन की हालिया कोशिशों में शामिल हैं — उर्वशी बुटालिया, *दि अदर*

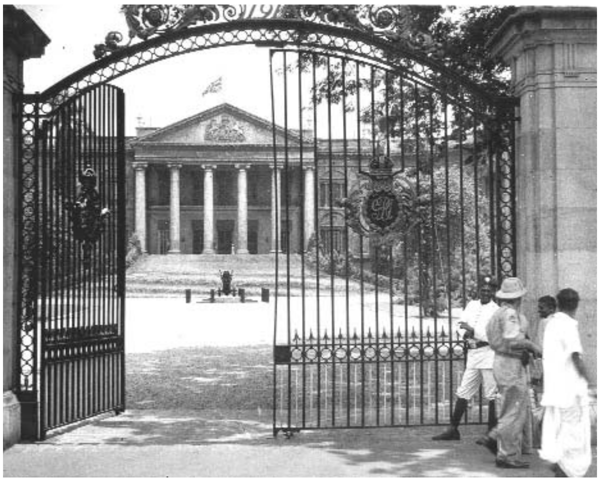
साइड ऑफ़ साइलेंस, दिल्लीः पेंग्विन, 1998, ज्ञानेंद्र पांडे, 'इन डिफ़ेंस ऑफ़ द फ़्रैग्मेंटः राइटिंग अबाउट हिंदू-मुस्लिम रायट्स इन इंडिया टुडे', *इकनॉमिक ऐण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड XXVIII, संख्या 36 सितंबर 6, 1997; ऋतु मेनन एवं कमला भसीन, *बॉर्डर्स ऐण्ड बाऊंड्रीज़,* दिल्लीः काली फ़ॉर विमेन, 2001; करुणा चानना, 'पार्टीशन ऐण्ड फ़ैमिली, स्ट्रैटेजीज़ः जेंडर, एजुकेशन लिंकेजेज़ अमंग पंजाबी विमेन, *इकनॉमिक ऐण्ड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड XXVIII, संख्या 17 अप्रैल 24, 1993, ज्ञानेंद्र पांडे, *रिमेम्बरिंग पार्टीशन*.

8. स्वतंत्रता आंदोलन और अन्य सामाजिक आंदोलनों पर नारीवादी लेखन के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं — राधा कुमार, *द हिस्ट्री ऑफ़ डूइंगः एन इलस्ट्रेटेड अकाउंट ऑफ़ मूवमेंट फ़ॉर विमेंस राइट ऐण्ड फ़ेमिनिज़्म इन इंडिया* दिल्लीः काली फ़ॉर विमेन, 1993; भारती रे (वही), *फ़्रॉम द सीम्स ऑफ़ हिस्ट्रीः एसेज़ ऑन इंडियन विमेन*, दिल्लीः ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1995; *स्त्री शक्ति संगठन, वी आर मेकिंग हिस्ट्रीः लाइफ़ स्टोरीज़ ऑफ़ विमेन इन तेलंगाना पीपुल्स स्ट्रगल,* दिल्लीः काली फ़ॉर विमेन, 1989; जेराल्डिन फ़ोर्ब्स, *विमेन इन मॉडर्न इंडिया,* केम्ब्रिजः केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1996, कमला विश्वेश्वरण, 'स्मॉल स्पीचेज़, सबॉल्टर्न जेंडरः नैशनलिस्ट आइडियॉलॉजी ऐण्ड इट्स हिस्टोरियॉग्रफ़ी', शाहिद अमीन एवं दीपेश चक्रबर्ती, वही, *सबॉल्टर्न स्टडीज़, खंड-VIII*, दिल्लीः ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1996.
9. राहत एवं पुनर्वास मंत्रालय की *ऐन्युअल रिपोर्ट ऑन इवैक्युएशन, रिलीफ़ ऐण्ड रिहैबिलिटेशन ऑफ़ रिफ़्यूजीज़* (1954-55), पृ 42, में दी गई संख्या 4,95,391 है. भारत की जनगणना, 1951 में भी यही संख्या — 4,953,91 — दी गई है.
10. ज्ञानेंद्र पांडे, *रिमेम्बरिंग पार्टीशन*, पृ. 122.
11. मुशीरुल हसन, *लेगेसी ऑफ़ ए डिवाइडेड नेशनः इंडियाज़ मुस्लिम्स सिन्स इंडिपेंडेंस,* लंदन, 1997, पृ. 173.
12. वी.एन. दत्ता, 'पंजाबी रिफ़्यूजीज़ ऐण्ड दि अर्बन डिवेलपमेंट ऑफ़ ग्रेटर डेल्ही', मुशीरुल हसन (सं.) *इन्वेन्टिंग बाउंड्रीज़ः जेंडर, पॉलिटिक्स ऐण्ड द पार्टीशन ऑफ़ इंडिया,* दिल्लीः ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 2000, पृ. 268 में.
13. दिल्ली के लिए, देखें थॉमस आर. मेटकाफ़, *इम्पीरियल विज़नः इंडियन आर्किटेक्चर ऐण्ड ब्रिटेन्स राज,* लंदनः फ़ेबर ऐण्ड फ़ेबर (1989); आर. ई. फ्रिकेनबर्ग, *डेल्ही थ्रू दि एजेज़,* दिल्ली, 1989; एच. के. कौल, सं., *हिस्टॉरिक डेल्ही* दिल्ली, 1985; सुहाष चक्रवर्ती, *द राज सिंड्रोम, ए स्टडी इन इम्पीरियल परसेप्शंस* दिल्ली 1989.
14. अशोक मित्रा, *डेल्हीः कैपिटल सिटी,* दिल्ली, 1970, पृ. 4.
15. वी. एन. दत्ता, 'पंजाबी रिफ़्यूजीज़ ऐण्ड दि अर्बन डिवेलपमेंट ऑफ़ ग्रेटर डेल्ही', पृ. 268.
16. वही, पृ. 269.
17. सुनील खिलनानी, *दि आइडिया ऑफ इंडिया*, न्यूयॉर्कः फ़ार्रर स्ट्रॉस, 1998, पृ. 129 (हिंदी में *भारतनामा* के नाम से प्रकाशित, अनु. अभय कुमार दुबे).
18. अमृता प्रीतम, 'माई सिटी, वर्ल्ड सिटी', *टाइम्स ऑफ़ इंडिया,* 15 अगस्त, 1947.
19. ज्ञानेंद्र पांडे, *रिमेम्बरिंग पार्टीशन*, पृ. 125.
20. वही, पृ. 125.
21. ऋतु मेनन, 'रीप्रोड्यूसिंग लेजिटिमेट कम्युनिटी', पैट्रिशिया जेफ़्री एवं अमृता बासु (सं.), *अप्रोप्रिएटिंग जेंडर,* न्यूयॉर्कः रटलेज, 1998 में.
22. विमेंस सेक्शन द्वारा किए गए कार्यों से संबंधित रिपोर्ट, राहत एवं पुनर्वास मंत्रालय, 1949; *रामेश्वरी नेहरू पेपर्स,* संख्या 2, नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम ऐण्ड लाइब्रेरी, नई दिल्ली.
23. *रिपोर्ट ऑफ़ द विमेंस सेक्शन*, राहत एवं पुनर्वास मंत्रालय, 2 फ़रवरी — 30 मार्च 1949.
24. पुनर्वास एवं रोज़गार महानिदेशक द्वारा किए गए कार्यों की समीक्षा, मई 1949, भारत सरकार द्वारा जारी, राहत एवं रोज़गार महानिदेशक, श्रम मंत्रालय, म्युनिसिपल रिकॉर्ड्स, दिल्ली सरकार, दिल्ली विभाग अभिलेखागार.
25. *साड्डा हक़ एत्थे रख, ए रिपोर्ट ऑन रिफ़्यूजी विमेन वर्कर्स इन डेल्ही*, पीपुल्स यूनियन ऑफ़ डेमोक्रेटिक राइट्स (पीयूडीआर) द्वारा जारी, दिल्ली, 1989, पृ. 3.
26. वही.
27. भगवती बनौटा के साथ साक्षात्कार, कालकाजी, 2 अक्टूबर 2001, नई दिल्ली.
28. *रिपोर्ट ऑफ़ दि विमेंस सेक्शन*, राहत एवं पुनर्वास मंत्रालय, 2 फ़रवरी — 30 मार्च 1949.
29. साड्डा हक़ एत्थे रख, पृ. 3.
30. उपायुक्त की फ़ाइलें, फ़ाइल संख्या डीसी/340/1949, विषयः रिफ़्यूजी वीमेंस को-ऑपरेटिव सोसायटीज़ इन डेल्ही, 1949 म्युनिसिपल रिकॉर्ड्स, दिल्ली सरकार.

31. *साडा हक् एत्थे रख*, पृ. 3.
32. वही, पृ. 3.
33. प्रेम मन्ना के साथ साक्षात्कार, पहाड़गंज, 9 जुलाई 2001, दिल्ली.
34. मंजीत कौर के साथ साक्षात्कार, जनपथ, 2 जुलाई 2001, दिल्ली.
35. श्रीमती कपूर के साथ साक्षात्कार, लाजपत भवन, 16 जुलाई 2002, नई दिल्ली.
36. ब्रजरानी के साथ साक्षात्कार, लाजपत नगर, 21 जुलाई 2002, नई दिल्ली.
37. दुर्गा देवी के साथ साक्षात्कार, बेरीवाला बाग़, 12 अप्रैल 2002, दिल्ली.
38. कैलाश रानी के साथ साक्षात्कार, कालकाजी, 26 मार्च, 2002, नई दिल्ली.
39. मैना के साथ साक्षात्कार, अर्जुन नगर, ग्रीन पार्क, 4 मई, 2002, नई दिल्ली.
40. राजेंद्र मोहन के साथ साक्षात्कार, मयूर विहार, 22 नवंबर, 2002, दिल्ली.
41. बीबी रामप्यारी के साथ साक्षात्कार, राजेंदर नगर, 28 दिसंबर, 2001, दिल्ली.
42. रानो के साथ साक्षात्कार, मालवीय नगर, 14 अक्टूबर, 2001, नई दिल्ली.
43. अशोक मित्रा, *दिल्ली : कैपिटल सिटी*, नई दिल्ली, 1970, पृ. 8.
44. वही, पृ. 9.
45. वी. एन. दत्ता, 'पंजाबी रिफ़्यूजीज़ ऐण्ड दि अर्बन डिवेलपमेंट ऑफ़ ग्रेटर डेल्ही' पृ. 275.
46. दर्शना रानी के साथ साक्षात्कार, भोगल, 4 अक्टूबर, 2001, दिल्ली.

कोलकाता, ’47: साम्राज्य का अंत

आशिस नंदी



दक्षिण एशिया में ‘आज़ादी’ 1947 की एकमात्र और एकाश्म घटना बनकर नहीं आई भले यहाँ के ज़्यादातर लोग उसे ऐसे ही याद करना चाहते हों। ब्रिटिश भारत के विघटन की प्रक्रिया का प्रारम्भ कलकत्ता के दंगों के साथ एवं अंत पंजाब के भयंकर जनसंहार के साथ हुआ।

सन् 1946 में मैं नौ वर्ष का था और कलकत्ता शहर में भी नया ही था। इस छोटी-सी उम्र में भी मुझ पर यह ज़ाहिर था कि मेरे आसपास के लोग पर्याप्त सदमा और भयानक पीड़ा झेल चुके हैं। पहले तो विश्वयुद्ध के अंतिम दिनों में जापानियों द्वारा शहर पर बमबारी का आतंक था जिसके चलते मुझे, मेरी माँ, और छोटे भाई को पड़ोसी राज्य बिहार के एक अपेक्षाकृत शांत शहर में भेज दिया गया था। पिता काम की वजह से कलकत्ते में ही रुक गए थे। बमबारी तो वैसी कुछ हुई नहीं लेकिन उसने चतुर्दिक ज़बरदस्त आपाधापी मचा दी, लोग आनन-फ़ानन कलकत्ते से पलायन करने लगे।

जब हम शहर वापस लौटे तो युद्ध समाप्त हो चुका था और आज़ादी की आहटें सुनाई देने लगी थीं। बस 1946 में प्लेग के छिटपुट प्रकोप के अलावा कलकत्ते में स्थिति सामान्य हो चली थी।

एक अन्य महत्वपूर्ण घटना 1942 का भयंकर अकाल थी, जिसमें अंग्रेज़ों की युद्धकालीन नीतियों का योगदान कम न था। इसकी यादें अभी भी लोगों के दिलोदिमाग़ में ताज़ा थीं और दाग़ अभी तक कलकत्ते के जिस्म पर थे। लोग खुलेआम भूखे मरते तो नहीं दिखते थे लेकिन भीख माँगते और — ‘चाट रहे हैं जूठी पत्तल कहीं सड़क पर खड़े हुए और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए’ — वाले अंदाज़ में कूड़ेदान के

इर्दगिर्द कुत्तों से लड़ते हुए आम तौर पर दिख जाते थे। कलकत्तावासियों के ज़ेहन में अभी भी वो तस्वीरें ताज़ा थीं कि लोग हज़ारों-हज़ार की तादाद में अनाज की भरी-पूरी दुकानों के आगे बिना किसी शोर-शराबे, विरोध या हिंसा के धीरे-धीरे भूख से मर रहे थे। भुखमरी के ज़्यादातर शिकार किसान थे, ख़ासकर मुसलमान किसान। उन्होंने मरने से पहले किसी रेस्त्राँ, मिठाई या पंसारी की दुकान पर धावा नहीं बोला। किसे पता था कि धार्मिक राष्ट्रवाद के नाम पर एक दिन वे ख़ूँख़ार शेरों की तरह लड़ेंगे। इस धार्मिक जनसंहार — करेले पर नीम — के लिए हम क़तई तैयार नहीं थे।

मेरे पिताजी वायएमसीए कलकत्ता में सचिव थे। हम लोगों का आवास वायएमसीए के परिसर में ही था जिसमें कई विशाल लॉन थे। आवास के ठीक सामने उत्तर प्रदेश और बिहार से आए ग़रीब, ग़ैर-बंगाली मुसलमानों की बस्ती थी। यह आबादी उस बड़े प्रवासी मज़दूरों के श्रम का हिस्सा थी जिसके बलबूते शहर का कारोबार ज़िन्दा था। तब उन्हें लोग 'देसी मुसलमान' कहा करते थे। अपने मकान की तीसरी मंज़िल की खिड़कियों से हम बस्ती की गृहणियों को खाना बनाते या बच्चों को खेलते देख सकते थे। बस्ती के बाद निम्न मध्यवर्गीय एवं मध्य-मध्यम वर्गीय हिन्दू बंगालियों के क्रमशः दो मोहल्लों के बाद 'देसी' मुसलमानों की एक और बस्ती थी — राजा बाज़ार। लेकिन पड़ोस की गुमनाम और पिटी हुई बस्ती के मुक़ाबले दूर की बस्ती अपराधियों के अड्डे के रूप में बदनाम थी। हम अपनी बस्ती के कई बाशिंदों के चेहरे पहचानते थे। वायएमसीए का कुछ कल्याणकारी काम उन्हीं के लिए था और इसके चलते उनमें एक मित्रता के साथ-साथ जी-हुज़ूरी का भाव था।

जैसे-जैसे सत्ता-परिवर्तन संबंधी बातचीत और सौदेबाज़ी गरम होने लगी और नतीजतन माहौल साम्प्रदायिक होने लगा, तो हमारे देखते-देखते बस्ती के कुछ बाशिंदे मुस्लिम लीग के सक्रिय समर्थक बन गए। वे पार्टी का हरा झंडा फहराते और कभी-कभार ढोल-तासे और गर्मजोशी के साथ छोटे-मोटे जुलूस भी निकालते। इन उत्साहियों में से अनेक अधेड़ थे और भले ही वे निहायत उग्र और भड़काऊ नारे लगा रहे हों, पर अपने चीथड़ों में निहायत ग़रीब और मासूम मालूम होते थे। उनके इस नए राजनीतिक अवतार से हमारे दूरस्थ दोस्ताने में कोई ख़लल नहीं पैदा हुई। हम बच्चों को उनसे तनिक भी डर नहीं लगता और जब हम उन्हें चिढ़ाते तो वे मुस्करा दिया करते थे। वे जोशोख़रोश से अपने नारे लगाते और हम बच्चे अपनी मिमियाती आवाज़ में जवाब देतेः 'कान में बीड़ी मुँह में पान, लड़के लेंगे पाकिस्तान।'

यूँ भी उनके धधकते नारों और पान-सुपारी चबाते उनके मस्तमौला अंदाज़ में कोई संगति तो थी नहीं।

सोलह अगस्त को हमारे यहाँ काम करने वाली ने बताया कि जब वह बस्ती से हो कर हमारे घर आ रही थी उसने वहाँ के कुछ लट्ठधारियों को इकट्ठा हो कर चाकू तेज़ करते देखा था। चूँकि ऐसा आमतौर पर मोहर्रम के दौरान होता ही था, इसलिए उसे लगा कि वे लोग किसी धार्मिक जुलूस की तैयारी में जुटे थे। उसको क्या पता था कि मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की माँग के समर्थन में उस दिन को 'सीधी कार्रवाई' दिवस घोषित कर दिया था। इस घोषणा को किसी ने संजीदगी से नहीं लिया था कि अचानक दोपहर के ठीक पहले हमारी नज़रों के आगे कलकत्ता अप्रत्याशित रूप से दहक उठा। बस्ती के आगे जमा हुई भीड़ ने हिन्दुओं को पीटना शुरू कर दिया था। हम दूर खड़े घरों को लुटते-भुनते देख रहे थे। दक्षिण एशिया में झुग्गी-झोपड़ियों की राजनीति और उस राजनीति के एक अहम किरदार — दंगा-फ़साद से मेरा पहला साबक़ा पड़ा।

वायएमसीए की ऊँची दीवार की दायीं तरफ़ मध्यवर्गीय हिन्दू मोहल्ले थे। वायएमसीए के हिन्दू-मुसलमान कर्मचारी — माली, दरबान और रसोइयों ने फ़ौरन सीढ़ियाँ लगाकर भयभीत लोगों को अंदर खींच लिया। पलक झपकते लॉन पर तक़रीबन 200 परिवार जमा हो गए। भवन का मुख्य द्वार बंद कर दिया गया। इससे पड़ोस में हिंसा की संभावना पर तो अंकुश लग गया, लेकिन गलियों पर तो भीड़ ही क़ाबिज़ रही। इस भीड़ में मुझे कई चिरपरिचित चेहरे अचानक वीर-रसोन्मत्त दिखाई पड़े। उन्हें क्षुद्र लालच को लगे हाथ वो वैचारिक जामा पहनाने का मौक़ा मिल गया था, जिसका दायरा कहीं व्यापकतर था। आते-जाते हिन्दू मुसाफ़िरों को पीट देते, उनके पैसे, घड़ी छीन लेते और कभी-कभी तो चाकू भी घोंप देते। रेडियो ने हालात और बुरे कर दिए। सरकारी निगहबानी में उसने ख़बरों को सेंसर किया। हालाँकि वह भी डरावना था लेकिन लोग शायद ही अपने कानों पर यक़ीन कर पा रहे थे। उन्होंने और भी अधिक ख़ौफ़नाक़ अफ़वाहों पर भरोसा किया। ख़ासकर इसलिए क्योंकि रेडियो पर दी

गई जानकारी उनकी 'आँखिन देखी' से मेल नहीं खा रही थी। इन अफ़वाहों ने मिले-जुले मोहल्लों के बाशिन्दों को और भयभीत कर दिया। अल्पसंख्यक वहाँ से भागने लगे। इस तरह शहर फ़िरक़ावाराना दरबों में तब्दील होता चला गया। हमने पुलिस को भी खुलेआम पक्षपात करते देखा।

दो दिन के अन्दर हिन्दुओं ने स्वयं को संगठित कर जवाबी आक्रमण प्रारम्भ कर दिए। शुरू में हिन्दू बहुसंख्यक थे लेकिन केवल सैद्धान्तिक स्तर पर। लेकिन दंगों की वजह से हिन्दू स्वयं को एक वृहद/व्यापक व संगठित निर्मिति का अंग मानने लगे एवं पहली बार हम लोगों ने कलकत्ता शहर में उभरते हुए 'हिन्दू राष्ट्र' का मंज़र देखा। क़साई, लोहार एवं मछुआरों को छोड़कर अन्य निम्नजातीय बाहुबली और नेपाली गोरखा, जिन्हें पहले हिन्दू समाज का अंग नहीं माना जाता था, अब स्थापित-मध्यवर्गीय व उच्च जाति के बंगाली हिन्दुओं के सूरमा रक्षक बन गए। जो हिन्दू राष्ट्रवादियों द्वारा पिछले सौ सालों में नहीं हो सका था उसे मुस्लिम लीग द्वारा घोषित 'सीधी कार्रवाई' के एक दिन ने कर दिखाया। सालों बाद जब मैंने पढ़ा कि अंतर्राष्ट्रीय युद्धों ने कई राष्ट्रों का निर्माण किया था तो मुझे ये महज़ घिसी-पिटी बात न लगी। मुझे बिल्कुल पता था कि इसका सही मतलब क्या था।

पड़ोस का एक फ़ुटबॉल क्लब — बादुरबग़ान स्पोर्टिंग क्लब, कभी-कभी हमारे साथ मैत्रीपूर्ण मैच खेलने हेतु वायएमसीए आया करता था। कभी-कभार क्रिकेट और बास्केटबॉल के भी मैच हुआ करते थे। हम लोगों की तुलना में उनकी टीम बेहतरीन थी एवं बास्केटबॉल को छोड़कर अन्य सभी खेलों में हमें हराया करती थी। बास्केटबॉल में हम लोगों के अच्छे प्रदर्शन का कारण उनके द्वारा बास्केटबॉल अधिक नहीं खेला जाना था। क्लब टीम का व्यवहार भी काफ़ी मित्रवत था एवं हमलोगों को उनका साथ बहुत पसंद था। सदस्यों में अधिकतम संख्या किशोरों की थी और ये सभी उस हिन्दू मोहल्ले से आते थे, जो हमारे घर के ठीक सामने बसे दो सौ बंगाली मुसलमानों की झुग्गी बस्तियों के बीच बसा था। साम्प्रदायिक दंगों ने क्लब को एक नये संगठन में तब्दील कर दिया। अब वे अपने समुदाय के रक्षक बन गये और उनमें से कई 'गर्व से कहो' क़ातिल बन बैठे। हिन्दू समुदाय ने भी इन्हें अपने प्राणों की आहुति देने वाले नायकों के रूप में देखना शुरू कर दिया।

देखते-ही-देखते इस तर्ज़ के रणबाँकुरे पूरे कलकत्ते में उग आए। मुसलमानों से बदला लेने का काम इन्होंने पूरी हैवानियत से अंजाम दिया। हमने एक बूढ़े मुसलमान ताँगेवाले को शब्दशः संगसार होकर मरते देखा। बेहद हृदयविदारक दृश्य था। जब ऐसी नृशंसताएँ नहीं होतीं तो भी दंगों को भूल पाने की मोहलत नहीं दी जा रही थी। मुझे याद है कि कैसे एक बूढ़ी औरत दंगों में मारे गए बेटे को याद कर रोज़ाना हमारे घर के सामने फ़ुटपाथ पर बैठकर रोती थी। वायएमसीए के भवन में, जहाँ हमारा घर था, एक और मंज़िल पर बहुत-से मुसलमान परिवारों को पनाह दे रखी थी। अजीब बात है कि मकान के अंदर रहने वालों के बीच कोई साम्प्रदायिक द्वेष नहीं था। न तो दंगा पीड़ितों में, न ही उनकी सेवा करने वालों में।

उन दिनों मेरे पिताजी ने ग़ज़ब का साहस दिखाया। कई बार उन्हें मारने की धमकी दी गई। जब उन्होंने पुलिस से आक्रामक तेवर में बात की एवं उन्हें दंगाइयों से सख़्ती के साथ निपटने को कहा, तो उन पर दो बार गोलियाँ भी चलीं। ऐसा लगता है कि भाँति-भाँति के उग्रवादियों से मुठभेड़ होने के तजुर्बे के बावजूद भारतीय पुलिस फ़ौलादी नहीं बन पाई थी और उससे भूल-चूक की अपेक्षा तो की ही जा सकती थी।

वैसे हमारे परिवार को गहरा सदमा पहुँचा था। ख़ूँरेज़ी और क्रूरता ने सबको प्रभावित किया था। ख़ासकर मेरे पिता एवं छोटे भाई मनीष को। उन्होंने कई दिनों तक खाना नहीं खाया और खिन्नचित्त पड़े रहे। मेरी माँ ने अलबत्ता दृढ़ता का परिचय दिया — रोईं तो बहुत लेकिन उन्होंने जीवन की निरंतरता को भंग नहीं होने दिया। दूसरी तरफ़ मेरे पिताजी कुछ सप्ताह बाद गंभीर रूप से बीमार पड़ गये। डॉक्टरों के अनुसार इसका कारण उनका अवसाद था।

ऐसा नहीं कि केवल हमारे परिवार पर ही इस तरह का असर हुआ हो। हम ईसाई थे और शायद थोड़ी तटस्थता और नैतिक निष्पक्षता बरत सकते थे। लेकिन हमारे नामों पर हमारे धर्म की छाप नहीं थी। जब हम अपने छोटे भाई के साथ पड़ोस के स्कूल में पैदल जाते थे तो माँ-बाप बड़े चिंतित रहा करते। आगे चलकर जब मैंने दोस्तों से दंगों के वाक़ये सुने तो उनमें मोटे तौर पर एक समानता दिखी। इतना तय है कि ज़्यादातर वाक़ये पूर्वग्रह-प्रेरित लगे। अधिकांश दंगे पक्षपातपूर्ण लगे। दंगाइयों ने अपने नवपरिभाषित समुदाय की तरफ़ से संगत व

असंगत रूप से इस बात का दावा किया कि वे ही इस दंगे के असली शिकार हैं और धर्म की लड़ाई में उन्हीं की जीत हुई है।

मोहनदास करमचंद गांधी न होते तो कलकत्ते में दंगे का ज्वार आसानी से थमने वाला नहीं था। उन्होंने शहर के एक अत्यधिक दंगाग्रस्त इलाक़े में आमरण अनशन शुरू किया। किसी ने नहीं सोचा था कि उनका यह उपवास प्रभावी होगा। हमारे विद्यालय के कुछ बुज़ुर्गों ने गांधीजी के अनशन की खुलेआम खिल्ली उड़ाई। लेकिन अंततः अनशन कारगर रहा — सारे शहर पर जैसे बिजली का सा असर हुआ, पूरा शहर अचंभित रह गया। कुछ विरोधियों द्वारा यह लगातार कहा जाता रहा कि अगर वे उपवास नहीं करते तो मुसलमानों को एक अच्छा सबक़ सिखाया गया होता। लेकिन घटनाक्रम में अप्रत्याशित परिवर्तन ने उनकी भी ज़बान पर ताले जड़ दिये थे।

इस समय एक व्यक्ति जो गांधीजी के काफ़ी क़रीब आये वे थे मुस्लिम लीग के नेता और बंगाल के मुख्यमंत्री एच.एस. सुहरावर्दी।

इस शख़्स ने एक तरह से दंगों की आग में घी डाला था। इसलिए नहीं कि उन्हें ख़ूँरेज़ी पसंद थी बल्कि इसलिए कि उनका जनाधार प्रवासी ग़ैर-बंगाली मज़दूर, निम्न-मध्यवर्ग और लम्पट सर्वहारा था। यह मज़बूत जनाधार हमेशा से संवेदनशील और बेलगाम-सा था, जैसे इसे किसी हिंसक उपक्रम का इंतज़ार रहता हो। चूँकि सुहरावर्दी एक ऐसे मशहूर उर्दू भाषी नवाबी ख़ानदान से थे जिन्हें बहुसंख्यक बंगाली मुस्लिम कृषक समुदाय की समझ नहीं थी इसलिए उनके पास जनाधार के लिए इन समूहों पर और अपनी वाक्पटुता व लोकलुभावन छवि पर आश्रित होने के अलावा कोई चारा नहीं था। बंगाली मुसलमानों के नेता के रूप में उनकी विश्वसनीयता कभी पूर्णतः असंदिग्ध नहीं रही। बंगाली शायद इसे सुनना पसंद नहीं करेंगे कि सुहरावर्दी ने लामबन्दी संबंधी कुछ रणनीतियाँ बंगाल के युद्धप्रिय (युयुत्सु) राष्ट्रवादी नेता और मिथकीय नायक सुभाषचन्द्र बोस से ही सीखी। मेरी आशंका है कि वे एक नियंत्रित फ़साद चाहते थे ताकि अपनी राजनीतिक शक्ति का परिचय अंग्रेज़ी अधिकारियों, भारतीय राष्ट्रीय कॉङ्ग्रेस एवं मुस्लिम लीग के नेतृत्व को दे सकें। लेकिन स्थिति बेलगाम होकर व्यापक जनसंहार में तब्दील हो गई। पत्रकार निखिल चक्रवर्ती ने कभी मुझे बताया था कि कैसे सुहरावर्दी जब गांधी के शांति प्रयासों से जुड़े तो उन्होंने अपनी ख़ास मर्दाना शैली में दंगाइयों का अकेले और निहत्थे मुक़ाबला किया। मुझे याद है कि दो-एक बार वे मेरे पिताजी से मिलने घर आए थे, क्योंकि पिताजी भी अमन अभियान में शामिल थे।

जैसे ही इधर दंगा मद्धम पड़ा, पूर्वी बंगाल से साम्प्रदायिक दंगों की ख़बरें आने लगीं। एक बार पुनः अफ़वाहों और किंवदंतियों ने माहौल को ख़राब कर दिया। कलकत्ता जनसंहार के बाद अगर इंसानी विवेक जैसा कुछ शेष रह गया था तो वह नोआखली और सिलहट से आने वाली कहानियों की बाढ़ में बह कर पूर्वी भारत के अन्य इलाक़ों में फैल गया। कलकत्ता तो थक कर सुन्न था लेकिन बिहार के कुछ हिस्सों में गंभीर प्रतिक्रिया हुई।

ठहर कर सोचें तो कलकत्ते के दंगों ने इस बात की पुनः पुष्टि की कि शहरी झुग्गी-झोपड़ी वाले अकसर फ़िरक़ापरस्त लफ़्फ़ाज़ी व उकसावे में आ जाते हैं, हालाँकि ये कहना मुश्किल है कि बतौर वर्ग फ़िरक़ापरस्ती में उनकी क़ुदरती आसक्ति है। झुग्गी बस्तियाँ प्रायः ऐसे लोगों का गढ़ होती हैं जिनके टूटे-फूटे सामाजिक संबंध सामुदायिक समरसता की अतीत-कल्पना में अपनी सार्थकता ढूँढते हैं। जब शहर आ कर उनकी नई निष्ठाएँ बनती हैं तो इन निष्ठाओं में नैराश्य के साथ-साथ एक ख़ास क़िस्म की बेताबी होती है। इन नई निष्ठाओं का इस्तेमाल उस समुदाय के वे समृद्धतर लोग कर जाते हैं, जो खुद भयभीत तो हैं, पर अपनी जान जोखिम में नहीं डालना चाहते। वे इस लड़ाई में आख़िरी झुग्गीवासी की जान की क़ुर्बानी करने से नहीं चूकते।

जो भी हो, कलकत्ते के महादंगों की तुलना पंजाब के दंगों से नहीं की जा सकती। आख़िर पुरबिए पंजाबियों जैसे लड़ाका तो थे नहीं। यहाँ कुछ ही दिनों में लड़ाई ने ज़ेहनी और घिनौना रूप अख़्तियार कर लिया, जिसमें झुग्गीवालों के कंधे से कंधा मिलाकर जरायमपेशा लोगों की भूमिका उत्तरोत्तर बढ़ती गई। दीगर समुदाय के सदस्य को औचक चाकू घोंप देना इस जंग का पसंदीदा तरीक़ा हो गया था। प्रारम्भिक कुछ उन्माद भरे दिनों के बाद कलकत्ते में धर्म की लड़ाई ने एक ऐसे साम्प्रदायिक दंगे का रूप अख़्तियार कर लिया जो आजकल दक्षिण एशिया में एक सामान्य सी घटना है। मुझे आज भी वह घटना याद है जब एक विधवा स्त्री अपने किशोर बच्चों के दंगे में मारे जाने के बाद फूट-फूटकर रो रही थी एवं फ़ौजियों से कह रही थी कि 'मुझे गोली मार दो'। तथापि

यह कहा जा सकता है कि अपेक्षाकृत निर्वैयक्तिक व विविधता भरे कलकत्ता शहर में इस बात की गुंजाइश काफ़ी कम थी कि पंजाब की तरह पड़ोसी एक-दूसरे के शत्रु बन जायें। हालाँकि हाल के अध्ययन में हम पा रहे हैं कि पंजाब में भी पड़ोसियों के आपसी संबंध और सामुदायिक जीवन पूर्णतः विखंडित नहीं हुए थे, जैसा कि पहले सोचा जाता था।

पंजाब में साम्प्रदायिक दंगों की आग दूरदराज़ के ग्रामीण इलाक़ों में पहुँच गई थी जबकि इस प्रकार की घटना बंगाल में नोआखली आदि कुछेक स्थानों में घटित हुई। बंगाल में हिंसा का ताना-बाना बुना गया था। यह दिखाने के लिए अब पर्याप्त साक्ष्य हैं कि जहाँ धार्मिक राष्ट्रवाद के इर्द-गिर्द पंजाब और बंगाल में हुई हिंसा का ताना-बाना बुना गया, वहीं बहुत सारी ऐसी घटनाएँ भी हुईं जिनमें लोगों ने अपनी मनोरुग्णता को अभिव्यक्ति दी। कई मामलों में पुराने हिसाब चुकता किए गए और लालची रिश्तेदारों ने अपने ही परिवार वालों को सताया।

पंजाब में एक बार जब हिंसा की लपटें उठीं तो उसके सामने अन्य सारी घटनाएँ गौण हो गयीं। बंगाल एवं बिहार में भी हिंसा काफ़ी नृशंस थी लेकिन ये सारी घटनाएँ अंशतः मीडिया एवं मध्यवर्गीय दृष्टिपटल व दायरे से बाहर घटीं। पंजाब में हिंसा की विकरालता ने स्थिति को संशयपूर्ण बना दिया था। पंजाब की उथल-पुथल, चालीस-चालीस मील लंबे कारवाँ, हज़ारों-हज़ार अपहृत महिलाएँ, आत्मविनाश की यह महालीला, बड़े पैमाने पर समुदायों का सफ़ाया — ये सब दुनिया की नज़रों से छिप नहीं सकता था। नारीवादी प्रकाशक उर्वशी बुटालिया — जो ख़ुद दंगा-प्रभावित ख़ानदान से आती हैं — ने हाल ही में इन आत्मघाती प्रसंगों का मार्मिक विवरण दिया है। ये आत्मघात की ऐसी कथाएँ हैं, जिन पर किसी फ़ौलादी समुराई को भी गर्व होता।

गांधी का भारत आज़ादी की लड़ाई के दौरान पिछले दो दशकों से सुर्ख़ियों में छाया हुआ था और जब आज़ादी ख़ून से लथपथ मिली तो लगा कि विंस्टन चर्चिल जैसों की साम्राज्यवादी भविष्यवाणी सच हो रही है कि अंग्रेज़ों के बग़ैर भारत हिंसा और अराजकता में डूब जाएगा।

उपलब्ध आँकड़ों के आधार पर पंजाब और बंगाल में कम से कम 5.5 लाख लोग तो मरे ही होंगे और तक़रीबन एक करोड़ अपनी जड़ों से उखड़ गए। लेकिन इन पीड़ितों की व्यथा को इनके अपने समुदायों के संवेदनशील लेखकों की लेखनी ने भी स्वर नहीं दिया। पूर्वी बंगाल के भीषण रक्तपात के चित्रण में भी अकसर सौहार्दपूर्ण आदर्श अतीत की स्मृति या उसकी चाहत ही हावी है। ऋत्विक घटक ने एक-दो फ़िल्मों में त्रासदी को पहचाना तो सही लेकिन पेशकश का जामा युद्ध-पूर्व मार्क्सवाद का दयनीय संस्करण ही रहा। इसके अलावा त्रासदी की गहराई से रूबरू होने की और कोई कोशिश नहीं हुई। पाकिस्तान में सरकारी तौर पर विभाजन को विजय के रूप में देखा जाता है और विस्थापितों को 'मोहाजिर' पुकारा जाता है। लेकिन वहाँ भी कोई क़ुर्बानी की बात नहीं करता — इसे महज़ ब्रिटिश भारत के ख़ात्मे के बाद लूट के बँटवारे का लाज़िमी नतीजा माना जाता है। एक ही व्यक्ति जो हिंसा की इस विशालकाय दीवार के आर-पार ख़ामोशी को तोड़कर हिंसा की संस्कृति को एक हद तक समझ-समझा सका, वह था स'आदत हसन मंटो। तल्ख़ी और आत्मदंश के उसके अफ़सानों और *सियाह हाशिए* में समुदायों और पड़ोस-धर्म के लगभग पूरी तरह विशृंखलित हो जाने की दास्तान है। जहाँ हिंसा की मानसिक रुग्णता और आत्ममुग्धता, आत्म व परपीड़क प्रवृत्तियों का खुलासा मिलता है जिसकी क़ीमत न सिर्फ़ पीड़ितों ने चुकाई बल्कि हिंसकों ने भी।

जनसंहार के बाद लाखों सामान्य जन इतिहास के दो पाटों में फँस गये और उन्हें नये, कई रूपों में अजनबी देशों में धकेल दिया गया, जहाँ इन्होंने एक नयी पहचान ग्रहण की। 1940 के दशक ने दक्षिण एशिया के सार्वजनिक जीवन में एक नए चरित्र को जन्म दिया। शरणार्थी नामक यह जीव विस्थापित, अंशतः उन्मूलित और विद्वेष की भावना से पीड़ित ऐसे समुदाय का हिस्सा था जिसने सामाजिक संबंधों की क्षणभंगुरता, मित्रों के विश्वासघात और अपने एवं दूसरे मनुष्यों की पाशविकता की पराकाष्ठा देखी थी। दक्षिण एशिया की राजनीति पहले जैसी न रही।

दीगर शरणार्थियों की तरह दक्षिण एशियाई शरणार्थियों ने भी बहुत कुछ अपने मन में संजो कर रखा और जलावतनी ज़िन्दगी के अहम तजुर्बे और उस शैली को अगली पीढ़ी को सौंपा। इस व्यक्तित्व शैली ने ऐसी

अद्भुत रचनात्मक ऊर्जा पैदा की जिसकी क़ुव्वत सिर्फ़ बेघरों में ही होती है। लेकिन जलावतन समाज के सार्वजनिक जीवन में क्रूर लुटेरों की उद्यमशीलता के साथ-साथ हताशा की राजनीति भी आई।

बँटवारे के बाद की बेघरबारी और जिजीविषा का कोई सुनियोजित मनौवैज्ञानिक अध्ययन नहीं मिलता। इस प्रकार के अध्ययन का एक उदाहरण अमेरिकी समाजशास्त्री स्टीफ़ेंस केलर का पीएच.डी शोधपत्र है, जिसका प्रकाशन *अपरूटिंग ऐण्ड सोशल चेंज* नामक पुस्तक में मिलता है। यह शोधपत्र बताता है कि वे लोग, जो विभाजनकालीन दंगों मे विस्थापित हो गये थे, वे न केवल अपने व्यावसायिक एवं सार्वजनिक जीवन में बल्कि अपने परिवार के अन्दर भी काफ़ी उग्र हो गये हैं। इनका लोगों पर से भरोसा उठ गया है, इन्हें लगता है कि इनका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता और क़ानून के दायरे से बाहर जाने में भी इन्हें ज़्यादा हिचक नहीं होती।

शायद यही पंजाबी शरणार्थियों की जगज़ाहिर सफलता का राज़ है। बंगालियों व बिहारियों की तुलना में पंजाबियों ने अपनी तार-तार हुई ज़िन्दगी के टुकड़ों को भारत और पाकिस्तान में बेहतर ढंग से पुनर्व्यवस्थित किया है। किसी उद्यमशील व्यक्ति की तमाम मनोवैज्ञानिक पूर्वशर्तों को वे पूरा करते नज़र आते हैं। डेविड सी मैक्लीलैण्ड ने साठ के दशक के व्यक्तित्व की इस क़िस्म को ऐसे ही परिभाषित किया था। बंगालियों ने त्रासदी का वीभत्सतम रूप नहीं देखा था। नोआखली से भी उनमें से ज़्यादा का साक्षात सामना नहीं हुआ था। पूर्वी भारत में आबादी का आरपार होना किसी दिखते हुए ज़ख्म की तरह था न कि यकलख़्त जातीय सफ़ाए की तरह, जिसने हरेक परिवार को झकझोर दिया।

विभाजन पूर्व की आधी से अधिक जनसंख्या अभी भी बांग्लादेश में ही थी जबकि पश्चिम बंगाल में मुसलमानों की जनसंख्या अधिक हो गई है। दूसरी तरफ़ हिन्दुओं व सिक्खों की जनसंख्या का अनुपात पाकिस्तानी पंजाब में और मुसलमानों की जनसंख्या भारतीय पंजाब में नगण्य है।

ग़ुलामी से निकलने के बाद दक्षिण एशिया के पास ख़ुद पर नाज़ करने के लिए अनेक उपलब्धियाँ हैं। उनमें से विचित्र किन्तु सत्य बात यह भी है कि विभिन्न तरह के धर्मावलम्बी अपेक्षाकृत सौहार्दपूर्ण ज़िंदगी जी रहे हैं। शायद पाकिस्तान इस क़िस्म का श्रेय लेने की स्थिति में नहीं है, क्योंकि सन् 47 के बाद वहाँ अल्पसंख्यक तो बचे ही नहीं। विभाजन में दंगों का रिकॉर्ड क़ायम करने के बाद तमाम उतार-चढ़ावों के बावजूद भारत और बांग्लादेश की स्थिति बुरी नहीं कही जा सकती। हिन्दुस्तान में ज़्यादा आँकड़े उपलब्ध होने के चलते यह निष्कर्ष निकालना आसान है।

भारत में स्वतंत्रता के बाद मारे गये लोगों की संख्या कार दुर्घटना में मरने वाले लोगों की संख्या का 1/7वाँ हिस्सा एवं अमेरिका में शहरी आपराधिक घटनाओं में मरने वालों की कुल संख्या का 1/20वाँ हिस्सा है। ख़याल रहे, अमेरिका की जनसंख्या भारत की जनसंख्या की एक तिहाई है। 1992 ई. में बाबरी मस्जिद का सनसनीख़ेज़ विध्वंस एक ऐसी पार्टी द्वारा किया गया जो हिन्दुओं का प्रतिनिधि होने का दावा करती है। लेकिन इस घटना के 5 महीने बाद हुए चुनाव में यही पार्टी ज़िले की 9 विधानसभा सीटों में से 8 पर हार गई, जबकि इन सभी आठ विधानसभा क्षेत्रों में हिन्दू मतदाता बहुमत में थे। एक ताज़ा अखिल भारतीय सर्वेक्षण से पता चलता है कि (अधिकांश) बहुसंख्यक हिन्दुओं ने इस असभ्य कृत्य का विरोध किया था।

लेकिन ऐसा लगता है कि दक्षिण एशिया के राष्ट्र अभी भी अपने जन्म के समय हुए जनसंहारों का सामना करने के लिए तैयार नहीं हैं। उन यादों को भले ही इतिहास के पन्नों से देशनिकाला दे दिया जाता रहा हो, लेकिन ये नियमित तौर पर दुःस्वप्न की तरह लौट आती हैं।

भूत को बतौर इतिहास रचा जा सकता है और इसे निस्पंद भी किया जा सकता है। लेकिन इसकी कोई गारंटी नहीं है कि वह फ़्रॉयड के अवचेतन की तरह नहीं लौटेगा। इससे मुक्ति तभी संभव होगी जब दक्षिण एशिया की नई पीढ़ियाँ उस अतीत से मुखामुखम न हो लें। बँटवारे के दंगों को महज़ ऐसे नहीं पढ़ना चाहिए कि किसी ने किसी और के साथ क्या किया बल्कि उन्हें इस रोशनी में देखने की ज़रूरत है कि दक्षिण एशिया ने ख़ुद के साथ क्या किया। इस इलाक़े को आज़ादी से ऊपर विभाजन की हिंसा को रखना सीखना होगा क्योंकि यादों के इस आग के दरिया से गुज़र कर ही हम ग़ुलामी से मुक्ति का जश्न मनाने का हक़ हासिल कर पाएँगे।

बनारस : मृत्युनगर की पौराणिकी

प्रेम कुमार तिवारी

'भूगोल को ऐतिहासिक और इतिहास को भौगोलिक परिप्रेक्ष्य में पढ़ा जाना चाहिए'[1]

हेरोडोटस

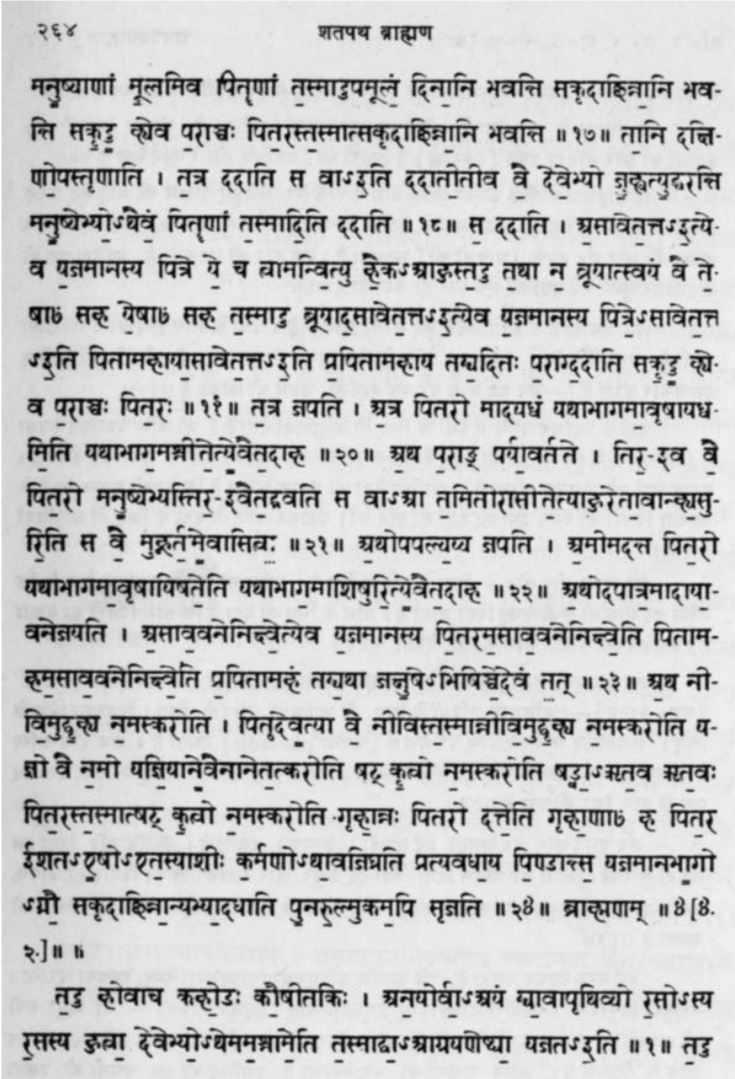
बनारस नगर का अध्ययन हेरोडोटस के इस कथन के आलोक में करें तो पायेंगे कि बनारस को 'बनारस' जैसा महत्व दिलाने वाली चीज़ उसकी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति है। विश्व मानचित्र पर यह नगर अक्षांश 25^o 18$'$ उत्तर और देशांतर 83^o पूरब पर स्थित है।[2] बनारस गंगा के अर्द्धचंद्राकार प्रवाह के उभरे हुए कगार पर एक उठान लिए हुए सदियों से स्थित है। गंगा का यह किनारा एक ऊँचे कंकरीले से बना है, जिसकी ऊँचाई समुद्र तल से लगभग 90 मीटर है।[3] भूमध्य रेखा से दूर उत्तरी कटिबंध में, ऊष्ण जलवायु वाले भाग में स्थित होने के कारण यहाँ की जलवायु सम है। यहाँ गर्मी का औसत 28^o सेल्सियस तथा वर्षा का 40 से 50 इंच है।[4] विभिन्न ऋतुओं में यहाँ की जलवायु स्थिति के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। इस क्षेत्र के भूगर्भिक स्तरों से मिट्टी के सिवा कुछ नहीं निकलता। यहाँ मिट्टी में 35 फुट तक लोम, उसके बाद 30 फुट तक नीली खांच, फिर 27 फुट तक जमी मिट्टी और उसके बाद पानी के स्रोतों वाली लाल बालू मिलती है।[5] प्राकृतिक बनावट की दृष्टि से बनारस क्षेत्र दो भागों में विभाजित है : एक उपरवार, दूसरा तरी। इन कारकों की भिन्नता ज़मीन, प्रकृति और नदी के बहाव पर भी अवलंबित है। अपने भौगोलिक वैशिष्ट्य और प्राकृतिक समृद्धि के कारण ही यह क्षेत्र सदियों पहले हमारे पूर्वजों के आकर्षण का केन्द्र बना। बनारस का इतिहास इस भू-प्रदेश पर वैदिक आर्यों के आगमन के इतिहास से जुड़ा हुआ है। भारत में आर्यों का प्रवेश कब हुआ इसका ठीक-ठीक समय निश्चित करना तो कठिन है, लेकिन आर्यों का पूर्व दिशा की ओर प्रसार *शतपथ ब्राह्मण* के एक उपाख्यान से सूचित है (1/4/1/10,19)। इसमें कहा गया है कि विदेध माथव 'सरस्वती' से चलकर, जहाँ वैदिक संस्कृति की मूल भूमि थी, सदानीरा पार करते हैं और विदेह भूमि में पहुँचते हैं। सम्भवतः उसी समय काश्यों ने बनारस में अपना अड्डा जमाया।[6] ये काश्य आर्यों की ही एक शाखा थे।

आर्य भारत में अर्द्ध विचरणशील पशुचारियों के रूप में आये थे। उनका निर्वाह मुख्यतः पशु उत्पादों से होता था।[7] वे पशुओं में घोड़ा, गाय, भेड़, कुत्ता और सूअर पालते थे। आर्यों की इस काश्य नामधारी शाखा के इस भू-प्रदेश पर बसने का मूल कारण इस क्षेत्र की भौगोलिक और प्राकृतिक श्रेष्ठता रही होगी। कृषि योग्य उर्वर भूमि, विस्तृत चरागाह, फल और चंदन आदि के घने जंगल और बारहो मास गंगा में प्रवाहित शीतल और स्वच्छ जल जीवन की स्थायी निधि थे। जीवनदायी परिस्थितियों के कारण ही यह भू-प्रदेश आर्यों का निवास-स्थल बना। फिर धीरे-धीरे काल क्रमानुसार विकास करते हुए बहुत सी विशिष्टताएँ इससे जुड़ती चली गयीं। और आगे चल कर यह विश्व में 'काशी', 'वाराणसी' और 'बनारस' आदि नामों से मशहूर हुआ।

जनसाधारण काशी और गंगा के महात्म्य को अनादि काल से मानते हैं, लेकिन यह सच नहीं है। सुदूर प्राचीन काल में बनारस की स्थापना का आधार धार्मिक न था। प्रारम्भिक वैदिक साहित्य (*ऋग्वेद*) में काशी क्षेत्र का बहुत ही साधारण ढंग से, और गंगा नदी का संयोगवश उल्लेख मिलता है। यमुना, घाघरा आदि नदियों का

संदर्भ तो बहुत गौण है। बौद्ध जातकों में भी बनारस की धार्मिक प्रवृत्तियों के बदले काशी की बहुत सी बातों पर प्रकाश पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि काशीवासी धार्मिक कट्टरता के पक्षपाती नहीं थे बल्कि वे विचार स्वातंत्र्य के पक्षपाती थे। देश की मूल धार्मिक धाराओं का, जिनमें शिव और यक्षनाग पूजा मुख्य थीं, काशी में अधिक प्रचार था। काशी में आज भी शिव की महिमा वैसी ही है। बनारस को धार्मिक महिमा बाद में चलकर मिली। वैदिक काल में धर्म और संस्कृति का केन्द्र ब्रह्मावर्त था, जो सरस्वती और द्विषद्वती नदियों के मध्य था। *मनुस्मृति* में इस संदर्भ पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। *मनुस्मृति* आर्य-देश को चार भागों में विभाजित करती है। इसमें सबसे पवित्र और सबसे सीमित ब्रह्मावर्त है, जो कुरुक्षेत्र के आस-पास है। इससे कुछ बड़ा, इसके चारों ओर ब्रह्मर्षि देश है, जिसमें कुरुक्षेत्र के अतिरिक्त मत्स्य देश, पंचाल और सूरसेन प्रदेश हैं। यह ब्रह्मावर्त से कम महिमा वाला था। इसके बाद मध्यदेश था, जिसकी पूर्वी सीमा प्रयाग तक पहुँचती थी और उत्तर-दक्षिण में क्रमशः हिमालय तथा विंध्य पर्वत तक। इसकी महिमा ब्रह्मावर्त और ब्रह्मर्षि देश दोनों से कम थी। सबसे बड़ा भूभाग आर्यावर्त था। यह हिमालय तथा विंध्य पर्वत श्रेणियों के मध्य में पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक था। इसकी धार्मिक महिमा सबसे कम थी।[8] बनारस क्षेत्र इसी भूभाग के अन्तर्गत आता था। धार्मिक रूप से महत्वहीन होने के कारण ही वेदों में इसका उल्लेख बहुत साधारण और कम है। *'अथर्ववेद'* की पैप्पलाद शाखा (5/12/14) में एक मंत्रकार एक रोगी के लिए तक्मा (मलेरिया) से प्रार्थना करता है कि वह उसे छोड़कर गंधार, काशी और मगध में अपना अधिकार फैलावे।[9] काशी के संदर्भ में ऐसे उल्लेख काशी की हीन महिमा की ओर ही संकेत करते हैं।

आगे चलकर काशी को जो महत्व और सम्मान मिलना शुरू हुआ, वह उसकी वाणिज्यिक समृद्धि के कारण था। गंगा के तट पर स्थित होने के कारण बनारस उस युग का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र बन गया। उस युग में नदियाँ यातायात का श्रेष्ठ माध्यम होने के कारण व्यापारिक दृष्टि से बहुत महत्व रखती थीं। व्यापारिक केन्द्र अधिकांशतः नदियों के तट पर ही होते थे। यही कारण है कि दुनिया के प्रारम्भिक सभी नगर किसी न किसी नदी के तट पर ही विकसित हुए। प्रारम्भिक जीवन के लिए नदियां जीवन का आधारभूत तत्त्व थीं। इनके बिना जीवन असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य था। नदी के इस महत्व को मनुष्य ने कभी विस्मृत नहीं होने दिया और आज भी नदियां हमारे लिए वैसा ही पवित्र अर्थ रखती हैं। जल जीवन का प्राणतत्त्व है। हिन्दू धर्म के लिए यह तत्त्व सिर्फ भौतिक ही नहीं आध्यात्मिक महत्व भी रखता है। यह जीवन की पवित्रता से जुड़ा है। इसी पवित्रता ने गंगा को इतना महिमामण्डित किया। गंगा और काशी अभिन्न हैं। इतिहास बताता है कि जिस बनारस के सामने हिन्दू आत्मा श्रद्धा और गर्व से नत हो जाती है वह बनारस अनादिकाल से वैसा नहीं था। इसका धार्मिक स्वरूप और संस्कार धीरे-धीरे सदियों में निर्मित हुआ। इस निर्माण में सबसे बड़ा काम पुराणों और पुराणकालीन कुछ धर्मग्रंथों ने किया। इसलिए यदि ध्यान से देखें तो पुराण-पूर्व और पुराण-पश्चात के बनारस की धार्मिक महिमा में एक फ़र्क़ दिखायी देता है। एक विशिष्ट धार्मिक महिमा बनारस को पुराणों की रचना के बाद ही मिलनी शुरू हुई। पुराणकारों ने बनारस को एक सामान्य 'दुनियावी नगर' के रूप में नहीं, बल्कि एक 'महत्तर आध्यात्मिक' और 'ईश्वरीय नगर' के रूप में देखा और वृहत्तर समाज में उस रूप को एक महत्ता दिलायी, उसके प्रति श्रद्धा और भक्ति का भाव जगाया। पुराणों ने बनारस के भौतिक जीवन में धार्मिकता का तो संचार किया ही, बनारस की आत्मा में चमत्कारों को प्रतिष्ठित किया। पुराणों द्वारा ये चमत्कार कुछ ऐसे निर्मित हुए कि हिन्दू जनता उन चमत्कारों में आज भी वैसी ही आस्था, विश्वास और आकर्षण महसूस करती है। इन चमत्कारों ने ही बनारस को एक मिथकीय नगर बना दिया। इस तरह से रचे बनारस को एक पौराणिक नगर मानने में कोई अति नहीं है। सवाल उठता है कि बनारस के मिथकीय पौराणिक नगर बनने के ऐतिहासिक कारण क्या थे? इतिहास साक्षी है कि बनारस की आत्मा को मिथकीय बनाने वाले सारे पुराण गौतम बुद्ध के बाद के हैं। दरअसल तत्कालीन युग के एक वृहत्तर समाज में लोकप्रियता प्राप्त कर रहे बौद्ध धर्म के बरक्स अपनी धार्मिक-सांस्कृतिक अस्मिता को अक्षुण्ण बनाए रखने और उसकी पुनर्प्रतिष्ठा के लिए पुराणकारों ने पुराणों की रचना की और इस तरह बनारस की एक विशिष्ट पहचान निर्मित की। सभी पुराण बनारस को एक महत्तर मोक्षदाभूमि के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। वैसे तो मोक्षदा पुरियाँ सात मानी गयी हैः


२६४ शतपथ ब्राह्मण

मनुष्याणां मूलमिव पितॄणां तस्मादुपमूलं दिनानि भवन्ति सकृदाच्छिन्नानि भवन्ति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात्सकृदाच्छिन्नानि भवन्ति ॥१७॥ तानि दक्षिणोपस्तृणाति । तत्र ददाति स वा इति ददातीतीव वै देवेभ्यो जुह्वत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्योऽथैवं पितॄणां तस्मादिति ददाति ॥१८॥ स ददाति । असावेतत्त इत्येव यजमानस्य पित्रे ये च त्वामन्वित्यु हैक आहुस्तदु तथा न ब्रूयात्स्वयं वै तेषाᳫं सह येषाᳫं सह तस्मादु ब्रूयादसावेतत्त इत्येव यजमानस्य पित्रेऽसावेतत्त इति पितामहायासावेतत्त इति प्रपितामहाय तद्यदितः पराग्ददाति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः ॥१९॥ तत्र जपति । अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वमिति यथाभागमश्नीतेत्येवैतदाह ॥२०॥ अथ पराङ् पर्यावर्तते । तिर इव वै पितरो मनुष्येभ्यस्तिर इवैतद्भवति स वा आ तमितोरासीतेत्याहुरेतावान्ह्यसुरिति स वै मुहूर्तमेवासित्वा ॥२१॥ अथोपपर्यावृत्य जपति । अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषतेति यथाभागमाशिषुरित्येवैतदाह ॥२२॥ अथोदपात्रमादायावनेजयति । असाववनेनिक्ष्वेत्येव यजमानस्य पितरमसाववनेनिक्ष्वेति पितामहमसाववनेनिक्ष्वेति प्रपितामहं तद्यथा जक्षुषेऽभिषिञ्चेदेवं तत् ॥२३॥ अथ नीविमुद्वृह्य नमस्करोति । पितृदेवत्या वै नीविस्तस्मान्नीविमुद्वृह्य नमस्करोति यज्ञो वै नमो यज्ञियानेवैनानेतत्करोति षट् कृत्वो नमस्करोति षड्वा ऋतव ऋतवः पितरस्तस्मात्षट् कृत्वो नमस्करोति गृहान्नः पितरो दत्तेति गृहाणाᳫं ह पितर ईशत एषो एतस्याशीः कर्मणोऽथावजिघ्रति प्रत्यवधाय पिण्डान्त्स यजमानभागो ऽग्नौ सकृदाच्छिन्नान्यभ्यादधाति पुनरुल्मुकमपि सृजति ॥२४॥ ब्राह्मणम् ॥४ [४.२.]॥ ॥

तदु होवाच कहोडः कौषीतकिः । अनयोर्वा अयं द्यावापृथिव्यो रसोऽस्य रसस्य हुत्वा देवेभ्योऽथेममश्नामेति तस्माद्वा आग्रयणेष्ट्या यजत इति ॥१॥ तदु

अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची, अवन्तिका।
पुरी द्वारवती चैव सप्तैता मोक्षदायिका ।।10

लेकिन काशी को छोड़कर अन्य छह पुरियों में प्राण त्याग करने पर एक जन्म के लिए पुनः काशी में जन्म लेना पड़ता है। और फिर वहाँ मरकर मोक्ष मिलता हैः

अन्यानि मुक्तिक्षेत्राणि काशीप्राप्तिकराणि हि।
काशीं प्राप्य विमुच्येत नान्यथा तीर्थकोटिभिः ।।11

इसका कारण यह है कि इन छह पुरियों की उत्पत्ति तथा उनका विलय काशी में ही माना गया है :

काश्याः सर्वा निःसृताः सृष्टिकाले ।
काश्यामन्तः स्थितिकाले वसन्ति ।।
काश्यां लीनाः सर्वसंहार काले
ज्ञातव्यास्ताः मुक्तपुर्यो भवन्ति ।।12

मोक्ष के संदर्भ में काशी का ऐसा महात्म्य है कि प्रयागादि अन्य तीर्थों में मरने से आलोक्य, सारूप्य तथा सानिध्य मुक्तियाँ ही मिलती है। सायुज्य मुक्ति केवल काशी में ही मिल सकती है।

सायुज्यमुक्तिरत्रैव सान्निध्यादितिरर्थान्यतः।
सुलभा सोऽपि नो नूनं काश्यां मोक्षोऽस्ति हेलया।।[13]

बनारस तत्कालीन युग का सर्वाधिक सम्पन्न और सुविख्यात नगर था। वाणिज्यिक दृष्टि से भी वह एक प्रमुख नगर था। एक तरह से वह जीवन की सारी गतिविधियों का केन्द्र था। भगवान बुद्ध भी अपने धर्म का प्रथम उपदेश देने सबसे पहले यहीं आये थे। उन्होंने कहा थाः

भेरी नादयितुं धर्म्यां काशीं गच्छामि साम्प्रतम।
न सुखाय न यशसे आर्तत्राणाय केवलम् ।।

(अर्थात धर्मभेरी बजाने के लिए इस समय मैं काशी जा रहा हूँ - न सुख के लिए और न यश के लिए, अपितु केवल आर्तों की रक्षा के लिए।)

बौद्ध धर्म का उदय तत्कालीन युग में एक धार्मिक और सांस्कृतिक क्रांति था। समाज में प्रचलित परंपरागत धार्मिक-सामाजिक मान्यताओं, मूल्यों और आदर्श को बौद्ध धर्म के ज़रिये एक ज़बरदस्त चुनौती मिली, जिससे उस युग का पूरा सामाजिक और धार्मिक ताना-बाना चरमरा गया। भगवान बुद्ध ने समाज के सामने मोक्ष का एक बहुत ही सीधा और सरल मार्ग दिखाया। यह मध्यम मार्ग था जिसे अष्टांगिक मार्ग के रूप में प्रचारित किया गया। इस मार्ग का अनुयायी होने के लिए जाति, वर्ण, लिंग और धर्म की कोई बाध्यता नहीं थी। यह सबके लिए सुलभ था। इसलिए समाज के अधिकांश का इसके प्रति आकर्षण एक स्वभाविक बात थी। लोग एकबारगी इस धर्म की ओर मुड़ गये। बौद्ध ग्रंथों से पता चलता है कि भगवत की बोधि प्राप्ति से बहुत पहले मुक्तिपथ के अन्वेषकों में आत्मपीड़ा का मार्ग प्रचलित था। जीवन की सभी आवश्यकताओं से मुक्ति और अंततः स्वयं शरीर से ही आत्मा की मुक्ति को वे धर्म का लक्ष्य मानते थे। अतः वे ऐसी वस्तु से दूर रहते थे, जो विलासिता कही जा सकती थी। लेकिन बुद्ध ने दोनों अतियों के मध्य का मार्ग अपनाया। उन्होंने न तो कठोर तप में मुक्ति देखी, न ही वे सांसारिक सुखों की ओर गये। इस ऊर्जावान, क्रांतिकारी और जनप्रिय धर्म से परंपरागत धर्म की टक्कर एक कठिन बात थी। पुराणकार इसी कठिनाई को तरह-तरह की चमत्कारपूर्ण कथाएँ और मान्यताएँ रच कर इसे रोकने और कम करने की कोशिश कर रहे थे। उस युग में रचे गये नानपुराण और दूसरे धर्मग्रंथ इसी के परिणाम हैं। इन्हीं ग्रंथों से आगे चलकर बनारस को एक ख़ास स्वरूप और संस्कार मिला जो मौलिक और लौकिक कम आध्यात्मिक और पारलौकिक अधिक था। बनारस के बारे में पुराणों की घोषणाएँ विलक्षण हैं, उन पर आज विश्वास तो क्या आश्चर्य ही किया जा सकता है। लेकिन इसके बावजूद यदि लोगों की बनारस में आस्था और श्रद्धा आज बची हुई है तो उसको क्या कहा जा सकता है। बहरहाल, पुराणादि ग्रंथों में वर्णित बनारस को देखना कम दिलचस्प नहीं होगा। पुराणकार बताते हैं कि काशी तीनों लोकों में पवित्रतम स्थान रखती है, यह आकाश में स्थित है तथा मर्त्यलोक से बाहर हैः

वाराणसी महापुण्या त्रिषुलोकेषु विश्रुता ।
अन्तरिक्षे पुरी सा तु मर्त्यलोकस्य बाह्यतः ।।[15]

हे पार्वती! तीनों लोकों का सार मेरी यह काशी सदा धन्य हैः

वाराणसीति भुवनत्रयसारभूता धन्या सदा ममपुरी गिरिराजपुत्रिः।[16]

पृथ्वी, आकाश आदि में जितने तीर्थ हैं, यह अविमुक्त क्षेत्र (काशी) स्वभाव से उन सबका अतिक्रमण करके स्थित हैः

भूलोके चान्तरिक्षे च दिवि तीर्थानि यानि च ।
अतीत्य वर्तते सर्वाव्यविमुक्तम् स्वभावतः ।।[17]

यह अविमुक्त क्षेत्र सब तीर्थों, स्थानों तथा ज्ञानों में उत्तम हैः

उत्तमं सर्वतीर्थानां स्थानानामुत्तमं महत् ।
ज्ञानानामुक्तमं ज्ञानविमुक्तं पुरं मम ।।18

सब देवों से सेवित काशी सब क्षेत्रों तथा तीर्थों से उत्तम हैः

तीर्थानामुत्तमं तीर्थं क्षेत्राणां क्षेत्रमुत्तमम्।
वाराणसीति विख्यात सर्वदेवनिषेवितम् ।।19

वरुणा और अस्सी नदियों के बारे में लिखा गया है कि इंद्रियों द्वारा किये सभी दोषों का निवारण करने वाली 'वरुणा' है और सभी पापों का नाश करने वाली 'अस्सी'।

सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारति तेन वरणेति ।
सर्वानिन्द्रिय कृतान्पापन्नाशयति तेनासीति ।।20

'वरुणा' तथा 'अस्सी' इन दो नदियों के बीच में वाराणसी नगर स्थित है। यहाँ स्नान, जप, होम, मरण तथा देव पूजन सभी अक्षय होते हैंः

वरुणा च नदी चासी तपोर्मध्ये वाराणसी ।
अत्र स्नानं जपो होमो मरणं देवपूजनम् ।।21

वरुणा और अस्सी नदियों के बीच स्थित क्षेत्र काशी नाम से प्रसिद्ध है। इसी को 'अविमुक्त' क्षेत्र कहते हैंः

अविमुक्तः वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठत ।22

प्रलय के समय 'काशी' भगवान शंकर द्वारा अपने त्रिशूल के अग्रभाग पर धारण कर ली जाती हैः

कामारि शूलाग्रधृता लपेऽपि ।23

जल के ऊपर यह छत्राकार ज्योति क्या है? जो पृथ्वी के डूब जाने पर भी नहीं डूब रही हैः

छत्राकारं तु कि ज्योतिर्जलादूर्ध्वं प्रकाशते ।
निमग्नायां धरण्यांतु न निमज्जति तत्कथम् ।। 24

आकाश में जो छत्राकार परम ज्योति दिखायी दे रही है। इसके भी ऊपर जो श्रेष्ठ ज्योति है वही वेदों में काशी कही गयी हैः

छत्राकारं परंज्योतिर्दर्श्यते गगने चरम् ।
तत्परं परमं ज्योतिः काशीति प्रथितं श्रुतौ । 25

पंचकोस स्वरूप वाले इस क्षेत्र को कुछ लोग रूद्रवास, ब्रह्मवास, विष्णुवास अथवा वाराणसी कहते हैंः

पंचक्रोशातमकं लिंग रूद्रावासमथापरे ।
ब्रह्मवासं, विष्णुवासं वाराणसीमथापरे ।। 26

इस पंचकोस के भीतर ब्रह्महत्या का प्रवेश नहीं होता क्योंकि वहाँ अट्ठाईस करोड़ शिवलिंग हैः

पंचक्रोशान्तरे राजन्ब्रह्महत्या न सर्पति।
अष्टाविंशति कोट्यस्तु लिंगानां तत्र भारत ।। 27

शिव कहते हैं कि हे पार्वती! सिद्ध गंधर्वों से सेवित वाराणसी में जहाँ पुण्य नदी त्रिपथगा गंगा आती है वह क्षेत्र मुझे प्रिय हैः

वाराणस्यां नदी पुण्या सिद्धगन्धर्वसेविता ।
प्रविष्टा त्रिपथा गंगा तस्मिन् क्षेत्रे मम प्रिय ।।28

इस एक बात पर लगभग सभी पुराणों ने बल दिया है कि काशी क्षेत्र में ऐसा सूई की नोंक भर भी स्थान नहीं है, जहाँ जाने वाले को मोक्ष न मिलेः

सूच्याग्रमात्रमपि नास्ति ममास्पदेऽस्मिन् ।
स्थानं सुरेश्वरि न यत्र मृतस्य मोक्षः ।।[29]

एक लंबे दौर में पुराणों ने बनारस की जैसी छवि निर्मित की, वही धीरे-धीरे जनसामान्य के मध्य मान्यता प्राप्त करती गयी और उसी से यह नगर एक मिथकीय धार्मिक नगर के रूप में प्रतिष्ठित होता गया। बनारस एक मात्र ऐसा नगर है, जहाँ मोक्ष के संदर्भ में वर्णाश्रम जैसी कठोर व्यवस्था भी महत्वहीन हो जाती है। पुराण लिखते हैं कि यहाँ मोक्ष में लिंग, जाति, वर्ण आदि का कोई भेद नहीं होता। पशु भी इसके अधिकारी माने जाते हैं। यहाँ मोक्ष अपमृत्यु होने पर भी मिलता हैः

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वै वर्णसंकरा।
स्त्रियोः म्लेच्छाश्च ये चान्ये संकीर्णाः पापयोनयः ।।
कीटाः पिपीलिकाश्चैव ये चान्ये मृगपक्षिण : ।
चंद्रार्द्धमौलिनः सर्वे ललाटाक्षा वृषध्वजाः।
शिवेमय पुरे देवि जायते नात्र संशयः ।।[30]

समय बीतने के साथ-साथ इन पुराणों ने जनसामान्य के विवेक और चेतना को कहीं बहुत गहरे प्रभावित किया। इन पुराणों में लोगों की आस्था दृढ़ हुई और पुराण-कथाओं में लोगों का विश्वास बैठने लगा। एक दौर की काल्पनिकता और मिथक एक-दूसरे दौर में यथार्थ और इतिहास समझी जाने लगीं। काशी के प्रति लोगों में आस्था इस सीमा तक बढ़ी कि लोग विधानपूर्वक आग में जलकर और गंगा में कूदकर प्राण देने लगे, जिससे कि मृतात्मा सीधे शिव के मुख में प्रवेश कर सके। उन्नीसवीं सदी तक लोग मोक्ष पाने के विचार से, यहाँ गंगा में, गले में पत्थर बाँधकर डूब जाते थे और अपने प्राण दे देते थे। इसलिए कि हिन्दू मान्यता के अनुसार मोक्ष को जीवन का सबसे बड़ा और अंतिम पुरुषार्थ माना जाता है और इसे प्राण देकर भी पा लेना हितकर समझा जाता है। आज भी यहाँ इस विचार से आने वालों की संख्या कम नहीं है। यद्यपि आधुनिकता ने लोगों के दिलो-दिमाग़ पर छाये अंधविश्वासों की स्याही को काफ़ी धोया है, पर उसके निशान अब भी बदस्तूर हैं।

दरअसल नगरों का, और ख़ासतौर से प्राचीन नगरों का, यह विलक्षण स्वभाव होता है कि वे समय के साथ बदलते नए संस्कारों को तो स्वीकार करते चलते हैं लेकिन पुराने संस्कारों को इस रफ़्तार में एकबारगी छोड़ नहीं देते, बल्कि उनसे भी जकड़े होते हैं। इसलिए ऐसे नगरों के भौतिक जीवन में तो हम निरंतर एक बदलाव देखते हैं, लेकिन उनकी आत्मा इन बदलावों से कोसों दूर दिखायी देती है। बनारस नगर इसका ऐतिहासिक प्रमाण है। ऊपर से देखने पर इस नगर का भौतिक जीवन जैसा लगता है, इसकी आत्मा वैसी आधुनिक नहीं। आज भी बनारस की 'आत्मा' परंपरागत धार्मिक और सांस्कृतिक संस्कारों को ढोती हुई वैसे ही अक्षुण्ण बनी हुई है। बनारस के मिथकीय संस्कारों को चुनौती भी मिलती रही है और उसका महिमामण्डन भी होता रहा है। इस तरह यह नगर तीन हज़ार वर्षों से सब कुछ देखता-सुनता, जीवित चला आ रहा है। यह नगर हमारी सभ्यता का साक्षी है।

किसी ज़माने में *मत्स्यपुराण* में लिखी यह बातः 'देवो, देवि नदी गंगा मिष्टान्नं शुभागतिः; वाराणस्यां विशालक्षि वासः कस्य न रोचते' उन्नीसवीं सदी में भी जैसी की तैसी दिखायी देती है, जब भारतेन्दु के नाटक का एक पात्र (गंगापुत्र) कहता हैः 'भूखे पेट कोई नहीं सूतता ऐसी है ई कासी'[31] कहना न होगा कि फ़्रेज़ वही है सिर्फ शिल्प और भाषा बदल दी गयी है। बनारस के बारे में ऐसी लोकोक्तियाँ हमेशा प्रचलित रही हैं। इस बात को लोग आज भी दुहराते दिखायी देते हैं किः

चनाचबैना गंगाजल जो पुरवै करतार
काशी कबहुं न छाड़िये विश्वनाथ दरबार।[32]

एक शायर ने भी लिखा हैः

ख़ाक भी जिस ज़मीं की पारस है,
शहर मशहूर यह बनारस है।[33]

मिर्ज़ा ग़ालिब इस शहर को हिन्दुओं का काबा मानते थे और लिखा हैः

तआलल्ला बनारस चश्मे बद्दूर
बहिश्ते खुर्रमो फ़िरदौसे मामूर
इबादत ख़ानए नाकूसियां अस्त
हमाना काबए हिन्दोस्तां अस्त।[34]

अर्थात (हे परमात्मा, बनारस को बुरी दृष्टि से दूर रखना, क्योंकि यह आनंदमय स्वर्ग है। यह घण्टा बजाने वालों अर्थात हिन्दुओं का पूजा स्थान है, यानी यही हिन्दुस्तान का काबा है।) लेकिन बनारस के बारे में यही एकमात्र सत्य नहीं है। इस मिथकीय नगर की धार्मिक और आध्यात्मिक सत्ता को चुनौतियाँ भी मिलती रही हैं। ऐसी पहली चुनौती पंद्रहवीं सदी में कबीर से मिली। काशी की मोक्षदा भूमि को उन्होंने अपने अनुभूत-सच से चुनौती दी और ऐसी बातों को अस्वीकार किया। उन्होंने बिल्कुल सहज और सरल ढंग से परंपरा से चले आते मिथकीय विचारों और विश्वासों को हमारे सामने रखा और बताया कि कैसे ये सच नहीं हैं। अपने अनुभव-ज्ञान से उन्होंने धार्मिक मान्यताओं के सामने एक ऐसा सवाल खड़ा कर दिया, जो एक ओर काशी की महिमा को चुनौती देता था तो दूसरी ओर ईश्वर की सत्ता को। उन्होंने दो टूक कहाः

जो काशी तन तजै कबीरा।
तो रामहिं कौन निहोरा।।

यह एक ऐसी नज़र थी, जो किसी बात को, धर्म को भी, सुनी-सुनायी बातों से नहीं मानती थी। उसे पहले अपने अनुभव से जाँचती थी, फिर उस पर विश्वास करती थी। काशी का यह जुलाहा कबीर 'कागद की लेखी' को नहीं मानता था, चाहे वह पुराण हो या कोई और धर्मग्रंथ उसे विश्वास सिर्फ़ अपनी आँखों पर था। इसलिए कि आँखों से देखी बातें उलझाती नहीं थीः

तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखन की देखी।
मैं कहता सुरझावनहारी, तू देता उरझाई रे।

पुराणकारों ने बनारस को जिन चमत्कारों से निर्मित किया था, कबीर की उनमें कोई आस्था नहीं थी। वह हर बात को अपने आलोक में देखना चाहते थे। इसलिए कबीर के लिए यह नगर वैसा ही स्थान था जैसा 'मगहर'[35] - न उससे कुछ अधिक न उससे कुछ कम।

बनारस की महिमा को मिलने वाली चुनौती का एक उदाहरण उन्नीसवीं सदी में लिखा भारतेन्दु का नाटक है - *प्रेमयोगिनी* जहाँ एक परदेशी पात्र इस नगर को बिल्कुल यथार्थवादी ढंग से हमारे सामने रखता है। लहजा देखिएः

देखी तुमरी कासी लोगों, देखी तुमरी कासी।
जहाँ बिराजे विश्वनाथ, विश्वेश्वर जी अविनासी।
आधी कासी भाट मंडेरिया, ब्राह्मन और संन्यासी।
आधी कासी रंडी मुंडी, रांड खानगी खासी।
लोग निकम्मे भंगी गंजड़, लुच्चे बे — बिसवासी।
महा आलसी, झूठे, शुहदे, बेफ़िकरे बदमासी।
देखी तुमरी कासी लोगो, देखी तुमरी कासी।[36]

इस तरह का एक लंबा वर्णन इस नाटक में काशी के संदर्भ में है, जो कहने की आवश्यकता नहीं कि बहुत दिलचस्प है और जो बनारस की अच्छी नहीं, बल्कि सच्ची तस्वीर हमारे सामने रखता है।

न मालूम कितने मिथकों और यथार्थों से यह नगर धीरे-धीरे करके सदियों में निर्मित हुआ है, यह आज एक पहेली जैसा है। इस नगर को देखकर एक कवि ने कुछ ऐसी ही उलझनों में पड़कर कहा होगाः

अद्‌भुत है इसकी बनावट
यह आधा जल में है
आधा मंत्र में
आधा फूल में है
आधा शव में
आधा नींद में है
आधा शंख में
अगर ध्यान से देखो
तो यह आधा है
आधा नहीं है
जो है वह खड़ा है
बिना किसी स्तम्भ के
जो नहीं है उसे थामे हैं
राख और रोशनी के ऊँचे-ऊँचे स्तम्भ
धुएँ के
ख़ुशबू के
आदमी के उठे हुए हाथों के स्तम्भ
किसी अलक्षित सूर्य को
देता हुआ अर्घ्य
शताब्दियों में इसी तरह
गंगा के जल में
अपनी एक टांग पर खड़ा है यह शहर
अपनी दूसरी टांग से बिल्कुल बेख़बर ।[37]

संदर्भ एवं टिप्पणी

1 माजिद हुसैन, *एवॉलूशन ऑफ़ ज्यॉग्रैफ़िकल थॉट्स*, रावत पब्लिकेशंस, दिल्ली, 1998, पृ. 270.
2 आर.एल.सिंह, *ए स्टडी इन अर्बन ज्यॉग्रफ़ी*, नंदकिशोर पब्लिकेशंस, वाराणसी, 1955, पृ. 18-19.
3 वही, पृ. 21.
4 वही, पृ. 20-21.
5 वही, पृ. 23.
6 पं. कुबेरनाथ सुकुल, *वाराणसी वैभव*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1977, पृ. 11.
7 रोमिला थापर, *भारत का इतिहास*, राजकमल प्रकाशन, वाराणसी, 1982, पृ. 41.
8 *वाराणसी वैभव*, पृ. 5.
9 डॉ. मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1985, पृ. 20.

10 *वाराणसी वैभव,* पृ. 15.
11 *ब्रह्मवैवर्त पुराण,* 2-13/39, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1982, पृ. 15.
12 वही, 2-13/14, पृ. 15.
13 *काशी खण्ड,* 94/55, पृ. 36.
14 अश्वघोष, *बुद्धचरितम्* , चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983, पृ. 15.पृ. 2.
15 रामबचनसिंह, *स्कन्द पुराण,* वाराणसी : उ. - पृ. 12.
16 रामबचनसिंह, *मत्स्य पुराण* पृ. 18.
17 रामबचन सिंह, *लिंग पुराण,* भारतीय विद्या प्रकाशन, 1973, वाराणसी, पृ. 19.
18 *कूर्म पुराण,* नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1980, पृ. 20.
19 *नारदीय पुराण,* नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1988, पृ. 20.
20 *जाबालोपनिषद,* खण्ड - 2, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1991, पृ. 16.
21 *अग्निपुराण,* 3520, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1980, पृ. 10.
22 *जाबालोपनिषद्* , पृ. 11.
23 *सनत्कुमर संहिता,* पृ. 11.
24 *बह्मवैवर्तपुराण,* पृ. 12.
25 वही.
26 *स्कन्द पुराण,* पृ. 12.
27 वही.
28 *काशी का इतिहास,* पृ. 4.
29 *वाराणसी वैभव,* पृ. 39.
30 *कूर्मपुराण,* पृ. 36.
31 भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, *भारतेन्दु समग्र,* प्रेमयोगिनी, हिंदी प्रचार का संस्थान, वाराणसी, 1989, पृ. 412.
32 विश्वनाथ मुखर्जी, *बना रहे बनारस,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1958, पृ. 48.
33 वही, पृ. 5.
34 वही, पृ. 35.
35 मगहर के बारे में यह लोक विश्वास है कि यहाँ मृत्यु के बाद अगला जन्म गधे का होता है। सामान्य जनता में फैले इस लोक विश्वास को तोड़ने के लिए ही कबीर मगहर में मरने के विकल्प को सहर्ष स्वीकार करते हैं।
36 *भारतेन्दु समग्र,* प्रेमयोगिनी, भारतेन्दु, पृ. 412.
37 *प्रतिनिधि कविताएँ,* केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1998, पृ. 37.

शहराती साहित्यः एक बानगी

संकलनः शशिकांत

यह शहर, शहरी जीवन, शहरी संवेदनाओं पर केंन्द्रित उपन्यासों की एक ऐसी फ़ेहरिस्त है जिसे न तो मुकम्मल कहा जा सकता है और न ही प्रातिनिधिक। फिर भी हमने कोशिश ज़रूर की है कि इस विषय पर केंद्रित ज़्यादा से ज़्यादा उपन्यासों को इस फ़ेहरिस्त में शामिल कर पाएँ। एक तरह से कहें तो यह इस विषय पर बनने वाली किसी भी सूची का एक छोटा-सा हिस्सा है। चुनांचे हम आप से उम्मीद करते हैं कि हमारी इस कोशिश में नुक़्स लाख निकालें पर कमियों को दूर करने में हमारे हिस्सेदार भी बनें। जहाँ लगे कि कोई महत्वपूर्ण रचना छूट गई है उसका ब्योरा हमें भेजें क्योंकि इस सूची को जल्दी ही हम इंटरनेट पर भी डालना चाहते हैं ताकि ज़्यादा से ज़्यादा लोग इसका फ़ायदा उठा सकें और यह फ़ेहरिस्त अनवरत बढ़ती भी रहे।

बहुत सारी पुरानी रचनाओं के बारे में कई अहम जानकारियाँ (प्रकाशक, स्थान आदि) नहीं मिल पाईं। फिर भी ऐसी कई रचनाओं को हमने इसलिए शामिल किया क्योंकि इस तरह कम से कम पुरानी बहुत सारी अनुप्लब्ध रचनाओं के बारे में लोग जान तो सकेंगे और मुमकिन है किसी के पास ऐसी नई-पुरानी किताबों की कोई जानकारी वाक़ई मिल ही जाए।

इस ग्रंथलेख के दो हिस्से हैं। पहला हिस्सा 'उपन्यास में शहर' शहर केंद्रित उपन्यासों को तिथिक्रम में प्रस्तुत करता है और दूसरा 'उपन्यासेतर गद्य विधाओं में शहर' लेख की शैली में है।

ः उपन्यास में शहर ः

***भाग्यवती*, श्रद्धाराम फुल्लौरी, 1877**

इसमें उन्नीसवीं सदी के काशी के समाज तथा हरिद्वार के कुम्भ मेले की तस्वीर देखने को मिलती है। कथा की मुख्य पृष्ठभूमि काशी है जहाँ के उच्च मध्यवर्गीय ब्राह्मण समाज की कहानी कही गई है। इन परिवारों के संबंधों की कथा के रूप में इस समाज की आर्थिक स्थिति, आचार-व्यवहार, रस्मोरिवाज, परम्परागत मूल्य-मान्यताओं आदि का विश्वसनीय अंकन किया गया है। इसकी भाषा दिल्ली, आगरा, सहारनपुर, अम्बाला के इर्द-गिर्द की है।

***निस्सहाय हिन्दू*, राधाकृष्ण दास, लेखन 1881, विक्टोरिया प्रेस, बनारस, 1890**

इस उपन्यास में काशी के तत्कालीन वातावरण, घाटों और गलियों का यथार्थवादी वर्णन किया गया है। उपन्यासकार ने दो गुंडों की बातचीत के माध्यम से उनके चरित्र और विशेष प्रकार के लहज़े से युक्त बनारसी बोली का रोचक नमूना पेश किया है।

***परीक्षा गुरु*, लाला श्रीनिवास दास, 1882, पुनर्प्रकाशन, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992**

इसे हिंदी का पहला उपन्यास माना जाता है। इस उपन्यास में पुरानी दिल्ली के गली-कूचों में रहनेवाले एक पुराने परिवार को कथावस्तु का आधार बनाया गया है। इस उपन्यास की कथा दिल्ली की पृष्ठभूमि में उभरते मध्यवर्गीय मूल्यों, व्यापारी वर्ग और पुराने ख़र्चीले सामंती रहन-सहन के बीच निहित तनावों पर केंद्रित है।

***नूतन चरित्र*, रत्नचंद्र 'प्लीडर', 1883**

'हिन्दी प्रदीप' में 1883 में इसके कतिपय परिच्छेद प्रकाशित हुए लेकिन इसका पुस्तकाकार प्रकाशन 1893 में हुआ। यह उपन्यास प्राचीन प्रेमाख्यानों के निकट है, पर इसका परिवेश इसे उपन्यास के निकट लाता है। उपन्यास की अधिकतर घटनाएँ हरथला स्टेशन, दिल्ली और फरीदकोट में घटती हैं, जो वास्तविक भौगोलिक स्थान हैं।

***सद्‌भाव का अभाव*, बालकृष्ण भट्ट, 1889**

यह अधूरा उपन्यास 'हिन्दी प्रदीप' में फ़रवरी-अगस्त 1889 ई. में प्रकाशित हुआ था। मुग़ल शासन के अंतिम दौर में जब पेशवाओं का शासन समाप्त हो चुका था और ईस्ट इंडिया कम्पनी अपनी पकड़ मज़बूत कर रही थी तब बुन्देलों, पिंडारियों, रुहेलों और जाटों की लूटमार से मध्य भारत में अराजकता का माहौल छाया हुआ था। उपन्यास में इस माहौल से भागकर इलाहाबाद पहुँचे एक विस्थापित परिवार की कथा प्रस्तुत की गई है। उपन्यासकार ने इलाहाबाद की अंग्रेज़ बस्ती 'सिविल लाइंस' का प्रामाणिक वर्णन किया है।

***स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी*, किशोरीलाल गोस्वामी, रचना 1889, प्रथम प्रकाशन 1901**

इस उपन्यास में उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में, जब आरा-जगदीशपुर में 1857 के विख्यात स्वाधीनता सेनानी बाबू कुँवर सिंह की ताल्लुक़ेदारी थी, सामन्ती व्यवस्था की ऐतिहासिक झाँकी प्रस्तुत की गई है। कथाकार ने कुँवर सिंह का चरित्र बखान करने के साथ-साथ तत्कालीन आरा शहर का भी वर्णन किया है।

***चपला वा नव्य समाज चित्र*, किशोरीलाल गोस्वामी, 1903**

बनारस की पृष्ठभूमि में एक नायिका के माध्यम से लगभग फंतासी की शक्ल में लिखी गयी यह कहानी आधुनिक समाज के कथित पतनशील चरित्र की कहानी है पर साथ ही साथ यह एक आधुनिक शहर के रोमांस को भी खड़ा करती है।

***लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा*, किशोरीलाल गोस्वामी, 1906 (?)**

इस ऐतिहासिक उपन्यास में लखनऊ के नवाबी दौर के पतनशील सामन्ती समाज का चित्रण है। उपन्यास का कथानक लखनऊ के नवाब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के अय्याश बेटे नसीरुद्दीन हैदर के काल पर आधारित है।

***नेटाली हिन्दू*, भवानी दयाल, 1920**

इसमें दक्षिण अफ्रीका में नेटाल में रहने वाले भारतीय प्रवासियों की समस्याओं का चित्रण किया गया है। यह हिन्दी का पहला उपन्यास है जिसमें भारतीय प्रवासियों पर अंग्रेज़ उपनिवेशवादियों के शोषण और दमन का वर्णन किया गया है।

***कलकत्ता रहस्य*, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', 1925**

'मतवाला' के 21 नवम्बर 1925 के अंक में प्रकाशित एक विज्ञापन में 'कलकत्ता रहस्य' के बारे में लिखा गयाः 'यहाँ कलकत्ता में होने वाली एक से बढ़कर एक आश्चर्यपूर्ण, रोमांचकारी, करुण और वीभत्स आदि रसों से पूर्ण तथा चित्ताकर्षक सच्ची घटनाओं का बड़ा ही सुन्दर ख़ाका खींचा गया है। कलकत्ता के अच्छे और बुरे, बड़े और छोटे, ऊँचे और नीचे, अमीर और ग़रीब सभी प्रकार के आदमियों के चित्र चित्रित किये गये हैं'।

***चंद हसीनों के ख़ुतूत*, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', 1927, पुनर्प्रकाशन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987**

कलकत्ते की पृष्ठभूमि में हिन्दू युवती और मुस्लिम युवक के प्रेम और बाद के दंगों की कहानी पर केंद्रित इस उपन्यास ने काफी लोकप्रियता अर्जित की थी।

***दिल्ली का दलाल*, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', कलकत्ता, 1927**

दिल्ली का एक नये महानगर के रूप में उदय, अपराध के साथ इसका बनता रिश्ता, चाँदनी चौक की गलियों में स्त्रियों का वेश्याओं के रूप में व्यापार एक महानगर में अपराध के अवश्यंभावी रिश्तों को तो रेखांकित करता ही है, साथ ही तत्कालीन हिंदू-मुस्लिम राजनीति, आर्य समाज वगैरह की गतिविधियों पर भी नज़र डालता है।

***दिल्ली का व्यभिचार*, ऋषभचरण जैन, हिंदी पुस्तक कार्यालय, दूसरा संस्करण, 1929**

इस उपन्यास में दिल्ली में फैले व्यभिचार से संबंधित 12 कहानियाँ हैं। लेखक ने समाज में व्याप्त कुरीतियों, कुविचारों और कुख्यात की श्रेणी में आनेवाले कर्मों का खुलकर उल्लेख किया है।

***कंकाल*, *जयशंकर प्रसाद*, 1930, पुनर्प्रकाशन, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1999**

इसका कथा-क्षेत्र इलाहाबाद, लखनऊ, हरिद्वार आदि शहर हैं। उपन्यास का स्वर उद्देश्यपरक व्यक्तिवादी है परन्तु शैली वर्णनात्मक है। हिन्दू समाज की विसंगतियों और अवैध सन्तानों के यथार्थ को उद्घाटित करने वाले इस उपन्यास में प्रयाग, काशी, हरिद्वार, मथुरा, वृन्दावन जैसे तीर्थस्थानों में धर्म के नाम पर प्रचलित मिथ्याडम्बरों और दुराचारों का यथार्थ अंकन किया गया है।

***महाकाल*, श्रीकृष्ण मिश्र, 1930**

हिन्दी का यह पहला उपन्यास है जिसमें दार्जिलिंग और उसके आसपास के पहाड़ी प्रदेश में निवास करने वाले पहाड़ियों के कष्टपूर्ण जीवन को अभिव्यक्त किया गया है।

***इन्दौर का रहस्य* (छह भाग), एम. एल. सोजतिया, प्रभात किरण, इन्दौर, 1931-32**

यह उपन्यास 'लन्दन रहस्य' और 'कलकत्ता रहस्य' आदि की तर्ज़ पर लिखा गया है। इसमें ख़ूनख़राबा, मारपीट, व्यभिचार आदि से संबद्ध अपराधप्रधान घटनाओं की बहुलता है।

***दिल्ली की शहज़ादी*, रामप्यारे त्रिपाठी, बनारस 1933 (दूसरा संस्करण)**

उस दौर का अत्यंत लोकप्रिय उपन्यास जो औरंगज़ेब और शिवाजी के संघर्ष तथा शिवाजी और रोशनआरा के कथित प्रेम पर आधारित है।

***तितली*, जयशंकर प्रसाद, 1934, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पुनर्प्रकाशन, 1985**

यथार्थ की पीठिका पर आदर्श की स्थापना करने वाले इस उपन्यास में किसानों-मज़दूरों पर होने वाले अत्याचारों, तहसीलदारों-महन्तों के हथकंडों, वेश्याओं की धनलोलुपता आदि के अलावा कलकत्ता के जुआरियों-जेबकतरों के कारनामों तथा वहाँ के निम्न वर्ग की दयनीय स्थिति का चित्रण किया गया है।

***लंदन में भारतीय विद्यार्थी*, राजकुमार मानसिंह, अजमेर, इलाहाबाद, 1935**

'प्राक्कथन' के अनुसार 'इस पुस्तक के लिखने का उद्देश्य यह है कि हिन्दुस्तान से इंग्लैंड जाने वाले विद्यार्थी और उनके अभिभावक वहाँ की स्थिति को समझें, परखें और उससे जीवन-निर्माण में सहायता ले सकें'।

***गोदान*, प्रेमचंद, 1935-36**

हिंदी के इस बहुचर्चित कालजयी उपन्यास में गाँव और नगर कथाएँ प्रायः समानांतर रूप से आगे बढ़ती हैं। शायद इसीलिए नलिन विलोचन शर्मा ने इस उपन्यास के स्थापत्य को 'पूर्णतः समानांतर स्थापत्य शैली' की संज्ञा दी है।

***दिल्ली का कलंक*, ऋषभचरण जैन, 1936**

इस उपन्यास में लेखक ने दिल्ली में फैले भ्रष्टाचार, वेश्याओं के जीवन, व्यभिचारिणी स्त्रियों के रहस्यमय चरित्र और काली करतूतों, वेश्याओं के कारण समाज में फैलने वाले अपराध आदि का चित्रण किया है।

***शेखर एक जीवनी*, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, पहला खंड-1939, दूसरा खंड-1944, सरस्वती प्रेस, बनारस, 1939**

बाल मनोविज्ञान को केंद्र में रख कर लिखे गये इस बहुचर्चित उपन्यास की कथा देवरिया, पटना, मद्रास, लाहौर, दिल्ली अदि शहरों से होकर गुज़रती है।

***गिरती दीवारें*, उपेन्द्रनाथ अश्क, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 1946**

1920-30 के दशकों में स्थित यह उपन्यास जालन्धर के कल्लोवानी मोहल्ले की कहानी है। एक निम्न मध्यवर्गीय मोहल्ला जिसकी घुटनभरी गलियों से बच निकलने की जोड़-तोड़ और निकल न पाने की विवशतायें आदि इस कहानी को पूरा करती हैं।

***शोले*, भैरव प्रसाद मिश्र, 1946**

कानपुर के मज़दूर आंदोलन पर आधारित इस उपन्यास-कथा के माध्यम से साम्यवादी नेतृत्व में मज़दूरों की संगठित शक्ति की पूँजीपति वर्ग पर विजय दिखाई गई है।

***गुनाहों का देवता*, धर्मवीर भारती, 1949, पुनर्प्रकाशन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1983**

आधुनिक हिंदी उपन्यासों में लगभग क्लासिक प्रेम उपन्यास का दर्जा प्राप्त कर चुका यह उपन्यास स्वतंत्रता के ठीक बाद के इलाहाबाद पर लिखा गया है। एक ऐसा दौर जिसमें प्रेम आधुनिकता की परिभाषा से जूझते हुए भी निम्न मध्यवर्गीय रूमानी प्रेम की ट्रैजिक नियति को पाने को बाध्य है और जहाँ शहरी व्यक्तिवाद भी उसे मुक्ति दिला पाने में अक्षम है।

***नदी के द्वीप*, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1951**

लखनऊ, दिल्ली, श्रीनगर आदि से होकर गुज़रता यह उपन्यास मूलतः एक प्रेम कहानी है। स्वयं अज्ञेय ने इसे 'चार संवेदनाओं का अध्ययन' कहा है। ये चार संवेदनाएँ उपन्यास के चार केंद्रीय पात्रों के चरित्र से जुड़ी हुई हैं।

***सूरज का सातवाँ घोड़ा*, धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1952**

इलाहाबाद की ही पृष्ठभूमि पर लिखा यह छोटा उपन्यास अपेक्षाकृत ज्यादा प्रौढ़ माना जाता है। शहर के निम्न मध्यवर्गीय जीवन में प्रेम की उपस्थिति की विडंबनाओं को और आपस में जुड़ीं इन कहानियों के दुख को सिद्धांत का जामा पहनाने के बौद्धिक उपक्रम का मखौल उड़ाता यह उपन्यास लोक कथानक शैली में लिखा गया है।

***बलचनमा*, नागार्जुन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1952**

पटना और दरभंगा पर केंद्रित इस उपन्यास में कृषक मजदूरों पर ज़मींदारों के अत्याचार और शोषण का चित्रण किया गया है। उपन्यास का केंद्रीय पात्र बलचनमा निरक्षर होने के बावजूद राजनीतिक चेतना से संपन्न है। उसे यह चेतना एक उदार कांग्रेसी नेता फूल बाबू के साथ पटना आने और उनके साथ रहने से प्राप्त होती है। फूल बाबू के जेल चले जाने के बाद वह पटना में ही उनके एक मित्र परिवार के यहाँ रहता है, जहाँ उसके अनुभव, सोचने-समझने की क्षमता और राजनीतिक चेतना में भी और प्रखरता आती है। फूल बाबू के जेल से लौटने पर उसे उन्हीं के साथ दरभंगा के कांग्रेस आश्रम में रहने का मौका मिलता है जहाँ वह फूल बाबू तथा अन्य कांग्रेसी नेताओं के असली चेहरे को देखता है।

***मुट्ठी भर काँकर*, जगदीशचन्द्र, 1952**

इसमें देश विभाजन के बाद पंजाबी शरणार्थियों के सैलाब के फलस्वरूप दिल्ली के आसपास के जाट किसानों के बेघर होने और अपनी पुश्तैनी ज़मीन से उखड़ जाने की त्रासदी का चित्रण किया गया है।

***लेडीज़ क्लब*, मंजुल भगत, 1952**

इसमें महानगरों की अभिजातवर्गीय स्त्रियों के आत्मप्रदर्शन, झूठी ज़िन्दगी, कृत्रिम आचरण और उनके जीवन के अंतर्विरोधों को व्यंजित किया गया है।

***बहती गंगा,* शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', 1952, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1967**

इस उपन्यास में बनारस शहर को उपन्यासकार ने नायक के रूप में प्रस्तुत किया है।

***बाहर भीतर,* डॉ. देवराज, 1954**

किशोरावस्था के प्रेम के चित्रण के साथ इलाहाबाद विश्वविद्यालय परिसर के जीवन का अंकन इस उपन्यास को एक अतिरिक्त आयाम प्रदान करता है।

***जहाज़ का पंछी,* इलाचंद्र जोशी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1955**

कलकत्ता की बेकारी के इर्द-गिर्द सड़क की ज़िंदगी पर यह उपन्यास लिखा गया है। बेकारी की हताशा से निकलती हुई यह ज़िंदगी कहानी के मुख्य पात्र को जेल, अस्पताल, पागलख़ाने तक की सैर कराती है।

***सागर, लहरें और मनुष्य,* उदयशंकर भट्ट, आत्माराम ऐंड सन्स, दिल्ली, 1956**

इसमें बम्बई के हाशियाई लोगों की ज़िन्दगी का मार्मिक चित्रण है। उपन्यासकार ने वहाँ के मछुआरों की सामूहिक ज़िन्दगी, समुद्र के साथ उनके संघर्ष और अभावों से लड़ती ज़िन्दगी का साकार चित्रण किया है। इस तरह बम्बई महानगर में उनके जीवन की अदम्य आकांक्षा, उससे उपजती हताशाओं, लोक संस्कृति बनाम शहरी संस्कृति के द्वन्द्व को केन्द्र में रखकर यह उपन्यास बुना गया है।

***उखड़े हुए लोग,* राजेन्द्र यादव, राजकमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1956**

शहर कलकत्ता, आर्थिक स्वावलंबन बनाम नयी बनती मर्यादाओं के संघर्ष के बीच स्त्री स्वतंत्रता की खोज और एक महानगर की उसमें सक्रिय भूमिका इस उपन्यास का मुख्य कथ्य है।

***झूठा सच* (भाग-1) *वतन और देश,* यशपाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1958**

विभाजन की त्रासदी पर केंद्रित दो भागों में लिखा गया यह उपन्यास कई परिवारों के साथ-साथ कई शहरों की गाथा कहता है। पहले भाग में विभिन्न पात्रों की वैचारिक प्रतिबद्धताएँ वर्गीय संघर्षों और आपसी जद्दोजहद के साथ लाहौर की गलियों, बाज़ारों और सड़कों के माध्यम से सामने आती है। इसकी कहानी लाहौर, दिल्ली, लुधियाना, अमृतसर आदि शहरों से होकर गुज़रती है।

***शह और मात,* राजेन्द्र यादव, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1959**

बम्बई की पृष्ठभूमि में विकसित यह उपन्यास शहरी आधुनिकता की पड़ताल है। महानगर में एक लेखक, एक पुरुष और एक प्रेमी के तिहरे स्तरों पर जीवन को 'साधने की कला' के दो छोरों पर खड़ी हैं अलग-अलग पृष्ठभूमि से आई दो महिलायें, जो इस कला में कहीं शिकार हैं तो कहीं उसकी सहभागिनी।

***भूले बिसरे चित्र,* भगवतीचरण वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1959**

लखनऊ में स्थित एक कायस्थ परिवार की चार पीढ़ियों की कहानी के माध्यम से इस उपन्यास में युवा पीढ़ी बनाम गुज़रती पीढ़ी और नगरी वैयक्तिकता बनाम पारम्परिक पारिवारिक ढाँचे के आपसी अंतर्द्वन्द्वों को बयान किया गया है।

***बोरीवली से बोरीबंदर तक,* शैलेश मटियानी, 1959**

'बोरीवली से बोरीबंदर तक' बम्बई की 'मुंगरापाड़ा बस्ती' की निम्नवर्गीय ज़िन्दगी की ऐसी कहानी है जो इसके भीतर रहने वाले श्रमिकों, शराब की भट्ठी चलाने वाले दादाओं, कम उम्र की वेश्याओं एवं दलालों की तंग ज़िंदगानियों के बहाने महानगर की तथाकथित आधुनिक रंगीनियों के अंधेरे पहलुओं को सतह पर लाती है। लेखक ने बम्बई की ज़िन्दगी को आधार बनाते हुए 'कबूतरख़ाना' (1960) और 'क़िस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई' (1961) की भी रचना की है। इनके लेखन में मराठी और गुजराती मिश्रित हिन्दी का प्रयोग किया गया है, जिसे 'बम्बइया हिन्दी' के नाम से जाना जाता है।

झूठा सच **(भाग-2)** ***देश का भविष्य*, यशपाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1960**

उपन्यास के इस दूसरे भाग में मुख्यतः दिल्ली और लखनऊ, जालन्धर, मसूरी आदि के माध्यम से नये देश के निर्माण की कहानी कही गयी है जहाँ लाहौर से आये शरणार्थी दिल्ली में पहाड़गंज के उजड़े इलाकों से लेकर कनॉट प्लेस की नई अभिजात ज़िन्दगी के बीच अपनी पहचान बनाने में लगे हैं।

***नया काशी खंड*, बनारस, 1960**

इसमें कहानी के रूप में ईसाई धर्म के प्रभाव में बनारस तथा भारत के अन्य भागों में होने वाले भावी परिवर्तनों का वर्णन किया गया है।

***अजय की डायरी*, डॉ. देवराज, 1960**

बनारस हिंदू विश्वविद्यालय परिसर की पृष्ठभूमि में एक असफल वैवाहिक जीवन और मध्यवर्गीय सामाजिक-नैतिक मूल्यों के दबाव में प्रेम के त्रासद अंत का चित्रण करने वाले इस उपन्यास में संभवतः पहली बार विश्वविद्यालय परिसर का चित्रण किसी लेखक की चिंता का विषय बनता दिखाई देता है।

***अंधेरे बंद कमरे*, मोहन राकेश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1961**

छठे दशक की दिल्ली की पृष्ठभूमि में कलाकारों, लेखकों और पत्रकारों की कनॉट प्लेस और कॉफ़ी हाउस में गहमागहमी तथा दूतावासों की अभिजात्य ज़िन्दगी के साथ-साथ ग़रीब और गंदी कॉलनियों की ज़िन्दगी का भी चित्रण किया गया है। यह उपन्यास एक पत्रकार के नज़रिये से आज़ादी के बाद के वर्षों की बदलती दिल्ली, अख़बारों, कॉफ़ी हाउसों, पुरानी से नई दिल्ली के सफ़र, नई आधुनिकता के बीच फँसे स्त्री-पुरुष संबंधों की कहानी है।

***पचपन खंभे लाल दीवारें*, उषा प्रियंवदा, 1961, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1968**

इस उपन्यास में आधुनिक भारतीय स्त्री के नये जीवन संदर्भों को गहरी सहानुभूति और विविधता के साथ प्रस्तुत किया गया है। दिल्ली विश्वविद्यालय के एक महिला कॉलेज की पृष्ठभूमि में रचित यह कहानी शहर, संवेदनाओं और कार्यों के बीच संघर्षरत एक अकेली स्त्री की दास्तान है।

***लौटे हुए मुसाफ़िर*, कमलेश्वर, राजपाल ऐंड सन्ज़, दिल्ली, 1961**

अपने गृह-शहर मैनपुरी पर केंद्रित इस उपन्यास में लेखक ने देश विभाजन और साम्प्रदायिक मारकाट से वहाँ के आंतरिक माहौल पर पड़ने वाले असर का चित्रण किया है। इन घटनाओं ने मैनपुरी के शहरवासियों को इस तरह गुमराह किया है कि वहाँ का पूरा माहौल ही बदल गया और संवेदनशून्यता हावी होती चली गयी।

***उमराव जान अदा*, मिर्ज़ा हादी अली रुस्वा, अनुवाद - रघुपति सहाय फ़िराक़, संगम पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, 1961**

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में बदलते लखनऊ और फ़ैज़ाबाद जैसे शहरों की कहानी एक तवायफ़ की ज़िंदगी के माध्यम से बयान की गई है।

***शहर में घूमता आईना*, उपेन्द्रनाथ अश्क, 1962, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-6, 1972**

लाहौर की पृष्ठभूमि में लिखा गया एक उपन्यास। इसमें लाहौर जो तथाकथित रूप से एक महानगर है, जालन्धर से आये एक व्यक्ति के लिये एक अदम्य आकर्षण का केंद्र है। एक महानगर में व्यक्तिवादी आधुनिकता की तलाश और इस खोज से उपजती हताशायें महानगर के कई अंतर्विरोधों को सामने लाती हैं।

***वे दिन*, *निर्मल वर्मा*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1964**

इसमें एक संवेदनशील भारतीय पात्र के अवलोकन बिन्दु से विश्वयुद्धोत्तर चेकोस्लोवाकिया के हताशा और अवसाद से भरे परिवेश को प्रस्तुत किया गया है। सन् साठ के दशक में तत्कालीन चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग की दुनिया, जहाँ एक हिन्दुस्तानी छात्र अपने अस्तित्व के संकट से गुज़र रहा है।

***जुलूस*, फणीश्वरनाथ रेणु, 1965, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1978**

आँचलिक साहित्य के महत्वपूर्ण लेखक रेणु का यह लघु उपन्यास विभाजनोत्तर पूर्णिया (उत्तरी बिहार) के छोटे से शहर और उसकी बदलती राजनैतिक आबोहवा को दर्शाता है। पूर्वी पाकिस्तान से आए शरणार्थियों की दैनिक जद्दोजहद, बंगाली और बिहारी सामाजिकताओं के साथ-साथ यह उपन्यास पूर्णिया शहर की औपनिवेशिक जगहों और संस्कृतियों की झलक भी पेश करता है।

***मछली मरी हुई*, राजकमल चौधरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1966**

यह उपन्यास बदलते शहर की आधुनिकता को उसकी सेक्शुअॅलिटी की बदलती अवधारणाओं से परिभाषित करता है। स्त्री समलैंगिकता या लैस्बियनिज़्म के बहाने आधुनिकता के जेंडर-मूल्यों पर यह उपन्यास प्रश्नचिन्ह खड़ा करता है। इसमें कलकत्ता के उद्योग जगत की भी तस्वीर प्रस्तुत की गयी है।

***अमृत और विष*, अमृतलाल नागर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1966**

लखनऊ नागर जी के उपन्यासों का मुख्य शहर है। अयोध्या, काशी, कानपुर, इलाहाबाद आदि शहर भी उनके उपन्यासों में आते हैं। इन शहरों में विभिन्न जनपदों के निवासी अपनी बोली-बानी के साथ आते हैं। इस उपन्यास में लखनऊ शहर की गलियों और बारादरियों का वर्णन है। इसके अलावा इसमें लखनऊ के शहरी मध्यवर्गीय जीवन और देश की समकालीन मूल्यहीन राजनीति का भी चित्रण है।

***बूंद और समुद्र*, अमृतलाल नागर, 1966, किताब महल, इलाहाबाद, संस्करण-6, 1986**

आज़ादी के बाद के वर्षों में नये बनते-बदलते समाज की आकांक्षाओं, उसके संघर्षों को बुनने के प्रयास में लखनऊ शहर किस प्रकार से इस ज़मीन को तैयार कर रहा था, पारिवारिक संबंधों को शहरी आधुनिकता किस प्रकार पुनर्परिभाषित कर रही थी, यह इस उपन्यास का मुख्य कथ्य है।

***बीस रानियों का बाइस्कोप*, राजकमल चौधरी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1966**

बंबई के फ़िल्म जगत की कहानी विश्वसनीय और संवेदनात्मक रूप में प्रस्तुत की गई है। यह 'बदसूरती और बदसूरत सच्चाइयों' की कहानी है। छलकपट, उठापटक और देह व्यापार की दुनिया में सच्चे कलाकारों की असफलता की त्रासदी प्रस्तुत करना उपन्यासकार का लक्ष्य है।

***शहर था, शहर नही था*, राजकमल चौधरी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1966**

इस उपन्यास की ज़मीन पटना पर केन्द्रित है और उसी के माध्यम से एक नये उभरते शहरी मध्यवर्ग के आपसी संबंधों, पारस्परिक तनावों की कहानी कही गई है।

***समुद्र में खोया हुआ आदमी*, कमलेश्वर, राजपाल ऐण्ड सन्ज़, दिल्ली, 1967**

कमलेश्वर अपने उपन्यासों में अकसर शहरी मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं को विषय के रूप में चुनते हैं। मध्यवर्ग का आदमी किस प्रकार आधुनिक सभ्यता की दौड़ में अपना अर्थ खोता जा रहा है, यही इस उपन्यास का कथ्य है।

***अलग-अलग वैतरणी*, शिवप्रसाद सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1967**

लेखक ने इस उपन्यास में यह जताने की कोशिश की है कि नगरीय सभ्यता के साथ विकसित पूँजीवादी समाज में धर्म तथा सामाजिक मूल्य मानव के कर्म के नियामक नहीं रहे हैं बल्कि उनका स्थान अब पूँजी ग्रहण करती जा रही है।

***एक पति के नोट्स*, महेन्द्र भल्ला, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1967**

इसका केंद्रीय विषय आधुनिक दाम्पत्य जीवन है, जो उपन्यासकार की नज़र में नितांत खोखला, बनावटी और अभिनयात्मक हो गया है।

***रुकोगी नहीं राधिका*, उषा प्रियंवदा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1967**

आधुनिक स्त्री की जटिल मानसिकता, भटकाव, पीड़ा और विद्रोह को अंकित करनेवाले इस उपन्यास की कथानायिका राधिका उस आधुनिक स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है जो परम्परागत मूल्यों और नैतिक तथा आचरणगत विधान को स्वीकार नहीं करती।

***कुछ ज़िन्दगियाँ बेमतलब*, ओमप्रकाश दीपक, 1968**

उपन्यास का आरम्भ दिल्ली के एक पिछड़े इलाक़े की ज़िन्दगी से हुआ है, जिसके अंकन में उपन्यासकार ने सूक्ष्म प्रेक्षण क्षमता और गहरी संवेदनशीलता का परिचय दिया है।

***न आने वाला कल*, मोहन राकेश, राजपाल ऐंड सन्ज़, नई दिल्ली, 1968**

इसका परिवेश पहाड़ का एक अनाम शहर और वहाँ का एक मिशनरी स्कूल है। कथानक इस माहौल में एक अध्यापक के इर्द-गिर्द घूमता है जो उस परिवेश की संवेदनशून्यता और पत्नी से संबंध-विच्छेद से ऊबकर त्यागपत्र देने का निर्णय करता है और वहाँ से चला जाता है।

***टोपी शुक्ला*, राही मासूम रज़ा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1969**

राही की पाठशाला — अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय — की बौद्धिक-सामाजिक ज़िन्दगी का दिलकश ख़ाका। नायक बलभद्र नारायण उर्फ़ टोपी शुक्ला साझी ज़मीन, साझी संस्कृति की अनोखी मिसाल है। लेकिन, हिन्दू-मुस्लिम दोनो तरफ़ैन के कठमुल्ले उसको पागल क़रार देते हैं और उसकी ज़िन्दगी मुहाल कर देते हैं। उसका अंत मानीख़ेज़ है, कुछ-कुछ 'टोबाटेक सिंह' या 'तमस' के 'जरनैल' जैसा, फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि टोपी अघोषित 'पागल' है।

***हिम्मत जौनपुरी*, राही मासूम रज़ा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1969**

यह एक ऐसे मुसलमान की गाथा है जो अपने ग़ाज़ीपुर शहर को बेहद प्यार करता है। वह बंबई जाकर भी ग़ाज़ीपुर शहर को नहीं भूलता और मरते समय उसकी जबान पर ग़ाज़ीपुर ही रहता है।

***धूपछाँही रंग*, गिरीश अस्थाना, 1970**

युद्ध और दफ़्तर की ज़िन्दगी का चित्रण। इस वृहदाकार उपन्यास के लगभग तीन सौ पृष्ठों में कलकत्ता के पूँजीपति-उद्योगपति समाज का चित्र सामने आता है।

***वह अपना चेहरा*, गोविन्द मिश्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1969**

इस उपन्यास में लेखक ने अपना दफ़्तरी अनुभव दर्शाया है, जहाँ बॉस से लेकर अधीनस्थ कर्मचारी तक, सब अलग-अलग मुखौटे लगाए बनावटी आचरण के साथ जीते हैं।

***उतरती हुई धूप*, गोविन्द मिश्र, राजपाल ऐंड सन्स, दिल्ली, 1971**

किशोर वय के रोमांस और बाद में यथार्थ से टकराकर उसके चूर होने की कथा है यह उपन्यास जिसमें कॉलेज परिसर में प्रेमियों के भावुकतापूर्ण रिश्ते का चटख चित्रण है।

***पुराना लखनऊ*, अब्दुल हलीम 'शरर', अनुवादक–नूर नबी अब्बासी, नैशनल बुक ट्रस्ट, 1971**

उन्नीसवीं सदी के बहुप्रतिष्ठित पत्रकार, उपन्यासकार और गद्यकार की क़लम से नवाबी लखनऊ ख़ासकर वाजिद अली शाह के वक़्त का ऐतिहासिक ख़ाका। लिबास, खानपान, शालीनता, रहन-सहन, रस्मोरिवाज़, धार्मिक विश्वास और मान्यताएँ, मेले-ठेले, मनोरंजन और खेल-कूद, हथियार, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, शिष्टाचार और इसी प्रकार के विभिन्न सांस्कृतिक पक्षों पर बहुमूल्य जानकारी से लबरेज़।

***एक चूहे की मौत*, बदीउज़्ज़मा, विकास आई प्रिंटर्स, दिल्ली, 1971**

नगरीय युग की नौकरशाही की निर्ममता तथा क्रूरता को उद्घाटित करना इस उपन्यास का उद्देश्य है। यह व्यवस्था आज मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को नष्ट कर रही है। इसकी यांत्रिक प्रक्रिया किसी विशिष्ट जीवन को पनपने नहीं देती। यह प्रक्रिया जीवन में सर्जनात्मकता के स्थान पर विवशता के बोध को अधिक गहराती है।

***पत्थरों का शहर,* सुरेश सिन्हा, 1971**

इस उपन्यास में नगरीय नई पीढ़ी के दिशाहीन भटकाव का अनुभूतिपूर्ण चित्रण किया गया है ।

***तीसरा आदमी,* कमलेश्वर, 1971, राजपाल ऐंड सन्ज़, दिल्ली, 1982**

उपन्यास में महानगरीय परिस्थितियों में आर्थिक दबाव के कारण तीसरे आदमी के प्रवेश से पति-पत्नी के संबंधों में किस प्रकार दरार पड़ने लगती है और पति ही तीसरा आदमी बन जाता है, इसकी निहायत कचोटनेवाली स्थिति का वर्णन लेखक ने किया है।

***कटा हुआ आसमान,* जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, 1971, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981**

बंबई की महानगरीय ज़िन्दगी में प्रवासी मध्यवर्गीय समाज की घुटन भरी विवशता तथा टूटन का विश्वसनीय अंकन हुआ है। मुख्य कथा के माध्यम से उपन्यासकार ने बंबई के परिसर जीवन, कॉलेजों के प्रबंधन में सेठों के नाजायज़ हस्तक्षेप के अलावा बंबई की भागदौड़, फुटपाथों पर बजबजाती ज़िन्दगी, मज़दूर संघों के संघर्ष, सौन्दर्य प्रतियोगिताओं और होटलों की रंगीन ज़िन्दगी आदि का भी चित्रण है।

***एकदा नैमिषार ये,* अमृतलाल नागर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972**

इसकी औपन्यासिक दृष्टि में हिन्दू संस्कृति के निर्माण का ऐतिहासिक आयोजन है जो नागर जी के अनुसार नैमिष आन्दोलन की देन है। इसमें नारद मुनि का तुलसी वृन्दाओं के मकड़जाल में फँसना, सोमाहुति भार्गव की अनुपस्थिति में उनके घर पर भृगुवत्स के गुंडों का आक्रमण, लखनऊ में लक्ष्मण जन्मोत्सव का मेला और भार्गव सोमाहुति के द्वारा भारत की नागपत्नी प्रज्ञा की रक्षा आदि अनेक प्रसंग औपन्यासिक कल्पना की मनोरम सृष्टि हैं।

***मानस का हंस,* अमृतलाल नागर, 1972, संस्करण-4, राजपाल ऐंड सन्ज़, दिल्ली, 1977**

इस उपन्यास में गोस्वामी तुलसीदास की कल्पित जीवनी के साथ काशी के सांस्कृतिक परिवेश का अत्यंत सजीव चित्रण है।

***अंतराल,* मोहन राकेश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1972**

स्त्री-पुरुष के बीच पैदा हो जाने वाले अंतराल और उससे मानसिक स्तर पर जूझते रहने की कहानी। संबंधों की सही परिभाषा ढूँढ़ने का प्रयास मोहन राकेश के इस उपन्यास में भी लक्षित होता है।

***अपना मोर्चा,* काशीनाथ सिंह, 1972, पुनर्प्रकाशन, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली**

बनारस हिंदू विश्वविद्यालय की राजनीति और छात्र आंदोलन पर आधारित है यह उपन्यास जब सातवें दशक में विभिन्न कारणों से पैदा हुए छात्र असंतोष और 'अंग्रेज़ी हटाओ आन्दोलन' से भारत का शैक्षिक परिसर क्षुब्ध और अशांत हो उठा था।

***बीमार शहर,* राजेंद्र अवस्थी, राजपाल ऐंड सन्ज़, दिल्ली, 1973**

अपने इस उपन्यास में लेखक ने बंबई महानगर को 'बीमार शहर' की संज्ञा दी है और वहाँ की ढकी-छिपी सच्चाइयों को अनावृत्त किया है। बंबई की रंगबिरंगी ज़िन्दगी के विभिन्न पहलुओं और वहाँ की समस्याओं, बुद्धिजीवियों के प्रयोग और सामान्य जन की उच्छृंखलताओं की इसमें अभिव्यक्ति हुई है।

***तमस,* भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1973**

साहित्य अकादमी से नवाज़ी, विभाजन की त्रासदी पर केन्द्रित कृति, जिस पर गोविन्द निहलानी ने मशहूर फ़िल्म भी बनाई। वैसे तो इस उपन्यास में फ़िरक़ापरस्ती के लिए अंग्रेज़ी प्रशासन को ख़ास तौर पर दोषी ठहराया गया है, लेकिन सेठों के कहने पर मस्जिद में सुअर फेंकने की ग्लानि से जूझते एक दलित-दंपति की कहानी भी अद्‌भुत है, साथ ही वह चरित्र जरनैल भी, जो गाँधीवादियों को खुलेआम शरीकेजुर्म बताता है। घटनाएँ लाहौर, अमृतसर और उसके आसपास की हैं, हिंसा के कुछेक चित्रों और संवेगों की दृष्टिसंपन्नता लेखक की उतनी ही मशहूर कहानी 'अमृतसर आ गया है' की याद दिलाता है।

***गली आगे मुड़ती है,* शिवप्रसाद सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1973**

लेखक ने अपने चालीस वर्षों के अनुभव, अध्ययन और संवेदना को आधार बनाकर काशी की बेमिसाल संस्कृति को शब्दों में ढाला है।

***दिल एक सादा काग़ज़,* राही मासूम रज़ा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1973**

यह उपन्यास ज़ैदी विला के उस भूत की कहानी है जिसके कई नाम थे — रफ़्फ़न, सय्यद अली, रफ़अत ज़ैदी, बाग़ी आज़मी। यह ज़ैदी विला, ढाका और बंबई के त्रिकोण की कहानी है...। यह उपन्यास बंबई के उस फ़िल्मी माहौल की भी कहानी है जिसकी भूलभुलैया आदमी को भटका देती है और वह कहीं का नहीं रह जाता।

***लाल टीन की छत,* निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1974**

एक बड़ी होती लड़की और शिमला की पृष्ठभूमि, दोनों के एक-दूसरे को खोजने की प्रक्रिया इस उपन्यास में सामने आती है।

***मुर्दाघर,* जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1974**

शहरीकरण के संदर्भ में विकसित होती वेश्यावृत्ति के कारणों तथा उसके विभिन्न प्रभावों पर गहराई से प्रकाश डालती कृति। उपन्यास में वर्णित बाज़ार बंबई में एक रेलवे लाइन के किनारे स्थित है जहाँ झोपड़पट्टी में रहनेवाली स्त्रियों की फटेहाली और देह व्यापार करने की बाध्यता को दर्शाया गया है।

***मेरी तेरी उसकी बात,* यशपाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1974**

इसमें 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में उत्तर भारत के छात्रों की भूमिका का लेखक ने काफ़ी सटीक चित्रण किया है।

***काली आंधी,* कमलेश्वर, राजपाल ऐ ड सन्ज़, दिल्ली, संस्करण-3, 1974**

भोपाल की चुनावी राजनीति और स्त्री की उसमें भूमिका के माध्यम से यह उपन्यास भारतीय नगरों की ऐसी वास्तविकता बयान करता है जहाँ जाति एवं भाषा की राजनीति अभी भी इतनी ताक़तवर है कि शहरी आधुनिकता का ऐसे 'बंधनों' से ऊपर उठ चुकने का दावा खोखला ही दिखता है।

***छाको की वापसी,* बदीउज़्ज़माँ, 1975, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली**

इस उपन्यास की कथाभूमि फल्गु नदी के किनारे बसा बिहार का एक शहर गया है। इसके माध्यम से उपन्यासकार ने विभाजन और भारतीय मुसलमान का देशज व निम्नवर्गीय विमर्श रचा है। विभाजन की छाया में यह उपन्यास शहर में आये नये शरणार्थियों को गया, कलकत्ता से लेकर ढाका तक की सैर कराता है और उनके अनुभवों को तराशता है।

***नरक दर नरक,* ममता कालिया, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1975**

मौजूदा सामाजिक व्यवस्था जिसमें मध्यवर्गीय शिक्षित युवकों को अपनी सारी प्रतिभा, ईमानदारी, मेहनत और प्रथम श्रेणी की डिग्रियों के बावजूद रोज़गार के लिए दर-दर की ठोकरें खानी पड़ती हैं यही इस उपन्यास की चिंता का मुख्य विषय है। साथ ही, बंबई के शैक्षणिक वातावरण में व्याप्त शिक्षकों और अधिकारियों की गुटबंदी, भ्रष्टाचार, अध्यापकों के प्रति अधिकारियों की साज़िश, व्यवस्था के प्रति छात्रों के असंतोष, अध्यापकों की घुटनभरी ज़िन्दगी आदि का भी चित्रण है।

***भ्रम भंग,* देवेश ठाकुर, 1975**

मध्यवर्गीय युवक के अपने परिवेश से संघर्ष तथा पारिवारिक संबंध विषयक मूल्यों के 'भ्रम भंग' का अंकन करते हुए कथाकार ने बंबई के कॉलेज की राजनीति, कैम्पस के बाहर किसी शिक्षक की होटल के कमरे की ज़िन्दगी, लोकल ट्रेनों और बसों की भीड़भाड़ में धक्कामुक्की करते रोज़ कॉलेज जाने और वापस लौटने आदि का यथार्थ चित्रण किया है।

***अपने लोग*, रामदरश मिश्र, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1976**

उपन्यास का कथानायक दिल्ली के किसी कॉलेज की नौकरी छोड़कर गोरखपुर के एक कॉलेज में रीडर का पद इस उद्देश्य से स्वीकार करता है कि वह पुनः अपने गाँव और बचपन से परिचित शहर की ज़िंदगी से जुड़ सके। पर कस्बाई मानसिकता वाले अध्यापक, मानवीय मूल्यों और संवेदना से रहित डॉक्टर, वकील, कॉफ़ीहाउसी कवि और छद्म अपरिपक्व बुद्धिजीवी समाज से होती टकराहटें उसे पग-पग पर आहत करती हैं।

***यह भी नहीं*, महीप सिंह, राजपाल ऐण्ड सन्स, दिल्ली, 1976**

इस उपन्यास का केंद्रीय विषय है बंबई के महानगरीय परिवेश में स्त्री-पुरुष के बीच असफल और तनावपूर्ण संबंध। साथ ही इसमें बंबई की शिक्षण संस्थाओं में व्याप्त भ्रष्टाचार, षडयंत्र और धांधली का विस्तार के साथ वर्णन है।

***मकान*, नारायण बनर्जी, 1976**

एक अनाम शहर में 'घर' या शरण की तलाश इस उपन्यास का केन्द्रबिन्दु है। यहाँ स्थानीयता को 'झाड़वाली गली', 'मुन्नीलाल रस्तोगी लेन', 'मस्जिद के पास टीले पर बनी बस्ती' जैसे निशानों के माध्यम से चिन्हित किया गया है।

***अनारो*, मंजुल भगत, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 1977**

इस उपन्यास में लेखिका ने महानगर दिल्ली में मध्यवर्गीय परिवारों में चौका-बर्तन कर गुज़र-बसर करने वाली स्त्रियों का चित्रण किया है।

***नंगा शहर*, भीमसेन त्यागी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1977**

इसमें एक फ़ंतासी के माध्यम से आधुनिक पूँजीवादी तंत्र की भयावहता, पूरे समाज पर उसकी दानवी जकड़, सत्ता पर अखंड अधिकार बनाए रखने की खूनी लिप्सा, विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर उसका सम्पूर्ण अधिकार तथा सम्पूर्ण मानव समाज के ख़िलाफ़ उसके इस्तेमाल की राक्षसी प्रवृत्ति और क्षमता का चित्रण किया गया है।

***कटरा बी आरज़ू*, राही मासूम रज़ा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1978**

इलाहाबाद में हिंदुओं और मुसलमानों का एक मिलाजुला मुहल्ला जहाँ आर्थिक दृष्टि से विपन्न, निम्न वर्ग के कम पढ़े-लिखे, सीधे-सादे, छल-प्रपंच से रहित हिन्दू-मुसलमान रहते हैं। यहाँ के निवासियों की आरजू और तमन्ना छोटी-छोटी और मानवीय हैं पर वे चूर-चूर हो जाती हैं। साथ ही इसमें आपातकाल पर भी बहुत तीखा और कलात्मक व्यंग्य है।

***नगरपुत्र हंसता है*, धर्मेन्द्र गुप्त, प्रवीण प्रकाशन, दिल्ली, 1978**

महानगरीय जीवन की विसंगतियों तथा गाँव से महानगर में आए छुटभैये बुद्धिजीवियों के भटकाव की कहानी। इसके अलावा लेखक का एक अन्य उपन्यास 'रिश्ते शहर के' भी है।

***चितकोबरा*, मृदुला गर्ग, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1979**

इस विवादास्पद उपन्यास के केंद्र में एक संवेदनशील लेखिका की नीरस, प्रेरणारहित, ऊब भरी, पति और बच्चों वाली दुनिया में सर्जनात्मकता की प्रेरक शक्ति के रूप में एक व्यक्ति के प्रवेश के फलस्वरूप उत्पन्न आवेगात्मक, नैतिक और रचनात्मक तूफ़ान को पिरोया गया है।

***एक चिथड़ा सुख*, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1979**

नगरीय संवेदनाओं की विविध अभिव्यक्तियों के लिए मशहूर निर्मल वर्मा के इस उपन्यास में प्रवासी थियेटर कर्मियों की गतिविधियों और उनकी नज़र से दिल्ली का वर्णन है। इसका कथानक एक किशोर की आँखों से आगे बढ़ता है जहाँ संबंधों की गहराई पर सवालिया निशान उठते हैं।

***कुरु कुरु स्वाहा*, मनोहर श्याम जोशी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980**

बंबई की बौद्धिक, फ़िल्मी दुनिया, शहर के आप्रवासियों का कोलाज। महानगरीय जीवन — जिसका उदाहरण बंबई है, जहाँ सिनेमा, अपराध, सेक्स आदि के अलग-अलग संसार हैं — की विसंगतियों, अनिश्चितताओं, नैतिक

मूल्यों तथा वहाँ के रहन-सहन, भागदौड़, रहस्यमयता, देह व्यापार, षड्यंत्र आदि की प्रस्तुति ही उपन्यास का केंद्रीय विषय है।

***अँधेरे से परे*, सुरेन्द्र वर्मा, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1980**

दिल्ली में बेरोज़गारी व पारिवारिक-मनोवैज्ञानिक उलझनों से जूझते एक अनमने युवक की कच्ची-पक्की कहानी, जो अंततः विज्ञापन की दुनिया में अपनी रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दे जाता है।

***बसन्ती*, भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1980**

दिल्ली के हाशिये पर बसे मज़दूरों की ज़िंदगी पर एक स्त्री के माध्यम से यह उपन्यास न सिर्फ़ इन मज़दूरों की ज़िंदगी को हमारी चेतना के मध्य में लाने का प्रयास करता है, बल्कि लगातार भटकते, भगाये जाते लोगों का जीवन भी अंकित करता चलता है। इनके संघर्ष एक ऐसी दुनिया की रचना करते हैं जो इसी शहर का हिस्सा होते हुए भी इससे बाहर हैं।

***अनायास*, योगेश गुप्त, 1982**

आर्थिक तंगी से जुड़ी एक छोटी-सी घटना से मध्यवर्गीय परिवारों में उत्पन्न हो जानेवाले तनाव का प्रभावशाली वर्णन।

***लेकिन दरवाज़ा*, पंकज बिष्ट, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1982**

दिल्ली पर केंद्रित नए शिल्प में लिखा गया एक ऐसा संस्मरणात्मक उपन्यास जिसमें शहर का जनजीवन, यहाँ की आबोहवा, कला, साहित्य, संस्कृति, नाटक-रंगमंच, विश्वविद्यालय आदि ही नहीं बल्कि यहाँ की पत्रकारिता की दुनिया, बाज़ार, कनॉट प्लेस, सिनेमाघरों, कला दीर्घाओं की गतिविधियों आदि को भलीभाँति दर्शाने की कोशिश की गयी है।

***बिना दरवाज़े का मकान*, रामदरश मिश्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984**

घरों में चौका-बर्तन करनेवाली एक स्त्री की आँखों से आज की महानगरीय ज़िन्दगी को पहचानने की कोशिश।

***बिना दरवाज़े का मकान*, रामदरश मिश्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984**

उत्तर प्रदेश के गोरखपुर शहर के इर्द-गिर्द मंडराते इस उपन्यास की कथा में दिखलाया गया है कि क़स्बाई शहरों की अपनी एक वास्तविकता होती है। उनमें गाँव और शहर की कई विशेषताएँ मिलकर एक अलग ही संस्कृति का निर्माण करती हैं।

***तलघर*, महेश्वर, 1984**

इस उपन्यास में कलकत्ता की पृष्ठभूमि में निम्न-मध्यवर्गीय जीवन की मजबूरियों और त्रासद स्थितियों का चित्रण किया गया है।

***मै और मै*, मृदुला गर्ग, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984**

उपन्यास में एक धूर्त और बेईमान लेखक द्वारा एक नई लेखिका के शोषण की कहानी कही गई है। दिल्ली की साहित्यिक ज़िन्दगी पर आधारित इस उपन्यास में महानगरीय परिवेश में लेखक समाज की चारित्रिक विकृतियों को उघाड़ने का प्रयास किया गया है।

***घास गोदाम*, जगदीशचन्द्र, 1985**

इसमें दिल्ली के आसपास के किसानों के अपनी जड़ों से कटने और बरबाद होने की कथा प्रस्तुत की गई है। दिल्ली के विस्तार के फलस्वरूप किसानों की ज़मीनें बिक जाने से उनके हाथों में ढेर सारे पैसे तो आ गये पर जीविका के नये मार्गों में प्रशिक्षित न होने के कारण वे किसी सार्थक नयी ज़िन्दगी की शुरुआत न कर सके।

***करवट*, अमृतलाल नागर, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985**

इसका कथाक्षेत्र भी लखनऊ का चौक क्षेत्र और कलकत्ता है। इतिहास और कल्पना की जुगलबंदी से उपन्यासकार

ने एक ऐसी कथा गढ़ी है जिसके कारण यह उपन्यास अंग्रेज़ों के आज्ञाकारी शिक्षित वर्ग के समाज सुधार की असलियत को जगज़ाहिर कर देता है। उपन्यास के उत्तरार्ध में रूढ़िवाद से नयी पीढ़ी का संघर्ष तेज़ होता है।

***झीनी-झीनी बीनी चदरिया*, अब्दुल बिस्मिल्लाह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986**

यह उपन्यास एक ओर जहाँ बनारस के बुनकर समाज का एक दस्तावेज़ है, वहीं उस जीवन का जीता-जागता कलात्मक बिम्ब भी है। इसमें धार्मिक संकीर्णता और सम्प्रदायवाद का जमकर विरोध किया गया है।

***दूसर घर*, रामदरश मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986**

इस उपन्यास में उपन्यासकार ने अहमदाबाद का परिवेश लिया है जहाँ ग़रीबी और बेरोज़गारी की वजह से उत्तर प्रदेश की आबादी का एक बड़ा हिस्सा जीविका की तलाश में जाता है। इनमें मिलों में काम करने वाले मजदूर, फ़ुटपाथ पर चाय-पान का धंधा करने वाले दुकानदार, होटलों में चौका-बर्तन करने तथा नाश्ता-चाय देनेवाले किशोर और कॉलेजों में कार्यरत हिंदी अध्यापक, गुंडे, धंधेबाज़, हिंदू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र सभी तरह के लोग होते हैं।

***सूखा बरगद*, मंज़ूर एहतेशाम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986**

भोपाल के एक मुस्लिम परिवार की कहानी पर केंद्रित इस उपन्यास का मूल कथ्य है विभाजन से आज तक उपजी या उपजती आई भारतीय मुसलमान की सोच, जो न तो कट्टर मुसलमान है, न ही पूरी तरह पश्चिमीकृत, बेगाना और विश्व नागरिक।

***पहला पड़ाव*, श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987**

इसका केंद्रीय विषय है बड़े शहरों में बनने वाले विशाल भवनों के इर्दगिर्द की ज़िन्दगी, जिसमें इन भवनों के प्रबंधक, ठेकेदार, इंजीनियर, सेठ और मुंशी मज़दूरों का शोषण करते हैं और भ्रष्टाचार की ज़िन्दगी जीते हैं

***नीला चाँद*, शिवप्रसाद सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1988**

इसमें लेखक ने भारतीय इतिहास के 'मध्यकाल की काशी' को देखने का प्रयास किया है। इसके लिए उन्होंने 1060 ई. के आसपास की काशी की ज़िंदगी का चयन किया है।

***अंततः*, सुरेन्द्र तिवारी, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989**

यह उपन्यास कलकत्ता महानगर की पृष्ठभूमि में एक निम्नमध्यवर्गीय युवक की भटकन और उत्पीड़न की कथा है।

***रात का रिपोर्टर*, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989**

इमरजेंसी के दिन, दिल्ली की पृष्ठभूमि, एक शासन का आतंक और एक नये बनते महानगर का आतंक, दोनों मिलकर जिस दुनिया की सृष्टि करते हैं, उसकी कहानी कहता है यह उपन्यास।

***पीढ़ियाँ*, अमृतलाल नागर, राजपाल ऐं ड सन्ज़, 1990**

लेखक के एक अन्य उपन्यास 'करवट' के साथ यह उपन्यास एक गुच्छ बनता है। इन दोनों उपन्यासों का कथाक्षेत्र मुख्यतः लखनऊ है, लेकिन यह कलकत्ता से लेकर बंबई तक फैला हुआ है।

***एक ज़मीन अपनी*, चित्रा मुद्‌गल, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1990**

इसका केंद्रीय कथ्य बंबई के महानगरीय परिवेश में विज्ञापन-जगत के ग्लैमर, मूल्यहीन प्रतियोगिता, तिकड़म, देह-व्यापार आदि के बीच प्रस्तुत 'नारी विमर्श' है।

***मुझे चाँद चाहिए*, सुरेन्द्र वर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993**

शाहजहाँपुर से दिल्ली और बम्बई तक छोटे से लेकर बड़े शहरों की यात्रा की कहानी जो उपन्यास की मुख्य पात्र की अपनी अस्मिता की खोज का आख्यान भी है। शहर के सांस्कृतिक गलियारों-गतिविधियों में दिलचस्पी रखनेवालों के लिए मनोरंजक शैली में लिखा गया एक ज़रूरी उपन्यास जो रंग-संस्कृति एवं फ़िल्म-संस्कृति की दुनिया में अनदेखे झरोखे खोलता है।

***दिलो-दानिश,* कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1993**

आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व के दिल्ली के अभिजात समाज के पारिवारिक और नैतिक द्वंद्व का चित्रण। इस उपन्यास के माध्यम से लेखिका ने दिल्ली की मूल संस्कृति की पहचान प्रस्तुत की है। इस उपन्यास की भाषा करारी हिन्दुस्तानी है, जो अरबी-फ़ारसी शब्दों से लबरेज़ है। इसमें दिल्ली में बोले जानेवाले ठेठ देसी शब्दों का मिश्रण कर भाषा को बहुत जीवन्त बना दिया गया है।

***दिल्ली दूर है,* शिवप्रसाद सिंह, राजपाल ऐंड सन्ज़, दिल्ली 1993**

दिल्ली पर आधारित इस उपन्यास में दिल्ली की धार्मिक-सांस्कृतिक टकराहटों और समन्वय का अंकन किया गया है। इसमें जज़िया टैक्स के बहाने मुस्लिम अमलों के हिन्दुओं पर अत्याचार और धर्म-परिवर्तन के प्रसंग लेखकीय सहानुभूति के साथ प्रस्तुत किये गये हैं।

***यह जो दिल्ली है,* प्रकाश मनु, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993**

राजधानी दिल्ली के पत्रकारिता संसार की वास्तविकताओं का दस्तावेज़ है यह उपन्यास। पत्रकारिता की दुनिया में व्याप्त मूल्यहीनता, नये पत्रकारों का शोषण और एक ईमानदार पत्रकार का इस परिवेश की विद्रूपताओं से संघर्ष इस उपन्यास में बहुत संजीदगी के साथ सामने आता है।

***पेशावर से बम्बई तक,* ए.के. हंगल, राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 1994**

प्रगतिशील कार्यकर्ता, मशहूर रंगकर्मी, फ़िल्मकर्मी की कलम से अपनी तक़सीम के आर-पार फैली लंबी पारी का निहायत चुस्त, मुख़्तसर पर दिलचस्प संस्मरण, जिसमें कराची भी है, और बंबई के लोग-बाग, गली-कूचे सब कुछ।

***बलराज साहनी-संतोष साहनी समग्र,* बलदेवराज गुप्त (सं.), हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, 1994**

ख़ास तौर से 'पूरब के नाई' खंड में 'दिल्ली' और 'पेशावरी दिल' नामक कहानियाँ, जोकि 1930 के दशक की परिवहन व्यवस्था और संस्कृति पर दिलचस्प रौशनी डालती हैं।

***गंजी,* मंजुल भगत, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 1995**

इसमें लेखिका के ही एक अन्य उपन्यास 'अनारो' के विषय का विस्तार है, जिसकी नायिका अनारो की पुत्री है जो अपने परिश्रम, विवेक और लगन से अपने सहानुभूतिपूर्ण विश्वास का इज़हार करती है।

***हमज़ाद,* मनोहर श्याम जोशी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996**

यह एक भिन्न कोटि का उपन्यास है जो वैश्विक स्तर पर बढ़ते बाज़ारवाद की मनोवृत्ति को दर्शाता है। लाहौर से बम्बई तक की यात्रा, फ़िल्मी दुनिया के बहाने व्यक्तिगत संबंधों की गलाज़त उर्दू में बयान की गई है।

***वैश्वानर,* शिवप्रसाद सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996**

काशी पर केंद्रित लेखक का यह तीसरा वृहदाकार उपन्यास है। इसमें उन्होंने काशी के वैदिककालीन रूप को प्रस्तुत किया है।

***पीली आँधी,* प्रभा खेतान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996**

इसमें कलकत्ता के महानगरीय परिवेश का बहुत ही विश्वसनीय चित्रण किया गया है। मारवाड़ियों के राजस्थान से कलकत्ता आकर उद्योगपतियों में रूपांतरित होने, उनके बनने ओर बिगड़ने, एक नये प्रकार की संस्कृति को जन्म देने आदि का अंकन उनके उपन्यासों में देखा जा सकता है।

***आवाज़ें बल्का बस्ती की,* मनमोहन ठाकौर, जनवाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1998**

आगरा के मास कल्चर को स्पर्श करता है यह उपन्यास। इसे पढ़ते हुए पाठक अपने अतीत में जाता है, कथन की शैली में मज़ा है, एकदम वार्ता जैसा। आंचलिकता तो है लेकिन एक ख़ास गली, एक मकान, एक कूचे का अपना ख़ास चरित्र और भाषा नहीं है। 'बल्का बस्ती' इस विस्मृति में एक मुहल्ले का पुनर्स्थापन है।

***चक्रव्यूह,* श्रवण कुमार गोस्वामी, 1988**

एक बेनाम शहर के विश्वविद्यालय के जीवन को, उसमें लगे हुए घुन को, भ्रष्टाचार, षड्यंत्र और गंदी राजनीति से दूषित अशैक्षिक परिवेश को केंद्रीय विषय के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

***कलिकथा वाया बाईपास,* अलका सरावगी, आधार प्रकाशन, पंचकुला, हरियाणा, 1998**

साहित्य अकादेमी पुरस्कार से पुरस्कृत इस कृति में कलकत्ता में मारवाड़ी परिवार में जन्मे किशोर बाबू के नज़रिये से कथा कही गयी है। इसमें मारवाड़ी परिवार की पाँच पीढ़ियों की संघर्ष-कथा प्रस्तुत करते हुए कलकत्ता का पूरा इतिवृत्त उपलब्ध करा दिया गया है। इसमें महानगरों के साथ-साथ पूरे उत्तरी भारत के छोटे-बड़े शहरों और क़स्बों के परिवेश में भी भारतीय जीवन के बहुआयामी यथार्थ का चित्रण किया गया है।

***दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता,* सुरेन्द्र वर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998**

बंबई महानगर और उससे जूझते दो लोगों की नियति, जहाँ एक पुरुष वेश्यावृत्ति को बाध्य है तो दूसरा अपराध की दुनिया में डूबने को। साथ ही इसमें बंबई की बाज़ारवादी अर्थसंस्कृति में बढ़ते हुए अपराध और सेक्स का चित्रण किया गया है।

***हमारा शहर उस बरस,* गीतांजलि श्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998**

उपन्यास में एक बेनाम शहर है, जहाँ एक मठ और एक विश्वविद्यालय है। और इसमें बाबरी मस्जिद ध्वंस के इर्द-गिर्द पनपी साम्प्रदायिकता का चित्रण किया गया है।

***कालकथा* (दो खंड), कामतानाथ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.-1998**

इस पीरियड नॉवेल के कई पात्रों की लीला-भूमि कानपुर है। इसके अलावा उपन्यास में लखनऊ में नवाबी शान से रहने वाले उच्च-मध्यवर्गीय लोगों के जीवन का चित्रण भी है। इसके लिए उपन्यासकार ब्योरों की बारीकियों में जाता है और इसीलिए पात्रों और परिस्थितियों को सजीव रूप में उभार पाता है।

***बम्बई दिनांक,* अरुण साधु, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1999**

प्रमुख पात्रों के नाम पर उप-शीर्षकों में विभाजित एक नये औपन्यासिक शिल्प में लिखे गये इस उपन्यास में मुंबई महानगर की सुबह-शामों और उनके दरमियान पलती-मिटती इन्सानी ज़िन्दगी के अविस्मरणीय चित्रों और विविध चेहरों को उकेरने की कोशिश की गयी है।

***आवाँ,* चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, 1999**

इसका केंद्रीय विषय एक नौजवान लड़की, नमित, का जीवन संघर्ष है, जो एक घुटन भरे मध्यवर्गीय परिवार में जन्मती-बढ़ती है और महानगर के जलते हुए परिवेश में अपने को संघर्ष के लिए तैयार करती है।

***ग़ालिब छुटी शराब,* रवीन्द्र कालिया, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2000**

एक 'पीते-पीते' लेखक की कलम से निहायत आत्मपरक संस्मरण, जिसमें जालंधर, दिल्ली और फिर इलाहाबाद की साहित्यिक, लेखकीय संस्कृति व माहौल का दिलकश लेखाजोखा पेश किया गया है।

***समय सरगम,* कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000**

वृद्ध जीवन के एक संवेदनशील मानस की नज़र से देखा हुआ चित्र। इसमें वृद्धजनों की त्रासद स्थिति, उनकी अस्थिर मानसिकता, विवशता, अकेलापन, बहू-बेटों की उदासीनता और क्रूरता, बचा-खुचा भी छिन जाने की आशंका आदि का अंकन गहरी अनुभूति के साथ किया गया है। एकाकी जीवन बिताने वाली एक स्त्री और एक पुरुष का एकसाथ जीवन बिताने का विकल्प मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया गया है।

***लखनऊ मेरा लखनऊ,* मनोहर श्याम जोशी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2000**

संस्मरण शैली में लिखी गयी इस कृति में लेखक ने लखनऊ शहर, लखनऊ विश्वविद्यालय के छात्र जीवन के अपने अनुभव, वहाँ की तत्कालीन वामपंथी छात्र राजनीति, लेखक समाज, लखनऊ लेखक संघ की साहित्यिक

गतिविधियों बौद्धिक बहस-मुहाबिसे, पढ़ाई-लिखाई, प्रेम-रोमांस, दोस्ती-यारी आदि को बड़े ही रोचक और खिलंदड़ अंदाज़ में अभिव्यक्त किया है।

***फूल इमारतें और बन्दर*, गोविन्द मिश्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000**

दिल्ली के परिवेश में दफ़्तरशाहों और राजनेताओं के जीवन के छद्म और दफ़्तर तथा राजनीति के खेल का चित्रण।

***रास्तों पर भटकते हुए*, मृणाल पांडे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000**

दिल्ली के ही परिवेश में आधुनिक उपभोक्तावादी युग में मानवीय संबंधों की मृत्यु, सर्वव्यापी भ्रष्टाचार, धन और सत्ता की दौड़ में मानवीय मूल्यों को बिल्कुल दरकिनार करने वाले डॉक्टरों, उद्योगपतियों, राजनेताओं और पत्रकारों का वर्णन किया गया है।

***परछाई नाच*, प्रियंवद, 2000**

कानपुर के औद्योगिक परिवेश में उस मध्यवर्गीय समाज का चित्रण किया गया है जो अपनी लम्बी ग़ुलामी के ख़िलाफ़ ऐतिहासिक विरासत को भूल कर बहुराष्ट्रीय उद्योगपतियों के आकर्षक और रहस्यपूर्ण मकड़जाल की ओर मुग्ध भाव से बढ़ता जा रहा है।

***दिल्ली में उनींदे*, गगन गिल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000**

सत्यकथाओं पर आधारित इस स्मृति-लेख संग्रह में लेखिका 'दिल्ली में उनींदे' और 'दिल्ली-1994' शीर्षक से दो स्मृति-लेख संकलित है। 'दिल्ली में उनींदे' में दिल्ली के एक ऑटो चालक के जीवन-संघर्ष की मार्मिक दास्तान है तो 'दिल्ली-1994' में केरल से दिल्ली आए मलयालम के एक पुरस्कृत कवि से संस्कृति पुरस्कार समारोह में मुलाक़ात और उसके बाद फ़ोन पर उसके साथ हुई भावनात्मक बातचीत को बड़े ही मार्मिक अंदाज़ में बयान किया गया है।

***दीवारों के बाहर*, निदा फ़ाज़ली, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2000**

इस आत्मकथात्मक उपन्यास की शुरुआत निदा फ़ाजली मुंबई के अपने घर से करते हैं। उपन्यास में लेखक बंबई की झुग्गी झोपडियों एवं पिछड़े इलाक़े के जन-जीवन, वहाँ फैले अवैध धंधे, अपराध आदि को देख कर सिर्फ़ लेखकीय भावुकता व्यक्त नहीं करता बल्कि इन समस्याओं की जड़ में जाता है और इन सबके लिए राजनीतिक नेतृत्व पर सीधी उंगली उठाता है। 'दीवारों के बीच' लेखक के आत्मकथात्मक उपन्यास का पहला खंड है।

***तबादला*, विभूति नारायण राय, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2002**

यूँ तो इस उपन्यास का कथाक्षेत्र इलाहाबाद का कुंभ मेला है मगर इसकी असली ज़मीन उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ है। इसमें आज़ादी के बाद के सरकारी दफ़्तर के भ्रष्ट माहौल, उत्तर प्रदेश में राजनेताओं-अफ़सरों-ठेकेदारों की साठ-गाँठ का चित्रण मिलता है।

***सलाम आख़िरी*, मधु काँकरिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002**

कलकत्ता के सोनागाछी रेडलाइट एरिया की अँधेरी गलियों का सीधा साक्षात्कार कराते हुए लेखिका सभ्य समाज की संवेदनहीनता और कठोरता को भी साथ-साथ झिंझोड़ती चलती है।

***काशी का अस्सी*, काशीनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002**

ज़िन्दगी और ज़िन्दादिली से भरा एक अलग क़िस्म का उपन्यास। उपन्यास के पारंपरिक मान्य ढाँचों के आगे प्रश्नचिन्ह। इसकी कथाओं का केन्द्र अस्सी है। काशी का अस्सी घाट। हर कथा में स्थान भी वही, पात्र भी वही – अपने असली और वास्तविक नामों के साथ, अपनी बोली-बानी और लहजों के साथ। हर राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय मुद्दे पर इन पात्रों की बेमुरव्वत और लट्ठमार टिप्पणियाँ काशी की उस देशज और लोक परम्परा की याद दिलाती है जिसके वारिस कबीर और भारतेन्दु भी थे।

***प्रेम गली अति साँकरी*, शाज़ी ज़मा, पीतम्बरा प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2002**

मीडियाकर्मी लेखक का पहला उपन्यास जो लंदन के इंडियन वायएमसीए की हाईगेट सीमेट्री — जहाँ कार्ल मार्क्स दफ़न हैं — तक का वैचारिक और भावनात्मक सफ़र करता है। बक़ौल लेखक यह पारम्परिक प्रेमकथा नहीं बल्कि इन्सानी ताल्लुक़ात पर केंद्रित है और मुख्य पात्र यह कह नहीं सकता कि वह बातों पर सवार है या बातें उस पर।

***अक्षयवट*, नासिरा शर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2003**

इलाहाबाद शहर की पहचान न केवल स्थानीय बल्कि बाहर से भी आए युवाओं की शरणस्थली, शिक्षास्थली, संघर्षस्थली और मोक्षस्थली के रूप में है। इस शहर के स्थानिक, सामाजिक, धार्मिक और सांसारिक परिदृश्य में युवा पीढ़ी के सपनों और संघर्षों को इस उपन्यास में सघन अभिव्यक्ति मिली है।

***जम्मू–जो कभी शहर था*, पद्मा सचदेव, भारतीय ज्ञानपीठ, 2003**

समाज के सांस्कृतिक व्यक्तित्व को लेकर घटनाएँ बुनने में सिद्धहस्त लेखिका का यह उपन्यास एक प्रकार से जम्मू का दस्तावेज़ भी है और उसका इतिहास भी। लेखिका ने इसके अलावा भी जम्मू की समस्याओं और एक मरती हुई सांस्कृतिक धरोहर को लेकर कई संस्मरण, रिपोर्ताज और लेख लिखे हैं।

***कैसी आग लगाई*, असगर वजाहत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004**

लगभग आत्मकथात्मक शैली में लिखे गये इस उपन्यास का कथाक्षेत्र अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और अलीगढ़ शहर हैं। इसमें अलीगढ़ शहर का विविधताओं से भरा जीवन, वहाँ की साम्प्रदायिकता, वहाँ के छात्र जीवन, स्वातंत्र्योत्तर राजीनति, सामंतवाद, मुस्लिम समाज, छोटे शहरों का जीवन और महानगर की आपाधापी के साथ वहाँ के सामाजिक अंतर्विरोधों में जन्मे वैचारिक संघर्षों से भी पाठक रू-ब-रू होते हैं।

***सीन-75*, राही मासूम रज़ा, राजकमल, प्र.सं.-2004**

फ़िल्मी दुनिया की लक-दक के पिछवाड़े का मंज़र दिखाता है जहाँ पाठक चेहरों के प्रति-चेहरों से रू-ब-रू होते हैं। फ़िल्म संसार में क़ामयाबी हासिल करने के लिए नए लोगों को क्या शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं इसकी एक दिलचस्प और कुछ अफ़सुर्दा दास्तान है यह उपन्यास। इस उपन्यास को यौन नैतिकता का बंबइया 'चलता है' भाष्य भी कहा जा सकता है।

***पक्का महाल*, अजय मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004**

बनारसी जीवन पर ऐसा पहला उपन्यास है, जिसमें बनारस में बहती रस-गंगा, पक्के महालों की चुहल और मस्ती, मेले तमाशों, लोक संस्कृति के साथ बनारस का इतिहास, पांडित्य, गुंडई, ठगी, औदार्य, भांग-बूटी, दालमंडी, बहरी अलंग, विधवाओं, मठों और रईसी की अनूठी छवि अत्यंत विशद तथा सजीव रूप में आई है। कथावस्तु 1956 से 1986 तक होकर भी इसमें परत-दर-परत सौ वर्षों का इतिहास है।

***आदमी का ज़हर*, श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली**

यह उपन्यास 'अभिजात हिन्दी' की शायद इकलौती रचना है जो 'मर्डर मिस्ट्री' की विधा का इस्तेमाल कर शहर की 'पॉपुलर लिटरेचर' में व्याप्त छवि की पड़ताल करने का प्रयास करती है। राजनीति, सेक्स, भ्रष्टाचार जैसे पॉपुलर विषयों को सामने रखकर इसे बुना गया है।

: उपन्यासेतर गद्य विधाओं में शहर :

उपन्यासेतर साहित्य में शहर की तलाश करते हुए हम शुरुआत करते हैं सबसे लोकप्रिय साहित्यिक विधा कहानी से। ज़माना यदि मॉडर्न है तो शहर से उसका कुछ ख़ास ताल्लुक़ तो होगा ही, वह इसलिए कि इस दरम्यान और ख़ासकर आज़ादी के बाद यहाँ तरक्क़ी का जो रास्ता अख़्तियार किया गया उसमें शहरीकरण को कुछ ज़्यादा ही तवज्जो दी गई। तरक्क़ी के लिहाज़ से यह कितना वाजिब था या है और कितना ग़ैरवाजिब, यह एक अलग बहस का मुद्दा हो सकता है लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि अगर शहर तेज़ी से पसरेंगे तो शहरी मिज़ाज की कहानियों की तासीर भी ज़रूर बदलेगी। भई, निर्मल वर्मा सरीखे शहराती क़िस्म के कहानीकार थोड़े न लिखेंगे गँवई अंदाज़ के प्रेमचंद या फणीश्वरनाथ रेणु जैसी कहानियाँ।

इस लेख की नज़र से शहरी मिज़ाज की कहानियों को लेकर हमारी कसौटी बिल्कुल साफ़ है। हमें चाहिएं ऐसी कहानियाँ जिनमें या तो बाक़ायदा 'लोकेल' के तौर पर कोई शहर हो या शहर की तासीर हो। शहर की कहानियों पर तफ़्सील से पहले हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि शहर की कहानियाँ आज भले धड़ल्ले से लिखी जा रही हों लेकिन यह विरासत हमें दादी-नानी के क़िस्से-कहानियों से ही मिली है। अब दादी-नानी का ज़माना नहीं रहा इसलिए आज की कहानियों का 'लोकेल' ही नहीं बल्कि कथ्य और शिल्प सहित उसका पूरा कथानक भी दादी-नानी के क़िस्से-कहानियों से भिन्न होना लाज़िमी है। कहानियों में यह तब्दीली ख़ासतौर पर तब सामने आई जब हिंदुस्तान में प्रेस के ईजाद के बाद मौखिक गद्य परंपरा लिखित परंपरा में तब्दील होने लगी। यानी हिंदी क्षेत्र में कहानियों के 'श्रोतावर्ग' के 'पाठकवर्ग' में तब्दील होने की यह प्रक्रिया 19वीं सदी में आरम्भ हुई। लेकिन 17वीं सदी में 'बैताल पच्चीसी', 'सिंहासन बत्तीसी' और उससे भी पहले 'कथा सरित्सागर' जैसी कथापुस्तकें टूटी-फूटी हिंदी में लिखी जा चुकी थीं और नागरी लिपि में छपने वाली शुरुआती कथापुस्तकें भी यही थीं। हिंदी की शुरुआती कथा-पुस्तक — जिसे प्रेमचंद ने उपन्यास मानने से इन्कार किया है — 1766 में जन्मे इंशा अल्ला खाँ रचित 'रानी केतकी की कहानी' है, जो 1803 ई. के आसपास लिखी गई थी। सूफ़ी प्रेमाख्यानों की पद्धति पर लिखी गई यह एक ऐसी गद्यकथा है जिसमें अतिलौकिक तत्वों, फ़ारसी कथानक रूढ़ियों तथा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों की भरमार है।

1870 में लिखी गई पं. गौरीदत्त रचित 'देवरानी जेठानी की कहानी' में पहली बार परम्परा से हटकर कथा कहने की कोशिश की गई है। कथाकार ने इसमें एक सामान्य मध्यवर्गीय वैश्य परिवार की देवरानी-जेठानी की कहानी कही है। इसके पात्र पूरी तरह लौकिक हैं जिनका ताल्लुक़ दिल्ली, मेरठ, हापुड़, खुर्जा, गुड़गाँव आदि जगहों से है। इस लिहाज़ से 'देवरानी जेठानी की कहानी' हिंदी की पहली कहानी है जिसमें वास्तविक शहर पहली बार मूर्त होता है। वैसे तो सन् 1900 ई. में लिखी हिंदी की तथाकथित पहली कहानी *इंदुमति* (किशोरीलाल गोस्वामी), 1902 में लिखी गई 'गुलबहार' (किशोरीलाल गोस्वामी), 'प्लेग की चुड़ैल' (मास्टर भगवानदास) 1903 में लिखी गई 'ग्यारह वर्ष का समय' (रामचंद्र शुक्ल), गिरिजादत्त वाजपेयी की 1903 में लिखी 'पंडित और पंडितानी' तथा बंगमहिला की 1907 में लिखी गई कहानी 'दुलाईवाली' भी शुरुआती दौर की उल्लेखनीय कहानियाँ हैं लेकिन इनमें शहर की उपस्थिति स्पष्ट नहीं है। हाँ, 1915 में *सरस्वती* में छपी चंद्रधर शर्मा गुलेरी की बहुचर्चित कहानी 'उसने कहा था' में अमृतसर की पृष्ठभूमि ज़रूर है। इसी दौरान प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक', सुदर्शन आदि कहानीकारों ने कहानी लेखन शुरू किया जिनमें शहरी परिवेश की भी कई कहानियाँ हैं।

प्रेमचंद ने जहाँ लखनऊ और वहाँ के नवाबी अंदाज़ को कथावस्तु बनाकर 'शतरंज के खिलाड़ी' जैसी चर्चित कहानी लिखी, जिस पर आगे चलकर सत्यजित रे ने इसी नाम से फ़िल्म बनाई, वहीं उन्हीं की एक अन्य कहानी 'बैंक का दिवाला' के केंद्र में भी लखनऊ शहर की व्यावसायिक दुनिया और उससे जुड़े हुए लोग हैं।

इस कहानी में उन्होंने यह दिखलाने की कोशिश की है कि 'एक बैंक के दिवालिया होने का असर कितनी संस्थाओं पर पड़ता है — अनाथालय अब नहीं चल सकता क्योंकि उसके एक लाख रुपये डूब गये हैं, पाठशाला बंद हो जाएगी क्योंकि उसका सारा धन इसी बैंक में जमा था। इतना ही नहीं, छोटे-मोटे रोज़गार करनेवाले न जाने कितने लोगों का चैन इस 'नैशनल' बैंक के दीवालिया होने के साथ चला गया।' इसी तरह लगभग उन्हीं के समकालीन जयशंकर प्रसाद की लोकप्रिय कहानी 'गुंडा' का लोकेल बनारस शहर है। ग़ौर करने की बात यह है कि उस ज़माने में यूँ तो ज़्यादातर आदर्शवादी कहानियाँ लिखी गईं लेकिन जो थोड़ी-बहुत यथार्थवादी कहानियाँ लिखी गईं उनमें शहरी सामाजिक वीभत्सता का बड़ा बेलाग चित्रण किया गया है।

यह प्रेमचंद का ज़माना था जिसमें एक गद्य विधा के रूप में हिंदी कहानी ने अपनी मुकम्मल पहचान बनाई। उसी ज़माने में जिन कहानीकारों ने कहानी लेखन में अपनी ख़ास पहचान बनाई उनमें चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', ऋषभचरण जैन आदि प्रमुख हैं। उसी ज़माने में जासूसी, तिलिस्मी और अय्यारी क़िस्म की कहानियाँ लिखनेवाले गोपालराम गहमरी, दुर्गा प्रसाद खत्री, जी.पी. श्रीवास्तव आदि कहानीकारों की अनेक कहानियों में भी 'शहरी सेंसिबिलिटी' दिखलाई पड़ती है।

मनोविश्लेषणवादी और व्यक्तिवादी कहानियों के क्षेत्र में इस दौरान जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी और कुछ आगे चलकर निर्मल वर्मा आदि कथाकार सक्रिय हुए। सन् सैंतालीस के बाद युरोप की तर्ज़ पर हिंदुस्तान में तेज़ी से शुरू हुए शहरीकरण और गाँव से शहर आए मनुष्य की मनःस्थिति, उसके अकेलेपन, अलगाव आदि को ख़ास तरजीह देकर इन कहानीकारों ने कुछ ऐसी कहानियाँ लिखीं जो शहरी सेंसिबिलिटी के लिहाज़ से मील का पत्थर हैं। मसलन, अज्ञेय की विभाजन की त्रासदी पर लिखी गई 'शरणदाता'। इसमें दंगे-फ़साद, मारकाट के बाद के 'विषाक्त वातावरण, द्वेष और घृणा की चाबुक से तड़फड़ाते हुए हिंसा के घोड़े, विष फैलाने को संप्रदायों के अपने संगठन और उसे भड़काने को पुलिस और नौकरशाही' की वजह से एक-एक कर लाहौर छोड़कर हिंदुस्तान भागते और इक्का-दुक्का रह गए दहशतज़दा हिंदू परिवारों के बीच रफ़ीकुद्दीन वकील और देविन्दरलाल की अज़ीज दोस्ती भी कुछ-कुछ लाचार सी दिखती है। इस कहानी का कथाक्षेत्र मूलतः लाहौर है लेकिन इसमें जालंधर और दिल्ली भी हैं। विभाजन की इस त्रासदी पर हिंदी में बहुत सारी कहानियाँ लिखी गई हैं। उन्हीं में से एक है मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक'। यह कहानी शुरू होती है अमृतसर से, जहाँ विभाजन के दौरान मजबूरन लाहौर जा बसे मुसलमानों की एक जमात हॉकी मैच देखने के बहाने अमृतसर घूमने आती है। इस कहानी में विभाजन के वक़्त मजबूरी में अमृतसर छोड़कर जाने वाले लोगों के नॉस्टैल्जिया को विषयवस्तु बनाया गया है।

विभाजन की इस त्रासदी पर हिंदी, उर्दू और अन्य भारतीय भाषाओं में काफ़ी साहित्य रचा गया है। स'आदत हसन मंटो, कृश्नचंदर, राजिन्दर सिंह बेदी, इस्मत चुग़ताई, क़ुर्रतुल ऐन हैदर आदि कहानीकारों की बहुतेरी कहानियाँ गंगा-जमुनी संस्कृति को आधार तो बनाती ही हैं, कथाक्षेत्र के लिहाज़ से इनमें से कई विशुद्ध रूप से शहरी परिवेश की हैं। दरअसल विभाजन और इसके आसपास के दौर, मोटे तौर पर कहा जाय तो सन् 40 के दशक में मंटो द्वारा लिखे गए बहुत सारे निबंध, रेडियो नाटक आदि भी उनकी कहानियों की तरह ही उस दौर के शहरी जीवन और शहरी दृश्यों को बहुत अनोखे अंदाज़ में बयान करते हैं, मसलन मंटो की मशहूर कहानी 'काली शलवार' ही देखें। यह कहानी अंबाला छावनी से देहली — दिल्ली — आई एक वेश्या की ज़िन्दगी और उसके अरमानों को बड़े ही मार्मिक अंदाज़ में बयान करती है। 'बू', 'ख़ाली डिब्बा, ख़ाली बोतल', 'खोल दो', आदि मंटो की कई कहानियों का कथाक्षेत्र दिल्ली, अमृतसर, मुंबई, पेशावर, लाहौर आदि शहर रहे हैं। 'अमृतसर आ गया है' विभाजन के दौरान पैदा हुए पागलपन को बयान करनेवाली एक और उल्लेखनीय कहानी है। इसी तरह उनके निबंध 'दीवारों पर लिखना', 'कल सवेरे जो आँख खुली' आदि। उधर बेगम अनीस क़िदवई की 'आज़ादी की छाँव में' बँटवारे के ठीक बाद की, उजड़े-हुओं की कैंपों में बसती दिल्ली का मार्मिक आख्यान शरणार्थी ज़िन्दगी को संवारने में सन्नद्ध लेखिका की क़लम से निकला महत्वपूर्ण दस्तावेज़ है। एक बीते समय और उखड़े समाज का इतना जीवंत, इतना प्रामाणिक वर्णन मुश्किल से मिलता है। इसे पढ़ते हुए सन् तीस के

दशक में पर्दानशीन कुलीन परिवारों में एक लड़की के पढ़ने-लिखने में कितनी मुश्किलें आती होंगी, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

सन् सैंतालीस के बाद जहाँ दिल्ली ने हिंदी, उर्दू और अन्य भारतीय भाषाओं के लेखकों को अपनी ओर आकर्षित किया — जिसकी मुख्य वजह शायद आकाशवाणी, दूरदर्शन एवं अन्य सरकारी ग़ैरसरकारी मीडिया का दिल्ली में विस्तार रहा — वहीं दूसरी तरफ़ यही वह दौर था जब उपनिवेशवादी दौर में समुद्री व्यापार का केंद्र रहे और इस वजह से बड़ी तेज़ी से आबाद हुए मुंबई शहर पर आज़ादी अथवा विभाजन के बाद के हिंदुस्तान की आर्थिक चुनौतियों को दूर करने की नयी ज़िम्मेदारी आन पड़ी। शायद इसीलिए इसे हिंदुस्तान की 'आर्थिक राजधानी' के ख़िताब से नवाज़ा गया। देश के गाँवों, क़स्बों या छोटे-छोटे शहरों से नौकरी और रोज़ी-रोटी की तलाश में दिल्ली, मुंबई, कोलकाता जैसे शहरों में आए लेखकों का पाला इन शहरों के अलग-अलग रूपों से हुआ, जिन्हें इन लेखकों ने साहित्यिक अभिव्यक्ति भी दी।

हिंदुस्तान की यह 'आर्थिक राजधानी' करोड़ों हिंदुस्तानियों के रजतरंगी सपनों यानी फ़िल्मों की दुनिया और न जाने किस किस की मुंबई के रूप में जानी गई। उर्दू के मशहूर शायर निदा फाज़ली शायद सही ही फ़रमाते हैं कि ऊपर से एक दिखने वाली इस मुंबई में कई मुंबइयाँ हैं। इसकी वजह चाहे फ़िल्म इंडस्ट्री रही हो या और कुछ लेकिन यह सच है कि सन् सैंतालीस के बाद इस महानगर ने उर्दू और हिंदी के लेखकों को ख़ूब आकर्षित किया है। राही मासूम रज़ा, अली सरदार जाफ़री, कैफ़ी आज़मी, निदा फ़ाज़ली, कृश्नचंदर, राजिन्दर सिंह बेदी, क़ुर्तुल ऐन हैदर, बलराज साहनी, खुशवंत सिंह, जावेद अख़्तर, गुलज़ार, शकील बदायूँनी, मजरूह सुल्तानपरी आदि उर्दू और जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, धर्मवीर भारती, शैलेश मटियानी, पुष्पा भारती आदि न जाने कितने हिंदी लेखकों ने इस महानगर से बेपनाह मुहब्बत की है। ऊपर के उर्दू के कुछ नामचीन अदीबों के बारे में निदा फ़ाज़ली ने अपने आत्मकथात्मक नॉवेल 'दीवारों के बाहर' में काफ़ी रोचक और बेबाक टिप्पणी की है।

लगभग इसी समय (सन् 56 के आसपास) हिंदी में 'नयी कहानी' आंदोलन की शुरुआत हुई। मुख्य रूप से तीन कहानीकारों — मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर, और एक आलोचक नामवर सिंह, तथा कहानी-पत्रिकाओं के एक संपादक भैरवप्रसाद गुप्त के रचनात्मक तथा वैचारिक सहयोग से कहानी के क्षेत्र यह नई जागृति आती है। कुछ अन्य कहानीकार भी इसके साथ आरम्भ से जुड़े रहे हैं — मार्क डेय, शिवप्रसाद सिंह तथा निर्मल वर्मा आदि।

नयी कहानी आंदोलन से सीधे तौर पर जुड़े या उस दौर में लगातार लिख रहे ज़्यादातर कहानीकारों की कहानियाँ, जैसे निर्मल वर्मा की 'लवर्स', 'पिक्चर पोस्टकार्ड' और मोहन राकेश की 'मलबे का मालिक' जैसी कहानियाँ दिल्ली को लोकेल बनाकर लिखी गई हैं। इसी कड़ी में देखें तो कमलेश्वर की 'खोई हुई दिशाएँ' (1963) की कथा दिल्ली के कनॉट प्लेस के इर्दगिर्द मंडराती है, जिसका कथानायक तीन साल पहले गंगा किनारे बसे किसी शहर से दिल्ली आता है। कमलेश्वर की दिल्ली पर केंद्रित एक और कहानी है 'दिल्ली में एक मौत'। राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से छपे उनके कहानी संग्रह में ये दोनों कहानियाँ संकलित हैं।

नई कहानी आंदोलन की त्रयी में से एक मोहन राकेश की 'एक और ज़िन्दगी' और 'मिस पाल', राजेन्द्र यादव की 'बिरादरी बाहर','जहाँ लक्ष्मी क़ैद है' और 'छोटे-छोटे ताजमहल', कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया' के अलावा इसी दौर में सक्रिय धर्मवीर भारती की 'गुलकी बन्नो', भीष्म साहनी की 'चीफ़ की दावत' ज्ञानरंजन की 'पिता', 'घंटा' और 'बहिर्गमन', निर्मल वर्मा की 'अंतर', हरिशंकर परसाई की 'भोलाराम का जीव', दूधनाथ सिंह की 'प्रतिशोध', अमरकांत की 'ज़िंदगी और जोंक' एवं 'डिप्टी कलक्टरी', शेखर जोशी की 'कोशी का घटवार', मन्नू भंडारी की 'त्रिशंकु', उषा प्रियंवदा की 'वापसी', कृष्णा सोबती की 'बादलों के घेरे', शिवप्रसाद सिंह की 'नन्हो' आदि तथा काशीनाथ सिंह, गोविंद मिश्र, बटरोही, ममता कालिया, रवीन्द्र कालिया, विजयमोहन सिंह, सत्येन कुमार, चित्रा मुद्गल, मेहरुन्निसा परवेज़, गिरिराज किशोर, ज्ञानप्रकाश, सतीश जमाली, प्रयाग शुक्ल जैसे कहानीकारों की कहानियों में 'वातावरण' और ख़ासतौर पर 'शहरी वातावरण' का अच्छाख़ासा असर दिखता है। इनमें से कुछ में तो सीधे तौर पर लोकेल के रूप में शहर का इस्तेमाल किया गया है लेकिन ज़्यादातर में

तेज़ी से पसर रहे शहर और शहरी समाज में जीवन की उलझती गुत्थियों, लगातार बढ़ते मध्यवर्ग और कामकाजी होती स्त्रियों की वजह से मर्दों की सामंती मानसिकता को मिलती चुनौती के दबाव में बदलते स्त्री-पुरुष संबंधों आदि को व्यापक अभिव्यक्ति मिली है। उक्त कहानियों में शहरीकरण और आधुनिक जीवन बोध से उत्पन्न अनास्था, कुंठा, संत्रास, क्षणवाद, घुटन, निराशा तथा जीवन के प्रति वितृष्णा आदि को भी अभिव्यंजित किया गया है।

हिंदी में शहर को लोकेल के रूप में इस्तेमाल कर ऐसी अनंत कहानियाँ लिखी गई हैं जिन सबका उल्लेख करना यहाँ संभव नहीं है, लेकिन सन् 60-65 के बाद लिखी गई कहानियों में आज़ादी के बाद पैदा हुई उम्मीदों के टूटने यानी स्वप्न-भंग को कुछ ज़्यादा ही तवज्जो दी गई। इस दौर के जिन कहानीकारों ने गहन व परिपक्व अनुभवों के आधार पर आधुनिक शहरी, क़स्बाई और ग्रामीण जीवन के अनुभवों और विडंबनाओं को आधार बनाकर कहानियाँ लिखीं उनमें दूधनाथ सिंह, महीप सिंह, सुरेश सिन्हा, ज्ञानरंजन, गिरिराज किशोर, भीमसेन त्यागी, धर्मेन्द्र गुप्त, इब्राहिम शरीफ़, विश्वेश्वर, गंगाप्रसाद विमल, रवीन्द्र कालिया, काशीनाथ सिंह, ज्ञानप्रकाश आदि उल्लेखनीय हैं।

इसी दौर में महिला कहानीकारों की एक पीढ़ी कहानी लेखन के क्षेत्र में सक्रिय हुई जिसने कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा आदि की विरासत को आगे बढ़ाने का काम तो किया ही, साथ ही 20वीं सदी के आख़िरी दौर में हिंदुस्तान में आर्थिक उदारीकरण, बाज़ारवाद, सूचना प्रौद्योगिकी और टेलीविज़न क्रांति आदि के वृहत्तर हिंदुस्तानी समाज ख़ासकर स्त्री जीवन को दर्शाने की कोशिश भी की। उनमें प्रमुख हैं — नासिरा शर्मा, चित्रा मुद्गल, क्षमा शर्मा, दूर्वा सहाय, लवलीन, जया जादवानी, कुसुम अंसल, सुशीला टाकभौरे, मधु काँकरिया, आभा गुप्ता, अर्चना वर्मा, सुधा अरोड़ा, गीतांजलि श्री, कात्यायनी, स्मिता, नीलम कुलश्रेष्ठ, उषा महाजन, नीलाक्षी सिंह, शीताक्षी सिंह आदि।

मराठी की तर्ज़ पर इन्हीं दिनों दलित लेखन का दौर भी शुरू हुआ जिसमें ओमप्रकाश वाल्मिकि, श्यौराज सिंह बेचैन, सूरजपाल चौहान, सुशीला टाकभौरे, भगवानदास मोरवाल आदि ने शहर और गाँव को केन्द्र में रखकर दलित जीवन के इर्द-गिर्द कई कहानियाँ लिखीं।

आठवें-नौवें दशक में राजेन्द्र यादव के संपादन में प्रकाशित हिंदी मासिक *हंस* ने कई महत्वपूर्ण कथाकारों को सामने लाने का काम किया। इनमें उदय प्रकाश, अखिलेश, संजीव, प्रियंवद आदि प्रमुख हैं। सन् 1987 के *हंस* में छपी उदय प्रकाश की बहुचर्चित कहानी 'तिरिछ' गँवई गजाधर बाबू के शहर आगमन और उनकी विडंबनापूर्ण मृत्यु को आधार बनाकर लिखी गई है। 'तिरिछ' संग्रह में संकलित 'रामसजीवन की प्रेमकथा' दिल्ली के जेएनयू में पढ़ाई कर रहे एक छात्र के एकतरफ़ा प्रेम की मर्मांतक कहानी है। इसी कहानी संग्रह में शहर की पृष्ठभूमि पर एक और उल्लेखनीय कहानी है — 'हिन्दुस्तानी इवान दानिसोविच की ज़िंदगी का एक दिन'। यह कहानी मेरठ से दिल्ली आकर बेरसराय में रहकर प्रूफ़रीडरी करने वाले एक अतिसामान्य व्यक्ति की शायद सामान्य, पर तरद्दुद से पटी ज़िंदगी के एक असामान्य दिन की घटना पर आधारित है, जब अन्य मुश्किलों के अलावा गूँगे बेटे के स्कूल का न खुलना और बसों का न चलना (क्योंकि प्रधानमंत्री बोट क्लब में जनसभा को संबोधित कर रहे हैं) उसे एक असामान्य व मानीख़ेज़ क़दम उठाने पर बाध्य कर देता है। *इंडिया टुडे* के साहित्य विशेषांक में पहली बार प्रकाशित उदय प्रकाश की ही 'पॉल गोमरा का स्कूटर' कहानी का तानाबाना दिल्ली और ग़ाज़ियाबाद के इर्द-गिर्द बुना गया है। कथानायक पॉल गोमरा ग़ाज़ियाबाद की कवि नगर नामक कॉलनी में रहते हैं और दिल्ली के आईटीओ पुल के पास बहादुरशाह ज़फ़र मार्ग पर स्थित एक राष्ट्रीय दैनिक के दफ़्तर में काम करते हैं। आर्थिक उदारीकरण, भूमंडलीकरण, बाज़ारवाद, तकनीकी विकास और सूचना प्रौद्योगिकी क्रांति के दिल्ली और इसके आसपास के क्षेत्रों के जन-जीवन और समाज पर पड़ने वाले प्रभावों और उत्तर आधुनिक बदलावों को केन्द्र में रखकर लिखी गयी है यह कहानी। इसके अलावा लेखक के अंतिम कहानी संग्रह *दत्तात्रेय के दुख* संग्रह में संकलित 'आचार्य की रज़ाई' कहानी दक्षिणी दिल्ली के बेरसराय में एक तबेले में अपनी बीवी और दो बच्चों के साथ रहनेवाले एक सुप्रसिद्ध चित्रकार और नाटककार की फ़ाकाकशी और संघर्ष को बयान करती है। साथ ही यह यहाँ के एक विश्वविद्यालय संभवतः जेएनयू के एक शिक्षक के नैतिक पतन और उसके शोषक रूप का पर्दाफ़ाश भी करती है। उन्हीं की 'दिल्ली की दीवार' दिल्ली की सत्ता, व्यवस्था, पुलिस-प्रशासन, सूचना के रूप

में झूठी अफ़वाह फैलाते अख़बार और मीडिया यहाँ के ताकतवर लोगों की आम जनविरोधी कारगुज़ारियों, उनके भ्रष्ट आचरण से पिस रहे अपने स्वप्नों और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए दिल्ली आए मेहनती, ईमानदार, प्रतिभाशाली लोगों की कुंठाओं ओर उनके अंदर छिपे भय, डर को व्यक्त करने वाली और गहरे आक्रोश में लिखी गयी कहानी है। इसमें दिल्ली के भूगोल, यहाँ के इतिहास, नये-पुराने मुहल्लों, हाट-बाज़ार, पीर-मज़ार, दरगाह आदि का ज़िक्र है। इसी लेखक की 'पीली छतरी वाली लड़की' नामक कहानी की पृष्ठभूमि में परोक्ष रूप से दिल्ली का जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय और सागर विश्वविद्यालय परिसर हैं। इस लंबी कहानी में कहानीकार ने इक्कीसवीं सदी में दाख़िल हो रहे हिंदुस्तान में सांप्रदायिकता, ब्राह्मणवाद, उपभोक्तावाद, आतंकवाद जैसी समस्याओं से दो-चार होते हिंदुस्तान के दर्द को समझने की कोशिश की है। कहानी में व्यंजित दिल्ली के बाज़ारीकरण का एक नमूना देखियेः '...यह वह समय था जब इंडिया के बाज़ारों में तरह-तरह के परफ़्यूम, कॉस्मेटिक्स, इलेक्ट्रिकल और इलेक्ट्रॉनिक गैजेट्स, वॉशिंग मशीन, सेलुलर फ़ोन, डिजिटल टीवी, हैंडी कैम अंटे पड़े थे। हर हफ़्ते आधा दर्जन कारों के नये मॉडल सामने आ रहे थे। दिल्ली में मैक्डोनल्ड, केएफ़सी और निरुलाज़ के सैकड़ों ईटिंग प्वाइंट्स खुल रहे थे। राजधानी और दूसरे बड़े शहरों में नाइट क्लब्स खुल गये थे, जहाँ रात में अधनंगी मॉडल्स व्हिस्की और वाइन बेचती थीं और जहाँ मंत्रियों-नौकरशाहों और अपराधियों की संतानें ऐश करती थीं। देसी-विदेशी सट्टेबाज़ खुले आम लोगों में जुए और लॉटरी की लत डालकर उन्हें करोड़पति और दस करोड़पति बनाने का स्वप्न दिखा रहे थे'।

शहर पर केंद्रित कहानियों की इस यात्रा में दिल्ली से बाहर निकलकर पास के शहर चंडीगढ़ की ओर चलने पर हमारी नज़र जाती है कथाकार-नाटककार स्वदेश दीपक की एक कहानी 'जय हिंद' पर। 1973 में लिखी गई इस कहानी के केंद्र में है दुनिया के ख़ूबसूरत शहर का इनाम प्राप्त कर चुका शहर चंडीगढ़। देश के दो समृद्ध राज्यों पंजाब और हरियाणा की राजधानी चंडीगढ़ और केंद्रशासित प्रदेश चंडीगढ़...। इसी चंडीगढ़ शहर की ख़ूबसूरती और वहाँ सड़क किनारे बसी एक झुग्गी बस्ती के जहालत भरे जीवन की विडंबना और उसके भीतर के द्वन्द्व को दर्शाती है यह कहानी। इसी तरह मनोरोग से ग्रस्त लेखक के खंडित जीवन का कोलाज है — *मैंने माँडू नहीं देखा*। इसमें दिल्ली, कोलकाता और चंडीगढ़ हैं वहाँ के साहित्यकारों, रंगकर्मियों, प्रकाशकों के साथ।

नौवें दशक तक हिंदुस्तान ही नहीं बल्कि पूरे एशियाई मुल्कों में मुंबई की एक अलग पहचान बन चुकी थी। इसी अवधि में लिख रहे कुछ नये कहानीकारों ने तेज़ी से बदलती मुंबई के जन-जीवन को आधार बनाकर बहुत सारी कहानियाँ लिखीं। धीरेन्द्र अस्थाना, सुधा अरोड़ा, संजय छैल आदि ने भी इस महानगर को अपनी कहानियों के लोकेल के रूप में इस्तेमाल किया है। मुंबई की लेखिका सुधा अरोड़ा की एक ऐसी ही मार्मिक कहानी है 'काला शुक्रवार'। 1992 के मुंबई बम विस्फोट कांड पर लिखी गई इस कहानी पर बॉलीवुड में *ब्लैक फ़्राइडे* नाम से एक फ़िल्म भी बनी है। मुंबई बम विस्फोट की त्रासदी को बड़े ही मार्मिक अंदाज़ में बयान करती है यह कहानी। अपनी आँखों के सामने हुए इस हादसे के त्रासद अनुभवों को पहले रिपोर्ताज/संस्मरण और बाद में कहानी का फ़ॉर्म देकर लेखिका ने ऐसे नाज़ुक वक़्त में घर-बार छोड़कर रोज़ी-रोटी की जुगाड़ में महानगर आए लोगों की विडंबनात्मक स्थिति, साम्प्रदायिक दंगे-फ़साद, भगदड़ अपनी-अपनी जान बचाने की सबकी चिंता आदि को बुनियादी इन्सानी सवालों से जोड़कर देखने की कोशिश की है। लेखिका का आत्मकथ्य हैः '...मैं घर से बाहर थी और जलते हुए शहर के बीच से होती हुई घर पहुँची थी। उस दिन का अनुभव चेतना को झकझोर देने वाला था। कई दिन वह झुलसा हुआ शहर दिमाग़ पर वज़न की तरह रहा।' लेखिका ने दिसम्बर 1992 को अयोध्या में बाबरी मस्जिद ढहाए जाने के बाद मुंबई में हुए भीषण दंगों की विभीषिका पर 'जानकीनामा' शीर्षक से एक अन्य कहानी लिखी, जो इसी संग्रह में संकलित है। इसके अलावा लेखिका ने मुंबई को केन्द्र में रख कर 'होगी तुम वहीं', 'सत्ता संवाद', 'यह रास्ता उसी राह को जाता है' आदि कहानियाँ लिखीं। यूँ तो मुंबई को आधार बनाकर और भी बहुत सी कहानियाँ लिखी गई हैं लेकिन उन सबका ज़िक्र करना यहाँ संभव नहीं है।

भोपाल मध्य भारत का एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्र है। अशोक वाजपेयी, कमला प्रसाद, मदन सोनी, मेहरुन्निसा परवेज़ जैसे समकालीन लेखकों का बसेरा बने इस शहर को आधार बनाकर गुलशेर ख़ाँ 'शानी' ने 'दोजख़ी' कहानी की रचना की, हालांकि मूलतः साम्प्रदायिकता को आधार बनाकर लिखी गई इस कहानी में कभी

भीषण दंगों की मार सह चुके दिल्ली, मुरादाबाद, मेरठ, भागलपुर आदि शहरों का भी ज़िक्र आया है।

हिंदी के कई उपन्यासों और कहानियों की कथाभूमि रहा है बनारस। मिसाल के तौर पर भारतेन्दु हरिश्चंद्र, केशव प्रसाद मिश्र, पं. मदनमोहन मालवीय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नामवर सिंह, शिवप्रसाद सिंह, काशीनाथ सिंह आदि कहानी लेखकों ने अपनी रचनाओं में यत्र-तत्र इस शहर के अपने साक्ष्य बख़ूबी बयान किए हैं।

अखिलेश के संपादन में प्रकाशित साहित्यिक पत्रिका *तद्भव* (अप्रैल 2003) में छपी प्रभात रंजन की कहानी 'बदनाम बस्ती' हिंदी गद्य साहित्य की परंपरागत विधाओं के खाँचे में भले फ़िट न बैठती हो लेकिन थोड़ी कहानी, थोड़ा संस्मरण... यानी मिश्रित विधागत शैली में लिखी गई इस रचना में उत्तर बिहार के शहर मुज़फ़्फ़रपुर के लालबत्ती क्षेत्र 'चतुर्भुज स्थान' के बाशिंदों, जिनमें कवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री भी शुमार हैं, पर एक दिलचस्प टिप्पणी की गई है। इसी लेखक की 'सहारा समय' हिंदी साप्ताहिक द्वारा आयोजित कहानी प्रतियोगिता 2004 में पुरस्कृत कहानी 'जानकी पुल' में यह दर्शाने की कोशिश की गई है कि महानगर केंद्रित विकास और चमक-दमक के बरक्स क़स्बे आज काफी पीछे छूट गये हैं। विकास के वर्तमान स्वरूप में कहीं उनका ज़िक्र भी नहीं है। विकास की इस अंधी दौड़ में न जाने कितने सपने अधूरे रह जाते हैं। ऐसे ही एक अधूरे सपने की कहानी है यह कहानी। इसमें जिन दिनों देश में 'इंडिया शाइनिंग' को लेकर बहस चल रही थी उन्हीं दिनों लेखक को अपने क़स्बे में बनता पुल याद आया।

हंस के बीस साला सफ़र में दर्जनों ऐसी कहानियाँ छपी हैं जो या तो सीधे-सीधे शहर पर केंद्रित हैं या शहर किसी न किसी रूप में मौजूद रहा है। ऐसी एक कहानी है कथाकार हेमंत की 'थ्रिल', जो *हंस* के मार्च, 1999 के अंक में छपी थी। 'पेज थ्री' फ़िल्म से बहुत पहले आई हेमंत की लंबी कहानी 'थ्रिल' इक्कीसवीं सदी के किसी भी शहर के एक नायक की हत्या की निजी-सार्वजिनक छवि-उलझनों को सुलझाने की कोशिश में शहर के बारे में बड़े सटीक सूत्र और आप्त-वाक्य गढ़ती है।

इस लेख में शहर पर लिखी गई सभी कहानियों को दर्ज करना संभव नहीं है। इसलिए ज़ाहिर है शहरों को लोकेल के रूप में इस्तेमाल कर लिखी गई कुछ अति महत्वपूर्ण कहानियाँ छूट गई हों। इसके लिए खेद जताते हुए यह गुज़ारिश तो की ही जा सकती है कि लेख के इस अंश को शहर पर केंद्रित कुछ चुनिंदा कहानियों की बानगी मात्र सामझा जाए। लेकिन कहानियों से इतर विधाओं में शहर पर केंद्रित लेखन का एक जायज़ा तो लिया ही जा सकता है, और इसकी शुरुआत फिर दिल्ली से ही क्यों न हो। दिल्ली में रह रहे बहुत से लेखकों ने समय-समय पर अपने संस्मरणों, आत्मकथाओं, जीवनियों, रिपोर्ताजों, रेखाचित्रों, पत्रों आदि में दिल्ली शहर से जुड़ी अपनी स्मृतियों को दर्ज किया है।

वैसे दिल्ली के साहित्य पर चर्चा हो और मिर्ज़ा ग़ालिब का ज़िक्र न हो तो बात कुछ जमेगी नहीं क्योंकि ग़ालिब की अपनी एक ख़ास तरह की दिल्ली है, सबसे अलहदा और सबसे मुख़्तलिफ़। 1857 का प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम ग़ालिब ने अपनी आँखों से देखा था। 1857 से 1862 तक दिल्ली पर न जाने क्या-क्या विपत्तियाँ आईं। ग़ालिब के अधिकांश मित्र और संबंधी या तो लड़ते हुए मारे गये या फाँसी पर लटका दिए गए। ग़ालिब दिल्ली से बेहद प्यार करते थे। उन्होंने अपने जीवन के सांध्यकाल में देखा कि उस दिल्ली की बड़ी-बड़ी इमारतें ढहाई जा रही हैं। दिल्ली के साहित्यिकों का समाज तितर-बितर हो गया। भारतीय इतिहास की यह अत्यंत करुणाजनक घटना उनके बहुत से पत्रों में चित्रित हुई है। हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद ने 'ग़ालिब के पत्र' — दो खंडों में — प्रकाशित किये हैं, जिनका हिंदी में लिप्यंतरण और संपादन श्रीराम शर्मा और रामनिवास शर्मा ने किया है। 'दिल्ली की आख़री शमा' 'दिल्ली का एक यादगार मुशायरा' शीर्षक से मिर्ज़ा फ़रहतुल्लाह बेग ने 1907 में लिखा। ख़ुद भारतेंन्दु हरिश्चन्द्र ने उन्नीसवीं सदी में 'दिल्ली दरबार' शीर्षक से एक निबंधात्मक लेख लिखा।

दिल्ली एक शहर ही नहीं बल्कि सदियों तक हिंदुस्तान की सियासत और उस सियासत के नाम पर होने वाली मारकाट का गवाह और भुक्तभोगी भी रहा है। इतिहास ही नहीं साहित्य की किताबों में भी ऐसी बहुतेरी घटनाएँ दर्ज है। ऐसी ही एक बर्बर घटना का ज़िक्र किया है तैमूर ने अपनी आत्मकथा 'मल्फ़ुजात-ए-तैमूरी' में

किया है, जिसका हिन्दी रूपांतर राधेश्याम गोस्वामी ने 'दिल्ली के आँसू' शीर्षक से किया है, और इसे प्रकाशित किया है विश्वविजय प्रा.लि., नई दिल्ली ने।

दिल्ली पर केंद्रित साहित्य की खोज के क्रम में आत्मकथा पर नज़र दौड़ाएँ तो हमारे सामने आती है भीष्म साहनी की आत्मकथा *आज के अतीत*। इस किताब में उन्होंने बीसवीं सदी के शुरुआती रावलपिंडी, लाहौर और बाद में दिल्ली, बम्बई आदि शहरों से जुड़ी अपनी यादों को समेटने की कोशिश की है। इसके अलावा संस्मरणों में देखें तो कथामासिक *हंस* के संपादक राजेन्द्र यादव द्वारा संपादित *अभी दिल्ली दूर है* में सन् सैंतालीस के बाद अलग-अलग चरणों में दिल्ली आए और यहीं के होकर रह गए हिंदी के कुछ महत्वपूर्ण लेखकों की नज़र से दिल्ली को दर्शाने की कोशिश की गई है। मिसाल के तौर पर, भीष्म साहनी ने जहाँ आज़ादी के जश्न और मारकाट के बीच ठौर-ठिकाने की तलाश में पाकिस्तान से विस्थापित होकर आए हज़ारों शरणार्थियों की दिल्ली शहर में जद्दोजहद, शहर में शरणार्थी बस्तियों के निर्माण, साहित्यिक गोष्ठियों और संगठनों की गतिविधियों का केंद्र बनती-बिगड़ती दिल्ली के साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिदृश्य का आत्मावलोकन किया है, वहीं रघुवीर सहाय के लिए दिल्ली हमेशा परदेस रहा क्योंकि इस 'शहर की अपनी कोई जड़ें नहीं हैं। कहीं न कहीं संवाद की कमी दिल्ली के समाजों के अंदर भी बार-बार उभरकर आती थी...। दिल्ली शहर का भूगोल सामुदायिक जीवन के अनुकूल नहीं है। खानों में बँटे हुए जीवन के बावजूद दिल्ली के इलाक़े अपने आप में आत्मनिर्भर हैं, जिसके पीछे नगर विकास की योजना का हाथ कम और सन् सैंतालीस के विभाजन की त्रासदी के बाद बड़े पैमाने पर समाज के मन में अपने पुनर्वास की आकांक्षा ज़्यादा है।'

रघुवीर सहाय ने 'दिल्ली मेरा परदेस' शीर्षक से भी एक कॉलम लिखा था। इसमें उन्होंने अपने दिल्ली आने के संस्मरण के बहाने दिल्ली शहर से जुड़ी अपनी स्मृतियों की भी समेटने की कोशिश की है। इसके अलावा मोहन राकेश ने भी दिल्ली से जुड़ी अपनी दास्तान 'दिल्ली रात की बाहों मे' में दर्ज किया है, जो *परिवेश* में संकलित है।

शहरी समाज, जिसे लेखिका के दिल्ली बसेरे को देखते हुए दिल्ली का परिवेश और समाज भी माना जा सकता है, के बोलते शब्द-चित्रों की एक घूमती हुई रील है कृष्णा सोबती की *हम हशमत*। इस लंबी जीवन-चित्र-कथा में हर चित्र घटना है और हर चेहरा नायक। इन चेहरों में विख्यात लेखक हैं, पत्रकार हैं और अन्य अज़ीज़ हैं जिनमें बहुतेरे हमारे-आपके भी परिचित हैं। रोज़मर्रा के जीवन में पार्टियों, दावतों से लेकर टैक्सी ड्राइवरों तक से मुलाक़ातों का रोचक चित्रण। वास्तव में ये सभी जीवन-प्रवाह के अंग हैं जिनमें हम-आप और सारे ही लोग बह रहे हैं। इसके अतिरिक्त लेखिका की दिल्ली पर केंद्रित एक अन्य कृति 'दिल्लीः नई-पुरानी' भी है। यह उनकी किताब *सोबती एक सोहबत* में संकलित है।

दिल्ली शहर के साहित्य की खोजबीन करते हुए हमारी नज़र छोटी ही सही दिल्ली की सिनेमा की दुनिया पर भी पड़ती है। दिल्ली का सिनेमा से गहरा सरोकार रहा है। यूँ तो बॉलीवुड का ताल्लुक़ मुंबइया सिनेमा से है लेकिन दिल्लीवालों का भी सिनेमा से गहरा संबंध रहा है। *हिंदी सिनेमा और दिल्ली* किताब में दिल्ली में सिनेमा के अतीत, वर्तमान, विकास, कारोबार, दिल्लीवालों की पसंद-नापसंद, सिनेमा का उन पर और सिनेमा पर दिल्लीवालों का प्रभाव जाँचा गया है। सविता बाखड़ी और आदित्य अवस्थी की यह किताब प्रवीण प्रकाशन, दिल्ली से 1997 में छपी है।

हम सभी जानते हैं कि दिल्ली का प्राचीन नाम इन्द्रप्रस्थ है। इन्द्रप्रस्थ पर हिंदी में कई किताबें मौजूद हैं, मसलन डॉ जयनारायण कौशिक की नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी से प्रकाशित *साहित्य में वर्णित इन्द्रप्रस्थ* एवं *विश्व की प्राचीनतम राजधानी इन्द्रप्रस्थ* आदि। दरअसल दिल्ली राजनीतिक ही नहीं अपितु धार्मिक और सांस्कृतिक महत्व का भी केंद्र रहा है। इन दोनों किताबों में उन सभी पक्षों को समेटने की कोशिश की गई है। लेखक ने दिल्ली पर तीन अन्य किताबों की भी रचना की है। ये हैं — *दिल्ली अंचल की लोक संस्कृति*, *दिल्ली की अपनी कहानी*, जो हिंदी बुक सेंटर, दिल्ली से छपी हैं और *इन्द्रप्रस्थ माहात्म्य कथा*। लाला महेश्वर दयाल ने भी *दिल्ली*

जो एक शहर है शीर्षक से एक किताब लिखी है जिसका हिंदी संस्करण 1991 में हिन्दी अकादमी, दिल्ली ने प्रकाशित किया है। इससे पहले *दिल्ली मेरी दिल्ली* शीर्षक से इसी लेखक ने एक और किताब लिखी।

मुंबई के कुछ महत्वपूर्ण लेखकों ने भी अपनी आत्मकथा में मुंबई को अच्छी ख़ासी तरजीह दी है। *पेशावर से बम्बई तक* ए.के. हंगल की एक ऐसी ही आत्मकथा है। राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, जयपुर से प्रकाशित इस किताब में मशहूर फ़िल्म कलाकार रह चुके लेखक ने अपने वैयक्तिक, राजनीतिक, रंगमंचीय तथा फ़िल्मी दुनिया से संबंधित यादों को लिपिबद्ध करने की कोशिश की है। इसके अलावा अमृतलाल नागर की आत्मकथा *टुकड़े-टुकड़े दास्तान* में उनके बचपन से लेकर बुढ़ापे तक, घर से लेकर मुंबई के फ़िल्म स्टूडियो और आकाशवाणी तक जीवन की झाँकी है। *बम्बई की पहली यात्रा* और *बम्बई — कल्पना और प्रत्यक्ष* में लेखक के अपने संघर्ष, आकांक्षाओं और अंतर्द्वन्द्व का जैसा बेलाग चित्रण किया है वैसा हिंदी की आत्मकथात्मक रचनाओं में कम मिलता है। बक़ौल लेखक, 'मैंने रंग-बिरंगी बम्बई के कुछ रंग देखे हैं। दोनों तरह के अनुभव अच्छी तरह पाये..। कीमती स्वादिष्ट पदार्थों के भोजन से लेकर बदहज़मी की दवा तक के लिए परेशान हुआ हूँ, साथ ही पैसे के अभाव में महीनों आधे पेट खाकर संतोष किया है, तीन दिन तक फ़ाके भी किये हैं। इस महानगरी में जहाँ अनेक प्रकार के ठग देखे, वहाँ ही एसे निष्काम सेवाव्रती साधु भी देखे जो बिना भेदभाव सबका भला करने में ही संलग्न रहते हैं।'

हिंदुस्तान की राजधानी दिल्ली से मुंबई होते हुए देश के तीसरे महानगर कलकत्ते को केंद्र में रखकर लिखे गये साहित्य की खोजबीन करते हुए हमारी निगाह जिन कृतियों पर पड़ी उनमें प्रमुख है ठाकुर श्रीनाथ सिंह की लिखी 'कलकत्ते की साहित्यिक यात्रा'। उनका यह लेख जुलाई, 1933 में *सरस्वती* में प्रकाशित हुआ था। साहित्यिक दृष्टि से शिवपूजन सहाय का लिखा एक अतिमहत्वपूर्ण लेख 'मतवाला कैसे निकला' *हंस* के आत्मकथा अंक में जनवरी, 1932 में छपा था। शिवपूजन सहाय द्वारा लिखित एक और लेख 'कलकत्ता प्रवास के संस्मरण', जो मंगलमूर्ति द्वारा संपादित और 1965 में छपे *वे दिन वे लोग* में संकलित है। इसी तरह शांतिप्रिय द्विवेदी ने एक लेख 'कलकत्ता में छह वर्ष पहले' शीर्षक से 1951 में लिखा था।

बनारस से ताल्लुक़ रखनेवाले कई लेखक अपनी आत्मकथाओं में इस शहर को वर्णित करने का लोभ संवरण नहीं कर पाए हैं। *अपनी ख़बर* शीर्षक आत्मकथा में पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने अपने बचपन के दिनों की काशी की विविधताओं को याद किया है। इसी तरह रामनाथलाल सुमन की बनारस या काशी पर लिखी टिप्पणी — 'छायावादयुगीन काशी' *त्रिपथगा* के अगस्त 1957 अंक में छपी। चंद्रधर शर्मा गुलेरी की बनारस पर लिखी दो उल्लेखनीय रचनाएँ हैं — 'काशी' तथा 'काशी की नींद और काशी के नूपुर'। ये दोनों रचनाएँ मनोहरलाल द्वारा संपादित और किताबघर, दिल्ली से प्रकाशित *गुलेरी रचनावली* में संकलित है। बनारस के सदाबहार लेखक हैं काशीनाथ सिंह। राजेन्द्र यादव द्वारा संपादित *आत्मतर्पण* में उन्होंने बनारस में अपने बीते दिनों को याद करते हुए लिखा है:

> चालीस साल हो रहे हैं मुझे बनारस शहर में रहते हुए। जुलाई सन् तिरपन में आया था मैं। क्या जलवा था मेरा। पहली बार रेलगाड़ी देखी, राजघाट का पुल देखा, बिजली देखी, रिक्शे देखे। ठहरा भैया के साथ गिरिजाघर चौमुहानी के पास 'सरस्वती प्रेस' की पहली मंज़िल पर, इसलिए और भी बहुत कुछ देखा..। मगर जल्दी ही जलवा फीका पड़ गया। बहरहाल, इसे मजबूरी कहिये या पसंद, मैने अपनी जीविका के लिए यही शहर चुना। अखंड हरि कीर्तनों का शहर। रात-रात कव्वालियों और विरहा-दंगलों का शहर। कंधे पर लंगोट या लंगोट की पगड़ी बांधे सिर का शहर। पान की दुकानों के आगे सुबह-शाम गप्पें मारता और ठहाके लगाता शहर। गलियों और गालियों, घाटों और मालियों, 'हर-हर महादेव' के नारों और तालियों का शहर...

राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद की आत्मकथा है — *सवानेह उमरी।* 1893 में प्रकाशित इस आत्मकथा में उन्होंने बनारस, कलकत्ता आदि शहरों की यात्राओं का वर्णन किया है। इसके अलावा बनारस पर विनोद तिवारी का भी एक सुचिंतित आलेख 'काशी का औपन्यासिक साक्षात्कार' भी है, जिसमें रुद्र काशिकेय कृत 'बहती गंगा', तथा

शिवप्रसाद मिश्र की हिन्दुस्तान के इतिहास के तीन मुख़्तलिफ़ काल-खंडों का आह्वाहन करती उपन्यास-त्रयी : 'गली आगे मुड़ती है', 'नीला चाँद', और 'वैश्वानर' का मोहक परिचय मिलता है। अलावा इसके काशी/बनारस पर हिंदी की ढेर-सारी मशहूर कविताएँ हैं, श्रीकांत वर्मा, त्रिलोचन, ज्ञानेन्द्रपति, राजेश जोशी से लेकर मोहन राणा तक की।

लखनऊ एक शहर ही नहीं एक तहज़ीब का भी नाम है। अमृतलाल नागर ने इस नवाबी शहर के बारे में लिखा हैः 'लखनऊ, संयुक्त प्रांत में एक निराला नगर है। बिजली की प्रभा से आलोकित संध्या 'शाम-ए-अवध' की सम्पूर्ण प्रतिभा है। प य में क्रय-विक्रय चल रहा है, नीचे और ऊपर से सुंदिरयों का कटाक्ष, चमकीली वस्तुओं का झलमला, फूलों के हार का सौरभ और रसिकों के वसन में लगे हुए गंध से खेलता हुआ मुक्त पवन — यह सब मिलकर एक उत्तेजित करनेवाला मादक वायुमंडल बन रहा है। मंगलदेव अपने साथी के साथ मैच खेलने लखनऊ आया था। उसका स्कूल आज विजयी हुआ है। कल वे लोग बनारस लौटेंगे। आज सब चौक में अपना विजयोल्लास प्रकट करने के लिए और उपयोगी वस्तु क्रय करने के लिए एकत्र हुए हैं।' हिंदी के बहुत से नामवर लेखकों की जन्मभूमि ही नहीं कर्मभूमि और संघर्षों का गवाह रहा है यह नवाबी शहर। अमृतलाल नागर, रघुवीर सहाय, कुँवरनारायण, मनोहरश्याम जोशी सरीखे लेखकों के साहित्य में लखनऊ अपने अलग ही तेवर में मौजूद है। अब नवाबी शहर है तो वहाँ तवायफ़ें भी होंगी। उमराव जान हिंदुस्तान की तवायफ़ संस्कृति में एक मिथक बन चुकी हैं या बना दी गई हैं। उनका ताल्लुक़ लखनऊ से ही था। मुज़फ़्फ़र अली द्वारा उन पर बनाई गई फ़िल्म की इसमें उल्लेखनीय भूमिका रही। बहुत कम लोग जानते हैं कि उमराव जान अदा ने अपनी आत्मकथा भी लिखी है, जिसका हिंदी या हिंदुस्तानी में अनुवाद रघुपति सहाय फ़िराक़ सहित कई लेखकों ने किया है। संगम पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद से 1961 में प्रकाशित *उमराव जान अदा* की मूल भूमिका मिर्ज़ा हादी अली रुस्वा ने लिखी थी और इसका अनुवाद किया था रघुपति सहाय फ़िराक़ ने। इसमें उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में बदलते लखनऊ और फ़ैज़ाबाद जैसे शहरों की कहानी एक वेश्या की ज़िन्दगी के माध्यम से बयान की गई है। बक़ौल अनुवादक — रघुपति सहाय 'फ़िराक़'ः

> आज से सौ बरस पहले का लखनऊ और वह सैंकड़ों छोटे-बड़े लखनऊ, जो आधे हिन्दुस्तान के शहर-शहर, क़स्बे-क़स्बे में बसे हुए थे, यानी लखनऊ की ज़िन्दगी, उनकी जीती जागती तस्वीर इस उपन्यास में खींची गई है..। बुआ हुसैनी की आढ़त, दिल-फेंक रईसों और नवाबों को ज़िन्दगियों की झलक, रंडियों की दुनिया में रहने वालों की चलती-फिरती तस्वीरें, रस्म-रिवाज, चाल-ढाल, और उमराव जान 'अदा' की बचपन से लेकर अधेड़ उम्र तक आपबीती ऐसी चीज़ें हैं, जो एक सिद्धहस्त कलाकार ही हमें दे सकता था। उर्दू में यह उपन्यास एक अमर रचना या क्लैसिक का स्थान पा चुकी है...

हिंदी के कई बड़े लेखकों ने अपने संस्मरणों, यात्रा वृत्तांतों में उत्तरी हिंदुस्तान के इस नवाबी शहर से जुड़ी अपनी यादों को समेटने की कोशिश की है। हमारी निगाह सबसे पहले पड़ती है भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की लिखी 'लखनऊ, जबलपुर, सरयूपार की यात्रा' शीर्षक यात्रा वृत्तांत पर। उनका यह यात्रा वृत्तांत ब्रजरत्न दास द्वारा संपादित *भारतेन्दु ग्रन्थावली* खंड-3 में संकलित है। मनोहरश्याम जोशी का लखनऊ पर लिखा संस्मरणात्मक निबंध किस्तों में कथाकार अखिलेश के संपादन में प्रकाशित पत्रिका *तद्भव* में 'लखनऊ मेरा लखनऊ' शीर्षक से छपा था, बाद में इसे 2002 में वाणी प्रकाशन, दिल्ली ने पुस्तकाकार छापा। इसमें उन्होंने अपने कॉलेज के दिनों के लखनऊ के सांस्कृतिक, बौद्धिक समाज को बड़े ही खिलंदड़ाना अंदाज़ में पेश किया है। इसके अलावा 'रघुवीर सहाय के बहाने एक संस्मरण' मनोहर श्याम जोशी का एक उल्लेखनीय लेख है जिसमें उन्होंने रघुवीर सहाय के बहाने लखनऊ और मुख्यतः पचास और साठ के दशकों की दिल्ली की यादों को समेटने की कोशिश की है। ये कुछ बानगी हैं लखनऊ पर लिखे गये कुछ नामवर क़िस्म के लेखकों की उल्लेखनीय कृतियों की। लखनऊ के कॉफ़ी हाउस भी ज़ाहिरा तौर पर वहाँ के साहित्यकारों के लेखकीय अच्छे-बुरे कारनामों के गवाह होते हैं। यही वजह है कि शहर के कॉफ़ी हाउसों पर हिंदी में काफ़ी साहित्य रचा गया है। इनमें भगवती प्रसाद बाजपेयी का

व्यंग्य संग्रह *कॉफ़ी हाउस के क़हक़हे* भी है जिसमें लखनऊ के कॉफ़ी हाउस की बदलती फ़िज़ा और वहाँ की बिगड़ती रंगत को व्यंजित किया गया गया है। व्यंग्यकार के अनुसार लखनऊ के इस कॉफ़ी हाउस का एक गौरवशाली इतिहास रहा है। यहाँ कभी यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, हेमवतीनंदन बहुगुणा, अमृतलाल नागर सरीखी आला हस्तियाँ आ कर बैठती थीं और शामे-अवध का लुत्फ़ उठाया करती थीं लेकिन आज वहाँ आनेवाले सफ़ेदपोश लोगों और छुटभैये नेताओं में न तो वह लखनवी तहज़ीब रह गयी है और न बौद्धिक बातचीत का वह स्तर।

मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल हिंदी प्रदेश का एक ऐसा शहर है जो आज़ादी के बाद अपने सांस्कृतिक सरोकारों के लिए बड़ी तेज़ी से आगे आया है। मध्य प्रदेश का सागर शहर भी अपने साहित्यिक सरोकारों के लिए मशहूर है। कभी भारत भवन, भोपाल के निदेशक रहे हिंदी के कवि, अलोचक अशोक वाजपेयी लंबे समय तक सागर में भी रहे हैं। 'अपने शहर को याद करते हुए' लेख में अशोक वाजपेयी उस सागर को याद करते हैं, जो उनका अपना शहर है और जिसे उन्होंने खो दिया है, गँवा दिया है और जिसे अकसर दूसरे शहरों में खोजते फिरते हैं। यह नॉस्टैल्जिया इसलिए क्योंकि अशोक वाजपेयी को कवि और प्रशासक होने का संस्कार यहीं मिला। उनके गुरु लक्ष्मीधर आचार्य से। उनमें साहित्यिक सरोकार और शास्त्रीय संगीत में रुचि भी यहीं विकसित हुई। शायद इसीलिए अशोक वाजपेयी के मन में सागर के प्रति गहरी कृतज्ञता का भाव है,'क्योंकि यहाँ तालाब भी था, प्रकृति भी थी, अंग्रेज़ी राज की स्मृतियाँ भी थीं और स्वतंत्रता संग्राम के लोग भी थे। विचित्र-सा छोटा शहर था लेकिन अद्भुत शहर था। ऐसे शहर बार-बार नहीं मिलेंगे...।' सागर के साहत्यिक, सांस्कृतिक अखाड़ों-आयोजनों की भी मज़ेदार चर्चा है। उनका यह लेख सुधीश पचौरी द्वारा संपादित किताब *अशोक वाजपेयी—पाठ कुपाठ* में संकलित है।

हिंदी क्षेत्र में आगरा भी एक महत्वपूर्ण शहर है। नज़ीर अकबराबादी, मिर्ज़ा ग़ालिब, भक्त कवि सूरदास, पं. बनारसीदास जैन, रांगेय राघव, रामविलास शर्मा, अमृतलाल नागर, राजेन्द्र यादव जैसे लेखक आगरा से ही आते हैं। अब यदि इतने कद्दावर लेखक यहाँ से ताल्लुक़ रखते हैं तो स्वाभाविक रूप से उस शहर के इर्द-गिर्द भी उन्होंने क़लम चलाई होगी। जहाँ तक हिंदी की साहित्यिक कृतियों में आगरा का सवाल है घोषित तौर पर हिंदी की पहली आत्मकथा है 'अर्द्धकथानक' और आत्मकथाकार हैं पं. बनारसी दास जैन। सन् 1641 में प्रकाशित इस आत्मकथा में उन्होंने आगरा शहर की तत्कालीन कहानी भी लिखी है। इसके अलावा राजेन्द्र यादव के संपादन में दिल्ली से प्रकाशित हिंदी की साहित्यिक पत्रिका *हंस* में प्रकाशित 'काँटे की बात' स्तम्भ में राजेन्द्र यादव ने 'इतना कायर हूँ कि उत्तर प्रदेश हूँ' शीर्षक अपनी टिप्पणी में अपनी जन्मभूमि आगरे को कुछ-कुछ भावुकतापूर्वक याद करते हुए लिखा हैः

> मैं भी ग़ालिब की तरह आगरा से दिल्ली आया — वाया कलकत्ता। आगरा छोड़े तीस-पैंतीस साल हो गये। प्रायः जाना नहीं होता — इतना पास है। बड़े शहरों में अपने सबसे निकट पड़ोसी से मिले महीनों निकल जाते हैं : कभी भी मिल लेंगे। लेकिन कहीं भी रहूँ — आगरा मेरे साथ रहता है। वहाँ का कुछ भी सुनते या पढ़ते हुए दिल में — 'कुछ-कुछ' होने लगता है। एक ही भाव है, सुनो, वृक्ष महाराज, किसी देश में रहें, किसी वेश में रहें पुष्प तो हम तुम्हारे ही कहलाएँगे..। कहाँ है किसी दूसरे शहर के पास यह गरिमा।
>
> ताज, सीकरी, सिकंदरा... अकबर, शाहजहाँ और सूरजमल, जलेबी, कचौड़ी, पेठा... ये गलियाँ, बाज़ार और चौबारे... वे सुअर घूरे और मक्खियाँ, डेढ़ सौ सालों से शिक्षा और कला का केंद्र, वे गलियाँ, गालियाँ, नंगई और बेशर्मियाँ... कुश्तियाँ, तैराकी, पतंगबाज़ी और कबूतरबाज़ियाँ... नज़ीर, ग़ालिब और सूरदास, रांगेय राघव, रामविलास और अमृतलाल नागर... अजी लखनऊ, इलाहाबाद और बनारस... सब साले फ़ौक्स हैं उसके सामने, एक-डेढ़ स्टेशन के शहर, हमारे यहाँ शहर के अंदर पाँच-पाँच स्टेशन... भगवान कृष्ण और डाकू मानसिंह की लीलास्थली... ऐसे ही नहीं आया था अकबर अपनी दिल्ली छोड़कर राजधानी बनाने. बनाते न फाफामऊ में।

> जी हाँ, है पागलख़ाना हमारे यहाँ। तो। बड़ों-बड़ों के दिमाग ठीक करके रख देते हैं। और सौ बातों की एक बात, उम्मीदवारों की संख्या से उत्साहित पागलखाना तो आप भी बनवा लेंगे, ताजमहल आपका बाप बनवाकर देगा।

भारतेन्दु युग के एक चर्चित लेखक हैं पं. प्रताप नारायण मिश्र। उन्होंने *ब्राह्मण* पत्रिका के खंड 5, सं. 1 और 2 (15 अगस्त और 15 सितम्बर) में 'कन्नौज में तीन दिन' शीर्षक से एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने शहर की गौरक्षिणी सभा में दिए गए अपने भाषण, रेल यात्रा आदि का वर्णन किया है। इसके अलावा उस युग की मशहूर साहित्यिक पत्रिका 'सरस्वती' के अगस्त 1927 अंक में रघुवीर सिंह का एक लेख 'शिमला के पत्र' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। पत्र शैली में लिखा गया यह एक रिपोर्ताज कहा जा सकता है।

राहुल सांकृत्यायन लिखित *मेरी जीवन यात्रा* पाँच खंडों की आत्मकथा है जिसमें अनेक शहरों की तत्कालीन कहानियाँ मिलती हैं। इसी तरह रामवृक्ष बेनीपुरी की *पेरिस नहीं भूलता*, उपेन्द्रनाथ अश्क का *मंटो मेरा दुश्मन* आदि रचनाएँ भी शहर पर केंद्रित हैं। घनश्याम सेठी का 27 दिसंबर 1964 के *धर्मयुग* में प्रकाशित 'शहर एक बस्तियाँ दो' इस विषय पर एक उल्लेखनीय लेख है।

कमलेश्वर के संपादन में किताबघर, नई दिल्ली से 1997 में प्रकाशित 'मेरा हमदम मेरा दोस्त' में संकलित कई संस्मरणों में शहर के संदर्भ आए हैं। इस लिहाज़ से अज्ञेय की 'अरे यायावर रहेगा याद' द्वितीय विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखी गई किताब है जिसमें बर्मा से काबुल तक की यात्रा का वर्णन है।

कमलेश्वर द्वारा लिखित *जो मैंने जिया, आधारशिलाएँ–1* लेखक से जुड़े लोगों, जगहों और माहौल का बेहद बेलौस और उपादेय संस्मरण है। हालाँकि यह काफ़ी कुछ आत्मपरक है पर इसमें साठ-सत्तर के राजनीतिक-सांस्कृतिक परिदृश्य का जीवंत चित्रण भी है। साथ ही इसमें नई कहानी की तिकड़ी, उनके आपसी अंतर्संबंध, उनके संघर्ष, उनकी कोशिशें, उनके क़हक़हे, उनकी कमज़ोरियाँ, उनकी कबाब पार्टियाँ, उनके प्रकाशन, ड्राइ-डे के दिन अमूमन पूरी दिल्ली के लेखकों की परिक्रमा का भी ज़िक्र है। मूलतः इलाहाबाद व दिल्ली पर केंद्रित है यह कृति। इसमें शहरों से लेखकों के नाज़ुक रिश्ते पर कमलेश्वर की यह टिप्पणी उल्लेख्य हैः

> ... इस दौर में लेखक की हालत झुग्गी-झोंपड़ी वालों जैसी है। वह अलीगढ़, इलाहाबाद, पटना, लखनऊ, बीकानेर, भोपाल जैसी बस्तियों को अपनी झुग्गी-झोंपड़ियों में बसाता है, पर उसे उजाड़ दिया जाता है। वह सांस्कृतिक दुनिया बनाता है, पर उसे जला दिया जाता है। उसी के लिए उसका देश पराया बना दिया जाता है। लेखक का शहर कभी बस ही नहीं सकता...

इसी तरह अपनी बहुचर्चित कृति *चीड़ों पर चाँदनी* शीर्षक अपने यात्रा वृत्तांत में निर्मल वर्मा ने युरोपीय शहरों पर 'ब्रेख़्त' और 'एक उदास नगर' (बर्लिन), 'पेरिस-ए स्टिल लाइफ़' (पेरिस), 'वियना' (वियना) आदि लेखों को शामिल किया है। दूसरी तरफ़ 'चीड़ों पर चाँदनी' में लेखक ने अपने गृह शहर शिमला में बिताए बचपन की यादों को बड़े ही नॉस्टैल्जिक तरीक़े से समेटने की कोशिश की है।

शहर पर केंद्रित साहित्य की चर्चा के क्रम में कुछ पत्रिकाओं के शहर पर केंद्रित चुनिंदा अंकों पर पर भी ध्यान दिया जाना ज़रूरी है। शहरी अध्ययन के लिहाज़ से यह महत्वपूर्ण है। मिसाल के तौर पर *कल्पना* के काशी अंक (2005) को देखा जा सकता है, जिसका संपादन कवि प्रयाग शुक्ल ने किया है। यह काशी पर केंद्रित किंचित दुर्लभ सामग्री से सज्जित एक नायाब और सुरुचिपूर्ण संकलन है। बनारस से वाबस्ता मिथक, जनश्रुतियाँ, इतिहास, नये-पुराने संस्मरण, तरह-तरह के आस्वाद, तेवर, शैलियाँ, विधाएँ, गंगा, साहित्य, संगीत, धर्म, गलियाँ, पंडे-पुजारी, वेश्याएँ, विभूतियाँ, यहाँ की वनौषधियाँ, पान लगाने-खिलाने की कला से चाय पिलाने के चलन तक का सफ़र — सब कुछ है इसमें। इसी तरह अभी हाल में *लोकमत समाचार* द्वारा 2 खंडों में प्रकाशित दीपावली विशेषांक 2004 को भी इसी संदर्भ में देखा जा सकता है। पत्रिका का पहला खंड 'अपना जनपद, अपने लोग' और दूसरा 'हिंदी समाज का अंतर्द्वन्द्व' है। शहर के साहित्य के लिहाज़ से पहला खंड इसलिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि 'महानगर-माला' खंड में मुंबई, भोपाल, हैदराबाद, पटना, तिरुवनंतपुरम, औरंगाबाद, पुणे और नागपुर पर क्रमशः सूरज प्रकाश, सत्येन कुमार, राजेश जोशी, वेणु गोपाल, प्रेमकुमार मणि, रति सक्सेना, चंद्रकांत पाटिल,

दामोदर खडसे, भास्कर लक्ष्मण भोले और बसंत त्रिपाठी के लेख हैं। इसके अलावा इसमें बिलासपुर, कोल्हापुर, भुसावल, जबलपुर, गया, अमरावती, उज्जैन, जमशेदपुर, अकोला और सागर जैसे अपेक्षाकृत छोटे शहरों पर भी लेख हैं।

शहर से संबंधित वेबसाइटें:

1. http://www.webdunia.com/literature/remembering/ एक ऐसा वेब-स्रोत है जहाँ कुछ नामीगिरामी लेखक-लेखिकाओं के संस्मरण शामिल हैं, कुछ पूर्व-प्रकाशित कुछ अप्रकाशित आत्मकथाएँ भी।
2. http://www.webdunia.com/literature/atmakatha/ वेबसाइट भी उपयोगी है।
3. http://www.abhivyakti-hindi.org/nagarnama
4. http://www.abhivyakti-hindi.org/sansmaran/nagarnama/index.htm पूरी दुनिया के छोटे-बड़े शहरों पर केन्द्रित छोटे-छोटे संस्मरणात्मक आलेखों का बेतरतीबवार लेकिन निरंतर वर्धमान और दिलचस्प संकलन।

